ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक –१४५

सम्पादक एवं नियामक :

लक्ष्मीचन्द्र जैन

Lokodaya Series Title No 145

BHARATIYA ITIHAS

EK DRISHTI

(History)

Dr Jyoti Prasad Jain

Bharatiya Jnanpith

Publication

Second Edition 1966

Price Rs 10.00

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रकाशन

प्रधान कार्यालय

९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता–२७

प्रकाशन कार्यालय

दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५

विक्रय केन्द्र

३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

द्वितीय संस्करण १९६६

मूल्य १०.००

सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी–५

आमुख

•

इस पुस्तकमें प्राचीनतम कालसे लेकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति पर्यन्त सम्पूर्ण भारतीय इतिहासका क्रमबद्ध विहगावलोकन प्रस्तुत किया गया है। भारतवर्षकी सनातन भौगोलिक सीमाओंको दृष्टिमें रखकर अखण्ड भारतके, जिसमें भारतीय संघके साथ ही पाकिस्तान और नेपाल भी सम्मिलित है, इतिहासका विवेचन अभिप्रेत रहा है। खण्डो और अध्यायोके द्वारा जो विषय-विभाजन किया गया है उसकी योजना मेरी अपनी है। विषय-निरूपणमें यथासम्भव सर्वमान्य अथवा बहुमान्य तथ्यों, घटनाओं एवं तिथियोको ही अपनाया गया है, जहाँ कही ऐसा नही हुआ उसका कारण निजी शोध-खोजके निष्कर्ष है। जनसंख्या सम्बन्धी आँकडे १९६१ की जनगणनाके आधारपर दिये गये है। जहाँ सम्पूर्ण भारतकी भौगोलिक इकाईका प्रश्न है वहाँ भारत और पाकिस्तानके जनसंख्या और क्षेत्रफल-सम्बन्धी आँकडे सम्मिलित है। कुछ भौगोलिक नामोंको हाल ही में परिवर्तित किया गया है। यथासम्भव नये स्वीकृत भौगोलिक नाम पुस्तकमे प्रयुक्त किये गये है।

सामान्य इतिहास-पुस्तकोंसे दो-एक अन्तर भी इस पुस्तकमे दृष्टिगोचर होंगे। अन्य सामान्य ऐतिहासिक आधारोंके साथ-साथ जैन ऐतिहासिक आधारोका भी इस पुस्तकमें पर्याप्त उपयोग किया गया है, किन्तु उसी सीमा तक जहाँतक वे अन्य प्रामाणिक आधारोसे समर्थित होते है अथवा इतने सबल और विश्वसनीय प्रतीत हुए कि उन्हें मान्यता देना उचित

जान पडा। सामान्य इतिहास-पुस्तकोमें जैन-संस्कृति और उसके अनु-यायियोका उल्लेख प्राय: अत्यन्त गौण या उपेक्षित रहता है। उनके इस दोषका परिहार करनेका भी यहाँ प्रयत्न किया गया है। दक्षिण भारत, तथा शेष भारतके प्रादेशिक राज्यो एवं बृहत्तर भारत आदिको भी अपेक्षाकृत अधिक एवं उचित स्थान देनेका प्रयास किया गया है।

पुस्तकका प्रणयन मैं १९५६ ई० मे पूरा कर चुका था और तभी कुछ समय बाद ही इसे प्रकाशनार्थ भारतीय ज्ञानपीठके पास भेज चुका था। इस पुस्तकको लिखनेमे अंशत: तथा उसे भारतीय ज्ञानपीठ-द्वारा प्रकाशित करानेमे मुख्यत: प्रेरक मेरे वय-ज्येष्ठ मित्र श्री उग्रसेनजी, काशीपुर, रहे हैं। पुस्तकके प्रकाशनकी स्वीकृति देने, उसमे कुछ संशोधन आदि करनेका सुझाव देने और उसे प्रस्तुत रूपमे प्रकट करनेका श्रेय भारतीय ज्ञानपीठके मन्त्री भाई श्री लक्ष्मीचन्द्रजीको है। इन दोनो ही मित्रोका मैं हृदयसे आभारी हूँ। मेरे पुत्र-द्वय शशिकान्त एवं रमाकान्तने पाण्डुलिपि एवं प्रूफके सशोधनादिमे पर्याप्त सहायता दी है। अन्य जिन सज्जनोसे प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी प्रकारकी भी सहायता या सहयोग पुस्तकके निर्माण, मुद्रण, प्रकाशन आदिमें प्राप्त हुआ है, उन सबका मै कृतज्ञ हूँ।

आशा है, इतिहासके विद्यार्थियो एवं इतिहास-प्रेमियोको इस पुस्तकमे कुछ नवीनता तथा कतिपय महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ दृष्टिगोचर होगी और भारतीय इतिहासके अध्ययनमे यह पुस्तक रुचिकर एवं उपयोगी सिद्ध होगी।

ज्योति-निकुंज
चारबाग, लखनऊ
२७ नवम्बर १९६१

—ज्योतिप्रसाद जैन

यह द्वितीय संस्करण

'भारतीय इतिहास : एक दृष्टि' के द्वितीय संस्करणके इतना शीघ्र प्रकाशमे आनेका श्रेय यदि एक ओर उसकी वृद्धिगत लोकप्रियता एवं उपादेयताको है तो, दूसरी ओर भारतीय ज्ञानपीठके मन्त्री एवं लोकोदय ग्रन्थमालाके नियामक भाई लक्ष्मीचन्द्रजीकी तत्परता एवं सुव्यवस्थाको है।

प्रथम संस्करणमे मुद्रणकी जो अशुद्धियाँ रह गयी थी वे इस संस्करणमे ठीक कर दी गयी है। भाषाका भी यत्र-तत्र यथावश्यक परिष्कार किया गया है। पुस्तकपर प्राप्त समीक्षाओ आदिका लाभ उठाकर कतिपय प्रसंगोमे आवश्यक संशोधन कर दिये गये है। कही-कही कुछ परिवर्द्धन भी किये गये है। भारतवर्षके दो मानचित्र तथा अन्तमे नामानुक्रमणिका दे दी गयी है, जो प्रथम संस्करणमे नही थी। इन संशोधनो एवं परि-वर्द्धनोसे पुस्तककी उपयोगितामे समुचित वृद्धि होगी ऐसा विश्वास है।

इस संस्करणमें कारणभूत पाठक, समीक्षक, मुद्रक, प्रकाशक आदि सभी सज्जनोंका मै हृदयसे आभारी हूँ।

लखनऊ

२७ नवम्बर १९६५

—ज्योतिप्रसाद जैन

•

खण्ड : १ : प्राचीन भारत

१. प्राग् ऐतिहासिक काल

प्रास्ताविक – ९, पृथ्वीका प्रारम्भिक इतिहास – ११, आद्य मानव – १४, पूर्व पाषाण युग – १४, पुरातन पाषाण युग – १४, नव्य पाषाण युग – १५, धातु पाषाण युग – १९, सिन्धु घाटी सभ्यता – २५, वैदिक सभ्यता – २९, उत्कर्ष काल – रामायणसे महाभारत पर्यन्त ३१।

२. प्राचीन युग – प्रथम पाद

महाभारतसे महावीर पर्यन्त – ३५ – ६१

३. प्राचीन युग – द्वितीय पाद

मगध साम्राज्य – ६२ – १०५।

४. प्राचीन युग – तृतीय पाद

उत्तर भारत (ई० पू० २०० से ई० सन् ३०० तक)

आन्ध्र सातवाहन – १०७, पश्चिमोत्तर प्रदेशके विदेशी शासक – ११०, यूनानी या यवन – ११०, इण्डोपार्थियन या पह्लव – ११२, इण्डोसीथियन या शक – ११३, भद्र चष्टन वंश – ११८, कुषाण वंश, मालवा – १२२, मथुरा – १२५, नाग वंश – १३३ वकाटक वंश १३७।

५. प्राचीन युग – चतुर्थ पाद
उत्तर भारत (सन् ३०० से १२८० ई० तक)
गुप्त वंश – १३९, समुद्रगुप्त – १४०, चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य – १४२, कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य – १४३, स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य – १४३, पुरुगुप्त – १४४, नरसिंह गुप्त – १४४, कुमारगुप्त द्वितीय – १४४, बुधगुप्त – १४४, वैण्यगुप्त – १४४, हूण – १४६, मालव नरेश यशोधर्मन् – १५२, कन्नौजका मौखरि वश – १५३, स्थानेश्वरका वर्धन वंश – १५४, हर्ष-वर्धन – १५४, अराजकता और यशोवर्मन् – १५६, आयुध वंश – १५७, गुर्जर प्रतिहार – १५७, १०वी – १२वी शताब्दीके राजपूत राज्य – १६२, कन्नौजके गहडवाल – १६३, साँभरके चाहमान – १६४, दिल्लीके तोमर – १६५, भटिण्डे (पंजाब)का साही वंश – १६६, धाराके परमार – १६६, मेवाडके गुहिलौत – १६६, हस्तिकुण्डिका या हथूँडीके राठोड – १७१, श्रावस्तीके ध्वजवंशी नरेश – १७१, चन्देल वंश – १७२, ग्वालियरके कच्छपघट राजे – १७६।

६. कलिंग आदि राज्य और बृहत्तर भारत
कलिंग – १८०, महाकौसलके कलचुरि – १९५, गुजरात – १९८, सिन्ध देश – २११, कश्मीर – २१३, नेपाल – २१५, कुलुकी घाटी – २१५, तिब्बत – २१६, आसाम – २१६, बंगाल – २१६, सिंहल द्वीप और रत्नद्वीप – २२७, बर्मा – २२८, सुदूरपूर्वके द्वीप २२८।

७. दक्षिण भारत [१] २३१
पल्लव वंश – २४२, पाड्य राज्य २४६, चोल राज्य – २४८, चेर राज्य – २५०, कदम्ब वंश – २५१, गंगवंश – २५६,

८. दक्षिण भारत [२]

वातापीके पश्चिमी चालुक्य – २७८, वेंगिके पूर्वी चालुक्य –
२८९, राष्ट्रकूट वंश – २९२, कल्याणीके उत्तरवर्ती चालुक्य –
३१०, कल्याणीके कलचुरि – ३१९।

९. दक्षिण भारत [३]

पूर्वमध्यकालके प्रमुख उपराज्यवंश – ३२३, सौन्दत्तिके रट्ट –
३२५, कोकणके शिलाहार – ३२६, कोंगाल्व वंश – ३३०,
चंगाल्व वंश – ३३१, अलुप या अलुव वंश – ३३१, गंगधाराका
चालुक्य वंश – ३३३, तुलव देशमें वंगवाडिका वंग वंश – ३३४,
वारंगलके ककातीय – ३३५, देवगिरिके यादव – ३३६, द्वार-
समुद्रका होयसल वंश – ३३९।

१०. विजयनगर साम्राज्य ३६२–३६०

खण्ड : २ : विदेशी शासनमें भारत

(मुसलमान और अँगरेज़ी शासन)

१. इस्लामका भारत-प्रवेश और दिल्लीके सुल्तान

गुलामवंश – ४०४, खिलजीवंश – ४०९, सैयदवंश – ४१९,
लोदीवंश – ४१९, सूरिवंश – ४२१।

२. पूर्व-मुग़लकालके प्रादेशिक राज्य

वंगाल – ४२५, जौनपुर – ४२७, मालवा ४२७, गुजरात – ४३०,
कश्मीर – ४३३, बहमनीराज्य – ४३४, बरारकी इमादशाही –
४३९, बीदरकी बरीदशाही – ४३९, गोलकुण्डाकी कुतुबशाही –
४३९, अहमदनगरकी निज़ामशाही ४४०, बीजापुरकी आदिलशाही
– ४४१, खानदेशका फ़ारूक़ीवंश – ४४४, राजपूत राज्य – ४४५।

३. मुग़ल-साम्राज्य – ऊर्ध्वगत

बाबर – ४६८, हुमायूँ–४७१, अकबर ४७४, जहाँगीर– ४९५।

४. मुग़ल-साम्राज्य—अधोगत

शाहजहाँ – ५०७, औरंगज़ेब – ५१६, मराठोंका उत्कर्ष ५२९।

५ अराजकताकाल [१७०७–१८५७ ई०]

उत्तरवर्ती मुगलनरेश – ५४१, मुसलमान नवाब – हैदराबादके निजाम – ५४८, अवधकी नवाबी – ५५१, बंगालकी नवाबी – ५५२, रुहेलखण्डके नवाब – ५५६, मैसूरके नवाब – ५५७, राजपूत राजे ५६१, जाट – ५६४, सिक्ख – ५६६, पेशवा – ५७२, मराठा राज्य – ५८४, धर्म और संस्कृति – ५८५।

६. यूरोपवासियों-द्वारा भारतकी लूट

वारेन हैस्टिंग्स – ६३०, लार्डकार्नवालिस – ६३२, सर जॉन शोर – ६३३, लार्ड वेलेज़ली – ६३४, कार्नवालिस – ६३६, सर जार्ज बार्लो – ६३७, लार्ड मिण्टो – ६३७, लार्ड हैस्टिंग्स – ६३७, लार्ड एम्हर्स्ट – ६३८, सर विलियम बेंटिंक – ६३९, सर चार्ल्स मेट कॉफ – ६४१, लार्ड ऑक लैण्ड – ६४१, लार्ड एलिनबरा – ६४१, लार्ड हार्डिंज – ६४२, लार्ड डलहौज़ी – ६४२ लार्ड कैनिंग – ६४४।

७. पुनरुत्थान युग [१८५८–१९४७ ई०]

वैदेशिकनीति – ६५५, आन्तरिक शासन और वैधानिक विकास – ६५८, ब्रिटिश राजकी कुदेनें – ६६३, ब्रिटिश शासनकी कतिपय सुदेनें – ६७२, पुनरुत्थान – ६८०, प्रमुख तिथियाँ – १. देशी भारत – ७०५, विदेशी शासनमें भारत – ७१४,

■

खण्ड १

प्राचीन भारत

ताओंका आगार होते हुए भी भारतवर्षकी सांस्कृतिक एकता उसके इतिहास एवं साहित्यमे अत्यन्त प्राचीन कालसे ही दृष्टिगोचर होने लगती है। साथ ही, इस सास्कृतिक एकताने देशकी राजनैतिक एकताको भी प्रेरणा दी। चक्रवर्ती सम्राट्का आदर्श इसी तथ्यका द्योतक है। सम्पूर्ण भारतवर्ष चक्रवर्ती क्षेत्र कहलाता था। प्रत्येक महान् नरेश चक्रवर्ती पद प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखता था और अपनी दिग्विजय-द्वारा सम्पूर्ण देशको राजनैतिक एकसूत्रतामे बाँधनेका प्रयत्न करता था।

उत्तुग पर्वतमालाओ और गहरे महासागरोने भारतवर्षको शेष समस्त संसारसे पृथक् करके उसे असन्दिग्ध भौगोलिक एकता प्रदान कर दी है। किन्तु भारतवर्षका यह पृथकीकरण भौगोलिक ही रहा, वह इस देशके निवासियोको कूपमण्डूक अथवा अन्य देशो एवं जातियोसे सम्बन्धविहीन नही बना पाया। भारतीय महासागरके मध्य स्थित होने तथा बहुत शीघ्र ही अपनी सभ्यता और संस्कृतिको अति विकसित कर लेनेके कारण भारत-वर्षने अपने इतिहासके प्रायः उदयकालसे ही अपने पडोसियो तथा अन्य दूरस्थ देशो और जातियोके साथ भी व्यापारिक एवं सास्कृतिक सम्बन्ध अविच्छिन्न बनाये रखे। अफगानिस्तान तो भारतवर्षका ही एक भाग समझा जाता था, अतः पश्चिममे ईरान और मध्यएशिया ही नही, यूनान तथा रूमसागर तटवर्ती अन्य देशोके साथ और पूर्वमे चीन तथा सुदूर पूर्वके विभिन्न देशोके साथ सास्कृतिक, व्यापारिक एवं राजनैतिक यातायातके अनगिनत उदाहरण इतिहासमें बराबर मिलते है। ये यातायात उत्तर-पश्चिममे हिन्दूकुश पर्वतमालाके खैबर, बोलन, कुर्रम, गोमल आदि दर्रोके द्वारसे, उत्तरपूर्वमे नैपाल और तिब्बतके मार्गसे तथा दक्षिणमे तीनो ओर समुद्री जलमार्गसे होते रहे। इन्ही द्वारोसे भारतीयोंका विदेशोमे गमना-गमन तथा विभिन्न कालोमे विभिन्न जातीय विदेशियोका आगमन हुआ। इन विदेशियोमे-से जो धन और राज्यकी लिप्सासे बड़े-बडे सशक्त समूहोमे यहाँ आये उन्हें लेकर ही इस देशके इतिहासके एक बड़े भागका निर्माण हुआ है।

मानव भेदोंकी जितनी विविधता और विभिन्न मानव जातियोंका मिश्रण भी जैसा भारतवर्षमे रहा है ऐसा अन्यत्र कही नहीं रहा। स्थूल रूपसे दो प्रधान मानवी धाराएँ यहाँ उपलब्ध होती है, एक ऋक्ष, यक्ष, नाग आदिके वंशजोंकी वह धारा जिसे वर्तमानमें प्राय: द्राविड नामसे सूचित किया जाता है और दूसरी उत्तर-पश्चिमकी ओर उदयमे आनेवाली आर्य जातिके वंशजोंकी वह धारा जो इण्डोआर्य कहलाती हैं। इनके अतिरिक्त प्राचीन कालीन आस्ट्रेलायड, मंगोलायड, मानख्मेर आदि और कालान्तरमे ईरानी, यूनानी, शक, पह्लव, कुषाण, हूण, अरब, तुर्क आदि जातीय तत्त्व भी समय-समयपर भारतीय जनतामें मिश्रित होते रहे है। भाषाकी दृष्टिसे भारतीय-आर्य, द्राविड, और मानख्मेर—ये तीन तत्त्व भारतीय भाषाओंके मूलाधार है।

पृथ्वीका प्रारम्भिक इतिहास—पृथ्वीके इतिहासके विषयमे दो विचारधाराएँ है। इनमे-से एक शाश्वतवादी है जिसका विश्वास है कि सत्का कभी नाश नहीं होता और असत्का कभी उत्पाद नही होता। इसके अनुसार विश्व-व्यवस्था और उसके अन्तर्गत हमारे पृथ्वीमण्डल तथा उसपर निवास करनेवाले मनुष्य आदि प्राणियोकी परम्परा अनादि और अनन्त है। शून्यमें-से कभी किसी प्रकार उनका अकस्मात् उदय हो गया या कभी भी उनका सर्वथा क्षय या अभाव हो जायेगा, यह बात असम्भव है। पदार्थोमे अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार निरन्तर परिवर्तन-परिणमन होते रहते है। इन परिवर्तनोंकी ही कोई-कोई सामूहिक अवस्थाविशेष ऐसी प्रत्यक्ष एवं आत्यन्तिक होती है कि उन्हे सृष्टि और प्रलय आदि नाम दे दिये जाते है।

दूसरी विचारधारा सृष्टिवादी संस्कारोसे उद्भूत है। इसके अनुसार ईश्वर आदि नामोसे अभिहित शक्ति-विशेषने किसी समय अपनी इच्छासे सर्वथा शून्यमे-से हमारे विश्व, पृथ्वीमण्डल और मानवका एकाएक निर्माण कर दिया और एक समय ऐसा भी आयेगा जब वही शक्ति इनका सर्वथा

विनाश एवं अभाव भी कर देगी। वर्तमान वैज्ञानिक विचारकोंने, जो स्वयं सृष्टिवाद सम्बन्धी पूर्व संस्कारोसे अभिभूत है, वैज्ञानिक अन्वेपणोपर आधारित अपने अनुमानोका सृष्टिवादसे समन्वय करनेके लिए विकासवादके सिद्धान्तको जन्म दिया। गत सौ वर्षोसे इसी सिद्धान्तका बोलबाला है, विचारके प्रत्येक क्षेत्रमे इसका अनुमरण किया जाता है।

अस्तु, वर्तमान वैज्ञानिक विचारकोके अनुमार विश्व-व्यवस्था तो अनादि-अनन्त है, सत्का विनाश और असत्का उत्पादन भी कभी नही होता, सर्वपदार्थभाव या सर्वथा शून्य भी कभी नही था, और न होगा, ईश्वर नामकी कोई सत्ता है या नही यह कहा नहो जा सकता, किन्तु विकासवादके सिद्धान्तानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी इस पृथ्वीका और उसपर मनुष्यके अस्तित्वका कोई आदि अवश्य रहा है। अनादि-अनन्त, असीम एव शाश्वत विश्वके अनगिनत सौर मण्डलोमे-से हमारी पृथ्वीसे सम्बन्धित जो सौर मण्डल है उसका केन्द्रीय शक्ति मण्डल हमारा यह नित्य-प्रति दीखनेवाला सूर्य है। इस सूर्यसे किसी सुदूर अज्ञात समयमे एक अत्यन्त उष्ण एवं प्रकाशमान द्रव खण्ड पृथक् होकर गुरुत्वाकर्षण आदिके प्रभावसे आकाशमे फिरकीको नाई घूमता रहा। शनै.-शनै. गोल, ठण्डा, और कडा होकर उसने हमारी पृथ्वीका रूप धारण कर लिया। सुदीर्घ-कालके उपरान्त पृथ्वीतलकी ऐसी भौगोलिक दशा हो पायी कि उसपर विभिन्न वनस्पतियाँ एवं जीव-जन्तु उत्पन्न हो सके और पनप सके।

धरातलपर स्थित विविध चट्टानोके परीक्षणसे भूतत्त्व-वेत्ताओने पृथ्वी-का तथा उसपर अवस्थित जीवनका जो इतिवृत्त अनुमान किया है उसे सुविधाके लिए कई युगोमे विभाजित किया गया है। पृथ्वीपर किसी भी रूपमे जीवका प्रादुर्भाव होनेसे पूर्वका काल 'अज़ोइक' अथवा निर्जीव युग कहलाता है। इस युगके आदि और अन्तके विपयमे विद्वानोमे घोर मत-भेद है—अधिकसे अधिक एक अरब या ८० करोड वर्षसे लेकर कमसे-कम दो करोड वर्ष पूर्व पर्यन्त इस कालकी अवधि अनुमान की जाती है।

एच० जी० वैल्सके अनुसार वह काल ८० करोडसे ४० करोड़ वर्ष पूर्व तक रहा प्रतीत होता है। इस कालके प्रारम्भमे सम्पूर्ण पृथ्वी प्रायः एक रूप थी, उसमे भारत, युरॅप, अफ्रीका, अमेरिका आदि जैसी भौगोलिक इकाइयाँ न बन पायी थी। किन्तु यह अनुमान किया जाता है कि भारतके हिमवान प्रदेश तथा दक्षिणी पठारकी रूपरेखा भूतात्त्विक इतिहासके प्रारम्भमें ही बन गयी थी। वस्तुतः हिमालयसे कन्याकुमारी पर्यन्त सम्पूर्ण वर्तमान भारतके ढाँचेका मूलाधार भी बन गया था। इस प्रकार भारतवर्षका मूल चट्टानी आधार वसुन्धराके ज्ञात जीवनमे प्रारम्भसे ही अवस्थित था।

निर्जीव युगके उपरान्त जीव युगका प्रारम्भ होता है। इसके तीन खण्ड है—पहला काल—पुरातन जीवयुग (पेलेजोइक), दूसरा काल—मध्यजीव युग (मेसेजोइक) और तीसरा काल—नव्यजीव युग (केनेजोइक)। यह पहला काल डॉ० हेडेनके अनुसार ४० से ३० करोड़ और वैल्सके अनुसार ३० से १५ करोड़ वर्ष पर्यन्त चला। इसी कालमे सर्व प्रथम धरातलपर वनस्पतियो और जीव-जन्तुओंके अपने सरलतम प्रारम्भिक रूपोंमे उदय होनेका अनुमान किया जाता है, जिनसे ही शनै.-शनैः जलचर, नभचर एवं थलचर प्राणियोका तथा जलीय एव स्थलीय वनस्पतियोका विकास हुआ। इस कालमे भूतलकी रूपरेखा भी वर्तमानसे नितान्त भिन्न थी। दूसरे कालमे पृथ्वीने बड़ी ऐंठ-मरोड़ दिखायी, भूतलमे बड़े-बड़े परिवर्तन हुए, जल-थल विभाजनमे अन्तर पड़े। इस युगमे पृथ्वीकी भौगोलिक स्थिति बहुत करके जैन शास्त्रोमे वर्णित 'अढाई द्वीप—मनुष्य लोक'के सदृश थी, अर्थात् उत्तरीय ध्रुवको केन्द्र लेकर उलटे कटोरे-जैसा एक अविच्छिन्न भूखण्ड था जिसे चारो ओरसे मेखलाकी नाई एक वृत्ताकार महासागर घेरे हुए था। तत्पश्चात् फिर एक मेखलाकार अविच्छिन्न भूखण्ड था—दक्षिणी भारतके कुछ भाग, अफ्रीका, दक्षिणी अमरीका, आस्ट्रेलिया आदिको संयुक्त करता हुआ। उसके नीचे फिर एक वृत्ताकार महासमुद्र और अन्तमे दक्षिणी ध्रुव पर्यन्त ऊपर जेसा एक अन्य भूखण्ड था। यह काल १५

से ४ करोड वर्ष पूर्व तक चला। तीसरा काल जो ४ करोडसे ६ लाख वर्ष पूर्व तक चला, अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस युगमे अधिकांश पर्वत, समुद्र, झील, नदी-नद, भूखण्ड आदि अपने वर्तमान स्वरूपको प्राप्त हुए। इस युगके अन्तमे पाये जानेवाले जीव-जन्तु, पशु इत्यादि एव वृक्ष-लता आदि वनस्पतियोंमे-से अधिकांश अबतक अवस्थित है। और इसी युगके अन्तमे सर्वप्रथम देहधारी जीवोमे सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानवके अस्तित्वके चिह्न पाये जाते है।

आद्यमानव—मानवकी उत्पत्ति कैसे हुई, कहांसे हुई, किस स्थानमे हुई, ठीक कब हुई और किस रूपमे हुई—इन बातोके सम्बन्धमे विद्वानोमे बडा मतभेद है। किन्तु उक्त विभिन्न मत-मतान्तरोके अध्ययनसे यह निष्कर्ष निर्बाध निकाला जा सकता है कि पृथ्वीतलपर मानवके सर्वप्रथम अस्तित्वके जिस समयसे प्रमाण मिलते है तभीसे भारतवर्षमे वह अवश्य विद्यमान था, सो भी पर्याप्त संख्यामे। अतः इस तथ्यमे तनिक भी सन्देह नही है कि मानवी इतिहासके प्रारम्भ कालसे ही भारतभूमि मनुष्यकी लीलाभूमि रही है। मानव और उसकी आदिम-प्रागऐतिहासिक-सभ्यताके विकासका युग भूतात्त्विको एवं प्रागऐतिहासज्ञोकी भाषामे चौथा काल कहलाता है। इसके तीन विभाग है—(१) पूर्व पाषाण युग—१ करोड़से ६ लाख वर्ष पूर्व तक—प्रायः नितान्त असभ्य वन्यजीवन, पूर्णतया प्रकृतिपर अवलम्बित इस कालसे सम्बन्धित पत्थर व हड्डीके कतिपय अत्यन्त सादे और भौंडे राछ, औजार आदि भी उपलब्ध हुए है। विभिन्न भूभागोमे निर्बाध गमनागमनके कारण उस युगकी इस आदिम सभ्यताकी एकरूपता भी सर्वत्र लक्षित होती है। वस्तुतः यह युग तीसरे कालका ही अन्तिम पाद था और वास्तविक चौथा काल इसके पश्चात् प्रारम्भ होता है। (२) दूसरा अर्थात् पुरातन पाषाणयुग—६ लाख वर्ष पूर्वसे १५ हजार वर्ष पूर्व तक चला। इस कालमे चार-पाँच बड़े-बड़े व्यापक बर्फीले तूफान आये जिनके कारण उन समयोको हिमयुग भी कहते है। सभ्यताका वास्तविक विकास उक्त हिमप्रलयोके उपरान्त इस युगके अन्तिम पादमे अर्थात्

४०००० से १५००० वर्ष पूर्वके मध्य ही लक्षित हुआ। इस युगके अस्त्र-शस्त्र, राछ-रछौडे, औजार आदि भी पाषाण व अस्थियोसे ही बने है किन्तु आदिम ढंगके होते हुए भी वे पूर्व पाषाण युगवालोंकी अपेक्षा श्रेष्ठतर है। इसी कालमे सर्वप्रथम मनुष्यके धर्मभावकी किसी-न-किसी रूपमें अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होती है। भित्तियोंपर अद्‌भुत रेखाचित्रोंसे युक्त कुछ आदिमकालीन पर्वतीय गुफाओंमे इसके चिह्न मिले हैं। अन्त्येष्टि संस्कार आदिके भी कुछ अवशेष मिले है। मृत व्यक्तियोंको बैठी मुद्रामें भूमिस्थ कर दिया जाता था, साथमे आगामी जीवनमे उपयोग करनेके लिए भोजनादि सामग्री भी रख दी जाती थी। ये लोग फल-फूल, कन्दमूल तथा शिकारमे प्राप्त मांस आदिका भक्षण करते थे। उनमे रेखाशास्त्रका भी ज्ञान विकसित हो रहा था। दक्षिण भारतमे कर्नूलकी गुफाओके परीक्षणसे पता चलता है कि उनका सम्बन्ध जादू-टोने-जैसे किसी-न-किसी प्रकारके धार्मिक कृत्योसे रहा होगा। ये लोग मृत व्यक्तियोकी देह गुफामे ही छोड़कर अन्यत्र जाकर रहने लगते थे। रेखा एवं भित्तिचित्रोसे अनुमान होता है कि इस युगके मानव समस्त चराचर पदार्थोमे जीवकी सत्ता मानते थे, कितने ही सरलतम अपरिष्कृत एवं आदिमरूपमे सही, जीव या जीवनी शक्तिकी सर्वव्यापकतामे उनका विश्वास था। ये पितृपूजक भी थे। मध्य प्रदेशके रायगढ़ ज़िलेमे स्थित सिगनपुरके निकट भित्ति एवं रेखाचित्रोसे युक्त उस कालकी ऐसी गुफाएँ मिली हैं जो सम्भवतया उनके देवस्थान या मन्दिर थे। मनुष्यों, पशुओं एवं आखेट आदिके चित्रोके अतिरिक्त जो कई रेखानिर्मित रहस्यपूर्ण सांकेतिक चित्र मिले है उनका कितने ही आध्यात्मिक सांकेतिक चिह्नोंसे अद्‌भुत सादृश्य है, वे चित्र कई मौलिक जैन मान्यताओकी सांकेतिक अभिव्यक्ति जैसे लगते है।

(३) **नव्यपाषाण युग**—ईसवीपूर्व लगभग १५०००-८००० वर्ष पर्यन्त नव्यपाषाण युग चला। इस कालमे मानवकी आदिम सभ्यता और संस्कृतिने बड़े द्रुतवेगसे प्रगति की। विविध पाषाण, हाथीदाँत, सीग, लकड़ी आदिके

से ४ करोड़ वर्ष पूर्व तक चला। तीसरा काल जो ४ करोडसे ६ लाख वर्ष पूर्व तक चला, अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस युगमे अधिकाश पर्वत, समुद्र, झील, नदी-नद, भूखण्ड आदि अपने वर्तमान स्वरूपको प्राप्त हुए। इस युगके अन्तमे पाये जानेवाले जीव-जन्तु, पशु इत्यादि एव वृक्ष-लता आदि वनस्पतियो-मे-से अधिकांश अबतक अवस्थित है। और इसी युगके अन्तमे सर्वप्रथम देहधारी जीवोमे सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानवके अस्तित्वके चिह्न पाये जाते है।

आद्यमानव—मानवकी उत्पत्ति कैसे हुई, कहाँसे हुई, किस स्थानमे हुई, ठीक कब हुई और किस रूपमे हुई—इन बातोके सम्बन्धमे विद्वानोंमे बडा मतभेद है। किन्तु उक्त विभिन्न मत-मतान्तरोके अध्ययनसे यह निष्कर्ष निर्बाध निकाला जा सकता है कि पृथ्वीतलपर मानवके सर्वप्रथम अस्तित्वके जिस समयसे प्रमाण मिलते है तभीसे भारतवर्षमे वह अवश्य विद्यमान था, सो भी पर्याप्त संख्यामे। अतः इस तथ्यमे तनिक भी सन्देह नही है कि मानवी इतिहासके प्रारम्भ कालसे ही भारतभूमि मनुष्यकी लीलाभूमि रही है। मानव और उसकी आदिम-प्रागैतिहासिक-सभ्यताके विकासका युग भूतात्त्विकों एवं प्रागैतिहासज्ञोकी भाषामे चौथा काल कहलाता है। इसके तीन विभाग है—(१) पूर्व पाषाण युग—१ करोड़से ६ लाख वर्ष पूर्व तक—प्रायः नितान्त असभ्य वन्यजीवन, पूर्णतया प्रकृतिपर अवलम्बित इस कालसे सम्बन्धित पत्थर व हड्डीके कतिपय अत्यन्त सादे और भौंडे राछ, औजार आदि भी उपलब्ध हुए है। विभिन्न भूभागोमे निर्बाध गमनागमनके कारण उस युगकी इस आदिम सभ्यताकी एकरूपता भी सर्वत्र लक्षित होती है। वस्तुतः यह युग तीसरे कालका ही अन्तिम पाद था और वास्तविक चौथा काल इसके पश्चात् प्रारम्भ होता है। (२) दूसरा अर्थात् पुरातन पाषाणयुग—६ लाख वर्ष पूर्वसे १५ हजार वर्ष पूर्व तक चला। इस कालमे चार-पाँच बड़े-बड़े व्यापक बर्फीले तूफान आये जिनके कारण उन समयोको हिमयुग भी कहते है। सभ्यताका वास्तविक विकास उक्त हिमप्रलयोके उपरान्त इस युगके अन्तिम पादमे अर्थात्

४०००० से १५००० वर्ष पूर्वके मध्य ही लक्षित हुआ। इस युगके अस्त्र-शस्त्र, राछ-रछीडे, औजार आदि भी पाषाण व अस्थियोसे ही बने है किन्तु आदिम ढंगके होते हुए भी वे पूर्व पाषाण युगवालोंकी अपेक्षा श्रेष्ठतर हैं। इसी कालमे सर्वप्रथम मनुष्यके धर्मभावकी किसी-न-किसी रूपमें अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होती है। भित्तियोंपर अद्भुत रेखाचित्रोंसे युक्त कुछ आदिमकालीन पर्वतीय गुफाओंमे इसके चिह्न मिले हैं। अन्त्येष्टि संस्कार आदिके भी कुछ अवशेष मिले है। मृत व्यक्तियोंको बैठी मुद्रामें भूमिस्थ कर दिया जाता था, साथमे आगामी जीवनमे उपयोग करनेके लिए भोजनादि सामग्री भी रख दी जाती थी। ये लोग फल-फूल, कन्दमूल तथा शिकारमे प्राप्त मांस आदिका भक्षण करते थे। उनमे रेखाशास्त्रका भी ज्ञान विकसित हो रहा था। दक्षिण भारतमे कर्नूलकी गुफाओके परीक्षणसे पता चलता है कि उनका सम्बन्ध जादू-टोने-जैसे किसी-न-किसी प्रकारके धार्मिक कृत्योसे रहा होगा। ये लोग मृत व्यक्तियोकी देह गुफामे ही छोड़कर अन्यत्र जाकर रहने लगते थे। रेखा एवं भित्तिचित्रोसे अनुमान होता है कि इस युगके मानव समस्त चराचर पदार्थोमे जीवकी सत्ता मानते थे, कितने ही सरलतम अपरिष्कृत एवं आदिमरूपमे सही, जीव या जीवनी शक्तिकी सर्वव्यापकतामे उनका विश्वास था। ये पितृपूजक भी थे। मध्य प्रदेशके रायगढ़ ज़िलेमे स्थित सिगनपुरके निकट भित्ति एवं रेखाचित्रोसे युक्त उस कालकी ऐसी गुफाएँ मिली है जो सम्भवतया उनके देवस्थान या मन्दिर थे। मनुष्यों, पशुओं एवं आखेट आदिके चित्रोके अतिरिक्त जो कई रेखानिर्मित रहस्यपूर्ण साकेतिक चित्र मिले है उनका कितने ही आध्यात्मिक सांकेतिक चिह्नोसे अद्भुत सादृश्य है, वे चित्र कई मौलिक जैन मान्यताओकी सांकेतिक अभिव्यक्ति जैसे लगते है।

(३) **नव्यपाषाण युग**—ईसवीपूर्व लगभग १५०००-८००० वर्ष पर्यन्त नव्यपाषाण युग चला। इस कालमे मानवकी आदिम सभ्यता और संस्कृतिने बड़े द्रुतवेगसे प्रगति की। विविध पाषाण, हाथीदाँत, सीग, लकड़ी आदिके

भी सुन्दर-सुन्दर अनगिनत अस्त्र-शस्त्र, राछ, उपकरण आदि बनने लगे, मिट्टीके कच्चे-पक्के, चित्रित व सादे विविध बरतन-भाँडे, खाल और वल्कलके ही नही ऊन और रूईके भी विविध परिधान, मणि, मुक्ता, शंख, सीप व स्वर्ण आदिके अलकार, साज-शृंगारकी विविध सामग्रियाँ, खेल-खिलौने आदि भी बनने लगे। बडे-बड़े गाँव बसे, मिट्टी, फूस आदिकी सुन्दर सुचारु झोपडियाँ बनी, गाँवकी रक्षाके लिए बाडे लगाये गये। युद्ध चालू हुए और शत्रुओसे रक्षा करनेके उपाय सोचे जाने लगे। गाय, बैल, भेड, बकरी आदि पशुओका पालन तथा खेती-बाड़ीका भी प्रारम्भ हुआ। आर्थिक विनिमय, आदान-प्रदान, आयात-निर्यातके रूपमे स्थानीय तथा स्थानान्तरीय व्यापार भी शुरू हुआ। अनेक शिल्पो व खानसे धातु निकालने आदिके उद्योगोका भी प्रारम्भ हुआ। सामाजिक जीवन, विवाहप्रथा तथा कौटुम्बिक व्यवस्था—कही पिताके प्रभुत्वमे और कही माताके—विकसित होने लगे। जाति प्रथाका भी श्रमिक एवं व्यावसायिक बँटवारेके रूढ़ होनेसे बीजवपन हुआ। नये-नये आमोद-प्रमोद प्रचलित हुए और धर्मभाव तथा धार्मिक मान्यताओ एवं प्रथाओका भी महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। पूर्वयुगकी भाँति ही किन्तु उनसे अधिक परिष्कृत, स्थायी एवं निश्चित रूपमे ये लोग प्रत्येक पदार्थमे जीवात्माकी सत्ता मानते थे, इनकी इस मान्यताके साथ जैनधर्मकी पंच स्थावर जीव मान्यताका विलक्षण सादृश्य है। आवागमन तथा पुनर्जन्ममे भी उनका विश्वास था और मृत पूर्वजोकी प्रेतात्माओकी पूजा भी की जाती थी। स्वस्तिकका एक विशिष्ट धार्मिक चिह्नके रूपमे प्रयोग होता था। आत्मा, पुनर्जन्म, रोगो एवं अन्य आपत्ति-विपत्तियोके आध्यात्मिक कारण और उपचार इत्यादिमे विश्वास था। जन्म, नामकरण, विवाह, मृत्यु आदि संस्कारोसे सम्बन्धित अनेक क्रियाकाण्ड उसी युगकी उपज है। उन्हे यह ज्ञात था कि शारीरिक क्रियाओका नियन्त्रण मन करता है और यह कि मनुष्यके जीवनको अलक्ष्य प्राकृतिक शक्तियाँ प्रभावित करती रहती है, अतः प्रत्येक लौकिक कार्यके उपलक्ष्यमें

किसी-न-किसी प्रकार अनुष्ठान करनेकी प्रथाएँ प्रचलित हुई। कितने ही वर्तमान अन्धविश्वासो, व्यक्तियों अथवा पदार्थोंको निषिद्धमान उनके संसर्गनिषेध, परम्परागत आख्यायिकाओं, दैवी उपाख्यानों, लोककथाओ, यहाँतक कि संगीत और नृत्यके भी बीज नव्यपाषाणयुगीन आत्मवादमे निहित थे। उस युगके जीववादकी अभिव्यक्तिका एक महत्त्वपूर्ण द्वार पाषाण-पूजा थी। विभिन्न आकृतियोंके पाषाणखण्ड विशेष-विशेष दैवी शक्तियो अथवा देवी-देवताओके प्रतीक या प्रतिनिधि समझे जाते थे। लिंग-पूजाका भी प्रचलन था। कालान्तरमे वैदिक आर्योंने पहले तो उसका विरोध किया किन्तु बादमे समझौतेकी भावनासे प्रेरित हो उसे अपना लिया। अस्तु जो लिंगेश्वर ऋग्वेदमे इन्द्रका शत्रु कहा जाकर निन्दित हुआ वही अथर्ववेदमे अनेक मन्त्रो-द्वारा पूजित-वन्दित हुआ।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है, देवमूर्तियोका सर्वप्रथम उसी युगमे निर्माण होना प्रारम्भ हुआ। ये मूर्तियाँ पाषाण अथवा काष्ठकी होती थी। आज भी शायद इसीलिए काष्ठ और पाषाणको धातुओंकी अपेक्षा अधिक पवित्र और शुद्ध माना जाता है। साधु-संन्यासियोके लिए भी काष्ठ, पाषाण या मिट्टीके ही पात्र विहित है। देवपूजामे भोजन-पानकी विविध सामग्रियाँ समर्पित की जाती थी, कही-कही हिंसक बलि भी होती थी। कृषि आरम्भ, चरागाह परिवर्तन, युद्ध यात्रा, आखेट आदिके अवसरोंपर आनन्दोत्सव मनाये जाते थे जो भिन्न-भिन्न समूहोंकी प्रकृति तथा परम्पराओके अनुसार हिंसक-अहिंसक दोनो ही प्रकारके होते थे। व्यक्ति, कुटुम्ब, बस्ती अथवा समूहकी मंगल कामनाके लिए भी धार्मिक अनुष्ठान किये जाते थे। स्वप्नों और उनके फलमे विश्वास था। इसमे सन्देह नही कि शकुनापशकुनों एवं स्वप्नोंका मानव संस्कृतिके प्रारम्भिक विकासपर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। ज्योतिष सम्बन्धी प्राथमिक ज्ञान भी उन्हे था। व्योमचारी, ग्रह, नक्षत्र, तारिका आदिका वास्तविक रहस्य वे भले ही न जानते हों किन्तु चिरकाल तक प्रकृतिकी ही निरावरण गोदमे खेलते रहनेके कारण

उन्हे ज्योतिर्मान सत्ताओंका अध्ययन करनेके लिए पर्याप्त अवसर मिला था। सामान्यत. कालका निर्णय वे खुले मैदानमे सीधी गाड़ी हुई लकड़ी-की छायामे होनेवाले परिवर्तनोसे करते थे।

संक्षेपमे यह उस युगके धार्मिक विश्वासों और सभ्यताका विवरण है जो उस युगके प्राप्त विविध एवं बहुक्षेत्रव्यापी अवशेषोपर-से अनुमान किया गया है। यदि वर्तमान सभ्यताओं और संस्कृतियोंका विश्लेषण किया जाये तो उसमे अनेक तत्त्व ऐसे मिलेगे जिनके जनक अथवा प्रवर्तक पाषाण युगके असभ्य माने जानेवाले आदिम मानव ही थे। वस्तुतः इसमे सन्देह नही है कि समस्त उत्तरकालीन सभ्यता उक्त पाषाण युगीन सभ्यताके आधारपर ही निर्मित एव विकसित हुई है। उस कालकी सभ्यता एवं आचार-विचारोके अनेक अवशेष आजके सभ्य समाजमे भी दृष्टिगोचर होते है। वर्तमान धर्मोंके भूत-प्रेतवाद, अनेक जड़ पदार्थोंमे दैवी शक्ति अर्न्तनिहित होनेका विश्वास, पशुपूजा, लिंगपूजा, मूर्तिपूजा, वृक्ष और पाषाण-पूजा, अस्त्र-शस्त्र व घरेलू उपकरणोकी पूजा, शालिग्राम-की बट्टी, गण्डे-तावीज़, टोना-टोटका, भभूत-भस्म, माला-जनेऊ, शंख आदि उसी युगकी देन है। दृष्टि-दोप निवारण करनेके लिए स्याहीके टीके लगाना, नोन-राई उतारना, मिर्च आदिकी धूनी देना, टूटे बरतनोका प्रयोग, काग-उडावन ढाँचे बनाना, घाल फेकना, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोना, नाक-कान छिदवाना, बदन गुदवाना, बैठनेके लिए कुशासन और भोजनके लिए पत्तल सकोरे आदि, सूती वस्त्रकी अपेक्षा ऊनी वस्त्रको अधिक पवित्र मानना, प्रतिकूल पडनेपर व्यक्तियो या स्थानोके नाम परिवर्तन करना, जडी-बूटियोसे रोगोका उपचार करना इत्यादि अनेक चीज़े भी उसी युगकी देन है। चूल्हा, चर्खा, सिलबट्टा, चकला-बेलन, चक्की, कुम्हारका चाक तथा अन्य अनेक घरेलू एवं शिल्पी उपकरणोंका आविष्कार उन्होने किया था। भव-परिवर्तन अर्थात् भली आत्माओका देवयोनि या स्वर्गादिकमे गमन और पापात्माओका दुष्ट व्यन्तर, दैत्य, दानव, नारकी आदि योनियोमे जाना, अनेकोंका पाषाण,

वृक्ष, पशु-पक्षी आदि योनियोंमे जन्म लेना; देवी-देवताओको गदा, शंख, चक्र, त्रिशूल आदि आयुधोसे युक्त करना, दैत्य, दानव, प्रेत आदि दुष्ट आत्माओंका पूजन-सत्कार करना, सामुद्रिक शास्त्र, ज्योतिष आदि अनेक ऐसी मान्यताएँ है जो उत्तरकालीन सुसंस्कृत जीवनमें उक्त आदिम विचारोका प्रभाव स्पष्ट प्रदर्शित करती है। जैन, वैदिक, शैव, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त, बौद्ध, यहूदी, पारसी, ईसाई, इस्लाम आदि धर्मोमे अनेक रीति-रिवाज, धार्मिक क्रियाएँ, मान्यताएँ एवं विश्वास उस आदिम युगकी बपौतीके रूपमे ग्रहण किये गये। वस्तुत: आजका सुसभ्य मानव उन तथाकथित नितान्त असभ्य आदिमकालीन मानवोका कितना ऋणी है यह ठीक-ठीक अनुमान करना और उनकी महत्त्वपूर्ण देनोका उचित मूल्यांकन करना सहज सम्भव नहीं है।

धातुपाषाण युग—इस नव्यपाषाण युगके अन्तिम पादमे अर्थात् ईसासे लगभग आठ-दस हजार वर्ष पूर्व एक नवीन युग प्रारम्भ हो रहा था जिसे धातुपाषाण युग कहते है। इसीमे शनैः-शनैः धातु युगका प्रवेश हुआ जो प्रारम्भमे कही काँसा युग और कही ताम्र युगके रूपमे आया और अन्ततः लौह युगमे आकर स्थिर हुआ। नव्यपाषाण युगके अन्तमे ग्रामीण सभ्यता स्थायी हो चुकी थी जिसमे पशुपालन और कृषिप्रधान उद्योग थे। किन्तु धातु युगके उदयके साथ-साथ नागरिक सभ्यताका उदय होने लगा जो प्रारम्भमे बड़ी-बडी नदियोंकी उपजाऊ घाटियोमे फली-फूली। उसके साथ-ही साथ नानाविध शिल्प उद्योगों, राज्यव्यवस्था एवं राजनीति, जलीय एवं थलीय देशी-विदेशी व्यापार आदिका भी उदय हुआ और वर्तमान मानवकी वास्तविक सभ्यता एवं संस्कृतिका व्यवस्थित विकास प्रारम्भ हुआ।

मनुष्यकी आदिमकालीन सभ्यता और उसके इतिहासका जो ऊपर संक्षिप्त विवेचन किया गया है, उसमे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उक्त सुदीर्घ पाषाण कालको जो विभिन्न युगोमे विभाजित किया गया है और उन युगोंकी वर्षोमे जो अवधियाँ दी गयी है वे सर्वथा निराधार न होते हुए भी अनुमान मात्र ही है। अनेक विद्वान् उक्त अवधियोमे घटी

या वढी करनेके पक्षमे है, फिर भी जो बहुमान्य मत है उनका ही यहाँ आधार लिया गया है। दूसरी बात यह है कि आदिममानवका अस्तित्व और उसकी प्राय. ऐसी ही सभ्यताका विकास पृथ्वीके विभिन्न भागोमे पाया गया है किन्तु यह आवश्यक नही है कि युगपरिवर्तन और सभ्यताका विकास सर्वत्र एक ही समयमे, एक ही रूपमे अथवा एक-सी ही गतिसे हुआ। कही उसका वेग और प्रगति बहुत द्रुत रही, कही बहुत शिथिल। यदि कही धातु युग और नागरिक सभ्यताका प्रारम्भ हो रहा था तो उसी कालमे कही नव्यपाषाण युगकी और कही पुरातन पाषाणयुगकी ही अवस्था चलती रही। आज भी मध्य अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अमेरिका, अनेक द्वीपो आदिमे ही नही भारत-जैसे देशके भी कुछ भागोमे उक्त नव्यपाषाणयुगीन आदिम मानवके वंशज प्रायः उसी रूपमे रहते पाये जाते है। एक बात और है कि प्राग्ऐतिहासिक उपरोक्त युगपरिणामो या कालावधियोमे मतभेद हो सकते है किन्तु उनका क्रम एवं स्वरूप प्रायः सुनिश्चित है। इसमे भी कोई सन्देह नही है कि भारतवर्षमे मानवने पृथ्वीतलके अन्य समस्त प्रदेशोकी अपेक्षा, उस कालमे भी कही अधिक द्रुत वेगसे प्रगति की थी और सभ्य मानवकी संस्कृति और सभ्यताका भी सर्वप्रथम यही उदय हुआ था, और इस प्रगति एवं विकासका सर्वप्रधान केन्द्र उत्तर भारतका प्राचीन मध्यदेश ही था।

महाभारतके पूर्वके अनुश्रुतिगम्य भारतीय इतिहासके साथ उपरोक्त आधुनिक विज्ञानसम्मत विवरणका समन्वय करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जबसे भूतलपर मानवके अस्तित्वके चिह्न मिलते है तबसे लेकर पाषाण कालके अन्त तक प्रायः सम्पूर्णतया प्रकृत्याश्रित भोगभूमिकी अवस्था बनी रही। जैन परम्पराके पहले, दूसरे और तीसरे कालोमे यह अवस्था रही बतायी जाती है जिसकी संगति भूतात्त्विक व्याख्याके पहले दूसरे व तीसरे कालोके साथ ठीक-ठीक बैठ जाती है। उस परम्पराके अनुसार भी इन कालोमे उत्तरोत्तर मनुष्यो, पशुओ एवं

वनस्पतियोंके आकार, बल और सुख शान्तिमें ह्रास होता गया किन्तु कृत्रिमता, प्रयत्न और उद्योगमे विकास होता गया। प्रारम्भिक मानव विशालकाय, अतुल बलशाली, निश्शंक, निर्द्वन्द, निरीह और सुखी था, उसकी जीवन सम्बन्धी आवश्यकताएँ अत्यन्त परिमित थीं और इच्छा करते ही वह उन्हे उसी स्थानके प्राकृतिक वातावरणमे प्राप्त कर लेता था और सन्तुष्ट रहता था। किन्तु धीरे-धीरे उसकी शक्तियाँ क्षीण होने लगीं, प्रकृतिसे स्वतः ही उसकी आवश्यकताओकी पूर्ति न होने लगी, उसे प्रयास और उद्यमकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी, संग्रह और सामाजिकता उसमे आने लगी, और जिसे हम सभ्यता कहते हैं उसका उसमे विकास होने लगा। हिमप्रलयोके उपरान्तका अर्थात् लगभग ५०००० वर्ष पूर्वके बादका जो पुरातन एवं नव्यपाषाण युग है वह यह सक्रान्ति-काल था। [जैन परम्पराके अनुसार जो तीसरे सुखमा-दुखमा कालके अन्तिम भागमे चौदह कुलकर या मनुओका एकके बाद एक पर्याप्त अन्तरसे होनेका उल्लेख पाया जाता है वे इसी कालमे हुए प्रतीत होते हैं। उन्होने देश-कालके अनुसार अपने समकालीन मनुष्योका नेतृत्व और पथ-प्रदर्शन किया बताया जाता है। इनमे अन्तिम कुलकर नाभिराय थे जो मध्यदेशमे जहाँ अयोध्या स्थित है उस स्थानमे उत्पन्न हुए थे। उन्हीके पुत्र प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे।]

नृतत्त्वविज्ञान (एन्थ्रोपोलाजी) सम्बन्धी एवं पुरातात्त्विक अन्वेषणोसे प्राप्त निष्कर्षोकी प्राचीन अनुश्रुतियो एव मान्यताओके साथ सगति बैठानेसे यह स्पष्ट है कि इस प्राचीनतम कालमे जब मनुष्यकी सभ्यताका सर्वप्रथम उदय हो रहा था, कमसे कम भारतवर्षसे सम्बन्धित मनुष्य जाति तीन प्रधान समुदायोमे विभक्त थी जिनके आचार-विचार और संस्कृति एक दूसरेसे भिन्न थी। [प्रथम समुदाय उत्तरी भारतके पूर्वी मैदानी भागमे गंगा यमुनाके दोआबेसे लेकर अग-मगध पर्यन्त निवास करता था। ये लोग शान्तिप्रिय और शाकाहारी थे, लोक-परलोक, आत्माके अस्तित्व,

पुनर्जन्म, जीववाद आदिमें विश्वास करते थे। वे मूर्तिपूजक थे और महा-पुरुषोकी भक्ति करते थे। योगादि-द्वारा शरीर और मनके नियन्त्रणमें इनकी आस्था थी। इनके आचार-विचार अहिंसक एवं निवृत्त्यात्मक थे। इनका सांस्कृतिक रुझान आध्यात्मिकताकी ओर विशेष था। सम्भव है कि उनकी निवासभूमिके भौतिक एवं भौगोलिक वातावरण, जलवायु, सर्व प्रकारके भोज्य शाकाहारकी प्रचुरता एवं सुलभता, जीवन निर्वाहके लिए किसी प्रकारके विशेष उद्यमकी आवश्यकताका न होना तथा उनका विशिष्ट बौद्धिक संस्थान या पूर्व संस्कार इनकी ऐसी मनोवृत्तिमे सहायक रहे हों। अवश्य ही उक्त प्रारम्भिक कालमे बहुत कुछ विकसित हो जानेपर भी उसके उपरोक्त विचार एवं विश्वास अति अस्पष्ट, अव्यव-स्थित, संक्षिप्त और सरल थे। यह समुदाय मानव वंशके नामसे प्रसिद्ध हुआ क्योकि मनुओ एवं कुलकरोका जन्म इसी जातिमे हुआ था और उन्होने समय-समयपर इस जातिका पथप्रदर्शन किया था। आध्यात्मिक एवं बौद्धिक दृष्टिसे अपने आपको औरोसे श्रेष्ठ समझनेके कारण सम्भवतया कालान्तरमे ये अपने-आपको आर्य भी कहने लगे। अन्तिम मनु एवं प्रथम मानव तीर्थंकर ऋषभदेवका जन्म उपरोक्त भोग-भूमिके अन्तमे इस मध्यदेशीय मानव वंशमे हुआ था और इस जातिमे कर्म भूमि या कर्म प्रधान जीवनका विधिवत् प्रवेश उन्होने कराया था, ऐसा विश्वास किया जाता है।

दूसरा समुदाय उत्तर, दक्षिण तथा पूर्वके अधिकतर पर्वतीय प्रदेशोमें सीमित था। आध्यात्मिक दृष्टिसे ये लोग मानवोकी अपेक्षा हीन थे किन्तु कला-कौशल एवं उद्योग-धन्धोमे वे उनसे बहुत बढे-चढे थे। इन दिशाओमे उन्होने मानवोकी अपेक्षा अधिक शीघ्रताके साथ पर्याप्त उन्नति कर ली थी और मानवोमे कर्मभूमिके आगमनके उपरान्त भी बहुत काल पीछे तक वे उनसे इन विषयोमे आगे ही रहे। किन्तु साथ ही मानवोको अपना आध्यात्मिक एवं धार्मिक गुरु मानते रहे। यदि मानवोने ज्ञानका विकास

किया तो इन विद्याधरोंने विज्ञानका विकास किया। नाग, ऋक्ष, यक्ष, वानर आदि अनेक कुलोमे विभाजित यह भारतीय विद्याधर जाति भारतीय महासागरमे फैले हुए विभिन्न द्वीपों एवं प्रदेशोंमे भी शनैः-शनैः फैल गयी। कालान्तरमे इस विद्याधर जातिके वंशजोंको ही द्रविड संज्ञा दी गयी। मानवों और विद्याधरोके बीच प्रारम्भमे ही घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध रहे। परस्पर विवाह आदि भी होते थे जिससे रक्तमिश्रण बढ़ा। विद्याधरोने मानवोके ज्ञानसे लाभ उठाया तो मानवोने विद्याधरोके विज्ञानसे।

तीसरा समुदाय मानव वंशकी ही एक शाखा थी जो किसी बहुत पूर्व समयमे मध्यदेशीय मूल मानवजातिसे पृथक् होकर उत्तर-पश्चिमके पर्वतीय प्रदेशोकी ओर चली गयी थी। यह समुदाय ज्ञान-विज्ञान दोनोमे ही बहुत पीछे तक पिछडा रहा। पशुपालन इसका प्रधान कर्म रहा। यह समुदाय घुमक्कड़ था और उत्तर-पश्चिम भारतवर्ती अपने मूलस्थानसे चलकर इसके अनेक दल हिन्दूकुशके दर्रोंसे पार होकर मध्यएशिया तक फैल गये। वहाँसे एक शाखा कुछ उत्तरकी ओर जा बसी, दूसरी पश्चिमकी ओर युरॅपके यूनान आदिमे और तीसरी ईरानमे बस गयी। किन्तु इन सभी शाखाओंका परस्पर यातायात एवं सम्पर्क चिरकाल तक बना रहा, जबतक कि वे विभिन्न भूभागोमे स्थायी रूपसे बसकर अपनी-अपनी स्वतन्त्र सभ्यताके विकासमे संलग्न न हुई। अपने देश-काल, रहन-सहन, जीवन-व्यापार आदि परिस्थितियोके कारण ये लोग सामान्यतया भौतिकवादी, प्रकृति या प्राकृतिक शक्तियोके उपासक, मासाहारी, हिंसक एवं प्रवृत्तिप्रधान रहे। ये ही लोग कालान्तरमे आर्य अथवा 'इण्डोआर्य' नामसे प्रसिद्ध हुए। ये न तो मध्यदेशीय मानव आर्योंकी भांति आत्मज्ञानरत थे और न विद्याधरोकी भाँति विज्ञान एवं कला-कुशल। अतएव इनकी सभ्यताके विकासका आरम्भ उन दोनोसे पीछे हुआ।

[अस्तु, अयोध्या प्रदेशके नाभिसुत ऋषभदेवने पाषाणकालीन प्रकृत्याश्रित असभ्य युगका अन्त करके ज्ञान-विज्ञान सयुक्त कर्मप्रधान मानवी

सभ्यताका भूतलपर सर्वप्रथम ॐ नमः किया। अयोध्यासे हस्तिनापुर पर्यन्त प्रदेश इस नवीन सभ्यताका प्रधान केन्द्र था। उन्होने असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्यारूप लौकिक पट्कर्मोका तथा देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान रूप धार्मिक पट्कर्मोका मानवों-को उपदेश दिया। राज्यव्यवस्था की, समाज संगठन किया और नागरिक सभ्यताके विकासके बीज-वपन किये। कर्माश्रयसे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रके रूपमे श्रमविभाजनका भी निर्देश किया। वे स्वयं इक्ष्वाकु कहलाये इससे उन्हीसे भारतीय क्षत्रियोके प्राचीनतम इक्ष्वाकुवंशका प्रारम्भ हुआ। लोक-को लौकिक एवं पारलौकिक उपदेश देकर उन्होने निःस्पृह निरीह योग-मार्ग अपनाया और कैलाश पर्वतसे निर्वाण लाभ किया।

उनके पुत्र सम्राट् भरत चक्रवर्तीने सर्वप्रथम सम्पूर्ण भारतको राज-नैतिक एकसूत्रतामे बाँधनेका प्रयत्न किया। उन्हीके नामसे यह देश भारतवर्ष कहलाया और प्राचीन आर्योका भरतवंश चला। ऋषभके ही एक अन्य पुत्रका नाम द्रविड था जिन्हे उत्तरकालीन-द्राविडोका पूर्वज कहा जाता है। सम्भव है किसी विद्याधर कन्यासे विवाह करके ये विद्याधरोमे ही जा वसे हो और उनके नेता बने हो, जिससे वे लोग कालान्तरमे द्राविड कहलाये। भरतके पुत्र अर्ककीर्तिसे सूर्यवश, उनके भतीजे सोमयशसे चन्द्रवंश तथा एक अन्य वशज कुरुसे कुरुवंश चला, ऐसी भी अनु-श्रुतियाँ है।

ऋषभदेव-द्वारा उपदेशित यह अहिंसामय सरल आत्मधर्म उस कालमे सम्भवत ऋषभधर्म, आर्हतधर्म, मग्ग या मार्ग अर्थात् मुक्ति और सुखका मार्ग कहलाया था। इसके द्वारा अनुप्राणित संस्कृति ही श्रमण सस्कृति कहलायी। ऋषभके उपरान्त आनेवाले अजितनाथ आदि विभिन्न तीर्थंकरोने इस संस्कृतिका पोषण किया और उक्त सदाचार प्रधान योगधर्मका पुनः-पुनः प्रचार किया।

सिन्धु घाटी सभ्यता—जिस कालमे मध्यदेशमें उपरोक्त श्रमण संस्कृति धीरे-धीरे विकसित हो रही थी प्रायः उसी कालमे उक्त ऋषभधर्म एवं श्रमण संस्कृतिसे कथंचित् प्रभावित विद्याधरोंकी लौकिकता एवं भौतिकता प्रधान उत्कृष्ट नागरिक सभ्यताका प्रारम्भ एक ओर नर्मदा नदीके काठेमे और दूसरी ओर सिन्धु नदीकी घाटीमे हो रहा था। वर्तमान शताब्दीके प्रारम्भिक दशकोमे भारतीय पुरातत्त्व विभागकी ओरसे सिन्धु प्रान्तके लरकाना जिलेमे तथा पश्चिमी पंजाबके मान्टगुमरी जिलेमे जो महत्त्वपूर्ण खुदाई एवं खोज-शोध हुई है उससे भारतमे एक अत्यन्त प्राचीन एवं अत्युत्कृष्ट नागरिक सभ्यताके अस्तित्वपर आश्चर्यजनक प्रकाश पडा है। सिन्धु घाटीकी मोहन्जोदड़ो (मुर्दोका टीला) नामसे विख्यात उक्त सभ्यता सभ्यमानवकी अधुनाज्ञात प्राचीनतम सभ्यता मानी जाती है। पुरातत्त्वज्ञोने एक पूरा नगर खोद निकाला है जिसकी नगर योजना, पक्की ईटोके सुन्दर सुचारु भवन, हाट-बाजार, चौरस्ते, सभाभवन, विविध अस्त्र-शस्त्र, आभूषण, खेल-खिलौने, मुद्राएँ, मूर्त्तियाँ आदि विविध पुरातात्त्विक सामग्रीने जो वहाँसे प्राप्त हुई है वर्तमान संसारको आश्चर्याभिभूत कर दिया है। गेहूँकी खेती और उसका भोज्यान्नके रूपमे उपयोग, रूईकी खेती और उससे वस्त्र बनाना, स्वर्णके आभूषण आदि सिन्धु घाटीके इन प्राचीन विद्याधरोके ही आविष्कार माने जाते है। विद्वानोके मतानुसार इस सभ्यताका जीवनकाल ई० पू० ६००० से लेकर २५०० वर्ष तक रहा प्रतीत होता है। अबतक पिरेमिडो एवं फैराओ बादशाहोके पूर्ववर्ती प्राचीनतम मिस्रकी नीलघाटीकी सभ्यता तथा पश्चिमी एशियामे दजला-फरातकी घाटीकी सुमेर सभ्यता ही सर्व-प्राचीन समझी जाती थी। किन्तु अब उपरोक्त सिन्धु घाटीकी मोहन्जोदडो सभ्यता उन दोनोसे ही पूर्ववर्ती ही नही वरन् मानवकी सर्वप्रथम नागरिक एवं औद्योगिक सभ्यता अनुमान की जाती है, और प्राचीन मिस्रो, सुमेरी आदि सभ्यताएँ उसके पीछेकी तथा अनेक रूपोंमे उसकी ऋणी मानी जाती है।

यह सभ्यता लोहेके आविष्कारसे पूर्वकी अर्थात् धातुपाषाण (चैल्कोलिथिक) या ताम्रयुगकी मानी जाती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथके समयमे सर्वप्रथम इस प्राचीन सभ्यताका प्रारम्भ हुआ। सम्भवनाथका विशिष्ट लाछन अश्व है और सिन्धु देश चिरकाल तक अपने सैन्धव अश्वोंके लिए प्रख्यात रहा है। मौर्य काल तक सिन्धुमे एक सम्भूत्तर जनपद और साम्भव (सम्बूज) जातिके लोग विद्यमान थे जो बहुत सम्भव है कि सिन्धु सभ्यताके मूल प्रवर्तको एवं तीर्थंकर सम्भवनाथके मूल अनुयायियोकी ही वश-परम्परामे हो। यह सभ्यता अवैदिक एवं अनार्य ही नही वरन् प्राग्वैदिक थी तथा इसके पुरस्कर्त्ता ऋषभ प्रणीत योग धर्मके अनुयायी और श्रमण संस्कृतिके उपासक प्राचीन विद्याधर अर्थात् भारतीय द्रविड जातिके पूर्वज थे, ऐसा प्रतीत होता है।

सर जान मार्शलका कथन है कि "सिन्धु संस्कृति एवं वैदिक संस्कृतिके तुलनात्मक अध्ययनसे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि इन दोनो संस्कृतियोमे परस्पर कोई सम्बन्ध या सम्पर्क नही था। वैदिक धर्म सामान्यतया अमूर्त्तिपूजक है जब कि मोहन्जोदडो एवं हडप्पामे मूर्त्तिपूजा सर्वत्र स्पष्ट परिलक्षित होती है। मोहन्जोदडोके मकानोमे हवनकुण्डोका सर्वथा अभाव है।" इन अवशेषोमे नग्न पुरुषोकी आकृतियोसे अंकित मुद्राएँ बहुसंख्यामे मिलती है। जान मार्शलके अनुसार वे प्राचीन योगियोकी मूर्त्तियाँ है। एक अन्य विद्वान्का कथन है कि "ये मूर्त्तियाँ स्पष्टतया सूचित करती है कि धातुपाषाण कालमे सिन्धु घाटीके निवासी न केवल योगाभ्यास ही करते थे बल्कि योगियोकी मूर्त्तियोकी पूजा भी करते थे।" रामप्रसाद चाँदाका कथन है कि "सिन्धु घाटीकी अनेक मुद्राओमे अंकित न केवल बैठी हुई देवमूर्त्तियाँ योगमुद्रामे है और उस सुदूर अतीतमे सिन्धुघाटीमे योग मार्गके प्रचारको सिद्ध करती है बल्कि खड्गासन देव-मूर्त्तियाँ भी योगकी कायोत्सर्ग मुद्रामे हैं। और यह कायोत्सर्ग ध्यान

मुद्रा विशिष्टतया जैन है। आदिपुराण आदिमे इस कायोत्सर्ग मुद्राका उल्लेख ऋषभ या वृषभदेवके तपश्चरणके सम्बन्धमे बहुधा हुआ है। जैन ऋषभकी इस कायोत्सर्ग मुद्रामें खड्गासन प्राचीन मूर्त्तियाँ ईसवी सन्के प्रारम्भ कालको मिलती है। प्राचीन मिस्रमे प्रारम्भिक राज्यवंशोके समयकी दोनो हाथ लटकाये खड़ी मूर्त्तियाँ मिलती है। किन्तु यद्यपि इन प्राचीन मिस्री मूर्त्तियों तथा प्राचीन यूनानी कुरोइ नामक मूर्त्तियोमे प्रायः वही आकृति है तथापि उनमे उस देहोत्सर्ग-निस्संग भावका अभाव है जो सिन्धु घाटीकी मुद्राओंपर अंकित मूर्त्तियोंमे तथा कायोत्सर्ग मुद्रासे युक्त जिन मूर्त्तियोंमे पाया जाता है। ऋषभ शब्दका अर्थ वृषभ है और वृषभ जैन ऋषभदेवका लाछन है।" वस्तुतः सिन्धु घाटीकी अनेक मुद्राओमे वृषभ युक्त कायोत्सर्ग योगियोकी मूर्त्तियाँ अंकित मिली है जिससे यह अनुमान होता है कि वे वृषभ लांछन युक्त योगीश्वर ऋषभकी मूर्त्तियाँ है। ऋषभ या वृषभका अर्थ धर्म भी है शायद इसीलिए कि लोकमे धर्म सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभके रूपमे ही प्रत्यक्ष हुआ। प्रो० रानाडेके मतानुसार 'ऋषभदेव ऐसे योगी थे जिनका देहके प्रति पूर्ण निर्ममत्व उनकी आत्मोपलब्धिका सर्वोपरि लक्षण था।' उत्तरकालीन भारतीय सन्तोके योगमार्गमे भी ऋषभदेवको उक्त मार्गका मूल प्रवर्तक माना गया है। प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकार न केवल सिन्धु घाटीके धर्मको जैन धर्मसे सम्बन्धित मानते है वरन् वहाँसे प्राप्त एक मुद्रा (नं० ४४९) पर तो उन्होने 'जिनेश्वर' (जिन इइसरह) शब्द भी अंकित रहा बताया है और जैन आम्नायकी श्री, ह्रीं, क्लि आदि देवियोकी मान्यता भी वहाँ रही बतायी है। वहाँसे नागफणके छत्रसे युक्त योगी मूर्त्तियाँ भी प्राप्त हुई है जो सातवे तीर्थंकर सुपार्श्वकी हो सकती है। इनका लाछन स्वस्तिक है और तत्कालीन सिन्धु घाटीमे स्वस्तिक एक अत्यन्त लोकप्रिय चिह्न दृष्टिगोचर होता है, सड़कें और गलियाँ तक स्वस्तिकाकार मिलती है।

कुछ विद्वान् मोहन्जोदड़ो सभ्यताके प्राग्आर्यकालीन होनेमे सन्देह

करते है । इनके अनुसार आर्योका मूल निवास स्थान भारतवर्ष ही है और सिन्धु सभ्यता आर्य सभ्यताकी ही एक प्राथमिक अवस्था है । किन्तु मतबाहुल्य इसी पक्षमे है कि सिन्धु सभ्यता अनार्य ही नही थी वरन् वह निश्चयतः द्रविड थी । उसकी भाषा, धर्म, संस्कृति इत्यादि सब द्रविडीय थे । डॉ० हेरासके अनुसार 'मोहन्जोदडोका प्राचीन नाम नन्दूर अर्थात् मकरदेश था । और नन्दूर लिपि मनुष्यकी सर्वप्रथम लिपि तथा यह सभ्यता मनुष्यकी भूतलपर सर्वप्रथम सभ्यता थी ।' डॉ० हेरास इस सभ्यताको द्रविडीय ही मानते है । इस सम्बन्धमे यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'मकर' नवे तीर्थंकर पुष्पदन्तका लांछन है । जान मार्शल इस सिन्धु सभ्यताकी जननी उत्तर भारतके मध्यदेशमे उदित एवं विकसित संस्कृतिको मानते है । प्रो० एस० श्रीकण्ठशास्त्रीका कहना है कि "अपने दिगम्बर धर्म, योग मार्ग, वृषभ आदि विभिन्न लाछनोकी पूजा आदि बातोके कारण प्राचीन सिन्धु सभ्यता जैन धर्मके साथ अद्भुत सादृश्य रखती है, अतः वह मूलतः अनार्य अथवा कमसे कम अवैदिक तो है ही ।"

अस्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त प्राचीन सिन्धु सभ्यताके पुरस्कर्ता प्राचीन विद्याधर जातिके लोग थे जिन्हे द्रविडोका पूर्वज कहा जा सकता है । किन्तु साथ ही उनके प्रेरक एवं धार्मिक मार्गदर्शक मध्यदेशके वे मानववंशी मूल आर्य थे जो तीर्थंकरोके आत्मधर्म और श्रमण संस्कृतिके उपासक थे । तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथसे लेकर नवे तीर्थंकर पुष्पदन्त तकका काल सिन्धु सभ्यताके विकासका काल है । सुपार्श्वसे पुष्पदन्त पर्यन्त-का काल उसका उत्कर्ष काल रहा । प्रायः इसी समय पंजाबके वर्तमान मान्टगुमरी जिलेमे हडप्पा नामसे सूचित प्रदेशमे लघुभगिनीके रूपमे एक अन्य सभ्यता विकसित होनी शुरू हुई । इसका काल ई० पू० ३००० से २००० वर्ष माना जाता है । हडप्पावाले भी अनार्य और अवैदिक थे, किन्तु इनमे उन पश्चिमी आर्योका जो कालान्तरमे वैदिक संस्कृतिको जन्म

देनेवाले थे कुछ मिश्रण रहा हो सकता हैं। कमसे कम नवोदित वैदिक आर्योंका हड़प्पावालोंके साथ ही सर्वप्रथम एवं सबसे भीषण संघर्ष हुआ। वैदिक साहित्यके दस्यु, असुर आदि यही थे। पश्चिमी एशियामें एकके बाद एक आनेवाली सुमेर, अस्सुर, बाबुली आदि सभ्यताओंका सम्पर्क अपनेसे ज्येष्ठ मोहन्जोदड़ो एवं समकालीन हड़प्पा सभ्यताके साथ विशेष रहा। मिस्त्रकी प्राचीनतम सभ्यता भी प्रायः इसी कालकी है। ई० पू० २३५० के लगभग हड़प्पावालोंके साथ पश्चिमी एशियाकी सुमेरी सभ्यताका सम्पर्क निश्चित रूपसे रहा प्रतीत होता है। तत्कालीन कालगणनामें यह तिथि महत्त्वपूर्ण है। हड़प्पा सभ्यताके चिह्न गंगा, चम्बल और नर्मदाके कांठोंमें पश्चिमी उत्तरप्रदेश (हस्तिनापुर आदिमें), पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात-काठियावाड़ आदि प्रदेशोंमें भी प्राप्त हो चुके हैं जो उसके विस्तृत प्रसारके सूचक हैं। इस सभ्यताकी उत्तराधिकारिणी झूकर आदि परवर्ती सभ्यताएँ मानी जाती हैं, और तदुपरान्त आर्यों (इन्डो-आर्यनों) का तथा उनकी वैदिक सभ्यताका उदय हुआ माना जाता है।

वैदिक सभ्यता—आर्योंके मूल निवासस्थानके विषयमें बड़ा मत-भेद है, किन्तु अधिक संगत यही प्रतीत होता है कि वे मूलतः भारतके ही निवासी थे और मध्यदेशके प्राचीन मानववंशी आर्योंकी ही उस शाखासे सम्बन्धित हैं जो ऋषभदेवके समयमें होनेवाले मानवी सभ्यताके उदयके कुछ पूर्व ही पश्चिमोत्तर प्रदेशकी ओर विचरण करके मूलशाखासे प्रायः पृथक् हो गयी थी और चिरकाल पर्यन्त पृथक् ही रही। इसका एक कारण यह भी रहा प्रतीत होता है कि उनका प्रवाह और विचरण पूर्वकी ओर अपने मूल जातिबन्धुओंकी ओर न होकर पश्चिमकी ओर अर्थात् पश्चिमी एशियाई देशोंकी ओर हुआ। वहाँसे वे उत्तरी एशिया और पूर्वी एवं उत्तरी यूरॅप आदिको ओर भी फैले। इनका प्रधान केन्द्र पश्चिमी एशिया रहा। उनकी एक शाखा जब ईरानमें बस गयी तो एक अन्य शाखा फिरसे भारतमें आयी और उनके जो जातिबन्धु यहाँ पहलेसे ही पश्चिमोत्तर

प्रदेशमे बसे थे उनमे नवीन प्रोत्साहन फूँककर इन्होंने सरस्वती नदीके तटपर अपनी स्थायी बस्तियाँ बनायी, ऋग्वेदके मन्त्रोकी रचना की और पशुहिंसा युक्त यज्ञोवाली वैदिक संस्कृतिको जन्म दिया। प्रो० के० ए० नीलकान्त शास्त्रीके मतानुसार भारतका वैदिक युग भारतीय-ईरानी सभ्यताके विकासका ही एक पहलू है। प्राचीन ईरानी और वैदिक संस्कृतिके अनेकविध सादृश्यसे यह बात सिद्ध है।

वैदिक युगके प्रारम्भकाल एवं ऋग्वेदके प्रारम्भिक मन्त्रोंकी रचनाकी तिथिके सम्बन्धमे विद्वानोमे मतभेद है। जब कि मैक्समूलर आदि उसे ई० पू० १२००-१००० पर्यन्त निश्चित करते है तो तिलक और जैकोबी गणितज्योतिषके आधारपर उसे ई० पू० ६००० व ४००० के बीच अनुमान करते है। किन्तु ये दोनों ही मत अतिशयोक्तिपूर्ण माने जाते है। बहुमत इस समयको ई० पू० २००० के लगभग स्थिर करता है और लगभग २०००-१००० ई० पू० उक्त वैदिक सभ्यताका विकासकाल एवं चरमोत्कर्ष काल मानता है। इसी बीच प्राचीन मिस्रकी वंशानुक्रमिक सभ्यता, प्राचीन ईरानी सभ्यता, प्राचीन चीनी सभ्यता, पश्चिमी एशियाकी अस्सुर, बाबुली, खिल्दियन आदि सभ्यताओं, भूमध्यसागरवर्ती हिट्टी, मितानी आदि सभ्यताओ तथा अमेरिकाकी माया सभ्यता आदि विश्वकी अन्य प्राचीनकालीन सभ्यताओका आगे-पीछे उदय एवं विकास हुआ।

वैदिक सभ्यताके प्रारम्भिक विकासके स्वरूपकी जानकारीके एकमात्र किन्तु पर्याप्त सफल साधन उस कालमे रचे गये ऋग्वेदके मन्त्र है। ये मन्त्र इन्द्र, वरुण, अग्नि, द्यौ आदि देवताओके रूपमे कल्पित प्रकृतिकी विभिन्न शक्तियोकी स्तुतिके रूपमे है। इन मन्त्रोके अध्ययनसे उक्त वैदिक आर्योके धार्मिक विश्वासों, क्रियाकाण्ड, आचार-विचार, रहन-सहन, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक संगठन, लौकिक इतिहास आदि विषयो-के सम्बन्धमे बहुत कुछ जानकारी प्राप्त हो जाती है। याज्ञिक क्रियाकाण्ड, पशुबलि, समाजमे पुरोहित, यजमान और राजाकी स्थिति, कुटुम्बमे पिताका

सर्वोपरि स्थान, विश या जनपद, ग्राम या बस्तीकी व्यवस्था, समाजमे स्त्रियोका सम्माननीय स्थान, बहुपत्नीत्व और बहुपतित्व, वर्ण-व्यवस्थाका प्रारम्भिक रूप, अनुलोम-प्रतिलोम विवाह, मासाहार, सुरापान, द्यूतव्यसन आदि तत्कालीन संस्थाओं, प्रथाओं एवं लोकदशाकी रोचक सूचनाएँ मिलती है। ऋग्वेदसे ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक वैदिक आर्योका यज्ञविरोधी हड़प्पावालोके साथ सांस्कृतिक एवं राजनैतिक संघर्ष हुआ, युद्ध हुआ और सुलह हुई। उन लोगोको आर्योने दस्यु और दास आदि संज्ञाएँ दी। इस कालकी प्रमुख घटना दशराज्ञ युद्ध है। भारतके प्राचीन भारतोंका भी इस वेदमे उल्लेख मिलता है। मानवी सभ्यताके मूलप्रवर्तक योगीश्वर ऋषभकी स्तुतिमे भी कुछ मन्त्र है। किन्तु साथ ही लिंगेश्वरको इन्द्रका शत्रु भी कहा गया है। कालान्तरमे ऋक्संहिताके रूपमे संकलित इस प्रथम वेदमे दश मण्डलोमे विभाजित कुल १०१७ मन्त्र है। जैन अनुश्रुतिके अध्ययनसे पता चलता है कि दसवें तीर्थंकर शीतलनाथके उपरान्त सर्वप्रथम ब्राह्मणोने श्रमण-परम्परासे अपना सम्बन्ध विच्छेद करके अपनी पृथक् ब्राह्मण संस्कृति एवं वैदिक धर्मको जन्म दिया था। हो सकता है कि वैदिक आर्योके समाजमे ब्राह्मण वर्गका सर्वोपरि स्थान देखकर मध्यदेशीय मानववंशी ब्राह्मण उनकी ओर आकृष्ट हुए हों। वेदोंकी भाषापर मध्यदेशकी अर्धमागधी प्राकृतका तथा ईरानी आदि पश्चिमी भाषाओंका द्विविध प्रभाव रहा प्रतीत होता है। लिपि जो उन्होने अपनायी वह भारतके मानववंशियों-द्वारा आविष्कृत ब्राह्मी लिपि थी।

उत्कर्षकाल—रामायणसे महाभारत पर्यन्त—शनै-शनै. वैदिक आर्योने भारतके आदिम निवासी मानवो और विद्याधरोसे सुलह कर ली और उनका उनके साथ रक्तमिश्रण भी होने लगा। उन्होने पूर्वकी ओर फैलना प्रारम्भ कर दिया और पंजाबसे लेकर समस्त पश्चिमी उत्तरप्रदेश उनका केन्द्र बन गया। उनकी राज्य शक्तियोंका भी विकास हुआ जिनमे

कुरु-पाचालके राज्य सर्व प्रमुख थे । वैदिकोके नवीन उत्साहसे पूर्ण एवं द्रुत-वेगसे वृद्धिगत प्रभाव, प्रसार तथा लौकिक शक्तिके सम्मुख उत्तर-पश्चिमकी नाग आदि विद्याधर जातियाँ पराभूत होकर सुदूर उत्तरमे तक्षशिला और सिन्धु नदीके मुहानेके निकट पातालपुरी आदिमे सकुचित हो गयी । दक्षिणमे वे पूर्ववत् सबल बनी रही । पूर्वके श्रमणोपासक मध्यदेशी मानव अंग, मगध तथा पूर्वी उत्तरप्रदेशमे सीमित होते चले गये । बीसवे तीर्थकर मुनिसुव्रतके समय तक वैदिक धर्म एवं ब्राह्मण संस्कृतिकी उत्तरोत्तर प्रगति होती गयी । मुनिसुव्रतनाथके तीर्थमे इक्ष्वाकुके सूर्य वंशमे उत्पन्न अयोध्यापति रामचन्द्र-द्वारा दोनो संस्कृतियोके समन्वयका भागीरथ प्रयत्न हुआ । अतएव श्रीराम यदि श्रमण परम्परामे एक महान् पुराण पुरुष तथा उसी भवसे मोक्ष प्राप्त करनेवाले सिद्ध परमात्मा हुए तो दूसरीमे ईश्वरके अवतार माने गये । एकमे वे परम अहिसक आत्मोपासक है तो दूसरीमे वे यज्ञ एवं याज्ञिकोके रक्षक है । उन्हीके द्वारा इस समन्वयात्मक उत्तर भारतीय संस्कृतिका प्रकाश सुदूर दक्षिणके देशोमे पहुँचा और वैदिकोके उदयके कारण कुछ कालके लिए विच्छिन्न हो जानेवाली मानव-विद्याधर मैत्री अब आर्य-द्रविड सम्पर्कके रूपमे फिरसे पुनरुज्जीवित हुई ।

ऋग्वेदके उपरान्त यजुष्, साम और अथर्व नामक शेष तीन वेदोमे ब्राह्मण अथवा वैदिक संस्कृतिके साथ श्रमण अथवा आध्यात्मिक आर्हत संस्कृतिके समन्वय एवं आदान-प्रदानके उपरोक्त प्रयत्नोका पर्याप्त आभास मिलता है । वेदोमे 'मुनयो वातवसना' के रूपमे तत्कालीन दिगम्बर मुनियोंका स्पष्ट उल्लेख है । वैदिक आर्य व्रतादिमे विश्वास करनेवाले श्रमणोपासक पूर्वी आर्योको व्रात्य कहते थे । प्रारम्भ कालीन मन्त्रोंमे इन व्रात्योकी पर्याप्त निन्दा है, किन्तु अथर्व वेदमे व्रात्यस्तोमके रूपमे उनकी प्रायः स्तुति ही है । इसी प्रकार श्रमण क्षत्रियोको भी वैदिक साहित्यमे निन्दाकी दृष्टिसे क्षात्रबन्धु कहा गया है । किन्तु वैदिक क्षत्री राजे उन पूर्वी क्षत्रियोसे विवाह, मैत्री आदि सम्बन्ध करनेमे तनिक भी नही हिचकिचाते थे । इस

समन्वय या समझौतेका एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि रामायण एवं महाभारतकी घटनाओंके मध्यवर्ती कालमे वैदिक—आर्य समाजमे क्षत्रियोंकी शक्ति और प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया था—उनकी बलवती राज्यसत्ताएँ यत्र-तत्र फैल गयी थी, ब्राह्मण मन्त्री और पुरोहित मात्र ही रह गये थे। इसी युगमे वैदिक क्षत्रियोकी राजनैतिक शक्ति सर्वोपरि थी और यही काल वैदिक सभ्यताका चरमोत्कर्ष काल है। महाभारतके विनाशकारी युद्धने वैदिक युगका ही अन्त नही किया, वैदिक क्षत्रियोंकी राज्यसत्ताको भी अत्यन्त अवनत कर दिया।

जिस प्रकार इस युगके प्रारम्भमे अयोध्याके रामने दोनो संस्कृतियोके समन्वयका स्तुत्य प्रयत्न किया था उसी प्रकार इस युगके अन्तमे यदुवंशी कृष्णने वैसा ही प्रयत्न किया। ये दोनों ही महापुरुष भारतकी मौलिक सांस्कृतिक एकताके प्रतीक है—दोनो ही प्राचीन श्रमण एवं ब्राह्मण संस्कृतियोके बीचकी सुदृढ कड़ियाँ है। कृष्ण भी दोनो ही परम्पराओमे प्रायः समान रूपसे सम्माननीय है। उनके ताऊजात भाई बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि भी यजुर्वेदमे स्मृत हुए है। कृष्ण स्वयं प्राचीन मानववंशकी हरिवंश नामक शाखामे उत्पन्न हुए थे और उन्होने कुरु-पांचालके वैदिक-आर्य क्षत्रियोके साथ विवाह एव मैत्री आदि सम्बन्ध स्थापित करके तथा अपनी विलक्षण कूटनीति-द्वारा भारतकी समस्त तत्कालोन राजसत्ताओको मिलाकर, लड़ाकर और प्रभावित करके उन सबका ही नेतृत्व किया तथा उनके वंशजो-द्वारा कालान्तरमे ईश्वरके अवतारके रूपमे पूजे गये। साथ ही श्रमण अथवा जैन परम्परामे भी वे नारायण, अर्धचक्री, त्रिखण्डी, श्रावकोत्तम, अपने समयके सर्वप्रतापी सर्वशक्तिमान् आदर्श नरेश एवं धर्मात्माके रूपमे स्तुत्य हुए है। स्वयं पाण्डव बन्धु भी जैनधर्मके उपासक तथा अन्तमे जैन मुनियोके रूपमे तप करते बताये गये है।

रामायण एवं महाभारतकी घटनाएँ बहुत थोड़े-से अन्तरोको लिये हुए ब्राह्मण एवं जैन दोनो ही परम्पराओमे प्रायः एक-सी पायी जाती है और

समान रूपसे लोकप्रिय है। वस्तुतः दोनों धाराओंके ये कथानक एक दूसरेके पूरक है और नियमित इतिहासके प्रारम्भसे पूर्वके अनुश्रुतिगम्य कालके लिए ब्राह्मण परम्पराका वैदिक साहित्य, रामायण एवं महाभारत काव्य तथा पुराण ग्रन्थ जितने उपयोगी है उतने ही जैन पुराण साहित्य तथा धार्मिक अनुश्रुतियाँ भी है। जैसा कि प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकारका कथन है, भारतका प्राचीन इतिहास जितना वेदोको मान्य करनेवालोका है उतना ही वेद-विरोधी जैनोका है। जैनोके प्राचीन तीर्थंकर भी वैसे ही वास्तविक ऐतिहासिक पुरुप है जैसे कि वेदोके रचियता ऋपिगण तथा ब्राह्मण परम्पराके अन्य प्राचीन महापुरुप। वस्तुतः जैन पुराण कथानकोके उस काल-सम्बन्धी चित्रण कही अधिक वुद्धिगम्य, युक्तियुक्त एवं वास्तविकताके निकट है। श्रमण संस्कृति भी शुद्ध भारतीय प्राचीन मानव संस्कृति है जो वैदिक धर्म और ब्राह्मण संस्कृतिके उदयके सम्भवतया कुछ पूर्व ही अस्तित्वमे आ चुकी थी और विकसित हो चुकी थी। ब्राह्मण-वैदिक संस्कृतिके उदयके उपरान्त वह उसके साथ संघर्प करती, समन्वय करती, आदान-प्रदान करती तथा अपनी पृथक् सत्ता भी बनाये रखती हुई फलती-फूलती और विकसित होती रही।

विनाशकारी महाभारत युद्धके अन्तके साथ-साथ भारतीय इतिहासके सुदीर्घ प्रागऐतिहासिक एवं अनुश्रुतिगम्य इतिहास कालका अन्त और नियमित इतिहासका प्रारम्भ होता है।

अध्याय २

प्राचीन युग–प्रथम पाद

[महाभारतसे महावीर पर्यन्त]

बहुत समय तक भारतीय इतिहासका नियमित प्रारम्भ छठी शताब्दी ई० पू० मे महावीर और बुद्ध-द्वारा क्रमशः जैन एवं बौद्धधर्मके प्रचार तथा मगध साम्राज्यके उदयसे माना जाता रहा। इसके बादका काल ऐतिहासिक तथा पूर्वका प्रागैतिहासिक कहा जाता था। किन्तु इधर कुछ दशकोसे भारतीय इतिहासकारोका झुकाव भारतवर्षके नियमित इतिहासको महाभारत युद्धके ठीक उपरान्त प्रारम्भ करनेकी ओर बढता जा रहा है। अस्तु, भारतवर्षका विधिवत् इतिहास अब गत लगभग तीन साढ़े-तीन सहस्र वर्षका इतिहास माना जाता है। इसका प्राचीन युग महाभारत युद्धके ठीक बाद प्रारम्भ होकर मुसलमानों-द्वारा भारतकी विजयके साथ समाप्त होता है। इस ढाई सहस्र वर्षके सुदीर्घ प्राचीन युगका पूर्वार्ध प्रधानतया उत्तर भारतके इतिहाससे ही सम्बन्धित है, दक्षिण भारतके सम्बन्धमे इस युगमे कोई विशेष जानकारी प्राप्त नही होती।

महाभारत युद्धको एक ऐतिहासिक घटना माननेमे अब प्रायः किसीको कोई शंका नही है यद्यपि महाभारतमे कथित उसके वर्णनको जैसाका तैसा माननेमे प्रायः सभी संकोच करते है। इतिहासकाल अथवा भारतीय इतिहासके प्राचीन युगके आदिकालका सूचन करनेके लिए उक्त घटनाकी तिथिका निर्णय करना आवश्यक है किन्तु इसके सम्बन्धमे भी विद्वानोमे बहुत मतभेद है। प्रो० पार्जीटरके अनुसार महाभारतकी तिथि ई० पू०

९५० है, डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार, प्रो० नोलकान्त शास्त्री आदिके अनुसार लगभग १००० ई० पू०, कर्नल टाडके अनुसार ई० पू० ११२०, रायचौधरीके अनुसार ई० पू० १३७६, जयचन्द्र विद्यालंकारके अनुसार ई० पू० १४२४, डॉ० काशीप्रसाद जायसवालके अनुसार ई० पू० १४५० इत्यादि, कुछ पुराणोके अनुसार ई० पू० १४१४, कुछके ई० पू० २४४९ और शेषके ई० पू० ३१०२; किन्तु बहुमान्य मत उसे १५वी शताब्दो ई० पू० के लगभग हुआ मानता है। हमारी गणनाके अनुसार भी वह ई० पू० १४४३के लगभग बैठता है। इस घटनाके ३६ वर्ष बाद अर्जुनका पौत्र परीक्षित् हस्तिनापुर साम्राज्यका अधिपति हुआ। अतएव ई० पू० १४०० के लगभग भारतीय इतिहासका प्राचीन युग प्रारम्भ हुआ माना जा सकता है।

ब्राह्मण परम्पराके अनुसार इसी समय द्वापरका अन्त हुआ और कलियुगका प्रवेश हुआ। स्पष्ट है कि महाभारतके समय जो वैदिक सभ्यता अपने चरमोत्कर्षको प्राप्त हो चुकी थी उसकी अब अवनति प्रारम्भ हो गयी थी। १४वीसे ६ठी शती ई० पू०का काल उत्तर वैदिककाल कहलाता है और वस्तुत: यह श्रमण पुनरुद्धार युग था। एक ओर वैदिक धर्म, ब्राह्मण संस्कृति एवं वेदानुयायी क्षत्रिय राजसत्ताओका ह्रास एवं रूपान्तर प्रारम्भ हुआ तो दूसरी ओर तोर्थकरोके धर्म, श्रमण संस्कृति एव उसके अनुयायी व्रात्य क्षत्रियो एवं नाग आदि द्रविड वंशियोका आश्चर्य-जनक पुनरुत्थान हुआ।

राजनैतिक क्षेत्रमे महाभारतके उपरान्त उत्तर भारतमे वैदिक क्षत्रियोके बारह राज्य थे—वत्स, कुरु, पाचाल, शूरसेन, कोसल, काशी, पूर्व-विदेह, मगध, कलिग, अवन्ति, महिष्मती और अश्मक। इनमे भी कुरु (राजधानी हस्तिनापुर), पाचाल (राजधानी कम्पिला), कोसल (राजधानी अयोध्या), विदेह (राजधानी मिथिला) और काशी (राजधानी वाराणसी) नामक पॉच राज्य प्रमुख थे। इन सभो राज्योके

नरेश पुरु, इक्ष्वाकु और मागध इन तीन प्राचीन राज्य वंशोमे-से ही किसी-न-किसीके साथ सम्बन्धित थे। ये सभी राज्य उस समय प्रायः वेदानुयायी आर्यक्षत्रियोके ही थे। इनके अतिरिक्त जो अन्य राज्य पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिणने स्थित थे वे प्रायः श्रमणोपासक क्षत्रियोंके थे।

उपरोक्त १२ राज्य वंशोंमे भी सर्वप्रधान राज्य कुरुदेशमे हस्तिनापुर-के पुरु, कुरु अथवा पाण्डव वंशियोका था। अर्जुनका पौत्र परीक्षित् उनका अधीश्वर था। किन्तु उसके समयमे ही वैदिक आर्योकी बढ़ती हुई शक्तिके सम्मुख चिरकालसे दबो रही नाग आदि द्रविड जातियाँ फिरसे यत्र-तत्र सिर उठाने लगी। पश्चिमोत्तर प्रदेशकी तक्षशिला और सिन्धु मुखकी पातालपुरीके नाग विशेष प्रबल हो उठे। नवीन उत्साहसे जागृत, विशेपकर तक्षशिलाके नागोने कुरु राज्यके ऊपर भीषण आक्रमण शुरू कर दिये। उनके साथ युद्धमे ही परीक्षितकी मृत्यु हुई। उसके बेटे जनमेजयका भी सारा जीवन नागोके साथ युद्ध करते ही बीता। उसने उनका भरसक संहार भो किया किन्तु उनके बढते हुए वेगको रोकनेमें वह भी असमर्थ रहा और हस्तिनापुर राज्य उत्तरोत्तर क्षीण होता चला गया। जनमेजयके पश्चात् शतानीक, अश्वमेधदत्त और अधिसीमकृष्ण क्रमशः गद्दीपर बैठे। अधिसीमके समय अयोध्यामे दिवाकर, मगधमे सेनजित् एवं विदेहमे जनक उग्रसेन राज्य करते थे ओर पंजाबमे प्रवाहण जैबलिका प्रभाव था। अधि-सीमके बेटे निचक्षुके समयमे नागोके निरन्तर आक्रमणोके अतिरिक्त कुरु देशपर लाल टिड्डोका भयंकर प्रकोप हुआ, भीषण दुर्भिक्ष पड़ा और स्वयं राजधानी हस्तिनापुर गंगाकी बाढसे ध्वस्त हो गयी। कुरुवंशी राजे देश-का परित्याग करके वत्स देशकी कौशाम्बी नगरीमे जा बसे। इस प्रकार उत्तरापथकी सर्वप्रधान वेदानुयायी क्षत्रिय राज्य शक्तिका कमसे कम कुरु प्रदेशसे अन्त हो गया। तदनन्तर नागोने उसपर अधिकार कर लिया। तभीसे गजपुर या हस्तिनापुरका नाम नागपुर या हस्तिनागपुर भी प्रचलित हुआ। यह घटना लगभग ९वी–१०वी शताब्दी ई० पू०की है।

प्रायः इसी समयके लगभग विदेहमे क्रान्ति हुई। वहाँका राजा कराल जनक बडा कामी था, अतः प्रजाने उसे मार डाला और साथ ही विदेहके जनकोकी राज्यसत्ताका अन्त हो गया और वहाँ संघ राज्य स्थापित हो गया। उसीके पडोसमे वैशालीके लिच्छवियोंका संघराज्य विकसित हो रहा था। विदेहका संघराज्य भी उसीमे मिल गया और फलस्वरूप सुप्रसिद्ध वृजि या वज्जिगणकी स्थापना हुई। ये लोग श्रमणोपासक व्रात्य क्षत्रिय थे।

काशीमे भी उरग या नागवंशी व्रात्य क्षत्रियोंका राज्य स्थापित हो गया। इस वंशमे ब्रह्मदत्त नामका बडा प्रतापी चक्रवर्ती सम्राट् हुआ। इस समय काशी राज्यकी बडी सत्ता थी, मध्यदेशमे वही सुदृढ साम्राज्य शक्ति थी। कोसल कई बार उसके अधीन हुआ। किसी समय गोदावरी कांठेके अश्मक राज्यकी राजधानी पोतन (पोदनपुर) भी उसमे सम्मिलित थी। ब्रह्मदत्त जैन परम्पराका अन्तिम चक्रवर्ती था। उसका उल्लेख अथर्ववेद तथा बौद्ध साहित्यमे भी आया है। डॉ० रायचौधरी प्रभृति विद्वान् उसकी ऐतिहासिकतामे सन्देह करनेका कोई कारण नहीं देखते। इसी वंशमे तीर्थंकर पार्श्वनाथका जन्म हुआ। प्रायः इसी कालमे दक्षिणके तेरापुर नामक स्थानमे करकण्डु नामका एक प्रतापी जैन राजा हुआ, जिसकी ऐतिहासिकतामे अब विद्वानोंको प्रायः कोई सन्देह नहीं है।

८वी शती ई० पू० मे मगधमे भी राज्य-विप्लव हुआ। वसुचैद्योपरिचरके वंशज बार्हद्रथोंका पतन हुआ और काशीनरेश शिशुनागको मगधवालोंने राजा होनेके लिए आमन्त्रित किया। वह काशीका राज्य अपने पुत्रोंको देकर मगधका राजा बना। अवन्तिमे भी राज्य-विप्लव और वंश परिवर्तन हुआ। हस्तिनापुरके कुरुवंशकी अवनतिके कालमे प्रारम्भमे कोसलने कुछ उन्नति की थी किन्तु बादमें काशी और फिर मगधके बढते हुए प्रभावके सम्मुख कोसल दबता चला गया। इस प्रकार छठी शती ई० पू० के कुछ पूर्व ही महाभारतकालीन समस्त वैदिक क्षत्रिय राज्यसत्ताओं-

का प्रायः अन्त हो गया था और उनके स्थानमे एक ओर नागादि विद्याधर वंशियोंकी राज्यसत्ताएँ तक्षशिला, पातालपुरी, उद्यानपुरी, पद्मावती, भोगपुरी, नागपुर, अंग या चम्पा तथा दक्षिणके भिन्न-भिन्न भागोमे स्थापित हो चुकी थी और दूसरी ओर लिच्छवि, मल्ल, मोरिय, आदि व्रात्य क्षत्रियो-के अनेक गण या संघराज्य यत्र-तत्र स्थापित हो चुके थे, साथ ही पुरानी राज्यसत्ताओके स्थानमे काशी और मगध आदिमे इन्ही व्रात्यो अथवा तथा-कथित छात्र-बन्धुओंकी कई ऐसी प्रतापी राजतन्त्रीय शक्तियाँ प्रबल हो चुकी थी जो साम्राज्य पदकी पोषक थी। काशीके ब्रह्मदत्तने साम्राज्य स्थापित किया ही था। कुछ कालके उपरान्त मगध साम्राज्यका उदय हुआ।

ब्राह्मण परम्पराकी अनुश्रुतियोमे लिच्छवि, मल्ल, मोरिय आदि जातियोको व्रात्य कहा है। शैशुनाक वंशको भी क्षत्रिय नही वरन् क्षात्रबन्धु कहा है। प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकारके अनुसार, 'इस शब्दका प्रयोग हीन-ताका भाव सूचित करनेके लिए किया गया है क्योकि वे व्रात्य लोगोके क्षत्रिय थे, और व्रात्य वे आर्य जातियाँ थीं जो मध्यदेशके पूर्व या उत्तर-पश्चिममे रहती थी। वे मध्यदेशके कुलीन ब्राह्मण क्षत्रियोके आचारका अनुसरण न करती थी। उनकी शिक्षा-दीक्षाकी भाषा प्राकृत थी और वेशभूषा (आर्योकी दृष्टिसे) परिष्कृत न थी। वे मध्यदेशके ब्राह्मणोके संस्कार न करते थे और ब्राह्मणोके बजाय अर्हन्तोको मानते थे तथा चेतियों (चैत्यो) की पूजा करते थे।' वस्तुतः इस कालमे वैदिक आर्योकी शुद्ध सन्तति अवशिष्ट ही नही रह गयी थी। रक्तमिश्रण, सांस्कृतिक आदान-प्रदान एवं बहुधा धर्म परिवर्तन आदिके कारण एक नवीन भारतीय जाति उदयमे आ रही थी जिसमे श्रमणोपासक चातुर्वर्णके व्रात्यो अथवा नाग आदि द्रविड जातियोका बाहुल्य था। आर्य द्रविडोमे भी धीरे-धीरे रक्तमिश्रण हो रहा था और परस्पर जातीय भेद-भाव मिटता जा रहा था। व्यवसाय-कर्मके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार वर्णोमे समस्त भारतीय समाज बँटता जा रहा था। क्षात्र धर्म पालन करनेवाले चाहे वे वैदिक

आर्योकी सन्तान हों, चाहे मानववंशी आर्यो और व्रात्योकी और चाहे नाग आदि विद्याधर वंशियो अथवा द्रविडोकी—सब अपने-आपको क्षत्रिय ही कहते थे और परस्पर विवाह सम्बन्ध भी उन्मुक्त रूपसे करते थे। वर्ण भी कर्मत: थे, जन्मत: नही और वर्ण परिवर्तन करनेमे किसीके लिए कोई बाधा नही थी।

अस्तु, ई० पू० १४०० से ६०० के मध्यवर्ती कालका राजनैतिक इतिहास जैसा कि ऊपर संक्षेपमे वर्णन किया गया है उसके अतिरिक्त विशेष कुछ नही प्राप्त होता। राज्यानुक्रमसे शृंखलाबद्ध इतिहास छठी शताब्दी ई० पू० से ही मिलना प्रारम्भ होता है। प्राचीन जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण अनुश्रुतियोमे ७वी–६ ठी शताब्दी ई० पू० के लगभग भारतके विभिन्न भागोमे जिन विभिन्न राजनैतिक सत्ताओके विद्यमान रहनेका उल्लेख मिलता है वे निम्न प्रकार है :—

ब्राह्मण अनुश्रुतिमे उपरोक्त महाभारत कालीन १२ राज्योका ही उल्लेख मिलता है। बौद्ध अगुत्तर निकायमे—काशी कोसल, अंग मगध, चेतिय (चेदि) वंश (वत्स), कुरु पाञ्चाल, मच्छ (मत्स्य) सूरसेन, अस्सक (अश्मक) अवन्ति, गान्धार कम्बोज—इन आठ युगलोके रूपमे सोलह महाजनपदोका उल्लेख है। एक अन्य सूचीमे कलिग (दन्तपुर), अश्मक (पोदनपुर), अवन्ति (महिष्मती), सौवीर (रोरुक), विदेह (मिथिला), अंग (चम्पा), और काशी (वाराणसी)–इन सात राज्यों व राजधानियोके नाम मिलते है। जैन भगवती सूत्रमे—अंग, बंग, मगह (मगध), मलय, मालव, अच्छ (अश्मक), वच्छ (वत्स), कच्छ, पाढ (पाण्ड्य) लाढ (राधा), बज्जी, मल्ल, काशी, कोसल, आवाह और सम्भूत्तर इन १६ प्रान्तो या जनपदोका उल्लेख है। इसी प्रकार जैन हरिवंश पुराणमे १८ राज्योका, महापुराणमे ५३ देशोका, प्रज्ञापना सूत्र आदिमे २५½ आर्य देशोका तथा निशीथ चूर्णि आदिमे दश महाराजधानियों-का उल्लेख मिलता है। इन सूचियोके तुलनात्मक अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि

जैन सूचियाँ अन्य सूचियोंकी अपेक्षा अधिक बहुक्षेत्रव्यापी और सम्भवतया अधिक कालव्यापी है। दूसरी बात यह है कि विभिन्न अनुश्रुतियोंकी सूचियों-मे उन्हीं देशोंका उल्लेख विशेष रूपसे है जिनके साथ उनके अपने-अपने धर्मोंका अधिक सम्बन्ध रहा। उपरोक्त नामोंमें भी उस काल (६ठी शताब्दी ई० पू०) मे मगध, कोसल, वत्स और अवन्ति ही प्रमुख राज्य थे तथा वज्जियोंका गणतन्त्र गणतन्त्रोंमें प्रमुख था।

इस श्रमण पुनरुत्थान युग या उत्तर वैदिक काल (१४००-६००— ई० पू०) मे एक ओर तो वैदिक यज्ञोंका कर्मकाण्ड बढा और दूसरी ओर ज्ञान व तत्त्व चिन्तनकी एक नयी लहर लक्षित हुई। वैदिक मन्त्रोंको ऋक्, यजुष्, साम और अथर्व नामक चार संहिताओंमे संकलित किया गया। उनपर जटिल गद्य भाष्य बनाये गये जिन्हें 'ब्राह्मण' ग्रन्थ कहते है। एक दूसरे प्रकारके भी भाष्य बने जो 'आरण्यक' कहलाते है क्योंकि वे वनोंमें ऋषियो-द्वारा रचे गये बताये जाते है। वेदोंके ही कथंचित् आश्रयसे एक दूसरे प्रकारका आध्यात्मिक साहित्य उदयमे आया जो रहस्यवादी होने अथवा बैठकर कहा जानेके कारण 'उपनिषद्' कहलाया। शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प नामके छः वेदांगोंका भी विकास हुआ। इस शान्ति युगमे यज्ञोके पूजा-पाठ एवं क्रियाकाण्डको खूब विस्तार दिया गया और सीधे सरल वेद मन्त्रोंके अर्थोको अत्यन्त दुरूह एवं जटिल बना दिया गया। कहा जाता है कि इसी कालमें परीक्षित्की पाँचवी पीढीमे हस्तिनापुरके राजा अधिसीमकृष्णके समयमे नैमिषारण्यमे जब मुनि लोग यज्ञ कर रहे थे तो वहाँ व्यासरचित प्राचीन ब्राह्मणोय अनुश्रुतिके संग्रह या पुराणको सूतोंने सर्व प्रथम गाकर सुनाया था। इसीके आधारपर ईसवी सन्के प्रारम्भके लगभग रामायण, महाभारत आदिकी तथा गुप्त कालमे प्रमुख हिन्दू पुराणोंकी रचना हुई।

दूसरी ओर यज्ञोके कर्मकाण्ड और आडम्बरके विरुद्ध देशव्यापी विद्रोह हो रहा था। इसका मूल कारण अहिंसाप्रधान एवं आध्यात्मिक श्रमण

संस्कृतिका उत्तरोत्तर वृद्धिगत प्रभाव था। वैदिककालके अन्तिम भागमे ही पशुबलिके विरोधमे एक लहर चल पडी थी। मगधनरेश वसु चैद्योपरिचरके समयमें पर्वत-नारद विवाद उसी प्रश्नको लेकर हुआ था। इस घटनाके विषयमे जैन एवं ब्राह्मण दोनो अनुश्रुतियाँ एकमत है। अपने बन्धु तीर्थंकर अरिष्टनेमिके विचारोसे प्रभावित कृष्ण वासुदेव और उसके भाई बलराम भक्तिप्रधान अहिंसाधर्मकी इस लहरके अनुयायी एवं सबल पोषक थे। महाभारतके उपरान्त कालमे कुछ वैदिक ब्राह्मणोको छोडकर शेष बहुभाग समाज इसी लहरका अनुयायी होता चला गया। इसके नेता प्रमुखतः क्षत्रिय लोग थे।

जो प्रत्यक्षतः श्रमणपरम्पराके अनुयायी नही थे या नही हुए वे वैदिक परम्परामे-से ही वैदिक कर्मकाण्ड तथा याज्ञिक हिंसाका विरोध और अध्यात्मके बीज खोजने लगे। इन्होने औपनिषदिक रहस्यवादको जन्म दिया। विदेह इनका केन्द्र था। इन्द्र आदि वैदिक देवताओके स्थानमे अखिल विश्वमे संचरित चेतनपुंज रूप निराकार-निर्विकार अजर-अमर ब्रह्मकी स्थापना हुई। वैदिक यज्ञोको फूटे नखकी उपमा दी गयी। आत्मदर्शन या आत्मानुभूतिको परम प्राप्तव्य बताया गया, दुश्चरितका त्याग, इन्द्रियोका निग्रह, मनस्कता, शुचिता, मन-वाणी-कर्मका नियमन, तप-ध्यान, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा-शान्ति, सम्यक्‌ज्ञान, विज्ञान, समाधि या आत्मलीनतासे परमपद प्राप्त करनेका उपदेश दिया जाने लगा। वस्तुतः औपनिषदिक विचारधाराका जैन अध्यात्मके साथ इतना विलक्षण सादृश्य है कि बहुधा एकमें दूसरेका भ्रम हो जाता है। अनेक उपनिषदोमे तो विशिष्ट जैन शब्दावली तक प्रयुक्त हुई मिलती है। इसमे कोई सन्देह नही कि उत्तर-वैदिककालीन औपनिषदिक विचारधारा उस युगमे श्रमण संस्कृतिके पुनरुत्थानकी ही सूचक है। वैदिक एवं श्रमण-संस्कृतिके समन्वयका यह एक सुन्दर प्रयत्न था। इस कालमे किसी राज्य-द्वारा भी किसी वैदिक यज्ञके किये जानेके प्रायः कोई प्रमाण नही मिलते। जनसाधा-

रणको याज्ञिकहिंसासे अरुचि हो गयी थी। वैदिकधर्म इतना जटिल एवं आडम्बरपूर्ण बना डाला गया था कि वह लोकग्राह्य ही नही रह गया था। वह शनैः-शनैः कतिपय वेदानुयायी ब्राह्मण विद्वानोंमें ही सीमित होता चला गया। जनसाधारण या तो श्रमणोपासक था या ब्रह्मवादी जनकोके उपनिषद् धर्मका अनुसर्ता, अथवा इन दोनोके समन्वयसे जो सदाचार एवं भक्ति प्रधान एक नवीन लोकधर्म सामान्यतः अलक्ष्यरूपमे उदित हो रहा था उसीसे सन्तुष्ट था। वर्णाश्रम व्यवस्था इस युगकी इस नवीन धाराकी एक प्रमुख विशेषता थी।

इस युगके उक्त श्रमणधर्म-पुनरुत्थानके सर्वप्रथम पुरस्कर्त्ता बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ या अरिष्टनेमि थे। उनका जन्म यदुवंशियोंके शूरसेन जनपदकी राजधानी शौरिपुर नामक नगरमे हुआ था। किन्तु उनकी बाल्यावस्थामें ही यादवगण शौरिपुरका परित्याग करके पश्चिमी समुद्रतटपर द्वारका नगरीमे जा बसे थे। वासुदेव कृष्ण इनके चचेरे भाई थे। कृष्णने प्रवृत्तिका मार्ग अपनाया और नेमिनाथने निवृत्तिका। चिरकाल तक अहिंसाधर्मका प्रचार करनेके उपरान्त काठियावाड़के गिरनार या ऊर्जयन्त पर्वतसे नेमिनाथने निर्वाण प्राप्त किया था।

तीर्थंकर नेमिनाथका प्रभाव विशेषकर पश्चिमी एवं दक्षिणी भारतपर हुआ। दक्षिण भारतके विभिन्न भागोसे प्राप्त जैन तीर्थंकरोंकी प्राचीन मूर्त्तियोमे नेमिनाथकी प्रतिमाओंका बाहुल्य है, जो अकारण नहीं है। उत्तरापथके मध्यदेशमे उस समय वैदिक धर्म एवं वैदिक क्षत्रियोंकी राज्यसत्ताएँ ही सबल थीं। किन्तु महाभारतके विनाशकारी युद्धने उक्त राज्यसत्ताओके साथ-ही-साथ वैदिक धर्मको भी वहाँ निस्तेज कर दिया था। स्वयं पाण्डवबन्धु अन्त समयमे नेमिनाथके भक्त हुए और उन्होने दक्षिण भारतमे जाकर जैन मुनियोके रूपमे तप करके सद्गति लाभ की बतायी जाती है। महाराज कृष्ण और बलराम जो तत्कालीन राजनैतिक जगत्के प्रधान एवं प्रभावशाली नेता थे, तीर्थंकर नेमिनाथके श्रावकोत्तम और अनुयायी थे। इन

महानुभावोके प्रभावसे उत्तरापथ और मध्यदेशमे भी पशुबलि संयुक्त याज्ञिक वैदिक धर्म निष्प्रभाव हो गया। उत्तरकालमें होनेवाली राज्य-क्रान्तियो एवं राजनैतिक परिवर्तनोने तीर्थंकर नेमिनाथ-द्वारा पुरस्कृत इस श्रमण पुनरुत्थानको किस प्रकार सहायता पहुँचायी यह ऊपर वर्णन किया जा चुका है।

अबसे कुछ दशक पूर्व भी इतिहासज्ञ विद्वान् नेमिनाथकी ऐतिहासिकतामे अविश्वास करते थे। किन्तु अब जब कि इतिहासकालकी प्रारम्भिक सीमा ६ठी शती ई० पू० से पीछे हटकर महाभारत युद्धके समय तक पहुँचा दी गयी है और जब कि महाराज कृष्णकी ऐतिहासिकतामे कोई सन्देह नही किया जाता तब स्वयं उन्ही कृष्णके ताऊजात भाई तीर्थंकर अरिष्टनेमिको ऐतिहासिक व्यक्ति न माननेका कोई कारण नही रह जाता। वस्तुतः प्रसिद्ध कोषकार डॉ० नगेन्द्रनाथ वसु, पुरातत्त्वज्ञ डॉ० फुहरर, प्रो० बारनेट, कर्नल टाड, मि० कर्वा, डॉ० हरिसत्य भट्टाचार्य, डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार, डॉ० राधाकृष्णन् आदि अनेक प्रौढ़ एवं प्रामाणिक विद्वान् नेमिनाथकी ऐतिहासिकतामें सन्देह नही करते। स्वयं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ऐतरेय ब्राह्मण, यास्क निरुक्त, सर्वानुक्रमणिका टीका, वेदार्थदीपिका, सायणभाष्य, महाभारत, भागवत, स्कन्द एवं मार्कण्डेय पुराण आदि प्रसिद्ध प्राचीन ब्राह्मणीय ग्रन्थोमे उनके उल्लेख मिलते हैं।

इतना ही नही, तीर्थंकर नेमिनाथका प्रभाव भारतके बाहर विदेशोमें भी पहुँचा प्रतीत होता है। कर्नल टाड अपने 'राजस्थान' मे लिखते है कि "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकालमे चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए है। इनमे पहले आदिनाथ या ऋषभदेव थे। दूसरे नेमिनाथ थे। ये नेमिनाथ ही स्केण्डिनेविया निवासियोके प्रथम ओडिन तथा चीनियोके प्रथम फो नामक देवता थे।" डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकारने १९ मार्च सन् १९३५ के साप्ताहिक 'टाइम्स ऑव इण्डिया'मे काठियावाड़से प्राप्त एक प्राचीन ताम्रशासन प्रकाशित किया था। उनके अनुसार उक्त

दानपत्रपर जो लेख अंकित था उसका भाव यह है कि "सुमेरजातिमें उत्पन्न बाबुलके खिल्दियन सम्राट् नेबुचेदनजरने जो रेवानगर (काठियावाड़) का अधिपति है यदुराजकी इस भूमि (द्वारका) में आकर रैवताचल (गिरनार) के स्वामी नेमिनाथकी भक्ति की तथा उनकी सेवामे दान अर्पित किया।" दान-पत्रपर उक्त पश्चिमी एशियाई नरेशकी मुद्रा भी अंकित है और उसका काल ई० पू० ११४० के लगभग अनुमान किया जाता है।

नेमिनाथके उपरान्त उक्त श्रमण पुनरुत्थान आन्दोलनके दूसरे महान् नेता तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे। ये काशीके राजकुमार थे और उरग-वंशमे इनका जन्म हुआ था। यह वही वंश था जिसमे इसी युगका ऐतिहासिक चक्रवर्ती सम्राट् ब्रह्मदत्त हुआ था। डॉ० रायचौधरीके अनुसार काशी इस कालमे भारतका सर्वप्रमुख राज्य था और शतपथ ब्राह्मणके अनुसार काशीके ये राजे वैदिकधर्म और यज्ञोके विरोधी थे। तीर्थंकर पार्श्वकी माताका नाम वामादेवी था और उनके पिता काशीनरेश महाराज अश्वसेन थे। प्राचीन बौद्ध अनुश्रुतिमे इनका 'असभ' नामसे उल्लेख हुआ है तथा महाभारत आदिमें भी अश्वसेन नामक एक प्रसिद्ध तत्कालीन नाग नरेशका उल्लेख मिलता है। पार्श्वका जन्म ई० पू० ८७७ मे हुआ था। ये बालब्रह्मचारी रहे।

बाल्यावस्थासे ही इनके हृदयमे संसार एवं भोगोके प्रति विराग तथा जीवमात्रके प्रति करुणाका भाव था। तीस वर्षकी अवस्थामे ही इन्होने घरका त्याग करके वनकी राह ली। कुछ काल दुर्द्धर तपश्चरण करनेके फलस्वरूप इन्हे केवलज्ञान एवं अर्हन्त पदकी प्राप्ति हुई। तदनन्तर शेष जीवन इन्होने देश-देशान्तरमे विहार करके धर्मका प्रचार करनेमे बिताया। अन्तमे एक सौ वर्षकी आयुमे ई० पू० ७७७ मे इन्होंने बिहार प्रदेशमे स्थित सम्मेदशिखर पर्वतसे निर्वाण लाभ किया। वह पर्वत आज पर्यन्त पारसनाथ पर्वतके नामसे विख्यात है। बरेली ज़िलेका प्राचीन अहिच्छत्र

नामक स्थान पार्श्वनाथकी विशिष्ट तपस्याभूमि रही थी। पार्श्वनाथका विशिष्ट लाञ्छन नाग है। इनका वर्ण श्याम रहा बताया जाता है। अतः इनकी अधिकांश प्रतिमाएँ श्याम वर्ण एवं शिरके ऊपर छत्राकार नागफणसे युक्त पायी जाती हैं। इनकी ऐतिहासिकतामे अब किसी भी विद्वान्को कोई सन्देह नही है, यद्यपि कुछ एकका यह आग्रह बना हुआ है कि पार्श्व ही जैनधर्मके प्रवर्तक थे अथवा कम-से-कम यह कि उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर ऐतिहासिक परिधिसे बाहर है अतः उनके अस्तित्वके सम्बन्धमे कुछ नही कहा जा सकता।

तीर्थंकर पार्श्वका जन्म उत्तर-वैदिककाल, उपनिषद्युग, श्रमण-पुनरुद्धार युग अथवा नाग-पुनरुत्थान युग आदि विभिन्न नामोसे सूचित महाभारत एवं महावीर और बुद्धके मध्यवर्ती (१४००–६०० ई० पू०) कालके प्राय. तृतीय पादमे हुआ था। अतः उस युगके सांस्कृतिक इतिहासमे उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका जन्म स्वयं उरगवशमे हुआ था जो नाग जातिकी ही एक शाखा था अतः उस कालमे पुनः जागृत नाग लोगोमे उनके धर्मका प्रचार अत्यधिक रहा। उनके समयमे पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण भारतके विभिन्न भागोंमे अनेक प्रबल नागसत्ताएँ राजतन्त्रों अथवा गणतन्त्रोके रूपमे उदित हो चुकी थी और इन लोगोके इष्ट देवता पार्श्वनाथ ही रहे प्रतीत होते हैं। इनके अतिरिक्त मध्य एवं पूर्वी देशोके अधिकांश व्रात्य क्षत्रिय भी इन्हीके उपासक थे। लिच्छवि आदि आठ कुलोमे विभाजित वैशाली और विदेहके शक्तिशाली वज्जिगणमे तो पार्श्वका धर्म ही लोकधर्म था।

करकंडु चरितके नायक कलिगके शक्तिशाली नरेश करकंडु भी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। ये तीर्थंकर पार्श्वके तीर्थमे ही उत्पन्न हुए थे और उन्हीके उपासक तथा उस युगके आदर्श नरेश थे। राजपाटका त्याग कर जैन मुनिके रूपमे इन्होने तपस्या की और सद्गति प्राप्त की बतायी जाती है। तेरापुर आदिकी गुफाओमे प्राप्त पुरातात्त्विक चिह्नोसे तत्सम्बन्धी जैन

अनुश्रुति प्रमाणित होती है। इनके अतिरिक्त पाञ्चाल नरेश दुर्मुख या द्विमुख, विदर्भ नरेश भीम और गान्धार नरेश नागजित या नागाति, तीर्थंकर पार्श्वके अनुयायी अन्य तत्कालीन नरेश थे।

डॉ० जार्ल चारपेण्टियरके अनुसार 'जैनधर्मके मूल सिद्धान्तोंके प्रमुख तत्त्व महावीरसे बहुत पूर्व, पार्श्वनाथके समयसे ही व्यवस्थित रहे आये प्रतीत होते हैं।' प्रो० हर्म्सवर्थके अनुसार गौतमबुद्धके समयसे पूर्व ही पार्श्वनाथ-द्वारा स्थापित जैनसंघ, जो निर्ग्रन्थ संघ कहलाता था, एक विधिवत् सुसंगठित धार्मिक सम्प्रदाय था। प्रो० रामप्रसाद चाँदका कथन है कि 'यह आमतौरपर विश्वास किया जाता है कि महावीरसे पहले भी जैन साधु विद्यमान थे जो कि पार्श्वनाथ-द्वारा स्थापित संघसे सम्बन्धित थे। उनके अपने चैत्य भी थे।' डॉ० विमलचरण लाहा भी इस तथ्यकी पुष्टि करते हैं और कहते हैं कि महावीरके उदयके पूर्व भी वह धर्म जिसके कि वे अन्तिम उपदेशक थे वैशाली तथा उसके आस-पासके प्रदेशोंमे अपने किसी पूर्वरूपमे प्रचलित रहता रहा प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कमसे कम उत्तरी एवं पूर्वी भारतके कितने ही क्षत्रिय जन, जिनमे कि वैशालीनिवासियोंकी प्रमुखता थी, पार्श्वनाथ-द्वारा स्थापित एवं प्रचारित धर्मके अनुयायी थे। आचारांग सूत्र आदिसे पता चलता है कि महावीरके माता-पिता पार्श्वके उपासक एवं श्रमणोके अनुयायी थे।' इसी प्रकार प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकारका भी कथन है कि अथर्ववेदमे भी जिन व्रात्योंका उल्लेख है वे अर्हतो और चैत्योंके उपासक थे। ये अर्हत और उनके चैत्य बुद्धके समयके बहुत पहलेसे विद्यमान थे। अभी तक आधुनिक पर्यालोचकोने केवल तीर्थंकर पार्श्वकी ही ऐतिहासिकता स्वीकार की है। अन्य पूर्ववर्ती तीर्थंकरोंके वृत्तान्त पौराणिक गाथाओंमे इतने उलझे हुए हैं कि उनका अभी तक पुनर्निर्माण नही हो पाया। तथापि इस बातके निश्चित प्रमाण हैं कि महावीर और बुद्धके पहले भी भारतवर्षमे वैदिक धर्मसे सर्वथा भिन्न धर्म विद्यमान थे।'

यही नही, अपितु इस बातके भी प्रमाण मिलते है कि पार्श्वकी मान्यता विदेशोमे भी पहुँची। प्रो० बीलने सन् १८८५ ई० मे रायल एशियाटिक सोसाइटीके समक्ष अपने एक कथनमे बताया था कि शाक्यमुनि गौतम-द्वारा बौद्ध धर्म प्रवर्तनके बहुत पूर्व मध्यएशियामे उससे मिलता-जुलता धर्म प्रचलित था। सर हेनरी रालिन्सनके अनुसार मध्यएशियाके वल्ख नगरका नव्यविहार तथा ईटोसे बने अन्य स्मारकीय अवशेष वहाँ 'काश्यप' का जाना सूचित करते है। काश्यप एक प्रसिद्ध प्राचीन जैन मुनिका नाम तथा कई प्राचीन तीर्थंकरोका गोत्र तो था ही वह स्वयं पार्श्वनाथका भी गोत्र नाम था। आदिपुराणके अनुसार जिस उरगवंशमे पार्श्वनाथका जन्म हुआ था उसका संस्थापक कश्यप अपरनाम मघवा था। अतः तीर्थंकर पार्श्व काश्यप गोत्री थे और सम्भवतः अपने गोत्र नाम 'काश्यप' से भी प्रसिद्ध थे। मध्यएशियाका कियापिशि नगर कैस्पिया भी कहलाता था और सम्भवतया इसी आधारपर। ७वी शती ई० मे चीनी यात्री ह्वेनसांगने तथा उसके भी लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व सिकन्दरके यूनानी साथियोने इस नगरमे बहुसंख्यक निर्ग्रन्थ साधु देखे थे। अतएव इसकी पूरी सम्भावना है कि महावीरके पूर्व भी मध्यएशियाके कैस्पिया, अमन, समरक़न्द, बलख आदि नगरोमे जैनधर्म प्रचलित था। ६ठी-५वी शती ई० पू० मे होनेवाले यूनानी इतिहासके जनक हेरोदोतसने अपने ग्रन्थमे एक ऐसे भारतीय धर्मका उल्लेख किया है जिसमें सर्व प्रकारका मांसाहार वर्जित था और जिसके अनुयायी मात्र अन्नभोजी थे। ई० पू० ५८० में उत्पन्न यूनानी दार्शनिक पैथेगोरस, जो स्वयं महावीर और बुद्धका समकालीन था, जीवात्माके पुनर्जन्म एवं आवागमनमे तथा कर्मसिद्धान्तमें विश्वास करता था, सर्व प्रकारकी जीवहिंसा तथा मांसाहारसे विरत रहनेका उपदेश देता था, यहाँ तक कि कतिपय वनस्पतियोको भी धार्मिक दृष्टिसे अभक्ष्य मानता था। उसका यह भी दावा था कि वह अपने पूर्व जन्मोका वृत्तान्त भी स्मृतिसे बता सकता था। लघुएशियाके इस सम्प्रदायके विचारक आयोनियन या आरफ़िक

दार्शनिक कहलाते थे। आत्माके समक्ष ये देहको हेय और नाशवान समझते थे। उपरोक्त विचारोंका बौद्धधर्म या ब्राह्मण धर्मसे कोई सादृश्य नही है जब कि वे जैन धर्मके साथ अद्भुत सादृश्य रखते हैं। और क्योकि ये मान्यताएँ सुदूर यूनान एवं एशिया माइनरमे उस कालमे प्रचलित थी जब कि महावीर और बुद्ध अपने-अपने धर्मोका प्रचार प्रारम्भ ही कर रहे थे अतः पैथेगोरस आदि पार्श्वनाथके उपदेशोंसे प्रभावित रहे प्रतीत होते है।

मेजर जनरल फ़र्लागका कथन है कि 'लगभग १५०० से ८०० ई० पू० पर्यन्त, बल्कि उसके बहुत पूर्व अनिश्चित कालसे सम्पूर्ण उत्तर, पश्चिम तथा मध्यभारतमे तूरानियोका जिन्हें सुविधाके लिए द्रविड कहा जाता है, प्रभुत्व रहता रहा था। उनमे वृक्ष, नाग, लिंग आदिकी पूजा प्रचलित थी, किन्तु उसके साथ-ही-साथ उस कालमे सम्पूर्ण उत्तर भारतमे एक ऐसा अति व्यवस्थित, दार्शनिक, सदाचार एवं तप प्रधान धर्म, अर्थात् जैनधर्म, अवस्थित था जिसके आधारसे ही ब्राह्मण एवं बौद्धादि धर्मोके संन्यास-मार्ग बादमे विकसित हुए। आर्योंके गंगा तट क्या सरस्वती तटपर पहुँचनेके पूर्व ही लगभग बाईस प्रमुख सन्त अथवा तीर्थंकर जैनोको धर्मोपदेश दे चुके थे। उनके उपरान्त ८वी-९वीं शती ई० पू० मे २३वें तीर्थंकर पार्श्व हुए और उन्हे अपने उन समस्त पूर्व तीर्थंकरोंका अथवा पवित्र ऋषियोंका ज्ञान था जो बड़े-बड़े समयान्तरोंको लिये हुए पहले हो चुके थे, उन्हे उन अनेक धर्मशास्त्रोंका भी ज्ञान था जो प्राचीन होनेके कारण पूर्व या पुराण कहलाते थे और जो सुदीर्घ कालसे मान्य मुनियों, वानप्रस्थों या वनवासी साधुओकी परम्परामे मौखिक द्वारसे प्रवाहित होते आ रहे थे।'

कुछ लोग पार्श्वनाथके धर्मको चातुर्याम धर्म भी कहते है और इसका कारण यह बताया जाता है कि उनके द्वारा उपदेशित महाव्रतोमे ब्रह्मचर्य व्रतकी गणना नही थी, केवल अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह ही थे और भगवान् महावीरने उनमे ब्रह्मचर्यको सम्मिलित करके व्रतोंकी संख्या पाँच कर दी। कुछ आधुनिक विद्वान् भ्रमवश यह भी कथन कर देते है कि वर्तमान

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मूलमे पार्श्वकी शिष्यपरम्पराके विचारोंसे प्रभावित है जब कि दिगम्बर सम्प्रदाय महावीरकी आम्नाय है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नही है कि पार्श्वकी शिष्यपरम्पराके साधु महावीर एवं बुद्धके समय तक विद्यमान थे। गौतम-केशी संवादकी घटना इस बातकी सूचक है कि पार्श्वपरम्पराके महावीरकालीन साधु कतिपय बातोमे महावीरके उपदेशसे मतभेद रखते थे अत' उनके नेता केशीका महावीरके प्रधान शिष्य गौतम गणधरके साथ विचार-विमर्श हुआ और फलस्वरूप वे मतभेद परित्याग कर दिये गये। एक ऐसी भी अनुश्रुति है कि बौद्ध धर्मके मूल प्रवर्तक बुद्धकीर्ति तथा उनके साथी सारिपुत्त एवं मौद्गलायन आदि प्रारम्भमे पार्श्वकी परम्पराके ही साधु थे, ये बुद्धकीर्ति स्वयं गौतम बुद्ध थे अथवा उनके कोई जैन गुरु, यह कहना कठिन है।

महाभारतोत्तर कालका श्रमण-पुनरुद्धार आन्दोलन अपने चरमोत्कर्षको छठी शताब्दी ई० पू० मे पहुँचा और इस समय उसके सर्वप्रमुख नेता २४वे तीर्थकर निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र वर्धमान महावीर थे। महावीरयुग धार्मिक जगत्मे एक अद्भुत क्रान्ति, तत्त्वचिन्तन एवं दार्शनिक विचार बाहुल्यका युग था। भारतवर्षमे ही नही समस्त सभ्य संसारमे ज्ञान जागृति एवं नवचेतनाकी लहर व्याप्त थी। चीनमे कनफ़ूशस और लाओत्से, ईरानमे ज़रथुस्त, यूनानमे पैथेगोरस, फ़िलस्तीनमे मूसा इत्यादि अनेक प्रख्यात विचारक, दार्शनिक एवं धर्मप्रवर्तक तत्कालीन सभ्य जगत्के विभिन्न भागोमे अपने-अपने धर्म एवं विचारोका प्रचार कर रहे थे और अज्ञानी जनसाधारणको ज्ञान दान कर रहे थे। इन सबके उपदेशकी एक सामान्य विशेषता यह थी कि मानवके महत्त्व और सदाचारपर, जो कि श्रमण संस्कृतिकी जन्मजात विशेषताएँ थी, अधिक बल दिया जाता था। स्वयं भारतवर्षमे श्वेतकेतु, उद्दालक, याज्ञवल्क्य आदि पूर्वी ब्राह्मण ऋषि एवं क्षत्रिय विद्वान् औपनिषदिक अध्यात्मवादका प्रचार कर रहे थे? पश्चिमी क्रियाकाण्डी ऋषि गृह्य, श्रौत एवं धर्म भेदोसे सूत्र साहित्यकी

रचना कर रहे थे। वेदोंपर निर्युक्त आदि टीकाएँ भी रची जा रही थीं। साथ ही कपिल, कणाद, गौतम, जैमिनी आदि ऋषि सांख्य, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, योग आदि षड्दर्शनोंका विकास कर रहे थे। षड्वेदांगों को भी व्यवस्थित रूप दिया जा रहा था और उनके अन्तर्गत तर्क, छन्द, व्याकरण, अलंकार, ज्योतिष आदि तथा उपांगके रूपमे आयुर्वेद प्रभृति लौकिक विद्याओंका सृजन भी प्रारम्भ हो रहा था। वानप्रस्थ आश्रम एवं प्रव्रज्याका तथा विद्याभ्यास, साहित्य साधना, तपश्चर्या एवं तत्त्वचिन्तनका जोर वेदानुयायी समाजमें भी बढ रहा था। दूसरी ओर श्रमण परम्परामें यह लोकश्रुति ज़ोरोपर थी कि इस कालमें अन्तिम तीर्थंकरके रूपमे एक महापुरुष जन्म लेगा। अतएव उक्त परम्पराके अनेक विचारक एवं सुधारक अपने-आपको तीर्थंकर घोषित करके अपने-अपने मन्तव्योका प्रचार करने लगे। मक्खलिगोशाल, पूरण कश्यप, पकुध कात्यायन, अजित केशकम्बलिन, सजय वेलट्ठिपुत्त, शाक्यमुनि गौतमबुद्ध, निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र महावीर इत्यादि व्यक्तियोने यह दावा किया। बौद्ध अनुश्रुतिमें उपरोक्त (बुद्धके अतिरिक्त) छह तत्कालीन तीर्थकोका उल्लेख है। जैन अनुश्रुतिमे भी इन विभिन्न एकान्तिक विचारकोका उल्लेख है। उससे तो यह भी पता चलता है कि उस कालमें छोटे-बड़े मिलाकर कुल ३६३ 'पाषंड' या धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित हो रहे थे जिनमें उपर्युल्लिखित ब्राह्मण एवं श्रमण विचारक और उनके मन्तव्य प्रमुख थे। सदाचारकी इस प्रबल लहरकी प्रतिक्रियाके रूपमे उच्छृंखल एवं नास्तिक लोकायत या चार्वाक मत-जैसे भौतिकवादी मार्गका प्रचार भी प्रायः उसी कालमें हुआ जो अनेक तथा अधिक विकृत रूपो एवं गुप्त सम्प्रदायोके रूपमे चिरकाल तक बना रहा। गोशालका आजीवक सम्प्रदाय भी मध्यकालके प्रारम्भके कुछ पूर्व तक चलता रहा। ब्राह्मण परम्पराके षड्दर्शन और वैदिक एवं उपनिषदिक अन्य विचारधाराएँ भी स्वतन्त्र सम्प्रदायोका रूप तो न ले सकी, किन्तु उन सबके समन्वयसे तथा श्रमण विचारो एवं मान्यताओको

भी आंशिक रूपसे आत्मसात् करते हुए कालान्तरमें एक ऐसे भक्तिप्रधान सामान्य धर्मका उदय एवं विकास हुआ जो अपनी अनेकविध, बहुधा परस्पर विरोधी मान्यताओ, विश्वासो, विचारों, प्रथाओं एवं उपरूपो आदिके कारण लोकप्रिय एवं व्यापक होता चला गया, यहाँ तक कि भारतवासियोके बहुभागका वह अन्ततः प्रधान धर्म बन गया ।

तत्कालीन धर्मोमें विशेष उल्लेखनीय गौतम बुद्ध-द्वारा संस्थापित एवं प्रचारित बौद्ध धर्म है। श्रमणोंके अनुयायी कपिलवस्तुके शाक्यवंशी व्रात्योमे उत्पन्न राजा शुद्धोदनके पुत्र सिद्धार्थ गौतम ऐसी महान् विभूति थे कि जिनको छाप संसारपर गहरी पडी । बाल्यावस्थासे ही उनका हृदय संसारके दुःखसे द्रवीभूत था। घरवालोके आग्रहसे उन्होंने यशोधरा नामक एक सुन्दरीके साथ विवाह भी किया और उनके राहुल नामक एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ । किन्तु अन्ततः स्त्री, पुत्र, राज-पाट आदिका मोह उन्हे बाँधकर न रख सका और एक रात्रिको वे घरबारका त्याग करके सत्यकी खोजमे चल दिये । श्रमण परम्परामे उनका जन्म हुआ था, किन्तु उसमे भी उस समय जैनधर्मके अतिरिक्त अन्य अनेक विभिन्न विचार-धाराएँ एवं उपसम्प्रदाय प्रचलित हो रहे थे। राजकुमार गौतमने एकके बाद एक कई मार्गोका प्रयोग रूपमे अवलम्बन किया। कुछ दिन वे पार्श्वकी आम्नायके एक जैन साधुके भी शिष्य रहे। स्वयं मज्झिमनिकाय आदि प्राचीन बौद्ध ग्रन्थोसे स्पष्ट है कि उन्होने जैनाचार एवं तपश्चरण-का अभ्यास किया था। ब्राह्मण परम्पराके भी कई प्रकारके साधुओंका संसर्ग एवं अनुसरण उन्होने किया। किन्तु किसीसे भी उनकी सन्तुष्टि न हुई। कोई मार्ग उन्हे कठिन जँचा तो कोई अति सरल अथवा ध्येयके प्रतिकूल । अन्तमे गया नगरके बाहर एक पीपलके वृक्षके नीचे बैठे हुए उन्हे बोधि प्राप्त हुई और उन्होने अपने-आपको बुद्ध घोषित कर दिया। वे तथागत, शाक्यमुनि आदि नामोंसे भी प्रसिद्ध हुए। अपने द्वारा खोज निकाले गये इस मार्गको उन्होने आर्य अष्टांगिकमार्ग या मध्यममार्गका नाम दिया।

दार्शनिक एवं तात्त्विक उलझनोंमें उन्होंने उलझना नहीं चाहा। जो उन्हे उचित जँचा ऐसे सदाचारके उपदेश-द्वारा उन्होंने संसारी मनुष्योंके दुःख निवारणका प्रयत्न किया। बोधि प्राप्त होनेके उपरान्त उन्होने सारिपुत्र मौद्गलायन, आनन्द आदि कुछ व्यक्तियोंको अपना शिष्य और साथी बनाया। वाराणसीके निकट सारनाथ (ऋषिपत्तनके) मृगदावमें उन्होंने पहले-पहल अपना उपदेश दिया। कुछ तत्कालीन राजाओने भी उन्हे आश्रय दिया।

उनकी मृत्युके उपरान्त उनके भिक्षुसंघमें मतभेद उत्पन्न हुए। उनके मौखिक उपदेशका शिष्योंने त्रिपिटकोंके रूपमे वर्गीकरण भी किया। उनके कुछ उत्साही शिष्य उनके धर्मका प्रचार दृढता एवं कुशलताके साथ करते रहे। फिर भी सम्राट् अशोकके समय तक बुद्ध धर्मकी स्थिति डाँवाडोल ही रही। अशोकने बुद्ध धर्म अंगीकार किया या नही, इसमे मतभेद है, किन्तु कालान्तरकी विदेशी बौद्ध अनुश्रुति उसे बौद्धधर्मका सर्वमहान् संरक्षक घोषित करती है। कमसे कम इस बातमे कोई सन्देह नही कि अशोकके शासन कालमे ही बौद्ध संघका पाटलिपुत्रमे जो सम्मेलन हुआ उसीमे यह निर्णय किया गया कि बौद्ध धर्मके रक्षार्थ एवं प्रचारार्थ बौद्ध भिक्षुओंको विदेशोंमे भी जाना चाहिए। अस्तु, अनेक बौद्ध प्रचारक तिब्बत, बर्मा, सिहल तथा मध्य एशिया आदिकी ओर बिना किसी बाधा और कष्टकी परवा किये चले गये और उन्होने वहाँ बौद्ध धर्मका प्रचार किया। चीन और तदनन्तर जापानमे भी थोडे समय पश्चात् वे पहुँच गये। स्वय भारतमे आनेवाले यूनानी, शक, पह्लव, कुषाण, हूण आदि विदेशी राजाओमे-से भी अनेकने इस धर्मको प्रोत्साहन दिया। भारतीय-यवन मिनेण्डर और कुषाण सम्राट् कनिष्कका नाम बौद्ध धर्मके प्रसिद्ध समर्थकोमे लिया जाता है। बादके भारतीय नरेशोमे हर्षवर्धन और बंगालके पालवंशी नरेश बौद्ध धर्मके अनुयायी एवं प्रबल पोषक थे। किन्तु हर्ष (७वी शताब्दी) के उपरान्त ही बौद्धधर्म भारतवर्षसे

द्रुत वेगके साथ तिरोहित होने लगा और ११वीं—१२वी शताब्दी तक इस देशमे उसका प्रायः नाम शेष हो गया। किन्तु साथ ही चीन, जापान, बर्मा, लंका, हिन्द-एशिया, पूर्वी द्वीपसमूह आदि अनेक विदेशोंमे यह धर्म शनै.शनै लोकधर्म हो गया। आज संसारकी जनसंख्याका सबसे बडा भाग इसी धर्मका अनुयायी है और इसी कारण महात्मा बुद्धकी गणना संसारके सर्वकालीन प्रमुख महापुरुषो एवं धर्म-प्रवर्तकोमे की जाती है। यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि मूल बौद्ध धार्मिक श्रुत अर्थात् पाली त्रिपिटकोका संग्रह, संकलन और लिपिबद्धीकरण भारतमे न होकर सर्व-प्रथम लंका और फिर बर्मा आदि भारतेतर देशोमे ही हुआ। स्वयं भारतमे बुद्ध एवं बौद्धधर्मके इतिहास सम्बन्धी जो अनुश्रुतियाँ है वे भी विदेशी द्वारोसे ही प्राप्त होती है। बुद्धकी तिथिका निर्णय करनेके लिए भी हमारे पास कोई भी भारतीय साधन नही है; उसके लिए हमे सिहली, तिब्बती, बर्मी और चीनी (कैण्टोनी) अनुश्रुतियोंपर ही निर्भर होना पडता है और उन सबमे परस्पर बहुत मतभेद है। अत: आधुनिक विद्वानोमे भी तत्सम्बन्धी बहुत मतभेद रहे है। बुद्ध निर्वाणकी तिथिके लिए आधुनिक-तम बहुमान्य मत सन् ई० पू० ४८३के पक्षमे है। बुद्धकी आयु ८० वर्षकी थी अतः उनका जन्म ई० पू० ५६३ मे माना जाता है। लगभग ३० वर्ष की आयुमे उन्होंने घर छोड़ा था, उसके लगभग ६ वर्ष बाद उन्हे बोधि प्राप्त हुई और जीवनके शेष ४४ वर्ष उन्होने धर्म प्रचारमे बिताये।

इस युगके महापुरुपोमे सर्वाधिक उल्लेखनीय स्थान बुद्धके ज्येष्ठ समकालीन वर्धमान महावीरका था। स्वयं बुद्ध उनके तेजसे प्रभावित थे और उनका समादर करते थे। श्रमण परम्परामे जिस अन्तिम तीर्थकरके होनेकी भविष्यवाणी थी वह वर्धमान महावीर ही थे। ऋषभादि पार्श्वनाथ पर्यन्त जो श्रमण परम्पराके २३ तीर्थंकर अतीतकालमे हो चुके थे उन्हीकी परम्परामे उसी धर्मका पुनः उद्धार, प्रचार एव संस्कार करनेके लिए अन्तिम तीर्थंकरके रूपमे महावीरका जन्म हुआ था। यह बात उस

समय कुछ कालके लिए भले ही कुछ विवादग्रस्त रही हो किन्तु महावीर-द्वारा धर्मचक्र प्रवर्तनके उपरान्त उसमे किसीको कोई सन्देह नही रहा। उन्होने न किसी नवीन धर्मका प्रचार करनेवाला दावा किया, न कोई नवोन मार्ग खोज निकाला, न किसी देवी-देवता या दैवो अथवा गुप्त शक्तिका आश्रय लिया और न किसी राजा-महाराजाकी ही सहायता चाही। उन्होने एक सामान्य मनुष्यके रूपमे जन्म लिया, एक सामान्य संसारी मनुष्यके रूपमे बाल्यावस्था एवं कुमारकाल व्यतीत किये, और स्व पुरुषार्थ-द्वारा अपनी आत्माको उन्नतिके चरम शिखरपर पहुँचा दिया। आत्म-कल्याणके चिर-प्रचलित एवं तीर्थंकरों-द्वारा प्रणीत मार्गका उन्होंने अपने जीवनमे शुद्धतम एवं श्रेष्ठतम रूपसे अवलम्बन करके उसका औचित्य चरितार्थ किया था और लोक-कल्याणार्थ उसका उपदेश दिया था। यही महावीरकी सबसे बड़ी विशेषता थी और इसीके कारण विश्वके महापुरुषों-के उस महायुगमे भी वह अपना विशिष्ट स्थान रखते थे। आज भी, न केवल वह जैनधर्मके इतिहासके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है वरन् प्राचीन भारतके इतिहासमे तथा विश्वके धर्मोके इतिहासमे भी उनका एक महत्त्व-पूर्ण स्थान है। जैनधर्मका तो जो कुछ वर्तमान रूप है तथा उसके गत ढाई सहस्र वर्षोका जो कुछ इतिहास एवं संस्कृति है, उस सबका सर्वाधिक श्रेय अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरको ही है।

चैत शुक्ल १३ (३० मार्च सन् ईसवी पूर्व ५९९) के दिन प्राचीन भारतके व्रात्य क्षत्रियोके प्रसिद्ध वज्जिसंघ नामक गणतन्त्रके अन्तर्गत कुण्डग्राम (क्षत्रिय कुण्ड) के ज्ञातृक वंशी काश्यप गोत्री क्षत्रिय नेता सिद्धार्थकी पत्नी त्रिशला देवीने वर्धमान महावीरको जन्म दिया था। यह कुण्डग्राम उक्त वज्जिसंघकी प्रधान राजधानी वैशाली (जिसकी पहचान बिहार प्रदेशमे मुजफ्फरपुर जिलेके बसाढ नामक स्थानसे की गयी है) के निकट स्थित था। उक्त संघके अध्यक्ष वैशालीके लिच्छवी राजा

चेटक महावीरके मातामह*थे। पितृकुलकी अपेक्षासे महावीर ज्ञातृक पुत्र अथवा नातपुत्त और काश्यप भी कहलाते थे जबकि मातृकुलकी अपेक्षासे वे लिच्छविक एवं वैशालिय कहलाये। इनकी माता त्रिशला अपरनाम प्रियकारिणी, विदेहदत्ता भी कहलाती थी इस कारण ये विदेह या विदेहदिन्न भी कहलाये। वीर, अतिवीर, सन्मतिवीर, महावीर, वर्धमान आदि भिन्न-भिन्न नाम या उपाधियाँ इन्हें समय-समयपर भिन्न-भिन्न कारणोंसे प्राप्त हुईं। महाराज चेटकके दस पुत्र थे जिनमे-से ज्येष्ठ पुत्र सिंह अथवा सिंहभद्र वज्जिगणके प्रसिद्ध प्रधान सेनापति थे। महाराज चेटककी शेष सात पुत्रियोंमे-से चेलना मगधनरेश श्रेणिक बिम्बसारके साथ विवाही थी, दूसरी कौशाम्बीनरेश शतानीकके साथ, तीसरी दशार्ण देशके राजा दशरथके साथ, चौथी सिंधुसौवीरके महाराज उदयनके साथ और पाँचवी अवन्ति-नरेश चण्डप्रद्योतके साथ विवाही थी। अन्य दो ज्येष्ठा और चन्दना, बाल-ब्रह्मचारिणी कुमारी रहीं और महावीरके उपदेशसे आर्यिका बनी। चेटकका समस्त परिवार महावीरका भक्त था। उसके विभिन्न जामाता भी जो अपने समयके प्रसिद्ध नरेश थे महावीरके भक्त रहे। उनके अति-रिक्त चम्पाके राजा दधिवाहन, कलिंग-नरेश जितशत्रु जो महावीरके फूफा भी थे, श्रावस्ती-नरेश प्रसेनजित्, मथुराके राजा उदितोदय, हेमांगदनरेश जीवन्धर, पोदनपुर-नरेश विद्रदाज, पलाशपुरके राजा विजयसेन, पांचाल-नरेश जय तथा हस्तिनापुरका राजा इत्यादि अनेक तत्कालीन राजे-महाराजे महावीरके उपदेशसे प्रभावित हुए बताये जाते है।

कलिंगनरेश जितशत्रुकी कन्या यशोदाके साथ महावीरके विवाहकी बात चली थी। एक परम्पराके अनुसार उनका यह विवाह हुआ भी था और उससे एक कन्याका भी जन्म हुआ था। किन्तु उनका चित्त प्रारम्भसे ही संसार-देह-भोगोसे विरक्त था और लोकका कल्याण करनेकी उनकी

---

* एक अन्य अनुश्रुतिके अनुसार चेटक महावीरके मातुल थे।

उत्कट भावना थी। अतएव घरवालोके आग्रहको उन्होंने अमान्य किया और तीस वर्षकी आयुमे मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी (११ नवम्बर, ई० पू० ५७०) के दिन इस बालब्रह्मचारी राजकुमारने समस्त सांसारिक वैभवको लात मार वनकी राह ली। बारह वर्ष पर्यन्त उन्होने दुर्द्धर तपश्चरण किया और इस प्रकार अपनी आत्माको सर्व प्रकारकी कर्म-कालिमासे शुद्ध एवं पवित्र बना लिया। इस बीचमे न उन्होने उपदेश दिया और न शिष्य बनाये तथा अनेक उपसर्ग एवं परीषह सहन किये। अन्तमे बयालीस वर्षकी आयुमे वैशाख शुक्ला दशमी (२६ अप्रैल, ई० पू० ५५७) के दिन बिहार प्रान्तमे जृम्भक ग्रामके बाहर ऋजुकूला नदीके तटपर एक शालवृक्षके नीचे ध्यानस्थ बैठे हुए महावीरको केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई—और वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अर्हत् परमात्मा हो गये। वहाँसे चलकर वे राजगृह अपरनाम पंचशैलपुरके बाहर स्थित विपुलाचल पर्वतपर पहुँचे और उसी वर्षकी श्रावण कृष्ण प्रतिपदाके दिन प्रातःकाल उक्त पर्वतपर उनकी समवशरण सभा जुड़ी और उनका सर्वप्रथम उपदेश सर्वग्राह्य अर्धमागधी नामक लोकभाषामे हुआ, यही उनका धर्मचक्रप्रवर्तन था। मगध सम्राट् बिम्बिसार-श्रेणिक उनका सर्वप्रमुख श्रोता था। इन्द्रभूति, गौतम, अग्निभूति, वायुभूति, आर्यव्यक्त, सुधर्म, मण्डिकपुत्र, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचल, मैत्रेय और कौण्डिन्यगोत्री प्रभास उनके ग्यारह गणधर या प्रधान शिष्य थे जिनकी अध्यक्षतामे अनेक श्रमण मुनियोके गण या संघ संगठित हुए। महासती चन्दना उनके आर्यिका संघकी अध्यक्षा थी और मगधकी सम्राज्ञी चेलना श्राविका संघकी नेत्री थी। इस प्रकार मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघके रूपमे सुव्यवस्थित जनसमुदायको बिना किसी वर्ण, वर्ग, जाति, लिंग आदिके भेदभावके महावीरने अपना उपदेश दिया। तीस वर्ष पर्यन्त विभिन्न देश-देशान्तरमे विहार करके उन्होने लोकको मुक्ति-का मार्ग दिखाया। पूर्वोक्त सभी प्रसिद्ध राज्यो और उनकी राजधानियोमे उनका विहार हुआ और तत्कालीन प्रसिद्ध राजा-महाराजाओमे-से अधि-

काश उनके उपदेशसे प्रभावित हुए। उनमे-से अनेकोने जैन मुनि बनकर आत्मसाधन किया। उनके उपदेशोका सार गौतमादि गणधरोने द्वादशाग श्रुतके रूपमे गूँथा और वही विपुल जैन धार्मिक साहित्यका मूलाधार बना। अन्तमे कार्तिक कृष्ण अमावस्या मंगलवार, १५ अक्तूबर ई० पू० ५२७ या विक्रमपूर्व ४७० तथा शकपूर्व ६०५, के प्रातःकाल सूर्योदयके पूर्व मध्यम पावाके कमल-सरोवरके मध्य स्थित द्वीपाकार स्थल प्रदेशसे महावीरने निर्वाण लाभ किया। पावाका तत्कालीन राजा मल्लवंशी ज्ञात्यक्षत्री हस्तिपाल था। कहा जाता है कि उस समय अनेक स्त्री-पुरुषो और राजा-महाराजाओने जिनमे नौ मल्ल एव नौ लिच्छवि नरेश प्रमुख थे, भगवान्का निर्वाणोत्सव मनाया और रात्रिको दीपोत्सव किया। तभीसे दीपावलीके त्यौहारकी लोकमे प्रवृत्ति हुई बतायी जाती है। महावीरके प्रधान शिष्य गौतम-गणेशको उसी समय केवलज्ञान लक्ष्मीकी उपलब्धि हुई, अतः इसी उपलक्ष्यमे गणेश एवं लक्ष्मीके पूजनका इस पर्वपर प्रचलन हुआ कहा जाता है। लोकमे महावीर निर्वाण संवत्की प्रवृत्ति इसी समयसे हुई। तीर्थंकर महावीरका विशिष्ट लाछन सिह था। एक अन्य मंगल प्रतीक उनके ही नामसे वर्धमानक्य कहलाया।

महावीरके जीवनकालमे ही उनके लगभग पाँच लाख भक्त अनुयायी हो गये थे जो उनके द्वारा सुव्यवस्थित चतुर्विध संघके सदस्य थे। मुनिसंघ ग्यारह गणधरोकी अध्यक्षतामे नौ गणो या वृन्दोमे विभक्त था। श्रावक-श्राविकाओमे सभी वर्गो एवं जातियोके स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे। भारतवर्षके प्राय. प्रत्येक भागमे महावीरके अनुयायी थे, भारतके बाहर भी गान्धार, कपिशा, पारसीक आदि देशोमे उनके भक्त थे। इनके अतिरिक्त अनेक व्यक्ति पार्श्व आदि पूर्व तीर्थकरोके उपासक भी बने रहे।

महावीरके उपदेशोका सार अहिसावाद, कर्मवाद, साम्यवाद एव स्याद्वाद रूप चतुष्टय धर्म था। अहिसा तत्त्वको जितना अधिक विशद, स्पष्ट, ऊँचा एवं व्यापक रूप, सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनो ही

दृष्टियोंसे महावीरने दिया उतना सम्भवतया अन्य किसी धर्मोपदेष्टाने नहो दिया। जैन धर्मको उसका अन्तिम विकसित रूप देनेका श्रेय अन्तिम तीर्थंकर महावीरको ही है।

महावीरके निर्वाणोपरान्त जैन संघका नायकत्व उनके प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतमको प्राप्त हुआ। महावीरका शिष्य होनेके पूर्व वह एक महान् वेदशास्त्रज्ञ प्रकाण्ड ब्राह्मण पण्डित थे। महावीरके उपदेशोको शृंखला-बद्ध, व्यवस्थित एवं वर्गीकृत रूपमे संकलित करनेका श्रेय इन्हीको है। ये बौद्धधर्म प्रवर्तक गौतम बुद्ध एवं न्यायसूत्रकार अक्षयपाद गौतमके समसामयिक होते हुए भी उन दोनोसे भिन्न व्यक्ति है। ये भी अर्हत केवली थे और महावीर संवत् १२ (ई० पू० ५१५) मे निर्वाणको प्राप्त हुए। इनके पश्चात् सुधर्माचार्य संघनायक हुए। यह भी अर्हत केवली थे और म० सं० २४ (ई० पू० ५०३) मे निर्वाणको प्राप्त हुए। तत्पश्चात् जम्बूस्वामी जैनसंघके नायक हुए। ये चम्पाके एक कोट्याधीश श्रेष्ठिके पुत्र थे और महावीरके प्रभावसे उनके शिष्य हो गये थे। जैन मुनिके रूपमे मथुरानगरके चौरासी नामक स्थानपर इन्होने तपश्चरण किया था। म० सं० ६२ (ई० पू० ४६५) मे जम्बूस्वामीको मोक्ष हुआ। एक अनुश्रुतिके अनुसार मथुराके चौरासी क्षेत्रसे ही इनका निर्वाण हुआ किन्तु एक अन्य मान्यताके अनुसार राजगृहके विपुलाचलपर यह घटना घटी थी। महावीरकी शिष्य-परम्परामे जम्बूस्वामी अन्तिम केवली थे। मथुरा नगर और शूरसेन देशमे इनके द्वारा जैन धर्मका अत्यधिक प्रचार हुआ। इनके पश्चात् विष्णुकुमार, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहुने क्रमश: संघका नेतृत्व किया। ये पाँचो ही श्रुतकेवली थे अर्थात् इन्हे सम्पूर्ण श्रुतका यथावत् ज्ञान था। इनमे-से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुकी मृत्यु म० सं० १६२ (ई० पू० ३६५) मे हुई। जैनधर्मके इतिहासमे इन आचार्यका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके समय तक जैन संघ अखण्ड अविभक्त रहा था, किन्तु इनकी मृत्युके उपरान्त उसके

साधुओमे मतभेद, संघभेद, देशभेद, आचारभेद आदि उत्पन्न होने शुरू हो गये। महावीर-द्वारा उपदेशित अंग-पूर्वोका जो पूर्णज्ञान उनके समय तक अविच्छिन्न था वह भी धीरे-धीरे विच्छिन्न होने लगा। यह ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परामे मौखिक द्वारसे चलता आया था और उसी प्रकार उनके कई सौ वर्ष बाद तक चलता रहा। यह भी एक कारण था कि उसका शनैः-शनैः अधिकाधिक ह्रास होता गया। उपरोक्त मतभेदादिका एक सबसे बडा बाह्य निमित्त मध्य देशको ग्रसनेवाला वह द्वादशवर्षीय महादुर्भिक्ष था जिसकी अपने ज्ञान-द्वारा पूर्व सूचना पाकर आचार्य भद्रबाहु अपने सहस्रो शिष्योंके साथ दक्षिण देशको विहार कर गये थे। दुर्भिक्षकी उपशान्तिके उपरान्त भी इन साधुओका मूल एवं बहुभाग दक्षिण देशमे ही स्थायी रूपसे रह गया। जैनधर्म वहाँ पहलेसे हो प्रचलित था और इस मुनिसंघके नव्यागमसे वह और अधिक सप्राण हो उठा। कर्णाटक देशके श्रवणबेलगोल नामक स्थान-को अपना प्रधान केन्द्र बनाकर यह दक्षिणीय निर्ग्रन्थ श्रमणसघ दक्षिण भारतके विभिन्न प्रदेशोमे तथा भारतीय महासागरवर्ती द्वीपादिकोमे जैन धर्मका प्रचार एवं प्रसार करनेमे संलग्न हो गया। इस संघका विकास भी शनै.-शनै. देशकालकी परिस्थितियोके अनुसार चालू हो गया। उधर कितने ही साधु ऐसे भी थे जो दुर्भिक्षके समय मगधमे ही रह गये थे किन्तु दुर्भिक्षके दुर्दिनोमे वे अपने कठोर नियम-संयम आचार-विचारको आगमानुकूल सुरक्षित न रख सके। उनमे नाना प्रकारके शिथिलाचारके बीज वपन हो गये। आचार्य स्थूलभद्रने उनका नेतृत्व किया किन्तु वे भी बढते हुए शिथिलाचार एव ज्ञानके ह्रासको रोकनेमे समर्थ न हो सके। कालान्तरमे इस मागधी शाखाके साधुओने पाटलिपुत्रका परित्याग करके उज्जैनीको अपना केन्द्र बनाया और तदनन्तर वहाँसे भी और अधिक पश्चिमकी ओर हटकर सौराष्ट्रके वल्लभीपुरको अपना स्थायी केन्द्र बनाया। इसी शाखाके साधु सन् ईसवीकी प्रथम शताब्दीके अन्तमे श्वेताम्बर

सम्प्रदायके जनक बने। इन दोनों शाखाओके अतिरिक्त उत्तरापथके विभिन्न भागोंमे और भी अन्य अनेक जैन साधु थे। इनमे-से अधिकतरने कालान्तरमे मथुरा नगरको अपना प्रमुख केन्द्र बनाया और इनका विकास भी स्वतन्त्र रूपसे हुआ। मथुरा आदिके जैन साधु महावीरोत्तर सहास्राव्दमे कर्णाटकी या मागधी एवं पश्चिमी साधुओके बीचकी एक महत्त्वपूर्ण कडी सिद्ध हुए। इस प्रकार महावीरके निर्वाणके उपरान्त जैनसंघ निरन्तर प्रगति एवं विकासकी ओर अग्रसर होता गया और अनेक कालदोप, विकार एवं भेदादिके उत्पन्न होते रहनेपर भी तीर्थकरोके मौलिक सिद्धान्तोका प्रचार देश-देशान्तरमे बढ़ता गया।

■

अध्याय ३

प्राचीन युग—द्वितीय पाद

मगध साम्राज्य

हम देख चुके है कि सातवी शताब्दी ई०पू० के मध्यके लगभग भारतमे सोलह महाजनपद या अठारह राज्य अथवा २५।। आर्य देश रहे बताये जाते है। उसी समय मगधमे एक राज्य-क्रान्ति हुई थी और वहाँके अन्तिम बार्हद्रथवंशी नरेशको गद्दीसे उतारकर उसके स्थानमे काशीके नागवशी राजाको मगधके सिंहासनपर बैठाया गया था। इस प्रकार मगधके इस नवीन वंशके अधीन काशी और मगध, ये दो शक्तिशाली राज्य प्रारम्भसे ही संयुक्त हो गये और मगधकी भावी साम्राज्य वृद्धिका बीज वपन हो गया। यहीसे भारतवर्षका व्यवस्थित राजनैतिक इतिहास मिलना प्रारम्भ होता है। मगध साम्राज्यकी उत्तरोत्तर वृद्धि और विकास ही आनेवाली शताब्दियोमे इतिहासकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। इसीके द्वारा ऐतिहासिक कालमे सर्वप्रथम भारतकी साम्राज्यिक एकता प्रतिफलित हुई मिलती है।

डॉ० काशीप्रसाद जायसवालके अनुसार काशीसे आनेवाला मगधका उपरोक्त प्रथम नरेश शिशुनाक था और इसी कारण मगधका यह ऐतिहासिक राजवंश शैशुनाक वंश कहलाता है। यह राजा उसी वंशमे उत्पन्न हुआ था जिसमे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती एवं तीर्थंकर पार्श्वका जन्म हुआ था, अतः मगधके इस व्रात्य क्षत्रिय नागवंशका कुलधर्म प्रारम्भसे ही जैन-

धर्म रहा प्रतीत होता है। राज्यक्रान्तिके उपरान्त इस वंशके प्रारम्भिक नरेशोमे सर्वप्रसिद्ध राजा श्रेणिक बिम्बिसार था। हिन्दू पुराणोंमे उसके पिताका नाम शिशुनाग या शैशुनाक, बौद्धसाहित्यमे भट्टि और जैन अनुश्रुतिमे उपश्रेणिक मिलता है। श्रेणिकके कुमारकालमे ही उसके पिताने किसी कारण कुपित होकर उसे राज्यसे निर्वासित कर दिया था और अपने दूसरे पुत्र चिलातिपुत्रको अपना उत्तराधिकार सौप दिया था। अपने निर्वासन कालमे श्रेणिकने देश-देशान्तरोका भ्रमण करके अनुभव प्राप्त किया। इसी कालमे वह कतिपय जैनेतर श्रमण साधुओके सम्पर्कमे आया और उनका भक्त हो गया तथा जैनधर्मसे विद्वेष भी करने लगा। कुछ अनुश्रुतियोके अनुसार वह बौद्ध हो गया था किन्तु यह बात असम्भव प्रतीत होती है क्योकि महावीरके केवलज्ञान प्राप्ति (ई० पू० ५५७) के पूर्व ही वह फिरसे जैनधर्मका अनुयायी बन चुका था और उस समय तक बहुमान्य मतके अनुसार बुद्धने अपने धर्मका प्रचार प्रारम्भ नही किया था। श्रेणिकका भाई चिलातिपुत्र राज्यकार्यसे विरक्त था और उसने दत्त नामक जैन मुनिसे वैभार पर्वतपर मुनि-दीक्षा ले ली। फलस्वरूप सन् ई० पू० ५८७ के लगभग श्रेणिक बिम्बिसार मगधके सिंहासनपर बैठा। उसने राजधानी राजगृहका जिसे गिरिवृज या पंचशैलपुर भी कहते थे, पुनः निर्माण किया एवं राज्यका संगठन और शासनकी सुव्यवस्था की। उसके तथा उसके वंशजोके प्रयत्नसे यह सुन्दर महानगरी मगध साम्राज्यकी ही नही वरन् सम्पूर्ण भारतवर्षकी प्रधान राजधानी बन गयी। उसके सिंहासनारूढ होनेके समय मगधका राज्य न विशेप बडा था और न बलवान। कोसलराज्य एवं वैशालीके वज्जिसंघकी सीमाएँ इससे सटी हुई थी। श्रेणिककी महत्त्वाकाक्षाका आभास पाकर वैशाली-नरेश चेटकके नेतृत्वमे कोसल तथा वज्जिसंघकी सेनाओने मगधपर आक्रमण कर दिया, किन्तु चतुर श्रेणिकने अवसर देखकर सन्धि कर ली। इतना ही नही, उसने चेटककी पुत्री चेलना और कोसलकी राजकुमारी कोशलादेवीके साथ

विवाह करके उन दोनो शक्तिशाली पड़ोसी राज्योंको स्थायी मैत्रीके सूत्रमे भी बाँध लिया। उसने मद्रकी राजकुमारी खेमाके साथ भी विवाह किया। अनुश्रुतियोमे उसके और भी कई राजकन्याओ तथा एक ब्राह्मण कन्याके साथ विवाह करनेके उल्लेख है, किन्तु यही तीन उसकी प्रमुख रानियाँ थी और इनमे भी चेटकसुता चेलना ही उसकी पटरानी बनी। विवाह एवं मैत्री सम्बन्धो-द्वारा इस प्रकार अपनी स्थितिको सुरक्षित करके श्रेणिकने छोटे-छोटे राज्योंको जीतकर अपना राज्यविस्तार करना आरम्भ कर दिया और अन्तमे अंग-जैसे बड़े राज्यको भी जीतकर उसने अपने राज्यमे मिला लिया। कई छोटे-मोटे राज्योके अतिरिक्त काशी और अंगसे संयुक्त मगध साम्राज्य अब उत्तरी भारतका सबसे अधिक विस्तृत एवं शक्तिशाली राज्य बन गया था। महाराज प्रसेनजित्का कोसल राज्य भी बलवान् था और चेटकके अधिनायकत्वमे वैशाली एवं विदेहका संयुक्त वज्जिसंघ और भी अधिक बलशाली था, किन्तु ये दोनो ही श्रेणिकके सम्बन्धी एवं मित्र थे, उसके प्रतिद्वन्द्वी नही, अतएव वे उसकी उन्नतिमे बाधक नही हुए। केवल अवन्ति-नरेश चण्डप्रद्योत उसका एकमात्र प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था, किन्तु वह दूर था और मगधकी बढती हुई शक्तिको रोकनेका उसमे भी साहस न हुआ। पारस्य (ईरान) के शाहके साथ भी श्रेणिकने राजनैतिक आदान-प्रदान किया प्रतीत होता है। ५२ वर्ष पर्यन्त राज्य करनेके उपरान्त सन् ई० पू० ५३५मे श्रेणिककी मृत्यु हुई।

श्रेणिक केवल एक विजयी एवं प्रतापी नरेश ही नही था, वह एक कुशल शासक भी था। जैन साहित्यसे पता चलता है कि उसके राज्यमे न तो किसी प्रकारकी अनीति थी और न किसी प्रकारका भय ही था। प्रजा भले प्रकार सुखानुभव करती थी। देशकी समृद्धिकी ओर भी उसका ध्यान था। विभिन्न व्यवसायो, व्यापारो एवं उद्योगोका उसके आश्रय एवं संरक्षणसे श्रेणियो एवं निगमोमे सगठन हुआ, इसी कारण उसे श्रेणिक नाम प्राप्त हुआ बताया जाता है। सर्वप्रकारकी आन्तरिक स्वातन्त्र्य-सत्तासे

युक्त इन जनतन्त्रात्मक संस्थाओं-द्वारा उसने साम्राज्यके उद्योग-धन्धों, व्यवसाय और व्यापारको भारी प्रोत्साहन दिया। ये श्रेणियाँ ही आगे चलकर वर्तमान जातियोंके रूपमें धीरे-धीरे परिणत हो गयीं। सम्राट् श्रेणिक जनपदोंका पालक एवं पिता कहा गया है। वह दयाशील एवं मर्यादाशील था, साथ ही दानवीर एवं निर्माता भी था। राजधानीके पुनर्निर्माणके अतिरिक्त सम्मेदशिखर पर्वतपर जैन निषिद्यकाएँ तथा अन्यत्र जिनमन्दिर, स्तूप, चैत्यादि उसने बनवाये बताये जाते हैं। राजगृहके प्राचीन भग्नावशेषोंमें उसके समयकी मूर्तियाँ आदि भी मिली बतायी जाती हैं। अपनी अग्रमहिषी एवं प्रिय पत्नी चेलनाके प्रभावसे श्रेणिक जैनधर्मका भक्त हो गया था। चेलना स्वयं महावीरकी मौसी (या ममेरी बहन) थी। महावीरका प्रथम समवशरण श्रेणिककी राजधानीके ही एक महत्त्वपूर्ण भाग, विपुलाचल पर्वतपर जुडा था और वहीं ई० पू० ५५७ की श्रावण कृष्ण प्रतिपदाको उनका सर्वप्रथम धर्मोपदेश हुआ था। महाराज श्रेणिक सपरिवार एवं सपरिकर उक्त समवशरण सभामें उपस्थित हुआ था और श्रावकोत्तम कहलाया था तथा महावीरके श्रावक संघका नेता बना था। कहा जाता है कि श्रेणिकने भगवान्‌से एक-एक करके साठ हजार प्रश्न किये थे और उन्होंने उन सबका समाधान किया था। इन प्रश्नोंके उत्तरोंके आधारपर ही विपुल जैन साहित्यकी रचना हुई। उसकी साम्राज्ञी चेलना श्राविका संघकी नेत्री हुई। उसने अपनी समस्त सपत्नियों-सहित महासती चन्दना आर्याके निकट धर्मका अध्ययन किया बताया जाता है। श्रेणिकके अभयकुमार, मेघकुमार, वारिषेण, कुणिक आदि कई पुत्र थे। इन सबमें अभयकुमार जेठे थे। यह अत्यन्त मेधावी, राजनीति निपुण एवं धर्मात्मा थे। श्रेणिकके जीवन कालमें ही वह अपने भाइयोंके साथ जैन मुनि हो गये थे। अतएव श्रेणिकने कुणिक अपरनाम अजातशत्रुको जो कि महारानी चेलनासे उत्पन्न हुआ था, राजपाट सौंपकर एकान्तमें धर्मध्यानपूर्वक शेष जीवन बितानेका निश्चय किया। राज्याधिकार पाने-

पर कुणिकने देवदत्तके बहकानेसे अपने पिता श्रेणिकको बन्दीगृहमे डाल दिया, किन्तु माताके भर्त्सना करनेपर उसे पश्चात्ताप हुआ और वह पितासे क्षमा माँगने और उसे बन्धन मुक्त करनेके लिए गया। श्रेणिक उससे अत्यधिक स्नेह करता था, किन्तु उसे इस प्रकार आता देखकर वह यह समझा कि वह उसे मारनेके लिए आया है। अतः बन्दीगृहकी दीवारोसे सिर फोडकर श्रेणिकने आत्महत्या कर ली। इस प्रकार इस महान् प्रतापी एवं धर्मात्मा नरेश तथा मगधके प्रथम ऐतिहासिक सम्राट्का दुःखान्त हुआ। शाक्यपुत्र सिद्धार्थ गौतम भी जब गृहत्याग करके सर्वप्रथम राजगृह आये तो श्रेणिकने स्नेहपूर्वक उन्हे तपमार्गसे विरत करनेका प्रयत्न किया था।

अजातशत्रु कुणिक—अपने पिताके जीवनकालमे ही (ई० पू० ५३५ मे) मगधके सिहासनपर आसीन हो गया था। उसके पूर्व आठ वर्षसे वह अगदेशकी राजधानी चम्पाका शासक रहता आया था। ३२ वर्ष राज्य करनेके उपरान्त ई० पू० ५०३ मे अजातशत्रुको मृत्यु हुई। यह एक महान् प्रतापी शासक था और शैशुनाक अथवा बिम्बिसारका वश उसके शासनकालमे अपनी उन्नतिके चरमशिखरपर पहुँच गया था। इसने छल-बल-कौशलसे अपने राज्यका अत्यधिक विस्तार किया। कोसल और वज्जिसंघकी संयुक्त शक्ति ही मगधके लिए सबसे बडे भयका कारण थी और उसकी उन्नतिमे प्रधान बाधक थी अतएव अजातशत्रुने बल और युक्तिसे उन दोनो राज्योकी शक्तिको छिन्न-भिन्न करनेका निश्चय किया।

कोसलकी राजधानी इस समय श्रावस्ती थी और इसका इक्ष्वाकुवंशी नरेश प्रसेनजित् अपने समयका महाप्रतापी एवं प्रसिद्ध शासक था। तक्षशिला विश्वविद्यालयमे उसने शिक्षा पायी थी अतः वह स्वय विद्वान् था और विद्वानोका आदर करता था। पार्श्वपरम्पराके जैन मुनि आचार्य केशी उसके गुरु थे। वैद्य जीवक तथा वैयाकरण पाणिनि इसी समय हुए बताये जाते है। प्रसेनजित् महावीरका भक्त था और महात्मा बुद्धका भी अत्यधिक

आदर करता था। बिम्बिसार और चेटकका वह मित्र था, किन्तु अब उसकी वृद्धावस्था थी और उसके पुत्र अयोग्य थे। उसके पुत्र युवराज विडुडभने पिताकी इच्छाके विरुद्ध स्वयं गौतमबुद्धके जीवनकालमें ही उनकी जन्मभूमि कपिलवस्तुपर भयंकर आक्रमण करके उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। अजातशत्रुने अवसर देख कोसलपर आक्रमण कर दिया और उसे पराजित करके उसका बहुभाग अपने साम्राज्यमे मिला लिया। अब उसने वैशालीकी ओर ध्यान दिया। लिच्छवि क्षत्रियोका यह प्रसिद्ध वज्जिसंघ एक आदर्श गणतन्त्र राष्ट्र था। उसका विधि-विधान आजकी जनतन्त्रीय प्रणालीसे बहुत-कुछ सादृश्य रखता था। जनता या नागरिकोके प्रतिनिधि राजा कहलाते थे। इन राजाओंकी संख्या सहस्रो थी और वे वैशालीके संथागारमे बैठकर शुद्ध जनतन्त्रीय पद्धतिसे राजनैतिक तथा अन्य लौकिक एवं धार्मिक विषयो-पर विचार-विमर्श एवं वाद-विवाद करते थे जिनका निर्णय बहुमत-द्वारा होता था। मतदानमे शलाका (वैलट) का भी प्रयोग किया जाता था। उस राष्ट्रकी तथा लिच्छवियो अथवा वज्जियोके चरित्रकी स्वयं महात्मा बुद्धने प्रशंसा की है और उन्होने अपने संघके संगठनमे भी लिच्छवियोकी अनेक विधियोका अनुकरण किया। बुद्धघोष आदि प्राचीन बौद्धाचार्योंने भी उनके आचार-विचार एवं प्रथाओके सुन्दर वर्णन किये है। महाराज चेटककी अब मृत्यु हो चुकी थी और उसका मित्र राज्य कोसल पराजित हो चुका था। फिर भी वैशालीपर खुले रूपसे आक्रमण करनेका अजातशत्रुको साहस न हुआ। अत. उसने वस्सकार नामक एक धूर्त ब्राह्मणको वैशाली भेजा। वहाँ उसने अपने छल, कौशल एवं विश्वासघात-द्वारा वज्जिसंघकी एकता एवं शक्तिको निर्बल कर दिया और अजातशत्रुको वैशाली विजय करनेका सुअवसर प्रदान किया। कई एक छोटे-मोटे राज्य भी उसने जीतकर अपने साम्राज्यमे और मिलाये और इस प्रकार अवन्ति नरेश पालकको, जिसने कि कौशाम्बी नरेश उदयनके वत्सराज्यको विजय करके अपनी शक्ति और अधिक बढा ली थी, छोडकर सम्पूर्ण भारतमे मगध साम्राज्यका कोई प्रबल

प्रतिद्वन्द्वी नही रह गया था।

अजातशत्रुने पारस्य देशके अखमानीवंशी शाहोसे भी राजनैतिक आदान-प्रदान किया। ईरानी सम्राट् कुरुप (ई० पू० ५५८–५३०) बिम्बिसारका समकालीन था। उसका एक पुत्र आर्द्रकुमार राजकुमार अभयका मित्र था और उसके निमन्त्रणपर मगधमे आकर महावीरका शिष्य हो गया था। कुरुपके बाद उसका पौत्र दारा प्रथम (ई० पू० ५२२–४८६) ईरानका सम्राट् हुआ। उसके परसोपोलिस शिलालेख तथा नक्शेरुस्तममे प्राप्त उसके समाधिलेखसे ज्ञात होता है कि ई० पू० ५२०–५१८ मे उसने भारतके उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रदेशको तथा सिन्धुघाटीके कुछ भागको अपने राज्यमे मिला लिया था। उसके उत्तराधिकारी खर्षयार्श (ई० पू० ४८६–४६५) ने जब यूनानपर आक्रमण किया था तो उसकी सेनामे एक भारतीय सैन्य विभाग भी था। यूनानी इतिहासकार हेरोदोतस भी भारत-के एक भागको दाराकी बीसवी क्षत्रपी लिखता है। यूनानी यात्री स्काई-लेक्स (ई० पू० ५१७) ने भी यह उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि श्रेणिक और कुणिकके शासनकालोमे भारतसे ईरानके सम्पर्क रहे थे और उसी द्वारसे भारतकी श्रमण विचार-धाराएँ मध्यएशिया होती हुई यूनान तक पहुँची थी। अजातशत्रुके साम्राज्यकी सीमाओसे सिन्धुघाटी बहुत दूर थी, यही कारण है कि ईरानियोको उसका कुछ भाग हस्तगत कर लेनेमे विशेष बाधा नही हुई। मगधके साथ उन्होने आदरपूर्ण मैत्री सम्बन्ध ही बनाये रखे।

अजातशत्रु शासन कार्यमे भी अति निपुण था। अपनी शक्तिको सुदृढ करनेके लिए उसने गंगा और सोनके संगमपर एक सुदृढ विशाल दुर्ग बनाया जहाँ बादमे पाटलिपुत्र नगर बसा। यह स्थान अजातशत्रुकी छावनी (स्कन्धावार) थी। साम्राज्यके उद्योग, व्यवसाय एवं व्यापार और समृद्धिकी ओर अपने पिताकी भाँति ही उसने भी ध्यान दिया और उसीकी नीतिको अपनाया। कुणिक-अजातशत्रु महावीरका भक्त

था और अपने कुल-धर्म जैनधर्मका ही अनुयायी था। रैप्सनके मतानुसार उसने जैन श्रावकके व्रत धारण किये थे। वह बुद्धका भी आदर करता था किन्तु उनका अनुयायी नही हुआ प्रतीत होता। बौद्ध साहित्यमे उसकी बडी निन्दा की गयी है और उसे पितृहन्ता कहा गया है। किन्तु जैन अनुश्रुतिमे उसकी प्रशंसा मिलती है। उसने मूर्ति-निर्माण कलाको भी प्रोत्साहन दिया। महावीर आदि तीर्थंकरोको मूर्तियोके अतिरिक्त स्वयं अपनी मूर्तियाँ भी उसने बनवायी प्रतीत होती है। परखम नामक स्थानसे किसी एक मूर्तिको डॉ० काशीप्रसाद जायसवालने स्वयं अजातशत्रुकी मूर्तिके रूपमे चीन्हा है और उनके मतानुसार वह उसीके कालमे निर्मित हुई प्रतीत होती है। अजातशत्रुने कई अभूतपूर्व युद्ध-यन्त्रोंका भी आविष्कार किया था।

अजातशत्रुके पश्चात् ई० पू० ५०३ मे उसका पुत्र उदयिन (उदयी, अजउदयी अथवा उदयीभट) मगधके सिंहासनपर बैठा और विभिन्न मतोके अनुसार उसने १६, २४, २५ या ३५ वर्ष राज्य किया। वह भी राज्य प्राप्त करनेके पूर्व अपने पिता कुणिककी भाँति अंगदेशका शासक रहा था। जैन साहित्यमे उसका पर्याप्त उल्लेख मिलता है और वहाँ उसका वर्णन एक महान् जैन नरेशके रूपमे हुआ है। उसने पाटलिपुत्र नगरका, जिसे कुसुमपुर भी कहते थे और जिसके भग्नावशेष वर्तमान पटना नगरके निकट मिले है, निर्माण किया तथा राजधानीको राजगृहसे उठाकर पाटलिपुत्रमे ही स्थापित किया। इस राजाकी भी एक प्रस्तर मूर्ति मिली है। इसने मगधके एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी अवन्तिको भी पराजित किया और उस महाराज्यका बहुभाग अपने साम्राज्यमे सम्मिलित कर लिया। अब प्रायः समस्त उत्तरी भारत मगध साम्राज्यके अन्तर्गत था। कुछ अनुश्रुतियोमे उदयीके पश्चात् अनुरुद्ध, मुण्ड, नागदशक या दर्शक आदि अन्य राजे भी इस वंशमे हुए बताये जाते है। किन्तु यह निश्चित है कि महावीर सं० ६० (ई० पू० ४६७) मे मगधमे एक नये वंशका प्रारम्भ हुआ जिसे नन्दवंश कहते है और

जो लगभग १५० या १५५ वर्ष पर्यन्त सत्तारूढ रहा। इसी वर्ष प्रजा-पीडक पालकके साथ-साथ अवन्तिके राज्य वशका भी अन्त हो गया और उज्जैनी मगध साम्राज्यकी ही एक उपराजधानी बन गयी।

इस नवीन वंशके प्रथम सम्राट्का नाम भिन्न-भिन्न अनुश्रुतियोमे शिशुनाग, काकवर्ण, कालाशोक, नन्दिवर्धन, अवन्तिवर्धन, व्रात्यनन्दि, महानन्दि आदि मिलता है, जिसमे कई एक विभिन्न नामोका समीकरण कर दिया गया प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि उसका नाम व्रात्यनन्दि शिशुनाग था और वह पूर्वनरेशका पुत्र आदि न होकर कोई दूरका सम्बन्धी था किन्तु था मूल शैशुनाक वंशसे ही सम्बन्धित। डॉ० काशीप्रसाद जायसवालको पटनाके निकट उसकी एक मूर्ति भी मिली थी जिसपर उन्होने 'वात्ता' या 'व्रात्यनन्दि' शब्द पढा था। यह नाम उसके व्रात्य क्षत्रिय होनेका समर्थक है और शिशुनाग नाम श्रेणिकके वंशसे उसके सम्बन्धित होनेका। न्याय्य उत्तराधिकारी न होनेसे नन्दि नाम वंश परिवर्तन सूचक हुआ। वह और उसके कुछ वंशज पूर्व-नन्दोके नामसे भी प्रसिद्ध है। उसने १८ वर्ष पर्यन्त (ई० पू० ४४९ तक) राज्य किया प्रतीत होता है। मगध साम्राज्यकी एकता, विस्तार एवं शक्ति उसके समयमे पूर्ववत् बनी रही।

इसका उत्तराधिकारी नन्दिवर्धन काकवर्ण कालाशोक था। ई० पू० ४४९–४०७ तक ४२ वर्ष उसने राज्य किया। वह इस वंशका सर्वमहान् और प्रतापी नरेश था। म० सं० १०३ (ई० पू० ४२४) मे उसने कलिगकी विजय की थी और उस राष्ट्रके इष्ट देवता कलिग-जिन (या अग्रजिन अर्थात् तीर्थंकर ऋषभदेव) की मूर्तिको वह वहाँसे उठा लाया था और उसे उसने अपनी राजधानीमे स्थापित किया था। खारबेलके हाथीगुफा शिलालेखसे यह तथ्य प्रकट है। उसने इक्ष्वाकुओ, शौरसेनो आदि अवशिष्ट क्षत्रिय राज्योको भी पराजित किया और उक्त राज-वंशोका अन्त कर दिया। म० स० ८४ (ई० पू० ४४३) के बड़ली

शिलालेखसे विदित है कि उसके शासनकालमे राजपूतानेकी माध्यमिका नामक प्रसिद्ध नगरी जैनधर्मका प्रमुख केन्द्र थी, जैनोंकी वहाँ अच्छी बस्ती थी और न केवल वहाँ महावीरकी पुष्कल मान्यता थी वरन् लोक-व्यवहारमे महावीर संवत्का ही प्रचलन था। भारतमे सन्-संवतोके प्रचलनका यह सर्व प्राचीन उल्लेख है। नन्दिवर्धनकी हत्या कटार-द्वारा की गयी बतायी जाती है। उसके उपरान्त उसका पुत्र महानन्दिन राजा हुआ जिसने लगभग ४० वर्ष राज्य किया। यह भी अपने पिताके समान शक्तिशाली एवं प्रतापी नरेश था। इसीके शासन कालमे म० सं० १६२ (ई० पू० ३६५) मे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुकी मृत्यु हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी नरेशके शासनकालके अन्तिम वर्षोमे वह अनुश्रुति-प्रसिद्ध द्वादश-वर्षीय भयंकर दुर्भिक्ष पडा था जिसकी पूर्वसूचना पाकर आचार्य भद्रबाहु कई सहस्र शिष्य मुनियोके साथ दक्षिण देशको विहार कर गये थे। सम्भवतः यह राजा भी उनका भक्त एव शिष्य था और उन्हीके साथ मुनि होकर दक्षिणको चला गया था। इस दुर्भिक्ष कालमे जैनसंघमे प्रथम बार फूट पडनेके बीज पडे। दुर्भिक्षकी उपशान्तिके पश्चात् स्थूलभद्रके नेतृत्वमे श्वेताम्बर अनुश्रुतिका पहला जैन सम्मेलन एवं आगमो-की वाँचना पाटलिपुत्र नगरमे इसी कालमे हुई और इसी कालमे बौद्धोकी द्वितीय संगीति भी पाटलिपुत्रमे हुई।

महानन्दिनके उपरान्त मगधमे फिर एक घरेलू राज्यक्रान्ति हुई। उसके राज्यकालके अन्तिम वर्षोमे देश भयकर दुर्भिक्षसे पीडित रहा था, इस सकटकालमे शासन भी अव्यवस्थित हो गया था। स्वय वृद्ध राजा राज्यका परित्याग कर मुनि हो गया था और दक्षिणको चला गया था। इस परिस्थितिका लाभ उठाकर एक साहसी एवं चतुर युवक महापद्मने राज्य सिहासन हस्तगत कर लिया। उसके अन्य नाम सर्वार्थसिद्धि और उग्रसेन (यूनानी लेखकोका एग्रेमेज) मिलते है। कुछ लोग भ्रमसे उसे धनानन्द या घनानन्द भी कह देते है किन्तु यह नाम उसका नही वरन्

उसके ज्येष्ठ पुत्र युवराज हिरण्यगुप्त या हरिगुप्तको अपरनाम रहा प्रतीत होता है। महापद्मनन्दके जन्मके विषयमे विभिन्न किंवदन्तियाँ है, कुछ लोग उसे राजाका दासी-पुत्र या गणिका-पुत्र कहते है और कुछ उसे दिवाकीर्ति नामक नाईके सम्बन्धसे राजाकी एक रानी-द्वारा उत्पन्न हुआ बताते है। ब्राह्मणीय साहित्यमे उसे शूद्र या शूद्रजात कहा है, किन्तु जैन साहित्यमे उसे तथा उसके वशजोको सर्वत्र क्षत्रिय कहा है। इसमे सन्देह नही कि वह यद्यपि राजवशसे ही सम्बन्धित था, पूर्व राजाका न्याय्य उत्तराधिकारी नही था और उसने छलसे ही राज्यपर अधिकार किया था।

इसका वंश उत्तरनन्द या नवनन्द वश कहलाता है। उसके आठ पुत्र थे और क्योकि अपने अन्तिम वर्षोमे उसने राज्यकार्य अपने उन धनानन्द आदि पुत्रोको ही सौप दिया था, इस कारण भी इस वंशके लिए नवनन्द नाम प्रयुक्त होता है। महापद्मने राज्याधिकार चाहे जिस तरह प्राप्त किया और उसके जन्मके सम्बन्धमे चाहे जैसे अपवाद रहे किन्तु वह एक चतुर राजनीतिज्ञ, कुशल शासक और विजेता था। उसने शीघ्र ही शासनको सुव्यवस्थित कर लिया, साम्राज्यकी स्थिति सर्व प्रकार सुदृढ एवं सुरक्षित कर ली और दक्षिण भारतपर आक्रमण करके उसके भी अनेक प्रदेशोको साम्राज्यमे सम्मिलित कर लिया। आचार्य भद्रबाहु संघसहित दक्षिण देशको विहार कर गये थे और स्वयं राजा महानन्दिन भी मुनि बनकर वही चले गये थे, सम्भवत इन बातोने ही महापद्मको दक्षिणापथपर भी अपना साम्राज्य विस्तार करनेकी प्रेरणा दी। तमिल भाषाके प्राचीन संगम साहित्य, दक्षिणी अनुश्रुतियो एव नवनन्ददेहरा आदि नामोसे दक्षिणमे नन्दोका आगमन समर्थित होता है। वह अब सम्पूर्ण भारतका एकच्छत्र सम्राट् था और उसने 'सर्व क्षत्रान्तक एकराट्' की उपाधि धारण की थी। उत्तरमे कोसल और दक्षिणमे कुन्तल-जैसे विशाल प्रदेश उसके साम्राज्यके अंग थे। उज्जैनी उसकी उपराजधानी थी। सिकन्दरके साथ आनेवाले यूनानी लेखकोका कथन है कि व्यास नदीके उस पार (पूर्वकी ओर) का सम्पूर्ण देश

'पाटलिपुत्र (पालिब्रोथ्रा) के इस अत्यन्त शक्तिशाली नन्दराजाके अधीन था। उसके पास विपुल सैन्यशक्ति थी और उसका कोष अटूट धनसे पूर्ण था। उसके बलका इतना आतंक था कि सर्व प्रकारसे प्रयत्न करनेपर भी सिकन्दर महान् (ई० पू० ३२६) अपनी विश्वविजयी सेनाको नन्दके साम्राज्यकी सीमामे प्रवेश करनेके लिए तत्पर न कर सका। नन्दका धन-वैभव देश-विदेशकी ईर्ष्याका पात्र था और उसका अतुल बल सबके हृदयमे भयका सचार करता था। दुर्भिक्षके परिणामसे प्रभावित होकर उसने गंगा नदीसे कृपिकी सिचाईके लिए एक नहर निकाली जो सम्भवतया भारतवर्षकी सर्वप्रथम नहर थी। राजधानीके निकट गंगाके गर्भमे उसका विशाल कोषागार था। उसने पाँच स्तूप भी निर्माण कराये थे और उनके गर्भमे भी विपुल धनराशि सुरक्षित रखी गयी थी। तौलनेके बाट व नापो आदिके व्यवस्थीकरणका श्रेय भी इसी नन्दराजाको है। वह दानी भी बडा था। एक विद्वान् संघब्राह्मणकी अध्यक्षतामे उसका दान विभाग संचालित होता था और उसकी दानशालामे प्रतिदिन ब्राह्मणादि विभिन्न याचकोको विपुल द्रव्य दान किया जाता था। नन्दीश्वर विधानके उपरान्त कार्तिकी अष्टाह्निकाके अन्तिम दिन अर्थात् प्रत्येक कार्तिकी पूर्णिमाको सबसे अधिक द्रव्य दान किया जाता था। उसका प्रधान मन्त्री प्रसिद्ध राजनीतिपटु शकटाल था। राजाका कोपभाजन होनेपर उसने अपने पुत्र-द्वारा अपनी हत्या करा ली थी। उसके उपरान्त स्वामिभक्त राक्षस प्रधान अमात्य हुआ। महापद्म विद्वानोका भी आदर करता था, अनेक विद्वान् उसके दरबारमे आश्रय पाते थे, शास्त्रार्थमे भी वह रस लेता था। उसके समयमे मगधदेशीय जैन संघके नायक आचार्य स्थूलभद्र थे जो स्वयं नन्दके एक मन्त्रीके पुत्र थे। अन्य पूर्व नन्दोंकी भाँति यह राजा और इसके पुत्र भी जैन धर्मके अनुयायी थे, इस विषयमे विद्वानोको प्राय: कोई सन्देह नही है। ई० पू० ३६३ मे महापद्मने राज्य हस्तगत किया था और लगभग ३४ वर्ष राज्य करनेके उपरान्त ई० पू० ३२९ मे उसने

राज्य कार्यसे प्राय: अवकाश ले लिया था और राज्यकार्य अपने धननन्द आदि आठ पुत्रोको संयुक्त रूपमे सौप दिया था, किन्तु सर्वकार्य उसके ही नामसे चलता था। बारह वर्प पर्यन्त यह व्यवस्था चालू रही, अन्तमे ई० पू० ३१७ के लगभग चाणक्य एवं चन्द्रगुप्तके कौशलसे नन्द वंशका पतन हुआ और मौर्य वंशकी स्थापना हुई।

नवनन्दोके शासन कालकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना यूनानी सिकन्दरका आक्रमण है। सुदूर यूनानके मकदूनिया नामक एक छोटे-से राज्यके नायक फिलिपका बेटा सिकन्दर संसारका सर्वप्रथम महान् विजेता बना। युवावस्थामे ही उसके चमत्कारी उत्कर्षको देखकर लोगोंने उसे देवपुत्र कहना शुरू कर दिया था। ई० पू० ३५७ मे उसका जन्म हुआ, बीस वर्पकी आयुमे ही उसने सम्पूर्ण यूनान देशपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और आस-पासके छोटे-छोटे पड़ोसी देशोंको जीतकर अपने राज्यका विस्तार एवं शक्तिका संग्रह किया। एक सुदृढ़ विपुल सेना लेकर वह विश्व-विजयके लिए निकल पड़ा। लघु एशिया, मध्य एशिया, सीरिया, ईराक, बाबुल आदि प्रदेशोको जीतता हुआ वह ईरानपर चढ़ दौडा और उसने अखमनी वंशके विस्तृत एवं शक्तिशाली साम्राज्यको छिन्न-भिन्न करके उसे अपने साम्राज्यका अंग बना लिया। भारतके अनुपमेय धन-वैभवके लोभ एवं विजयलिप्सासे प्रेरित होकर उसने ई० पू० ३२७ मे खैबर घाटीसे भारतमे प्रवेश किया, तक्षशिला नरेश अम्भीको प्रभावित कर अपना करद राजा बनाया और फिर एक-एक करके सिन्धुघाटी एवं पंजाबमे बिखरे हुए छोटे-छोटे राज्यों एवं गणतन्त्रोको विजय करना आरम्भ किया। किन्तु पग-पगपर उसे भीषण विरोधका सामना करना पड़ा। झेलम और चिनाबके दोआबेका राजा पुरु बड़ी वीरतापूर्वक लड़ा और कौशल-द्वारा ही हराया जा सका। वापसीमे अग्रोहेके अग्रश्रेणी गणतन्त्रसे सिकन्दरकी मुठभेड हुई। वर्तमान अग्रवालोके पूर्वज, अग्रोहेके ये स्वतन्त्रता प्रेमी निवासी अद्भुत वीरताके साथ लड़े और उन्होंने सिकन्दरके दुर्द्धर्ष

यूनानी सैनिकोंके दाँत खट्टे कर दिये। किन्तु आक्रान्ताओंकी विपुल सैन्य शक्तिके सम्मुख अग्रोहेकी छोटी-सी सेना कबतक ठहरती, अन्ततः उसका पतन हुआ और बीस हजार स्त्री-बच्चोंने जौहर-द्वारा अपना अन्त किया। लिखित इतिहासमें जौहरका यह सर्वप्रथम उदाहरण है। अपने लगभग डेढ़ वर्षके प्रवास कालमें सिकन्दर और उसकी सर्वविजयी सेना पूरे पंजाब और सिन्धको भी विजय न कर पायी। नन्दके प्राची साम्राज्यकी सीमामें तो प्रवेश करनेका उसे साहस ही नहीं हुआ। ई० पू० ३२५ के प्रारम्भमें ही वह निराश होकर वापस लौट गया और ई० पू० ३२३ में बाबुल नगरमें उसकी मृत्यु हो गयी। पुरु और अम्भीको अपना करद प्रतिनिधि नियुक्त करके और थोड़ी-सी यूनानी सेना छोडकर वह भारतसे चला गया था। यदि पंजाब, सिन्ध एवं पश्चिमोत्तर प्रान्तके ये अनगिनत छोटे-छोटे राजतन्त्र एवं गणतन्त्र संगठित होकर और मिलकर एक साथ यूनानियोंके विरुद्ध खडे हो जाते तो वे निस्सन्देह सिकन्दरको पलक मारते ही बुरी तरह हराकर भारतकी सीमासे खदेड बाहर करते। सिकन्दरके मुडते ही उसके द्वारा जीता हुआ भारतका अंश शीघ्र ही पूर्ववत् हो गया और अधिकांश भाग अवशिष्ट भारतको तो पश्चिमी जगत्के इतिहासकी इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाका भान भी न हुआ। भारतवासियोंके लिए वह इतिहासकी एक शीघ्र ही विस्मृत कर दी जानेवाली गौण एवं क्षुद्र घटना थी।

किन्तु सिकन्दरके भारत आक्रमणके कुछ सुपरिणाम भी हुए। भारतके बाहर पश्चिमी देशोंके साथ भारतवर्षके सम्पर्क और अधिक उन्मुक्त एवं गहरे हो गये। पश्चिमोत्तर प्रदेशकी छोटी-छोटी शक्तियोंके छिन्न-भिन्न हो जानेसे शीघ्र ही मौर्य साम्राज्यका विस्तार अफ़गानिस्तान पर्यन्त फैल जानेके लिए भूमि तैयार हो गयी। भारतीय धर्म, दर्शन, ज्ञान और विज्ञानके समस्त सभ्य पश्चिमी जगत्में प्रसारित होनेका द्वार बन गया। यूनानी कलाका भारतीय कला, विशेषकर मूर्त्तिकला, पर प्रभाव पड़ा। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि सिकन्दरके साथ आनेवाले कई यूनानी

लेखकोंने भारतके वर्णन लिखे जिनके आधारपर उत्तरवर्ती यूनानी इतिहासकारोंने सिकन्दरकालीन भारतकी राजनैतिक, भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक दशाके वर्णन किये, जो तत्कालीन भारतीय इतिहासके प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण साधन बने। साथ ही, यूनानी लेखकोंके सेण्ड्रोकोटसका समीकरण चन्द्रगुप्त मौर्यसे किया जाकर प्राचीन भारतकी राजनैतिक कालानुक्रमणिका निश्चित रूपसे व्यवस्थित की जा सकी जिसका समर्थन अन्य नामादिके समीकरणों-द्वारा भी हुआ।

सिकन्दर और उसके यूनानियोंको पश्चिमोत्तर प्रदेशवर्ती गान्धार, तक्षशिला आदिके निकटवर्ती वन्य प्रदेशोमे ही नही वरन् सम्पूर्ण पंजाब और सिन्धमे यत्र-तत्र अनेको नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थ साधु मिले थे। इनका यूनानियोने जिम्नोसोफिस्ट या जिम्नेटाइ नामोसे उल्लेख किया है और उनके वर्णनोसे इस विषयमे प्राय. कोई मतभेद नही है कि इन शब्दोसे आशय तत्कालीन दिगम्बर जैन साधुओका है। सिन्धुघाटीके ऐसे ही कुछ साधुओका उन्होने ओरेटाइ एवं वैरिटाइ नामोसे भी उल्लेख किया है। इनमे प्रथम शब्द 'आरातीय' शब्दका यूनानी रूप है। जैन साहित्यमे जैन मुनियोका एक प्राचीन वर्ग 'आरातीय' नामसे सूचित किया गया है। वैरिटाइ एक जातिके लिए प्रयुक्त हुआ है जो व्रात्यका यूनानी रूप प्रतीत होता है। यूनानी लेखकोने श्रमणो और ब्राह्मणोका पृथक्-पृथक् स्पष्ट वर्णन किया है और इसमे कोई सन्देह नही है कि श्रमणोसे उनका अभिप्राय जैन साधुओका है। बौद्ध भिक्षुओके जो दो-एक पृथक् उल्लेख इन वृत्तान्तोमे मिलते है उनसे ही यह स्पष्ट है कि श्रमणोसे बौद्धोका अभिप्राय नही था। वस्तुतः आधुनिक विद्वानोंको यह आश्चर्य होता है कि इन यूनानी लेखकोने बुद्ध, बौद्धधर्म और बौद्ध भिक्षुओका प्राय. कुछ भी उल्लेख क्यो नही किया। ऐसा लगता है कि उस कालमे कमसे कम पश्चिमोत्तर भारतमे बौद्धधर्म एक गौण सम्प्रदाय था। उपरोक्त जिम्नोसोफिस्ट या श्रमण साधुओके सम्बन्धमे यूनानी लेखकोका कथन है कि

उनमे कुछ तो वनवासी (हिलोबाइ) थे जो नितान्त निष्परिग्रह, निस्पृह एवं नग्न तपस्वी थे, वनोमे रहते थे, अल्पभोजी और विशुद्ध शाकाहारी थे, हाथमे लेकर ही भोजन करते और जल पीते थे, मृत्युके उपरान्त शवको जीव-जन्तुओ-द्वारा भक्षण किये जानेके लिए वनमे ही छोड देते थे और मृत्यु निकट जानकर विविध उपायोसे जीवनका अन्त कर देते थे, अर्थात् समाधिमरण करते थे। वे देह और भोगोकी चिन्तासे सर्वथा मुक्त थे, ज्ञान-ध्यान और तपमे लीन रहते थे। यह सब वर्णन जैन मुनियोके अतिरिक्त अन्य किसी सम्प्रदायके साधुओंपर पूर्णतया लागू नही होता। तक्षशिलाके निकट ऐसे ही मण्डन नामक एक प्रसिद्ध मुनिसे सिकन्दरने साक्षात्कार चाहा। मुनिने उसके निमन्त्रणका तिरस्कार कर दिया, इसपर सम्राट् स्वयं मुनिके पास गया। प्रश्न करनेपर मुनिने कहा कि यदि हमसे कुछ पूछना और लेना चाहता है तो पहले हमारी ही तरह अन्तर-बाह्यसे नग्न हो जा। और फिर उन्होने राज्यतृष्णा एव भोगलिप्सा-का त्याग करके आत्माकी चिन्ता करनेका उसे उपदेश दिया। एक दूसरा साधु जिसका नाम कल्याण था सिकन्दरके साथ ही बाबुल चला गया। बाबुलमे जाकर उसने समाधिमरण पूर्वक चितारोहण किया। अपनी तथा स्वयं सिकन्दरकी निकट मृत्युकी सूचना इस मुनिने सम्राट्को पहले ही दे दी थी। उसकी मृत्युके पश्चात् साम्राज्यकी क्या दशा होगी, यह भी बता दिया था। इन वनवासी श्रमणोके अतिरिक्त ऐसे भी खण्डवस्त्रधारी त्यागी श्रमण श्रावक थे जो बस्तियोमे रहते थे और धर्मोपदेश, शिक्षा, ज्योतिष, चिकित्सा आदिके द्वारा लोकोपकारमे रत रहते थे। इन त्यागी गृहस्थो (ऐल्लक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी आदि व्रती श्रावकों) का लोग बडा आदर करते थे।

इन यूनानी लेखकोंने तीर्थंकर ऋषभदेव एवं उनके पुत्र भरत चक्र-वर्तीसे सम्बन्धित लोकप्रचलित अनुश्रुतियोका भी उल्लेख किया है। नन्द, उग्रसेन, चन्द्रगुप्त मौर्य, अमित्रघात बिन्दुसार आदिके सम्बन्धमे उनके

वृत्तान्त जैन अनुश्रुतिसे जितने समर्थित होते हैं उतने किसी अन्य अनुश्रुतिसे नही। यहाँतक कि चन्द्रगुप्तके सिंहासनारोहणकी जो तिथि (अर्थात् ई० पू० ३१२) प्राचीन यूनानी इतिहासकारोंने दी है वह प्रो० टार्न आदि आधुनिक विद्वानोंके अनुसार उन्हें जैनोंसे ही प्राप्त हुई थी। जैन आचार-विचारका उस समय इतना प्रभाव एवं प्रसार बढ चुका था कि स्वयं ब्राह्मण मुनियों एवं पण्डितोंके विषयमें भी यूनानी लेखकोंने यह लिखा है कि वे भी शाकाहारी ही थे। याज्ञिक हिंसाका भी कोई उल्लेख उन्होंने नही किया।

सिकन्दरके आक्रमणके कुछ वर्षोंके पश्चात् भारतमें एक महत्त्वपूर्ण राज्य-क्रान्ति हुई। नन्दवंशका पतन हुआ, मौर्यवंशकी उसके स्थानमें स्थापना हुई और फलस्वरूप मगधसाम्राज्य अपने चरमोत्कर्षको प्राप्त हुआ। इस राज्य-क्रान्तिके प्रधान नायक क्षत्रिय वीर चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके सहायक राजनीतिके विचक्षण पण्डित ब्राह्मण चाणक्य थे। चाणक्य अथवा उसके अर्थशास्त्रके विषयमें तत्कालीन यूनानी लेखक सर्वथा मौन हैं, मगधकी राजसभामें आकर कुछ समयके लिए रहनेवाला यूनानी राजदूत मेगेस्थनीज भी उनका कोई उल्लेख नही करता। चाणक्यके अर्थशास्त्रके जो संस्करण उपलब्ध हैं वे क्षेपकों आदिसे पर्याप्त विकृत एवं त्रुटित हैं और उनकी प्राचीनता स्वयं चाणक्यके समयसे कई सौ वर्षों बाद तक ही अधिकसे अधिक पहुँचती है। बहुत पीछेके लिखे गये मुद्राराक्षस नाटक एवं कथा-सरित्सागर आदि कथात्मक ग्रन्थोंसे इतना ही पता चलता है कि कूटनीति-विशारद चाणक्य, जो विष्णुगुप्त और कौटिल्य भी कहलाता था, एक वेदानुयायी दरिद्र ब्राह्मण था। राजा नन्दने उसका अपमान किया जिसका बदला लेनेके लिए नन्दके वंशका समूल उन्मूलन करनेकी उसने प्रतिज्ञा की और अपनी कुटिलता तथा चन्द्रगुप्तकी सहायतासे वह उसमें सफल हुआ और उसने चन्द्रगुप्तको मगधके सिंहासनपर बैठा दिया। बौद्ध अनुश्रुतिमें भी अपमान, प्रतिज्ञा, नन्दनाश और चन्द्रगुप्तकी राज्य प्राप्तिके

उल्लेख मिलते है। इन उपरोक्त भिन्न कथाओंमे परस्पर बहुत-से अन्तर भी हैं। ब्राह्मण साहित्यमे चन्द्रगुप्तको नन्दका मुरा नामक शूद्रा दासीसे उत्पन्न पुत्र बताया है, बौद्ध अनुश्रुतिमे उसे मोरिय नामक व्रात्यक्षत्रिय जातिका युवक बताया है। किन्तु बौद्ध तथा ब्राह्मण अनुश्रुतियोंमे चाणक्य और चन्द्रगुप्तका जन्मसे मृत्यु पर्यन्त पूर्ण जीवन-वृत्त नही मिलता। जैन अनुश्रुतिमे इन महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक व्यक्तियोंके सम्बन्धमे अथसे अन्त तक पूर्ण वर्णन मिलते हैं और वे भी कई विभिन्न द्वारोंसे। अतः विभिन्न अनुश्रुतियो, ऐतिहासिक आधारों और मान्यताओके समन्वय-द्वारा हमे उक्त कालकी ऐतिहासिक घटनाओंका बहुत कुछ प्रामाणिक विवरण उपलब्ध हो जाता है।

आचार्य चाणक्य मौर्यवंशकी स्थापनामे मूल निमित्त एवं मौर्यसाम्राज्यके प्रधान स्तम्भ थे। वे सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यके राजनैतिक गुरु, समर्थ सहायक तथा उसके राज्यके कुशल व्यवस्थापक एवं नियामक थे। राजनीतिके ये महान् गुरु और इनका प्रसिद्ध अर्थशास्त्र अपने समयमे ही नहीं वरन् तदुत्तरकालीन भारतीय राजनीति एवं राजनीतिज्ञोके सफल मार्गदर्शक रहे है। प्राचीन जैन अनुश्रुतियोंके अनुसार आचार्य चाणक्यका जन्म ई० पू० ३७५ के लगभग गोल्लविषयके अन्तर्गत चणय नामक ग्राममे हुआ था। इस स्थानकी ठीक स्थिति अज्ञात है। कुछ अनुश्रुतियोमे उन्हे पाटलिपुत्र और कुछमे तक्षशिलाका निवासी भी बताया है। इनकी माताका नाम चणेश्वरी और पिताका नाम चणक था जो जन्मसे ब्राह्मण और धर्मसे श्रावक (जैन) थे। जन्मसमयमें ही चाणक्यके मुँहमे दांत थे जिससे सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसी समय कुछ जैन साधु चाणक्यके पित्रालयमे आये और उसके पिताने उनसे इस बातका उल्लेख किया। उन्होंने बताया कि यह बालक बड़ा होनेपर कोई भारी राजा होगा। किन्तु ब्राह्मण चणक सन्तोषी वृत्तिका धर्मात्मा व्यक्ति था, राज्य वैभवको वह पाप समझता था अतः उसने बच्चेके दांत उखाड़ डाले। इसपर उन

साधुओने यह भविष्यवाणी की कि अब यह बालक स्वय तो राजा न हो सकेगा किन्तु किसी अन्य व्यक्तिके उपलक्ष्यसे राज्य करेगा। वय प्राप्त होनेपर तक्षशिला तथा उसके निकटवर्ती स्थानोमे रहनेवाले आचार्योंके निकट चाणक्यने चौदह विद्यास्थानो (छह अग, चतुरानुयोग, दर्शन, न्याय, पुराण, धर्मशास्त्र) की शिक्षा प्राप्त की, और सभी विद्याओं एव शास्त्रोमे वह पारंगत हो गया। यशोमति नामक एक श्यामा सुन्दरीके साथ उसका विवाह हुआ और वह ब्राह्मणोचित शिक्षकवृत्तिसे दरिद्रताके साथ जीवन व्यतीत करने लगा। एक बार उसकी स्त्री अपने भाईके विवाहमे मायके गयी। वहाँ उसकी निर्धनताका लोगोने उपहास किया जिससे वह बडी दुःखी हुई। चाणक्यको जब यह बात मालूम हुई तो वह धनोपार्जनके लिए घरसे निकल पडा। महाराज सर्वार्थसिद्धि महापद्मनन्द विद्वानोका बड़ा आदर करता है और उन्हे पुष्कल दानादिसे सन्तुष्ट करता है यह बात सर्वप्रसिद्ध थी। अत चाणक्य पाटलिपुत्र पहुँचा। वहाँ उसने राजसभाके समस्त पण्डितोको शास्त्रार्थमे पराजित करके संघब्राह्मण (दानविभागके अध्यक्ष) का पद प्राप्त कर लिया। किन्तु उसकी कुरूपता, अभिमानी प्रकृति एवं उद्धत स्वभावके कारण युवराज सिद्धपुत्र हिरण्यगुप्त अपरनाम धननन्द उससे रुष्ट हो गया और उसने चाणक्यका अपमान किया। फलस्वरूप चाणक्यने क्रुद्ध होकर नन्दके वंशको समूल नष्ट करनेकी भीषण प्रतिज्ञा की। अपने जन्मसमयमे साधुओ-द्वारा की गयी भविष्यवाणीका स्मरण करके परिव्राजकके वेषमे वह एक ऐसे व्यक्तिकी खोजमे निकल पडा जो राजा होनेके उपयुक्त हो।

तराई प्रदेशमे पिप्पलीवनके मोरियोंका गणतन्त्र था। ये लोग व्रात्य क्षत्रिय थे। स्वयं महावीरके एक गणधर मोरियपुत्त इसी जातिके थे और इस जातिमे जैन धर्मकी प्रवृत्ति थी। इनका एक पूरा ग्राम मयूरपोपकोका ही था। मुनि, ऐलक, क्षुल्लक आदि समस्त जैन साधु, विशेपकर दिगम्बर परम्पराके, अनिवार्यतः मयूरपिच्छधारी होते है। उस कालमे इन

साधुओंकी संख्या सहस्रोंमें थी अत मयूर-पोषण एवं मयूरपिच्छी निर्माण-का व्यवसाय पर्याप्त महत्त्वपूर्ण था। घूमते-घूमते चाणक्य एक दिन इसी गाँवमें पहुँचा और गाँवके मोरियवंशी मुखियाके घर ठहरा। मुखियाकी पुत्री गर्भवती थी और उसे उसी समय चन्द्रपान करनेका विचित्र दोहला उत्पन्न हुआ था। किन्तु चाणक्यने इस शर्तपर कि उत्पन्न होनेवाले शिशुपर उसका स्वयंका अधिकार रहेगा युक्तिसे वह दोहला शान्त कर दिया। तदनन्तर वह वहाँसे चल दिया। कुछ ही मास उपरान्त उस लड़कीने एक सुन्दर तेजस्वी पुत्रको जन्म दिया और उस दोहलेके आधारसे उसका नाम चन्द्रगुप्त रखा गया तथा परिव्राजक चाणक्यसे की गयी प्रतिज्ञाके अनुसार उसे परिव्राजकका ही पुत्र कहा जाने लगा। नन्द-द्वारा चाणक्यका अपमान और चन्द्रगुप्तका जन्म आदि उपरोक्त घटनाएँ ई० पू० ३४५ के लगभग हुईं।

विशाल साम्राज्यके अधिपति पराक्रमी नन्दोंका समूल नाश करना कोई हँसी-खेल नहीं था, चाणक्य इस बातको भली प्रकार जानता था। किन्तु वह दृढ़प्रतिज्ञ भी था अतः धैर्यके साथ वह अपनी तैयारीमें संलग्न हो गया। अगले कई वर्ष उसने धातुविद्याकी सिद्धि एवं स्वर्ण आदि धन एकत्र करनेमें व्यतीत किये बताये जाते हैं। आठ-दस वर्ष बाद फिर वह उसी ग्राममें आ निकला। ग्रामके बाहर वनमें कुछ बालक खेल रहे थे। एक तेजस्वी बालक राजा बना हुआ था और अन्य बालकों-पर शासन कर रहा था। कुछ देर तक चाणक्य बालकोंके इस कौतुकको देखता रहा। तदनन्तर उसने उस बालकसे वार्तालाप किया और उसकी तुरतबुद्धि, वीरता, साहस एवं तेजस्विताको देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। वह सामुद्रिक शास्त्रका भी ज्ञाता था और उस बालकके सामुद्रिक चिह्नोंमें उसे चक्रवर्ती सम्राट्के सब लक्षण दीख पड़े। पूछताछ करनेपर मालूम हुआ कि यह वही बालक है जिसकी माताका दोहला उसने स्वयं शान्त किया था। अस्तु वह उस बालकको साथ लेकर चल

पड़ा। कई वर्ष पर्यन्त उसने उसे विभिन्न अस्त्र-शस्त्र, विद्याओ एवं शास्त्रों-की राज्योचित उत्तम शिक्षा दी। उसके लिए बहुत-से साहसी युवक साथी भी धीरे-धीरे जुटा दिये। ई० पू० ३२६ मे सिकन्दरका आक्रमण हुआ। भारतभूमिपर विदेशी यवनोके प्रवेश एवं आधिपत्यने चाणक्यके देशभक्त हृदयको दु खित किया। किन्तु विश्व-विजेता सिकन्दरकी प्रसिद्धिसे भी वह प्रभावित हुआ। अत. उसने शिष्य चन्द्रगुप्तको सलाह दी कि वह यूनानियोकी सैनिक पद्धति, सैन्यसंचालन एव युद्ध-कौशलका जाकर प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करे। चन्द्रगुप्त यूनानी शिविरमे पहुँचा। गुप्तचर होनेके सन्देहमे बन्दी करके वह सम्राट्के सम्मुख उपस्थित किया गया किन्तु उसकी निर्भीकतासे प्रसन्न होकर सिकन्दरने उसे मुक्त कर दिया और पुरस्कार दिया। चन्द्रगुप्तने अभीष्ट जानकारी प्राप्त की और सिकन्दरके भारतसे बाहर निकलते ही पंजाबके बाह्लीकोको उभाड़कर यूनानी सत्ताके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इस प्रकार उसने बहुत-सा प्रदेश यूनानियोके आधिपत्यसे स्वतन्त्र कर लिया और ई० पू० ३२३ के लगभग चाणक्यके निर्देशनमे अपना एक छोटा-सा राज्य मगधसाम्राज्यकी सीमापर स्थापित कर लिया।

ई० पू० ३२१ के लगभग चन्द्रगुप्त और चाणक्यने एक छोटी-सी सेनाके साथ छद्मवेषमे पाटलिपुत्र पहुँचकर राजधानीपर आक्रमण कर दिया, किन्तु चाणक्यके कूट-कौशलके बावजूद भी नन्दकी असीम सैन्य शक्तिके सम्मुख ये बुरी तरह हारे और प्राण बचाकर भाग निकले। नन्दकी सेनाने इनका दूर तक पीछा किया। दो बार ये पकड़े जानेसे बाल-बाल बचे। चाणक्यकी तुरतबुद्धि और चन्द्रगुप्तके साहस एवं गुरुके प्रति पूर्ण विश्वासने ही इनकी रक्षा की। इस भाग-दौड़मे एक बार चन्द्रगुप्त भूखसे मरणासन्न हो गया था, उस अवसरपर भी चाणक्यने उसकी रक्षा की। एक दिन एक वृद्धाके झोपड़ेके बाहर खड़े हुए इन्होने उक्त वृद्धाको अपनी सन्तानको डाँटनेके मिस यह कहते सुना कि चाणक्य अधीर एवं

मूर्ख है, उसने सीमा प्रान्तोंको हस्तगत किये बिना ही एकदम साम्राज्यके केन्द्रपर धावा बोलकर भारी भूल की है। चाणक्यको अपनी भूल मालूम हो गयी और उन दोनोंने अब नवीन उत्साह एवं कौशलसे तैयारी प्रारम्भ कर दी। विन्ध्यअटवीमें पूर्वसंचित किये हुए विपुल धनकी सहायतासे उन्होंने सुदृढ़ एवं विशाल सैन्यसंग्रह करना शुरू किया और पश्चिमोत्तर प्रदेशके यवन, काम्बोज, पारसीक, खस, पुलात, शबर आदि म्लेच्छ जातियों-की एक बलवान् सेना तैयार की। बाह्लीक उनके अधीन थे ही। पजाबके मल्लि या मालव गणतन्त्रको भी उन्होंने अपना सहायक बनाया और हिम-वतकूट अर्थात् गोकर्ण (नैपाल) के किरातवंशके ग्यारहवें राजा पंचम उपनाम पर्वत या पर्वतेश्वरको विजित साम्राज्यका आधा भाग दे देनेका लोभ देकर अपना सहयोगी बनाया, और फिर मगध साम्राज्यके सीमावर्ती प्रदेशोंको जीतना शुरू किया। एकके पश्चात् एक नगर, ग्राम, दुर्ग और गढ़ छल-बल-कौशलसे जैसे भी बना अपने हाथमें करते चले गये। विजित प्रदेशोंको सुसंगठित एवं अनुशासित करते हुए तथा अपनी शक्तिमें उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए वे राजधानी तक पहुंच गये और उन्होंने उसका घेरा डाल दिया।

पर्वतकी दुस्साहसपूर्ण बर्बर युद्धप्रियता, चन्द्रगुप्तकी अद्भुत सैन्य-संचालन शक्ति एवं रणकौशल और चाणक्यकी कूटनीति—तीनोंका संयोग था। पाटलिपुत्रपर भीषण आक्रमण हुए तथा उसके अन्दर फूट और षड्यन्त्र रचाये गये। नन्द भी वीरतासे लड़े, धननन्द आदि समस्त नन्द-कुमार लड़ते-लड़ते वीरगतिको प्राप्त हुए। अन्ततः वृद्ध राजा महापद्मने भी कोई आशा न देखकर धर्मद्वार नामक प्रमुख नगरद्वारके निकट हथियार डाल दिये और आत्मसमर्पण कर दिया। उसने चाणक्यको धर्मकी दुहाई देकर सुरक्षित चला जानेकी याचना की। चाणक्यकी अभीष्ट सिद्धि हो चुकी थी, अतएव उसने नन्दराजको सपरिवार नगर एवं राज्यका त्याग करके अन्यत्र चले जानेकी उदारतापूर्वक अनुमति दे दी और यह भी कह

दिया कि अपने साथ रथमे जितना धन वह ले जा सके वह भी ले जाये। अस्तु, वृद्ध नन्दने अपनी दो पत्नियो तथा एक पुत्रीके साथ कुछ धन लेकर और रथमे सवार हो नगरका परित्याग किया। जाते हुए मार्गमे नन्दकन्या दुर्धरा अपरनाम सुप्रभाने विजयी शत्रु सैन्यके नायक वीर चन्द्रगुप्तके सुदर्शन रूपको जो देखा तो प्रथम दृष्टिमे ही उसपर मोहित हो गयी। इधर चन्द्रगुप्तकी भी वही दशा हुई। इन दोनोकी दशाको लक्ष्य करके नन्द एवं चाणक्य दोनोने ही उन्हे विवाह करनेकी अनुमति दे दी। सुप्रभा पिताके रथसे कूदकर चन्द्रगुप्तके रथपर आ चढी। किन्तु इस रथपर उसके पग धरते ही उसके पहियेके नौ आरे तडातड टूट गये। सबने समझा यह अपशकुन है किन्तु चाणक्यने समझाया कि यह शुभ शकुन है, इसका अर्थ है कि चन्द्रगुप्तका वंश उसके बाद नौ पीढी तक और चलेगा।

अब चन्द्रगुप्त मौर्य नन्दराजकुमारी सुप्रभाको अग्रमहिषी बनाकर मगधके राज्यसिंहासनपर आरूढ हुआ और नन्दके धन-जनपूर्ण शक्तिशाली साम्राज्यका अधिपति हुआ। नन्दवंशका पतन और इस प्रकार लगभग चार वर्षके युद्धो एवं प्रयत्नोके बाद पाटलिपुत्रमे मौर्यवंशकी स्थापना ई० पू० ३१७ मे हुई। चन्द्रगुप्तको सम्राट् घोषित करनेके पूर्व चाणक्यने नन्दके स्वामिभक्त मन्त्री राक्षसके षड्यन्त्रोको विफल किया और उसे चन्द्रगुप्तकी सेवा करनेके लिए राजी कर लिया। उसने किरातराज पर्वतको भी राक्षस-द्वारा चन्द्रगुप्तकी हत्या करनेके लिए भेजी गयी विषकन्याके प्रयोगसे मरवा डाला और चन्द्रगुप्तका मार्ग निष्कण्टक कर दिया। अन्य पुराने मन्त्रियो, राजपुरुषो आदिको भी उसने चन्द्रगुप्तके पक्षमे कर लिया। वह स्वय सम्राट्का प्रधान मन्त्री एवं अमात्य रहा। चाणक्यके सहयोगसे सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यने साम्राज्यका सगठन एवं शासनकी अत्यन्त सुचारु व्यवस्था की। साम्राज्यका विस्तार, शक्ति और समृद्धि उसके शासनकालमे उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती गयी। ई० पू० ३१२ मे उसने अवन्तिको विजय करके उज्जैनीको फिरसे साम्राज्यकी

उप-राजधानी बनाया। ई० पू० ३१७ में मगधमें नन्दोंका पतन होनेपर भी उज्जैनीमे नन्दोंके कुछ वंशज या सम्बन्धी स्वतन्त्र बने रहे प्रतीत होते है। यही कारण है कि कुछ जैन अनुश्रुतियोंमें नन्दवंशका अन्त म० सं० २१० (ई० पू० ३१७) मे और कुछमे म० सं० २१५ (ई० पू० ३१२) मे कथन किया गया है।

उज्जैनीको अधिकारमे करनेके उपरान्त उसने दक्षिण देशकी दिग्विजय करनेके लिए यात्रा की। सुराष्ट्रके मार्गसे उसने महाराष्ट्रमे प्रवेश किया। सुराष्ट्रमे गिरिनगरके नेमिनाथकी वन्दना की और उक्त पर्वतकी तलहटीमें सुदर्शन झील नामक विशाल सरोवरका निर्माण अपने राज्यपाल वैश्य पुष्यगुप्तकी देख-रेखमे कराया। इसीके तटपर निर्ग्रन्थ मुनियोके निवासके लिए चन्द्रगुफा आदि गुफाएँ बनवायी। महाराष्ट्र, कोकण, कर्णाटक तथा तमिल देश पर्यन्त प्रायः समस्त दक्षिण भारतपर उसने अपना आधिपत्य स्थापित किया। प्राचीन तमिल साहित्य, अनुश्रुतियों एवं कतिपय शिलालेखोसे मौर्योका दक्षिण देशपर अधिकार होना पाया जाता है। दक्षिणकी इस विजयमे एक और भी प्रेरक कारण था। चन्द्रगुप्तका पितृकुल मोरिय आचार्य भद्रबाहु श्रुतिकेवलीका भक्त था। द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षके समय इन आचार्यके ससघ दक्षिण देशको विहार कर जानेपर भी वे लोग उन्हीकी परम्पराके अनुयायी रहे और मगधमे रह जानेवाले साधुओ तथा उनकी परम्पराको उन्होने मान्य नही किया। भद्रबाहुकी शिष्य-परम्परामे जो आचार्य इस बीचमे हुए वे दक्षिण देशमे ही रहे अतः उनसे उत्तर भारतके निवासियोका कोई सम्पर्क नही हुआ परन्तु वे, यथा चन्द्रगुप्त, चाणक्य आदि, अपने-आपको आचार्य भद्रबाहुका ही अनुयायी कहते एवं मानते रहे। अतएव अपने परम्परागुरु आचार्य भद्रबाहुने कर्णाटक देशके जिस कटवप्र या कुमारी पर्वतपर तपस्या की थी और समाधिमरणपूर्वक शरीर त्याग किया था तीर्थरूपमे उसकी वन्दना करना तथा उनकी शिष्य-परम्पराके मुनियोंसे

धर्मलाभ लेना और उनकी सुविधा आदिकी व्यवस्था करना भी ऐसे कारण थे जो सम्राट्‌की दक्षिण यात्रामे प्रेरक रहे प्रतीत होते है।

चन्द्रगुप्त मौर्यके शासनकालकी एक अति महत्त्वपूर्ण घटना मध्य-एशियाके यूनानी सम्राट् सिल्युकस निकेतरका भारतपर आक्रमण तथा चन्द्रगुप्त-द्वारा उसकी पराजय है। सिल्युकस सिकन्दरका विश्वासपात्र सेनानी एवं कृपापात्र था। उसकी मृत्युके उपरान्त यूनानी साम्राज्यका जो बँटवारा हुआ उसमे समस्त मध्य एवं पूर्व एशियाई भाग, जिसमे भारतका विजित अंश भी सम्मिलित था, सिल्युकसके हिस्सेमें आया था। प्रारम्भमे वह आन्तरिक विद्रोहो आदिके कारण अपनी स्थिति न सँभाल सका। ई० पू० ३१७ मे जब मगधमे राज्यक्रान्ति हुई उस समय सिल्युकसकी स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। किन्तु शनैः-शनैः उसने अपनी स्थिति सँभाल ली और ई० पू० ३१२–१० तक वह इतना शक्तिशाली हो गया कि सिकन्दरके अन्य सब उत्तराधिकारी उसके सम्मुख दब गये। अब वह दिग्विजयका स्वप्न देखने लगा और सिकन्दरसे भी जो न हो सका उसे करने अर्थात् भारतवर्षको विजय करनेकी उसे तीव्र अभिलाषा हुई। नन्द वंशके अन्तका समाचार सुनकर उसका साहस बढ गया था। पश्चिमोत्तर प्रान्त व काबुल और गान्धार तो उसके राज्यमे थे ही; किन्तु पंजाब और सिन्धपर उसका अधिकार शिथिल था, उसे दृढ करते हुए मौर्य साम्राज्यपर आक्रमण कर देना उसका लक्ष्य था। एक भारी सेना लेकर ई० पू० ३०५ मे उसने भारतमे प्रवेश किया। किन्तु चन्द्रगुप्त और उसके चाणक्य-जैसे मन्त्री असावधान नही थे। तुरन्त आगे बढकर मौर्य सेनाने आक्रमणकारीकी गतिको रोका। स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्तने सैन्य-संचालन किया। वह यूनानियोकी युद्ध-प्रणालीसे पूर्णतया परिचित था, उनके गुणोको भी जानता था और दोषोको भी। भीषण युद्ध हुआ और अन्तमे यूनानी सेना बुरी तरह पराजित हुई, स्वय सिल्युकस बन्दी हुआ। उसने याचना करके चन्द्रगुप्तसे सन्धि कर ली और समस्त पंजाब और सिन्धको ही नही

अफ़ग़ानिस्तान और कन्दहारको भी खाली करके मौर्य सम्राट्को समर्पण कर दिया। जो चार प्रान्त सिल्युकसने चन्द्रगुप्तको इस प्रकार दिये उनके नाम परोपनिसडाइ, अरिया, अर्खोशिया और गदरोशिया (काबुल, हिरात, कन्दहार और बलूचिस्तान) थे। इसके अतिरिक्त कम्बोज (बदख्शाँ) और पामीर भी मौर्य सम्राट्के अधीन हुए। सिल्युकसने अपनी पुत्री हेलेनका विवाह भी मौर्य नरेशके (या उसके युवराजके साथ) कर दिया। चन्द्रगुप्तने भी मैत्रीके चिह्न स्वरूप उसे पाँच सौ हाथी भेंट किये। इस प्रकार अपनी वीरता और पराक्रमसे चन्द्रगुप्तने अपनी स्वभावसिद्ध प्राकृतिक सीमाओंसे बद्ध प्रायः सम्पूर्ण भारतपर अपना एकच्छत्र आधिपत्य स्थापित कर लिया। इतनी पूर्णताके साथ समग्र भारतवर्षपर सम्भवतया आज तक अन्य किसी सम्राट्का, अँगरेज़ोंका भी, अधिकार नहीं हुआ।

इसी युद्धके परिणामस्वरूप सिल्युकसका मेगेस्थनीज नामक एक यूनानी राजदूत ई० पू० ३०३ में पाटलिपुत्रके दरबारमें आया, कुछ दिन यहाँ रहा और उसने राजा, उसकी दिनचर्या, राजधानी, शासनव्यवस्था, लोकदशा, रीति-रिवाजों आदिका वर्णन किया जो कि भारतके तत्कालीन इतिहासका सर्वाधिक मूल्यवान् साधन बना। दुर्भाग्यसे मेगेस्थनीज़के वृत्तान्त मूलतः नष्ट हो गये, किन्तु उसके दो-तीन सौ वर्ष बाद जिन यूनानी इतिहासकारोंने भारतके सिकन्दर सेल्युकसकालीन इतिहास लिखे उन्हें वह प्राप्त थे, उन्हींके आधारपर और बहुधा उनके उद्धरणोंसहित ये इतिहास लिखे गये हैं अतः मेगेस्थनीजकी साक्षी बहुत-कुछ अंशोंमें आधुनिक इतिहासकारोंको भी प्राप्त हो गयी। मेगेस्थनीजने भारतवर्षके भूगोल, जातियों, प्राचीन अनुश्रुतियों, रीति-रिवाजों, जनताके उच्च चरित्र एवं ईमानदारी, राजधानीकी सुन्दरता एवं सुदृढ़ता, सम्राट्के चरित्र एवं दिनचर्या, उसकी न्यायप्रियता, राजनैतिक पटुता एवं शासन-कुशलता, विपुल चतुरंगिणी सैन्यशक्ति जिसमें चार लाख वीर सैनिक, नौ हजार हाथी तथा अनेक अश्व, रथ आदि थे और जिसका अनुशासन आदर्श था, प्रजाके

दार्शनिक या पण्डित, कृपक, शिल्पी, व्यवसायी एवं व्यापारी, व्याध एवं पशुपालक, सिपाही, राज्यकर्मचारी, गुप्तचर व निरीक्षक, मन्त्री एवं अमात्य आदि सात वर्गोंका, सेनाके विभिन्न विभागोंका, नागरिक शासनके लिए छह समितियोंका, विभिन्न प्रकारके गुप्तचरों, आदि अनेक उपयोगी बातोंका वर्णन किया है। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ था कि भारतवर्पमे दासप्रथाका सर्वथा अभाव है। उसने यह भी लिखा है कि भारतीयोंमे लेखन-कलाका विशेष प्रचार नहीं है और वे अपने धर्मशास्त्रों, अनुश्रुतियों तथा अन्य बातोंके लिए अधिकाशत' मौखिक परम्परा एवं स्मृतिपर ही निर्भर रहते हैं।

मेगेस्थनीजके वृत्तान्त, कौटिल्यके अर्थशास्त्र, अशोक व सम्प्रति आदिके शिलालेखों तथा जैनाजैन भारतीय अनुश्रुतियोंसे चन्द्रगुप्त और चाणक्य-द्वारा स्थापित एवं संचालित मौर्य साम्राज्यकी उत्तम शासन-व्यवस्थाका बहुत-कुछ ज्ञान हो जाता है। प्रजाकी जन्म-मृत्यु गणनाका ब्यौरा रखना, विदेशियोंके गमनागमनकी सूचनाएँ प्राप्त करना, नाप-तौल एवं बाजारका नियन्त्रण, अतिथिशाला, धर्मशालाएँ, राजपथ आदि सभी बातोंकी व्यवस्था थी। देशका देशी एवं विदेशी व्यापार बहुत उन्नत था, अनेक प्रकारके उद्योग-धन्धे यहाँ होते थे और राजा-प्रजा दोनों ही अत्यन्त धन-वैभव सम्पन्न थे। विद्वानोंका राज्यमे आदर था। स्वयं सम्राट् श्रमणों एवं ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करके या उनके पास जाकर आवश्यक परामर्श लेता था। कौटिल्यके अर्थशास्त्रमे सम्पूर्ण भारतके रूपमे चक्रवर्ती क्षेत्रकी जो परिभाषा है वही समुद्रसे समुद्र पर्यन्त सम्पूर्ण क्षेत्र मौर्य सम्राट्के अधीन था। विजित, अन्त और अपरान्तके भेदसे यह क्षेत्र तीन विभागोंमे विभक्त था। सीधे केन्द्रीय शासनके अन्तर्गत जो क्षेत्र था वह विजित कहलाता था और अनेक चक्रोंमे विभाजित था। त्रिरत्न, चैत्य एवं दीक्षा वृक्ष आदि जैन धार्मिक प्रतीकोंसे युक्त सिक्के भी इस सम्राट्के प्राप्त हुए हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य धर्मात्मा भी था और साधुओंका विशेष रूपसे आदर

करता था। जैन अनुश्रुतियोमे ब्राह्मण साहित्यकी भाँति उसे वृषल या शूद्र नही वरन् शुद्ध क्षत्रियकुलोत्पन्न कहा गया है। अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ति'मे उसे उन मुकुटबद्ध माण्डलिक सम्राटोमे अन्तिम कहा गया है जिन्होंने जिनदीक्षा लेकर अन्तिम जीवन जैन मुनिके रूपमे व्यतीत किया था। वह आचार्य भद्रबाहुकी परम्पराका अनुयायी था और उनका ही पदानुसरण करनेका इच्छुक था। अत: ई० पू० २९८ मे लगभग २५ वर्ष राज्य करनेके उपरान्त अपने पुत्र बिन्दुसारको राज्य देकर वह मुनि हो गया और दक्षिणकी ओर चला गया। सम्भवतया सुराष्ट्रके गिरिनगरकी जिस गुफामे उसने कुछ दिन निवास किया था उसे चन्द्रगुफा कहा जाने लगा। वहाँसे वह कर्णाटक देशके श्रवणबेलगोल स्थानमे पहुँचा। इसी स्थानपर भद्रबाहु श्रुतकेवलीने देह त्याग किया था। अत: इस स्थानके एक पर्वतपर चन्द्रगुप्त मुनिने भी तपस्या की और ई० पू० २९० के लगभग सल्लेखनापूर्वक देह त्याग किया। उनकी स्मृतिमे उसी समयसे वह पर्वत चन्द्रगिरि नामसे प्रसिद्ध हुआ। उसके ऊपर जिस गुफा (चन्द्रगुप्त बसति) मे उन्होंने समाधिमरण किया था उसमे उनके चरण-चिह्न बने हुए है। वहाँ लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष प्राचीन कई एक शिलालेख भी अंकित है जो इस सम्राट्के जीवनको उक्त महान् अन्तिम घटनाका उल्लेख करते है। इस नरेशके समयमे भारतवर्ष प्रथम बार अपनी राजनैतिक पूर्णता एवं साम्राज्यिक एकताको प्राप्त हुआ और मगध साम्राज्य अपने चरमोत्कर्षपर पहुँचा था।

चन्द्रगुप्तके पश्चात् नन्दसुता सुप्रभासे उत्पन्न उसका पुत्र बिन्दुसार अमित्रघात (यूनानी लेखकोका अमिट्रोचेटिस) सिहासनारूढ हुआ। ई० पू० २९८–२७३ पर्यन्त लगभग २५ वर्ष उसने राज्य किया। अपने पिता और माताके समान वह भी जैनधर्मावलम्बी रहा प्रतीत होता है। वह अपने प्रतापी पिताका योग्य उत्तराधिकारी था और उसके राज्यकालमे साम्राज्यका विस्तार, शक्ति, समृद्धि एवं प्रताप पूर्ववत् ही बने

रहे। प्रारम्भमे महामन्त्री चाणक्य ही उसके भी पथप्रदर्शक रहे। ये इस समय पर्याप्त वृद्ध हो चुके थे और राज्य-कार्यसे विरत होकर आत्मकल्याण करनेके इच्छुक थे। किन्तु महाराज चन्द्रगुप्तके अत्यन्त आग्रहसे उसके पुत्रकी देख-रेख करनेके लिए कुछ दिन और ठहर गये। विन्दुसार युवक था, चाणक्यका आदर तो करता था किन्तु उनके प्रभावसे असन्तुष्ट था। राज्यकार्यमे तो वे अब कोई सक्रिय भाग नही लेते थे परन्तु उनके अधिकार अभी भी सब पूर्ववत् थे। युवक सम्राट्का यह असन्तोष चाणक्यसे छिपा न रहा अतः ई० पू० २९५ के लगभग वे संसारका त्याग करके मुनि हो गये। भगवती-आराधना आदि अत्यन्त प्राचीन जैन ग्रन्थोमे मुनीश्वर चाणक्यके दुर्द्धर तपस्या करने और घोर उपसर्ग सहते हुए सल्लेखना पूर्वक देह त्याग करनेके उल्लेख मिलते है।

चाणक्यका निजी धर्म जो भी रहा हो एक शासक, मन्त्री एवं राजनीतिज्ञके रूपमे उनकी नीति एवं व्यवहार सर्वथा धर्मनिरपेक्ष थे। साम्राज्यको उन्नति और प्रजाका मंगल जैसे बने वैसे करना उसका ध्येय था। एक राजपुरुप एवं गृहस्थ संसारीके रूपमे उनका समस्त लोक-व्यवहार व्यावहारिक, नीतिपूर्ण एवं सर्वथा असाम्प्रदायिक था, किन्तु अन्त समयमे एक साधुके रूपमे वे पक्के जैन थे। उनके प्रसिद्ध अर्थशास्त्रके जो भी उपलब्ध संस्करण प्राप्त है उनके आधारपर उनके स्वयके धर्मका निर्णय करनेमे भूल होनेकी सम्भावना है। प्रथम तो वह एक लौकिक शास्त्र है, दूसरे मूल रूपमे उपलब्ध नही है, जो है वह न जाने उनके कितना पीछेका, क्षेपकपूर्ण एवं विकृत संस्करण है, तीसरे जो उपलब्ध है उसमे भी जैनधर्म और जैनोका उल्लेख है, उनके प्रति विरोध या विद्वेप कही प्रदर्शित नही होता और न्यायसम्पन्न वैभवकी प्राप्तिके उपाय आदि अनेक प्रकरणोमे जैनधर्मका प्रभाव प्रत्यक्ष लक्षित होता है। कौटिल्य–चाणक्यका यह अर्थशास्त्र निस्सन्देह भारतीय राजनीतिका सर्व-महान् एवं सर्वप्राचीन उपलब्ध एवं ज्ञात आर्प ग्रन्थ है। लगभग ५० वर्प

पूर्व डॉ० आर० शामा शास्त्रीको उसकी एकमात्र प्रति प्राप्त हुई थी, तदुपरान्त ही विद्वानोंने उसके सम्बन्धमे विशेष ऊहापोह प्रारम्भ की और उक्त प्रतिके आधारपर उसके मूलका समय ईसवी सन्‌की दूसरी-तीसरी शती निर्धारित किया। स्पष्ट है कि वह चाणक्यका मूल अर्थ-शास्त्र न था।

लगभग ८२ वर्षकी आयुमे ई० पू० २९३ के लगभग महामति चाणक्य-की मृत्यु हुई। बिन्दुसार अब स्वच्छन्द था किन्तु चन्द्रगुप्त और चाणक्यके अभिभावकत्वमे जिसकी शिक्षा-दीक्षा हुई हो वह निकम्मा या अशक्त शासक नही हो सकता था। उसका शासनकाल शान्तिपूर्ण एवं सुव्यवस्थित रहा। मध्यएशियाके भारतीय-यूनानी सम्राटोसे भी उसके राजनैतिक आदान-प्रदान हुए। मिस्र, सीरिया आदिके यूनानी नरेशोसे उसने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखे। सिल्युकसके उत्तराधिकारी अन्तियोकस सोतरने उसकी राजसभामे डेइमेकस नामक यूनानी राजदूत भेजा था। मिस्र देशके राजा टालेमोने भी डायनिसयो नामक दूत भेजा था। इन राजाओने उसके साथ नानाविध उपहार एवं भेंटोका भी आदान-प्रदान किया। उसने यूनानी दार्शनिकोको भारत आनेका निमन्त्रण दिया था।

चन्द्रगुप्तने दक्षिणकी विजय की थी किन्तु उसे सुसंगठित और स्थायी करनेका अवसर उसे नही मिला था। बिन्दुसारने भी दक्षिण यात्रा की। अपने कुल-गुरु भद्रबाहुके समाधिस्थान तथा अपने पिता मुनि चन्द्रगुप्तके दर्शन करने या सम्भव है उनकी मृत्युके उपरान्त उनकी तपोभूमि एवं समाधिका दर्शन करनेके लिए दक्षिण देशकी यात्रा करने जाना उसके व्यक्तिगत उद्देश्य थे, और विजित प्रदेशोपर मौर्य आधिपत्य स्थायी करना तथा पहली विजयसे छूट गये देशोको भी विजय करके सागरसे सागर पर्यन्त सम्पूर्ण दक्षिणपर अधिकार करना उसके राजनैतिक लक्ष्य थे। और इन दोनोमे ही वह सफल हुआ। भद्रबाहु एवं चन्द्रगुप्तकी तपोभूमि श्रवणबेल्गोलमे उसने कई एक जैन मन्दिर आदि भी निर्माण कराये बताये जाते है।

तिब्बती इतिहासकार तारानाथके अनुसारने बिन्दुसार सोलह राजधानियो एवं उनके मन्त्रियोका उच्छेद किया था। उसका साम्राज्य सम्पूर्ण भारत-वर्षपर निष्कण्टक था। चाणक्यके उपरान्त उसका प्रधान अमात्य राधागुप्त था जो बहुत कुशल और योग्य था। वह भी, चाणक्यका ही शिष्य था।

बिन्दुसारके अन्तिम दिनोमे तक्षशिलामे विद्रोह हुआ। उसने अपने पुत्र राजकुमार अशोकको उसका दमन करनेके लिए भेजा। अशोकके पहुँचते ही समस्त नागरिकोने आगे बढकर उसका स्वागत किया और आत्म-समर्पण कर दिया। उन्होंने कहा कि उन्हे न समाट्से कोई विरोध हे और न राज-कुमारसे किन्तु तक्षशिलाका जो तत्कालीन शासक है उसके अत्याचारसे वे विद्रोही हो उठे है। राजकुमारने सहानुभूतिपूर्वक उनकी बात सुनी, उस शासकको उचित दण्ड दिया और अपने चातुर्यसे सहज ही विद्रोह शान्त कर दिया। ई० पू० २७३ के लगभग सम्राट् बिन्दुसार अमित्रघात-की मृत्यु हुई। बौद्धग्रन्थ दिव्यावदानमे इस प्रतापी सम्राट्को क्षत्रियमूर्धा-भिषिक्त कहा है।

बिन्दुसारके उपरान्त उसका पुत्र अशोक मौर्यसाम्राज्यका अधिपति हुआ। आधुनिक इतिहासकारोके अनुसार उसकी गणना भारतवर्षके ही नही, संसारके सर्वमहान् सम्राटोमे है। यह भी आमतौरसे माना जाता है कि वह बौद्धधर्मका अनुयायी था। बौद्ध साहित्य और अनुश्रुतियोमे इस नरेशसे सम्बन्धित अनेक कथाएँ मिलती है जिनमे-से अधिकाशको अतिरंजित या कपोलकल्पित माना जाता है। ब्राह्मण अनुश्रुति उसके सम्बन्धमे प्राय: मौन है। जैन अनुश्रुतियोमे अवश्य कुछ विवरण मिलते है किन्तु उनसे बौद्ध अनुश्रुतियोका बहुत कम समर्थन होता है। अशोकके सम्बन्धमें सबसे बडा ऐतिहासिक आधार वे शिलालेख है जो उसके नामसे प्रसिद्ध हो रहे है। इन अभिलेखोमे आठ विभिन्न स्थानोमे बृहद् शिलाखण्डोपर उत्कीर्ण १४ प्रज्ञापन है जो सर्वत्र प्राय. समान है, सात प्रधान स्तम्भ लेख है, दो लघु शिलालेख है, दो लेख कलिगाभिलेखोके नामसे प्रसिद्ध है, पाँच

लघुस्तम्भलेख है और तीन गुहाभिलेख है। गत लगभग सौ वर्षोंमे इन विभिन्न शिलालेखोके ऊपर पाश्चात्य एव पौर्वात्य प्राच्यविदो तथा इतिहासकारोने बहुत-कुछ ऊहापोह किया है और उसके आधारपर सम्राट् अशोकके चरित्र, व्यक्तित्व, विचारो, धर्म, राज्यकाल एवं शासन व्यवस्था आदिका निर्माण और उसकी महत्ताका मूल्याकन किया है। किन्तु इन शिलालेखोमे-से सिवाय एक मास्की शिलालेखको छोडकर अन्यत्र कही स्वयं अशोकका नामोल्लेख नही मिलता। केवल 'देवानाप्रिय' या 'प्रियदर्शी' या 'देवानाप्रियस्य प्रियदर्शिन् राजा' आदि पद ही उसके सूचक मिलते है। जिस शिलालेखमे, सो भी केवल एक ही बार, उसके मूल नामका उल्लेख है भी वह सम्बन्ध कारक (अशोकस्स रूप) मे है और उसके आगे कुछ स्थान त्रुटित है जो पढ़ा नही जाता। ऐसे भी कई विद्वान् है जो इन सब शिलालेखोको केवल अशोक-द्वारा ही लिखाये गये नही मानते बल्कि उनमे-से कुछका श्रेय उसके उत्तराधिकारी सम्प्रतिको देते है।

शिलालेखोसे अशोकको बौद्ध धर्मका सर्वमहान् प्रतिपालक एवं भक्त चित्रित करनेवाली बौद्ध अनुश्रुतियोंका भी विशेष समर्थन नही होता। वस्तुतः शिलालेखोके आधारपर अशोकके धर्मको लेकर विद्वानोमे सर्वाधिक मतभेद है। कुछ विद्वानोके अनुसार वह बौद्ध था और बौद्ध धर्मका प्रचार करनेके उद्देश्यसे ही उसने ये लेख लिखवाये थे। कुछ अन्य विद्वानोके अनुसार इन लेखोंके भाव और विचार बौद्धधर्मकी अपेक्षा जैनधर्मके अधिक निकट है, उसका कुल-धर्म भी जैन था अतः वह भी यदि पूरे जीवन भर नही तो कमसे कम उसके पूर्वार्धमे अवश्य जैन था। ऐसे भी विद्वान् है, और उन्हींकी बहुलता होती जाती है, जो यह मानते है कि वह न मुख्यत. बौद्ध था न जैन वरन् एक नीतिपरायण महान् प्रजापालक सम्राट् था जिसने अपनी प्रजाका नैतिक उत्कर्ष करनेके हेतु अपना एक नवीन समन्वयात्मक, असाम्प्रदायिक एवं व्यावहारिक धर्म लोकके सम्मुख प्रस्तुत किया था।

इनमे-से एक शिलालेखमे सीरियाके अन्तियोक थियो द्वितीय (ई० पू० २६१–२४६) जो सिल्युकसका पोता था, मिस्रके तालेमी फिलेडेलफस (ई० पू० २८५–२४७), उत्तरी अफ्रीकामे किरीनके मगस (ई० पू० २९५–२५८), मकदूनियाके अन्तिगोनस (ई० पू० २७७–२३९) और एपिरसके अलिकसुन्दर (ई० पू० २७७–२५५) आदि पश्चिमी यूनानी नरेशोका नामोल्लेख किया गया है जिससे उसका स्वयंका समय भी प्राय: निश्चित हो जाता है। अन्य अनेक राजनैतिक एवं प्रशासकीय तथ्य, राजाके लोककल्याणकारी कार्य तथा लोकदशा सूचक ज्ञातव्य भी इन शिलालेखोमे प्राप्त होते है।

अस्तु, उपरोक्त शिलालेखोमे-से बहुभागका कर्त्ता अशोकको मानते हुए और उनसे प्राप्त तथ्योका जैन एवं बौद्ध अनुश्रुतियो तथा आधुनिक विद्वानोके मतोके साथ समन्वय करते हुए इस नरेशके सम्बन्धमे जो आवश्यक सूचनाएँ प्रकाशमे आती है उनसे पता चलता है कि उसका नाम अशोक, श्री अशोक, चण्डाशोक, अशोकचन्द्र या अशोकवर्धन था। देवानांप्रिय या प्रियदर्शी उसकी उपाधियाँ थी। बिन्दुसार आदि उसके पूर्वजोने तथा अन्य भी कई एक भारतीय नरेशोने ये उपाधियाँ धारण की प्रतीत होती है। अपने पिताके शासन कालमे वह उज्जैनीका शासक रहा था और उसी समय निकटस्थ विदिशाके एक जैनधर्मानुयायी श्रेष्ठीकी कन्यासे उसने विवाह किया था जिससे कुणाल नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था। बिन्दुसारके अन्तिम दिनोमे अशोकने तक्षशिलाके भयंकर विद्रोहका भी दमन किया था और उस प्रदेशका शासन-भार भी सँभाला था। इन्ही कारणोसे वह बिन्दुसारके सुसीम, सुमन आदि कई पुत्रोमे सर्वाधिक योग्य समझा था अत: ज्येष्ठ पुत्र न होते हुए भी पिताने उसे ही युवराज बनाया और उत्तराधिकार सौपा। बिन्दुसारकी मृत्युके उपरान्त इन अन्य भाइयोने विद्रोह किया किन्तु अशोकने दृढताके साथ उनका दमन किया। मन्त्रीवर्ग और जनता भी उसके अनुकूल थी अत. वही सम्राट् बना। फिर भी

बिन्दुसारकी मृत्यु (ई० पू० २७४—७३) के तीन-चार वर्ष बाद ही वह अपना राज्याभिषेक करानेमे समर्थ हुआ। उसके एक शिलालेखमे २५६ संख्याका उल्लेख है जिसके विद्वानोने अनेक अर्थ किये है। ऐसा मानने-वालोकी भी कमी नही है कि यह संख्या संवत् सूचक है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संख्या-द्वारा उसने अपने राज्यारोहणकी तिथि उस समयमे प्रचलित महावीर संवत्मे ही दी है जिसके अनुसार वह ई० पू० २७१—७० मे पड़ती है। बौद्ध कथाओका तो कहना है कि उसने अपने ९९ भाइयोकी हत्या करके अपना चण्ड-अशोक नाम सार्थक किया था और राज्य प्राप्त किया था। किन्तु यह कथन अतिशयोक्ति पूर्ण ही नही प्रायः असत्य समझा जाता है। इसमे सन्देह नही कि प्रारम्भमे वह उग्र प्रकृतिका दृढ निश्चयी एवं कठोर शासक था। अपने स्वयंके भाइयोंका तथा अन्य विरोधियोका उसने दृढ़तासे दमन किया था, किन्तु तथोक्त कत्लेआम नही।

उसने कुशलता और कठोरतासे शासन किया, अपने शासनाधिका-रियो एवं अधीन राजाओंपर पूरा नियन्त्रण रखा, जिसने सिर उठाया उसे ही कुचल दिया। कलिग देशकी विजय नन्दिवर्धनने ई० पू० ४२४मे की थी, तभीसे वह राज्य मगधके अधीन रहता आया था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि नन्दराज्यक्रान्तिके समय मगधमे आन्तरिक कलहको देखकर कलिगके राजे स्वतन्त्र हो गये। सम्भवतः चन्द्रगुप्त और बिन्दु-सारके शासनकालोमे उन्होने खुले रूपमे सिर नही उठाया, किन्तु बिन्दु-सारकी मृत्युके उपरान्त होनेवाले गृह-युद्धका लाभ उठाकर उन्होंने मगधके विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता खुल्लम-खुल्ला घोषित कर दी। अतः ई० पू० २६२ के लगभग अपने राज्यके ८वें वर्षमे एक भारी सेना लेकर अशोकने कलिगपर आक्रमण कर दिया। भीषण युद्ध हुआ जिसमे लाखो व्यक्ति मृत्युके घाट उतर गये। सर्वत्र प्रचण्ड अशोक महान्का दबदबा बैठ गया, अब भविष्यमे पचासो वर्षो पर्यन्त कही कोई मौर्य सम्राट्के विरुद्ध सिर उठानेका साहस नही कर सकता था। किन्तु साथ ही इस भयंकर

नर-संहारको देखकर दयामूलक जैन धर्मके संस्कारोमे पले मौर्य अशोककी आत्मा तिलमिला उठी। उसने प्रतिज्ञा कर ली कि भविष्यमे वह युद्धोसे सर्वथा विरत रहेगा। उनकी अब आवश्यकता भी न थी। सम्पूर्ण भारत-वर्षपर ही नही उसके वाहर सीमान्त प्रदेशोपर भी उसका निष्कण्टक एकाधिपत्य था।

शासन-व्यवस्था सुचारु थी, साम्राज्यमे सर्वत्र शान्ति और समृद्धि थी अत. अव सम्राट्ने अपना ध्यान शान्तिपूर्ण कार्योंकी ओर दिया। मनुष्यो और पशुओके लिए चिकित्सालय खुलवाये, पुराने राजपथोंकी मरम्मत और नयोका निर्माण कराया, सडकोंके किनारे वृक्ष लगवाये, विश्राम-शालाएँ वनवायी, इत्यादि अनेक लोकोपकारी कार्य उसने किये। उसने जनताके नैतिक चरित्रको उन्नत करनेका भी प्रयत्न किया और उनमे असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति पैदा करनेके लिए एक ऐसे राष्ट्र-धर्मका प्रचार किया जो व्यावहारिक एवं सर्वग्राह्य था। उसने श्रमणो और ब्राह्मणो दोनो ही वर्गोंके विद्वानोका आदर किया, उनसे विचार-विमर्श किया और उनका सत्संग किया। उसने धर्मयात्राओ और धर्मोत्सवोको भी योजना की। साम्राज्यके विभिन्न स्थानोकी उसने यात्रा की और जैन, वौद्ध और सम्भवतया ब्राह्मण परम्पराके भी तीर्थो एवं दर्शनीय स्थानोंको देखा। विभिन्न धर्मो एवं सम्प्रदायोसे सम्बन्धित संस्थाओ, आश्रमो, मठो और सघोका भी निरीक्षण किया। जिसमे जहाँ जो सुधारकी आवश्यकता देखी उसे प्रेरणा-द्वारा अथवा कानून-द्वारा करानेका प्रयत्न किया। जीवदया और व्यावहारिक अहिंसाको उसने अपना मूलमन्त्र बनाया और अपने धर्मका जनतामे प्रचार करनेके लिए प्रसिद्ध-प्रसिद्ध तीर्थ स्थानो एवं केन्द्रोमे उसने अपनी प्रज्ञप्तियाँ शिलाखण्डो एवं स्तम्भोपर उत्कीर्ण करवायी। ये अभिलेख उसने ई० पू० २५५ के उपरान्त भिन्न-भिन्न समयोमे लिखवाये प्रतीत होते है। उसने मक्खलिगोशालके सम्प्रदायके आजीवक साधुओके लिए भी गयाके निकट 'बराबर' नामक पहाड़ियोपर गुफाएँ वनवायी थी।

गिरिनगरकी तलहटीमे अपने पितामह चन्द्रगुप्त-द्वारा बनवाये गये सुदर्शन तालका भी अपने यवन अधिकारी तुहपास्फकी देख-रेखमे उसने जीर्णोद्धार कराया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि कलिग युद्धके आस-पास अशोकने एक बौद्ध सुन्दरीके साथ जिसका नाम सम्भवतया तिष्यरक्षिता था, विवाह कर लिया था। वह स्वयं इस समय अधेड वयका था। इस बौद्ध रानीके प्रभावमे वह कुछ अधिक आया और उसको प्रसन्न करनेके लिए सम्भवत: बौद्ध धर्ममे भी कुछ विशेष दिलचस्पी लेने लगा जिसके कारण बौद्ध लोग यह समझने लगे कि वह बौद्ध धर्मका अनुयायी हो गया। सम्प्रतिकथा आदि कथाओसे पता चलता है कि उसका ज्येष्ठ पुत्र युवराज कुणाल बहुत ही सुन्दर था और उसकी आँखें कुणाल पक्षीके समान अत्यधिक आकर्षक थी। उसकी विमाता तिष्यरक्षिता उसपर मोहित हो गयी किन्तु राजकुमार सदाचारी था अत: रानी अपनी कुचेष्टाओमे विफल हुई। प्रतिहिसासे दग्ध रानीने षड्यन्त्र करके सम्राटकी मुद्रासे अंकित एक आज्ञा भिजवाकर कुणालको अन्धा करवा दिया। कुणाल कुशल सगीतज्ञ भी था अत: वह भिखारीके वेषमे राजधानीमे आया और समाट्के महलके नीचे गाने लगा। गीतके मिस उसने अपना परिचय और स्वयंपर किये गये अत्याचारका भी संकेत किया। सम्राट्ने उसे पहचानकर तुरत बुलाया, सब हाल जानकर तिष्य-रक्षिताको जीते जी जलवा दिया, उसके साथियो एवं सहयोगियोको भी कठोर दण्ड दिया, उसे स्वयं बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसने कुणालके नवजात शिशु सम्प्रतिको अपना उत्तराधिकारी घोपित कर दिया।

इसी समयके लगभग पाटलिपुत्रमे मौग्गलायन तिस्सकी अध्यक्षतामे तीसरा बौद्ध सम्मेलन एवं त्रिपिटककी संगीति हुई। सम्मेलनके नेताओने यह निर्णय किया कि बौद्ध धर्मका प्रचार करनेके लिए बौद्ध भिक्षुओको विदेशोमे जाना चाहिए। अत: बर्मा, तिब्बत, मध्यएशिया, लंका आदिमे बौद्ध प्रचारक गये। लंका (सिहल) मे उस समय विजयवंशी नरेश

देवानांप्रिय तिष्य राज्य करता था। वह सम्राट् अशोकके साथ भेंट आदिके आदान-प्रदान-द्वारा मैत्री सम्बन्ध बनाये हुए था। उसने मगधसे आये हुए बौद्ध प्रचारकोका जिनके नेता स्वयं सम्राट्के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा थे, सादर स्वागत किया। महेन्द्र और संघमित्रा सम्भवतया अशोकके उसकी बौद्ध पत्नीसे उत्पन्न पुत्र-पुत्री थे। इसी समयसे विदेशोमे बौद्ध धर्मका प्रचार प्रारम्भ हुआ। सम्राट्को स्वयं इस प्रचारमे कोई आपत्ति न थी, वरन् इसके बहाने भारतीय सस्कृतिका विदेशोमे प्रसार होनेकी भावनासे उसने उसमे यथावश्यक सहयोग और सहायता भी दी प्रतीत होती है। किन्तु बौद्ध साहित्यमे जो उसे एक कट्टर बौद्ध चित्रित किया गया है और उसके द्वारा ८४००० स्तूप निर्माण कराये जाने आदिका वर्णन है वह अतिशयोक्ति पूर्ण है। अशोकके समय तक बुद्ध जन्मस्थान-पर राज्य-कर लगा हुआ था जिसे उस सहिष्णु नरेशने माफ कर दिया। सारनाथ आदिके बौद्ध विहारोके साधुओका उसने अनुशासन किया। ये बाते उसे बौद्ध नही बताती वरन् उसकी समदर्शिताकी सूचक है।

वस्तुत अशोक सम्बन्धी बौद्ध कथानकोको विन्सेण्ट स्मिथ-जैसे इतिहास-कार शेखचिल्लीकी कहानियोसे अधिक महत्त्व नही देते। डॉ० भण्डारकर भी उनमे ऐतिहासिक सत्य नहीके बराबर मानते है। प्रो० कर्न आदि विद्वानोका भी ऐसा ही मत है। अन्य अनेक विद्वान् अशोकके बौद्ध धर्मी होनेकी बात अस्वीकार करते है और कथन करते है कि उसके शिला-लेखोमे कोई ऐसी बात नही है जिसका बौद्धधर्मके साथ विशेष रूपसे सम्बन्ध हो, वरन् उन प्रज्ञप्तियोका भाव जैनधर्मकी मान्यताओके साथ अधिक सादृश्य रखता है। प्रो० राइस और डॉ० थामस प्रभृति विद्वान् तो कमसे कम उसके जीवनके पूर्वार्धमे उसका निश्चयसे जैन होना सिद्ध करते है। उसने पशुवधका निवारण करने और मासाहारका निषेध करनेके लिए कडे नियम बनाये थे। वर्षके जिन ५६ दिनोमे उसने जीव-हिसा सर्वथा एवं सर्वत्र बन्द रखनेकी राजाज्ञा जारी की थी वे दिन कौटिल्यके

अर्थशास्त्रमे दिये गये पवित्र दिनों एवं जैन परम्पराके पर्व दिनोसे प्रायः पूरी तरह मेल खाते है। शिलालेखोमे उसके द्वारा निर्ग्रन्थों (नग्न जैन मुनियों) का विशेप रूपसे आदर करनेके उल्लेख है। ये उल्लेख अल्प-संख्यक इस कारणसे है कि उत्तर भारतके मगध आदि देशोमे इन नग्न दिगम्बर मुनियोका विहार अशोकके समयमे अपेक्षाकृत विरल था, दक्षिण देशमे उनका बाहुल्य था। मगधका जो जैन संघ इस कालमे प्रबल होता जा रहा था वह स्थूलभद्रकी परम्पराका था और खण्डवस्त्रधारी हो चला था। सामान्य श्रमण शब्दसे सब प्रकारके जैन साधुओका बोध होता ही था। राजतरंगिणी एवं आइनेअकबरीके अनुसार अशोकने कश्मीरमे जैन धर्मका प्रवेश किया था और इस कार्यमे उसने अपने पिता बिन्दुसार तथा पितामह चन्द्रगुप्तका अनुकरण किया था। कश्मीरके श्रीनगरको बसानेका श्रेय भी अशोकको ही दिया जाता है। वह नैपाल भी गया था और वहाँ उसने ललितपट्टन नामक नगर बसाया था। उसकी पुत्री चारुमती एवं जामाता देवपाल वही जाकर बस गये। कर्णाटकके श्रवणबेलगोलमे उसने जैन मन्दिरोंका निर्माण कराया बताया जाता है। इस विषयमे अनेक विद्वानोको सन्देह नही है कि अशोक जैनधर्मके दयामूलक उपदेशोसे प्रभावित था। उसका कुल परम्परा धर्म जैनधर्म था ही। अपने जीवनके अन्तिम कुछ वर्षोंमे उसने राज्य कार्यसे विरत होकर एक त्यागी गृहस्थ या व्रती श्रावककी भाँति जीवन विताया प्रतीत होता है। इस कालमे उसकी दानशीलता अतिशयको पहुँच गयी बतायी जाती है जिसके कारण अमात्योने उसपर प्रतिबन्ध लगा दिये। राज्यकार्य कुणाल करता था। ई० पू० २३४ या २३२ मे लगभग ४० वर्ष राज्य करनेके उपरान्त अशोक-की मृत्यु हुई। कुछ लोग उसकी मृत्यु तक्षशिलामे हुई बताते है।

इसमे सन्देह नही कि सम्राट् अशोकका स्थान विश्वके सर्वमहान् नरेशोमे है। उसका साम्राज्य अतिविस्तृत एवं अत्यन्त समृद्ध, उसका शासन-काल सुख एवं शान्तिपूर्ण, उसका व्यक्तित्व महान् और उसकी प्रतिभा

एवं प्रताप अप्रतिम थे। वह सभी धर्मोका समान भावसे समादर करता था और एक नितान्त असाम्प्रदायिक किन्तु धर्मभाव पूर्ण, प्रजावत्सल लोकोपकारक नीतिमान नरेन्द्र था। सीरिया, मिस्र, यूनान, बर्मा, सिंहल आदि विदेशोंपर भी उसके आदर्शो एवं भारतीय सस्कृतिका प्रभाव पडा। मिस्रके टालेमीने अपना प्रसिद्ध पुस्तकालय स्थापित किया और वह भारतीय ग्रन्थोका अनुवाद करानेका इच्छुक था। श्रमणोके आदर्शपर अनेक साधु सम्प्रदाय भी पश्चिमी देशोमे प्रचलित हुए।

अशोककी मृत्युके उपरान्त उसका पुत्र कुणाल अपरनाम सुयश साम्राज्यका उत्तराधिकारी हुआ, किन्तु वह नेत्र-विहीन था अत' उसकी पत्नी कञ्चनमालासे उत्पन्न उसका पुत्र सम्प्रति प्रारम्भमे पिताके नामसे और कालान्तरमे स्वतन्त्र राज्य करने लगा। सम्राट् सम्प्रतिने उज्जैनीको अपनी प्रधान राजधानी बनाया और अशोकका एक अन्य पौत्र बन्धुपालित दशरथ मगधका शासक हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि वह नाम मात्रके लिए ही सम्प्रतिके अधीन था और इस समयसे मौर्यवंशकी दो शाखाएँ, एक जो प्रधान थी उज्जैनीमे और दूसरी मगधमे, एक दूसरेसे प्राय: स्वतन्त्र प्रारम्भ हुई। दशरथ आजीवक साधुओका विशेष भक्त था और उसने उनके लिए 'बराबर' नामक पर्वतपर कई गुफाएँ बनवायी जिनमे उसके शिलालेख मिले हैं।

सम्राट् सम्प्रति उपनाम इन्द्रपालित, संगत एवं विगताशोकने ई० पू० २३२ से १९०तक लगभग ४२ वर्ष राज्य किया। वह अपने पितामह अशोकके समान ही एक महान्, प्रजावत्सल, शान्तिप्रिय एवं प्रतापी सम्राट् था। जैनसंघकी मागधी शाखाके नेता आचार्य सुहस्ति उसके धर्मगुरु थे। उनके उपदेशसे सम्प्रतिने एक आदर्श जैन नरेशकी भाँति जीवन व्यतीत किया। जैन संघकी इस शाखाने भी अब मगधका परित्याग करके उज्जैनीको अपना प्रधान केन्द्र बनाया। सम्प्रतिने जैन धर्मकी प्रभावना एवं प्रचारके लिए अथक प्रयत्न किया। बौद्धजनश्रुतिमे बौद्धधर्मके लिए अशोकने जो कुछ किया बताया जाता

है जैन अनुश्रुतिके अनुसार सम्प्रतिने जैन धर्मके लिए उससे कुछ अधिक ही किया बताया जाता है। अनेक तीर्थोकी वन्दना, जीर्णोद्धार, अनगिनत नवीन जिनमन्दिरों एवं मूर्तियोंका विभिन्न स्थानोंमे निर्माण तथा प्रतिष्ठा, विदेशोमे जैन धर्मके प्रचारके लिए प्रचारक भेजना, धर्मोत्सवोंका मनाना, साम्राज्य-भरमे अहिंसा प्रधान जैनाचारका प्रसार करना इत्यादि अनेक कार्योंका श्रेय इस सम्राट्को दिया जाता है। विन्सेण्ट स्मिथके अनुसार उसने अरब और ईरानमे भी जैन संस्कृतिके केन्द्र स्थापित किये थे। प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकारके अनुसार "चाहे चन्द्रगुप्तके चाहे सम्प्रतिके समयमे जैन धर्मकी बुनियाद तमिल भारतके नये राज्योंमे भी जा जमी, इसमे सन्देह नही। उत्तर पश्चिमके अनार्य देशोमें भी सम्प्रतिके समयमे जैन प्रचारक भेजे गये और वहाँ जैन साधुओंके लिए अनेक विहार स्थापित किये गये। अशोक और सम्प्रति दोनोंके कार्यसे भारतीय संस्कृति एक विश्व संस्कृति बन गयी और आर्यावर्तका प्रभाव भारतकी सीमाओंके बाहर तक पहुँच गया।

अशोककी तरह उसके इस पोतेने भी अनेक इमारतें बनवायी। राजपूतानेकी कई जैन कलाकृतियाँ उसके समयकी कही जाती है। जैन लेखकोंके अनुसार सम्प्रति समूचे भारतका स्वामी था।" कई विद्वानोंका यह भी मत है कि अशोकके नामसे प्रचलित शिलालेखोंमे-से अनेक सम्प्रति-द्वारा उत्कीर्ण कराये गये हो सकते हैं। अशोकको अपने इस पौत्रसे अत्यधिक स्नेह था, इसी कारण उसने इसे अपना उत्तराधिकारी भी बनाया था। उनका कहना है कि अशोककी उपाधि देवानाप्रिय थी और सम्प्रतिको वह प्रियदर्शिन् कहता था अतः जिन शिलालेखोंमे 'देवाना प्रियस्य प्रियदर्शिन राजा'-द्वारा उनके लिखाये जानेका उल्लेख है वे सम्भवतया सम्प्रतिके हैं, विशेषकर उनमे-से भी वे शिलालेख जिनमे जीवहिंसा निषेध एवं धर्मोत्सवों आदिका वर्णन है।

जैन साहित्य, विशेषकर श्वेताम्बर परम्पराके ग्रन्थों यथा परिशिष्टपर्व, सम्प्रतिकथा, आदिमे सम्राट् सम्प्रतिके विषयमे बहुत-कुछ लिखा मिलता

है। इस नरेशके कई रानियाँ और पुत्र-पुत्रियाँ थी। बौद्ध अनुश्रुतियोंमे भी इस नरेशका उल्लेख मिलता है। प्रियदर्शी राजाके नामसे प्रचलित शिला-लेखोके आधारपर उनके कर्ता नरेशके द्वारा धर्मराज्यके सर्वोच्च आदर्शोके अनुसार एक सदाचारपूर्ण राज्य स्थापित करनेके प्रयत्नोके लिए उस राजाकी तुलना गौरवके सर्वोच्च शिखरको प्राप्त इजराइलके सम्राट् दाऊद एवं सुलेमानसे की जाती है, निजधर्मको इस प्रकारका प्रश्रय देनेके लिए जो उसे एक स्थानीय धर्मकी स्थितिसे उठाकर विश्वधर्म बननेमे सहायक हो उसकी तुलना ईसाई मतके लिए किये गये सम्राट् कान्स्टेण्टाइन-के प्रयत्नोसे की जाती है, अपनी दार्शनिकता एवं पवित्र विचारोके लिए वह रोमन सम्राट् मारकस ओरेलियसका स्मरण दिलाता है, अपने साम्राज्य विस्तार एव शासन प्रणालीमे वह शार्लमेन महान्के समकक्ष है, उसकी सीधी सरल पुनरावृत्तियोसे पूर्ण प्रस्तरांकित प्रज्ञप्तियोंमे क्रामवेलकी शैली ध्वनित होती है, अनेक बातोमे वह खलीफा उमर और मुगल सम्राट् अकबरके समान था। विश्वके सर्वकालीन महान् नरेशोकी कोटिमे इस प्रकार परिगणित यह भारतीय सम्राट्, चाहे वह अशोक हो या सम्प्रति अथवा दादा-पोते दोनो ही समान रूपसे हो, भारतीय इतिहासके गौरव है और रहेगे।

ई० पू० १९० के लगभग ६० वर्षकी आयुमे सम्प्रतिकी मृत्यु हुई। लगभग ४० वर्ष उसने स्वतन्त्र राज्य किया। उसमे उसके यौवराज्य कालको जो उसकी शैशवावस्थामे ही प्रारम्भ हो गया था, कमसे कम अशोकके अन्तिम वर्षोको जबसे कुणालके साथ-साथ वह राज्य-कार्य कर रहा था, सम्मिलित कर दिया जाये तो उसका राज्यकाल ५० वर्षके लगभग होता है जो जैन अनुश्रुतिसे समर्थित है। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ उसका राज्यकाल ५४ वर्ष बताता है।

सम्प्रतिके उपरान्त उसका पुत्र शालिशुक उज्जैनीके सिंहासनपर बैठा। वह भी अपने पिता एवं अन्य पूर्वजोकी भाँति जैन धर्मका अनुयायी

था। इसने भी दूर-दूर तक जैन धर्मका प्रचार किया बताया जाता है। इसने अल्पकाल ही राज्य किया। इसके उपरान्त वृषसेन, पुण्यधर्मन् आदि कुछ अन्य राजे हुए और उज्जैनीमें १४८ वर्षके उपरान्त ई० पू० १६४ में मौर्य वंशका अन्त हो गया।

मगधमें दशरथके पश्चात् देववर्मन्, सतधनुष और बृहद्रथ आदि राजे हुए। इनमें-से एक-आध राजा प्रजापीडक भी था। अन्तिम नरेश बृहद्रथकी उसके ब्राह्मण मन्त्री पुष्यमित्र शुंगने धोखेसे हत्या करके राज्यसिंहासन-पर अपना अधिकार कर लिया, और इस प्रकार मगधमें लगभग १३७ या १३३ वर्ष बाद ई० पू० १८४में मौर्य वंशका अन्त हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्प्रतिके शासन कालमें ही ई० पू० २०४के लगभग मौर्य साम्राज्यकी एकता भंग होने लगी थी और कमसे कम वे प्रदेश जिनपर मौर्यवंशके ही राजपुरुष प्रान्तीय शासक थे स्वतन्त्र होने लगे थे। यही कारण है कि कुछ जैन अनुश्रुतियोंमें मौर्यवंशका काल १०८ वर्ष भी दिया है। कश्मीरमें सम्प्रतिका भाई या चाचा जालक (जलौक) स्वतन्त्र हुआ, कुछके अनुसार वह जैनी था और कुछके अनुसार शैव। उसने म्लेच्छोंके, जो सम्भवतया यूनानी थे, आक्रमणसे देशको मुक्त किया बताया जाता है। कान्यकुब्ज पर्यन्त उसने अपने राज्यका विस्तार कर लिया था। गान्धारपर वीरसेनका राज्य था जिसका उत्तराधिकारी सुभगसेन था। इसने यूनानी नरेश अन्तियोक महान्के साथ पूर्ववर्ती मौर्यों की भाँति मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये थे। यूनानी यूथीडेमस और उसके उत्तराधिकारियोंने इस शाखाका अन्त किया। कुछ छोटे-छोटे मौर्य राजे मगध, पश्चिमी भारत, राजस्थान, खानदेश, कोंकण आदिके कुछ भागोंमें बहुत पीछे तक राज्य करते रहे। कलिंगमें चैत्र या चेदिवंशका उदय हो चुका था। दूसरी शती ई० पू० के पूर्वार्धमें कलिंग चक्रवर्ती सम्राट् खारवेलके कालमें उसका चरमोत्कर्ष हुआ। दक्षिणमें आन्ध्रवंशका उत्थान हुआ। इस प्रकार मौर्य वंशके साथ-ही-साथ मगध साम्राज्यका भी अवसान हो गया।

मगधमे ई० पू० १८४ तक लगभग ११२ वर्ष पर्यन्त शुंग वंशका शासन रहा किन्तु उज्जैनीपर उनका अधिकार ई० पू० १६४ से ७४ तक लगभग ९० वर्ष पर्यन्त ही रहा। इस वंशका सस्थापक पुष्यमित्र कट्टर ब्राह्मण था। उसने बौद्धो आदि श्रमणोपर बडे अत्याचार किये बताये जाते है। शुंगकाल ब्राह्मण-धर्म-पुनरुद्धार युग भी कहलाता है। पतंजलि ऋषि-द्वारा पाणिनिकी अष्टाध्यायीपर महाभाष्य और योगसूत्रोकी रचना इसी काल-मे शुंगोके आश्रयमे हुई। वाल्मीकि रामायणका रचना काल भी यही निर्धा-रित किया जाता है। इसी कालमे शिव और विष्णुकी पूजा तथा पौराणिक ब्राह्मण धर्मका विकास प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है। इस नरेशने अश्वमेधयज्ञ भी किया बताया जाता है किन्तु वह उसमे कितना सफल हुआ इस विषयमे मतभेद है। एक ओर यूथीडेमस (मृत्यु ई० पू० १९०) के पुत्र एवं उत्तराधिकारी यूनानी नरेश दिमित्रने आर्यावर्तपर आक्रमण किया और माध्यमिका एवं साकेत पर्यन्त प्रदेशको रौद डाला। दूसरी ओर कलिग नरेश खारवेलने मगधपर आक्रमण किया। वह शुंग नरेशके जैन विद्वेषसे क्षुब्ध था, उसका अश्वमेध करना भी उसे सह्य न था। अतः खारवेलने मगध नरेशको पराजित किया और नन्द कलिगकी विजय करके वहाँसे आदिजिनकी जिस प्रतिमाको पाटलिपुत्र ले आया था उसे वापस ले गया। उसने यूनानी दिमित्रको भी बुरी तरह पराजित किया और उसे मध्यदेशसे निकाल बाहर किया। सम्भवतया इन संकटोके कारण ही उज्जैनीके निकट विदिशामे शुंग वंशकी एक शाखा स्थापित हो गयी।

वृहस्पतिमित्र (ई०पू० १६४–१३४) उज्जैनी प्रदेशका इस वंशका प्रथम शासक था। उसके उपरान्त बलमित्र या वसुमित्र और भानुमित्रने ६० वर्ष (ई० पू० १३४–७४) पर्यन्त वहाँ राज्य किया। ये नरेश ब्राह्मण धर्मके ही अनुयायी एव पोषक थे। किन्तु उज्जैनी शाखाके शासक जैन-धर्मके प्रति सहिष्णु ही रहे प्रतीत होते है।

मगधमे भी ई० पू० ७३–७२ के लगभग अन्तिम शुग नरेशके ब्राह्मण

मन्त्री वसुदेव कन्वने अपने स्वामीका वध करके राज्य हस्तगत कर लिया। ४५ वर्ष तक (ई० पू० २८ तक) कण्व वंशका मगधपर अधिकार रहा। ये एक गौण स्थितिके राजे रहे।

शुंग वंशमे दस और कण्व वंशमे चार राजे हुए बताये जाते है। अपने मालविकाग्निमित्र नाटकमे महाकवि कालिदासने शुंगवंशी अग्निमित्रको अमर बना दिया है। शुंग-कण्वकालमे मगध हतप्रभ था और विदेशी यूनानी, पह्लव, शक आदिको भारतमे राज्य स्थापन करनेका अवसर मिल गया। डेढ़ सौ वर्षके इस युगकी सबसे बड़ी देन यही है कि वर्तमान हिन्दूधर्मकी रूप-रेखा इसी कालमे बनी, मनुस्मृति, रामायण, महाभारत तथा पुराणोका संकलन प्रारम्भ हुआ और हिन्दुओंकी धार्मिक अनुश्रुति एवं प्राचीन रचनाएँ लिपिबद्ध होने लगी तथा नवीन साहित्य रचा जाने लगा। श्रमण संस्कृति तथा उसके जैन, बौद्धादि धर्मोके साथ समन्वय करके हिन्दूधर्म एक नवीन रूपमे उदय हुआ। देवी-देवताओंकी भक्ति एवं उपासना, मूर्तिपूजा, जीव दया आदि इसके प्रधान अंग थे। मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोके द्वारा सामाजिक जीवनका नियमन करना भी इस युगके ब्राह्मण सुधारकोने आरम्भ किया। इस ब्राह्मण पुनरुद्धार आन्दोलनके परिणाम-स्वरूप मगध एवं मध्यदेशमे बौद्ध और जैनधर्म भी शक्तिहीन एवं अवनत होते चले गये। जैनधर्मके तो सुदृढ केन्द्र कर्णाटक, मध्यभारत, सौराष्ट्र, कलिंग, मथुरा आदिमे स्थापित हो चुके थे और वह वहाँ फलताफूलता सप्राण बना रहा, किन्तु बौद्ध धर्मको विदेशोका तथा यवन, शक, कुषाण, हूण आदि विदेशी शासको और उनके द्वारा शासित प्रदेशोका ही प्रधान आश्रय रह गया।

अध्याय ४

प्राचीन युग—तृतीय पाद

उत्तर भारत (ई० पू० २००–ई० सन् ३००)

मौर्य साम्राज्यके पतनके साथ-ही-साथ, विशेषकर शुंग-कण्व युगमे, तीन साम्राज्य शक्तियाँ एक साथ उदयमें आयी यथा पूर्व-दक्षिणमे कलिंगका चैत्र (चेति) वंश, उत्तरी दक्षिणापथमे आन्ध्रजातिका सातवाहन वंश और उत्तर-पश्चिममे यवन, शक-पह्लव, कुषाण आदि विदेशी जातियाँ। इनके अतिरिक्त सुदूर दक्षिणमे चोल, पाण्ड्य, केरल, सत्यपुत्र आदि छोटे-छोटे राज्य थे और पूर्वी भारत एवं मध्यदेशमे शुंग, कण्व वंशोके अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे-छोटे राज्य तथा गणतन्त्र थे। ये गणतन्त्र यौधेय, अर्जुनायन, उदुम्बर, कुलूत, कुनिन्द आदि थे। पंजाब-सिन्धके प्रसिद्ध मालव एवं आग्रेयगण वहाँसे विस्थापित होकर राजस्थानकी ओर चले आये थे। मालव लोग तो शीघ्र ही राजस्थानसे भी आगे बढ़कर मध्यभारतके उज्जैनी प्रदेशमे जम गये और फलस्वरूप वह प्रदेश मालवा कहलाने लगा। आग्रेयगणकी राजनीतिक शक्ति क्षीण हो चली और इसके सदस्य अधिकतर व्यापार एवं व्यवसायोमे संलग्न होते चले गये।

उपरोक्त तीन साम्राज्य शक्तियोमे-से कलिंगके चैत्र वंशका चरम उत्कर्ष जैन सम्राट् महामेघवाहन खारवेलके समयमे ई० पू० २००–१५०के लगभग रहा। कलिंगकी उदयगिरि-खण्डगिरि पहाड़ियोपर हाथीगुम्फा आदि-के शिलालेखो एवं अन्य पुरातात्त्विक अवशेषोसे इस सम्राट्के क्रियाकलापोका पता चलता है, जिनका विशेष विवरण सातवे अध्यायमे दिया जायेगा।

आन्ध्र-सातवाहन—दूसरी शक्ति आन्ध्र जातिके सातवाहन वंशकी थी। आन्ध्रोंका सर्वप्रथम उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मणमें मिलता है। वहाँ इनकी गणना पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मुतिब आदि जाति-बाह्य नीच व्यक्तियो या दस्युओमे की गयी है और इन्हे अनार्य कहा गया है। किन्तु प्रथम शती ई० का रोमन इतिहासकार प्लिनि आन्ध्रोंका एक शक्तिशाली जातिके रूपमे उल्लेख करता है जिसका विस्तृत साम्राज्य दक्षिणापथपर था और जिसके पास एक लाख पैदल, दो हजार अश्वारोही और एक हजार हाथियोंकी भारी सेना थी। प्रतिष्ठानपुर या पैठन इनकी राजधानी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि शुंगकालके प्रारम्भमे ही प्रियदर्शीके शिलालेखोमे उल्लिखित दक्षिण देशवासी भोजक, पैठिनिक, रट्ठिक, पुलन्दि आदि जातियाँ आन्ध्र जातिके सातवाहन कुलकी अधीनतामे संगठित हो गयी थी। ये सातवाहन ब्राह्मण एवं नाग रक्तमिश्रणसे उत्पन्न हुए थे यद्यपि वे अपने-आपको ब्राह्मण ही कहते थे और अपने लिए 'एक ब्राह्मण', 'खत्तियदपमानमदन' आदि विशेषण प्रयुक्त करते थे। मत्स्यपुराणमें इस कुलमे ३० राजा हुए बताये है जिन्होने ४६० वर्ष राज्य किया। अन्य पुराणोमे १७, १८ या १९ राजा तथा उनका राज्यकाल ३०० वर्ष बताया है। सिमुक इस वंशका प्रथम राजा बताया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरी शती ई० पू० के अन्तके लगभग सिमुकने पैठनमे अपना राज्य स्थापित कर लिया था। सम्प्रतिकी मृत्युके उपरान्त इस राज्यकी शक्ति बढने लगी। जैन अनुश्रुतिके अनुसार सिमुकने २३ वर्ष राज्य किया किन्तु अपने अन्तिम वर्षोमे वह दुष्ट और दुराचारी हो गया था जिसके कारण उसे गद्दीसे उतारकर उसका वध कर दिया गया और उसका भाई कन्ह राजा हुआ। उसने नासिक पर्यन्त अपने राज्यका विस्तार कर लिया। तीसरा राजा शातकर्णी प्रथम बहुत महत्त्वाकांक्षी था, नानाघाटपर उसने अपनी मूर्ति स्थापित की थी, पश्चिमी मालवाकी विजय कर ली थी और शुंगोंसे युद्ध किया था। उसने राजसूय और अश्वमेध यज्ञ भी किये थे।

कलिंग-चक्रवर्ती खारवेलने उसे पराजित करके उसकी महत्त्वाकांक्षामे बाधा दी और उसके 'दक्षिणापथप्रभु' एवं 'अप्रतिहतरथ' आदि विरुदोको व्यर्थ किया। उसकी विधवा पत्नी नागनिका[1]-द्वारा लिखाये गये शिलालेख-से उसके राज्यकालका कुछ पता चलता है। छठा राजा शातकर्णी द्वितीय था जिसने ५६ वर्ष राज्य किया बताया जाता है। उसने कण्व वंशका अन्त कर दिया और पूर्वी मालवा अर्थात् विदिशा प्रान्तको विजय कर लिया। सातवाँ राजा सुप्रसिद्ध सतसईका रचयिता हाल या शालिवाहन था। उसके समयसे शक-क्षहरात भूमक, नहपान आदि सातवाहनोके प्रतिद्वन्द्वी हुए और उन्होने सातवाहन शक्तिके बढ़नेमे बाधा दी। हालका समय २०-२४ ई० के लगभग समझा जाता है। हालके बाद चार-पाँच अल्पकालीन निर्बल राजे हुए और फिर गौतमीपुत्र शातकर्णी गद्दीपर बैठा। यह इस वंशका सर्वाधिक प्रतापी नरेश था। शक-क्षहरात नहपान उसका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था। गौतमीपुत्रने उसे बुरी तरह पराजित किया। किन्तु नह-पानके उपरान्त उसके भृत्यो यशोमतिक और चष्टनने सौराष्ट्रके क्षत्रप वंश-की नीव डाली और सातवाहनोके साथ युद्ध जारी रखा। सातवाहनों और क्षत्रपोका यह प्रतिद्वन्द्व लगभग एक सौ वर्ष पर्यन्त चला जिसके फलस्वरूप पहले सातवाहन वंश और फिर क्षत्रप वंश, दोनों ही समाप्त हो गये। गौतमीपुत्रका समय प्रथम शताब्दी ई०का उत्तरार्ध है। उसकी मृत्युके उपरान्त उसका पुत्र श्री पुलुमयी राजा हुआ जिसके राज्यके १९वें वर्षमे उसकी पितामही गौतमी बलश्रीने नासिकमे एक वृहत् शिलालेख लिखवाया था। यह लेख गौतमीपुत्र शातकर्णीकी प्रशस्ति कहलाता है और इसमें उसे शक-पह्लव-यवनोंका संहारकर्त्ता बताया गया है एवं उसके प्रताप और विजयोका उल्लेख किया गया है। पुलुमयीके समयमे भद्रचष्टन वंशी क्षत्रपोने

---

१. कुछ विद्वान् नागनिकाके लेखकी तिथि प्रथम शती ई० पू० का उत्तरार्ध निश्चित करते हैं। उस अवस्थामें वह शातकर्णी द्वितीयकी पत्नी होगी।

मालवा एवं पश्चिमी राजस्थानपर भी अधिकार कर लिया था। उसके उत्तराधिकारी शातकर्णी तृतीयके साथ क्षत्रप रुद्रदामन्‌की कन्याका विवाह हुआ था, किन्तु क्षत्रप-सातवाहन संघर्षका अन्त नही हुआ। अन्तिम नरेशोमे यज्ञश्री शातकर्णी अधिक प्रसिद्ध है। उसके चाँदीके सिक्के प्राप्त हुए हैं जिनमे क्षत्रपोंका अनुकरण पाया जाता है। इस वंशका अन्तिम ज्ञात नरेश श्री पुलुमयी द्वितीय था। तीसरी शती ई० के प्रारम्भके लगभग इस सातवाहन वंशका अन्त हो गया। इसके अनेक महारथी पदवीधारी सरदार, जो अधिकांशतः नागजातीय थे और मूलतः आन्ध्रोंके सेवक होनेसे आन्ध्रभृत्य भी कहलाते थे, दक्षिण एवं मध्य भारतके विभिन्न भागोंमे स्वतन्त्र हो गये।

पैठनके ये सातवाहन राजे अधिकांशतः ब्राह्मण धर्मानुयायी थे किन्तु वे अन्य धर्मोके प्रति भी सहिष्णु थे। प्राचीन जैन साहित्यमे सातवाहन राजाओंके अनेक उल्लेख मिलते है और उनमे-से कई एकका जैन होना भी सूचित होता है। किन्तु क्योकि यह उल्लेख 'पैठनका शालिवाहन राजा' करके ही प्रायः पाये जाते है अतः ऐतिहासिक नाम-सूचीमे उन्हे चीन्हना दुष्कर है। इन जैनराजाओमे सतसईके रचयिता हालके होनेकी सम्भावना है। यह प्रसिद्ध ग्रन्थ महाराष्ट्री प्राकृतमे आर्याछन्दोंमे लिखा गया है और जैन विचारोका प्रभाव उसपर लक्षित होता है। सातवाहन राज्यमे प्राकृत भाषाका ही प्रचार था। ये राजा स्वयं तो विद्वान् या विशेष विद्यारसिक नही थे किन्तु विद्वानोका आदर करते थे। जैनाचार्य शर्ववर्म-द्वारा कातन्त्र व्याकरणकी रचना तथा एक अन्य जैनाचार्य काणभिक्षु या काणभूति-द्वारा प्राकृतके मूल कथा-ग्रन्थकी रचना और उसके आधारपर गुणाढ्यकी बृहत्कथाकी रचना इन्हीके प्रश्रयमे हुई प्रतीत होती है। इनके राज्यमे जैन मुनियोका स्वच्छन्द विहार था। इन्हीके कालमे जैनसंघ दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदायोमे विभक्त हुआ और इनका राज्य उन दोनों सम्प्रदायोके साधुओंका सन्धिस्थल था। दिगम्बर परम्पराके जैन आगमोंका सर्वप्रथम

संकलन एवं लिपिबद्धीकरण भी इन्हीके कालमे और सम्भवतया इन्हीके राज्यमे हुआ था।

पश्चिमोत्तर प्रदेशके विदेशी शासक—(१) यूनानी या यवन—सिकन्दरकी मृत्युके उपरान्त मध्यएशियामे उसके सेनापति सिल्युकसने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था जिसकी सीमाएँ भारतवर्षको स्पर्श करती थी। सिल्युकसके वंशने लगभग १०० वर्ष राज्य किया। मौर्य सम्राटोके भयसे इन्होने भारतमे प्रवेश करनेका साहस नहीं किया, वरन् उनसे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध ही रखे। यूनानियोंकी कुछ छोटी-मोटी बस्तियाँ भारतवर्षमे अवश्य बन गयी। अशोकके समयमे सिल्युकस वंशका सम्राट् अन्तियोक द्वितीय राज्य कर रहा था। जब वह मिस्रके राजाके साथ प्रतिद्वन्द्वितामे फँसा था तो अवसर देख उसके बैक्ट्रिया प्रान्तका शासक दियोदोतस स्वतन्त्र हो गया और इस प्रकार इन्डो-बैक्ट्रियन वंशका प्रारम्भ हुआ। ई० पू० २०७ के लगभग उसके उत्तराधिकारी यूथीडेमसके साथ सम्राट् अन्तियोक तृतीयने सन्धि कर ली और अपनी कन्या यूथीडेमसके पुत्र डिमिट्रियस (दिमित्र) के साथ ब्याह दी तथा बैक्ट्रियाकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। काबुल घाटीमे इस समय सुभगसेनका शासन था जो सम्भवतया एक मौर्यवंशी राजकुमार था। लगभग ई० पू० १९० मे दिमित्र बैक्ट्रियाका शासक हुआ। भारतवर्षमे यवन शक्तिके विस्तारका श्रेय उसे ही दिया जाता है। उसने भारतपर आक्रमण किया। मथुरा और पाचालके राजे उसके साथी बन गये। यह संयुक्त सैन्यदल साकेतको रौंदता हुआ कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) तक जा पहुँचा। किन्तु सम्भवतया सम्राट् खारवेलके प्रत्याक्रमणकी सूचना पाकर इन आक्रान्ताओमे परस्पर फूट पड़ गयी और वे राजधानीकी पूर्ण विजय किये बिना ही वापस लौट पड़े। मगध एवं मध्यदेशसे तो मथुरा पर्यन्त खारवेलने यूनानी दिमित्रको निकाल बाहर किया, किन्तु पंजाब तक उसका अधिकार बना ही रहा। सागल (स्यालकोट) को, जिसका नाम अपने पिताकी स्मृतिमे

उसने यूथीडेमिया रखा था, उसने अपनी भारतीय राजधानी बनाया। इस युनानी आक्रमणके परिणामस्वरूप पतनोन्मुख मौर्य सत्ता मृतप्राय हो गयी। बृहद्रथ मौर्यके ब्राह्मण मन्त्री पुष्यमित्र शुंगने सम्भवतया इसी स्वर्ण अवसरका लाभ उठाया और अपने स्वामीकी हत्या करके वह स्वयं मगध राज्यका स्वामी बन बैठा। दिमित्रके वापस चले जानेपर उसका वायसराय मिनेण्डर (मिलिन्द) जो सम्भवतया उसका उत्तराधिकारी भी हुआ, ई० पू० १६०–१४० तक सागलमे शासन करता रहा। यह शासक जैन और बौद्धोके सम्पर्कमे आया और उनका भक्त हुआ। बौद्धाचार्य नागसेनका उसपर विशेष प्रभाव था। मिलिन्दपञ्हो (मिलिन्दके प्रश्न) नामक ग्रन्थका नायक यही यवनराज बताया जाता है। इस ग्रन्थमे जैनों और उनके सिद्धान्तोंका भी उल्लेख है और इस धर्मके विषयमे राजा तथा उसके साथी अन्य यूनानियोंकी जिज्ञासा प्रकट होती है।

बैक्ट्रियाके यूनानियोंका राज्य तो प्रथम शताब्दी ई० पू० के प्रारम्भके लगभग समाप्त हो गया किन्तु अनेक यूनानी भारतमे बस गये। उन्होंने जैन, बौद्ध, भागवत आदि भारतीय धर्मोको अपना लिया और शनैः-शनैः वे भारतीय जनतामे ही समा गये। विदिशाके राजा भगदत्तके दरबारमे हिलियोदर नामक यूनानी राजदूत आया था और उसने वहाँ गरुड़ध्वज बनवाया था जिसपर अंकित लेखसे उसका भागवत धर्मानुयायी होना सूचित होता है। मिनेण्डर सम्भवतया बौद्ध धर्मानुयायी हो गया था। इसी कालके एक यूनानी इतिहासकार ट्रोगसने अपने एक पूर्ववर्ती लेखकका और प्रमाण रूपमे उसके लेखोंका उल्लेख किया है। प्रो० टार्न आदि विद्वानोका मत है कि ये यूनानी इतिहासकार भारतवर्षमें रहे और वहाँ जैनोके विशेष सम्पर्कमे आये प्रतीत होते हैं क्योंकि उनके लेखोंसे पता चलता है कि वे जैनोसे, उनके आचार-विचारोंसे और उनकी ऐतिहासिक अनुश्रुतियोसे भली-भाँति परिचित थे और उन्हे ही उन्होंने अपना आधार बनाया था। सम्भव है कि इन भारतीय यवनोंमे-से अनेक जैन साधुओंसे

प्रभावित होकर जैन धर्मके अनुयायी भी हुए हों। यूनानी लेखक हिरोदोतसको उत्तरी अफ्रीकाके इथियोपियामे जैन साधु विचरते मिले थे। एक श्रमणाचार्य (जैन साधु) प्रथम शती ई० मे भड़ौचसे यात्रा करके रोम (या एथेन्स) भी पहुँचे थे। वहाँ उनकी समाधि विद्यमान रही बतायी जाती है।

(२) इण्डोपार्थियन या पह्लव—बैक्ट्रियाकी भाँति पार्थिया भी, जिसके अन्तर्गत बहुभाग ईरान था और जिसकी राजधानी सम्भवतया क़न्दहार थी, सिल्युकसवंशी यूनानियोंके साम्राज्यका एक प्रान्त था। बैक्ट्रियाके ही प्रायः साथ-साथ यह भी स्वतन्त्र हो गया था किन्तु प्रारम्भमे बैक्ट्रियासे दबा रहा। इसका राजवंश पह्लव जातिका था। दिमित्र और मिलिन्दके समय पार्थियाका राजा मिथ्रेडेटस प्रथम (ई० पू० १७१–१३६) था। दिमित्र जब भारतकी विजयमे संलग्न था तब यह राजा स्वतन्त्र हो गया था। शनैः-शनैः इसने अपनी शक्ति बढ़ा ली और ई० पू० १३८ के लगभग सिन्धु-व्यासके बीच सम्पूर्ण तक्षशिला प्रदेशपर उसने अधिकार कर लिया। इसके उत्तराधिकारी मिथ्रेडेटस द्वि० (ई० पू० १२३–८८) के समयमे शकोंका आक्रमण हुआ। पहले वे हारे और पार्थियनोके अधीन हो गये, किन्तु शीघ्र ही फिर स्वतन्त्र होकर भारतके पश्चिमोत्तर प्रदेशपर छा गये और उन्होने पार्थियन सत्ताको दबा दिया। ई० पू० प्रथम शताब्दीमे वोनोन नामके दो पार्थियन राजा हुए। कुछके अनुसार अजेस, एजिलिस आदि राजे भी पार्थियन ही थे। इस वंशके अन्तिम नरेशोमे सर्वप्रसिद्ध गोण्डोफरनिस (बिन्दुफ़र्न) है जिसने सन् १९–४५ ई० पर्यन्त राज्य किया। इसके कुछ अभिलेख और सिक्के भी मिले हैं। इसीके समय सेण्ट थामस नामक पादरी भारतमे आया और उसने दक्षिण-भारतमे सर्वप्रथम ईसाई मतका प्रचार किया, ऐसी भी एक अनुश्रुति है। पार्थियन जातिके अनेक व्यक्ति भी यूनानियोंकी भाँति ही उत्तरीभारतके विभिन्न स्थानोमे बस गये थे। विशेषकर मथुरावासी पार्थियनोके विषयमे डॉ० लूडरका कथन है कि क्षत्रपकालमे वे वहाँ आकर बसे थे और जैन-

धर्ममे दीक्षित हो गये थे यद्यपि अपनी जन्मभूमिके बहुत-से संस्कार उन्होंने बनाये रखे।

(३) इण्डोसीथियन या शक—चीनी आधारोंसे पता चलता है कि ई० पू० १७५–१६५ के लगभग बर्बर हूणोंका उत्थान हुआ जिन्होंने पश्चिमी चीनसे यू-ची लोगोको खदेड़ बाहर किया। यह यू-ची या तुखारी लोग पश्चिमकी ओर बढ़ गये और सीर नदीके तटपर उन्हे उन्ही-जैसी एक अन्य भ्रमणकारी जाति मिली जो शक थी। तुरुष्कोने शकोंको उनकी जन्मभूमिसे खदेड़ा अतः वे भारतके सीमान्त प्रदेशोकी ओर बढ आये और यवनों एवं पह्लवोंके राज्योंके विभिन्न प्रान्तोंपर टूट पड़े। मिथ्रेडेटस द्वि० (ई० पू० १२३–८८) ने उनको पराजित करके अपने अधीन कर लिया, किन्तु प्रथम शती ई० पू० के प्रारम्भमे (ई० पू० ८५–७५ के लगभग) वे बोलनकी घाटी और बिलोचिस्तानके मार्गसे भारतमे घुस आये और समस्त सिन्धु घाटीपर छा गये। पुष्कलावतीको उन्होने अपनी प्रधान राजधानी बनाया। अपने मूलस्थान सीथिया (शकस्थान) की स्मृतिमे उन्होंने अपने इस नवीन वासस्थानका नाम भी इण्डोसीथिया (शकस्थान या शककुल) रखा। इनका सबसे बड़ा सरदार शाहानुशाही कहलाता था और उसके अधीन अनेक शाही (शक सरदार) थे। ई० पू० ७० के लगभग आचार्य कालक द्वितीय उज्जैनके दुराचारी राजा गर्दभिल्लके अत्याचारोंसे पीड़ित हो और अन्य सब उपायोसे हारकर इन शकशाहियोके पास सिन्धुवर्ती शकस्थानमे पहुँचा। वहाँ एक शाहीका अतिथि हुआ। कालकके ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान और बुद्धिमत्तासे शाही बहुत प्रभावित हुआ। उसी समय वृद्ध शाहानुशाहीका एक दूत एक छुरा और कटोरा लेकर शाहीके पास आया जिसे देखते ही वह थर-थर काँपने लगा। कालकके पूछनेपर शाहीने कहा कि उसका स्वामी उससे नाराज हो गया है और इन वस्तुओंको भेजनेका अर्थ है कि वह अपना सिर उस छुरेसे काटकर उसी कटोरेमे रखकर शाहानुशाहीके पास भेज दे अन्यथा उसका सकुटुम्ब

अन्त करा दिया जायेगा। यह भी मालूम हुआ कि ९५ अन्य साहियोंके पास भी वैसा ही भयंकर सन्देशा आया था। कालकने अवसर देख उन ९६ शाहियोंको एकत्र किया और उनसे कहा कि यदि वे उसकी बात मानकर मालवेपर आक्रमण करें और दुष्ट गर्दभिल्लका दमन करें तो उन्हें बहुत-सा धन एवं नवीन प्रदेश मिल जायेगा और शाहानुशाहीके भयसे भी वे मुक्त हो जायेंगे। अतएव वे सब शाही कालकके साथ चल पड़े और सौराष्ट्रके मार्गसे मालवामें प्रविष्ट हुए। मार्गमें कालकने अन्य कई राजाओंको भी सहायतार्थ साथ ले लिया। ई० पू० ६६ में इन शक शाहियोंने गर्दभिल्लके राज्यके बहुभागको विजय करके उज्जैनी नगरका घेरा डाला और अपनी इस सफलताको मनानेके लिए एक संवत् स्थापित किया जो पूर्व या प्राचीन शक संवत् कहलाता है। उस कालमें कार्त्तिक शुक्ल प्रतिपदासे प्रारम्भ होनेवाला महावीर संवत् वहाँ प्रचलित रहा प्रतीत होता है अतएव उसकी गणनाके अनुसार महावीर निर्वाणसे ४६१ वर्ष बाद इस प्रथम शक संवत्‌की प्रवृत्ति हुई। घिर जानेपर भी चार वर्ष तक गर्दभिल्ल वीरतापूर्वक लडता रहा। अन्ततः ई० पू० ६१ में उसने पराजित होकर आत्म-समर्पण कर दिया। कालकके कहनेसे उसे देशसे निर्वासित कर दिया गया। अब उज्जैनीपर शकोंका राज्य हो गया और उन्होंने वहाँ जमे रहना चाहा। मालवगण स्वतन्त्रताप्रेमी थे और उनकी शासन-प्रणाली गणतन्त्रीय थी, विदेशी शकोंके निरंकुश शासनको वे सहन नहीं कर सकते थे। स्वय कालक भी उनके व्यवहारसे रुष्ट था। अतः गर्द-भिल्लके पुत्र वीर विक्रमादित्यके नेतृत्वमें मालवगण उठ खड़े हुए और ई० पू० ५७ में उन्होंने शकोंको उज्जैनीसे निकाल बाहर किया। अब ये शकशाही कुछ तो वापस सिन्ध देशको लौट गये, कुछ सौराष्ट्रमें ही जम गये, कुछ मथुरामें जा जमे और कुछ वाराणसी तक जा पहुँचे। उन्होंने पुष्कलावतीके अपने शकशाहानुशाहीको भी प्रसन्न कर लिया और नाममात्रके लिए उसकी अधीनतामें उसके क्षत्रपोंके रूपमें विभिन्न प्रदेशों-

पर राज्य करने लगे। भारतीय धर्मों, रीति-रिवाजों, नामादिकोंको अपनाकर और भारतीयोंके साथ विवाह-सम्बन्ध आदि करके ये भारतीय नरेशोंकी भाँति ही यहाँ बस गये। इस प्रकार ई० पू० ५० के लगभगसे सन् ई० ५० के लगभग तक जो विभिन्न शक शक्तियाँ भारतके विभिन्न भागोंमे सत्तारूढ़ रहीं वे निम्न प्रकार है—(क) पुष्कलावतीके प्रधान शक नरेश–शाहानुशाही–जिनमें सर्व-प्रसिद्ध महार्य मोगा था। उसके सिक्कोपर कतिपय भारतीय तथा यूनानी देवी-देवताओंकी मूर्तियाँ अंकित मिलती है। सं० ४२ और ७८ के दो अभिलेखोमे उसका नामोल्लेख मिलता है जो ई० पू० ६६ में स्थापित पूर्व शक संवत्‌मे होनेसे ई० पू० २४ तथा सन् १२ ई० के निर्धारित होते हैं। उसके अतिरिक्त अजेस प्रथम और द्वितीयके होनेका और पता चलता है जो सम्भवतया उसके उत्तराधिकारी थे। इन शक शाहानुशाहियोके उपरान्त पुष्कलावतीपर पह्लवोका अधिकार हो गया प्रतीत होता है। बिन्दुफर्न (गोण्डोफरनीज) जिसका समय १९–४५ ई० निश्चित होता है, इस कालका प्रसिद्ध पह्लव नरेश था। उसका सं० १०३ का अभिलेख भी पूर्वशक सं० मे होनेसे सन् ३७ई० का है। विभिन्न प्रान्तोंके शक क्षत्रप इन पह्लवोंको भी शक शाहानुशाही-की भाँति अपना अधिपति मानने लगे।

(ख) उपरोक्त शक क्षत्रपोमे-से एक शाखा तक्षशिलामे स्थापित हुई थी जिसमे लिअक, कुशलक, पतिक आदि क्षत्रप हुए। इनका उल्लेख सं० ७२ (सन् १२ ई०) के अभिलेखमे मिलता है।

(ग) एक शाखा सुदूर वाराणसीमे स्थापित हुई जिसमे मेवकि आदि नाम मिलते है।

(घ) एक शाखा मथुरामे स्थापित हुई, इसमें हगन, रज्जुवल, शोडास आदि नाम मिलते है। मथुराके ये शक महाक्षत्रप अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इनके, विशेषकर क्षत्रप शोडासके, मथुरासे अनेक शिलालेख प्राप्त हुए है जिनमे कई यथा सं० ४२ (ई० पू० २४),

सं० ७२ (सन् ६ ई०) आदिके, तिथियुक्त भी हैं। इन शिलालेखोंसे पता चलता है कि ये क्षत्रप प्रायः स्वाधीन, पर्याप्त शक्तिशाली एवं प्रतापी नरेश थे। इनका प्रायः पूर्णतः भारतीयकरण हो चुका था और ये सभी भारतीय धर्मोका आदर करते थे। जैनधर्मकी ओर भी इनका आकर्षण रहा प्रतीत होता है और उसके ये पोषक रहे प्रतीत होते है। मथुरासे प्राप्त क्षत्रपकालीन शिलालेखोमे जैन शिलालेखोकी ही संख्या सबसे अधिक है। उस कालमे मथुरा जैनधर्मका गढ़ एवं प्रमुख केन्द्र था। इन क्षत्रपोके कालमे मथुराके जैनसघके नेतृत्वमे संचालित सरस्वती आन्दोलन सफलीभूत होने लगा था और निर्ग्रन्थ जैन साधु भी ग्रन्थ प्रणयन करने लगे थे।

(ङ) शकशाहियोकी एक शाखा सौराष्ट्रमे भी स्थापित हो गयी थी। घटक, भूमक, नहपान, उषवदात आदि राजे इस शाखामे हुए। ये क्षहरात कहलाते थे जो क्षत्रपका ही अपभ्रष्ट रूप है। जिस शकशाहीका कालकाचार्य मूलतः अतिथि हुआ था और जिसके नेतृत्वमे अन्य सब शाहियोंने मालवापर आक्रमण किया था वह सम्भवतया घटक या भूमक था। विक्रमादित्यने जब शकोको पराजित करके मालवेसे निकाल दिया और तितर-बितर कर दिया तो इस शाहीने सौराष्ट्र एवं गुजरातपर अधिकार करके अपना राज्य स्थापित कर लिया। एक ओर मालवेके विक्रमादित्य और दूसरी ओर पैठनके शालिवाहनके कारण इन क्षहरातोकी शक्ति सीमित बनी रही, किन्तु प्रथम शताब्दी ईसवीके मध्यसे वे बहुत शक्तिशाली हो गये। नहपान इस वशका सर्वप्रसिद्ध, प्रतापी एवं महत्त्वपूर्ण नरेश था। जैन अनुश्रुतिमे उसके नहवाण, नरवाहन, नभोवाहन, नभसेन या नरसेन आदि नाम मिलते है और उसे वम्मिदेशका नरेश बताया है। उसकी रानीका नाम सुरूपा था और राजधानीका नाम वसुन्धरा था जो सम्भवतया भृगुकच्छका ही अपरनाम था। उसका ४० वर्षका राज्यकाल गर्दभिल्ल वंश एवं भद्रचष्टन वंशके मध्य पड़ता है जो लगभग सन् २६–६६ ई०

निश्चित होता है। यूनानी भूगोलवेत्ता टालेमीने भी इस नरेशका उल्लेख किया है। नहपानके अपने तथा उसके जामाता उषवदात या ऋषभदत्त और कुशल मन्त्री अयमके कई शिलालेख प्राप्त हुए है जो वर्ष ४१से ४६तकके हैं। सम्भवतया नहपानके पूर्वज भूमकने अपने अन्तिम दिनोंमे अथवा स्वयं नहपानने अपने राज्यारम्भमे ही मालवा देशके बहुभागपर अधिकार करके यह नवीन वर्षगणना चालू की थी। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं उज्जैनीपर उसका अधिकार नहीं हो पाया और इस महानगरीको प्राप्त करनेके लिए पैठनके सातवाहन नरेशोंके साथ उसकी प्रतिद्वन्द्विता एवं संघर्ष बराबर चलता रहा। अन्ततः सन् ६५ ई० के लगभग गौतमीपुत्र शातकर्णीने भृगुकच्छपर आक्रमण किया, घोर युद्धके उपरान्त नहपानकी पराजय हुई और उसने सन्धि कर ली। सातवाहन नरेशने अपनी विजयके उपलक्ष्यमे नहपानके अनेक सिक्कोको हस्तगत करके और उनपर अपनी भी मुहर लगाकर अपने राज्यमे चालू किया। नहपानने राज्यभार अपने जामाता उषवदात, मन्त्री अयम और सेनापति यशोमतिकको सौंपकर स्वयं जिनदीक्षा ले ली प्रतीत होती है।

इस समय तक इन शकोंका प्रायः पूर्णतया भारतीयकरण हो चुका था, इन्होंने भारतीय आचार-विचारो, भाषा और नाम, वेष-भूषा और प्रथाएँ, धर्म और संस्कृति अपना लिये थे। एक जैन अनुश्रुतिके अनुसार इस महाराज नरवाहनने अपने मित्र मगधनरेशको मुनिरूपमे देखकर उनकी प्रेरणासे अपने राज्यश्रेष्ठि एवं मित्र सुबुद्धिके साथ मुनिदीक्षा ले ली थी। इस समय दाक्षिणात्य जैनसंघके नेता संघाचार्य अर्हद्बलि थे, वही सम्भवतया इसके दीक्षागुरु थे। सन् ६६ ई० मे उन्होंने महिमा नगरीमे एक महामुनि सम्मेलन किया था। इसी सम्मेलनमे सर्वप्रथम निर्ग्रन्थ दिगम्बर संघमें नन्दि, सेन, सिंह, देव, भद्र आदि उपसंघ उत्पन्न हुए थे। इसी कालमे गिरिनगरकी पूर्वोक्त चन्द्रगुफामे अवशिष्ट आगम ज्ञानके धारक एवं अष्टांग निमित्तके ज्ञाता धरसेनाचार्य तपस्या करते थे। अपना अन्त

समय निकट जानकर और आगम परम्पराके विच्छिन्न हो जानेकी आशंका-से प्रेरित होकर उन्होने महिमाके मुनि-सम्मेलनसे दो सुयोग्य शिष्य माँगे। सर्वसम्मतिसे सुबुद्धि और नरवाहनको जो क्रमशः पुष्पदन्त एवं भूतबलि आचार्योके नामसे प्रसिद्ध हुए, आचार्यके पास भेजा गया। उन्होंने शिष्योकी भलीभाँति परीक्षा करके उन्हे षट्खण्डागम सिद्धान्तका जो परम्परा ज्ञान उन्हे स्वयं साक्षात् था, पढ़ा दिया और उसे लिपिबद्ध करनेका आदेश दिया। इस प्रकार धरसेनाचार्य, पुष्पदन्त एवं भूतबलि-द्वारा सन् ७५ ई० के लगभग दिगम्बर परम्परामे सुरक्षित महावीर-द्वारा उपदेशित तत्त्वज्ञानका एक महत्त्वपूर्ण अंश सर्वप्रथम संकलित एवं लिपि-बद्ध हुआ। इसके उपरान्त ही सन् ७९-८२ ई० मे महावीरका जैन सघ सदाके लिए खुले रूपमें दिगम्बर और श्वेताम्बर नामक दो प्रधान सम्प्रदायोंमे बँट गया।

भद्रचष्टन वंश—नहपानके राज्य त्याग करनेके पश्चात् कुछ ही वर्षोंमे उसके सेनानायक यशोमतिकका बल और प्रभाव बहुत बढ गया और क्षहरात राज्यकी वह प्रधान शक्ति बन गया। उसका पुत्र चष्टन और भी अधिक महत्त्वाकांक्षी, वीर एव युद्धकुशल था। सन् ७८ ई० मे उसने मालवगणको पराजित करके महानगरी उज्जैनीपर अधिकार कर लिया और इस उपलक्ष्यमे अपना एक नवीन शक संवत् प्रचलित किया। इसी समयसे उसने अपनी स्वतन्त्रता घोषित की और एक नवीन राज्यवंश-की स्थापना की जो सौराष्ट्रका पश्चिमी क्षत्रपवश कहलाया। जैन अनु-श्रुतिके अनुसार महावीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् इस वंशका संस्थापक शक नरेन्द्र भद्रचष्टन ही प्रचलित शक संवत्का प्रवर्तक है। यह भारतवर्षका प्रथम चैत्रादि संवत् था और दक्षिण एवं पश्चिम भारतमे सामान्यतया और जैनोंमे विशेषतया सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ। चष्टनकी उज्जैन विजयको देखकर गौतमीपुत्र शातकर्णिके उत्तराधिकारी पुलुमयी प्रथमने भी मालवाके कुछ भागपर अधिकार कर लिया और सम्भवतया

शकोंपर भी किसी युद्धमें आंशिक विजय प्राप्त की। सातवाहनोंने शकोंके नवप्रचलित संवत्को भी अपना लेनेका प्रयत्न किया, इसी कारण वह कालान्तरमे शक-शालिवाहन संवत्के नामसे भी प्रसिद्ध हुआ। क्षत्रपकालके प्रथम सौ वर्षोमे शक-सातवाहन प्रतिद्वन्द्विता और भी अधिक तीव्र हो गयी और सातवाहन साम्राज्यके अन्तके साथ ही उसका अन्त हुआ।

चष्टनका पुत्र जयदामन् था। उसने अपने पिताके साथ कुछ वर्ष राज्य किया किन्तु पिताके जीवनकालमे ही उसकी मृत्यु हो गयी प्रतीत होती है। उसके उपरान्त उसका पुत्र महाक्षत्रप रुद्रदामन् प्रथम राजा हुआ। उसके राज्यारम्भके कुछ वर्ष बाद ही उसके पितामह चष्टनकी मृत्यु हुई। रुद्रदामन्के सन् १३० ई० के शिलालेखके समय तक चष्टन जीवित था। रुद्रदामन् इस वंशका सर्वाधिक प्रतापी नरेश था, उसके समयमे क्षत्रप साम्राज्य उन्नतिके चरम शिखरपर था। इस राजाके सन् १५० ई० के एक बृहत् शिलालेखसे, जो कि जूनागढ प्रशस्तिके नामसे प्रसिद्ध है, उनकी अनेक विजयों, पराक्रमो, लोकहितके कार्यों आदिका पता चलता है। यह शिलालेख ऐतिहासिक दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और गिरिनगरके सुप्रसिद्ध सुदर्शन तालके तटपर ही अंकित है। रुद्रदामन्ने भी उस ऐतिहासिक सरोवरका जीर्णोद्धार कराया था। रुद्रदामन्का पुत्र दामजदश्री था जिसने गिरिनगरकी पूर्वोक्त चन्द्रगुफामे आगमोद्धारक आचार्य धरसेनके स्वर्गवासकी स्मृतिमे एक शिलालेख उत्कीर्ण कराया था। उसके उपरान्त रुद्रसिंह प्रथम गद्दीपर बैठा वह भी जैनधर्मका अनुयायी रहा प्रतीत होता है। प्रायः इसी कालमे इस वंशकी एक राजमहिलाने महावीरकी जन्मभूमि वैशालीकी तीर्थ-यात्रा की थी जैसा कि वहाँसे प्राप्त उक्त महिलाकी कतिपय मुद्राओंसे विदित होता है।

पश्चिमी शकोंका यह महाक्षत्रप वंश २४२ वर्ष पर्यन्त उज्जैनी राज-धानीसे एक विस्तृत प्रदेशपर राज्य करता रहा। दूसरी-तीसरी शताब्दीमे तो दक्षिण भारतके भी अनेक भाग उसके अधीन थे। ३२० ई० मे

गुप्तराज्यकी स्थापनाके साथ-साथ उज्जैनपर इस वंशका अधिकार समाप्त हुआ। उस समय तक इस वंशकी कई शाखाएँ एवं उप-शाखाएँ बन चुकी थी और छोटे-मोटे शक राज्योंका अस्तित्व चौथी शताब्दीके अन्त तक बना रहा जब कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यने उनका प्रायः पूर्णतया उच्छेद कर दिया। उज्जैनीके इन शकोंका प्रायः पूर्णतया भारतीयकरण हो चुका था और धीरे-धीरे वे भारतीय जनतामे ही समा गये।

कुषाण वंश—जिस यू-ची जातिके दबावके कारण दूसरी शती ई० पू० मे शक लोग अपने मूल शकस्थानका परित्याग करके भारतवर्षकी ओर आये थे वही यू-ची अब शनैः-शनैः भारतके सीमान्तपर छा गये। यहाँ ये कुषाण नामसे प्रसिद्ध हुए। सन् ४० ई० के लगभग उनके नेता कुजुल कडफिससने हिन्दुकुशको पार करके काबुल, कन्दहार और पश्चिमी सिन्धपर अधिकार कर लिया। इसके जो सिक्के मिले है उनपर रोमन प्रभाव प्रतीत होता है और राजाकी उपाधियोंपर भारतीय संस्कृतिका प्रभाव है। सन् ६४ ई० के लगभग ८० वर्षकी आयुमे कुजुलकी मृत्यु हुई। उसके पुत्र व उत्तराधिकारी विम कडफिससने सिन्धु नदीको पार करके तक्षशिला, पंजाब तथा पश्चिमी उत्तरप्रदेशके कुछ भागपर अधिकार कर लिया। प्रथम शक सं० १३६ (सन् ७० ई०) का उसका एक अभिलेख मिला है। अनेक विविध सिक्के भी मिले है जो व्यापारके द्रुत विकासके द्योतक है। वह शैवधर्मका अनुयायी रहा प्रतीत होता है।

उसका उत्तराधिकारी और सम्भवतया पुत्र कनिष्क था जो भारतमे कुषाण वंशका सर्वमहान् नरेश और कुषाण साम्राज्यका संस्थापक था। पुरुषपुर (पेशावर) उसकी प्रधान राजधानी थी और सम्भवतः मथुरा उपराजधानी। पूर्वमे पटना तक उसके राज्यका विस्तार था। उसने उत्तर-पश्चिममे शकों और पह्लवोंकी सत्ताका अन्त कर दिया, कश्मीर उसके राज्यका अंग था और पामीरको पार करके उसने काशगर, यारकन्द, खोतान आदि चीनी प्रदेशोंको भी विजय किया था।

बौद्ध अनुश्रुतिमें उसे अशोकके समान ही बौद्ध धर्मका भक्त और प्रश्रयदाता कहा गया है और उसमें उसके द्वारा पेशावरमें एक बौद्ध स्तूप बनवाने, काश्मीरमें चतुर्थ बौद्ध सम्मेलन बुलाने और बुद्धचरितके कर्त्ता प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोषको प्रश्रय देनेके उल्लेख मिलते हैं। वह बौद्ध धर्मके महायान सम्प्रदायका पोषक रहा बताया जाता है। किन्तु विद्वानों-का मत है कि उसके साम्राज्यमें सभी धर्म प्रचलित थे और वह धर्मसहिष्णु नरेश सभीका आदर करता था। मथुराके अनेक जैन शिलालेखोंपर उसका नाम अंकित है। थामस आदि विद्वानोके अनुसार कमसे कम अपने राज्य-कालके पूर्व भागमे उसका झुकाव जैन धर्मकी ओर अधिक रहा प्रतीत होता है। कहा जाता है कि एक प्राचीन जैन स्तूपका भी उसने जीर्णोद्धार कराया था। कनिष्ककी मूर्तियाँ भी मिली है। उसके समयमे बौद्ध साहित्यका सर्वप्रथम प्रणयन प्रारम्भ हुआ। कनिष्ककी राज्यारोहण तिथि सन् ७८ ई० मानी जाती है और कुछ विद्वानोके अनुसार वही प्रचलित शक संवत्का प्रवर्तक था। किन्तु जैसा कि पीछे कहा जा चुका है शक-संवत्की स्थापना भद्रचष्टन वंशके संस्थापक चष्टन-द्वारा उज्जैनीकी विजय-के उपलक्ष्यमे हुई प्रतीत होती है। सम्भव है संयोगसे कनिष्कका राज्यारम्भ भी उत्तर-पश्चिममे उसी वर्ष प्रारम्भ हुआ हो। उसके तथा उसके उत्तरा-धिकारियोंके लेखोंमे जो वर्षसंख्या मिलती है वह उसके राज्यके प्रथम वर्षसे चालू हुई प्रतीत होती है, बादमे उन्होने एक संवत्का रूप ले लिया जो संयोगसे शक संवत्के अनुरूप होनेसे उत्तरापथमे भी लोकप्रिय हो गया। कनिष्ककी हत्या उसके सेनानियोंने उसके सोते समय कर दी थी।

उसके उपरान्त क्रमशः हुविष्क (१०७–१३८ ई०), कनिष्क द्वि० (११९ ई०), वशिष्क, वासुदेव (१५२–१७६ ई०) इत्यादि कई राजे हुए। इन राजाओंके अनेक जैनाजैन शिलालेख मथुरा आदिसे प्राप्त हुए है। ये सभी धर्मोके प्रति सहिष्णु रहे प्रतीत होते है। जैनधर्मकी, विशेष-कर मथुरामे, इनके कालमेवि शेष उन्नति हुई। वासुदेवके उपरान्त कुषाण

साम्राज्यकी अवनति प्रारम्भ हो गयी। भारतके मध्य भागसे कुषाणोका अधिकार धीरे-धीरे उठ गया और वे ईरानकी ओर दबते चले गये जहाँ वे ईरानी रंगमे रंग गये। सासानी वंशके उदयसे वहाँ भी उनकी सत्ताका अन्त हो गया। वैसे, हूणोके आक्रमणके समय तक काबुलमे कुषाण सत्ता बनी रही। तीसरी शतीमे पाटलिपुत्रके मुरुण्डोके साथ भी इनके मैत्री सम्बन्ध रहे थे।

मालवा—अवन्ति जनपद महावीरकालीन प्रसिद्ध प्राचीन महाराज्यो एवं महाजनपदोमे-से एक था। उस समय प्रद्योत वंशका उसपर अधिकार था। तत्कालीन अवन्तिनरेश चण्डप्रद्योत महावीरके मौसा थे। जिस दिन महावीरका निर्वाण हुआ उसी दिन अवन्तिमे प्रद्योतके पुत्र पालकका राज्याभिषेक हुआ था। अवन्ति राज्यकी प्रधान राजधानी उज्जैनी थी। प्रद्योत वंशके उपरान्त नन्दो और फिर मौर्योका उसपर अधिकार रहा और वह उनके साम्राज्यकी उपराजधानी बनी रही। मौर्य सम्राट् सम्प्रति तो प्रायः उज्जैनीमे ही रहता था और उसी समयसे जैन संघकी उत्तरी शाखाने, जो कालान्तरमे श्वेताम्बर सम्प्रदायमे परिणत हो गयी, उज्जैनीको अपना केन्द्र बना लिया था। सम्भवतया इसी कारण ब्राह्मणधर्म-पुनरुत्थानके पुरस्कर्त्ता शुंगवंशी ब्राह्मण नरेशोंने उज्जैनीको न अपनाकर उसके स्थानमे विदिशा, अपरनाम बेसनगर या भद्दिलपुर (भेलसा), को अपनी प्रिय नगरी बनाया था। एक और भी कारण रहा प्रतीत होता है—यूनानी सम्राट् सिकन्दरके भारत-आक्रमणके समय उत्तरी सिन्ध और पंजाबमे जो आग्रेय, मालव, अर्जुनायन, उदुम्बर आदि अनेक शक्तिशाली गणतन्त्र थे उनको उक्त आक्रमणने छिन्न-भिन्न कर दिया। परिणामस्वरूप मालवगण और उनके पड़ोसी आग्रेयगण स्वदेशका परित्याग करके पूर्व दक्षिणकी ओर पलायन कर गये थे। मालवगण तो राजस्थानके विराट देशमें बस गये, और आग्रेयगण मारवाड़ तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश व मध्यभारतमे इधर-उधर फैल गये। इन्होने शनैः-शनैः क्षात्रवृत्तिका त्याग

करके व्यापार-वाणिज्यमे ही अपना उपयोग लगाना प्रारम्भ कर दिया किन्तु अपने गणतन्त्रात्मक श्रेणी संगठनको और भी वहुत पीछे तक भंग नही होने दिया। मालव लोग विराट देशमे भी अधिक स्थिर न रह सके और अन्ततः आगे बढ़कर उज्जैनी प्रदेशमे वस गये। सम्प्रतिकी मृत्युके उपरान्त इन स्वतन्त्रता-प्रेमी मालवोने उज्जैनीको केन्द्र वनाकर अपनी गणतन्त्रात्मक सत्ता स्थापित कर ली और धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ायी। वह देश भी उनके कारण मालवा कहलाने लगा। शुंगों और कण्वोंके राज्यकालमे मालवेके मालवगणने पर्याप्त शक्ति संचय कर ली थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि कलिंगचक्रवर्ती सम्राट् खारवेलने मालवगणको भी विजय कर लिया था और सम्भवतया उसकी गणतन्त्रात्मक सत्ताको भी मान्य कर लिया था किन्तु उसके नायकके पदपर अपना कोई राजकुमार नियुक्त कर दिया था। यह पद उसकी वंश-परम्परामें रूढ़ हो गया। ई॰ पूर्व ७४ मे इसी वंशका महेन्द्रादित्य गर्दभिल्ल मालवगणका अध्यक्ष और उज्जैनीका गणतन्त्रीय राजा था। वह बहुत अत्याचारी और दुराचारी शासक था। गणोकी भी अवहेलना करता था। उस समय उज्जैनी जैनोका प्रधान केन्द्र थी, जैन साध्वियो और साधुओंका वहाँ स्वच्छन्द विहार होता था। कालक द्वितीय उस कालके एक प्रसिद्ध जैनाचार्य थे, जो पूर्वावस्थामे एक राजकुमार थे। उनकी बहन सरस्वती भी साध्वी थी। वह अनिन्द्य सुन्दरी भी थी। उक्त साध्वीका आगमन जब उज्जैनीमे हुआ तो उसके रूपपर गर्दभिल्ल मुग्ध हो गया। उसने ज़बरदस्ती अपहरण करके उक्त साध्वीको अपने महलमे उठवा मँगाया। सूचना पाते ही कालक वहाँ आया, उसने गर्दभिल्लको बहुत प्रकार समझाया, अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों-से भी कहलवाया किन्तु उस दुराचारी निरंकुश शासकको अपने दुष्ट अभि-प्रायसे विरत करनेमे वह समर्थ न हो सका। गर्दभिल्लके भयसे आस-पासके राजे भी हस्तक्षेप करनेका साहस न कर सके। अतः सन्त्रस्त कालक

सिन्धुकूलपर अवस्थित शकस्थानके शाहियोके पास पहुँचा और अनेक शकशाहियोंको ससैन्य साथ लेकर, मार्गके अन्य राजाओंको भी सहायता प्राप्त करता हुआ ई० पू० ६६ मे उज्जैनी दुर्गके बाहर आ धमका। चार वर्ष तक निरन्तर युद्ध चला। अन्ततः ई० पू० ६१ मे कालकके कौशल और शकोंकी वीरतासे गर्दभिल्ल पराजित होकर बन्दी हुआ और सरस्वती-का तथा मालवगणका उस अत्याचारीसे उद्धार हुआ। उसकी याचनापर कालकने उसे प्राणदान देकर देशसे निर्वासित कर दिया। किन्तु अब शकशाही उज्जैनीमे जम गये। स्वतन्त्रता-प्रेमी मालवगण यह सहन न कर सके, अतः गर्दभिल्लके सुयोग्य पुत्र वीर विक्रमादित्यके नेतृत्वमे उन्होंने ई० पू० ५७ मे शकोको उज्जैनीसे निकाल बाहर किया और उक्त वीर पुरुष-को अपना गणराजा घोषित किया।

विक्रमादित्य अत्यन्त बुद्धिमान्, पराक्रमी, उदार, दानशील, धार्मिक एवं न्यायपरायण शासक था। अनगिनत भारतीय लोक-कथाओका वह नायक है। जैन अनुश्रुतिके अनुसार वह जैनधर्मका भक्त था। इस बातमे कोई शंका भी प्रतीत नही होती क्योकि अन्य सम्प्रदायोंको अनुश्रुतियों एवं सामान्य इतिहासमे उसका कोई उल्लेख ही नही मिलता। विक्रमादित्य-ने चिरकाल पर्यन्त राज्य किया और अपने देश मालवा तथा अपनी राजधानी उज्जैनीको चिरस्मरणीय बना दिया, संवत् (ई० पू० ५७ का कृत, मालव, या विक्रम संवत्) के प्रवर्तन-द्वारा उसका स्वयंका नाम भी अमर हो गया।

विक्रमादित्य और उसके वंशका मालवापर सौ वर्ष पर्यन्त अधिकार रहा बताया जाता है, किन्तु उसकी मृत्युके उपरान्त ही सौराष्ट्रके शक-क्षहरातो और पैठनके सातवाहन वंशी नरेशोमे उज्जैनीपर अधिकार करनेके लिए घोर संघर्ष चलने लगा। बीच-बीचमे कुछ कालके लिए उनमे-से एक या दूसरेके अधिकारमे भी वह नगर रहा। सन् २६–६६ ई० के मध्य उज्जैनीपर सुप्रसिद्ध क्षहरात नहपान (जैन अनुश्रुतियोंका नरवाहण या

नभोवाहन) का अधिकार अवश्य रहा प्रतीत होता है। सन् ७८ ई० में क्षहरातोके उत्तराधिकारी पश्चिमी शक क्षत्रपोंके वंश संस्थापक भद्रचष्टनने इस नगरपर स्थायी अधिकार करके शक संवत्‌की पुनः प्रवृत्ति की और लगभग सौ डेढ़ सौ वर्षो तक इसी वंशके अधिकारमे यह प्रदेश चला। शनैः-शनैः मालवगण भी इस पराधीनतामे क्षीणप्रभ और क्षीणशक्ति हो गये।

अन्ततः ४थी शती ई० प्रारम्भमे गुप्त साम्राज्यका उदय होनेपर इस प्रदेशपर उस वंशका अधिकार हुआ और उज्जैनी गुप्तोंकी उपराजधानी बनी। इस समय तक यह नगर बराबर जैनधर्मका एक प्रमुख केन्द्र बना रहा। श्वेताम्बर सम्प्रदायका तो यह प्रथम प्रधान केन्द्र था, किन्तु गुप्त कालके उदयके पूर्व ही इस स्थानसे पश्चिमकी ओर हटकर उन्होंने सुराष्ट्र-देशकी वल्लभी नगरीको अपना प्रधान केन्द्र बना लिया था। फिर भी उज्जैनी महानगरी विभिन्न धर्मो और संस्कृतियोंका सिन्धस्थल बनी रही। भारतीय साहित्य, ज्ञान और विज्ञानके सृजनमे इस महानगरीका सर्वोपरि स्थान रहा है। राजनैतिक राजधानी न रहनेपर भी शताब्दियो पर्यन्त यह नगरी भारतवर्षकी सांस्कृतिक राजधानी बनी रही और इसको वैसा बनानेमे जैन धर्मावलम्बी विद्वानो, मुनियो और श्रावकोंका भी महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। जैनधर्म और साहित्यके इतिहासके साथ इस महानगरी और मालवा देशका अटूट सम्बन्ध है। भारतके सर्व प्रसिद्ध एवं सर्व प्राचीन लौकिक संवतो—प्रथम शक (ई० पू० ६६), विक्रम (ई० पू० ५७) और शक-शालिवाहन (७८ ई०)—का जन्मस्थान भी उज्जैनी ही है।

मथुरा—मथुरा नगरका जैन, वैष्णव, शैव, बौद्धादि विभिन्न भारतीय धर्मोंके साथ अत्यन्त प्राचीन कालसे ही घनिष्ट सम्बन्ध रहता आया है। भागवत धर्मके परमदेव भगवान् कृष्णकी यह लीलाभूमि तथा उनके अनुयायियोंका महातीर्थ रहा है। बुद्धका भी वहाँ आगमन हुआ बताया जाता है और कुषाण कालमे यहाँ कई विशाल बौद्ध स्तूप एवं विहार विद्यमान थे। शैवोका भी इस नगरके साथ प्राचीन सम्बन्ध है, और शकों

वर्ष पर्यन्त यह नगर उत्तरापथमे जैन संस्कृतिका भी प्रमुख केन्द्र रहा है। जैन धर्मके इतिहासमें इस नगर और निकटवर्ती प्रदेशको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। आदिपुराणके अनुसार आदिकालीन ५२ देशोंमें शूरसेन देश और उसकी राजधानी मथुराकी गणना थी। महावीरकालीन महाजनपदो, प्रमुख राज्यों एवं राजधानियोंमें भी इनकी गणना हुई है। दक्षिणी जैनाचार्योंने अपने ग्रन्थोमे पाण्डच या दक्षिणी मथुरा (मदुरा) से भेद करनेके लिए इस नगरका उल्लेख प्राय: 'उत्तर मथुरा' नामसे किया है। निर्वाण भक्तिकी महुराए अहिछित्ते गाथासे तथा निशीथ चूर्णिके 'उत्तरावहे धम्मचक्कं मथुराए देवणिम्मिओ थूमो' शब्दोसे मथुराका एक प्राचीन जैन तीर्थ होना सिद्ध होता है। बृहत्कल्पभाष्यकी एक अनुश्रुतिके अनुसार 'उत्तरापथमे मथुरा एक महत्त्वपूर्ण नगर था जिसके अन्तर्गत ९६ ग्रामोमे लोग अपने घरोंके द्वारोके ऊपर तथा चौराहो-पर जिन-मूर्तियोकी स्थापना करते थे।' अनेक जैन पुराणों, चरित्रो, कथाओं तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थोमे मथुरा नगरके उल्लेख पाये जाते हैं। एक प्राचीन अनुश्रुतिके अनुसार सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथके समयमे कुबेरा नामकी देवीने मथुरामे रत्नजटित स्वर्णमयी जिनस्तूप बनाया था। महाभारत कालमे इस प्रदेशपर हरिवंशमे उत्पन्न यदुवंशियोंका राज्य था। जैन परम्पराके तिरेसठ शलाकापुरुषोमे परिगणित नारायण कृष्ण और बलरामकी बाललीला-भूमि मथुरा और उसके आस-पासका प्रदेश था। कृष्ण-द्वारा संस्थापित उग्रसेनके वंशज उग्रवंशी राजे मथुरापर चिरकाल तक राज्य करते रहे। इसी वंशमे साकार नामक राजाका पुत्र राजकुमार जिनदत्तराय जैनधर्मका परम भक्त था। वह स्वदेश छोड़कर दक्षिणकी ओर चला गया था और वहाँ उसके वंशजोने कर्णाटक देशमे कई जैन राज्य स्थापित किये जो मध्यकाल तक चलते रहे। २३वे तीर्थंकर पार्श्वनाथका भी मथुरामे विहार हुआ था और उनके समवसरणके स्थानपर कल्पद्रुमकी स्थापना की गयी थी। उन्हीके तीर्थमे, लगभग ७वी-८वी शती

ई० पू० में, उपरोक्त देव निर्मित स्वर्णमयी स्तूपको ईंटोंसे ढँक दिया गया था। फ़ुहरर, स्मिथ, वोगल आदि पुरातत्त्वज्ञ भी इस स्तूपके अवशेषोंको देखकर इसी निष्कर्षपर पहुँचे कि यह जैन-स्तूप ईसासे कमसे कम पांच-छह सौ वर्ष पूर्व निर्मित हुआ था। अन्तिम तीर्थंकर महावीरका पदार्पण भी इस नगरमे हुआ बताया जाता है। उस समय यहाँका राजा पद्मोदयका पुत्र उदितोदय था। सम्यक्त्वकौमुदी कथामालाका घटना क्षेत्र और समय यही है। महावीरकी शिष्य-परम्परामे अन्तिम केवली जम्बूस्वामीने मथुराके चौरासी क्षेत्रपर दुर्द्धर तपश्चरण किया था। उन्हीके उपदेशसे इस नगरके महान् दस्यु अञ्जनचोरने अपने ५०० साथियो-सहित दस्युवृत्ति छोड़कर मुनिव्रत धारण किया था और घोर उपसर्ग सहन करते हुए सद्गति प्राप्त की थी। इन मुनियोंकी स्मृतिमे यहाँ ५०० के लगभग स्तूप निर्माण किये गये थे जिनके अवशेष मध्यकाल तक विद्यमान थे।

नन्द और मौर्यकालमे मथुरामें जैनधर्मकी क्या स्थिति रही निश्चयसे नही कहा जा सकता। ४थी शती ई० पू० मे द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षके कारण उत्तरापथके जैन संघका एक बड़ा भाग अन्तिम श्रुतिकेवली भद्रबाहु-की अध्यक्षतामें दक्षिण देशको विहार कर गया था। दुर्भिक्षकी समाप्तिपर भी उनमें-से अधिकांश साधु वही रह गये और उनका संगठन कालान्तरमें मूल संघके नामसे प्रसिद्ध हुआ। मगधमें ही जो साधु रह गये थे उन्होने स्थूलभद्र और उनके शिष्योके नेतृत्वमे अपना पृथक् संगठन कर लिया। दुर्भिक्षके समय आपद्धर्मके रूपमे इन मागधी साधुओने जो शिथिलाचार ग्रहण कर लिया था वह शनैः-शनैः रूढ़ होता गया और कालान्तरमे दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेदका कारण बना। मथुरा आदि मगधसे दूरस्थ प्रदेश दुष्कालके प्रकोपसे उतने त्रस्त नही हुए थे, अतः यहाँके जैन साधु कर्णाटकी (दक्षिणी) और मागधी (उत्तरी) दोनों ही धाराओंसे अपने आचार-विचारमे कुछ विलक्षण रहे। दुष्कालका यह प्रभाव अवश्य हुआ कि ४थी-३री शती ई० पू० में मथुरामें बौद्ध और ब्राह्मण धर्मोने विशेष

बल पकड़ लिया और वे जैनधर्मके साथ प्रतिद्वन्द्विता करने लगे, यहाँतक कि प्राचीन जैन स्तूपके अधिकारको लेकर उनमे परस्पर झगड़ा भी हुआ। तत्कालीन राजाने, जिसका नाम पूतिमुख था, अपनी बौद्ध रानीके प्रभावमे आकर बौद्धोका पक्ष लिया, किन्तु उसकी जैन रानी उर्विलाके प्रयत्नोसे अन्ततः यह निर्णय हुआ कि स्तूप जैनोका ही है और उन्हीके अधिकारमे रहेगा। अशोकके शासनकालमे सम्भवतया बौद्धधर्मका मथुरामे कुछ विशेष प्रभाव बढ़ा किन्तु उसके पौत्र सम्प्रतिके शासन-कालमे जैनधर्मका प्रभाव बढा। उस समय मथुराकी गणना प्रमुख जैन नगरियोमे थी। तदुपरान्त शुंगोके कालमे सम्भवतया ब्राह्मण धर्मने विशेष बल पकड़ा। तथापि मथुरा नगरीकी यह विलक्षणता थी कि इसने विभिन्न धर्मोको समान रूपसे प्रश्रय दिया और यहाँ वे सब साथ-साथ परस्पर सद्भाव एवं सहयोगपूर्वक फले-फूले और देशके सांस्कृतिक विकासमे साधक बने। मथुरा नगर जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव आदि धर्मोका ही सन्धिस्थल नहीं था वरन् आर्य, द्रविड (नाग, यक्ष आदि), यूनानी, शक, पह्लव, कुषाण आदि विभिन्न देशी-विदेशी जातियों एवं संस्कृतियोकी भी समन्वय भूमि था। मथुराके जैन संघने दिगम्बर श्वेताम्बर उभय सम्प्रदायोकी पूर्वज उपरोक्त दोनों धाराओसे पृथक् रहकर प्रसिद्ध गुरुओ अथवा स्थानोके नामपर अपने, गण, शाखा, कुल, गोष्ठ आदि स्थापित करके अपना स्वतन्त्र संगठन किया। शुंग-शक-कुषाण काल (लगभग ई० पू० २०० से सन् ई० २०० पर्यन्त) मे मथुराके इस जैनसंघने अभूतपूर्व उन्नति की।

मथुराके विभिन्न स्थानो और विशेषकर कंकाली टोलेसे उक्त कालसे सम्बन्धित सहस्रो जैन कलाकृतियाँ तथा सैकड़ो जैन शिलालेख प्राप्त हुए है। उनमे विभिन्न तीर्थंकरोकी नाम या लांछन युक्त अनेक खण्डित-अखण्डित, खड्गासन वा पद्मासन प्रतिमाएँ, अनेक नाम-रहित जिनमूर्तियाँ, कई एक प्रतिमा सर्वतोभद्रिका, सरस्वती, अम्बिका, आर्यावती, नेगमेशी आदि देवी-देवताओ तथा विभिन्न यक्ष-यक्षियों एवं नागोंकी मूर्तियाँ, स्तूप, नान्दि-

विशाल, शिलास्तम्भ, आयागपट्ट, अष्टमंगलद्रव्य, वेदिकास्तम्भ, तोरण, जिनालय, प्रपा (बावड़ी), उदपान आदिके अवशेष प्राप्त हुए हैं । कई प्रस्तर-खण्डोंपर ऋषभ-वैराग्य, महावीर-जन्म आदिके पौराणिक दृश्य अंकित हैं । कई एकपर दिगम्बर मुनियोंकी और कुछपर खण्डवस्त्रधारी अर्द्ध-फालक साधुओंकी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं । भारतीय तथा शक आदि विदेशी नर-नारियोंकी मूर्तियाँ भी निजी वेषभूषामें अंकित मिलती हैं । लोक-जीवन-से सम्बन्धित अनेक दृश्योंसे मथुरा-निवासियोंकी तत्कालीन वेषभूषा, अलं-कार, मनोरंजन, कलाप्रियता आदिपर सुन्दर प्रकाश पडता है । अपनी उत्कृष्ट कारीगरीके कारण ये अवशेष आज भी भारतीय कलाके गौरव माने जाते हैं ।

प्राप्त शिलालेखोंमें-से डेढ सौसे अधिक प्रकाशित हो चुके हैं और उनमें आधेके लगभग तिथियुक्त हैं । अधिकांश वर्ष संख्या ४ से ९८ तकके हैं । कुछमें शक महाक्षत्रप रञ्जुवल, शोडास, मेवकिके नाम अंकित हैं और कुछमें कनिष्क, हुविष्क, वशिष्क, वासुदेव आदि कुषाण सम्राटोंके । मथुराके इन शिलालेखोंके आधारपर ही प्रथम शती ई० पू० के शक-क्षत्रपों तथा प्रथम व द्वितीय शताब्दी ई० के कुषाण-नरेशोंका पूर्वापर एवं कालक्रम सन्तोषजनक रूपमें निश्चित करना सम्भव हुआ । इन अभिलेखोंमें भक्तों-द्वारा विविध धर्मायतनों, उपकरणों, कलाकृतियों एवं लोकोपयोगी वस्तुओंके निर्माण कराने और दान देनेके उल्लेख हैं । उनमें लगभग साठ जैन गुरुओं-का उनके विभिन्न कुल, शाखा, गण तथा उपाधियों-सहित नामोल्लेख है, लगभग तीस तपस्विनी साध्वियोंके, लगभग एक सौ गृहस्थ श्रावकों और लगभग पचास महिला श्रविकाओंके भी नामोल्लेख हैं । इन लेखोंसे पता चलता है कि उस समय विभिन्न वर्णों, जातियों, वर्गों और व्यवसायोंके भारतीयजन तथा मथुरावासी यवन, शक, पह्लव, कुषाण आदि विदेशी भी जैनधर्मके भक्त थे । उनकी स्त्रियाँ भी स्वतन्त्रतापूर्वक पुरुषोंकी भाँति ही धर्मका पालन करती थीं, बल्कि दान देने और धर्मायतनोंका निर्माण

करानेमे उनसे भी आगे ही थी। इतना ही नहीं, वे स्वेच्छासे साध्वी भी हो सकती थी। उस कालमे साध्वी आर्यिकाओका संगठन भी बहुत व्यवस्थित रहा प्रतीत होता है। मथुराका जैनधर्म इस कालमे उन्नतिके चरम शिखरपर था। वह पूर्ण सहिष्णुता एवं परम उदारताकी भावनासे ओत-प्रोत था। संकीर्णता और भेद-भावका उसमे अभाव था।

यही कारण है कि जैनसंघकी अपने-आपको मौलिक कहनेवाली दिगम्बरो एवं श्वेताम्बरोकी पूर्वज पूर्वोक्त दोनो धाराएँ जब कि अपने बीच सम्प्रदाय भेदकी खाईको उत्तरोत्तर गहरा करती जा रही थी, मथुराके जैन गुरु स्वयं इन दोनोसे पृथक् रहकर भी समन्वयका ही प्रयत्न करते थे। अतः दोनो ही परम्पराओमे मथुराके अनेक गुरु समान रूपसे समादृत हुए और मथुराका तत्कालीन धर्म दोनो सम्प्रदायोके बीचकी कड़ी सिद्ध हुआ। यही और इसी कालमे कन्हश्रमणके नेतृत्वमे उस अर्द्धफालक सम्प्रदायका अस्थायी उदय हुआ जो एक छोटा-सा खण्डवस्त्र ग्रहण करनेका विधान करके दोनों दलोके बीच समझौता कराना चाहता था। जैन मुनियोके एक संघ यापनीयोके पूर्वज शिवार्य आदि आरातीय उपाधिधारी यतियोने भी सम्भवतया इसी नगरसे ऐसे सैद्धान्तिक विचारोका साहित्यिक प्रचार प्रारम्भ किया जो संघ भेदरूपी फूटसे जैनसंघकी रक्षा करना चाहता था। और इसी नगरके जैन गुरुओने सर्वप्रथम वह महान् सरस्वती आन्दोलन उठाया जिसका उद्देश्य परम्परागत जैनश्रुतका संकलन कराना और जैनोमे लिखित साहित्य-रचनाका प्रारम्भ कराना था।

दोनो ही धाराओंके नेता आगमोको लिपिबद्ध करने और पुस्तक साहित्यका निर्माण करनेका विरोध करते थे। किन्तु समय बदल रहा था, मथुरामे यवन, शक, पह्लव, कुषाण आदि भौतिकवादी पश्चिमी विदेशियोका समागम हो रहा था। अशोकके समयसे ही लेखनकलाका प्रचार उत्तरोत्तर बल पकड़ता जा रहा था, जिसे इन विदेशियोसे और अधिक प्रोत्साहन मिला। शुंगकालके ब्राह्मणधर्म-पुनरुद्धार आन्दोलनने पतञ्जलि,

वाल्मीकी, सौति आदि विद्वानोंके नेतृत्वमे ब्राह्मणीय साहित्यके प्रणयनको भारी प्रोत्साहन दिया। उधर सिंहलद्वीपमे वहांके राजाके आश्रयमें बौद्ध-संघ पालि त्रिपिटकको संकलित एवं लिपिबद्ध करनेका प्रयत्न कर रहा था। फलस्वरूप स्वयं भारतमे कनिष्कके आश्रयमे अश्वघोष, पार्श्व, वसुमित्र आदि बौद्ध विद्वानोंने चतुर्थ बौद्ध-संगीति बुलायी और स्वतन्त्र साहित्यका भी निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया था। ऐसी स्थितिमे मथुराके दूरदर्शी जैन गुरुओंने भी सरस्वती आन्दोलन-द्वारा अपने कट्टरपन्थी धर्मबन्धुओंके संकोच एवं संकीर्णताको दूर करनेका प्रयत्न किया, यह स्वाभाविक ही था। ई० पू० १६० के लगभग कलिंग चक्रवर्ती सम्राट् खारवेलने उड़ीसाके कुमारीपर्वतपर एक मुनिसम्मेलन किया था। सम्भवतः मथुरासंघके प्रतिनिधियोंके प्रभावसे ही उक्त सम्मेलनमे सरस्वती आन्दोलनका प्रारम्भ हुआ जिसका कि पदक्षेप स्वयं खारवेलका जैन नमस्कार मन्त्रसे युक्त वृहद् शिलालेख था। मथुरामे इतनी बड़ी संख्यामे लिखाये गये तत्कालीन जैन शिलालेख उक्त आन्दोलनकी प्रगतिके प्रतीक है। इतना ही नही, मथुरा संघने पुस्तकधारिणी सरस्वतीदेवीकी विशाल प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करके इस आन्दोलनमे जान ही डाल दी। दूसरी शती ई० के पूर्वार्धमे कुषाण नरेशोंके शासन-कालमे आचार्य नागहस्ति-द्वारा प्रस्थापित सरस्वती-देवीकी जो खण्डित मूर्त्ति मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त हुई है वह न केवल जैन सरस्वतीकी ही सर्वप्राचीन उपलब्ध मूर्त्ति है वरन् अन्य सम्प्रदायों-द्वारा निर्मित उक्त देवीकी ज्ञात मूर्त्तियोंमे सर्वप्राचीन मानी जाती है। मथुरामे जैन सरस्वतीकी वैसी मूर्त्तियाँ बहुत पहलेसे ही बनने लगी थी इसमे कोई सन्देह नहीं है और इसी कारण ज्ञान-जागृतिके उस प्रथम महान् जैन आन्दोलनको सरस्वती-आन्दोलनका नाम देना उपयुक्त ही है।

मथुरासे प्रचारित इस आन्दोलनका परिणाम यह हुआ कि दक्षिण एवं उत्तर भारतके कुन्दकुन्द, शिवार्य, कुमारनन्दि, विमलसूरि, उमास्वामी

आदि अनेक निर्ग्रन्थाचार्य ईसवी सन्के प्रारम्भके पूर्व ही ग्रन्थ-रचनामे संलग्न हो गये और आगमोके संकलनकी आवाज बुलन्द करने लगे। अतः प्रथम शती ई० मे ही कमसे कम दक्षिणापथके दिगम्बराचार्योंने अपने अवशिष्ट आगमज्ञानको संकलित एवं लिपिबद्ध कर डाला तथा आगम-परम्पराके आधारसे द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और प्रथमानुयोगके भी प्रमुख ग्रन्थ रचने प्रारम्भ कर दिये, यद्यपि आगम-ज्ञानकी मौखिक परम्परा उसके बाद तक भी चलती रही। इस आगम संकलनका एक परिणाम यह हुआ कि जिस संघभेदको मथुरावाले टालना चाहते थे वह न टल सका और प्रथम शती ई० के अन्तिम पादमे जैन संघ, मूलसंघ अथवा दिगम्बर आम्नाय और श्वेताम्बर सम्प्रदाय इन दो भेदोमे सदाके लिए विभक्त हो गया। श्वेताम्बर धाराके साधु अपनी आगम-परम्पराको भी कुछ पृथक् ही निर्धारित करने लगे और उसके संकलनका विरोध चार-पाँच सौ वर्ष बाद तक करते रहे।

यद्यपि मथुरावाले दोनो दलोके बीच समन्वय करानेके प्रयत्नमे विफल हुए तथापि उनका सरस्वती-आन्दोलन पूर्ण सफल हुआ। संघ-विभाजनके उपरान्त भी उन्होने अपने-आपको दोनो ही दलोसे पृथक् रखा, न अपने-आपको दिगम्बरोसे सम्बद्ध किया और न श्वेताम्बरोसे। अपनी संघ-व्यवस्था भी उन्होने स्वतन्त्र ही रखी। किन्तु एक तीसरा सम्प्रदाय भी नही बनाया और अन्त तक दोनोके बीचकी कड़ी ही बने रहे। कुषाण कालके उपरान्त वर्ष ११८, १२७ एवं २९९ (सम्भवतया शक संवत्) के भी जैन शिलालेख मथुरासे प्राप्त हुए है। इस कालमे भारशिव नागोका गण-तन्त्रात्मक संघराज्य इस प्रदेशपर रहा और वे भी जैनधर्मके प्रति सहिष्णु रहे प्रतीत होते है। मथुराका जैन संघ पीछे तक प्रभावक बना रहा और समन्वयका प्रयत्न भी करता रहा। सन् ३००–३१३ ई० के मध्य आर्य स्कन्दिलकी अध्यक्षतामे मथुरामे ही श्वेताम्बर साधुओका एक सम्मेलन उनके द्वारा मान्य आगम-परम्पराका संकलन करनेके लिए हुआ

किन्तु वह परस्पर मतभेदके कारण विफल-प्रयत्न हुआ। इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बर और शायद दिगम्बर दोनों ही संघोंका कट्टर एवं बहुभाग अंश मथुरावालोको सन्देहकी दृष्टिसे देखता था और उन्हे दूसरे पक्षकी ओर झुका समझता था। इस प्रकार जैन धर्मका एक प्रमुख केन्द्र बने रहते हुए भी मथुरामे ८वी-९वीं शती ई० पर्यन्त दिगम्बर श्वेताम्बर भेद उत्पन्न न होने पाया।

मथुरासे प्राप्त प्राचीन जैन अवशेषोंके सम्बन्धमे अनेक देशी एवं विदेशी पुरातत्त्वज्ञों, कला-मर्मज्ञो, इतिहासकारों और विद्वानोने जो अपने अभिमत प्रकट किये है उनसे उक्त अवशेषोका धार्मिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व भली प्रकार प्रकट है। उनसे भारतवर्षकी सांस्कृतिक अभिवृद्धिमें प्राचीन मथुराके जैनोके प्रशंसनीय योगदानका मूल्याकन करना भी सम्भव हो जाता है।

नाग वंश—नाग जाति भारतकी एक आर्येतर ही नही वरन् प्रागार्य आदिम जाति थी। महाभारत युद्धके उपरान्त उसकी शक्ति एकबारगी प्रबल वेगसे जागृत हो उठी थी और उसने वैदिक अथवा आर्य क्षत्रिय राज्योको प्रायः समाप्त ही कर दिया था। नाग जातिके ही काशीके उरग वंश और तदनन्तर मगधके शैशुनाक वंशने प्रथम ऐतिहासिक भारतीय साम्राज्यकी नीव डाली थी। नाग जातिके क्षत्रियोको ब्राह्मण लोग व्रात्य-क्षत्रिय कहते थे। नागोके अतिरिक्त वैसी ही प्रागार्य अन्य जातियोके भी अनेक व्रात्य क्षत्रिय वंश उदयमे आ गये थे। व्रात्यक्षत्रिय मुख्यतया श्रमण-परम्पराके उपासक थे, उनमे-से वज्जि, लिच्छवि, ज्ञातृ, मल्ल, मोरिय, शाक्य आदि अनेक वंशोने अपने गणतन्त्र स्थापित कर लिये थे। किन्तु नन्द एवं मौर्य सम्राटोंके बढते हुए प्रतापके सम्मुख ये सभी गणतन्त्र हतप्रभ हो गये थे और शनैः-शनैः मगध साम्राज्यमे समा गये। पंजाबमें आर्य जातियोके भी कुछ गणतन्त्र थे, किन्तु सिकन्दरके आक्रमण और तदनन्तर अन्य विदेशी शासकोंके कालमें वे सब क्षीणशक्ति और छिन्न-भिन्न हो

गये थे। कुषाणोंकी अवनतिसे लाभ उठाकर नागजाति फिरसे प्रकाशमें आयी। उसके साथ-ही-साथ अनेक पुराने गणराज्य भी फिरसे सत्तावान् हुए। यह नागजातिका दूसरा ऐतिहासिक पुनरुत्थान था।

नाग-वकाटक युगके इतिहासके उद्धारकर्त्ता स्व० डॉ० काशीप्रसाद जायसवालके अनुसार इस कालके प्रथम ज्ञात नागवंशका उत्थान विदिशामे हुआ था। शुंगोके शासन-कालमे यह नगर उपराजा या राज-प्रतिनिधिका प्रसिद्ध निवासस्थान था। ई० पू० लगभग ११० मे शेष नामक नाग राजा विदिशाका शासक नियुक्त हुआ और उसके उपरान्त भोगिन, रामचन्द्र, धर्मवर्मन् और वंगरने प्रथम शती ई० पू० के मध्यके लगभग तक इस प्रदेशपर शासन किया। शुंगोंके पतनके बाद ये नाग राजे प्रायः स्वतन्त्र हो गये थे किन्तु उज्जैनीमे विक्रमादित्यके उत्थानके कारण तथा तदनन्तर शक-क्षहरातोके कारण नाग लोग अपनी राजधानीको विदिशासे उठाकर ग्वालियरके निकट पद्मावतीमे ले गये। यहाँ लगभग ई० पू० २० से सन् ७८ ई० पर्यन्त भूतनन्दी, शिशुनन्दी, यशनन्दी, पुरुषदात, उत्तमदात, भवदात, शिवदात आदि नागराजोने क्रमशः स्वतन्त्र शासन किया। कनिष्क-द्वारा उत्तर भारतमे कुषाण शक्तिका द्रुत विस्तार होनेके कारण नागलोग मध्यप्रदेशमे चले गये और होशंगाबाद एवं जबलपुरके वन पर्वतोमे रक्षित रहकर कई दशको तक राज्य करते रहे। दूसरी शताब्दी ई० के उत्तरार्धमे कुषाण साम्राज्यके अन्तिम दिनोमे वे वहाँसे निकलकर बघेलखण्ड होते हुए गंगा तटपर कान्तिपुरीमें पहुँचे और उसे अपनी राजधानी बनाकर काशीके आस-पासके प्रदेशपर राज्य करने लगे। इस नव-स्थापित वंशका प्रथम शासक नव-नाग (लगभग सन् १४०–१७० ई०) था और इसी लिए यह वंश नव-नाग वंश कहलाता है। कहा जाता है कि नवनागके वंशज शिवके भक्त हो गये थे इस कारण कालान्तरमे यह वंश भारशिव वंशके नामसे भी इतिहासमे प्रसिद्ध हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाण वासुदेवके राज्यकालमे कान्तिपुरीका

नव-नाग उत्तर प्रदेशके पूर्वी भागका एक स्वतन्त्र शासक था। उसका उत्तराधिकारी वीरसेन (१७०-२१० ई०) नवनागसे भी अधिक प्रतापी था। पंजाबमे यौधेयों-द्वारा कुषाणोंके विरुद्ध किये गये विद्रोहसे उत्पन्न अव्यवस्थाका लाभ उठाकर वीरसेनने अपनी शक्तिका विस्तार करना प्रारम्भ किया। उसने शीघ्र ही कौशाम्बीसे मथुरापर्यन्त समस्त देशपर अधिकार कर लिया और कुषाणोंको उत्तर प्रदेशसे निकाल बाहर किया। उसने पद्मावती और मथुराको अपनी उपराजधानियाँ बनायी और उनमें अपने प्रतिनिधियों एवं उपशासकोंके रूपमे नाग उपराजवंश स्थापित किये। पद्मावतीका यह नागवंश टाकवंश कहलाता है और इसमें भीमनागसे गणपति नाग पर्यन्त छह-छह शासकोंने सन् २१०-३४४ ई० पर्यन्त राज्य किया। मथुराका वंश सम्भवतया यदुवंश भी कहलाता था। इस वंशने भी प्रायः इतने ही काल राज्य किया किन्तु इसके अभीतक केवल दो राजाओं— कीर्तिषेण और नागसेनके ही नाम प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त अम्बालेके निकट स्रुघ्न नामक स्थानमे, बुलन्दशहर जिलेके इन्दुपुरमे और बरेली जिलेके अहिच्छत्रमे भी नागराज्य स्थापित हुए। सुदूर दक्षिणमे भी एक शक्तिशाली नाग-मण्डल था और राजतरंगिणीके अनुसार कश्मीरमे भी एक नाग वंशका राज्य रहा प्रतीत होता है। किन्तु उत्तर भारतका इस कालका प्रमुख और प्रधान नाग राज्यवंश कान्तिपुरीका भारशिव वंश ही था।

वीरसेनके उपरान्त हयनाग, भयनाग, बर्हिननाग, चरजनाग और भवनागने क्रमशः सन् ३१५ ई० पर्यन्त राज्य किया। इन नाग-नरेशोंने कुषाणोंको अन्ततः भारतवर्षकी सीमाओंके बाहर खदेड़ भगाया और उन्हें ईरानके सासानी शाहशापुर (३री शती ई०का मध्य) की शरण लेनी पड़ी। कुषाणोंका अन्त हो जानेके बाद भी मगधमे उनके महादानप वनस्परके वंशजोंका शासन चलता रहा। यही वंश सम्भवतया मुरुण्ड वंश भी कहलाता था। काम्बुज (हिन्दचीन) के राजाका एक दूत सन् २४५ ई० के लगभग पाटलिपुत्रके मुरुण्डराजाके दरबारमे आया था।

जैनाचार्य पादलिप्तसूरिसे सम्बन्धित अनुश्रुतिमे भी पाटलिपुत्रपर अत्याचारी मुरुण्डोके शासन और उस नगरकी भीषण बाढ़ व विनाशका उल्लेख मिलता है। इस विदेशी वंशके अन्त करनेका श्रेय वकाटक विन्ध्यशक्तिको है जो भारशिवोंका एक महासामन्त था। इसके उपरान्त चम्पामे भी पुन: नागराज्य स्थापित हुआ। किन्तु मगधमे नागोंका राज्य स्थायी न रहा। प्राचीन लिच्छविगणने वहाँ शीघ्र ही अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली और पाटलिपुत्रको अपने गणराज्यका केन्द्र बना लिया। वस्तुत: इन नागोकी शासन-प्रणाली भी संघात्मक थी, भारशिव उसके नेता थे और उनकी अध्यक्षतामे उक्त संघमे उनके प्रतिनिधि स्वरूप अनेक नागराज्य तथा प्रजातन्त्र सम्मिलित थे। उस युगमे गणतन्त्र प्रणाली ही अधिक लोकप्रिय थी। पूर्वी पंजाब एवं राजस्थानमे यौधेय, अर्जुनायन, आग्रेय आदि, मध्यभारतमे मालव, बिहारमे लिच्छवि आदि जातियोके अन्य गणराज्य थे। किन्तु नाग शक्ति व्यापक थी और इन अन्य गणोके प्रमुख व्यक्तियोको अपनी कन्याएँ विवाहमे देकर मैत्री सम्बन्ध स्थापित करके संघशक्तियोको बढ़ानेमे तत्पर थी। धर्मके विषयमे भी वे परम उदार और सहिष्णु थे। उनकी जातिमे जैन और शैव दोनों ही धर्मोकी प्रवृत्ति थी। विदिशा, पद्मावतीपुर, मथुरा, अहिच्छत्र आदि उनके प्रमुख केन्द्र जैनधर्मके भी प्रसिद्ध तीर्थ एवं प्रधान केन्द्र थे। जैन अनुश्रुतियोमें नाग जातिको विशिष्ट स्थान प्राप्त है, वे प्राचीन विद्याधरोके वंशज कहे गये है। स्थापत्य कलाकी नागर शैली एवं माथेबन्द नागरी लिपिके आविष्कारका श्रेय भी उन्हे ही दिया जाता है। अनेक नगर आज भी उनके नामकी स्मृति बनाये हुए है। जैनोंकी पद्मावतीपुरवाल आदि जातियाँ भी उक्त नागयुगके नागराजाओ-द्वारा जैनधर्मके प्रश्रयको सूचित करती है। उन्होने अपना राज्यचिह्न भी कोई साम्प्रदायिक नहीं रखा था वरन् गंगा-यमुनाके अन्तर्वेदको विदेशी शासनसे मुक्त करनेके कारण उक्त महानदियोको ही अपना राज्यचिह्न बनाया था। सर्प इस जातिका मौलिक

लांछन था। सर्प लाछन विशिष्ट तीर्थकर पार्श्वकी परम्पराभक्त नागजाति नागमण्डित योगिराज शिवकी ओर भी आकृष्ट हुई इसमे क्या आश्चर्य।

वकाटक वंश—नवनागवंशका अन्तिम शासक भवनाग पुत्रहीन था, उसके मात्र एक कन्या थी जिसे उसने अपने सामन्त विन्ध्यशक्ति वकाटकके पौत्र और प्रवरसेन वकाटकके पुत्र गौतमीपुत्रको विवाह दी थी। गौतमी-पुत्रकी शीघ्र ही मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र रुद्रसेन बालक था, किन्तु वह अपने पितामहके छोटे-से राज्यका ही नही बल्कि अपने नानाके विशाल राज्यका भी उत्तराधिकारी था। भवनागकी मृत्युके उपरान्त प्रवरसेनने अपने पोतेके संरक्षकके रूपमे भारशिव और वकाटक दोनों राज्योको सम्मिलित करके शासन चलाया। वह बडा शक्तिशाली राजा था। चारों दिशाओमे उसने दिग्विजय की, विशेषकर मालवा, गुजरात और सौराष्ट्रकी विजय करके उसने ४थी शती ई० के प्रारम्भमे उक्त देशोमे चष्टन-वंशी शक क्षत्रपोके शासनका प्रायः अन्त कर दिया था। अब वकाटक शक्ति भारतवर्षकी सर्वोपरि राज्य-शक्ति थी। सन् ३३५ ई० मे प्रवरसेनकी मृत्यु हुई और उसका पौत्र एवं उत्तराधिकारी रुद्रसेन प्रथम (३३५-३६० ई०) गद्दीपर बैठा। उसके राज्यमे उत्तरप्रदेश, मध्यभारत, मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र तथा दक्षिणके भी कुछ भाग शामिल थे। उसके अन्तिम दिनोमे शकक्षत्रप रुद्रदामन द्वितीयने फिरसे सौराष्ट्र एवं गुजरातपर अधिकार कर लिया। रुद्रसेनके पश्चात् पृथ्वीसेन वकाटक (३६०-३८५ ई०) राजा हुआ। इसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय था। इस कालमे मगधमे गुप्त साम्राज्यका उदय हो रहा था। वकाटक शक्ति अब भी प्रबल थी और पश्चिमी शक क्षत्रपोका अन्त करनेमे विशेष रूपसे सहायक हो सकती थी। अतः गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीयने अपनी कन्या प्रभावतीका विवाह रुद्रसेन द्वितीयके साथ कर दिया। विवाहके पाँच वर्ष उपरान्त ही रुद्रसेन-की मृत्यु हो गयी और प्रभावतीने राज्यकार्य सँभाला। वकाटक सेनाओंकी सहायतासे गुप्तसम्राट् गुजरात सौराष्ट्र आदिसे भी शक सत्ताका उच्छेद

करनेमे सफल हुए और प्रभावतीकी मृत्युके उपरान्त वकाटक राज्य भी गुप्त साम्राज्यका ही अंग हो गया।

ये वकाटकवंशी नरेश भी परधर्मसहिष्णु थे। नागोकी भाँति इनके शासनकालमे भी जैनधर्म उत्तर भारतके विभिन्न केन्द्रोंमे फलता-फूलता रहा, किन्तु अब उसके सर्वप्रधान केन्द्र सौराष्ट्र और कर्णाटक हो गये थे। उत्तर भारतमे वह शनैः-शनैः गौण स्थितिको प्राप्त हो गया, सिवाय मध्य भारत और राजस्थानके तथा कतिपय प्राचीन केन्द्रोके। किन्तु सम्पूर्ण दक्षिण भारत, कलिग और गुजरातमे उसने अभूतपूर्व प्रगति की और लगभग एक सहस्र वर्ष पर्यन्त तत्स्थानीय छोटे-बडे राज्यो तथा जनताका प्रधान धर्म बना रहा। बौद्ध धर्म नाग-वकाटक युगसे ही भारतवर्षमे पतनोन्मुख होता चला गया। बीच-बीचमे राज्याश्रय पाकर उसने बल पकड़ा किन्तु सामान्यतः प्रमुख केन्द्रोको छोडकर अन्यत्र उसके चिह्न लुप्त होने लगे। इस परिस्थितिमे भागवत और शैव धर्म धीरे-धीरे समुन्नत एवं व्यापक होने लगे।

अध्याय ५

प्राचीन युग—चतुर्थ पाद

उत्तर भारत (सन् ३००–१२०० ई०)

चौथी शताब्दी ई० के पूर्वार्धमे नाग-वकाटक युगकी समाप्ति और गुप्त साम्राज्यके उदयके साथ-ही-साथ भारतीय इतिहासके प्रान्तीय युगका पूर्वार्ध समाप्त हो जाता है और उसके उत्तरार्धका प्रारम्भ हो जाता है। इस उपरान्त कालमे ऐतिह्य साधनोकी विविधता एवं प्रचुरताके कारण इतिहासकारका कार्य भी पहलेकी अपेक्षा अधिक सुगम हो जाता है।

गुप्त वंश—गुप्त वंश मूलतः सम्भवतया प्राचीन व्रात्य जातिका ही एक ऐसा अंश था जिसने वैश्य वृत्ति अगीकार कर ली थी। किन्तु प्राचीन कालमें और विशेषकर श्रमण परम्पराके अनुयायी व्रात्य आदिकोंमे वर्ण जन्मतः नहीं कर्मतः था और वर्णपरिवर्तन सहज था एवं व्यक्तिगत स्वेच्छापर निर्भर था। अतः प्रारम्भिक गुप्तलोग राज्याधिकारी और सामन्त आदि भी रहे प्रतीत होते है। चन्द्रगुप्त मौर्यके शासन-कालमे उसका एक कर्मचारी जो गिरनार प्रदेशका शासक था वैश्य पुष्यगुप्त था। मथुराके एक शककालीन जैन शिलालेखमे एक गोप्तिपुत्रका उल्लेख है जो शको और पह्लवोके लिए 'कालव्याल' सदृश कहा गया है। उसकी जननी गुप्त वंशकी कन्या रही प्रतीत होती है। इसी प्रकार भरहुतके एक स्तम्भ लेखमे एक अन्य गोप्तिपुत्रका उल्लेख है जिसका नाम राजा विसदेव था।

ऐतिहासिक गुप्तवंशका प्रथम पुरुष राजा श्रीगुप्त था जिसने नाग-वकाटको-द्वारा मगधसे शक शासनका उच्छेद कर दिये जानेके समय

नालन्दासे ४० योजन पूर्वकी ओर अपना एक छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया था। उस प्रदेशमे बौद्ध धर्मकी प्रवृत्ति कुछ अधिक थी, यह राजा भी इसी धर्मका अनुयायी रहा प्रतीत होता है। मृगशिखा वनके निकट उसने चीनी बौद्ध यात्रियोके निवासके लिए एक विहारका निर्माण भी कराया बताया जाता है। उसका उत्तराधिकारी घटोत्कचगुप्त था जिसने 'महाराज' पदवी धारण की। इसका पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम था और उसने 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण की। ऐतिहासिक गुप्त वंशका यही प्रथम सम्राट् था और सन् ३१९-२० ई० मे इसके राज्याभिषेकसे ही गुप्त संवत्की प्रवृत्ति हुई मानी जाती है। उत्तरी मगधमे उस समय लिच्छविगण शक्तिशाली था। पाटलिपुत्रपर भी उसका अधिकार था। चन्द्रगुप्तने पाटलिपुत्रके लिच्छवि नरेशकी एकमात्र कन्या कुमारदेवीके साथ विवाह करके अपनी शक्तिका विस्तार किया। इस सम्बन्धके कारण पाटलिपुत्रपर भी उसका अधिकार हो गया और लिच्छविगणका सम्पूर्ण प्रदेश उसके राज्यका अंग बन गया। पश्चिमकी ओर उत्तर प्रदेशमे भी उसने अपने राज्यका विस्तार किया। लिच्छवियोके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेके लिए उसने लिच्छविकन्या कुमारदेवीकी मूर्ति भी अपने साथ ही अपनी मुद्राओं-पर अंकित करायी और अन्य रानियोके अनेक ज्येष्ठ पुत्र रहते हुए भी उसीसे उत्पन्न लिच्छवि-दौहित्र समुद्रगुप्तको अपना उत्तराधिकारी बनाया। चन्द्रगुप्त प्रथमने सम्भवतया सन् ३१५-३२८ ई० तक राज्य किया और सन् ३१९-२० ई० मे सम्भवतया उसने पाटलिपुत्रमे अपना राज्याभिषेक करके स्वयंको सम्राट् घोषित किया था।

समुद्रगुप्त (३२८-३७८ ई०) एक परम प्रतापी और महान् विजेता सम्राट् था। अपनी दिग्विजयके कारण वह भारतीय इतिहासमे स्मरणीय माना जाता है। प्रारम्भमे उसे गृहकलहका सामना करना पडा, काचके नेतृत्वमे उसके अन्य भाइयोने उसके विरुद्ध विद्रोह किया, किन्तु समुद्रगुप्तने शीघ्र ही विद्रोहका दमन कर दिया। तदुपरान्त वह दिग्वि-

जयके लिए निकला। सर्वप्रथम उसने अहिच्छत्र-नरेश अच्युत, पद्मावती-नरेश भारशिव नागसेन और पूर्वी पंजाबके कोटकुल वंशी नरेशको विजय करके अपनी आर्यावर्तकी विजय पूर्ण की। तदनन्तर उसने दक्षिणकी विजययात्रा की और दक्षिणकोसलके राजा महेन्द्र, महाकान्तारके व्याघ्रराज, कोशलके मंटराज, पिष्टपुरके महेन्द्रगिरि, कोट्टूरके स्वामिदत्त, ऐरण्डपल्लके दमन, कांचीके विष्णुगोप पल्लव, अवमुक्तकके नीलराज, वेगिके हस्तिवर्मन, पाल्लकके उग्रसेन, देवराष्ट्रके कुबेर, कौस्थलपुरके धनंजय आदि विभिन्न छोटे-बड़े राजाओंको पराजित करके उनसे अपनी अधीनता स्वीकार करायी। उसकी दक्षिण यात्राका लाभ उठाकर उत्तरके अनेक नाग, वकाटक तथा अन्य राजाओंने विद्रोह कर दिया था, अत. लौटकर उसने उनका नमन किया और उनमे-से अनेकोंके राज्यको अपने साम्राज्यमे मिला लिया। समतट, कामरूप, नेपाल, दवाक और कर्तृपुर आदि प्रत्यन्त राज्योंको उसने अपना करद बनाया, आटविक राजाओंको परिचारक बनाया और मालव, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर आदि गणराज्योसे भी अपनी अधीनता स्वीकार करायी। अवशिष्ट शक, मुरुण्ड आदि राजाओंका भी दमन किया। इस प्रकार इस महान् विजेताने प्रायः सम्पूर्ण भारतमे अपनी विजय-पताका फहरायी और पाटलिपुत्रके गुप्त साम्राज्यको अपने विस्तारकी चरम सीमापर पहुँचा दिया। इस उपलक्षमे उसने नवीन सिक्के चलाये तथा अश्वमेध यज्ञ किये। किन्तु ये यज्ञ प्राचीन वैदिक शैलीके हिंसा-प्रधान यज्ञ नही थे वरन् दान-पुण्य, दीन-दरिद्रोंकी सहायता आदि ही इन साकेतिक यज्ञोंका प्रधान अंग था। इस सम्राट्के गुणो, विजयों एवं कार्यकलापोंका सुन्दर वर्णन प्रयागके अशोक स्तम्भपर उत्कीर्ण इस नरेशकी विस्तृत संस्कृत प्रशस्तिमे पाया जाता है जिसका रचयिता उसका सन्धिविग्रहिक महादण्डनायक हरिषेण था। सम्राट् समुद्रगुप्त विद्याव्यसनी, संगीत और कलाका प्रेमी, वीरपराक्रमी, कुशल सेनानायक, महान् योद्धा, उदार दानी और धार्मिक नररत्न था।

वह अपने युगके वैदिक धर्मका अनुयायी था किन्तु परधर्मसहिष्णु भी था। उसकी अग्रमहिषी दत्तमहादेवी थी जिसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७९–४१४ ई०)–समुद्रगुप्तकी मृत्युके उपरान्त उसके ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्तने सिंहासनपर अधिकार कर लिया, किन्तु वह निर्बल और कामुक था। साम्राज्यके अनेक सामन्तोने विद्रोह किया, और विशेषकर गान्धार-काम्बोजके कुषाणो और पश्चिमके शक-क्षत्रपोने सिर उठाया। शकोके साथ युद्धमे रामगुप्त बन्दी हुआ और उसने इस शर्तपर अपने प्राण बचाये कि वह शक राजाको अपनी रानी ध्रुवदेवी समर्पित कर देगा। किन्तु चन्द्रगुप्तने ध्रुवदेवीका वेष बनाकर छलसे शकराजाकी हत्या कर दी और भाईको छुडा लिया। बादमे उसे भी मारकर उसने सिंहासनपर अधिकार कर लिया और ध्रुवदेवीको अपनी पत्नी बनाया। अपनी पहली पत्नी कुबेरनागासे उत्पन्न कन्या प्रभावतीका विवाह उसने वकाटक रुद्रसेनके साथ कर दिया और वकाटक शक्तिकी सहायतासे गुजरातके शक महाक्षत्रप सिंहसेनको पराजित किया। वस्तुतः उसने भारतवर्षसे शकोका उच्छेद ही कर दिया और शकारि एवं विक्रमादित्य विरुद प्राप्त किये। उज्जैनीको भी उसने अपनी राजधानी बनाया। पिता-द्वारा विजित साम्राज्यका संगठन करके वह भारतवर्षका महान् प्रतापी सम्राट् हुआ। वह साहित्य-रसिक और गुणियोका अनुपम प्रश्रय-दाता था। कालिदास आदि उसकी सभाके नवरत्न लोकप्रसिद्ध है। उसीके समयसे इस वंशमे भागवत धर्मकी प्रवृत्ति हुई और गुप्तनरेश परमभागवत परमभट्टारक परमेश्वर महाराजाधिराज कहलाने लगे। यह सम्राट् सर्व-धर्मसहिष्णु, उदार, दानशील, नीतिनिपुण, न्यायपरायण और पराक्रमी था। साम्राज्यमे सुख-शान्ति और समृद्धि थी, ज्ञान-विज्ञान और कलाकी अभूतपूर्व उन्नतिने इस युगको भारतीय इतिहासका स्वर्णयुग बना दिया। उसने अश्वमेध यज्ञ भी किया बताया जाता है। उसके समयके अनेक शिलालेख मिलते है। महरौली स्तम्भ लेखका प्रतापी चन्द्र नरेश भी

कुछ विद्वानोंके मतसे वही था। उसके सिक्के भी मिलते हैं। चीनी यात्री फ़ाह्यान (३९९–४१४ ई०) ने इसीके समयमें भारत-यात्रा की थी।

कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य (४१४–४५५ ई०) पट्ट महादेवी ध्रुवदेवीसे उत्पन्न चन्द्रगुप्तका पुत्र था। इसके समयमें विशाल गुप्त साम्राज्य अक्षुण्ण रहा, बल्खसे लेकर बंगालकी खाडी पर्यन्त उसका अबाधित शासन था। गुप्तशक्ति इस समय अपने चरम शिखरपर थी, सर्वत्र सुख-शान्ति और समृद्धि थी। सम्राट् परम भागवत था किन्तु जैन, बौद्ध आदि अन्य धर्म भी स्वतन्त्रतापूर्वक फल-फूल रहे थे। इसने भी अश्वमेध यज्ञ किया। मध्य भारतमें पुष्यमित्रोंने विद्रोह किया किन्तु कुमार स्कन्दगुप्तने उनका दमन किया। बर्बर श्वेत हूणोंके आक्रमण भी इस सम्राट्के अन्तिम दिनोंमें प्रारम्भ हुए। इसने नये सिक्के भी चलाये। नालन्दा विश्वविद्यालयका उदय भी इसीके समयमें हुआ बताया जाता है।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (४५५–४६७ ई०) का बडा भाई पुरुगुप्त उसका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था, किन्तु पुष्यमित्रों और हूणोंके दमनमें अद्भुत वीरता प्रदर्शित करनेके कारण स्कन्दगुप्त लोकप्रिय हो गया था और पिताकी मृत्युके बाद वही साम्राज्यका अधिपति हुआ। उसने सिंहासनपर बैठते ही समस्त प्रान्तोंमें शासक नियुक्त करके शासन-व्यवस्था ठीक की। उसने पर्णदत्तको सुराष्ट्रका गवर्नर बनाया। पर्णदत्तके पुत्र चक्रपालितने जो जूनागढ (गिरनार) का नगरपाल था इतिहासप्रसिद्ध सुदर्शन तालका जीर्णोद्धार कराके वहाँ शिलालेख अंकित कराया था। स्कन्दगुप्तके शासनकालमें हूणोंके आक्रमण बराबर होते रहे और उसका सारा जीवन उनके साथ युद्ध करते ही बीता। भिटारीकी विष्णुमूर्त्तिके लेखमें इस सम्राट्-द्वारा देशको हूणोंसे त्राण दिलानेका वर्णन है। युद्धोंके कारण देशकी समृद्धि कम हो गयी, राजकोष भी खाली हो गया, उसके सिक्के भी हलके तथा मिश्रित स्वर्णके हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसने साम्राज्यको अक्षुण्ण रखा। गुप्त वंशका वह अन्तिम महान् सम्राट् था।

पुरुगुप्त (४६७-७० ई०)—स्कन्दगुप्तके कोई पुत्र नही था अतः उसका बडा भाई पुरुगुप्त जो अब वृद्ध हो चुका था सम्राट् हुआ। यह बौद्ध धर्मका अनुयायी था और एक निर्बल शासक था। वकाटक नरेन्द्रसेन-ने हूणोके आक्रमणके समय ही अपनी शक्ति बढानी शुरू कर दी थी। अब वह स्वतन्त्र हो गया और शीघ्र ही उसने सम्पूर्ण मालवे तथा दक्षिण कोसलके भी कुछ भागपर अपना अधिकार कर लिया।

नरसिंहगुप्त (४७०-७३ ई०) पुरुगुप्तका पुत्र था। इसने 'बाला-दित्य' उपाधि धारण की। यह भी बौद्ध था। उसके समयमे भी गुप्त साम्राज्यका ह्रास जारी रहा।

कुमारगुप्त द्वितीय (४७३-७७ ई०) वैष्णव और परमभागवत था। इसने वकाटकोसे मालवाको फिरसे विजय कर लिया। उसके बाद **बुधगुप्त** राजा हुआ जिसने लगभग ४७५ ई० तक राज्य किया। अब गुप्त नरेश फिरसे पाटलिपुत्रमे ही रहने लगे थे। साम्राज्यका विस्तार संकुचित होता जा रहा था। बुधगुप्त धर्मसे बौद्ध था और नालन्दा विहारको उसने बडी सहायता की थी। इसके पश्चात् **वैण्यगुप्त** राजा हुआ जिसने लगभग ५०७ ई० तक राज्य किया। इसने युद्धमे प्रायः कोई भाग नही लिया अतः इसके सिक्कोमे स्वर्णकी मात्रा फिरसे बढी हुई मिलती है। यह राजा वैष्णवधर्मी रहा प्रतीत होता है।

इसके उपरान्त गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। उसके पश्चिमी भागपर भानुगुप्त बालादित्यका अधिकार पाया जाता है। तोरमाणके नेतृत्वमे हूणोने फिर प्रबल आक्रमण किये। सन् ५१०-११ई० मे भानुगुप्तने उन्हे बुरी तरह पराजित भी किया, किन्तु उसका प्रसार बढ़ता ही गया। गुप्त राज्य अब बगालसे मथुरा पर्यन्त उत्तर भारतमे ही सीमित रह गया था। हूणोके आक्रमणोसे उत्पन्न विषम परिस्थितिका लाभ उठाकर अनेक प्रान्तीय शासक, सामन्त एवं उपराजे स्वतन्त्र हो गये थे। इनमे-से मालवाके यशोधर्मन, कन्नौजके मौखरी, थानेश्वरके वर्धन और वल्लभीके मैत्रक

नरेश प्रमुख है। इन्ही शक्तियोने अन्ततः हूणोका उच्छेद किया। गुप्त नरेशोका सूर्य अस्तंगत था, वंशकी कई शाखाएँ हो गयी थी। ५३५ ई० मे भानुगुप्तकी मृत्यु हुई और कुमारगुप्त तृतीय गद्दीपर बैठा। तदनन्तर दामोदरगुप्त राजा हुआ और उसने लगभग ५५० ई० तक राज्य किया। इस कालमे कन्नौजमे ईशानवर्मन् मौखरिने स्वतन्त्र होकर सम्पूर्ण मध्यदेशसे गुप्त शासनका अन्त कर दिया। दामोदरगुप्तके उपरान्त महासेनगुप्त राजा हुआ। छठी शतीके अन्त तक वह जीवित रहा। उसके समयमे गुप्त वंशकी शक्ति फिर कुछ सँभली। उसके पुत्र कुमारामात्य देवगुप्तने मालवापर अधिकार कर लिया और वहाँ स्वतन्त्र शासककी भाँति राज्य किया। यह महाराज देवगुप्त जैनधर्मानुयायी था। इसने बंगालके गुप्तवंशी शासक शशाकके साथ मिलकर गृहवर्मन् मौखरिको युद्धमे पराजित किया और मार डाला। इसपर गृहवर्मन्के साले, थानेश्वरके राज्यवर्धनने देवगुप्तपर आक्रमण किया और उसे पराजित किया। इस पराजयसे देवगुप्तका चित्त संसारसे विरक्त हो गया और वह अपने ही वंशके जैन मुनि हरिगुप्तसे दीक्षा लेकर जैन साधु हो गया। उसके साथ ही मालवा व मध्यभारतमे सदाके लिए गुप्तवंशका अन्त हो गया। उसके पिता महासेनगुप्तने अपनी बहनका विवाह थानेश्वरके आदित्यवर्धनके साथ कर दिया था और देवगुप्तका छोटा भाई माधवगुप्त अपनी बुआके पास थानेश्वरमे ही रहता था, अतः राज्यवर्धन और हर्षके साथ उसकी मैत्री रही। महासेनगुप्तके बाद पाटलिपुत्रके गुप्त राज्यका माधवगुप्त ही स्वामी हुआ। उसके उपरान्त आदित्यसेन, देवगुप्त द्वितीय, विष्णुगुप्त और जीवितगुप्त क्रमशः गुप्तोंके सिहासनपर बैठे। ७वी शतीके अन्तके लगभग जीवितगुप्तकी मृत्युके साथ-साथ गुप्त वंश और उसके राज्यका अन्त हो गया।

यद्यपि गुप्त साम्राज्यका अभ्युदय काल समुद्रगुप्तसे लेकर स्कन्दगुप्त पर्यन्त लगभग डेढ़ सौ वर्षका ही रहा तथापि ४ थी से ६ ठी शती ई० पर्यन्त तीन सौ वर्षका काल भारतीय इतिहासका गुप्तयुग कहलाता है।

यह स्वतन्त्र भारतका स्वर्ण युग था। अपने चरमोत्कर्ष कालमें गुप्त सम्राट् 'आसमुद्रक्षितीश' थे, प्रान्तीय एवं नागरिक शासन सुव्यवस्थित था, न्याय-विधान उदार और नरम था। सर्वत्र सुख-शान्ति और समृद्धि थी। विविध उद्योग धन्धे एवं व्यवसाय श्रेणियो और निगमोमे भली प्रकार सुसंगठित अत्युन्नत दशामे थे। अन्तर्देशीय ही नही जल-थल द्विविध मार्गोसे पूर्व-पश्चिम एवं दक्षिणके बाहरी देशोके साथ भारतका व्यापार बढ़ा-चढ़ा था। गुप्त-नरेशोकी स्वर्णमुद्राएँ देशमे स्वर्णकी प्रचुरताकी परिचायक है। इस कालमे विविध उपयोगी एवं ललित कलाओंकी अभूतपूर्व उन्नति हुई। उत्तर भारतकी आर्य, नागर या पंचरत्न शैलीके शिखर-बन्द मन्दिरोका निर्माण इसी कालमे प्रारम्भ हुआ। जैन, बौद्ध एवं वैष्णव धर्मोंके आश्रित मूर्त्तकलाका भी अद्भुत विकास हुआ। देवगढ़ और भिटारीके विष्णुमन्दिर तथा देवगढ आदिके जैनमन्दिर उल्लेखनीय है। चित्रकला एव सगीतने भी प्रशंसनीय उन्नति की। महाकवि कालिदास, भारवि, सुबन्धु, दण्डी, बाण, विशाख, शूद्रक, भट्टि, सिद्धसेन, हरिषेण, रविकीर्त्ति आदि अनेक कवियोने भारतीके भण्डारको समृद्ध किया, वराहमिहिर, आर्यभट्ट, अमरसिंह, ब्रह्मगुप्त, पूज्यपाद आदिने विज्ञानको और ईश्वर-कृष्ण, दिङ्नाग, वसुबन्धु, भर्तृहरि, पात्रकेसरि, सिद्धसेन आदिने दर्शन एवं न्याय शास्त्रको अमूल्य भेटे प्रदान की। प्रमुख हिन्दू पुराणो और धर्म-शास्त्रोकी भी रचना इसी कालमे हुई। भारतीय धर्मो और संस्कृतिका प्रसार देशकी सीमाओको लांघकर मध्य एशिया तक तथा दक्षिण एवं पूर्वमे बर्मा, मलाया, स्याम, हिन्दचीन, लंका, पूर्वीद्वीप समूह आदिमे भी पहुँचा और अनेक भारतीय उपनिवेश एवं भारतीय राज्य उन देशोमे स्थापित हुए। चीनी यात्रियोके विवरणोसे भी उस कालकी देश-दशापर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। इस स्वर्णयुगमे देशकी निश्चय ही सर्वतोमुखी उन्नति हुई।

धार्मिक दृष्टिसे इस युगमे भागवत या वैष्णव, जैन और बौद्ध

तीनों हो प्रधान धर्म समुन्नत दशामें सहयोग एवं सद्भावपूर्वक फले-फूले। गुप्तवंशमें प्रधानतया भागवत धर्मकी प्रवृत्ति थी और प्रमुख सम्राटोंके समय वही राज्यधर्म था किन्तु इस वंशके कई, विशेषकर उत्तरवर्ती, राजे बौद्ध धर्मके अनुयायी हुए और कुछ एक जैन धर्मके भी। राज्यवंशके स्त्री-पुरुषोंमें स्वेच्छा और स्वरुचिके अनुसार इन तीनों ही धर्मोंके अनुयायी रहे पाये जाते हैं। गुप्त-नरेश सर्वधर्मसहिष्णु थे। धार्मिक अत्याचार या प्रतिबन्धोंका उस कालमें कोई चिह्न नहीं मिलता। जहाँतक जैनधर्मका सम्बन्ध है वह समुन्नत दशामें था। कर्णाटकको केन्द्र बनाकर प्रायः पूरे दक्षिणापथपर दिगम्बर सम्प्रदाय व्याप्त था। गुजरात, सौराष्ट्र, पश्चिमी राजस्थान और मालवामें श्वेताम्बर सम्प्रदाय प्रमुख था। उत्तरापथमें मथुरा, हस्तिनापुर, अहिच्छत्र, भिन्नमाल या श्रीमाल, कोल, उच्चैनगर, कौशाम्बी, देवगढ, विदिशा, श्रावस्ती, वैशाली, वाराणसी, पाटलिपुत्र, राजगृही, चम्पा, पहाड़पुर आदि जैनधर्मके प्रसिद्ध केन्द्र थे। पंजाबसे लेकर बंगाल तक जैन मुनियोंका स्वच्छन्द विहार था। प्रधानतः दिगम्बर-श्वेताम्बर उभय सम्प्रदायोंमें विभक्त तथा अनेक गण गच्छ शाखा कुल अन्वयों आदिके रूपमें सुसंगठित चतुर्विध जैनसंघ एक परिपुष्ट लोक-शक्ति था और जन-जीवनपर उसका पर्याप्त नैतिक प्रभाव था। गुप्तकालीन उपलब्ध जैन अवशेषोंमें मथुरासे प्राप्त प्रस्तरमयी जिनमूर्त्तियाँ, यक्ष-यक्षियोंकी मूर्त्तियाँ एवं कई शिलालेख, कहाऊँ (जिला गोरखपुर) का पंच जिनेन्द्रकी प्रतिमाओंसे युक्त लेखांकित जैनस्तम्भ, पहाड़पुर (बंगाल) से प्राप्त तथा पंचस्तूपान्वयी शाखाके दिगम्बर गुरुओं-द्वारा उत्कीर्ण कराया हुआ ताम्रपत्र जिसमें वटगोहालीके जैन अधिष्ठानको किसी ब्राह्मण दम्पति-द्वारा दान दिये जानेका उल्लेख है, विदिशाके निकट उदयगिरिके शिलालेख युक्त जैन गुहामन्दिर, देवगढ़ (ज़िला झाँसी) के प्राचीन जैनमन्दिर आदि प्रमुख हैं। मगधके जिस लिच्छवि गणकी सहायतासे तथा लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवीके साथ विवाह करनेके कारण चन्द्रगुप्त

प्रथमका भाग्योदय हुआ था और गुप्त साम्राज्यकी नीव पड़ी थी, वह प्राचीन व्रात्य क्षत्रियोका कुल महावीरका ही वंश था और उसमे जैन-धर्मकी प्रवृत्ति थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्यकी सभाके सुप्रसिद्ध नव-रत्नोमे क्षपणक नामसे सूचित विद्वान्को आधुनिक विद्वान् एक दिगम्बरा-चार्य रहा मानते है और यह भी विश्वास करनेके पर्याप्त कारण है कि यह दिगम्बराचार्य सुप्रसिद्ध द्वात्रिंशिकाओके रचयिता सिद्धसेन प्रथम थे। उज्जैन-के महाकाल मन्दिरमे उनके द्वारा किये गये चमत्कारोको लेकर कई किव-दन्तियाँ प्रचलित है। कुमारगुप्तके समयमे वाराणसीके पंचस्तूपान्वयी दिगम्बरा-चार्य गुहनन्दीके शिष्य बंगालके पुण्ड्रवर्धनमे स्थित वटगोहाली नामक विशाल जैन विहारके अधिष्ठाता थे। स्कन्दगुप्तने गिरनारके शासक चक्रपालितसे अरिष्टनेमिकी तपोभूमि ऊर्जयन्तगिरिकी तलहटीमे स्थित मौर्यकालीन सुदर्शन सरोवरका जीर्णोद्धार कराया था, कहाऊँका जैनस्तम्भ भी उसीके समयका है जिसमे इस नरेशकी प्रशंसा है। इसी कालमे राढ़ (बंगाल) के एक जैन मुनिने मथुरामे आकर जिनमूर्त्ति प्रतिष्ठित करायी थी। कुवलयमालाके रच-यिता उद्योतनसूरि (७७८ ई०) परम्परागुरु हरिगुप्तसूरि गुप्तवंशके ही एक राजपुरुष थे जिन्होने गुप्तोके परम शत्रु स्वयं हूणनरेश तोरमाणको अपने तेजसे परास्त करके उसे अपना भक्त बनाया था। इन्ही हरिगुप्तके शिष्य राजर्षि देवगुप्त थे जो छठी शती ई० के उत्तरार्धमे मालवाके गुप्त नरेश थे। चन्द्रगुप्त द्वितीयके शासनकालमे आनेवाले चीनी यात्री फाह्यानने उत्तरी भारतके विविध स्थानोंमे जिन बौद्धेतर साधुओ, सम्प्रदायो और धार्मिक संस्थानोको देखा था उसमे-से अनेक जैन थे, यह उक्त वर्णनोसे भली प्रकार सूचित होता है। उसके अनुसार इस विशाल देशके बहुभाग मध्य-देशमे 'प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहारकी लिखा-पढी और पचायत कुछ नही है। लोग जहाँ चाहे जायँ, जहाँ चाहे रहे। राजा न प्राणदण्ड देता है न कोई अन्य शारीरिक दण्ड।...सारे देशमे सिवाय चाण्डालोके कोई भी अन्य व्यक्ति न जीवहिसा करता है, न मद्य पीता है और न लहसुन-प्याज खाता है। दस्युको

चाण्डाल कहते है। वे नगरके बाहर रहते है और जब नगरमे आते है तो सूचनाके लिए लकड़ी बजाते चलते है जिससे लोग जान जाये और बचकर चले। जनपदमे कोई भी सूअर या मुर्गी नही पालता, न जीवित पशुओको बेचता है। न कही सूनागार और मद्यकी दुकाने है। केवल चाण्डाल ही मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते है।' चीनी यात्रीके वर्णनसे प्रकट इस तरहका आचार-विचार जैनधर्मके व्यापक प्रभावका ही फल रहा होगा। मद्य-मास, मछली, प्याज, लहसुन, मृगया आदिका सेवन न हिंदू धर्मंमे वर्जित था और न बौद्धधर्ममे। इन वस्तुओका ऐसा सर्वथा अभाव जैन प्रभावसे ही सम्भव हो सकता था। साराश यह कि गुप्तकालमे उदार गुप्त-नरेशोके प्रश्रयमे जैनधर्मका प्रभाव एवं प्रसार देशमे पर्याप्त व्यापक था, यह धर्म उस कालमे समुन्नत दशामे था और लोक-जीवनका एक प्रमुख अंग था। देशकी सास्कृतिक अभिवृद्धि, कलाकृतियों, विविध साहित्य एवं विज्ञानके निर्माण विकासमे भी तत्कालीन जैनोका योगदान कम नही था। श्वेताम्बर आगमोका सकलन भी इसी युगमे (४५३ई०) मे देवर्द्धिगणि-द्वारा वल्लभीमे हुआ था।

हूण—श्वेत हूण मंगोलियाकी निवासी एक अत्यन्त बर्बर, युद्धप्रिय और खानाबदोश जाति थी। इन्हीके दबावसे पीडित होकर २ री शती ई० पू० मे यूची जाति स्वदेशसे खदेडी जाकर सीथियापर जा टूटी थी और परिणाम स्वरूप शकोका भारतमे प्रवेश हुआ था। एक बार फिरसे हूणोके आक्रमणोसे त्रस्त होकर १ ली शती ई० मे यूचीलोग कुषाणोके रूपमे भारतमे प्रविष्ट हुए। भारतके कुषाण साम्राज्यकी प्रबल शक्तिके कारण हूणोने उन्हे फिर तंग नही किया और वे पश्चिमकी ओर यूरोपीय देशोपर टूट पड़े जहाँ उनके दुर्दान्त आक्रमणोने विशाल रोमन साम्राज्यको छिन्न-भिन्न कर दिया। पश्चिमी जगत्मे हूण सरदार एटिल्लाका नाम चिरकाल तक भयका संचार करता रहा। पाँचवी शती ईसवीके द्वितीय पादमे इस भयंकर जातिने फिर भारतको ओर रुख किया। गान्धार आदि भारतके सीमान्त प्रदेशोपर

इन्होने शीघ्र ही अधिकार कर लिया किन्तु गुप्त साम्राज्यकी प्रवल शक्तिके कारण देशमे सहसा घुस आनेका उन्हे साहस न हुआ। कुमारगुप्त प्रथमके अन्तिम वर्षोमे उन्होने पंजाबपर आक्रमण किया, किन्तु कुमार स्कन्दगुप्तने उन्हे खदेड बाहर किया। स्कन्दगुप्तके शासनकालमे हूणोके कई आक्रमण हुए और उक्त सम्राट्का प्राय. समस्त जोवन उनके साथ ही लडते बीता परन्तु वे उससे बराबर पराजित ही हुए। उसकी मृत्युके बाद उसके निर्वल उत्तराधिकारियोके समयमे हूणोने गन्धार और उद्यान ही नही, समस्त पंजावपर अपना अविकार कर लिया। नरसिहगुप्त बालादित्यने भी उन्हे हराया बताया जाता है किन्तु उसका कोई स्थायी परिणाम नही हुआ। सन् ४७३ ई० के लगभग हूण सरदार तोरमाण हूण राज्यका अधिपति बना। उसने सम्पूर्ण सीमान्त, पंजाब, मथुरा पर्यन्त पश्चिमी उत्तर प्रदेश और मध्यभारतके बहुत-से भागपर अधिकार कर लिया। चन्द्रभागाके किनारेपर पवैया नामकी नगरी उसकी राजधानी थी, ग्वालियरको उसने अपनी उप-राजधानी बनाया प्रतीत होता है। शनै:-शनैः गुप्त राजाओ-को पराजित करके या गुप्त प्रदेशोको जीतकर ही उसने इतना राज्य विस्तार किया था। कुवलय मालाके अनुसार गुप्त वंशमे ही उत्पन्न जैन मुनि हरिगुप्तने उस बर्बर हूणपर आध्यात्मिक एवं नैतिक विजय प्राप्त की थी और उसे अपना भक्त बना लिया था। उसके आग्रहपर यह मुनि उसकी राजधानीमे भी कुछ वर्ष रहे। यह राजा परधर्मसहिष्णु था। ऐसा लगता है कि इसने भारतीय धर्म और संस्कृतिको अपना लिया था। विष्णुका एक मन्दिर और बौद्धोके लिए एक विहार भी उसने बनवाया कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने जैन, बौद्ध और वैष्णव तीनो ही प्रधान भारतीय धर्मोको क्रमशः या एक साथ अपनाया था। पंजाबके कुर्रा और मध्यप्रदेशके एरन नामक स्थानोसे उसके शिला-लेख मिले है, कुछ सिक्के भी मिले है। सन् ५१०-११ ई० मे भानुगुप्तने उसे युद्धमे पराजित किया बताया जाता है, यह नही कहा जा सकता कि

वह विजय कितनी स्थायी रही थी। तोरमाण या तोरराय उसके उपरान्त भी जीवित और शक्तिशाली रहा। ५१५ ई० के लगभग उसकी मृत्यु हुई और उसका पुत्र मिहिरकुल हूणराज्यका अधिपति हुआ। वह भी भयकंर योद्धा था किन्तु अपने पिताकी भाँति सभ्य और उदार शासक नही था, वरन् क्रूर और अत्याचारी था। उसके सिक्कोसे इसका शैव होना सूचित होता है। एरन और ग्वालियरमे उसके शिलालेख भी मिले है। अपनी असहिष्णुता, क्रूरता और अत्याचारोके कारण वह सबका अप्रिय हो गया। इसने साकल या स्यालकोटको अपनी राजधानी बनाया था और बालादित्यको भी पराजित किया था, किन्तु सन् ५३०-३१ मे मालवेके यशोधर्मन्ने उसे बुरी तरह हराया। फल-स्वरूप उसने भागकर कश्मीरमे शरण ली और वहाँ अपने आश्रयदाताको ही छलसे मारकर कश्मीरका राज्य हथिया लिया। ५४२ ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी। साकलका राज्य उसके भाईने पहले ही हस्तगत कर लिया था। मिहिरकुलने बौद्धोपर बहुत अत्याचार किया था जिसके लिए बालादित्यने जो बौद्ध था उसे फिर परास्त किया कहा जाता है। इसके उपरान्त हूणोका फिर कोई उल्लेख नही मिलता। कश्मीर और पश्चिमी पजाबमे जो हूण राज्य जम गये थे तथा उत्तर प्रदेश और मध्य भारतमे जो फुटकर हूण बस गये थे धीरे-धीरे उनका भारतीयकरण हो गया और वे भारतीय समाजमे ही खिल्त-मिल्त हो गये। गुप्त साम्राज्यके पतनका प्रधान श्रेय हूणोको ही है।

प्राचीन जैन अनुश्रुतिमे भगवान् महावीरके निर्वाणसे एक सहस्र वर्ष बाद कल्किका अन्त कहा है जिसके अर्थ है कि ४७३ ई० मे उसका अन्त हुआ। उसने ४० वर्ष पर्यन्त अत्याचार पूर्ण राज्य किया बताया जाता है और क्रूरता, बर्बरता, अनीति तथा धर्म, धर्मात्माओं एवं धर्मायतनोंका विध्वंस, आदि उसके राज्यकी विशेषताएँ बतायी जाती है। उसकी मृत्युके उपरान्त उसके पुत्र अजितंजयका धर्मराज्य स्थापित हुआ कहा गया है। अतः जिस हूण सरदारने कुमारगुप्त प्रथमके समय सन् ४३३ ई० के लगभग

भारतके सीमान्तपर सर्व प्रथम डेरा डाला, ४५० ई० के लगभग पंजाबपर आक्रमण किया, जो स्कन्दगुप्तका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी और प्रधान शत्रु बना रहा और जो सम्भवतया नरसिंहगुप्त बालादित्यके हाथो सन् ४७३ ई० के लगभग युद्धमे मारा गया, वह बर्बर क्रूर भारतीयधर्म-विरोधी विदेशी अत्याचारी ही जैन अनुश्रुतिका चतुर्मुख कल्कि रहा प्रतीत होता है। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी पवैयाका तोरमाण या तोरराय था जिसके धर्मराज्यकी प्रशसा की गयी है। उसके राज्यके प्रथम दो वर्षोका ही उल्लेख अनुश्रुतिमे मिलता है, इसके उपरान्त वह मौन है। तोरमाणके सम्बन्धमे अन्य साधनोसे जो कुछ ज्ञात होता है उससे भी ऐसा ही लगता है कि वह एक बुद्धिमान्, दूरदर्शी, उदार, सहिष्णु और प्रजा-पालक नरेश था। अपने पूर्ववर्ती हूण सरदार या सरदारोकी नीतिसे सर्वथा विपरीत नीति अपनाने और आचरण करनेके कारण ही उसका राज्य-विस्तार इतनी सुगमतासे और इतना अधिक हो सका।

मालव-नरेश यशोधर्मन्—पश्चिमी उत्तरापथमे प्रबल हूण शक्तिके उदयके कारण जिस समय गुप्त वंशकी जर्जरित नौका डावाँडोल हो रही थी, मालवा प्रदेशने एक अद्भुत पराक्रमी वीर उत्पन्न किया। इसका नाम यशोधर्मन् था और वह मालवेके ही किसी प्राचीन राजवशमे उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। छठी शती ई० के द्वितीय पादमे उसका अकस्मात् चकाचौंध कर देनेवाला उदय और फिर वैसा ही अकस्मात् अस्त भी हो गया। मन्दसौर या दशपुरको अपनी राजधानी बनाकर उसने द्रुतवेगसे अपनी शक्तिकी अत्यन्त वृद्धि कर ली। तत्कालीन समस्त राजे उसके प्रतापके सम्मुख झुक गये और सन् ५३०-३१ ई० मे उसने दुर्दान्त हूण राजा मिहिरकुलको जो स्वय मालवेमे घुस आया था पंजाब तक खदेड़ा और वहाँ भी युद्धमे उसे पराजित करके प्राण बचाकर कश्मीर भाग जानेपर मजबूर किया। मन्दसौरमे यशोधर्मन्की विस्तृत संस्कृत प्रशस्ति तथा ५३३-३४ ई० का शिलालेख उत्कीर्ण मिले है। जिनमे

उसकी अनेको विजयोंका तथा उसके द्वारा हूणोको बुरी तरह पराजित करने आदिका वर्णन है और लिखा है कि भारतके सभी नरेशोने यशोधर्मन्के सम्मुख मस्तक झुका दिया था। इस अद्भुत वीरका पूर्वापर अभीतक ज्ञात नही हो सका है। उसके साम्राज्यका भी उसीके साथ अन्त हो गया। हूणोकी शक्तिका तो उसने अवरोध कर ही दिया किन्तु साथ गिरते हुए गुप्त साम्राज्यको भी एक ठोकर लगा दी। अब साम्राज्यके विभिन्न सामन्त और प्रान्तीय शासक खुले रूपसे स्वतन्त्र हो उठे।

कन्नौजका मौखरि वंश—यह एक प्राचीन मागध वंश था। गुप्त साम्राज्यकी स्थापनाके उपरान्त गुप्तोके करद सामन्तोके रूपमे गयाके समीपवर्ती प्रदेशपर मौखरियोका शासन था। इन सामन्तोमे महावर्मा, सार्दूलवर्मा और अनन्तवर्माके नाम मिलते है। इसी वंशकी एक शाखा गुप्तोके सामन्तोके रूपमे कन्नौजपर शासन करती थी। ६ठी शती ई० के प्रारम्भमे राजा हरिवर्माका पुत्र आदित्यवर्मा मौखरि कन्नौजका शासक था। उसकी पत्नी गुप्तवंशकी ही एक राजकन्या थी। इससे मौखरियोकी प्रतिष्ठा और शक्ति बढ गयी। आदित्यवर्माके पुत्र ईश्वरवर्मा (५२४–५५० ई०) ने हूणोके आक्रमण और यशोधर्मन्की विजयोसे उत्पन्न परिस्थितिका लाभ उठाकर कन्नौजमे अपना स्वतन्त्र राज्य जमा लिया। यशोधर्मन्के साथ हूणोकी पराजयमे भी उसका हाथ था। उसके पुत्र ईशानवर्मा (५५०–५७६ ई०) ने अपने-आपको महाराजाधिराज घोषित कर दिया और पर्याप्त शक्ति बढ़ा ली। स्वयं गुप्तसम्राट् कुमारगुप्त तृतीयसे उसने युद्ध किये। उसका उत्तराधिकारी शर्ववर्मा अपने पिताकी ही भाँति वीर और महत्त्वाकाक्षी था। गुप्तोके साथ उसने निरन्तर युद्ध किये और गुप्त-नरेश दामोदर गुप्तको पराजित करके उसकी सत्ता और शक्ति अति क्षीण कर दी। अब कन्नौजका मौखरि राज्य उत्तर भारतकी सर्वप्रधान शक्ति था। उसके बाद अवन्तिवर्मा और फिर गृहवर्मा कन्नौजके राजा हुए। गृहवर्माका विवाह स्थानेश्वरके वैश्य राजा प्रभाकरवर्धनकी कन्या राज्यश्रीके साथ हुआ था।

बंगालके शशाङ्क और मालवाके देवगुप्तने मिलकर गृहवर्माके राज्यपर आक्रमण किया और युद्धमे उसकी मृत्यु हो गयी। गृहवर्माके साले राज्यवर्धन और हर्षवर्धनने इन शत्रुओसे बदला लिया। हर्षने राज्यश्रीके संरक्षक एवं प्रतिनिधिके रूपमे कन्नौजका शासन भी सँभाला और इस प्रकार शनैः-शनैः मौखरिवंश समाप्त हुआ और कन्नौजका राज्य भी स्थानेश्वरके राज्यमे ही मिल गया।

स्थानेश्वरका वर्धन वंश—इसका संस्थापक पुष्यभूति नामक वैस (वैश्य) क्षत्रिय था। उसके वंशमे नरवर्धन और फिर आदित्यवर्धन हुए। ये गुप्तोके करद सामन्त थे। आदित्यवर्धनका विवाह गुप्त राजकुमारी महासेनगुप्ताके साथ हुआ और वह अपने आपको महाराज कहने लगा। ६ठी शती ई० के मध्यके लगभग वह स्वतन्त्र हो गया। इसका उत्तराधिकारी प्रभाकरवर्धन था जिसके राज्यवर्धन और हर्षवर्धन नामके दो पुत्र और राज्यश्री नामकी एक कन्या थी। वर्धन लोग मौखरियोके प्रतिद्वन्द्वी थे किन्तु मौखरि गृहवर्माके साथ राज्यश्रीका विवाह होनेसे दोनो वंशोमे मैत्री हो गयी। अन्ततः शशाक और देवगुप्तके हाथो गृहवर्माकी मृत्यु हो जानेपर ये दोनो राज्य एक हो गये। राज्यवर्धनने बहनोईकी मृत्यु तथा भगिनीके अपमानका बदला लेनेके लिए देवगुप्तपर चढ़ाई कर दी और उसे पराजित किया, किन्तु शशाकने उसे ही छलसे मार डाला। उसका बदला उसके भाई हर्षने लिया।

हर्षवर्धन—(६०६–६४७ ई०) स्थानेश्वरके वर्धन वंशका सर्वप्रसिद्ध, सर्वमहान् और साथ ही अन्तिम नरेश था। वह अपने समयमे उत्तर भारतका एकच्छत्र सम्राट् था। इसकी उपाधि शिलादित्य भी थी। चीनी यात्री हुएनसाग (६२९–६४३ ई०) ने उसके शासनकालमे भारतकी यात्रा की। इस यात्रीके लिखे वृत्तान्तोसे भारतवर्षकी तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक दशाका तथा सम्राट् हर्षवर्धनके चरित्रका बहुत कुछ पता चलता है। हर्ष बड़ा पराक्रमी और विजेता था। उत्तर भारतके

प्रायः सब नरेशोंको उसने अपने अधीन कर लिया था। गुप्त वंशका प्रायः अन्त हो हो चुका था। अपने वंशशत्रु गौड़के शशांकके साथ उसने कई युद्ध किये जिनमे उसके मित्र कामरूप नरेश भास्करवर्मन्‌ने भी उसकी सहायता की किन्तु उसका पूर्णतया दमन करनेमे वह सफल नही हुआ। सौराष्ट्रके मैत्रक राजा ध्रुवसेनको भी उसने पराजित किया और गुजरातका कुछ भाग अपने अधीन कर लिया। इस राजाके साथ उसने अपनी कन्याका भी विवाह कर दिया बताया जाता है। चालुक्य चक्रवर्ती पुलकेशी द्वितीयके साथ भी उसने युद्ध किये किन्तु उनमे उसे सफलता न मिली। कलिंग-कोसलका राजा, जिसका नाम सम्भवतया हिमशीतल था, उसका मित्र था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जैनाचार्य अकलक-द्वारा उसकी सभामे बौद्धोको पराजित कर देनेके कारण जब उसने बौद्धोको स्वदेश निर्वासित कर दिया और जैनधर्म-को अपनाया तो हर्षने उसपर आक्रमण कर दिया। युद्धमे हिमशीतलकी मृत्यु हो गयी किन्तु चालुक्य विक्रमादित्य प्रथमकी सेनाओके आ जानेके कारण हर्षको वापस लौटना पडा। इस प्रकार प्रयत्न करनेपर भी उत्तर भारतसे आगे हर्ष न बढ सका। वह बौद्धधर्मका परम भक्त था साथ ही परधर्मसहिष्णु, उदार और दानी भी था। कन्नौज उसकी राजधानी थी। कन्नौज और प्रयागमे उसने कई महती सभाएँ की। प्रयागमे तो हर पाँचवे वर्ष वह एक प्रकारका महान् अनुष्ठान करता था जिसमे बौद्ध, जैन (निर्ग्रन्थ), शैव और वैष्णव साधुओको निमन्त्रित करता और भरपूर दान देकर सबको सन्तुष्ट करता था। इन दानोमे वह राजकोषको खाली कर देता था और अपने तनके कपड़े भी उतारकर याचकोको दे डालता था। वह गुणियो और विद्वानोका आदर करता था। उसका राजकवि बाण था जो हर्ष-चरित, कादम्बरी आदि रचनाओके लिए सुप्रसिद्ध है। नीरदेव क्षपणक नामक एक जैन विद्वान् बाणका मित्र था और सम्भवतया हर्षकी राजसभा-का एक विद्वान् था। स्वयं हर्षने भी प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द नामके तीन नाटकोकी रचना की थी। उसके कुछ शिलालेख भी मिलते है।

उसकी शासन-व्यवस्था गुप्तोके जैसी ही सुव्यवस्थित थी। उसके पास विशाल सेना थी जिसमे हुएनसांगके अनुसार ६०००० हाथी और एक लाख अश्वारोही थे। देशमे शान्ति और समृद्धि थी। इसी यात्रीके कथनानुसार कपिशा (काबुल) से लेकर बंगाल पर्यन्त और हिमालयसे लेकर कुमारी अन्तरीप पर्यन्त समस्त देशकी अनेक प्रधान नागरियो और केन्द्रोमे अत्यधिक संख्यामे निर्ग्रन्थ जैन साधु एवं उनके धर्मायतन और अधिष्ठान तथा अनुयायी विद्यमान थे। पंजाब आदिमे कही-कही उसने श्वेताम्बर यतियोके अधिष्ठान भी देखे जिन्हे उसने बौद्ध साधुओकी ही एक शाखा समझनेकी भूल की। उस कालमे देशमे अच्छा धार्मिक वातावरण था, विभिन्न धर्मो और सम्प्रदायोके विद्वान् प्रमुख केन्द्रो एवं राजसभाओमे परस्पर खुलकर शास्त्रार्थ करते थे। धर्मपरिवर्तन बे-रोक-टोक सहज और सरल थे। तथापि ऐसा लगता है कि इस कालमे भारतवर्षमे बौद्ध धर्म अवनतिकी ओर अग्रसर होता जा रहा था। शैव एवं वैष्णव धर्म उत्तरोत्तर उन्नति कर रहे थे और जैन धर्म अपनी स्थिति पूर्ववत् बनाये हुए था। हर्षके साथ ही उसके वंश और साम्राज्यका अन्त हो गया और उसके मन्त्री अर्जुनने कन्नौजपर अधिकार कर लिया।

अराजकता और यशोवर्मन्—हर्षकी मृत्युके उपरान्त उत्तरापथमे एक प्रकारकी अराजकता और अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी। अर्जुनने एक चीनी राजदूतका अपमान किया जिसका बदला लेनेके लिए वह दूत तिब्बतके राजाको ससैन्य लिवा लाया। अर्जुन युद्धमे पराजित हुआ और हर्षका विशाल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। विभिन्न प्रदेशोके सामन्त स्वतन्त्र राजाओके रूपमे शासन करने लगे। पाटलिपुत्रके गुप्त राजे भी स्वतन्त्र हो गये। ऐसी परिस्थितिमे ८ वी शती ई० के पूर्वार्धमे कन्नौजमे एक अन्य शक्तिका उदय हुआ। यह शक्ति महाराज यशोवर्मन्के रूपमे उदित हुई। इस राजाका पूर्वापर कुछ ज्ञात नही है। ७३१ ई० मे उसने चीनके सम्राट्के पास एक दूतमण्डल भेजा था। प्रसिद्ध कवि वाक्पतिराज-

के प्राकृतकाव्य 'गौडवहो' मे यशोवर्मन्की दिग्विजयका विशद वर्णन है। महावीरचरित, उत्तररामचरित, मालतीमाधव आदि प्रसिद्ध सस्कृत नाटकोके रचयिता महाकवि भवभूति भी महाराज यशोवर्मनके ही आश्रित थे। ७४० ई० के लगभग कश्मीरके ललितादित्यने अपनी विजययात्रा आरम्भ की और ७५० ई० के लगभग उसने यशोवर्मन्को पराजित करके कन्नौजपर अधिकार कर लिया।

आयुध वंश—७६० ई० के लगभग कन्नौज फिर स्वतन्त्र हुआ और यहाँ एक नवीन वंशके वज्रायुध, इन्द्रायुध और चक्रायुध नामक राजाओंने क्रमशः राज्य किया। जिनसेनके हरिवंशकी रचना (सन् ७८३ ई०) के समय उत्तरापथमे कन्नौजके इन्द्रायुधका राज्य था। किन्तु अपने उत्तरमे कश्मीर नरेशो, पूर्वमे पालवंशी राजाओ और दक्षिणमे राष्ट्रकूटोके निरन्तर दबावके कारण आयुध वंश ८वो शती ई० के अन्ततक ही समाप्त हो गया। भिन्नमालके गुर्जर प्रतिहारोने इस परिस्थितिका लाभ उठाया। राजस्थानमे शक्तिसंचय करके उन्होने कन्नौजपर अधिकार कर लिया और शीघ्र ही समस्त उत्तरापथपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

गुर्जर प्रतिहार—प्राग्मुसलमान कालीन राजपूत वंशोमे प्रमुख थे और अपने-आपको श्रीरामके प्रतिहार लक्ष्मणका वंशज कहते थे। मारवाड-के भिन्नमाल अपरनाम श्रीमाल नामक स्थानको इन्होने अपना प्रथम केन्द्र और राजधानी बनाया। हरिश्चन्द्र इस वंशका संस्थापक था। किन्तु वास्तवमे प्रथम महान् नरेश नागभट्ट प्रथम (७४०-७५६ ई०) था। ७५६ ई० के लगभग उसने सिन्धके अरबोको हराकर बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। पश्चिमी भारतकी इस प्रकार रक्षा करनेसे उसका प्रताप एवं राज्य-विस्तार बढा। नान्दीपुरके गुर्जर, जोधपुरके प्रतिहार, भड़ौचके चाहमान आदि अनेक छोटे-छोटे राज्य उसके अधीन हुए। इसके उपरान्त नागभट्टके भतीजे कक्कुक और देवराज क्रमशः राजा हुए। कक्कुक जैनधर्मी था और उसने एक विशाल जैनमन्दिर बनवाया था। तदनन्तर देवराजका

पुत्र वत्सराज रणहस्ति एवं 'परभट भृकुटिभंजक' गद्दीपर बैठा। गुर्जर प्रतिहार साम्राज्यका वास्तविक संस्थापक यही नरेश था। जैनाचार्य उद्योतन सूरिने अपनी कुवलयमाला (७७८ ई०) में तथा जिनसेन पुन्नाट-वंशीने हरिवंश (७८३ ई०) मे इस नरेशका भारतवर्षके तत्कालीन सर्व-महान् नरेशोमे उल्लेख किया है। वत्सराजने सन् ७७५-८०० ई० पर्यन्त राज्य किया प्रतीत होता है। उसकी प्रधान राजधानी भिन्नमाल ही थी और समस्त पूर्वी राजस्थान, मालवा व मध्यभारत और गुजरातके पर्याप्त भाग उसके राज्यके अन्तर्गत थे। उसने बंगालके धर्मपालको हराया और भण्डी या भट्टि जातीय आयुधवंशी नरेशोसे कन्नौज छीना। राष्ट्रकूट ध्रुव और पालवंशी धर्मपाल उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। वस्तुतः लगभग डेढ शताब्दी पर्यन्त गुर्जर प्रतिहारोका बंगालके पालो और दक्षिणापथके राष्ट्रकूटोके साथ उत्तरापथके साम्राज्यके लिए प्रबल संघर्ष चला और अनेक युद्ध हुए किन्तु वत्सराजने ही कन्नौजपर अधिकार करके उसे अपने साम्राज्यकी राजधानी बनाया। गुप्तवंशके पतनके बाद कन्नौज ही भारतवर्षकी प्रधान राजधानी बन चला था, और गुर्जर प्रतिहारोके प्रयत्नसे कन्नौजका साम्राज्य अपनी उन्नतिके चरम शिखरको पहुँच गया। वत्सराजको जैन साहित्य और अनुश्रुतियोमे जैनधर्मका एक बड़ा समर्थक और सहायक चित्रित किया गया है। ओसिया श्रीमाल आदि नगरोमे उसके द्वारा विशाल जिन-मन्दिरोंका निर्माण हुआ बताया जाता है। जैन यति वप्पभट्टिसूरिका वह बहुत सम्मान करता था और इसीके समय मथुरामे सर्वप्रथम श्वेताम्बर एवं दिगम्बर मन्दिर पृथक्-पृथक् बने और उभय सम्प्रदायोके पृथक्-पृथक् केन्द्र स्थापित हुए प्रतीत होते है। इसी नरेशके राज्यमे दिगम्बराचार्य जिनसेनने अपना सुप्रसिद्ध हरिवशपुराण वर्धमानपुर (मध्यप्रदेशमे इन्दौरके निकट बदनावर) मे रचा, उद्योतनसूरिने राजस्थानके जाबालिपुरमे अपनी कुवलयमाला रची और सम्भवतया चित्तौड़मे सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् हरिभद्र सूरिने अनेक

ग्रन्थोंकी रचना की। इस नरेशने कन्नौज, मथुरा, अनहिल्लवाड़, मोधरा आदि स्थानोमे अनेक जैन मन्दिर बनवाये बताये जाते है। कन्नौजका मन्दिर १०० हाथ ऊँचा था और उसमे भगवान् महावीरकी स्वर्णमयी प्रतिमा प्रतिष्ठित की गयी थी। ग्वालियरमे भी इस राजाने एक २३ हाथ ऊँची तीर्थंकर प्रतिमा स्थापित की थी।

वत्सराजका पुत्र नागभट्ट द्वितीय नागावलोक आम (८००–८३३ ई०) अपने पिताके समान ही प्रतापी और विजेता था। पालो और राष्ट्र-कूटोके कारण कन्नौज फिर गुर्जर प्रतिहारोंके हाथसे निकल गया था किन्तु नागावलोकने अन्ततः चक्रायुधका अन्त करके कन्नौजपर ८१६ ई० के लगभग स्थायी अधिकार कर लिया और उसे ही अपनी प्रधान राजधानी बनाया। इस नरेशने आन्ध्र, सैन्धव, विदर्भ और कलिंगके राजाओंको अपने अधीन किया, बंगालके पाल-नरेशको पराजित किया और आनर्त, मालवा, किरात, तुरुष्क, वत्स, मत्स्य आदि राज्योके अनेक भाग छीन कर अपने साम्राज्यमे मिला लिये। राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय (७९४–८१४ ई०) से उसके कई युद्ध हुए और ये दोनों परस्पर प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बने रहे। नागभट्ट द्वितीय गुर्जरेश्वर भी कहलाता था। यह नरेश भी जैन-धर्मका बड़ा प्रश्रयदाता था। जैन साहित्य और अनुश्रुतियोमे उसकी प्रशंसा पायी जाती है। जैनाचार्य प्रभाचन्द्रसूरिके प्रभावकचरित्रके अनुसार ८३३ ई० मे उसकी मृत्यु गंगामे समाधि लेकर हुई। वह भी जैनाचार्य बप्पभट्टसूरिका बहुत आदर करता था। मथुराके प्राचीन जैनस्तूपका जीर्णोद्धार इसीके आश्रयमे हुआ बताया जाता है। वह एक धर्मात्मा राजा था, जिनेन्द्रकी भाँति विष्णु, शिव, भगवती और सूर्यका भी भक्त था। उसके पुत्र रामदेव या रामभद्रने केवल तीन वर्ष (८३३–८३६ ई०) राज्य किया और उसके अल्पकालीन शासन कालमे राज्यकी क्षति हुई।

रामभद्रका पुत्र भोज इस वंशका सर्वमहान् नरेश हुआ। प्रभास, आदिवराह, मिहिर आदि विरुद प्राप्त परम भट्टारक महाराजाधिराज

परमेश्वर भोजदेवने लगभग ५० वर्ष (८३६–८८५ ई०) तक राज्य किया। इस प्रतापी नरेशके समयमे राजधानी कन्नौज (महोदय) और उत्तरापथके इस गुर्जर प्रतिहार साम्राज्यका वैभव चरम सीमाको पहुँच गया। पाल, राष्ट्रकूट और कलचुरि नरेशोसे उसके निरन्तर युद्ध चलते रहे। कश्मीरके शंकरवर्मन्से भी उसका युद्ध हुआ। कभी विजय हुई और कभी पराजय, किन्तु इन युद्धोसे उसके साम्राज्यकी शक्ति और समृद्धिमे कोई कमी नही आयी। मालवा भी उसने विजय किया, जेजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) के चन्देले और ग्वालियरके कच्छपघट राजे उसके सामन्त थे। वह एक महान् सेनानी और साम्राज्य निर्माता था। सन् ८५१ ई० मे भारत आनेवाले अरब सौदागर सुलेमानने उसे अरबोका सबसे बडा शत्रु कहा है और उसकी शक्ति एवं वैभवकी बड़ी प्रशंसा की है। यह सम्राट् बडा उदार और सहिष्णु था। अपनी कुलदेवी भगवतीका वह उपासक था किन्तु जैनधर्मका भी भारी प्रश्रयदाता था। उसीके शासनकालमे सन् ८६२ ई० मे देवसंघके आचार्य कमलदेवके शिष्य श्रीदेवने देवगढ (लुअच्छगिरि) के दुर्गके भीतर स्थित शान्तिनाथ तीर्थंकरके प्राचीन मन्दिरके सम्मुख मानस्तम्भ प्रतिष्ठापित किया था। सम्भव है कि जिस कलापूर्ण स्तम्भोपर आधारित खुले सभामण्डपमे यह शिलालेख युक्त मानस्तम्भ स्थित है उसका पूरा निर्माण ही इसी समय हुआ हो। देवगढ़के तत्कालीन शासक पंच महाशब्द प्राप्त महासामन्त श्री विष्णुरामकी सहायतासे यह कार्य सम्पन्न हुआ था और उसके निर्माणमे गोष्ठिक जाजु (या वाजु) और गगा (गंगा) नामके दो श्रावक भाइयोने विपुल द्रव्य व्यय किया था। देवगढ, खजुराहो आदिके अन्य कई सुन्दर जैन मन्दिर इसी कालके है। भोजके समयके अन्य कई शिलालेख और ताम्रशासन मिलते है।

मिहिर भोजका पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम (८८५–९०८ ई०) भी एक महान् शासक था। महेन्द्रायुध और निर्भयराज उसकी उपाधियाँ थीं। उसके समयमे साम्राज्यकी शक्ति एवं विस्तार और राजधानी कन्नौजका

वैभव अक्षुण्ण रहे। वह विद्वानोका आश्रयदाता और साहित्यका प्रेमी था। कर्पूरमंजरी, काव्यमीमांसा, बालरामायण, बालभारत आदि ग्रन्थोके रचयिता महाकवि राजशेखर उसके गुरु थे। उसके बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र भोज द्वितीय गद्दीपर बैठा किन्तु उसकी शीघ्र ही मृत्यु हो गयी अतः कनिष्ठ पुत्र महीपाल (९१०—९४० ई०) राजा हुआ। यह सूर्योपासक था। राजशेखर इसका भी राजकवि था, चण्डकौशिक नाटकका कर्त्ता क्षेमेश्वर भी इसी राजाका आश्रित था। ९१५ ई० मे अरब लेखक अलमसूदीने इस गुर्जर नरेशको बहुत धनी और शक्तिशाली वर्णित किया है। किन्तु ९१५—१८ ई० मे ही राष्ट्रकूट इन्द्र तृतीयने कन्नौजपर चढाई की और उसका बहुत विध्वंस किया। कन्नडके जैन महाकवि पम्प-द्वारा रचित पम्पभारतके अनुसार इन्द्रके सामन्त नरसिह चालुक्यने महीपालको बुरी तरह हराया और अपने घोडोको गंगाके संगममे नहलाया। वस्तुतः महीपालके समयसे ही गुर्जर प्रतिहार वंशकी अवनति प्रारम्भ हो गयी। उसका उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल द्वितीय भी भारी विद्याप्रेमी था, जैनाचार्य सोमदेव सूरिने इसी नरेशके लिए अपने राजनीतिके महान् ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत और महेन्द्रमातलिसंजल्पकी रचना की थी। तदनन्तर क्रमशः देवपाल (९४६–६० ई०), विनायकपाल, महीपाल द्वितीय, विजयपाल, राज्यपाल, त्रिलोचनपाल और यशपाल नामक राजा हुए। यशपालके समय १०२३ ई० मथुरामे एक नवीन जैन मन्दिरका निर्माण हुआ। ११वी शताब्दी ई० के मध्यके लगभग यशपालकी मृत्युके साथ इस वंशका अन्त हो गया, इस बीचमे ९४६ ई० के लगभग मालवा स्वतन्त्र हुआ, ९६२ ई० मे गंगनरेश मारसिहने प्रतिहारोपर आक्रमण किया और उन्हे पराजित किया। शनैः-शनैः खजुराहोके चन्देले, ग्वालियरके कच्छपघट, धाराके परमार, मध्य भारतके कलचुरि, गुजरातके सोलंकी आदि स्वतन्त्र हो गये और कन्नौजका गुर्जर प्रतिहार साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। कन्नौजके अन्तिम राजाओने सुबुक्तगीन और महमूद गजनवीके विरुद्ध भटिण्डेके साही

राजाओंकी भी सहायता की। वस्तुतः लगभग ३०० वर्ष पर्यन्त प्रतिहारोने भारतवर्षमे मुसलमानोके प्रसारको सफलतापूर्वक रोके रखा। प्रतिहारोके साथ ही साथ कन्नौजका भी उत्तरापथके भारतीय साम्राज्यकी राजधानीके रूपमे अन्त हो गया। यशपालके उपरान्त कुछ समय तक राष्ट्रकूटोकी एक (बोदमयूत) शाखाका कन्नौजपर राज्य रहा। सन् १०९० ई० के लगभग चन्द्रदेवने कन्नौजमे गहडवाल वशकी स्थापना की।

१० वीं-१२ वीं शताब्दीके राजपूत राज्य—गुर्जर प्रतिहारोके साथ ही साथ दक्षिणके राष्ट्रकूटो और बंगालके पालोका भी पतन हो गया था। कश्मीरका नागकर्कोटक वश पहले ही समाप्त हो चुका था और उसके स्थानमे वहाँ उत्पल वश राज्य कर रहा था। भारतकी पश्चिमोत्तर सीमापर तुर्क मुसलमानोके आक्रमण शुरू हो गये थे। सम्पूर्ण भारतवर्षमे इस कालमे अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये थे। उत्तर दक्षिण पूर्व पश्चिम, कही भी एक साम्राज्य शक्ति न रह गयी थी। इस कालके ये अनगिनत राजवंश राजपूत नामसे सूचित किये जाते है और यह युग राजपूत युग कहलाता है।

प्राचीन क्षत्रियोके दो वर्ग थे, एक आर्य और दूसरा व्रात्य। इन दोनो ही वर्गोके क्षत्रिय कभीके समाप्त हो चुके थे। महावीर और बुद्धके समयसे ही जो राज्यशक्तियाँ उदयमे आयी वे या तो प्राचीन नाग, ऋक्ष, यक्ष आदि अनार्य एवं प्रागार्य भारतीय जातियोकी थी, या व्रात्य क्षत्रियोके राज्यतन्त्र और गणतन्त्र थे, कुछ एक राज्यवंशोके संस्थापक वैश्यवर्णके थे यथा गुप्त, वर्धन आदि, कुछ एकके ब्राह्मण थे यथा कदम्ब आदि, कुछ नाग आर्य या नाग द्रविड़ मिश्रणसे उत्पन्न थे जैसे पल्लव, चोल आदि। इस बीचमे यवन, पह्लव, शक, कुषाण, हूण आदि अनेक विदेशी जातियाँ भी भारतमे आयीं, यहाँ बसी और भारतीय समाजमे समा गयी। इस प्रकार विविध मिश्रणके फलस्वरूप एक नवीन युद्धप्रिय जातिका निर्माण और विकास हुआ जो राजपूत कहलाने लगी। यह जाति अनेक कुलो एवं वंशो-

में विभक्त थी। इनमे-से अधिकाश अपना सम्बन्ध प्राचीन क्षत्रियोके सूर्य एवं चन्द्रवंशोसे जोडते थे। एक अनुश्रुतिके अनुसार आबू पर्वतपर यज्ञाग्नि-द्वारा इन मिश्रित लोगोकी शुद्धि करके उन्हे राजपूत संज्ञा दी गयी थी। जो भी हो, इस कालकी भारतीय राजनीति विभिन्न राजपूतवंशो-के हाथमे थी। परस्पर फूट, द्वेष, कुल और जातिका दुरभिमान, तुच्छा-तितुच्छ बातोके लिए परस्पर युद्धोमे सलग्न रहना, रूढिवादिता, अति साहस आदि इन राजपूतोकी विशेषताएँ थी जिनका लाभ उठाकर मुसलमानोने सहज ही भारतवर्षमे अपने राज्य जमा लिये।

इस कालके इन अनगिनत विभिन्न राज्योमे-से कलिंग, गुजरात, कश्मीर, सिन्ध, बंगाल, दक्षिणापथ, तमिल और कर्णाटक देशके राज्योका वर्णन आगामी अध्यायोमे किया जायगा। उनके अतिरिक्त उत्तर भारतमे इस कालमे जो प्रमुख राज्यवंश उदित हुए वे निम्न प्रकार है :—

कन्नौजके गहडवाल—गुर्जर प्रतिहारोके उपरान्त कुछ वर्षो तक कन्नौजके शासक गजनीके सुल्तानोंके अधीन रहे। तदनन्तर किन्ही राष्ट्रकूट वंशो गोपाल आदि राजाओके यहाँ होनेका उल्लेख मिलता है। जिनका मूलस्थान सम्भवतया बदायूँ था। सन् १०९० ई० मे चन्द्रदेवने कन्नौजपर अधिकार करके गहडवाल वंशकी नीव डाली और ११९४ ई० तक वहाँ राज्य किया। इस वंशका सर्वमहान् नरेश गोविन्दचन्द्र (११०४-११५५ ई०) था। वह स्वयं हिन्दू था किन्तु उसकी रानी कुमार देवी बौद्ध थी, जिसकी प्रेरणापर राजाने उत्कलके शाक्यरक्षित नामक बौद्ध-विहारको दान दिया बताया जाता है। गोविन्दचन्द्रका पोता जयचन्द्र इस वंशका अन्तिम राजा था। जयचन्द्रकी पुत्री संयोक्ता और दिल्ली-अजमेरके राय पिथौराकी प्रेमगाथा लोक-प्रसिद्ध है। ११९४ ई० मे मुहम्मद गोरीने चन्दवाडके युद्धमे जयचन्द्रको पराजित करके कन्नौजपर गहडवाल वंशके राज्यका अन्त कर दिया। गहडवालोकी उप-राजधानी वाराणसी थी, उसपर भी गोरीका अधिकार हुआ। जयचन्द्रके वंशजोने

भागकर राजस्थानके मारवाड देशमे शरण ली और वहाँ जोधपुरके राठौर वंशकी नीव डाली। १३वी शतीमे इस वंशके रामपाल, माहनजी, सम्पत्तिसेन आदि राजे जैन थे।

साँभरके चाहमान—अजमेरके निकट साँभर या शाकम्भरीमे चाहमान या चौहान राजपूतोका राज्य था। लगभग ७०० ई० मे इस वंशका उदय हुआ था। धोलपुर, नाडौल, आबू, रणथम्भौर, परतापगढ आदिमे भी इसी वंशकी शाखाएँ राज्य कर रही थी। इटावाके निकट यमुना तटपर चन्दवाडमे भी चौहानोका राज्य था। किन्तु इन चौहान राजवंशोमें अजमेर (साँभर) का वंश ही सर्व प्रमुख था। वसुदेव इस वंशका संस्थापक था। इस वंशमे अनेक राजा हुए जिनमे पृथ्वीराज प्रथम और द्वितीय जैनधर्मके परम भक्त थे। प्रथमने रणथम्भौरके जैन मन्दिरके शिखरपर स्वर्णकलश चढाया था और द्वितीयने एक जैन मन्दिरके लिए मोरकुटी आदि ग्राम दान दिये थे। वह विजोलिया पार्श्वनाथ तीर्थके जैन गुरुओका भक्त था। कन्नौजके प्रतिहारोके साथ इन चौहानोके विवाह सम्बन्ध भी थे और प्रतिहारोके उत्कर्पकालमे वे उनके अधीनस्थ राजे रहे थे। १०वी शताब्दी ई० के अन्तमे विग्रहराज द्वितीय और तदनन्तर दुर्लभ-राज द्वितीयने साँभर राज्यको स्वतन्त्र कर लिया और इसकी शक्ति बढने लगी। १२वी शती ई० के मध्यमे विग्रहराज चतुर्थ एक प्रतापी और विद्या-नुरागी नरेश था। उसने दो नाटक भी पत्थरपर अंकित कराये थे। उसका भाई सोमेश्वर भी बडा वीर और पराक्रमी नरेश था और प्रतापलंकेश्वर कहलाता था। वह जैन धर्मका भी भक्त था, पार्श्वनाथके मन्दिरके लिए उसने रेणुका नामक गाँव भेंटमे दिया था। विजोलिया पार्श्वनाथका प्रसिद्ध मन्दिर भी सोमेश्वर चाहमानका ही बनवाया हुआ है। गुजरातके इतिहासमे वह चाहड नामसे प्रसिद्ध है। वह अन्हिलवाडके सोलंकी सम्राट् जयसिंह सिद्धराजका दौहित्र और दत्तक पुत्र तथा कुमारपाल सोलंकीका प्रतिद्वन्द्वी था और उसकी पत्नी दिल्लीके अनगपाल तोमरकी कन्या थी। इन

दोनोका पुत्र इतिहासप्रसिद्ध पृथ्वीराज तृतीय (रायपिथौरा) था। चन्दवरदाई भाट उसका मित्र और राजकवि था, ऐसा प्रसिद्ध है। पृथ्वीराज एक महान् योद्धा एवं वीर नरेश था। कन्नौजके जयचन्द्र और महोबेके चन्देलोके साथ उसकी प्रबल प्रतिद्वन्द्विता थी। पृथ्वीराज-द्वारा कन्नौजकी राजकन्या संयोक्ताके हरणकी घटना लगभग ११७५ ई० की है। ११८२ ई० मे उसने परमाल चन्देलको पराजित किया था। मोहम्मद गोरीके हमलेको उसने वीरतापूर्वक रोका और ११९१ ई० मे तराइनके प्रथम युद्धमे गोरीको बुरी तरह हराकर भारतवर्पसे खदेड़ दिया। किन्तु परस्परकी फूटके कारण ११९३ ई० मे तराइनके दूसरे युद्धमे गोरीकी विजय हुई। पृथ्वीराज बन्दी हुआ और मार डाला गया। फलस्वरूप दिल्ली और अजमेरपर मुसलमानोका अधिकार हो गया।

अन्य चौहान राजाओमे धवलपुरीका चण्डमहासेन (९४२ ई०) अधिक प्रसिद्ध है। अजमेर, नाडौल, दिल्ली तथा अन्य सभी स्थानोके तत्कालीन चाहमान नरेश जैनधर्मी न होते हुए भी जैन धर्मके पोपक थे और जैन गुरुओका आदर करते थे। उनमे-से अनेक राजपुरुष जैनी भी रहे। नाडौलमे चौहान राज्य ९६० से १२५२ ई० तक रहा। इस वंश-का अश्वराज चौहान जिनभक्त था और उसने अपने राज्यमे पशु-हिसापर प्रतिबन्ध लगाया था। उसका पुत्र अन्हलदेव अपने पितासे भी अधिक उत्साही जैन था। यह राजा भी महावीरका परम भक्त था, उसने ११६२ ई० मे उक्त तीर्थकरका एक विशाल मन्दिर नादरामे बनवाया था और उसके लिए कतिपय श्रावको एवं साधुओकी सुरक्षामे बहुत-सी सम्पत्ति दान कर दी थी। सन् १२२८ ई० के एक ताम्रशासनसे इस दानका पता चलता है। यह राजा अन्तमे राज्य त्याग करके जैन साधु हो गया था। उसके पूर्वज लाखा और दादराव तथा वंशज कल्हण, गजेसिह कृतिपाल आदि अन्य राजे भी जैन थे।

दिल्लीके तोमर—दिल्लीकी कतिपय राजावलियोके अनुसार, जो

कि जैन ग्रन्थ भण्डारोमे पायी गयी है, दिल्ली राज्यका संस्थापक राणा जाजू था जो ८वी शती ई० के उत्तरार्धमे हुआ था। यह वंश तोमर राजपूतोका था। १२वी शती ई० के मध्यमे इस वंशमे अनंगपाल तोमर नामका प्रसिद्ध राजा हुआ था। किन्तु उसके कोई पुत्र नही था, अत उसकी मृत्युके उपरान्त उसका दौहित्र पृथ्वीराज चौहान दिल्ली, और अजमेर दोनोका राजा हुआ और पृथ्वीराजके साथ ही साथ दिल्लीके स्वतन्त्र राजपूत राज्यका अन्त हो गया। दिल्लीके राजाओकी जो वंशावली मिलती है उनसे प्रतीत होता है कि वे सर्वधर्मसहिष्णु थे। कुतुब मस्जिद आदि गुलाम शासन-कालीन मुसलमानो इमारतोके भग्नावशेषोसे प्रकट है कि १३वी शती ई० मे मुसलमानोने जिन विशाल भव्य मन्दिरोको तोडकर अपनी मस्जिदे आदि बनायी थी वे अधिकाशत. जैन मन्दिर थे। चन्दके रासोमे भी दिगम्बर साधुओ और जैनोके सूचक उल्लेख है।

भटिण्डे (पंजाब) का साही वंश—इसका सस्थापक कल्लर या लल्लिया साही था। इस वशके राजा जयपाल और उसके पुत्र अनंगपालने सुबुक्तगीन और महमूद गजनवीके आक्रमणोको रोकनेकी भरसक चेष्टा की थी। कन्नोजके विजयपाल और राज्यपालने भटिण्डेके साही राजाओको इस कार्यमे सहायता की थी। किन्तु दुर्दान्तके आक्रमणोके सम्मुख शाही नरेशोकी वीरता कुछ काम न आयी और वे स्वदेश रक्षामे स्वयं विनष्ट हो गये।

धाराके परमार—मालवा देशकी धारा नगरीमे ८वी-९वी शती ई० मे उपेन्द्र अपरनाम गजराज या कृष्णराज परमार वंशका वास्तविक संस्थापक था। ९१५ ई० मे राष्ट्रकूट इन्द्र तृतीयने उसे हराकर अपने अधीन किया था अतः प्रारम्भिक परमार राजे राष्ट्रकूटोंके अधीन थे। तदनन्तर गुर्जर प्रतिहारोके अधीन रहे। इस वशका छठा राजा उक्त उपेन्द्रका उत्तराधिकारी सीयक द्वितीय उपनाम हर्ष था। यह बड़ा प्रतापी नरेश था। इसने राष्ट्रकूट राजा खोट्टिग नित्यवर्षको युद्धमे हराया। प्रतिहार राजे

भी इस समय निर्बल हो चुके थे। अतः सीयकने एक स्वतन्त्र शासककी नाई राज्य किया, महाराजाधिराजकी उपाधि धारण की और अपने राज्यका विस्तार किया। अपने पोषित पुत्र मुंजको राज्य देकर सन् ९७४ ई० के लगभग उसने एक जैनाचार्यसे मुनि दीक्षा ले ली और शेष जीवन एक जैन तपस्वीके रूपमे व्यतीत किया बताया जाता है।

उसका उत्तराधिकारी मुंज वाक्पतिराज एवं उत्पलराज भी कहलाता था। वह बड़ा वीर, पराक्रमी, कवि और विद्याप्रेमी था। कल्याणीके चालुक्य सम्राट् तैलप द्वितीयपर उसने छह बार आक्रमण किया और कई बार उसे पराजित किया। सातवी बारके आक्रमणमे वह स्वयं तैलपका बन्दी हो गया। बन्दी दशामे ही मुजका तैलपकी बहन मृणालवतीसे प्रेम हो गया और इस प्रकार वह एक प्रसिद्ध भारतीय प्रेमगाथाका नायक हुआ। मृणालवतीकी सहायतासे वह बन्दीखानेसे भाग निकला, किन्तु पकड़ा गया और उसकी हत्या करवा दी गयी। यह घटना लगभग ९९५ ई० की है। मुंजके सम्बन्धमे प्रबन्धचिन्तामणि आदि जैन ग्रन्थोमे अनेक कथाएँ मिलती है। नवसाहसाकचरितके लेखक पद्मगुप्त, दशरूपकके लेखक धनजय, उसके भाई धनिक, जैन कवि धनपाल आदि अनेक कवियोंका वह आश्रयदाता था। जैनाचार्य महासेन और अमितगतिका यह राजा बहुत सम्मान करता था। इन जैनाचार्योंने उसके प्रश्रयमे अनेक ग्रन्थोकी रचना की। मुंज स्वयं जैनी था या नही यह नही कहा जा सकता किन्तु वह जैन धर्मका प्रबल पोषक था इसमे सन्देह नही है।

उसका उत्तराधिकारी और भाई सिन्धुल या सिन्धुराज कुमार नारायण नवसाहसाक (९९६–१००९ ई०) भी जैनधर्मका पोषक था। प्रद्युम्नचरितके कर्त्ता मुनि महासेनका वह गुरुवत् आदर करता था। अभिनव कालिदास कवि परिमलका नवसाहसाक चरित्र इसी राजाकी प्रशंसामे लिखा गया है। हूणो एवं लाट नरेशोके साथ इसके कई युद्ध हुए। चालुक्योसे भी अपने भाईका बदला लेनेके लिए इसने युद्ध

किये। किन्तु सोलंकी चामुण्डराजने धारापर आक्रमण कर उसका घेरा डाल दिया और सिन्धुराजको पराजित किया।

इसका पुत्र भोज (१०१०–१०५३ ई०) भारतीय लोक-कथाओंमे प्राचीन वीर विक्रमादित्यकी भाँति ही प्रसिद्ध है। उसने राजधानी धाराको सुन्दर भवनोसे अलंकृत किया और वेतवा नदीसे काटकर प्रसिद्ध भोजसागर-का निर्माण कराया था। वह बड़ा विचारशील पराक्रमी और वीर था। अपने चाचा मुंज और पिता सिन्धुलकी मृत्युका बदला लेनेके लिए उसने सोलंकियो और चालुक्योसे अनेक युद्ध किये और उन्हे कई बार पराजित किया। गुजरात या चेदिके आक्रमणमे उसकी मृत्यु हुई। भोज भी जैन धर्मका प्रबल पोषक था। उसके समयमे धारा नगरी दिगम्बर जैन धर्मका एक प्रमुख केन्द्र थी और राजा जैन विद्वानो एवं मुनियोका बड़ा आदर करता था। सरस्वती मन्दिरके नामसे एक विशाल विद्यापीठकी उसने स्थापना की थी। उसने जैन मन्दिरोका भी निर्माण कराया बताया जाता है। अमितगति, माणिक्यनन्दी, नयनन्दि, प्रभाचन्द्र आदि, अनेक ग्रन्थोके रचयिता दिग्गज जैनाचार्योने राजासे आश्रय एवं सम्मान प्राप्त किया था। आचार्य शान्तिसेनने उसकी राजसभामे अनेक अजैन विद्वानोको शास्त्रार्थमे पराजित किया था। भोजका सेनापति कुलचन्द्र भी जैनी था। धनंजय, धनपाल, धनिक आदि गृहस्थ जैन कवियोने तथा माघ, अभिनव कालिदास परिमल आदि अन्य प्रसिद्ध संस्कृत कवियोने भी इस राजाके आश्रयमे काव्य-साधना की थी, राजा स्वयं भी सुकवि एव सुलेखक था।

भोजके उपरान्त जयसिंह प्रथम (१०५३–६०) राजा हुआ। उसके उत्तराधिकारी निर्बल शासक रहे। उनमे नरवर्मदेव (११०४–११०७ ई०) महान् योद्धा और जैनधर्मका अनुरागी था। उज्जैनके महाकाल मन्दिरमे जैनाचार्य रत्नदेवका शैवाचार्य विद्याशिववादीके साथ शास्त्रार्थ उसीके समय-मे हुआ। इस राजाने जैनगुरु समुद्रघोष और श्रीवल्लभसूरिका भी सम्मान किया था। उसके पुत्र यशोवर्मदेवने भी जैनधर्म और जैन गुरुओका आदर

किया। जिनचन्द्र नामक एक जैनीको उसने गुजरात प्रान्तका शासक नियुक्त किया था। १२ वीं-१३ वी शताब्दीमे धाराके परमारनरेश विन्ध्यवर्मा और उसके उत्तराधिकारियो सुभटवर्मा, अर्जुनवर्मा, देवपाल और जैतुंगिदेवने पं० आशाधर आदि अनेक जैन विद्वानोका आदर किया था। आशाधरने अपने विविध-विषयक लगभग चालीस ग्रन्थोकी रचना उन्ही नरेशोके आश्रयमे की थी। बिल्हण कवीश, मदनोपाध्याय आदि अनेक संस्कृत कवि भी इनके प्रश्रयमे रहे थे। १३वी शती ईसवीके अन्त तक परमार राज्यका अन्त हो गया और मालवापर मुसलमानोका शासन हो गया। किन्तु फिर भी मालवा और उसके उज्जैन, धार, माण्डू आदि प्रमुख नगर जैन एवं हिन्दूधर्म और उनकी संस्कृतियोके प्रसिद्ध केन्द्र बने रहे।

मेवाड़के गुहिलौत—मेवाड राजस्थानका स्यात् सर्व-प्राचीन राज्य है और उसकी प्राचीन राजधानी चित्तौड (चित्रकूटपर) प्राचीन कालमे भी एक प्रसिद्ध नगरी थी। ८वी शताब्दी ई०के मध्य तक यहाँ मौर्यवंशकी एक शाखाका राज्य था। उक्त शताब्दीके प्रारम्भमे जिस मोरिय राजाका यहाँ शासन था उसका उपनाम सम्भवतया धवलप्पदेव था। श्रीवल्लभ उसकी उपाधि थी और श्वेतच्छत्र उसका राज्य-चिह्न था। उसके उत्तराधिकारी राहप्पदेवको पराजित करके राष्ट्रकूट दन्तिदुर्गने उपरोक्त उपाधि और चिह्न स्वयं ग्रहण कर लिये थे। धवलप्पदेवके कनिष्ठ पुत्र सम्भवतया वीरप्पदेव थे जो आगे चलकर प्रसिद्ध जैनाचार्य वीरसन स्वामीके नामसे प्रख्यात हुए और जिन्होने दिगम्बर आगमोकी विशालकाय टीकाओको रचना करके उन्हे धवल नामाकित किया। इसी चित्रकूटपर (चित्तौड) मे जैनगुरु एलाचार्य निवास करते थे। वे ही वीरसेन स्वामीके विद्यागुरु थे। राहप्पके राजा होनेपर ही सम्भवतया वीरसेनने दीक्षा ले ली थी और ७५० ई० के लगभग राष्ट्रकूटो-द्वारा राहप्पको पराजयके उपरान्त वे राष्ट्रकूटोंको राजधानीके निकट वाटनगरमे चले गये थे और वही अपना विद्यापीठ स्थापित करके उन्होने धवलादि

महान् ग्रन्थोकी रचना की थी। राहप्पके कोई पुत्र नही था अतः उसके पश्चात् उसका भानजा, बप्पारावल कालभोज उपनाम खोम्मण प्रथम, चित्तौडका राजा हुआ और उसने वहाँ गुहिलौत वंशकी स्थापना की। गुहिलौत राजपूत अपने-आपको सूर्यवशी कहते थे और यह वंश कालान्तरमे सीसोदिया नामसे भी प्रसिद्ध हुआ। इसी समय चित्तौड़के एक राजमान्य ब्राह्मण विद्वान् श्वेताम्बर आर्यिका याकिनीमहत्तराके उपदेशसे प्रभावित होकर साधु हो गये और यह ही प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरि हुए। इन्होने अनेक संस्कृत प्राकृत विविधविषयक ग्रन्थोकी रचना की। १०वी शताब्दीके उत्तरार्धमे गुहिलौत वशका प्रसिद्ध राजा शक्तिकुमार हुआ। सम्भवतया इसीके समयमे चित्तौडका सर्वप्रसिद्ध जैन कीर्तिस्तम्भ मूलतः बना था जिसका जीर्णोद्धार १४वी शतीमे एक दिगम्बर जैन सेठ साहजीजाने विपुल द्रव्य व्यय करके कराया था।

चित्तौड राजस्थानमे सदासे शैव और जैनधर्मका एक प्रमुख केन्द्र रहा था। गुहिलौत वशका राज्य एव कुल-धर्म शैव था किन्तु इस वशके राजे जैनधर्मके प्रति बड़े उदार और सहिष्णु रहे। कई राजे और राजवशके कितने ही स्त्री-पुरुष तथा प्रधान अमात्य, मन्त्री, दीवान, भण्डारी, सामन्त, सरदार, सेनापति, दण्डनायक और अन्य पदस्थ राज्य-कर्मचारियोमे से भी अनेक जैनी होते रहे। कहा जाता है कि मेवाड राज्यमे जब-जब दुर्गकी वृद्धिके लिए उसकी नीव रखी जाती थी तब-तब राज्यकी ओरसे जैन-मन्दिर बनवानेकी प्रथा थी। गौरीशंकर हीराचन्द ओझाके अनुसार सूर्यास्तके उपरान्त भोजन करना राज्य-भरमे राजाज्ञा-द्वारा मना था। केसरियानाथ-जैसे प्रसिद्ध तीर्थ और उसकी ऋषभदेव तीर्थकरकी मूर्तिको जैन ही नही शैव वैष्णव और भील भी आज तक पूजते चले आते है। अनेक जैनमन्दिर मेवाडनरेशोने स्वयं या अपनी अनुमतिसे बनवाये और कितने ही जैन मन्दिरोके लिए दान दिये। स्वयं चित्तौडके प्राचीन महलोके निकट प्राचीन जैनमन्दिर बने हुए है। और यही मेवाड़ राज्य अपने स्वा-

तन्त्य-प्रेम एवं स्वदेश-भक्तिके लिए इतिहासमे सर्वाधिक प्रसिद्ध है। उसके वीर राणाओने १७वी शताब्दी पर्यन्त मुसलमानोकी अधीनता स्वीकार नही की। राणाओकी इस आनको निभानेमे मेवाडका जैनधर्म तथा उसके जैन वीर सदैव सहायक रहे। धोडमे भी गुहिलोकी एक शाखाका राज्य था।

हस्तिकुण्डिका या हथूँडीके राठौड़—१०वी शती ई० मे राजस्थानके हथूँडी नगरमे राठौड वंशी राजपूतोका प्राचीन राज्य था। इन राठौडोका सम्बन्ध सम्भवतया दक्षिणके राष्ट्रकूट वंशसे था। कन्नौजके गहडवालोसे भी इनका कोई सम्बन्ध था या नही यह नही कहा जा सकता। सम्भव है जोधपुर-मारवाडके राठौड हथूँडीके वंशसे ही सम्बन्धित हों। हथूँडीका राठौडवंश जैनधर्मका अनुयायी था। ९१६ ई० मे इस वंशका राजा विदग्धराज जैनधर्मका परम भक्त था। उसने अपनी राजधानी हथूँडीमे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवका विशाल मन्दिर बनवाया था और उस मन्दिरके लिए बहुत-सी भूमि प्रदान की थी। उसके गुरु वासुदेवसूरि या बलभद्र थे। राजाने स्वयंको स्वर्णके साथ तुलवाकर उसे मन्दिर और गुरुको दान कर दिया था। सन् ९३९ ई० मे विदग्धराजके पुत्र एवं उत्तराधिकारी मम्मटने भी उक्त मन्दिरके लिए विपुल द्रव्य दान किया था और अपने पिताके दान-पत्रकी भी पुनरावृत्ति की थी। यह राजा भी परम जैन था। इसका पुत्र महाराज धवल भी परम जिन-भक्त था। उसने ९९७ ई० मे उपरोक्त मन्दिरका जीर्णोद्धार कराया, दान दिया और ऋषभदेवकी एक नवीन प्रतिमा स्थापित करायी। इस राजाके गुरु वासुदेवसूरिके शिष्य शान्तिभद्रसूरि थे और सूराचार्यने वह दान-प्रशस्ति लिखी थी। जैनधर्मकी प्रभावनाके लिए इस नरेशने अनेक कार्य किये। १२वी शती ई० के उपरान्त हथूँडी राज्य सम्भवतया जोधपुरके ही अधीन हो गया अथवा एक छोटा-सा उपराज्य रह गया।

श्रावस्तीके ध्वजवंशी नरेश—उत्तर प्रदेशके पूर्वी भागमे जिला बहराइचके अन्तर्गत श्रावस्ती (वर्तमान सहेटमहेट) एक प्राचीन महानगरी

थी। उत्तरकोसल देशके सूर्यवंशी राजाओंकी यह राजधानी थी। महावीर एवं बुद्धके समयमें सम्राट् प्रसेनजित् यहाँका प्रसिद्ध सम्राट् था। गुप्तकाल-के उदयतक वह कोसलराज्यकी राजधानी बनी रही, किन्तु गुप्तकालसे ही इसकी अवनति प्रारम्भ हो गयी। फ़ाह्यान और हुएनसांग नामक चीनी यात्रियोंने उसे उजड़ी हुई अवस्थामें पाया था। किन्तु हर्षवर्धनके एक ताम्रपत्रसे सूचित होता है कि उसके समयमें यह प्रदेश उसके राज्य-की एक भुक्ति (प्रान्त) था। ९वीं-१०वीं शती ई० में श्रावस्तीकी पुनः उन्नति हुई और यहाँ एक जैनधर्मानुयायी वंशका राज्य था जिसमें जनरल कनिंघमके अनुसार मुधन्वध्वज, मकरध्वज, हंसध्वज और मोरध्वज नामके राजा क्रमशः हुए। यह वंश सम्भवतया सरयूपारवर्ती कलचुरियोंकी एक शाखा थी। कलचुरीवंशकी विभिन्न शाखाओंमें सामान्यतया जैनधर्मकी प्रवृत्ति थी। क्या आश्चर्य जो श्रावस्तीके इस जैनवंशका कलचुरियोंसे ही सम्बन्ध हो, विशेषकर जब कि इस कालमें और इसी प्रदेशमें कलचुरियोंके एक सरयू-पारीवंशका राज्य होनेका पता चलता है। उपरोक्त मोरध्वजके उपरान्त श्रावस्तीका राजा सुहिलध्वज हुआ जो बड़ा वीर और पराक्रमी होनेके साथ ही साथ जैनधर्मका भी अनुयायी था। ११वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें इसका शासनकाल निश्चित होता है। उसने महमूद ग़जनवीके बेटेके सिपहसालार सैयद सालार मसऊद गाज़ीको बहराइचके प्रसिद्ध युद्धमें बुरी तरह पराजित किया बताया जाता है। सुहिलध्वज या सुहिलदेवके पश्चात् उसका पोता हरसिंहदेव श्रावस्तीका राजा हुआ। सन् ११३४ ई० में कन्नौजके गोविन्दचन्द्र गहड़वालने श्रावस्तीपर आक्रमण करके उसे तहस-नहस कर दिया। हरसिंहने भागकर सुहेलवा वनमें गढ़ी बना ली और फिर वहाँसे उसके वंशज नैपालमें जा बसे और पालिया भू-खण्ड राज्यके स्वामी बने।

चन्देलवंश—उत्तर भारतमें पूर्वमुसलमान युगका सबसे अधिक प्रसिद्ध और शक्तिशाली वंश जेजाकभुक्तिके चन्देले राजपूतोंका था।

वर्तमान विन्ध्यप्रदेश (बुन्देलखण्ड) गुप्तकालमे गुप्त साम्राज्यकी एक प्रसिद्ध भुक्ति था। देवगढ और खजुराहो आदि उसके प्रमुख नगर थे। सन् ८३१ ई० मे नन्नुक चन्देलने इस वंशकी स्थापना की और खर्जुरवाहक या खजुराहोको अपनी राजधानी बनाया। चन्देलोका मूल सम्बन्ध चेदिसे रहा प्रतीत होता है और इनका उद्गम भार एवं गोंड जातियोसे हुआ अनुमान किया जाता है। किन्तु उनकी अपनी अनुश्रुतियोके अनुसार उनका पूर्वपुरुष ब्राह्मण था। वे अपने-आपको आत्रेय ऋषि और चन्द्रकी सन्तान बताते है। नन्नुकने कन्नौजके प्रतिहारोके सामन्तके रूपमे ही चन्देल राज्यकी स्थापना की थी अतएव प्रारम्भिक चन्देल राजे प्रतिहारोंके अधीनस्थ राजाओके रूपमे ही रहे। नन्नुकके पश्चात् वाक्पति राजा हुआ, उसके दो पुत्र जेजा (जयशक्ति) और बेजा (विजयशक्ति) थे जिन्होने क्रमशः राज्य किया। जेजाके नामपर यह प्रदेश जेजाकभुक्ति नामसे प्रसिद्ध हुआ बताया जाता है। कालान्तरमे इसी शब्दका विकृत रूप जुझौती हुआ। जेजाकी पुत्री नट्टाका विवाह त्रिपुरीके कलचुरि-नरेश कोक्कल प्रथम (८४५-८८० ई०) के साथ हुआ था। बेजाके बाद राहिल राजा हुआ और फिर हर्ष चन्देल गद्दीपर बैठा। इसने ९०० से ९२५ ई० तक राज्य किया। इसके समयसे चन्देलोका उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। हर्षका पुत्र यशोवर्मन या लक्षवर्मन (९२५-९५४ ई०) और अधिक प्रतापी था। कन्नौजके महीपाल प्रतिहारसे उसके मित्रवत् सम्बन्ध थे और उससे उसने एक प्रसिद्ध विष्णुमूर्त्ति भी प्राप्त की थी। इसका पुत्र धंग (९५४-१००२ ई०) बडा महत्त्वाकांक्षी था। उसके समयमे चन्देल राज्य एक सर्वथा स्वतन्त्र राज्य था और धंग अपने समयके सर्वाधिक शक्तिशाली नरेशोमे-से था। ९९० ई० मे उसने सुबुक्तगीन गजनवीके विरुद्ध भटिण्डेके जयपालकी सहायता की थी और युद्धमे स्वयं भाग लिया था। खजुराहोके सर्वप्रसिद्ध और सर्वश्रेष्ठ जैन एवं वैष्णव मन्दिरोमे-से कई इसी उदार नरेशके समयमे और उसके प्रश्रयमे निर्मित हुए थे। वहाँका भव्य पार्श्वनाथ-मन्दिर इस राजाके शासनके प्रथम

वर्षमे ही निर्मित हुआ था। सन् ९५४ ई० के उक्त मन्दिरसे सम्बन्धित शिलालेखमे महाराज धंगके कृपापात्र पाहिल नामक प्रसिद्ध जैन श्रेष्ठि एवं राजपुरुष-द्वारा अनेक दान दिये जानेका उल्लेख है। उसने कई मन्दिर और मूर्त्तियाँ निर्माण करायी थी। उसके गुरु मुनि वासवचन्द्रका राजा भी आदर करता था। धंगका पुत्र गण्ड भी प्रतापी और शक्तिशाली नरेश था। १००८ ई० मे उसने अनन्दपाल साही-द्वारा महमूद गजनवीके विरुद्ध नियोजित संघमे महत्त्वपूर्ण भाग लिया और महमूदका कड़ा मुकाबला किया। खजुराहोके शान्तिनाथ-मन्दिरमे आदिनाथकी विशाल प्रतिमाकी प्रतिष्ठा इसी नरेशके पुत्र विद्याधरदेवके शासनकालमे सन् १०२८ ई० मे हुई थी। सन् १०२३ मे महमूद गजनवीके साथ युद्धमे विद्याधर पराजित हुआ था, उसी समयसे चन्देलोकी शक्तिका ह्रास प्रारम्भ हुआ।

११वीं शतीके उत्तरार्धमे १३वे राजा कीर्त्तिवर्मनने राज्य किया। उसके समयमे चन्देल राज्यकी स्थिति फिरसे सँभल गयी। अब लगभग एक शताब्दीके लिए मुसलमानोके आक्रमणोसे भी भारतवर्षको त्राण मिला और चन्देलोने इस स्थितिसे पूरा लाभ उठाया। कीर्त्तिवर्मनके मन्त्री वत्स-राजने सन् १०९७ ई० मे देवगढमे नवीन दुर्ग बनवाकर उसका नाम कीर्त्तिगिरि रखा, राज्यमे कई वैष्णव, जैन आदि मन्दिर भी बने। इसी राजाके शासनकालमे १०६५ ई० के लगभग कृष्णमिश्रने अपना प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक लिखा जो राज-सभामे खेला भी गया था। १०६६ ई० मे अहार मदनपुरामे एक जैनमन्दिरका भी निर्माण हुआ।

१२वी शतीके मध्यमे चन्देल-नरेश मदनवर्मा भारी निर्माता था। उसने अनेक नगर, सरोवर तथा जैन एवं वैष्णव-मन्दिरोंका निर्माण कराया। सन् ११४५, ११५४, ११५५, ११५८, ११६३ आदिकी अनेक जैन मूर्त्तियाँ इस राजाके शासनकालमे प्रतिष्ठित हुई मिलती है। ११५५ की मूर्त्तिपर उसके निर्माता शिल्पी कुमारसिंहका नाम भी अंकित है।

सन् ११६५ से १२०२ ई० पर्यन्त चन्देल-नरेश परमार्दिदेव या परमालका

राज्य रहा। यह इस वंशका अन्तिम महान् नरेश था। दिल्ली-अजमेरका पृथ्वीराज चौहान और कन्नौजका जयचन्द्र गहडवाल उसके प्रवल प्रतिद्वन्द्वी थे। महोबेके लोकप्रसिद्ध योद्धा आल्हा और ऊदल परमाल चन्देलके ही आश्रित एवं सेनानायक थे। जगनिकके आल्हखण्डने उस कालकी उन अनेक वीरगाथाओंको सजीव बनाये रखा जिनमे महोबेके ये वीर नायक थे। सन् १२०२ ई० मे परमालकी मृत्यु हो गयी और चन्देलोंने कुतुबुद्दीन ऐबकसे पराजित होकर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। परमार्दिदेव भी निर्माता था, अनेक मन्दिर उसके कालमे बने। अहारके शान्तिनाथ तीर्थंकरकी सुन्दर विशाल खड्गासन मूर्त्तिको इसीके राज्यमे सन् ११८० ई० मे रूपकार पापटने बनाया था। १३ वी शतीके उत्तरार्धमे चन्देलराज वीरवर्मनदेव भी अजयगढ़के तथा अनेक देव-मन्दिरोके निर्माणके लिए प्रसिद्ध है। उसके समयकी सन् १२७४-७८ की मूर्तियाँ एवं लेख मिलते है। सन् १३१० ई० के लगभग चन्देल राज्यका अन्त हुआ और वह मुसलमानी साम्राज्यमे अलाउद्दीन खिलजी-द्वारा मिला लिया गया।

लगभग ४०० वर्षके दीर्घकालमे चन्देल नरेशोने भारतीय कलाका अभूतपूर्व पोषण किया। उनका निजका धर्म जैन न होते हुए भी वे जैनधर्मके प्रति अत्यन्त सहिष्णु और उसके प्रबल पोषक रहे। देवगढ़, खजुराहो, महोबा, अजयगढ, अहार मदनपुरा, मदनसागरपुर, बानपुर, पपौरा, चन्देरी, दूदाही, चन्दपुरा, छतरपुर, टीकमगढ़ आदि चन्देल प्रदेशके प्रायः सभी प्रमुख नगरोमे समृद्ध जैनोकी बडी-बड़ी बस्तियाँ थीं, उनके श्रीदेव, वासवचन्द्र, कुमुदचन्द्र आदि अनेक निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुओ एवं विद्वान् आचार्योका राज्यमे उन्मुक्त विहार था और अनेक भव्य विशाल जिनमन्दिरो एवं जैन कलाकृतियोका उन स्थानोंमे निर्माण हुआ। जैनकलाके ये चन्देलकालीन उदाहरण भारतीय कलाके सर्वोत्कृष्ट नमूनोमे-से है और पूर्व मध्यकालीन भारतीय कलाशैलीका सफल प्रतिनिधित्व करते है। उक्त राज्यके जैनियोने भी राज्यकी सर्वतोमुखी उन्नतिमे पूर्णतया योगदान दिया। शिव और विष्णुके

भी अनेक कलापूर्ण मन्दिर उस कालके विद्यमान है यथा खजुराहोके कन्दरिया महादेव और केशवदेव।

ग्वालियरके कच्छपघट राजे—१०वी शताब्दीके पूर्वार्धमे कच्छपघटवंशी राजपूतोका ग्वालियर प्रदेशपर शासन था। ये राजे कन्नौजके प्रतिहारोके सामन्त थे। प्रारम्भिक राजाओमे महाराज माधो प्रसिद्ध था। उसका पुत्र महेन्द्रचन्द्र अर्धस्वतन्त्र राजा था। सन् ९५६ ई० मे उसने ग्वालियरके निकट सोहनियामे विपुल द्रव्य व्यय करके एक जैन-मन्दिर बनवाया था। ९७७ ई० मे महाराज वज्रदामन सर्वथा स्वतन्त्र नरेश हुआ। उसने भी उसी वर्ष सोहनियाके जिन-मन्दिरमे एक मूर्ति प्रतिष्ठित करायी थी। सन् १०८८ ई० मे इसी वंशके विक्रमसिंह कच्छपघटने दूबकुण्ड नामक स्थानके सुप्रसिद्ध जैनमन्दिर बनवाये और उनके लिए दान दिये। किन्तु ११वी शताब्दीमे चन्देलोका उत्कर्ष होनेपर ग्वालियरके कच्छपघट उनके अधीन हो गये। १२वी शताब्दीके मध्यतक इस वंशका राज्य ग्वालियरमे चलता रहा। इस वंशकी एक शाखाका राज्य नरवरमे था। २३वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ इस वंशके इष्टदेव थे। स्वयं ग्वालियरके क़िलेमे इस वंशके राजाओ-द्वारा १२वी शताब्दीमें प्रतिष्ठित पार्श्वनाथकी विशाल प्रतिमा अभीतक विद्यमान है। कच्छपघट ही कालान्तरमे कछवाहे नामसे प्रसिद्ध हुए और सम्भवतया १२वी शताब्दीके मध्यके लगभग ग्वालियरमे उनका अधिकार समाप्त होनेके कुछ काल उपरान्त उन्होने राजस्थानके आमेर नगरको अपनी राजधानी बनाकर अम्बर प्रदेशपर अपना राज्य स्थापित किया।

इस कालके उत्तर भारतके अन्य राजपूत राज्योमे श्रीपथ (बयाना, जिला भरतपुर) के यदुवंशी, जिनकी एक राजधानी त्रिभुवनगिरि या ताहनगढ भी थी, और चन्द्रवाड (जिला फिरोजाबाद) के चौहान राज्य भी उल्लेखनीय है। यह दोनो राज्यवंश भी जैनधर्मके पोषक थे।

उपरोक्त राजपूत राज्योके अतिरिक्त कितने ही और भी छोटे-छोटे

देशी राज्य उस कालमे उत्पन्न हो गये थे। उनके अतिरिक्त तिब्बत, नैपाल, कुमायूँ, गढवाल, आसाम आदिमे भी स्वतन्त्र या अर्धस्वतन्त्र राज्य थे। एक अनुश्रुतिके अनुसार इस कालके परिहार, परमार, सोलंकी, राठौड, चौहान, कछवाहे आदि अधिकांश राजपूतवंश अग्निकुलके कहे जाते है और कर्नल टाडके मतानुसार उनके अग्निकुल कहलानेका कारण यह भी हो सकता है कि वे जैनधर्मने दीक्षित हो गये थे। कमसे कम उस कालके विभिन्न छोटे-बडे राज्यवंशोका जो इतिहास प्राप्त है उससे इस विषयमे तो सन्देह नही है कि इन राज्यवंशोमे अल्पाधिक काल तक जैनधर्मकी प्रवृत्ति अवश्य रही थी। इन सब ही राज्योमे जैनधर्म और उसके अनुयायी सुखपूर्वक फले-फूले। राजागण जैनधर्मके यदि अनुयायी नही होते थे तो उसके प्रति उदार एवं सहिष्णु अवश्य रहते थे। साथ ही जैनधर्म और उसके आचार-विचारके प्रभावसे उनकी वीरता, युद्धप्रियता और स्वातन्त्र्य-प्रेममे कोई कमी नही आयी थी। उनके पतनका वास्तविक कारण उनकी परस्परकी फूट, जाति और कुलका दुरभिमान, उनमे परस्पर एकता और एकसूत्रताका अभाव और दूसरी ओर धन एवं राज्यके लोभसे प्रेरित धर्मान्ध एवं क्रूर मुसलमान जातियोके अनवरत आक्रमण, छल, बल और कौशल थे; जिन्होने सहज और शीघ्र ही देशको विधर्मी विदेशियोकी पराधीनतामे जकड दिया।

सूर्य, शक्ति तथा विष्णुके विभिन्न अवतारोको लेकर अनेक सम्प्रदाय चल पडे थे। तान्त्रिक और वाममार्गी सम्प्रदाय भी उत्पन्न हो गये। वीर शैव या लिंगायत-जैसे नये-नये सम्प्रदाय तथा जोगियो और साधुओ-द्वारा चलाये गये नये-नये पन्थ नित्य पैदा हो रहे थे। इन समस्त विभिन्न एवं बहुधा परस्पर-विरोधी सम्प्रदायो और पन्थोंको सामूहिक रूपसे, विशेपतया मुसलमानों द्वारा, हिन्दूधर्म कहा जाने लगा, उन सबका अन्तर्भाव इस एक ही नाममे सामान्यत: किया जाने लगा और इनमे-से किसी भी सम्प्रदाय या पन्थका माननेवाला अपनेको हिन्दू कह सकता था और कहलाने लगा।

इस प्रकार तथाकथित हिन्दुओमे बहुभाग जनसाधारण तथा राजे-महाराजो-की गणना होने लगी। उक्त विभिन्न सम्प्रदायोके अनुयायियोमे परस्पर वैमनस्य, कलह और प्रतिद्वन्द्विता भी कभी-कभी अत्यन्त कटु हो उठती थी, तथापि भारतीयता, हिन्दू नाम, तीर्थ रूपमे भारतकी कतिपय नदियो, पर्वतो और प्राचीन स्थानोकी समान रूपसे मान्यता, रामायण एवं महा-भारत-जैसी प्राचीन अनुश्रुतियोकी समान रूपसे लोकप्रियता, वेदोके अर्थोको बिलकुल न समझते हुए भी अथवा उनके मन्तव्योंसे बहुधा स्पष्ट विरोध रखते हुए भी उन्हे ईश्वरोक्त मानना इत्यादि बातोने उपरोक्त विविधता एवं वैषम्यके बीच भी हिन्दू जातिको बाह्यत एक सूत्रमे बाँधे रखा।

जैनधर्म भी बाह्य व्यवहारमे अब उक्त तथाकथित हिन्दूधर्मका एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय-जैसा ही बन चला। आनेवाले मध्यकालमे राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिसे जैनी और हिन्दुओमे प्राय: कोई अन्तर नही दीख पड़ने लगा। अब भी गग मारसिंह, बिज्जल कलचुरी, विष्णुवर्धन होयसल, चालुक्य आहवमल्ल, कुमारपाल सोलंकी-जैसे कई सम्राट्, अनेक राजे-उपराजे, सामन्त-सरदार, सेनापति और दीवान जैनी होते रहे। अनेक हिन्दू तथा मुसलमान सम्राट् जैनधर्मके पृष्ठपोषक और आश्रयदाता बने रहे, कितने हो देशोमे जन-साधारण राजपूत ठाकुर और ब्राह्मण तथा शूद्र जातियोमे भी जैनधर्मके अनुयायी पाये जाते थे। इम्पीरियल गजेटियरके अनुसार सन् १०००—१२०० ई० के मध्य जैनधर्म मध्यभारतकी उच्च जातियोका प्रधान धर्म था। किन्तु शनै:-शनै. यह धर्म व्यापार-व्यवसाय-प्रधान वणिक् जातिमे ही सीमित होता चला गया। इससे इसकी सख्या एवं लोकप्रियता तो घटी किन्तु समृद्धि, शक्ति और सास्कृतिक निर्माणोमे विशेष अन्तर नही आया। कई एक सम्प्रदायों एवं प्रादेशिक भेदो अथवा संघ गण गच्छ आदिकोमे विभक्त हो जानेपर भी जैनधर्मकी संस्कृति और मौलिकता पूर्ववत् अक्षुण्ण बनी रहो। बाह्य आचार-विचार, पूजा-पद्धति, त्यौहार-उत्सव आदिमे हिन्दू सम्प्रदायोके साथ उसका बहुत कुछ आदान-

प्रदान हुआ तथापि उसकी सैद्धान्तिक मूलभित्ति अडिग रही, उसके मौलिक विश्वास और परम्पराएँ स्थिर रहे और इनके कारण वह भारतका एक स्वतन्त्र एवं प्रमुख धर्म बना रहा। उसके प्रेरक तत्त्व सजीव बने रहे और उनके कारण उसके अनुयायियोका धार्मिक उत्साह सजग रहा। इन्ही कारणोने जैनधर्मकी तथाकथित हिन्दूधर्ममे आत्मसात् होनेसे रक्षा की और साथ ही उसे बौद्धधर्मकी जो गति हुई उससे भी उसे बचा लिया। भारतवर्षकी मौलिक धार्मिक सहिष्णुताने इस देशमे धार्मिक विद्वेष, अत्याचार एवं साम्प्रदायिक वैमनस्यपर बहुत कुछ सफल नियन्त्रण रखा। यही कारण है कि मुसलिम युगके पूर्व एवं अनेक अंशोमे उसके प्रारम्भके उपरान्त भी विभिन्न भारतीय धर्म बहुत कुछ परस्पर सहयोग एवं सद्भावपूर्वक साथ-साथ फलते-फूलते रहे। आनेवाले मध्यकालके विदेशी विधर्मी मुसलमान शासन-कालमे जैनधर्मकी प्रायः वही दशा और स्थिति रही जो अन्य भारतीय धर्मोकी थी। उसके शान्तिप्रिय एवं धनी व्यापारी अनुयायियोके कारण मुसलमान शासकोने भी उसपर अत्यधिक अत्याचार नही किया प्रतीत होता।

अध्याय ६

कलिंग, गुजरात, बंगाल, सिन्ध, कश्मीर, सिंहल और बृहत्तर भारत

कलिंग—कलिग राज्य पूर्वी समुद्रतटपर तामलुकसे गंजम पर्यन्त फैला हुआ था। उसकी उत्तरी सीमा गंगानदीको स्पर्श करती थी, दक्षिणमे मध्य गजमके उपरान्त घने वन फैले हुए थे, पूर्वमे भारतीय महासागर था और पश्चिमी सीमा मध्यप्रान्तकी अमरकण्टक पर्वतमाला तक पहुँचती थी। दक्षिणकोसल या महाकोसल देश भी बहुधा उसके भीतर ही पडता था। कलिग (वर्तमान उड़ीसा) को त्रिकलिग देश भी कहा गया है क्योकि उसमे उत्कल, कगोद और कोसल (दक्षिणी गंजम), ये तीन देश सम्मिलित थे। वैदिक साहित्यमे कलिगका कोई उल्लेख नही है। महाभारतमे उसका वर्णन एक वन्य प्रदेशके रूपमे हुआ है जिसका राजा चित्रागद था। अर्थशास्त्रके अनुसार वहाँ एक विशेष प्रकारका सूती वस्त्र बनता था। धर्मसूत्रोमे इसे म्लेच्छ देश कहा है और वहाँ जानेवालेको पातकी कहा है। इस प्रकार ब्राह्मण-परम्परामे कलिग देश चिरकाल तक एक अनार्य, अवैदिक देश बना रहा। बौद्धग्रन्थोमे कलिगदेश और उसकी राजधानी दन्तपुरके अनेक उल्लेख है किन्तु बौद्ध अनुश्रुतिके सोलह महाजनपदोमे उसका उल्लेख नही है। इसके विपरीत जैन साहित्य और अनुश्रुतियोमे कलिग देशके अनेक उल्लेख मिलते है। कलिगके सर्व-प्राचीन उपलब्ध पुरातत्त्वावशेष जैन है और इस देशमे अत्यन्त प्राचीन कालसे ही जैन तीर्थकरोकी प्रतिष्ठा रही प्रतीत होता है। इस देश

और राज्यके इष्टदेव 'कलिंग जिन' कहलाते थे। विद्वानोमे इस विषयमे मतभेद है कि ये 'कलिंग जिन' आदि या अग्रजिन प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे, या भद्दलपुर (कलिंगदेशस्थ भद्राचलम् या भद्रपुरम्) मे उत्पन्न दसवे तीर्थंकर शीतलनाथ थे अथवा २३वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे। किन्तु महावीरके जन्मके पूर्व भी इस जनपदमे उक्त कलिंग-जिनकी प्रतिष्ठा थी इसमे सन्देह नही है। तीर्थंकर पार्श्वका विहार कलिंग देशमे हुआ था। भगवान् महावीर भी वहाँ पधारे थे और राजधानी कलिंग नगरके निकट कुमारी पर्वतपर उनका समवसरण लगा था। उपरोक्त घटनाओकी स्मृतिमे उक्त स्थानपर स्तूपादि स्मारक बने थे और मुनियोके निवासके लिए गुफाएँ भी निर्मित हुई थी जो खारवेलके समयके बहुत पहलेसे वहाँ विद्यमान थी। इन सब बातोसे विदित होता है, जैसा कि प्रो० राखालदास बनर्जीका भी मत है, कि उड़ीसा प्रारम्भसे जैनधर्मका एक प्रमुख गढ था। वस्तुत. इस प्रदेशमे आर्यसभ्यता और संस्कृतिके प्रवेशका श्रेय जैनधर्मको है।

छठी शताब्दी ई० पू० में कलिंग देशपर जितशत्रु नामक राजाका राज्य था जो महावीरके पिता राजा सिद्धार्थका मित्र और बहनोई था। इसकी कन्या यशोदाके साथ महावीरके विवाहकी बात चली थी किन्तु महावीरने आजन्म ब्रह्मचारी रहनेका ही दृढ निश्चय कर लिया था अतः वह विवाह न हो सका। जितशत्रु सम्भवतया किसी प्राचीन विद्याधर वंशसे सम्बन्धित था। उसके वंशजोने नन्दकाल-पर्यन्त इस देशपर निर्बाध शासन किया प्रतीत होता है। महावीर निर्वाण सवत् १०३ (ई० पू० ४२४) मे मगधनरेश नन्दिवर्धनने कलिंगपर आक्रमण किया और उस राज्यको अपने साम्राज्यका अंग बनाया। सम्भवतया वह स्वयं जैनी था अतः कलिंगकी राजधानीमे प्रतिष्ठित कलिंगजिनकी भव्य मूर्त्तिको अपने साथ लिवा लाने और अपनी राजधानी पाटलिपुत्रमे प्रतिष्ठित करनेका लोभ संवरण न कर सका। मगधनरेश महानन्दिनके उपरान्त ई० पू०

३६४ मे जो राज्यक्रान्ति हुई उसका लाभ उठाकर कलिग राज्य फिर स्वतन्त्र हो गया प्रतीत होता है। इस समय सम्भवतया कोई वंग-परिवर्तन भी हुआ, किन्तु यह नही कहा जा सकता कि यह नवीन वंश प्राचीन राज्यवंशसे ही सम्बन्धित था अथवा कोई नवीन वश था। यूनानी लेखकोने भारतके पूर्वभागमे प्राचीके साथ-साथ गेंगराइडिस राज्यका जो उल्लेख किया है उससे कुछ विद्वानोका अनुमान है कि वह तत्कालीन कलिग राज्यका ही सूचक है और सम्भवतया वहाँ उस समय उन गंगलोगोका राज्य था जिनके वंशजोने कालान्तरमे कर्णाटकके गंगवाड़ि राज्यकी स्थापना की थी और कलिग देशपर भी कई शताब्दियो पर्यन्त राज्य किया था। महापद्म आदि नवनन्दोने कलिगको नही छेड़ा। चन्द्रगुप्त मौर्यको भी उत्तरापथमे अपने साम्राज्यको सुव्यवस्थित करने और यूनानियोसे लोहा लेते रहनेके कारण कलिगकी ओर ध्यान देनेका अवकाश नही मिला। बिन्दुसारने भी कलिग राज्यसे मित्रता ही रखी, किन्तु उसके पुत्र अशोकने चक्रवर्ती बननेकी लालसामे कलिगपर आक्रमण किया। उस समय वह एक शक्तिशाली राज्य था, उसका साम्राज्य समुद्र-पार पूर्वी देशो तक फैला था, सुदूर पूर्वमे उसके अनेक उपनिवेश भी रहे प्रतीत होते है और उसका व्यापार भी बढा-चढा था। ई० पू० २६१ के लगभग अपने राज्यके ८वे वर्षमे एक भारी सेना लेकर अशोकने कलिगपर आक्रमण किया, भीषण युद्ध हुआ जिसमे लगभग डेढ लाख व्यक्ति बन्दी हुए, एक लाख मारे गये और उससे कई गुने युद्धके परिणामसे मर गये। इस भीषण नरसंहारने अशोकको विचलित कर दिया, उसकी मनोवृत्तिमे भारी परिवर्तन हुआ और वह आगेसे एक शान्तिप्रिय धर्मात्मा नरेश बना। किन्तु मगध साम्राज्यका विस्तार भी चरम सीमापर पहुँच गया। तथापि कलिगके धन-जन एवं स्वातन्त्र्यकी असीम क्षति हुई इसमे सन्देह नही है।

तीसरी शताब्दी ई० पू० के अन्तके लगभग सम्राट् सम्प्रति मौर्यके

शासनकालके अन्तिम वर्षोंमें कलिंग फिरसे स्वतन्त्र हो गया और वहाँ एक नवीन राज्यवंशका उदय हुआ। यह नवीन वंश भी जैनधर्मानुयायी था। प्राचीन राज्यवंशसे इसका कोई सम्बन्ध था या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। सम्भावना यही है कि यह कलिंगके किसी प्राचीन राज्यवंशकी ही शाखा थी। खारवेलके शिलालेखके अनुसार इस वंशका नाम ऐल था और यह चेदि या चैत्रवंशकी एक शाखा थी। तत्कालीन राजाका नाम सम्भवतया क्षेमराज था। कुछ विद्वानोंके अनुसार क्षेमराजका पुत्र वृद्धिराज था और उसका पुत्र भिक्षुराज खारवेल था, किन्तु कुछ-कुछका मत है कि ये सब खारवेलकी ही अपनी उपाधियाँ थीं। जो भी हो इसमें सन्देह नहीं है कि खारवेलके पितामहने ही सम्प्रतिके समयमें इस राज्यवंशकी स्थापना की थी और कलिंगको स्वतन्त्र किया था। खारवेलके पिताकी मृत्यु अपने पिताके जीवनकालमें ही हो गयी थी अतएव उक्त वृद्धिराजका उत्तराधिकारी उसका पोता खारवेल हुआ। कलिंग चक्रवर्ती महामेघवाहन राजर्षि खारवेलका जन्म लगभग १९० ई० पू० में हुआ, १५ वर्षकी आयुमें (ई० पू० १७५ में) उसे युवराजपद प्राप्त हुआ और २४ वर्षकी आयुमें ई० पू० १६६ के लगभग उसका राज्याभिषेक हुआ। उसके उपरान्त कमसे कम १३ वर्ष पर्यन्त उसने राज्य किया जिसका विशद वर्णन उसके स्वयंके शिलालेखमें प्राप्त है। उसके (ई० पू० १५२ के) उपरान्त वह कितने वर्ष जीवित रहा और उसने क्या-क्या किया इसके जाननेका वर्तमानमें कोई साधन नहीं है। सम्राट् खारवेलका यह इतिहास-प्रसिद्ध शिलालेख उडीसा प्रदेशके पुरी जिलेमें स्थित भुवनेश्वरसे तीन मीलकी दूरीपर विद्यमान खण्डगिरि पर्वतके उत्तरी भागपर जो कि उदयगिरि कहलाता है बने हुए हाथीगुम्फा नामके एक विशाल एवं प्राचीन कृत्रिम गुफामन्दिरके मुख एवं छतपर उत्कीर्ण है। १७ पंक्तियोंका यह महत्त्वपूर्ण लेख ८४ वर्गफीट क्षेत्रमें लिखा हुआ है। लेखकी भाषा अर्द्ध-मागधी तथा जैनप्राकृत मिश्रित अपभ्रंश है। लेखके साथमें मुकुट, स्वस्तिक,

नन्द्यावर्त, अशोक वृक्ष आदि जैन सांस्कृतिक मंगल प्रतीक भी उकेरे हुए है। लेख—"अरहंतों एवं सर्व सिद्धोको नमस्कार करके चैत्र- (चेति-) राज्यवंशकी प्रतिष्ठाके प्रसारक, प्रशस्त एवं शुभ लक्षणोसे युक्त, चारो दिशाओ (विश्व) के आधार स्तम्भ, अनेक गुणोसे विभूषित कलिगदेशके अधिपति ऐलवंशी (या आर्य) महाराज महामेघवाहन श्री खारवेल-द्वारा यह लेख उत्कीर्ण कराया गया, जिन्होने अपने कान्त प्रतापी पिंगलवर्ण किशोर शरीर-द्वारा पन्द्रह वर्ष पर्यन्त कुमार-क्रीडाएँ की। तदनन्तर लेखन, मुद्रा या चित्रकला, गणित, व्यवहार धर्म, राजनीति और शासन-व्यवस्था आदि समस्त विद्याओमे पारंगत होकर नौ वर्ष तक युवराज-पदसे शासन किया। उसकी आयुका २४वाँ वर्ष समाप्त होनेपर पूरे यौवनकालमे उस उत्तरोत्तर वृद्धिमान महान् विजेताका कलिगके तृतीय राजवंशमे आजीवन-के लिए महाराज्याभिषेक हुआ। अभिषेक होते ही अपने राज्यके प्रथम वर्षमे उसने आँधी-तूफान आदि दैवी प्रकोपोसे नष्ट हुए राजधानी कलिग-नगरके गोपुर, प्राकार, प्रासादो आदिका जीर्णोद्धार कराया, शीतल जलके सरोवरो एवं झरनो आदिके बाँध बँधवाये और उद्यानोका पुन. निर्माण कराया और अपने पैतीस लाख प्रजाजनोको रंजायमान किया—सुखी किया। द्वितीय वर्षमे शातकर्णि (दक्षिणापथका सातवाहन सम्राट् शातकर्णि प्रथम) की परवा न करके घुडसवार, हाथी, पैदल और रथोकी विशाल सेना पश्चिम दिशामे भेजी तथा कृष्णवेणा नदीपर पहुँचकर मूषिकोकी (असिको-की) राजधानीका विध्वंस कराया। तीसरे वर्षमे इस गन्धर्वविद्याविशारद नृपतिने नृत्य संगीत वादित्रके प्रदर्शनो तथा अनेक उत्सवों एवं समाजो (नाटक, खेल आदि) के आयोजनो-द्वारा अपने राज्यके नागरिकोका मनोरंजन किया। चौथे वर्षमे उसने अपने पूर्ववर्ती कलिग युवराजोके निवासके लिए निर्मित उस विद्याधर-निवासमे जो इस समय भी अक्षुण्ण था (तनिक भी जीर्ण-शीर्ण नही हुआ था) निवास करते हुए उन रट्ठिक और भोजक राजाओसे, जिनके राजमुकुट और राजछत्र नष्ट कर दिये,

रत्नोंकी भेट लेकर अपने चरणोमे नमस्कार कराया। पाँचवें वर्षमे राजा उस नहरको राजधानी (तोशलि या कलिग नगर) तक लिवा लाया जिसे महावीर संवत् १०३ (ई० पू० ४२४) मे नन्द राजाने सर्वप्रथम खुदवाया था। छठे वर्षमे उसने राज्यैश्वर्य प्रदर्शनार्थ प्रजाजनोंके कर आदि माफ किये, दीन-दुखियोपर कृपा दिखायी, उन्हे सन्तुष्ट सुखी किया और पौरजानपदों (जनतन्त्रात्मक संस्थाओं, नगरपालिकाओ, ग्रामपंचायतों, व्यावसायिक निगमों, श्रेणियों आदि) पर सैकड़ों हजारो विविध प्रकारके अनुग्रह किये। सातवे वर्षमे उसकी रानीने, जो वंगदेशस्थ वज्रधर राज्यकी राज्यकुमारी थी, एक पुत्र प्रसव किया। आठवे वर्षमे खारवेलने विशाल सेनाके साथ उत्तरापथकी विजय-यात्रा की, मगधपर आक्रमण किया, गोरथगिरि (गया ज़िलेका बराबर पर्वत) पर भीषण युद्ध करके राजगृह-नरेशको त्रस्त किया और उसके भयसे यवनराज दिमित्र भी अपनी समस्त सेना, वाहनों आदिको यत्र-तत्र छोड़कर मथुरासे भाग गया। यमुना तटपर (मथुरामे) पहुँचकर पुष्पित-पल्लवित कल्पवृक्ष सभी अधीनस्थ राजाओ तथा अश्व-गज-रथ-सैन्य सहित वह राजा सब गृहस्थो-द्वारा पूजित स्तूपकी पूजा करने जाता है। उसने याचकोको दान दिया, ब्राह्मणोंको भरपेट भोजन कराया और अरहन्तोंकी पूजा की। नवें वर्षमे उसने प्राचीन नदीके दोनों तटोंपर अडतीस लाख मुद्रा व्यय करके महाविजयप्रासाद नामका सुन्दर एवं विशाल राजमहल बनवाया। दसवें वर्षमे अपनी सेनाओंको विजय-यात्राके लिए पुन: भारतवर्ष (उत्तरापथ) की ओर भेजा और फलस्वरूप उसके सब मनोरथ पूर्ण हुए। ग्यारहवे वर्षमे उसने दक्षिण-देशको विजय किया, पिथुण्ड नगर (पृथुदकदर्भपुरी) का ध्वंस किया (उसमे गदहोके हल चलवाये) और ११३ वर्ष पहलेसे संगठित चले आये तमिल राज्योके संघको छिन्न-भिन्न किया। (अर्थान्तर—श्री केतुभद्रकी उस १३०० वर्ष प्राचीन निम्बकाष्ठ निर्मित प्रतिमाका जुलूस निकाला जिसकी कि स्थापना पूर्ववर्ती राजाओने पृथुद-

कदर्भ नगरमे की थी तथा जो समस्त जनके लिए आह्लादकारी थी)। बारहवे वर्षमे उसने उत्तरापथके राजाओंमे अपने आक्रमणो-द्वारा आतक उत्पन्न किया, उन्हे अस्त-व्यस्त कर दिया, मगधकी जनतामे भारी भयका संचार किया, अपने हाथियोको (पाटलिपुत्रके) गांगेय नामक राज-प्रासाद-मे प्रविष्ट किया (या गंगा नदीमे पानी पिलाया) और मगधराज बृहस्पतिमित्र (पुष्यमित्रशुग ?) से अपने चरणोमे प्रणाम करवाया। पूर्वकालमे नन्दराजा-द्वारा अपहृत कलिगजिन (या अग्रजिन) की प्रतिमाको तथा अंग-मगध राज्योके बहुमूल्य रत्नो एवं धन-सम्पत्तिको विजित सम्पत्तिके रूपमे अपने घर वापस लाया। उपायन तथा विजित धनके रूपमे प्राप्त सम्पत्तिसे उसने अपनी समृद्ध विजयके चिह्नस्वरूप ऐसे अनेक शिखर (मन्दिरोपर) बनवाये जिनमे रत्नादि सैकडो बहुमूल्य पदार्थोसे पच्चीकारी की गयी थी। उसी वर्ष उसने सुदूर दक्षिणके पाण्ड्य राजासे अभूतपूर्व एवं आश्चर्यजनक जलपोतोमे भरे हुए उपायन, घोड़े, हाथी, सेवक, मणि-माणिक्य-मुक्ता आदि कर अथवा भेट रूपमे प्राप्त किये। इस प्रकार यह महान् नरेश अपनी राजधानीमे निवास करता हुआ, सर्व प्रजाजनो और अधीन राजाओको वशीभूत करता हुआ और अपने विजय-चक्र-द्वारा साम्राज्यका विस्तार करता हुआ निवास करता था। अन्तमे अपने राज्यके तेरहवे वर्षमे इस राजाने सुपर्वतविजय-चक्र (प्रान्त) मे स्थित कुमारोपर्वतपर अपने राजभक्त प्रजाजनो-द्वारा पूजे जानेके लिए उन अर्हन्तोकी स्मृतिमे निषद्यकाएँ निर्माण करायी जो निर्वाण लाभ कर चुके थे। तपस्वी मुनियोके निवास करनेके लिए गुफाएँ बनवायी, स्वयं उपासक (श्रावक) के व्रत ग्रहण किये और अर्हन्मन्दिरके निकट उसने एक सुन्दर विशाल सभामण्डप (अर्कासन गुफा) बनवाया जिसके मध्यमे एक बहुमूल्य रत्नजटित मानस्तम्भ स्थापित किया गया। उक्त सभामण्डपमे उसने उन समस्त सुकृत सुविहित ज्ञानी तपस्वी श्रमणो (जैन मुनियो) का सम्मेलन किया जो चारो दिशाओसे दूर-दूरसे उसमे सम्मिलित होनेके

लिए आये थे। इस मुनि-सम्मेलनमे राजाने भगवान्‌की दिव्य ध्वनिमें उच्चरित उस शान्तिदायी द्वादशांग श्रुतका पाठ कराया, जो कि महावीर संवत् १६५ (ई० पू० ३६२—भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समय) से निरन्तर ह्रासको प्राप्त होती आ रही थी, (तथा उसके उद्धारका प्रयत्न किया) और इस प्रकार उस क्षेमराज, वृद्धिराज, भिक्षुराज (राजर्षि), धर्मराज नरेशने भगवान्‌की उक्त कल्याणकारी वाणीके सम्बन्धमे प्रश्न करते हुए, उसका श्रवण और चिन्तवन करते हुए समय बिताया।

विशिष्ट गुणोके कारण दक्ष, समस्त धर्मोका आदर करनेवाला, धर्म संस्थाओका उद्धार, सुधार एवं संस्कार करनेवाला, अप्रतिहत–चक्रवाहन (जिसके रथ, ध्वजा, सेनाकी गतिको कोई नही रोक सका), साम्राज्यों-का सतत विजयी एवं साम्राज्य-संचालक और संरक्षक, राजर्षियोंके वंशमे उत्पन्न महाविजयी राजचक्री ऐसा राजा खारवेल श्री था।"

उपरोक्त शिलालेखका महत्त्व सुस्पष्ट है। समयकी दृष्टिसे सम्राट् प्रियदर्शीके अभिलेखोके पश्चात् इसी शिलालेखका नम्बर आता है। ऐतिहासिक महत्त्वकी दृष्टिसे यह लेख प्राचीन भारतके समस्त उपलब्ध शिलालेखोमे सर्वोपरि है। उस कालका यही एक-मात्र ऐसा लेख है जिसमे वंश,वर्ष-संख्या, तत्कालीन जनसंख्या, देश और जाति, पद-नाम इत्यादि अनेक बहुमूल्य ऐतिहासिक तथ्योका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। प्रो० राखाल-दास बनर्जीके मतसे यह लेख पौराणिक वंशावलियोकी पुष्टि करता है और ऐतिहासिक काल-गणनाको ५वी शती ई० पू० के मध्यके लगभग तक पहुँचा देता है। देशके लिए 'भारतवर्ष' नामका सर्वप्रथम शिलालेखीय उल्लेख इसीमे मिलता है। कलिंग देशकी तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक दशा, राजाकी योग्यता, राजकुमारोकी शिक्षा-दीक्षा और प्रजाके प्रति राजाके कर्त्तव्योंका यह सुन्दर दिग्दर्शन कराता है। विहार और उड़ीसाके सम्बन्धकी ऐतिहासिकताको २००० वर्ष पूर्व तक ले जाता है। इसमें तो किसीको भी कोई सन्देह नही कि इस लेखको उत्कीर्ण

करानेवाला नरेश जैन था, अतः जैनधर्मके तत्कालीन इतिहासके लिए भी यह लेख अमूल्य है। कई जैन अनुश्रुतियोकी पुष्टि भी इस लेखसे होती है। भद्रबाहु श्रुतकेवलीके उपरान्त आगमज्ञानका ह्रास, खारवेल-द्वारा उसके उद्धारका प्रयत्न, मुनि-सम्मेलन और सरस्वती आन्दोलनका प्रारम्भ इत्यादि तथ्योका इस लेख-द्वारा समर्थन होता है। साथ ही यह लेख खारवेलके जीवन, प्रताप, दिग्विजयो, चरित्र, लोकोपकार एवं लोक-रंजनके कार्य, प्रजावत्सलता, धार्मिकता एव धर्म-कार्य इत्यादि विविध कार्य-कलापोका दर्पण है। खारवेलको वह न केवल अपने समयका ही आसमुद्रक्षितीश महान् चक्रवर्ती सम्राट् सूचित करता है, वरन् सर्वकालीन महान् नरेशो एवं सम्राटोमे उसकी गणना करा देता है। धर्म, व्यवहार, राजनीति, शासनविधि, युद्धविद्या, साहित्य, कला—इत्यादि एक महान् सम्राट्के योग्य समस्त अंगोसे उसका व्यक्तित्व परिपुष्ट था और आश्चर्य है कि मात्र १३ वर्षके राज्यकालमे उसने यह सब सम्पादन कर लिया तथा कलिंग साम्राज्यको अपनी सर्वतोमुखी उन्नतिके शिखरपर पहुँचा दिया। उसके उपरान्त भी वह अवश्य ही कुछ समय तक जीवित रहा होगा किन्तु उसके शेप जीवनके सम्बन्धमे जानकारी प्राप्त करनेके कोई साधन अभी उपलब्ध नही हुए। उपरोक्त शिलालेखपर सन् १८२५ ई० मे सर्वप्रथम स्टर्लिग नामक अँगरेज़ विद्वान्‌की दृष्टि पड़ी थी और तबसे गत सवा-सौ वर्षोंमे अनेक पश्चिमी एवं भारतीय विद्वानोने इसके सम्बन्धमे ऊहापोह की है। खारवेल-द्वारा निर्मापित गुहामन्दिरोके स्थापत्य और मूर्त्तिपटोको भी कला-मर्मज्ञोने सुन्दर और निराला अनुभव किया है।

खारवेलके उपरोक्त अभिलेखके अतिरिक्त उन्ही शताब्दियोके अन्य कई शिलालेख खण्डगिरि-उदयगिरिकी विभिन्न गुफाओंमे पाये गये हैं। एक लेख जो उदयगिरिकी स्वर्गपुरी या वैकुण्ठपुर गुफामे अंकित है, सूचित करता है कि अर्हत् प्रासादके निकट कलिंगके श्रमणोके निवासके लिए कलिंगचक्रवर्ती श्री खारवेलकी अग्रमहिषीने जो राजन् ल्लाक-

हस्थिसिहकी कन्या थी, यह लेण निर्मित करायी थी। मंचपुरी गुफाके निचले भागमे स्थित पातालपुरी नामक गुफाको महाराज ऐल महामेघवाहनके वंशज (सम्भवतया पुत्र) कलिगाधिपति महाराज कुदेपश्रीने निर्मित कराया था। यमपुरी लेणके लेखसे ज्ञात होता है कि वह राजकुमार वडुखने निर्मित कराया था, सम्भव है कि उसने स्वयं भी वहाँ धर्म-साधन किया हो। व्याघ्र गुफाको नगरन्यायाधीश भूतिने निर्मित कराया था। इस गुफाके निकट ही सर्पगुफामे कम्म, हलखिण और चूलकम्म नामक व्यक्तियोके लेख है जिनसे विदित होता है कि गुफाके प्रासादको प्र म दोने और अन्तर्गृहको तीसरे व्यक्तिने बनवाया था। जम्बेश्वर गुफामे महाबारिया और नाकियके नाम अंकित है। छोटी हाथीगुफा किसी आत्मशुद्धि-द्वारा प्रदत्त की गयी थी। तत्त्वगुफा कुसुम नामके किसी राज्य-कर्मचारी (पादमूलिक)-द्वारा निर्माण करायी गयी थी। अनन्तगुफाका लेख भी उसे श्रमणोकी गुफा सूचित करता है। इन विभिन्न गुफा-मन्दिरो, लेणो और शिलालेखोसे स्पष्ट है कि खारवेलके बाद भी कई शताब्दियो तक खण्डगिरि-उदयगिरिकी गुफाएँ जैनोका पवित्र तीर्थ और जैन श्रमणोका प्रिय आवास बनी रही तथा कलिगके राजवंशमे, राज्य-कर्मचारियोमे और जनसाधारणमे जैनधर्मकी प्रवृत्ति बनी रही। ऐसा प्रतीत होता है कि कम-से कम प्रथम शताब्दी ई० के उत्तरार्ध तक जबतक कि सातवाहन नरेशोने कलिग देशके बहुभागको विजय नही कर लिया, कलिग देशपर खारवेलका वंश शान्तिके साथ शासन करता रहा, किन्तु अन्तर्देशीय राजनीतिमे वह नही उलझा।

प्रथम शताब्दी ई० पूर्वके पूर्वार्धमे (सन् ७४ ई० पू० के लगभग) खारवेलके एक वंशज, वक्रदेवके पुत्र महेन्द्रादित्य गन्धर्वसेन गर्द्दभिल्ल (या खरभिल्ल) ने मालवेके नवस्थापित गणराज्यका नायकत्व प्राप्त करके उज्जैनीमें गर्द्दभिल्ल वंशकी स्थापना की थी। गर्द्दभिल्लके अत्याचारो और अनाचारोने उसे कालकाचार्यके प्रयत्नसे शको-द्वारा ई० पू० ६१ मे राज्य-

च्युत एवं देशसे निर्वासित कराया, किन्तु ई० पू० ५७ मे उसके पराक्रमी पुत्र और विक्रमादित्यने शकोको मार भगाया, मालवगणको स्वतन्त्र किया और दीर्घकाल तक न्यायपूर्वक राज्य किया। अपने पूर्वजोके धर्ममे विक्रमादित्यकी विशेष आस्था रही। एक सौ वर्ष पर्यन्त उज्जैनीपर गर्दभिल्ल वंशका राज्य रहा।

प्राचीन तामिल साहित्यसे विदित होता है कि कालान्तरमे खारवेलके वंशजोकी दो शाखाएँ हो गयी, एक कपिलपुरमे और दूसरी सिंहपुरमे, और उनमे परस्पर आत्मविनाशी संघर्ष चला। सम्भवतया इसी गृह-फूटका लाभ उठाकर दक्षिणका सातवाहन-नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि (प्रथम शती ई० का उत्तरार्ध) कलिंग-विजय करनेमे सफल हुआ। दूसरी शती ई० के अन्तमे आन्ध्र सातवाहनोका पतन होनेपर अयोध्याके निवासी तथा इक्ष्वाकु वंशमे अपनेको उत्पन्न कहनेवाले श्रीवीरपुरुषदत्त नामक व्यक्तिने कलिंग राज्यको हस्तगत किया। गुप्त साम्राज्यमे भी कलिंगका कुछ भाग सम्मिलित रहा प्रतीत होता है। गंजम जिलेमे गुप्त संवत्का प्रयोग भी इसी बातका सूचक है। जैनधर्म तो कलिंगमे पहलेसे ही प्रचलित था, २री-३री शती ई० मे बौद्धाचार्य नागार्जुन-द्वारा बौद्ध मतका भी इस प्रदेशमे प्रसार शुरू हो गया। ब्राह्मण धर्म भी धीरे-धीरे प्रविष्ट हो गया था। अतः गुप्तकालसे ही इस देशमे उक्त तीनों धर्मोकी प्रवृत्ति साथ-साथ पायी जाती है। समुद्रगुप्तके आक्रमणके फलस्वरूप कुछ कालके लिए कलिंगके कुछ भागपर वाराणसीसे भागे हुए शक-क्षत्रपोका भी राज्य रहा प्रतीत होता है तथा उसी कालमे प्राचीन राज्य वंशके कुछ लोग सिंहल (लंका) मे भी जा बसे।

५वी—६ठी शती ई० मे कलिंग देशमे चार राज-वंशोका उदय हुआ प्रतीत होता है—पहला पूर्वी-गंगोका था। कर्णाटकके गंगवंशकी एक शाखाने कलिंग देशमे दन्तपुर या श्वेतकको अपनी राजधानी बनाकर पूर्वी गंगवंशकी स्थापना की थी और अपना गंगसंवत् (प्रारम्भ ४९७ ई०) भी

प्रचलित किया था। उडीसा देशके दक्षिणी भाग (सम्भवतया गंजम जिले) पर इनका अधिकार था। इस वंशके इन्द्रवर्म प्रथम, हस्तिवर्म, इन्द्रवर्म द्वितीय, दानार्णव, इन्द्रवर्म तृतीय आदि राजाओंके अभिलेख गग-संवत् २८ से ११४ पर्यन्त (५२५–६४१ ई० तक) के मिलते हैं। इन नरेशोंके मूल कर्णाटकी वंशका कुलधर्म जैनधर्म था अतः ये भी उसीके अनुयायी अथवा कमसे कम उसके उदार प्रश्रयदाता रहे प्रतीत होते हैं। ७वी शतीके प्रारम्भ तक यह वंश अवनत एवं गौण दशामें रहा। किन्तु वज्रहस्तदेव (१०३८-६८ ई०) ने इस वंशका पुनरुद्धार किया, कलिगनगरको राजधानी बनाया और देशके बहुभागको विजय करके त्रिकलिगाधिपतिकी उपाधि धारण की। उसके उत्तराधिकारियों राजराजा, चोडगंग और नरसिंहदेवके समयमें यह वंश उन्नतिके शिखरपर था। तदुपरान्त फिर अवनत हुआ। अन्तिम राजाकी पुत्रीका विवाह एक नागवंशी सरदारके साथ होनेसे यह राज्य नागवंशके अधिकारमें चला गया, जो मुसलमानों और फिर मराठोंकी अधीनतामें रहता हुआ १८वी शती तक चलता रहा।

दूसरा वंश तोशलिके भौमकरोंका था। इस वंशका संस्थापक खारवेलके किसी सामन्तका वंशज रहा प्रतीत होता है। मौर्यकालीन प्राचीन महानगरी तोशलिको ही इस वंशने अपना केन्द्र बनाया था। ३री शतीसे ५वी–६ठी शती ई० पर्यन्त इस राज्यका अभ्युदय रहा। उसके उपरान्त इसका ह्रास हुआ और सम्भवतया गौण सामन्तों-जैसी अवस्था हो गयी। कियोझर राज्य प्रायः इसी प्रदेशमें रहा है। इसका शासक भंजी वंश उडीसाके सर्वप्राचीन वंशोंमें समझा जाता है, सम्भव है कि वर्तमान भंजी राजे प्राचीन भौमकरोंके ही वंशज हों। इस राज्यके आनन्दपुर तालुकेमें उस नगरसे १० मील दूर वनमें पोडा सिगडि और वदखिया नामकी प्राचीन बस्तियाँ हैं। उनके आस-पास वनों और पहाड़ियोंमें जैन तीर्थंकरों एवं देवी-देवताओंकी अनगिनत प्राचीन खण्डित अखण्डित मूर्तियाँ और विशाल मन्दिर, देवायतन, स्मारकों, सरोवरों आदिके खण्डहर हालमें ही दृष्टि-

गोचर हुए है । कुछ मूर्त्तियोपर ब्राह्मी लिपिमे लेख भी उत्कीर्ण मिले हैं। अभिधानराजेन्द्रमे तोशलि ज़िलेमे स्थित जिस ऋषितडागका और उसपर आठ दिनके वार्षिक उत्सववाली प्राचीन अनुश्रुतिका वर्णन है वह यही स्थान प्रतीत होता है और इन अवशेषोसे विदित होता है कि खारवेलके उपरान्त भी भौमकरो आदिके राज्यकालमे गुप्तकालके अन्त तक इस प्रदेश-मे जैनधर्म पूर्ववत् फलता-फूलता और राजमान्य बना रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि ८वी शताब्दीसे वाममार्ग, शैव और वैष्णव धर्मोके बढते हुए प्रभावने इस केन्द्रको धीरे-धीरे उजाड़ दिया।

तीसरा वंश कोगदका शैलोद्भव वंश था। इसका उद्गम महेन्द्र पर्वतसे बताया जाता है और अनुमान किया जाता हैं कि यह कोई पार्वतीय वश था। कुछ विद्वानोके मतसे इसका सम्बन्ध गंग-वशसे ही था। इस वंशका सस्थापक पुलिन्दसेनका पुत्र शैलोद्भव था। उसके उपरान्त अरणभीत, सैन्यभीत प्रथम, अयशभीत प्रथम, सैन्यभीत द्वितोय, अयशभीत माध्यमराज शशाकधवल, महाभीत धर्मराज, माध्यमराज द्वितीय, रणक्षोभ, अल्लपराज, माध्यमराज तृतीय आदि नरेशोने ५वी शतीके मध्यसे ८वी शती पर्यन्त राज्य किया। प्रारम्भमे ये राजे गुप्तोके अधीन रहे। हर्ष और शशाकके द्वन्द्वमे भी इस वंशने भाग लिया। ये राजे प्राय शैव धर्मके अनुयायी थे।

चौथा वंश सोमवंश था, इसका सम्बन्ध कलिग देशके कोसल प्रान्तसे था। इसकी दो शाखाएँ थी, एक पूर्ववर्ती और दूसरो उत्तरवर्तो। प्रथम शाखाने ४थी से ६ठी शतो पर्यन्त राज्य किया। इस वंशके राजे बौद्धधर्म-के प्रश्रयदाता रहे प्रतीत होते है। दूसरी शाखाका उदय ६ठी शताब्दीमे हुआ और उसके वंशजोका राज्य १२वी शताब्दी पर्यन्त चलता रहा। चीनी यात्री हुएनसांग (६२९-४३ ई०) ने भी कलिगयात्रा की थी, कलिगके उत्कल, कगोद, कोसल, गंजम आदि भागोका, देशकी सामा-जिक एवं राजनैतिक दशाका तथा तत्कालीन कलिग-नरेशका भी उसने वर्णन किया है। उस समय त्रिकलिगाधिपति कौन था इस विषयमे

विद्वानोमे मतभेद है। किन्तु ऐसा लगता है कि हुएनसागके समय कोसल और त्रिकलिंगका अधिपति कोई वह सोमवंशी राजा था जो भट्टाकलंकदेव-सम्बन्धी जैन अनुश्रुतिका कलिग-नरेश हिमशीतल है। यह गौडके बौद्ध विद्वेषी शशांकका प्रतिद्वन्द्वी और कन्नौजके हर्षवर्धनका मित्र था, तथा स्वयं भी महायानी बौद्ध सम्प्रदायका अनुयायी था। उसकी राजमहिषी जैनधर्मकी भक्त थी। एक ममय वह उडीसाके हीरक तटपर स्थित अपनी उपराजधानी रत्नसंचयपुरमे निवाम कर रहा था। कार्त्तिकी अष्टाह्निकका पर्व निकट था। रानीने उस अवसरपर जिनेन्द्रके रथोत्सव-द्वारा पर्व मनानेका विचार किया किन्तु राजाके वौद्ध गुरु इसमे बाधक हुए। अन्ततः राजाने निर्णय दिया कि यदि जैनाचार्य बौद्ध विद्वानोको शास्त्रार्थमें हरा देगे तो जैन रथ निकलनेकी अनुमति दे दी जायेगी। रानी तथा अन्य जैनी जन बडे चिन्तित हुए। उनके सौभाग्यसे उसी समय नगरके बाहर उद्यानमे महाराष्ट्रके दिग्गज जैनाचार्य अकलंकदेव तभी आकर ठहरे थे। उन्होंने तुरन्त बौद्धोंकी चुनौती स्वीकार कर ली। ६ महीने तक विवाद हुआ। बौद्ध लोग तारादेवीकी सहायतासे शास्त्रार्थ कर रहे थे। अन्तत. अकलंकदेवने घटमे स्थापित ताराका विस्फोट करके बौद्धोको पराजित किया। राजा बडा प्रभावित हुआ और उसने जैनधर्म अंगीकार कर लिया। अनेक बौद्धोको सम्भवतया देशसे निष्कासित होकर सुदूर पूर्वके भारतीय राज्यो एवं उपनिवेशोमे चला जाना पडा। हर्ष इस समाचारको सुनकर क्रुद्ध हुआ। वह दक्षिणके चालुक्योपर भी विजय प्राप्त करना चाहता था अतः उसने कलिंगके मार्गसे ससैन्य प्रयाण किया। हिमशीतलके साथ घोर युद्ध हुआ जिसमें वह मारा गया। किन्तु उधर अकलंकदेवने चालुक्य राजधानी वातापीमे जाकर अपने भक्त चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य प्रथम साहसतुंग (६४३–८० ई०) को इस वादका समाचार सुनाया। अतः हर्षके आक्रमणकी सूचना पाते ही वह तुरन्त हिमशीतलकी सहायताको पहुँचा। हिमशीतलकी रक्षा तो वह न कर सका

किन्तु हर्ष पराजित होकर वापस लौट गया और कोसल राज्यकी भी रक्षा हो गयी। ये घटनाएँ सन् ६४२–४४ ई० की हैं। उत्तरवर्ती सोमवंशी शनैः-शनैः शैव और वैष्णव धर्मके अनुयायी हो गये। किन्तु चीनी यात्रीके विवरणों तथा पुरातत्त्व, जैन अनुश्रुतियों आदि अन्य ऐतिह्य साधनोंसे पता चलता है कि ८वीं शती ई० पर्यन्त सम्पूर्ण कलिंग देशमें जैनधर्म अच्छी अवस्थामें था।

देशके इन विभिन्न राज्यों और राजवंशोंके अतिरिक्त विदर्भ-महाकोसलके कलचुरि और वेंगिके पूर्वी चालुक्य भी कलिंगकी राजनीतिमें ७वीं शती ई० से महत्त्वपूर्ण भाग लेने लगे थे। कालान्तरमें चोल सम्राटोंने भी कलिंग तक अपने साम्राज्यका विस्तार किया। मुसलमानी कालमें बंगालके शासक और दक्षिणके बहमनी नरेश इस देशपर छीना-झपटी करते रहे। मुग़लोंके साम्राज्यका वह एक सूबा ही बन गया। १८वीं शतीमें मराठोंने आक्रमण किया और नागपुरके राघोजी भोंसलेने वहाँ अपना राज्य जमाया।

धार्मिक दृष्टिसे, जैसा कि वर्णन किया जा चुका है, इस विशाल देशका राज्यधर्म एवं लोकधर्म प्रारम्भमें जैनधर्म था और महावीर कालसे लेकर २री शती ई० पर्यन्त वही रहा। उसके उपरान्त महायानी बौद्धधर्म तथा शैवधर्मका भी वहाँ प्रवेश हुआ। बौद्धधर्म वहाँ ३री से ८वीं शती पर्यन्त बना रहा। तदुपरान्त बौद्ध और शैवधर्मके विकृत रूप तन्त्रयान, वाममार्ग आदिका भी यहाँ प्रचार हुआ। जैनधर्मका इस देशमें इस समय बहुत ह्रास हो चुका था। तथापि ११वीं शतीमें राजा उद्योतकेसरीके समय जैनाचार्यों और जैन केन्द्रोंके विद्यमान रहनेके प्रमाण यहाँके शिलालेखोंमें मिलते हैं। १०वीं शतीमें वैष्णवधर्मका भी प्रवेश हुआ। १२वीं शतीमें भुवनेश्वर जिलेके पुरी स्थानमें जगन्नाथकी प्रतिष्ठा होनेके उपरान्त जगन्नाथकी उपासना ही इस प्रदेशका प्रधान धर्म हो गया। कोणार्कका सुप्रसिद्ध सूर्यमन्दिर सूर्योपासनाकी विद्यमानताको भी सूचित करता है।

उडीसा गजेटियरके लेखक डब्ल्यू० एच० हण्टरके अनुसार इस देशके आदिम वासियोका धर्म भी जैनधर्म ही था, यहाँके यवन राज्योने भी इसी धर्मको अपनाया। १०वी-११वी शतीके उपरान्त यहाँके जैनोंने द्रुत वेगसे स्वधर्म छोड़ा। जो फिर भी अडिग रहे, उनके वंशज सराकोंके रूपम आज भी विद्यमान है।

महाकोसलके कलचुरि—कलिग देशके पश्चिमी भाग (जो दक्षिण कोसल कहलाता था) तथा विदर्भ और मध्य प्रदेशके कुछ भागोसे महाकोसल राज्यका निर्माण हुआ था। मगधके नन्द मौर्य आदि सम्राटोके पश्चात् कलिगचक्रवर्ती खारवेलका और फिर आन्ध्र सातवाहनोका इस प्रदेशपर अधिकार रहा। तदुपरान्त वकाटकोंका राज्य हुआ जो ५वी शती ई० पर्यन्त चला। वकाटकोके सामन्तोके रूपमे ही सम्भवतया कलचुरि वंशका, जिसे चेदि या हैहय वंश भी कहा गया है और जो सम्भव है चैत्रवंशी खारवेलके वशजोकी ही शाखा थी, तीसरी शती ई० मे उदय हुआ था। गुप्तोने वकाटकोको समाप्त किया अतएव उनके समयमे महाकोसलके कलचुरि गुप्तोके करद राजाओके रूपमे चलते रहे। डाहृडमण्डलमे त्रिपुरी इनकी प्रधान राजधानी थी। दक्षिण चेदि या दक्षिण कोसलके कलचुरियोकी राजधानी रतनपुर (विलासपुर) थी। कलचुरियोकी एक शाखा सरयूपारी नामसे भी प्रसिद्ध हुई जिसका राज गोडा बहराइचमे था। कलचुरि वश एक अत्यन्त प्रतिष्ठित वंश था। विभिन्न राजवंशोके नरेश कलचुरियोके साथ विवाह सम्बन्ध करनेमे गौरव मानते थे। कलचुरि या त्रैकुटक संवत् २४९ ई० मे प्रारम्भ हुआ अतः यही तिथि कलचुरि वंशकी स्थापना की मानी जाती है। किन्तु इस वंशका उत्कर्षकाल ८वी से १२वी शती ई० पर्यन्त रहा, और उसमे ७वी शतीका शंकरगण एक प्रसिद्ध राजा हुआ। ८वी शतीमे लक्ष्मणराज राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीयका सामन्त था। उसके पुत्र कोक्कल प्रथमका विवाह चन्देल राजकुमारीके

साथ हुआ था और इसी समयसे कलचुरियोकी शक्ति अधिक बढी। शंकरगण द्वितीय या शकिल (८७८–९०० ई०) एक प्रतापी नरेश था, मुग्धतुग, प्रसिद्धधवल और रणविग्रह उसके विरुद थे और उसने कलिंग कोसलके सोमवंशियोको पराजित किया था। उसके बाद वालहर्ष और फिर युवराज केयूरवर्ष राजा हुआ। कवि राजशेखरका विद्धशालभंजिका नाटक सर्वप्रथम उसी राजाके दरबारमे खेला गया था। ९२५–९५० ई० तक इसने राज्य किया। यह नरेश भारी निर्माता और विजेता था। उसने रत्नपुर नगरका निर्माण करके उसे अपनी राजधानी बनाया था। इसकी पुत्री कुणालदेवी राष्ट्रकूट अमोघवर्ष तृतीयको विवाही थी। केयूरवर्षका उत्तराधिकारी लक्ष्मणराज द्वितीय था, इसका भी सोमवंशियोसे द्वन्द्व रहा। इसकी पुत्री बोन्थादेवी चालुक्य नरेश तैलप द्वितीयकी माँ थी। तदुपरान्त शंकरगण, युवराज द्वितीय और कोक्कल द्वितीय क्रमश राजा हुए। अन्तिम व्यक्ति इस वंशका ११वाँ राजा था, उसके समयमे मुंज परमारने त्रिपुरीपर अधिकार कर लिया था। किन्तु उसका उत्तराधिकारी गागेयदेव विक्रमादित्य (१०१५–४१ ई०) योग्य और महत्त्वाकाक्षी था। उसका पुत्र कर्णदेव (१०४१–७० ई०) और भी अधिक प्रतापी था, हूण राजकुमारी आवल्लदेवीसे उसने विवाह किया, अनेक युद्ध किये और विजय प्राप्त की। कलिग कोशलके बहुभागको विजय करके उसने त्रिकलिंगाधिपतिकी उपाधि भी धारण की थी। उसका पुत्र यश कर्ण (१०७१–११२५ ई०) था और फिर जयकर्णदेव (११२५–५४ ई०) राजा हुआ। १२वी शतीके अन्तमे विजयसिहदेव (११९५ ई०) इस वंशका अन्तिम महान् नरेश था। उसके उत्तराधिकारीके समयमे इस प्रदेशको मुसलमानोने विजय कर लिया और कलचुरि वंशका अन्त हुआ।

कलचुरि वंशमे सामान्यतः शैवधर्मकी प्रवृत्ति थी किन्तु इस वंशके कई नरेश तथा राजवंशके अनेक स्त्री-पुरुष, राज्य-कर्मचारी, सामन्त सरदार और उपराजे जैनधर्मके अनुयायी हुए। अन्य नरेश अजैन होते हुए

भी जैनधर्मके प्रति सहिष्णु और उदार रहे और इस धर्मको आदरकी दृष्टिसे देखते थे। प्रारम्भिक नरेशोमे महाराज शंकरगणने वि० स० ६८० (६२३ ई०) मे जैनतीर्थ कुल्पाक क्षेत्रकी स्थापना की थी और उसके लिए बारह ग्राम प्रदान किये थे। कलचुरि-नरेश गयकर्णदेव (११२५-५४ ई०) भी जैनधर्मका आदर करता था। उसके महासामन्ताधिपति गोल्हणदेव राठौरने, जो जैनधर्मका अनुयायी था, जबलपुरसे ४२ मील उत्तरमे स्थित बहुरीबन्दके खनुवादेव नामक प्रसिद्ध जैनतीर्थकी जिनमूर्त्तिकी प्रतिष्ठा करायी थी। विजयसिंहदेव कलचुरि (११९५ ई०) तो निश्चित रूपसे परम जैन था ओर उसके समयमे राज्य एवं प्रजाका प्रधान धर्म जैन ही था।

सम्पूर्ण महाकोसल देशमे प्राचीन जैन-मन्दिरो, मूर्त्तियो एवं अन्य धार्मिक कलाकृतियो अवशेष यत्र-तत्र-सर्वत्र इतने बिखरे हुए मिलते है कि जिससे इस तथ्यमे सन्देह नही रहता कि पूर्व-मुसलिम कालमे यह प्रदेश शताब्दियो पर्यन्त जैनधर्मका एक प्रमुख गढ रहा है। कलचुरियोके शासन कालमे जैनाश्रित शिल्प-स्थापत्यकलाका इस प्रदेशमे अभूतपूर्व विकास हुआ। कोई-कोई जैन कृतियाँ तो तत्कालीन सम्पूर्ण भारतीय कलाकी उत्कृष्टताका प्रतिनिधित्व करनेकी क्षमता रखती है। अनेक जैनतीर्थ एवं सांस्कृतिक केन्द्र इस प्रदेशमे स्थापित हुए: यथा कुल्पाक क्षेत्र, खनुवादेव, रामगिरि, अचलपुर, जोगीमारा, कुण्डलपुर, कारंजा, आरंग, इलौरा, धाराशिव आदि। कारंजा प्राचीन कालसे ही एक प्रसिद्ध दिगम्बर जैन केन्द्र रहता आया है। अपभ्रंश भाषाके सुप्रसिद्ध जैन महाकवि पुष्पदन्त रोहणखेडके निवासी थे। रामपुर जिलेके आरंग स्थानमे एक प्राचीन जैन-मन्दिर है और उसके निर्माता तत्कालीन राजे राजर्षि तुल्य कहे जाते थे। डॉ० हीरालालका मत है कि ये राजे महामेघवाहन खारवेलके वंशज रहे प्रतीत होते है। सम्भव है कालान्तरमे ये कलचुरियोके सामन्तरूपमे रहे हो। महाकोसल-विदर्भका अचलपुर नगर भी प्राचीन जैन केन्द्र

था। ७वी शती ई०का एक जैन ताम्रपत्र यहाँसे प्राप्त हुआ है। ८५८ ई० मे श्वेताम्बराचार्य जयसिह सूरिने अपनी धर्मोपदेशमाला वृत्तिमे लिखा है कि 'इस अचलपुरमे दिगम्बर जैन आम्नायका भक्त अरिकेसरि नामक राजा राज्य करता है जिसने अनेक महाप्रासाद निर्माण कराके उनमे तीर्थंकर प्रतिमाओकी प्रतिष्ठा करायी है।' इसी नगरमे ९८७ ई० मे जैन कवि धनपालने अपना 'धर्मपरीक्षा' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचा था। १०८५ई० मे विदर्भनरेश ईल या ऐल जैनधर्मानुयायी था और आचार्य अभयदेव सूरिका शिष्य था। उपरोक्त धर्मोपदेशमाला (८३८ ई०) मे ही यह भी लिखा है कि समयज्ञ नामक मुनि भृगुकच्छसे चलकर एलउर (इलौरा) नगर आये और वहाँकी दिगम्बर वसही (वसति या मस्थान) मे ठहरे। इससे सूचित होता है कि ८वी-९वी शतीमे भी इलौरा एक प्रसिद्ध दिगम्बर केन्द्र था और दूर-दूर तक इसकी प्रसिद्धि थी। १२वी शतीमे और उसके बाद भी यात्रार्थ इस स्थानमे जैन गृहस्थो एवं साधुओके आनेके उल्लेख मिलते है। इस प्रकार मुसलमानोके शासनकाल पर्यन्त कलचुरि नरेशो और उनके अधीनस्थ राजाओ, सामन्त सरदारो आदि-द्वारा पोषित जैनधर्म महाकोसल प्रदेशके विभिन्न भागोमे फलता-फूलता भारतीय कला और संस्कृतिका संवर्धन करता रहा।

गुजरात—इस प्रदेशसे आशय सुराष्ट्र-काठियावाडसे युक्त उस पश्चिमी समुद्रतटवर्ती सम्पूर्ण देशका है जिसकी उत्तरी सीमा सिन्धुप्रान्तको स्पर्श करती है, पूर्वी सीमा मेवाड-राजस्थान और मालवाको तथा दक्षिणी महाराष्ट्र एवं कोंकणको। सुराष्ट्र या सौराष्ट्र, सौरमण्डल, लाट, कच्छ, काठियावाड, गुर्जरदेश, गुजरात आदि नाम इस देशके विभिन्न भागो और कभी-कभी पूरे देशके लिए प्रयुक्त हुए है। अति प्राचीन कालसे ही यह देश जैन संस्कृतिका एक प्रमुख केन्द्र रहता आया है।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवके प्रधान गणधर पुण्डरीकने इस प्रदेशके शत्रुंजय पर्वतसे निर्वाण लाभ किया बताया जाता है। तदनन्तर अन्य

अनेक तीर्थंकरोंने इस प्रदेशमे विहार किया। महाभारत-कालमें श्रीकृष्णके ताऊज़ात भाई २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमिका तो यह प्रान्त प्रधान विहार-क्षेत्र था। स्वयं कृष्ण, बलराम आदि हरिवंशी यादवोंने शौरसेन देशके शौरीपुरका परित्याग करके सौराष्ट्रके समुद्रतटपर द्वारका-जैसी मनोरम नगरोका निर्माण किया था और उसे अपनी राजधानी बनाया था। उसीके निकट जूनागढके राजा उग्रसेनकी कन्या राजुलदेवीके साथ नेमिकुमारका विवाह रचानेके लिए यादवोकी बारात चढी थी। किन्तु दीन पशुओंकी पुकार सुन, मुकुट और कंकणको तोड़कर धर्मवीर नेमिकुमार संसार, देह और भोगोसे विरक्त हुए तथा निकटवर्ती ऊर्जयन्त अपरनाम गिरनार पर्वत-पर जाकर तपस्यामे लीन हो गये। महासती राजुलने भी उन्हीका अनुकरण किया। इसी पर्वतपर नेमिनाथको केवलज्ञान प्राप्त हुआ और अन्तमें इसी पर्वतके शिखरसे उन्होने निर्वाण लाभ किया।

सन् ई० के प्रारम्भसे लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व मध्य-एशियाके प्रसिद्ध प्राग्ऐतिहासिक साम्राज्य बाबुलके अधिपति खिल्दियन वंशी सम्राट् नेबुचेड-नजरने इस गिरिराजकी वन्दना की थी और इसके प्रभु अरिष्टनेमिकी सेवामें बृहत् दान समर्पित किया था, जैसा कि इस स्थानसे प्राप्त उक्त नरेश-की लेखांकित मुद्रासे प्रमाणित होता है। इस प्रकार तीर्थंकर महावीरसे ही नही, तीर्थंकर पार्श्वनाथसे पूर्व भी इस प्रदेशमे तीर्थंकर अरिष्टनेमिकी उपासना, गिरनार पर्वतकी तीर्थ रूपमे मान्यता और जैनधर्मका प्रभाव विद्यमान थे। बौद्ध अनुश्रुतिके सोलह महाजनपदोंमे इस देशकी गणना नही है किन्तु जैन अनुश्रुतिके प्राचीन राज्यों एवं आर्य देशोमे कच्छ नामसे इसकी गणना स्पष्ट मिलती है। चन्द्रगुप्त मौर्यने इस प्रदेशको विजय करके उसे अपने साम्राज्यमे मिला लिया था। उसने स्वयं गिरनारकी यात्रा की थी और उसकी तलहटीमे अपने कर्मचारी वैश्य पुष्यगुप्तकी देख-रेखमे एक विशाल एवं सुन्दर सरोवरका निर्माण कराया था, जो सुदर्शन झीलके नामसे विख्यात है। चन्द्रगुप्तने इसी सरोवरके निकट मुनियोके निवासके लिए एक

लेण भी बनवायी थी जो चन्द्रगुफाके नामसे प्रसिद्ध हुई। सम्भवतः इसी गुफामे उक्त सम्राट्ने स्वयं जैन मुनिके रूपमे कुछ दिन निवास किया था। उसके पौत्र अशोकने भी सुदर्शन झीलका अपने यवन कर्मचारी तुहशास्प-द्वारा जीर्णोद्धार कराया था। अशोकके पौत्र सम्प्रतिने भी इस प्रदेशके गिरनार, शत्रुंजय आदि जैन तीर्थोकी वन्दना की और वहाँ अनेक मन्दिरो-का निर्माण कराया। जूनागढके निकट ही सम्राट् प्रियदर्शीका एक प्रधान शिलालेख भी विद्यमान है जो अशोक या सम्प्रति, दोनोमे-से किसी एकका हो सकता है।

सन् ई० पू० ५७ मे उज्जैनके वीर विक्रमादित्य-द्वारा शक शाहियोके मालवा देशसे निकाल बाहर किये जानेपर उनके एक सरदारने सौराष्ट्र देश-पर अधिकार कर लिया था और क्षहरात वशकी स्थापना की थी। इस वंशमे भूमक, घटक, नहपान, उषवदात आदि राजे प्रसिद्ध हुए, किन्तु इन शक-क्षह-रातोमे सर्वाधिक प्रसिद्ध नरेश नहपान (नरवाहन या नभोवाहन) था जिसका राज्य-काल २६–६६ ई० पाया जाता है। इसी समय गिरिनगरकी उपरोक्त चन्द्रगुफामे अंगपूर्वज्ञानके अन्तिम देशज्ञाता धरसेनाचार्य निवास करते थे, यही उन्होने आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलिको उक्त आगमज्ञानका अध्ययन कराके उसे लिपिबद्ध करनेका आदेश दिया था। एक अनुश्रुतिके अनुसार स्वयं क्षहरातवशी सम्राट् नहपान ही राज्यका त्याग करके जैन मुनि हो गया था और उपरोक्त जैनाचार्य भूतबलिसे अभिन्न था। क्षहरातोके उपरान्त शक जातिकी ही एक अन्य शाखा भद्रचष्टनवंशी महाक्षत्रपोके रूपमे सौराष्ट्र देशकी अधिपति हुई। उज्जैनी विजयके उपलक्ष्यमे इस वंशके संस्थापक महाक्षत्रप चष्टनने ही ७८ ई० मे प्रचलित शक-सवत्की स्थापना की थी। इस वंशके नरेशोमे-से कई एक तथा राजवंशके स्त्री-पुरुषो तथा राजपुरुषोमे-से अनेक जैनधर्मके अनुयायी या पोषक रहे। इस वंशका सर्वमहान् और प्रतापी नरेश महाक्षत्रप रुद्रदामन था जिसने २री शती ई० के मध्यमे गिरिनगरकी उपरोक्त सुदर्शन झीलका पुनः जीर्णोद्धार

कराया था तथा वहाँ अपनी महत्त्वपूर्ण प्रशस्ति अंकित करायी थी। उसके पुत्र दामजदश्रीने उपरोक्त चन्द्रगुफामे एक शिलालेख अंकित कराया था जिससे उस नरेशके जैनी होनेमे कोई सन्देह नही है। उसने वह लेख आचार्य धरसेनकी मृत्युकी स्मृतिको अमर बनाये रखनेके लिए अंकित कराया प्रतीत होता है। इसी वंशकी एक राजमहिषीकी नामांकित मुद्रा भी महावीरकी जन्मभूमि सुदूर वैशालीके खण्डहरोंमे मिली है जिससे विदित होता है कि वह रानी वहाँ तीर्थ-यात्रार्थ गयी होगी। इस प्रदेशपर शक-क्षत्रपोंका राज्य ४थी शती ई० के अन्त तक चलता रहा। ४थी शताब्दी ई० के अन्तमे गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्यने वकाटकोंकी सहायतासे शकोकी राज्यशक्तिका उन्मूलन किया और यह देश गुप्त साम्राज्यका अंग बन गया। सन् ३००–३१३ ई० मे आर्य स्कन्दिलकी अध्यक्षतामे मथुरामे श्वेताम्बर साधुओका एक सम्मेलन हुआ था, प्राय: उसी समय नागार्जुन सूरिने वल्लभीमे एक वैसा ही सम्मेलन बुलाया था और उसमे आगमोके संकलनकी चर्चा उठायी थी। इससे विदित होता है कि ३री शतीके अन्त या ४थी के प्रारम्भके लगभग ही सौराष्ट्र और विशेषकर उसकी राजधानी वल्लभी श्वेताम्बर सम्प्रदायका केन्द्र बन गयी थी। गुप्तोके कालमे यह प्रदेश साम्राज्यकी एक भुक्ति था और सम्राट् स्कन्दगुप्तने पर्णदत्तको इस भुक्तिका प्रान्तीय शासक नियुक्त किया था। इस पर्णदत्तके पुत्र चक्रपालितने जो गिरिनगरका कोटपाल था, सुदर्शन झीलका पुन: जीर्णोद्धार कराया और वहाँ एक शिलालेख भी अंकित कराया था।

गुप्तकालमें ही गुजरातमे मैत्रक वंशका उदय हुआ। वल्लभीको इस वंशने अपनी राजधानी बनाया। कुमारगुप्त प्रथमके समयमे ही इस वंशकी स्थापना हो गयी प्रतीत होती है और गुप्त सम्राटोके करद राजाओ या सामन्तोके रूपमे ही इस वंशका प्रारम्भ हुआ। यही कारण है कि इस वंशके नरेशोके समस्त अभिलेख गुप्त संवत्मे ही मिलते है। मैत्रक

राजाओंके द्वारा प्रयुक्त होनेके कारण उसे वल्लभी संवत् भी कहते हैं। गुप्त नरेशोंकी ओरसे सौराष्ट्रका राज्यपाल मैत्रकवंशी सेनापति भटार्क (लगभग ४६५–७५ ई०) था। यही उस वंशका संस्थापक प्रतीत होता है। उसके उपरान्त उसके तीन पुत्रों—धरसेन प्रथम, द्रोणसिंह और ध्रुवसेन प्रथम (५२५–५४५ ई०) ने क्रमशः राज्य किया। ये प्रारम्भिक मैत्रक-राजे जैनधर्मानुयायी तथा आचार्य देवर्द्धिगणीके भक्त रहे प्रतीत होते हैं। महावीर सं० ९८० या ९९३ (४५३ ई०, मतान्तरसे ४६६ ई०) में उनकी राजधानी वल्लभी नगरीमें ही देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमणकी अध्यक्षतामें श्वेताम्बर जैन साधुओंका एक महान् सम्मेलन हुआ। यह वल्लभीका दूसरा जैन सम्मेलन था और इसीमें अन्ततः श्वेताम्बर परम्परामें मान्य एवं उसके द्वारा सुरक्षित जैन आगम सूत्र संकलित एवं लिपिबद्ध कर डाले गये। दिगम्बर परम्पराके आगम इसके लगभग ४०० वर्ष पूर्व ही संकलित एवं लिपिबद्ध हो चुके थे। श्वेताम्बर आगमोंके इस संकलनने जहाँ दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेदको सदाके लिए पुष्ट और स्थायी कर दिया वहाँ श्वेताम्बर परम्पराके साधुओंको साहित्यिक सृजनके लिए अभूतपूर्व प्रेरणा एवं प्रोत्साहन दिया, और इसी समयसे वस्तुतः श्वेताम्बर पुस्तक साहित्यके प्रणयनका प्रारम्भ हुआ। मैत्रक-नरेश गुहसेनके अभिलेखोंमें ही सर्वप्रथम अपभ्रंश भाषाका उल्लेख है। ये वल्लभी-नरेश प्राकृत एवं अपभ्रंशके पोषक और विद्वानोंके आश्रयदाता थे। सन् ५९५–६१५ ई० में वल्लभी-नरेश शिलादित्य प्रथम अथवा धर्मादित्य प्रथम बड़ा प्रतापी था। यह राजा धरसेन द्वितीयका पुत्र और उत्तराधिकारी था। ६ठी शतीमें गुप्तोंके पतनसे लाभ उठाकर मैत्रक-नरेश स्वतन्त्र हो गये थे और उन्होंने शकों एवं हूणोंको नष्ट करनेमें पर्याप्त योग दिया था। शिलादित्यके समयमें वल्लभीमें प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण हुए जिन्होंने विशेषावश्यकभाष्य, विशेषणवती तथा गणित-विषयक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की थी। सन् ६०९ ई० में समाप्त होनेवाले अपने आवश्यकभाष्यके अन्तमें

उन्होंने अपने आश्रयदाता शिलादित्यका भी उल्लेख किया है। यह राजा बौद्धोका भी समान रूपसे आदर करता था। चीनी यात्री हुएनसांगने भी उसका उल्लेख किया है। बौद्धग्रन्थ मंजुश्रीमूलकल्पमे इस राजाके राज्यका विस्तार उज्जैनीसे लेकर समुद्रतटवर्ती लाट देश पर्यन्त बताया है। शिलादित्यका भतीजा ध्रुवभट्ट या ध्रुवसेन द्वितीय था जिसे हर्षवर्धनने युद्धमे पराजित किया था किन्तु फिर अपनी पुत्रीका विवाह उसीके साथ करके उससे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। सम्भवतया हर्षका जामाता होनेके कारण ही यह राजा महायानी बौद्धधर्मका भक्त हुआ। हर्षकी मृत्युके उपरान्त वह स्वतन्त्र हो गया। उसका पुत्र धरसेन चतुर्थ भी महायानी बौद्ध था, उसने अपने लिए चक्रवर्ती शब्दका भी प्रयोग किया है जिससे सूचित होता है कि उसने विजयो-द्वारा अपने राज्यका विस्तार भी किया था। ६९५ ई० के लगभग भारतमे आनेवाला चीनी यात्री इत्सिग लिखता है कि वल्लभी नालन्दाकी भाँति ही बौद्ध धर्मका प्रमुख ज्ञान-केन्द्र थी। इस शताब्दीमे गुणमति, स्थिरमति, जयसेन आदि वल्लभीके प्रमुख बौद्धाचार्य थे। बौद्धोके इस उत्कर्षने वल्लभीमे जैनधर्मको सौ-डेढ़ सौ वर्षके लिए गौणता प्रदान कर दी प्रतीत होती है। ७१५-४३ ई० के बीच अरब सरदार हाशमके सेनानी जुन्नैदने वल्लभीपर आक्रमण करके उसे लूटा था। मैत्रकवंश अब अवनत हो चुका था और शिलादित्य सप्तम (७६६ ई०) सम्भवतः इस वंशका अन्तिम राजा था।

८वी शतीके उत्तरार्धमे गुजरात देश सौराष्ट्रके सैन्धव, भडौचके गुर्जर, लाटके चालुक्य, सौरमण्डलके वराह, अन्हिलवाड़के चावडा (चापोत्कट) आदि अनेक छोटे-छोटे राज्योमे बँटा हुआ था। जैनाचार्य जिनसेनके हरिवंश (७८३ ई०) के अनुसार इन सबमे सौरमण्डलके वराह प्रमुख थे और वहाँ महावराहका पुत्र या पौत्र जयवीर वराह राज्य कर रहा था। किन्तु इसी समय भिन्नमालके गुर्जर-प्रतिहार और दक्षिणके राष्ट्रकूट दोनों ही गुजरातको हस्तगत करनेके लिए उतावले हो रहे थे। प्रतिहार

वत्सराजने उसे विजय भी कर लिया किन्तु राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीयने सन् ८०० ई० के लगभग उसे गुर्जरोसे छीनकर अपने राज्यमे मिला लिया और अपने भाई इन्द्रको गुजरातका प्रान्तीय शासक बना दिया। राष्ट्रकूटोकी इस गुजराती शाखामे इन्द्रके उपरान्त कर्क सुवर्ण-वर्ष, ध्रुव धारावर्ष, कृष्ण अकालवर्ष, ध्रुव द्वितीय, दन्तिवर्मन और कृष्णराज, क्रमशः राजा हुए। गुजरातके ये राष्ट्रकूट नामके लिए अपने मूलवंश मान्यखेटके राष्ट्रकूट सम्राटोके प्रतिनिधि एवं सामन्त थे, वस्तुतः वे प्रायः स्वतन्त्र शासक थे। राष्ट्रकूटोकी विजयके उपरान्त गुजरातसे बौद्धधर्म शीघ्र ही विलीन हो गया और जैनधर्म फिरसे उन्नत दशामे हो गया। मान्यखेटके राष्ट्रकूट सम्राट् स्वयं जैनधर्मके प्रति बडे उदार थे, विशेषकर सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम। उसका चचेरा भाई कर्क सुवर्णवर्ष भी जो उसकी ओरसे गुजरातका प्रान्तीय शासक था, जैनधर्मका भक्त था। उसके समयमे नवसारिका (नवसारी) नामक स्थानमे एक जैन विद्यापीठ-की स्थापना हुई थी। दिगम्बराचार्य परवादिमल्लके प्रशिष्य इस ज्ञान-केन्द्रके अध्यक्ष थे, और कर्कराजके गुरु थे। सन् ८२१ ई० के सूरत ताम्रशासन पत्रसे विदित होता है कि उक्त कर्कराजने नवसारीके इस दिगम्बर जैन विद्यापीठके लिए उक्त दिगम्बराचार्यको भूमि आदिका प्रभूत दान दिया था। उस समय राष्ट्रकूट-सम्राट् अमोघवर्ष अल्पवयस्क था। अत. कर्कराज ही उसका अभिभावक, संरक्षक और इस प्रकार विशाल राष्ट्रकूट साम्राज्य-का वास्तविक शासक था। इस कालमे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदाय गुजरातमे साथ-साथ फल-फूल रहे थे। कर्कके उत्तराधिकारी भी जैनधर्मके प्रति उदार और सहिष्णु रहे। १०वी शतीके प्रारम्भमे इस वंश-का अन्त हुआ।

राष्ट्रकूटोकी गुजरात-विजयके पूर्व ही और अन्तिम मैत्रक-नरेशके शासनकालमे ही सुराष्ट्रमे एक अन्य राजवंशका उदय हो गया था, जो चूडासमास, चाप, चापोत्कट या चावड़ा वंश कहलाता है। सन् ७४५ ई०

में जयशेखर चापोत्कटके पुत्र वनराजने इस वंशकी स्थापना की थी। अपने गुरु श्वेताम्बराचार्य शोलगुणसूरिके उपदेश, आशीर्वाद और सहायतासे वनराज राज्य स्थापित करनेमे समर्थ हुआ। उसने वल्लभी और उसके मैत्रकोका अन्त किया और अन्हिलपाटन नामक नवीन नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। इस वंशके समयमे जैनधर्म ही प्राय: राजधर्म रहा यद्यपि शैव और शाक्तधर्म भी राज्यमान्य बने रहे। राज्यके अधिकाश प्रभावशाली वर्ग, धनिक महाजन, राजमन्त्री आदि जैन थे। वनराजका प्रधान मन्त्री चम्पा नामक जैन वणिक् था जिसने चम्पानेर नगर बसाया। निन्नय नामक एक धनवान जैन श्रेष्ठिने, जिसे वनराज पिता तुल्य मानता था, अन्हिलवाडेमे ऋषभदेवका मन्दिर बनवाया। निन्नयका पुत्र लहोर वनराजका सेनापति था। गुरुदक्षिणाके रूपमे वनराज शीलगुण सूरिको अपना राज्य समर्पित करना चाहता था किन्तु उन्होने उसके बदलेमे उससे एक मन्दिर बनवानेके लिए कहा, अतः राजाने राजधानीमे पचासर पार्श्वनाथ नामका प्रसिद्ध जिनालय बनवाया। इस जिनालयमे पार्श्व प्रतिमा पंचासरसे लाकर स्थापित की गयी थी। वनराजने और भी कई जिन-मन्दिर बनवाये। उसके बाद योगराज, रत्नादित्य, क्षेमराज, आकडदेव और भूयडदेव या सामन्तसिह नामके राजा इस वंशमे क्रमशः हुए। ९७४ ई० मे मूलराज सोलंकीने इस वंशका अन्त किया। वर्धमान नगरमे भी चापवंशकी एक शाखाका राज्य था जिसमे विक्रमार्क, अड्डक, पुलकेशी, ध्रुवभट्ट और धरणीवराह नामके राजे हुए। ये भी जैन धर्मके पोपक थे। गिरनार-जूनागढके चूडासमास १०वी से १६वी शती तक राज्य करते रहे। सोमनाथके मूल निर्माता इसी वंशके प्रारम्भिक नरेश थे। ये जैन धर्मके प्रति भी सहिष्णु रहे।

गुजरात-अन्हिलपाटनका सोलंकीवंश दक्षिणके प्राचीन चालुक्यवंशकी ही एक शाखा था। सौराष्ट्र, मत्तमयूर और लाटमे भी चालुक्योंके छोटे-छोटे वश स्थापित थे। किन्तु गुजरातके इतिहासमे अन्हिलवाडेके चालुक्यों

अपरनाम सोलंकियोका स्थान ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इनके शासन-कालमे ही यह देश उन्नतिके चरम शिखरपर पहुँचा और एक विशाल शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित करनेमे समर्थ हुआ। सन् ९४१–४२ ई० मे मूलराज सोलंकीने इस वंशकी स्थापना की और ९७४ ई० के लगभग वह सम्पूर्ण गुजरात देशका प्रायः एकाधिपति हो गया। अन्हिल-पाटनको ही उसने अपनी राजधानी बनवाया। चौहान-नरेश विग्रहराज द्वितीयके साथ युद्धमे ९९४ ई० के लगभग उसकी मृत्यु हुई। उसके पुत्र चामुण्डराज (९९५–१०१० ई०) ने धारके सिन्धुराज परमारको पराजित किया। चामुण्डराजका पुत्र दुर्लभराज था जिसका पुत्र भीमदेव प्रथम (१०१०–६२ ई०) था। इसके समयमे महमूद गज़नवीने सोमनाथका विध्वस किया। भीमने मन्दिरको पुनः बनवाया। भोज परमारका वह शत्रु था। भीमदेवके समयमे ही श्रीमालवंशी पोरवाड विमलशाह अन्हिलवाड़ेका प्रथम नगरसेठ बनाया गया। आबूका विश्वविख्यात कलाधाम आदिनाथका मन्दिर इसी विमलशाहने सन् १०३२ ई० मे विपुल द्रव्य व्यय करके निर्माण कराया था। विमलशाह मात्र एक धनी वणिक् और धर्मात्मा जैनी श्रावक ही नही था वह राजाका एक प्रमुख मन्त्री भी था और साथ ही ऐसा प्रचण्ड सेनानायक था कि उसने गुजरातकी सेनाको सिन्धु नदीके नीरमे तैराकर गज़नीकी भी सीमाको पददलित किया था। भीमका पुत्र उदयवराह कर्ण (१०६३–९३ ई०) था जिसका प्रधान मन्त्री मुंजाल नामक जैनी था। कर्णका पुत्र और उत्तराधिकारी सुप्रसिद्ध जयसिह सिद्धराज (१०९४–११४३ ई०) था। वह बड़ा शक्तिशाली धर्मात्मा एवं दानी नरेश था। वह सर्वधर्मसहिष्णु था, महादेवका उपासक था तो महावीरका भी भक्त था। उसने रुद्रमाल शिवालय बनवाया तो महावीर जिनालय भी बनवाया, सोमनाथका वह रक्षक था तो शत्रुंजय तीर्थकी यात्रा करके वहाँके आदिनाथको भी उसने १२ ग्राम भेट किये थे। वह मन्त्र-

शास्त्रका भी ज्ञाता था और सिद्ध चक्रवर्ती कहलाता था। उसने अपना संवत् भी चलाया। रायविहार नामक आदिनाथका सुन्दर जिनालय और गिरनार पर्वतपर नेमिनाथके मुख्य मन्दिरको बनवानेका श्रेय भी इसी राजाको है। मुंजाल, शान्तनु, उदयन, आलिग, पृथ्वीपाल आदि उसके अनेक राजमन्त्री जैनी थे। पृथ्वीपालने आबूके एक मन्दिरमे अपने सात पूर्वजोकी हाथीनशीन मूर्तियाँ बनवायी थीं। राजा जयसिहने १२ वर्ष तक मालवाके परमारोके साथ युद्ध करके उनपर विजय प्राप्त की और वह अवन्तिनाथ कहलाया। उसने बर्बरोका दमन किया और महोबेके चन्देलों-को सन्धि करनेपर विवश किया। उसकी नीति प्रधानतया आक्रमणात्मक थी और उसके समयमे गुर्जर साम्राज्यकी अभूतपूर्व उन्नति एवं विस्तार हुआ। उसके प्रसिद्धमन्त्री उदयनने सोरठके दुर्द्धर राजा खेंगारको पराजित करके सिद्धराजको चक्रवर्ती पद दिलाया था और इसी उदयनने कर्णावती (अहमदाबाद) मे एक जिनालयका निर्माण कराकर उसमे ७२ बहुमूल्य देव-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थी। उदयनके पुत्र आहड, बाहड, अम्बड, सोल्ला आदि भी विचक्षण राजमन्त्री और प्रचण्ड सेनानायक थे। स्वयं महाराज जयसिह ज्ञान और कलाका बड़ा प्रेमी था और विद्वानोका भारी आदर करता था। भोजकी उज्जैनीकी भाँति ही उसने अन्हिलपाटनको ज्ञानका अनुपम केन्द्र बनानेका निश्चय किया और वहाँ एक विशाल विद्या-पीठकी स्थापना की। सुप्रसिद्ध दिग्गज जैनाचार्य हेमचन्द्रको उसने अपने आश्रयमे होनेवाली साहित्यिक प्रवृत्तियोके नेतृत्वका भार सौपा। लगभग २० नवीन ग्रन्थोंका निर्माण हुआ, स्वयं हेमचन्द्रने द्व्याश्रयकाव्य और सिद्धहेम व्याकरणकी रचना की, उनके शिष्य रामचन्द्रने अनेक नाटक रचे, कक्कल कायस्थ व्याकरणके आचार्य नियुक्त हुए, वाग्भट्टने अलंकार ग्रन्थकी रचना की, तथा गुणचन्द्र, महेन्द्रसूरि, देवचन्द्र, उदयचन्द्र, वर्धमानगणि, यशश्चन्द्र, बालचन्द्र, आनन्दसूरि, अमरचन्द्र आदि अनेक जैन विद्वानो एवं साधुओंने राजासे सम्मान प्राप्त किया। राजाको दार्शनिक शास्त्रार्थ सुननेका भी शौक़

था, स्याद्वादरत्नाकरके कर्त्ता श्वेताम्बराचार्य देवसूरिके साथ उसने अपनी राजसभामे ही कल्याणमन्दिरस्तोत्रके रचयिता कर्णाटकके दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्रका महत्त्वपूर्ण वाद कराया था। चालुक्य-चक्रवर्ती सिद्धराज जयसिंहका शासनकाल गुजरातके इतिहासका स्वर्णयुग था।

जयसिंहके कोई पुत्र नही था, केवल एक कन्या काचनदेवी थी जो अजमेर (सपादलक्ष) के चौहान-नरेश अर्णोराजसे विवाही थी। इनका पुत्र सोमेश्वर उपनाम चाहड था जिसे जयसिंहने अपनी मृत्युके समय अपना दत्तकपुत्र एवं उत्तराधिकारी घोषित किया। किन्तु राजमन्त्रियोने भीमदेव-की उपपत्नीसे उत्पन्न क्षेमराजके प्रपौत्र कुमारपालको ही सिंहासनपर बैठाया और सम्भवतया उन्होने इसमे बुद्धिमानीसे ही काम लिया। कई सामन्त सरदार, आचार्य हेमचन्द्र और राजपुरोहित देवश्री भी कुमारपालके ही समर्थक थे। कुमारपालने अपने तीस वर्ष (११४३–११७३ ई०) के राज्यकालमे गुर्जर साम्राज्यकी न केवल उसके विभिन्न आन्तरिक एवं बाह्य शत्रुओसे रक्षा की वरन् उसकी सर्वतो-मुखी उन्नति एवं अभिवृद्धि भी की। उसके समयमे गुर्जर साम्राज्य उन्नति-के चरम शिखरको पहुँच गया था, उसमे १८ देश सम्मिलित थे और उसकी सीमाएँ उत्तरमे तुरुष्क देश, पूर्वमे गंगा तट, दक्षिणमे विन्ध्याचल और पश्चिममे समुद्र तट पर्यन्त थी। उसके राज्यकालमे देशने अभूतपूर्व समृद्धि एवं प्रजाने अद्वितीय शान्ति और सुखका उपभोग किया। लक्ष्मीके समान प्रकृति भी देशपर प्रसन्न थी, पूरे राजकालमे स्वचक्र या परचक्रका न कोई उपद्रव हुआ न कोई दुर्भिक्ष पडा। ज्ञान-विज्ञान और कलाकी महती अभिवृद्धि हुई और धार्मिकताके प्रवाहमे राजा व जनताने सुखपूर्वक निमज्जन किया। यह राजा निर्विवाद रूपसे जैनधर्मका कट्टर अनुयायी था और इस बातमे तनिक भी सन्देह नही है कि इस चालुक्य चक्रवर्ती कुमारपाल सोलंकीके समयमे गुर्जर साम्राज्य भारतवर्षका सर्वाधिक समृद्ध, शक्तिशाली, उदार एवं सुसंस्कृत साम्राज्य था। राजाके प्रिय गुरु सुप्रसिद्ध हेमचन्द्राचार्य

स्वयं थे। उन्हीके पथ-प्रदर्शनमे उसने राज्य संचालन किया, उसके मन्त्री, सेनानायक एवं अन्य उच्च पदस्थ कर्मचारी भी अधिकांशतः जैन थे और सब ही कुशल सुयोग्य एवं विश्वस्त थे। थोड़े ही समयमे उसने बाह्य एवं अभ्यन्तर शत्रुओका दमन करके अपनी स्थिति सुरक्षित एवं सुदृढ़ कर ली और शासन-व्यवस्था सुचारु कर दी। तदनन्तर शेष १५-२० वर्ष उसने कला, ज्ञान और धर्मकी सेवा-साधनामे व्यतीत किये। उसने श्रावकके व्रत धारण करके परम आर्हत् विरुद प्राप्त किया, राज्यमे पशुहिंसा, बलि, शिकार, मद्यपान, जुआ आदिका निषेध किया, मृत्यु-दण्ड बन्द किया, युद्धोंसे विराम लिया, राज्य-भरमे अमारि घोषणा करवा दी, दीन-दुखियोका पालन किया, निस्सन्तान विधवाओके स्वत्वकी रक्षा की, चतुर्विध संघके साथ शत्रुंजय, गिरनार तथा अन्य तीर्थ क्षेत्रोकी यात्रा की, और सोमनाथके मन्दिरका भी विस्मरण नही किया। यह राजा भारी निर्माता भी था, कहा जाता है कि उसने १४४० नवीन मन्दिर बनवाये और १६०० का जीर्णोद्धार कराया, स्वयं राजधानीमे भी अनेक सुन्दर जिनालय निर्माण कराये। प्रारम्भमे वह निरक्षर था किन्तु राजा होनेके उपरान्त सत्सगसे शीघ्र ही उसने लिखना-पढना सीख लिया, विद्वानोकी संगति एवं वाद-विवादमे उसे आनन्द आता था; कवि, पण्डित, चारण, जैनाजैन विद्वान्, साधु तपस्वी सभी उसके राज्य और दरबारकी शोभा बढ़ाते थे, राजा चरित्रवान् और एकपत्नीव्रतका पालक था, ब्राह्मण विद्वानो और कवियोने भी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वास्तवमे कुमारपाल एक आदर्श नरेश था। ११७२ ई० मे हेमचन्द्रकी मृत्यु हुई, गुरु-वियोगसे सन्तप्त राजा कुमारपाल भी ६ मास पश्चात् ११७३ ई० मे मर गया।

कुमारपालके कोई पुत्र नही था, उसका दौहित्र प्रतापमल्ल उसका उत्तराधिकारी था, किन्तु उसके भतीजे अजयपालने चालाकोसे सिहासन हस्तगत कर लिया। वह शैवधर्मका अनुयायी था और बड़ा असहिष्णु था, उसने पुराने मन्त्रियो और सरदारोको अपमानित किया और उन्हे नष्ट किया।

जैन विद्वानों और साधुओपर भी घोर अत्याचार किये, उनकी हत्या करवायी और मन्दिरोको भी नष्ट करवाया। उसके जैन मन्त्री यशःपाल, आभड आदि भी उसकी मति फेरनेमे समर्थ न हुए। सन् ११७७ ई० मे एक द्वारपालने पोठमे छुरा भोककर अजयपालकी हत्या कर दी। उसके पश्चात् भीम द्वितीय गद्दीपर बैठा, वह बालक ही था किन्तु उसका संरक्षक और सेनापति सज्जन नामक जैनी था। सज्जन अपने धर्मका भी पक्का था और युद्ध करनेमे भी प्रचण्ड था। आबूकी तलहटीमे उसने शिहाबुद्दीन गोरीको करारी हार दी थी। ११९५ ई०मे कुतुबुद्दीन ऐबकको भो भीम द्वितीयने हराया, किन्तु ११९७ ई०मे वह स्वयं पराजित हुआ और उसने ऐबककी अधीनता स्वीकार की। उसके पश्चात् मूलराज द्वितीय, और फिर त्रिभुवन पाल राजा हुए।

कुमारपालके बाद ही सोलंकी वंशका पतन आरम्भ हो गया था। इस अवनत कालमे भी गुजरातके गौरव और प्रतिष्ठा तथा धन-जनकी भरसक रक्षा उसके जैन राज्याधिकारियोने ही की। भीम द्वितीयका अन्तः-पुर-रक्षक लवणप्रसाद नामक जैनी था, अन्तिम नरेशोके समयमे यही सर्व-सर्वा था। उनके मन्त्री भी वस्तुपाल और तेजपाल नामके दो जैन भ्राता थे। मन्त्रीश्वर वस्तुपालने गुजरातके स्वराज्यको नष्ट होनेसे बचानेके लिए अपने जीवनमे ६३ बार युद्ध-भूमिमें गुर्जर सैन्यका सचालन किया था। आबू (देलवाड़े)के विश्वविश्रुत अत्यन्त कलापूर्ण जैन-मन्दिरोका विशेषकर नेमिनाथ-मन्दिरका निर्माण इसी वस्तुपालने सन् १२३२ई०मे कराया था। अन्यत्र भी अनेक जैन मन्दिरोका उसने निर्माण कराया और शैव एवं वैष्णव तीर्थोके लिए भी दान दिये। इस युद्धवीर, दानवीर एवं धर्मवीरने अनेक लोकोप-योगी कार्य किये। १२४३ ई० मे धोलकाके सामन्त बीसलदेवने, जो एक मतके अनुसार उपरोक्त लवणप्रसादका ही वंशज था, अन्तिम सोलंकी-नरेश त्रिभुवनपालको गद्दीसे उतारकर राज्य हस्तगत किया और व्याघ्रपत या बघेला वंशकी नीव डाली। इसके समयमे भी मन्त्रिपदपर

वस्तुपाल ही बना रहा। १२५७ ई० मे देशमे घोर दुर्भिक्ष पड़ा, उस अवसरपर जगडू शाह नामक जैन धनिकने अन्न और धनसे दुष्कालसे पीड़ित असंख्य गुजरातियोको जीवन-दान दिया। १२९८ ई० तक गुजरातपर बघेलोंका शासन रहा। अन्ततः अलाउद्दीन खिलजीके सेनानी उलुगखाँ और नसरतखाँने कर्ण बघेलेको पराजित करके गुजरातकी स्वतन्त्रताका नाश किया। दूसरे आक्रमणमे बघेला वंशका भी अन्त हुआ और गुजरातपर मुसलमानोका शासन हो गया। इन आक्रमणोंके समय भी पाटनके जैन बन्धु शाह समरा और सालिगने जनताकी बड़ी सेवा और रक्षा की।

इस प्रकार अपने दीर्घकालीन इतिहासमे गुजरात जैनधर्मका एक प्रधान गढ बना रहा। देश और इसके नरेशोके उत्कर्पके साथ ही जैनधर्म और संस्कृतिका भी उत्कर्प हुआ और जैन मन्त्रियो, सेनापतियो, अन्य राज्यकर्मचारियो, धनिको, व्यापारियो, व्यवसायियो, विद्वानो, कलाकारों, साधु-तपस्वियो, सभीने देशकी सर्वतोमुखी उन्नति, सास्कृतिक अभिवृद्धि एवं सुख-शान्तिके सम्पादनमे अभूतपूर्व योग दान किया। मुसलमानोंका शासन हो जानेके उपरान्त भी जैनी जन गुजरातके व्यापारिक एवं नागरिक जीवनके महत्त्वपूर्ण अंग बने रहे।

सिन्ध देश—सिन्धुनदीका उभय तटवर्ती उत्तरमे मुल्तानसे लेकर दक्षिणमे समुद्रतट पर्यन्त विशाल देश है। इसकी राजधानी पातालपुरी (पाटल) थी और इस देशपर प्राचीन विद्याधरवंशी नाग जातिका राज्य था। मोहन्जोदड़ोके प्रागैतिहासिक अवशेषोसे ज्ञात अत्यन्त प्राचीन कालमे सर्वप्राचीन मानवी सभ्यताओका उदय जहाँ-जहाँ हुआ उसमे इस देशका प्रमुख स्थान है। उस प्राग्-आर्यकालमे भी यहाँकी अत्युच्च नागरिक सभ्यता, श्रमण संस्कृति और ऋषभ, सम्भव आदि जैन तीर्थंकरोंके अहिसा एवं योगप्रधान धर्मोसे प्रभावित रही प्रतीत होती है। तदुपरान्त नागोके राज्य यहाँ रहे। सिकन्दरके आक्रमणके समय सिन्धु देशमे अनेक

छोटे-छोटे गणराज्य थे जिन्होंने उस विश्वविजयी यूनानी सम्राट्को पर्याप्त छकाया था। कुछ काल पर्यन्त मौर्योंका, फिर यूनानियों और पह्लवोंका इस प्रदेशपर अधिकार रहा। प्रथम शती ई० पू० के प्रथम पादसे ही शकोंने आक्रमण करके यहाँ शकस्थानकी स्थापना की। शककुलके इन शकोंने सिन्धसे फैलकर ही उत्तर और पश्चिम भारतमें अपने राज्य बिछाये थे। शकोंके उपरान्त हूणोंका अधिकार हुआ और कालान्तरमें इन विदेशियोंका भारतीयकरण हो जानेपर इस देशमें कई एक छोटे-छोटे राज्य चलते रहे। कालकाचार्यने सिन्धके शकोंमें जैनधर्मका प्रचार किया था और उसीके लगभग लोहाचार्यने अग्रोहेके अग्रवालोंको जैनधर्मसे दीक्षित किया था। गुप्तकालमें हरिगुप्तने पंजाब-सिन्धके हूणोंको जैनधर्मका उपदेश दिया था। यूनानियोंके समयमें भी इस प्रदेशमें अनेक दिगम्बर जैन साधु विचरण करते और वनोंमें निवास करते थे। कालान्तरमें, सम्भवतया कुषाणोंके समयसे, महायानी बौद्धधर्म एवं शैव और शाक्त धर्मोंका भी इस देशमें प्रचार हो गया था। इस प्रकार ये सब ही विभिन्न भारतीय धर्म इस प्रदेशमें फैले हुए थे। जैनधर्म अवश्य ही अपेक्षाकृत गौण स्थितिमें रहा। ६ठी शती ई० के अन्तमें एक शूद्रजातीय व्यक्तिने सम्पूर्ण सिन्धपर अधिकार करके वहाँ अपना राज्य जमाया। वह महायानी बौद्धधर्मका अनुयायी था। उसके वंशमें सिहरसराय प्रसिद्ध हुआ है। वह भी उसी धर्मका अनुयायी था। उसके समयमें लगभग १०,००० बौद्ध भिक्षु सिन्ध देशमें आलस्य और ऐशका जीवन बिताते थे और वे राज्यके लिए विघ्नरूप थे। सन् ६४४ ई० में मकराना और बलूचिस्तानके मार्गसे अरबोंने सिन्धपर आक्रमण किया, इन बौद्ध भिक्षुओंके कारण राजा सिहरसरायकी हार हुई और वह मारा गया। उसका पुत्र साहसी था किन्तु ६४६ ई० में उसकी भी वही गति हुई जो उसके पिताकी हुई थी। उसके उपरान्त उसके ब्राह्मण मन्त्री छछने राज्य हस्तगत कर लिया और लगभग ४० वर्ष राज्य किया। बौद्धोंका

उसने दमन किया किन्तु वह उनका अन्त न कर सका। साथ ही ब्राह्मणों और उनके धर्मका बोलबाला हुआ। छछके पुत्र दाहिरके समय ७१२ ई० मे अरब सेनानी मुहम्मद बिन क़ासिमने सिन्धपर भयंकर आक्रमण किया। दाहिर वीरतापूर्वक लड़ते हुए मारा गया और सिन्धपर हिन्दू राज्यका अन्त तथा मुसलमानी शासनका प्रारम्भ हुआ। कुछ विद्वानोके मतसे सिन्धके इस पतनका श्रेय अरबोंकी वीरतासे अधिक सिन्धके बौद्धों और ब्राह्मणोके विश्वासघातको है। अरबोंने प्रारम्भिक अत्याचारोंके बाद बहुत कुछ सहिष्णुतापूर्वक शासन किया। बौद्धधर्म तो शनैः-शनैः तिरोहित हो गया और उसके विकृत अवशिष्टांश तथा शाक्त धर्मके सम्मिश्रणसे सिन्धमे वाममार्गका प्रचार हुआ। शैवधर्म पनपता रहा, शनैः-शनै वैष्णवधर्म भी प्रविष्ट हुआ और जैनधर्म भी व्यापारी वर्गमे बना रहा। कवि श्रीहर्षके नैषधचरितसे विदित होता है कि ८वी शताब्दीमे भी सिन्धमे जैनधर्म अच्छी दशामे था। मुलतान नगर तो मध्यकालमे भी इस प्रदेशमे जैनधर्मका प्रमुख केन्द्र बना रहा। गौड़ी पार्श्वनाथकी सुप्रसिद्ध मूर्तिसे सम्बधित अनुश्रुतियाँ भी प्राचीन कालमे सिन्ध देशमे जैनधर्मके अस्तित्वका समर्थन करती है। मध्यकालमे पार्श्व-जिनकी इस प्राचीन ऐतिहासिक प्रतिमाके संरक्षक सिन्ध देशान्तर्गत पौरनगर (पारकर) के सोडवंशी राजपूत राजे रहे, और वे इसे अपना कुल-देवता मानते रहे।

कश्मीर—यह पंजाब और मध्य एशियाके बीच स्थित सुरम्य पर्वतीय देश है जो हिमालय पर्वत-मालाओमे ही होकर तिब्बत और नेपालसे भी सम्बन्धित है। यह एक प्राचीन राज्य है। आर्योने ही इसे सर्वप्रथम सभ्यता प्रदान की। सिकन्दरके आक्रमणके समय यह विद्यमान था और चन्द्रगुप्त मौर्यने भी उसे अपने साम्राज्यका अंग बना लिया था। सम्राट् अशोकके पुत्र जलौकने वहाँ स्वतन्त्र राज्य किया। कल्हणकी राजतरंगिणी और अबुलफज़लकी आइने अकबरीके अनुसार जलौकने ही इस देशमे जैनधर्मकी प्रतिष्ठा की थी। तदुपरान्त कनिष्क आदि कुषाणोका वहाँ राज्य

रहा, इसी समय महायान बौद्धधर्मका कश्मीरमें प्रवेश हुआ। ६ठी शतीके मध्यमे यशोधर्मन्से हारकर मिहिरकुल हूणने कश्मीरके राजाको मारकर उसपर अधिकार किया। किन्तु ७वी शतीके प्रारम्भमे नाग जातिके कर्कोटक वंशका उदय हुआ और इस वंशके शासनकालमे कश्मीर राज्यने अभूतपूर्व उन्नति की। कर्कोटक राजे सूर्यपूजक थे और शैव धर्मावलम्बी थे। अतः आगामी शताब्दियोमे शनैः-शनै बौद्धधर्म कश्मीरसे तिरोहित हो गया और जैनधर्म वणिक् वर्गके कुछ लोगोमे सीमित रह गया। फिर भी ८वी शती तक कश्मीर बौद्ध विद्याका केन्द्र बना रहा। प्रसिद्ध सार्वभौमिक बौद्ध विद्वान् कुमारजीवने कश्मीरमे ही शिक्षा प्राप्त की थी। कर्कोटक वंशके प्रारम्भिक नरेशोंमे दुर्लभवर्मन, जो लगभग ६३१-३३ ई० मे गद्दीपर बैठा, प्रसिद्ध है। इसीके समयसे कश्मीरका व्यवस्थित इतिहास मिलना शुरू होता है। यह राजा हर्षवर्धन और हुएनसांगका समकालीन था। उसका पोता ललितादित्य मुक्तापीड (७३३-७६९ ई०) बडा प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था, उसने ७४० ई० मे कन्नौजके यशोवर्मनको हराया, तिब्बत, भोट और तुर्कोंको भी हराया। वह सूर्यका उपासक था और उसने प्रसिद्ध मार्त्तण्ड-मन्दिर बनवाया था। उसका पोता विनयादित्य जयापीड था। वह बड़ा निर्दयी और लालची था। ८वीं शतीके उत्तरार्धमे उसने कन्नौजके वज्रायुधको हराया। ९वी शतीके मध्यमे इस कर्कोटक वंशका अन्त हुआ और उसके स्थानमे अवन्तिवर्मन (८५५-८३ ई०) ने उत्पल वंशकी स्थापना की। इस राजा तथा इसके वंशजोने साहित्य और साहित्यकारोंको अभूतपूर्व प्रोत्साहन दिया और लोकहितके अनेक कार्य किये। उसका पुत्र शंकरवर्मन (८८३-९०२ ई०) भी एक प्रतापी नरेश था। इस वंशका अन्तिम राजा हर्ष (१०८९-११०१ ई०) था। यह बड़ा अत्याचारी और धर्मविरोधी राजा था। इसके पश्चात् कश्मीरमे कोई शक्तिशाली राज्यसत्ता न रह गयी और १३३९-४० ई० मे मुसलमानोका इस देशपर अधिकार हो गया। उत्पल वंशके समयमे बौद्धधर्म कश्मीरसे

नामशेष हो गया और शैवधर्म इस देशका प्रधान धर्म हो गया। इन नरेशोंने संस्कृत साहित्यको भारी प्रोत्साहन दिया। मेथा, भौमक, शिव-स्वामिन, रत्नाकर, अभिनन्द, क्षेमेन्द्र, सोमदेव (कथासरित्सागरका लेखक, १०६३ ई०) बिल्हण (१०६४ ई०), कल्हण (११०० ई०) आदि अनेक संस्कृत कवियों एवं विद्वानोंने इन नरेशोके आश्रयमे भारतीके भण्डारको भरा। कल्हणकी राजतरंगिणी कश्मीरके इतिहासका अपूर्व ग्रन्थ है और सम्पूर्ण संस्कृत साहित्यमे इतिहास विषयकी बेजोड़ रचना है। इससे पता चलता है कि कश्मीरका तत्कालीन इतिहास गृह षड्यन्त्रों, हत्याओं और दुराचारोंसे पूरित था।

नेपाल मे प्रारम्भमे अनार्य लोगोंका निवास था। प्राचीनकालमे लिच्छवि क्षत्रियोने यहाँ भारतीय राज्य स्थापित किया जो ७वी शती ई० के मध्य तक चलता रहा। समुद्रगुप्तके शिलालेखमे भी नेपाल राज्यका उल्लेख है। हर्षके समयमे नेपाल राज्य हर्षके राज्य और तिब्बतके बीच स्थित था। लिच्छवियोके द्वारा ही इस देशमे आर्यसभ्यता और बौद्ध, जैन आदि धर्मोंका प्रवेश हुआ। किन्तु तान्त्रिक बौद्धधर्मकी ही वहाँ प्रधानता हुई। अभी हालमे ही सं० ४९८की एक जैन प्रतिमा एवं शिलालेख नेपालमे प्राप्त हुए है। ६४२ ई० मे अंशुवर्मनने नेपालमे ठाकुरिवंश नामक एक नवीन राजवंशकी स्थापना की। ७२४ ई० मे इस वंशके राजा गुणकामदेवने काठमाण्डु नगरका निर्माण किया और उसे राजधानी बनाया। ८७९ ई० से नेपाली संवत्का प्रचलन हुआ। १३२४ ई० मे हीरासिहदेवके समयसे नेपालमे बौद्धधर्मका अन्त हुआ और शैवधर्मकी स्थापना हुई। तबसे वही इस देशका प्रधान धर्म चला आता है। जैन धर्मके भो कतिपय चिह्न नेपालमे मिले है। जैनियोंका आवागमन इस देशमे प्राचोनकालमे था, इसके कई प्रमाण मिलते है।

कुलुकी घाटी मे कुलूत लोगोंका एक छोटा-सा राज्य था। इसके राजे बौद्ध थे। चम्बामे भी कुलूतोका राज्य था किन्तु ये लोग शैव थे।

तिब्बत राज्य अनार्य था। बौद्धधर्मका यह एक प्रमुख गढ बन गया था। चीन देशसे भारत आनेका प्रधान मार्ग तिब्बत होकर ही था। तिब्बतके राजाओके चीनके राजघरानेके साथ विवाह-सम्बन्ध भी हुए। कभी-कभी किन्तु बहुत कम तिब्बतवालोने उत्तर भारतीय राजनीतिमे भी हस्तक्षेप किया, किन्तु तिब्बतका अधिक सम्बन्ध चीनके साथ ही रहा। तिब्बतमे बौद्ध लामाओका धर्मराज्य वर्तमान काल तक चलता रहा। कहा जाता है कि तिब्बतमे जैनधर्मके भी कुछ चिह्न मिले है, हो सकता है कभी-कभी कोई जैन विद्वान् धर्म-प्रचारार्थ वहाँ जा पहुँचे हो, किन्तु उन्हे विशेष सफलता नही मिली प्रतीत होती।

आसाम, असम अथवा कामरूप राज्यकी राजधानी प्राग्ज्योतिप थी। मंगोलो और उनके प्रभावके लिए यह भारतका प्रवेश द्वार था, किन्तु बाह्य आक्रमणोसे इस द्वारने देशकी सदैव सफल रक्षा की। इस देशमे तन्त्रयान बौद्धधर्म, वाममार्ग और जोगियोके जादू-टोनेका ही प्रचार रहा। हर्षके समय यहाँका राजा भास्करवर्मन पर्याप्त शक्तिशाली था और हर्षका मित्र था। गौणके शशांकके विरुद्ध उसने हर्षकी सहायता भी की थी। उसके उपरान्त उसके वंशजोका राज्य रहा। ९वी शतीमे बगालके पालोने इस देशपर अधिकार कर लिया। मुसलमानोंकी बंगाल विजयके उपरान्त १२२८ से १८२५ ई० तक आसामपर शान जातिकी अहोम शाखाका प्रभुत्व रहा। प्राचीन साहित्यमे आसाम किरात देश कहलाता है और इसके निवासी किरात। भारतवर्षकी यह पूर्वी सीमा समझी जाती थी।

बंगाल—प्राचीन कालमे जो आजकल विहार-बंगाल कहलाता है वह प्राची या प्राच्य देशके नामसे प्रसिद्ध था। अंग, मगध और कोसल वर्तमान विहार प्रान्तके भाग थे। सम्पूर्ण पश्चिमी बंगाल, पूर्वी पाकिस्तान, कूच-विहार और टिपरा पहाडी बंगाल या बंग देश था, पुण्ड्र, राधा (लाढ) और सुम्ह नामोसे भी इसकी प्रसिद्धि थी, टिपरा और कोमिल्लाके जिलोसे

युक्त समतट भी इसीका एक भाग था। पुण्ड्रवर्धन, पुण्ड्रनगर या महास्थानगढ, ताम्रलिप्ति (तामलुक), कोटिवर्ष, वर्धमान (बर्दवान) आदि इसकी प्राचीन नगरियाँ थीं। जैन अनुश्रुतिके २५½ आर्य देशों तथा १८ राज्योमे बंगदेश और उसकी राजधानी ताम्रलिप्तिकी गणना है, किन्तु बौद्ध अनुश्रुतिके सोलह महाजनपदोमे इसका उल्लेख नही है। वेदोंके आर्य भी बंगदेशसे सर्वथा अपरिचित थे। उत्तर वैदिक-कालीन साहित्यमे उसे अनार्य-देश कहा है, ५वी-६ठी शती ई० पू० के धर्मसूत्रोमे तो इस म्लेच्छ देशमे जानेवाला आर्य महापातकी समझा जाता था। डॉ० भण्डारकरका मत है कि इस प्राच्य देशके लोग जैनों-द्वारा ही सर्वप्रथम सभ्य बनाये गये थे। अतः मध्यदेशीय सभ्यता और धर्मका बंग देशमे प्रवेश श्रमण संस्कृति और जैनधर्मके रूपमे ही सर्वप्रथम हुआ। प्रो० राखालदास बनर्जीके अनुसार भी प्राचीन कालमे गंगाके दक्षिणी भागमे जैनधर्मका काफ़ी प्रचार और प्रसार था। दक्षिण बिहारके हजारोबाग ज़िलेमे स्थित सम्मेदशिखर पर्वत जैनियोका सर्वमहान् सिद्धक्षेत्र है। इस तीर्थसे ही चौबीसमे-से बीस तीर्थकरोंने निर्वाण लाभ किया था। यह पर्वत पारसनाथ नामसे भी प्रसिद्ध है, तीर्थकर पार्श्व इस स्थानसे मुक्ति लाभ करनेवाले अन्तिम तीर्थकर थे। उन्होंने इस प्रदेशमे जैनधर्मका विशेष प्रचार किया था। आचारांग सूत्रके अनुसार वर्द्धमान महावीर भी वज्जभूमि, सुम्हभूमि और राढदेशमे धर्मप्रचारार्थ गये थे और वर्द्धमान (बर्दवान) नगरकी प्रसिद्धि भी उन्हीके नामसे हुई। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु पुण्ड्रवर्धनके निवासी थे। जैनस्थविरोकी गोदासगण शाखाके पौण्ड्रवर्धनियागणका नाम भी इसी नगरके नामपर रखा गया था। जैन साधुओकी कोटिवर्ष और ताम्रलिप्ति शाखाएँ भी बंगदेशके तन्नाम नगरोंके नामसे ही प्रसिद्ध हुईं। बौद्धग्रन्थ बोधिसत्त्वावदानके अन्तर्गत सुमगधावदानमे वर्णित अनाथपिण्डककी पुत्री सुमागधाकी कथा प्रमाणित करती है कि ईसाके जन्मसे बहुत पहले ही, स्वयं बुद्धके समयमे, पुण्ड्रवर्धन जैनधर्मका प्रसिद्ध केन्द्र था। एक अन्य बौद्धग्रन्थ,

दिव्यावदानके अनुसार तो अशोकने वहाँ बहुत-से निर्ग्रन्थोंकी हत्या इसलिए करा दी थी क्योंकि उन्होंने बुद्धकी मूर्तिका निरादर किया था।

शैशुनागों, नन्दों और मौर्योंके समयमें बंग जनपद मगध साम्राज्यका अंग बना रहा, तदुपरान्त लिच्छवि आदि व्रात्य क्षत्रियों एवं नागोंके छोटे-छोटे राज्य वहाँ चलते रहे, अन्ततः गुप्त-नरेशोंने विजय करके उसे अपने साम्राज्यमें मिला लिया। महावीरके समयसे लेकर गुप्तोंके समय तक ताम्रलिप्ति ही इस देशकी प्रधान राजधानी, प्रमुख व्यापारिक नगर और सबसे बड़ा बन्दरगाह बनी रही। सुदूर पूर्वके देशोंके साथ भारतके सांस्कृतिक, राजनैतिक, औपनिवेशिक एवं व्यापारिक सम्बन्धोंको बनानेमें इस बन्दरगाहका प्रमुख स्थान था। जैनकथा साहित्यमें इस नगरसे जलमार्ग-द्वारा विदेशोंको जानेवाले अनेक जैनव्यापारियों एवं साहसिक व्यक्तियोंके उल्लेख भरे पड़े हैं। इस कालमें बंगदेशके विभिन्न भागोंमें जैनधर्मकी ही प्रधानता थी। सभी प्रमुख नगरोंमें बड़ी-बड़ी जैन बस्तियाँ थीं, अन्य अनेक स्थानोंमें जैन-केन्द्र, विहार, विद्यापीठ और जिनमन्दिर थे। अनगिनत निर्ग्रन्थ साधुओंका वहाँ विहार होता रहता था और इन साधुओंके द्वारा बंगालके जैनसमुदायका उत्तर, दक्षिण, पूर्व एवं पश्चिम, भारतवर्षके सभी भागोंके जैनकेन्द्रोंसे सम्बन्ध बना हुआ था। मथुराके जैनस्तूपके अवशेषोंसे प्राप्त सन् ६२ ई० के एक शिला-लेखसे पता चलता है कि राढ़ (राधा-बंगाल) के एक जैनमुनिने मथुरामें आकर एक तीर्थंकर-मूर्तिकी प्रतिष्ठा करायी थी। गुप्तकालमें वर्तमान राजशाही जिलेके पहाड़पुर स्थान (प्राचीन नाम सोमपुर) के निकट वट गोहाली नामका एक प्रसिद्ध एवं विशाल जैन विहार था। दिगम्बर साधुओंकी पंचस्तूपान्वयी शाखाके मुनि इस अधिष्ठानके अध्यक्ष थे। गुप्तसंवत् १५९ (सन् ४७८ ई०) के एक ताम्रशासनसे विदित होता है कि इस संस्थानमें एक ब्राह्मण दम्पतिने जिन मूर्तिकी स्थापना करवायी थी और अर्हतोंकी पूजाके लिए दान दिया था। उस

समय पंचस्तूप शाखाके वाराणसी-निवासी आचार्य गुहनन्दीके शिष्य-प्रशिष्य उक्त विहारके अध्यक्ष थे। इस शाखाका प्रसार नदसौर, मथुरा, हस्तिनापुर, चित्रकूट (चित्तौड), वाटनगर (महाराष्ट्रमे नासिकके निकट), कर्णाटक और तमिल देश पर्यन्त था। सम्भवतया हस्तिनापुरके पचस्तूपोंसे इसका निकास हुआ था। बंगालमे भी पचथूपी नामक स्थान अपने मूलकी स्मृतिमे इस शाखा-द्वारा निर्मित स्मारककी याद दिलाता है। ७वीं शताब्दीमे चीनी यात्री हुएनसांगने बंग देशके समतट या व्याघ्रतटी राज्यमे, पुण्ड्रवर्धन और ताम्रलिप्तिमे तथा अन्य स्थानोंमे अनेक जैन मन्दिर और निर्ग्रन्थ साधु देखे थे। वस्तुतः पुण्ड्रवर्धनसे प्राप्त प्राचीन खण्डित जैनमूर्ति, चटगाँव ज़िलेके सीताकुण्डके निकट चन्द्रनाथ और सम्भवनाथके प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर, टिपरा ज़िलेमे कमिल्लाके निकट स्थित मैनामती और लालमाईकी पहाड़ियोमे विद्यमान प्राचीन जैन मन्दिरोके खण्डहर, बाँकुडा ज़िलेमे बर्दवान और आसनसोलके मध्य प्राचीन जैनस्तूपोंके ऊपर निर्मित ईंटोके बने एक सुन्दर प्राचीन मन्दिर जिसमें शिवके साथ तीर्थंकर पार्श्वकी प्राचीन मूर्ति अब भी विद्यमान है, छोटा नागपुरमे दुलमी, देवली, सुइसा, पकवीरा आदि स्थानोमे और उनके आस-पास भी अनेक प्राचीन जैन मन्दिर, तीर्थंकर प्रतिमाएँ, यक्ष-यक्षिणियो-की मूर्तियाँ आदि अनेक जैन अवशेष मिले है। राखालदास बनर्जी, विमलचरण लाहा, अद्रीस बनर्जी आदि अनेक पुरातत्त्वज्ञो एवं इतिहासज्ञो-का मत है कि बंगदेशके विभिन्न भागोमे बिखरे हुए उपरोक्त जैन कलाव-शेष जो ईसवी सन्के प्रारम्भसे लेकर १०वीं-११वी शताब्दी पर्यन्तके है प्राचीनकालमे इस देशमे जैनधर्मके व्यापक प्रभाव एवं प्रसारके द्योतक है।

६ठी शताब्दी ई० के अन्तमे, सम्भवतया गुप्त वंशमे ही उत्पन्न, समाचार नामका गुप्तोका एक सामन्त उनकी ओरसे बंग देशपर शासन करता था। गुप्त वंशकी अवनतिसे लाभ उठाकर उसने अपनी शक्ति

बढायी। उसका पुत्र वा पौत्र सुप्रसिद्ध गौडका शशाक था। वह स्वयं पहले कर्णसुवर्णका महासामन्त ही था किन्तु शीघ्र ही वह स्वतन्त्र हो गया और उसने अपने राज्यका विस्तार आसामसे उड़ीसा पर्यन्त कर लिया। उसने महाराजाधिराजकी उपाधि धारण की, वाराणसी तक धावे किये और कंगोद (गंजम) के शैलोद्भवनरेशको अपने अधीन किया। शशांक शैवधर्मका कट्टर अनुयायी था और बौद्धोंका परम शत्रु, उसने गयाको लूटा और बोधिवृक्षको नष्ट किया एवं बौद्धोपर बडे-बड़े अत्याचार किये। हर्षके बहनोई गृहवर्मन मौखरि और भाई राज्यवर्धनकी मृत्युका भी वही प्रधान कारण था। अतएव हर्षका वह परम शत्रु था। हर्षने उसके दमनका बहुत प्रयत्न किया किन्तु विशेष सफलता नही मिली। कलिंग-कोसलके तत्कालीन राजाको भी हर्षने शशांकके विरुद्ध अपना मित्र बनाया। ६१९ ई० के लगभग शशांककी मृत्यु हुई और सम्भवतया उसके साथ ही उसके राज्यका भी अन्त हो गया। बौद्ध धर्मका प्रवेश वंगदेशमे अशोकके समयमे ही हो गया था, किन्तु वह एक गौण स्थितिमे ही रहता आया था, शशाकने उसको भी नष्ट करनेका प्राय. सफल प्रयत्न किया। गुप्तकालमे भागवत धर्मका भी वगदेशमे कुछ प्रचार हुआ किन्तु वह यहाँ अधिक पनप न सका। शशांकके समयसे शैव धर्म भी इस देशमे स्थापित हुआ। सन् ७०० ई० के लगभग गौड़ नरेश आदिसूरने कन्नौजसे पाँच ब्राह्मण और पाँच कायस्थ बुलाकर वंगालमें बसायं। कहा जाता है कि वर्तमान बंगाली ब्राह्मण और कायस्थ उन्हीके वंशज है।

८वी शतीके पूर्वार्धमे बंगालमे घोर अराजकता रही। अतएव ७५० ई० मे गोपाल नामक एक व्यक्तिने उस अराजकताका अन्त करके पालवंशकी स्थापना की। पालवंश बंगालका सर्वप्रसिद्ध राजवंश रहा और इसके प्रायः सब नरेश बौद्धधर्मी थे, उनके समयमे ही इस देशमे बौद्धधर्म भली प्रकार फला-फूला। स्वय गोपालने उद्दण्डपुरमे एक विहार बनवाया।

इसी समय प्रज्ञा नामक एक बौद्ध विद्वान् हुआ जो कपिशामें जन्मा, नालन्दामें पढ़ा, उड़ीसामें बसा और वहाँ योगाभ्यास सिखाता रहा और फिर चीन चला गया। वत्सराज प्रतिहारने गोपालको युद्धमें पराजित किया था। दूसरा राजा धर्मपाल था। उसने ६४ वर्ष राज्य किया। मगध उसके साम्राज्यका अंग था और उड़ीसाके भौमकर राजे उसके अधीन थे। राष्ट्रकूट ध्रुव और गोविन्द तृतीय तथा प्रतिहार वत्सराज, नागावलोक और भोज उसके प्रतिद्वन्द्वी थे। धर्मपालने कन्नौज विजय करके एक बार इन्द्रायुधको गद्दीसे उतारा और चक्रायुधको उसके स्थानमें बिठाया। इसी राजाने विक्रमशील विद्यापीठकी स्थापना की थी तथा सोमपुर (पहाड़पुर) के जैन अधिष्ठानको नष्ट करके उसके स्थानमें बौद्ध विहार और मन्दिर बनवाये थे। इसने अपने सिक्कोंपर भी धर्मचक्र आदि बौद्ध चिह्न अंकित कराये। ८२४ ई० में उसकी मृत्यु हुई और उसका पुत्र देवपाल (८२४–८७२ ई०) राजा हुआ। यह पालवंशका सर्वाधिक शक्तिशाली नरेश था और कट्टर बौद्ध था। मुद्गगिरि (मुंगेर) को उसने अपनी राजधानी बनाया। बौद्धेतर जैनादि धर्मोंके लगभग चालीस बड़े-बड़े केन्द्रोंको उसने नष्ट किया कहा जाता है। उसने अनेक बौद्धमन्दिर और विहार बनवाये। धीमन और वीतपाल नामके शिल्पी उसके आश्रयभाजन थे। उसने आसाम और उड़ीसाकी भी विजय की और श्रीविजय एवं स्वर्णद्वीपके सुदूरपूर्वी राज्योंसे सम्बन्ध बनाये। उसका नालन्दा ताम्रशासन प्रसिद्ध है। इस वंशका आठवाँ राजा राज्यपाल था जिसने एक राष्ट्रकूट राज-कन्यासे विवाह किया था। १०वीं शतीके प्रारम्भसे पालवंश अवनत होने लगा था। ९५० ई० के पश्चात् काम्बोजोंने बंगालपर अधिकार कर लिया जिन्हें महीपाल (९७८–१०३० ई०) ने निकाल बाहर किया। किन्तु राजेन्द्र-चोलने उसपर आक्रमण करके उसे पराजित किया। यह पाल-नरेश लोक-कथाओं और लोक-गीतोंमें बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसका उत्तराधिकारी नयपाल था। इसने बौद्ध भिक्षु धर्मपालको और फिर अत्तिसको धर्म-प्रचा-

रार्थ तिब्बत भेजा था जिन्होंने वहाँ जाकर तिब्बत देशको फिरसे बौद्धधर्ममे दृढ किया। तदुपरान्त विग्रहपाल, रामपाल, कुमारपाल, इन्द्रद्युम्नपाल आदि क्रमशः राजा हुए। ये सब निर्बल शासक थे। १२वी शतीके अन्तमे पालवंशका अन्त हो गया। पालोने बौद्ध-कलाको बहुत प्रोत्साहन दिया और उसका प्रभाव सुदूरपूर्वमे भी पहुँचा।

पालोके उपरान्त सेनवंश प्रबल हुआ। कर्णाटकके ब्रह्म-क्षत्रिय सामन्तसेनने (जो सम्भवतया सेनसंघी जैनाचार्य वीरसेनकी आम्नायमे-से था) इस वंशकी स्थापना की। उसका पुत्र हेमन्तसेन मयूरभंज प्रान्तमे कासीपुरका शासक था। ११वी शतीके मध्य तक सेन-राजे पाल-नरेशोके सामन्त रहे। तदुपरान्त सेन-नरेश विजयसेन स्वतन्त्र हुआ, पालोके हाथसे बंगालका बहुभाग छीनकर उसने अपनी शक्ति बढ़ायी और ४० वर्ष राज्य किया। वह कलिंगके अनन्तवर्मन चोडगंगका मित्र था। उसके उत्तराधिकारी बल्लाल सेन (११०८–१९ ई०) ने बंगालमे कुलीन प्रथाको जन्म दिया। तदनन्तर लक्ष्मणसेन प्रथम राजा हुआ, वह गीतगोविन्दके रचयिता जयदेव और पवनदूतके लेखक कवि धोयीका आश्रयदाता था। उसके पोते लक्ष्मणसेन द्वितीयको ११९९ ई० मे मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजीने पराभूत करके बंगालपर अधिकार कर लिया। सेन-वंशके राजे कट्टर शैव थे। उनके समयमे बौद्धधर्म बंगालसे शनैः-शनै तिरोहित हो गया और वहाँ शैव एवं शाक्त धर्मोकी स्थापना हो गयी। वज्रयान, तन्त्रयान, वाममार्ग आदिका भी प्रचार रहा। बंग देशका भावी धर्म इन सबके सम्मिश्रणसे बना। जैनधर्मका अस्तित्व भी ११वी-१२वी शती तक बना रहा, किन्तु उसके उपरान्त केवल थोड़े-से पश्चिम-भारतीय सेठो और व्यापारियोके रूपमे ही बंगालमे जैनी सीमित रह गये और रहते चले आये। किन्तु बंग देशके विभिन्न भागोमे विद्यमान सराक लोग आज भी प्राचीन बंगाली श्रावको (जैनो) का स्मरण दिलाते है।

बृहत्तर भारत—विभाजनके उपरान्त भारतीय राष्ट्रकी सीमाएँ

देशकी नैसर्गिक एवं प्राकृतिक सीमाओंसे बहुत अधिक संकुचित हो गयी हैं। अँगरेज़ी शासन-कालमें भारतने अपनी वैज्ञानिक सीमाएँ प्राप्त कर ली थीं किन्तु उस समय भी अफगानिस्तान और क़न्दहार भारतवर्षमें सम्मिलित नहीं थे, जब कि मध्यकालमें मुगलोंके शासन-कालमें वे भारतीय साम्राज्यके ही अंग थे। उसके भी बहुत पूर्व यदि मौर्य युगसे लेकर गुप्तकाल पर्यन्तके भारतीय इतिहासपर दृष्टिपात किया जाये तो उस समय भी कपिशा (अफ़ग़ानिस्तान) और गान्धार (कन्दहार तथा ईरानका पूर्वीभाग) भारतके ही अंग थे। इतना ही नहीं, प्राचीन कालमें बलूचिस्तान, सीमान्तदेश, कश्मीर, तिब्बत, नैपाल, भूटान, आसाम, अराकान तो भारतवर्षके अंग समझे ही जाते थे, बर्मा (ब्रह्मदेश या सुवर्णभूमि) और लंका (सिंहल) भी भारतके ही अंग थे। इनके अतिरिक्त मध्य एशियाके विभिन्न भागोंमें यथा काशगर, खोतान, यारकन्द आदिमें भारतीय राज्य एवं उपनिवेश स्थापित हुए थे। उसी प्रकार सुदूर पूर्वमें बर्मा, मलाया, स्याम, हिन्द-चीन, जावा, बाली, बोर्निओ आदि प्रदेशों एवं द्वीपोंमें भारतीय राज्य एवं उपनिवेश स्थापित थे। भारतीयों-द्वारा अनेक प्रदेशोंके आदिम निवासियोंका पूर्णतया भारतीयकरण हो गया था। भारतीयराज्यों और उपनिवेशोंके अतिरिक्त चीन, ईरान, अरब, मिस्र, यूनान, रोम आदि प्राचीन सभ्य देशोंमें भारतीय धर्म और संस्कृतिका प्रकाश अभूतपूर्व रूपमें फैला था। समस्त संसारके लिए भारतवर्ष धर्म, संस्कृति, विद्या और ज्ञानका प्रकाश स्तम्भ था। दूर-दूर देशोंसे सैकड़ों-हज़ारोंकी संख्यामें विद्यार्थी भारतीय विश्वविद्यालयोंमें विद्या-प्राप्तिके लिए आते थे। अनेक विदेशी तीर्थयात्राके मिस आते थे और स्वयं भारतसे अनगिनत वणिक् व्यापारी, साहसी वीर विद्वान् और धर्मोपदेशक दूर-दूर विदेशोंको जल और थलके मार्गोंसे जाते थे। इस प्रकार उन्होंने भारतवर्षके व्यापार, व्यवसाय, धन-समृद्धि, शक्ति और प्रभावको बढाकर बृहत्तर भारतका निर्माण किया था।

बृहत्तर भारतका यह निर्माण प्रागऐतिहासिक कालमें ही हो गया था।

सिन्धुघाटीकी विद्याधर सभ्यता ही मध्यएशियाकी सुमेर, अस्सुर एवं बाबुली सभ्यताओकी तथा नीलघाटीकी मिस्री सभ्यताकी प्रेरक थी। सिन्धुघाटी-सभ्यताके अन्त होनेपर भारतमे वैदिक सभ्यताका उदय और वैदिक आर्योका प्रसार हुआ। उस समय अनेक प्रागार्य भारतीय जातियाँ यथा नाग, ऋक्ष, यक्ष आदि सुदूर पूर्वके प्रदेशो एवं द्वीपोंमे जा बसी किन्तु भारतवर्पसे उन्होने अपना सम्बन्ध बनाये रखा। इतिहास कालमें बृहत्तर भारतके निर्माणका युग महावीर एवं बुद्धके कालसे लेकर गुप्तकाल पर्यन्त रहा किन्तु इस प्रकार निर्मित बृहत्तर भारत, विदेशोमे स्थापित भारतीय राज्य और उपनिवेश मध्यकाल पर्यन्त विद्यमान रहे और उनके साथ भारतके राजनैतिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध बराबर बने रहे। ५वी-६ठी शती ई० पू० से लेकर मुसलमानोके आक्रमण पर्यन्त लगभग डेढ सहस्र वर्पके सुदीर्घ कालमे भारतवर्षमे ब्राह्मण, जैन और बौद्ध, ये तीन धर्म ही प्रधान थे। देशका कोई भाग और देशकी जनताका कोई भी वर्ण या वर्ग ऐसा न था जिसमे इन तीनो ही धर्मोके अनुयायी पर्याप्त संख्यामे न पाये जाते थे। अस्तु जिन व्यापारियो, साहसी वीरो, विद्वानों और धर्मोपदेशकोने उपरोक्त बृहत्तर भारतका निर्माण, विकास एवं संरक्षण किया उनमे उक्त तीनो ही धर्मोके व्यक्ति सम्मिलित थे। अतएव भारतवर्पके बाहर जहाँ-जहाँ भी भारतका प्रभाव और प्रकाश जिस रूपमे भी पहुँचा वहाँ-वहाँ इन तीनो धर्मो एवं उनकी संस्कृतियोका ही अल्पाधिक रूपमे प्रकाश एवं प्रभाव पहुँचा। यही कारण है कि आज भी जब सुदूर पूर्वके विभिन्न प्रदेशों, द्वीपो तथा मध्य एशियाके विभिन्न भागोमे उक्त बृहत्तर भारतके अवशेषोका अनुसन्धान किया जाता है अथवा प्राचीन मिस्र, चीन, ईरान, यूनान, अरब आदिके साहित्यमे भारतीय प्रभावको खोज की जाती है तो भले ही अपेक्षाकृत अल्पाधिक मात्रामे हो ब्राह्मण, जैन और बौद्ध—इन तीनो ही धर्मो और उनकी संस्कृतियोके चिह्न दृष्टिगोचर होते है। इसमे सन्देह नही कि बृहत्तर भारतके विभिन्न

भागोंमे अन्ततः बौद्ध प्रभाव ही सर्वाधिक लक्षित होता है किन्तु इसका कारण यही है कि यद्यपि बृहत्तर भारतके प्रारम्भिक निर्माणमे सर्वत्र ही बौद्धोंकी अपेक्षा जैन और शैव वैष्णवादि कुछ आगे ही थे, किन्तु कालान्तरमे धार्मिक बन्धनोंको संकुचित और अनुदार बना देनेके कारण उनका प्रयास इस दिशामे शिथिल हो गया। गुप्तकालके उपरान्त जिन छह-सात सौ वर्षोंमे भारतीय शैव, वैष्णव और जैनधर्मोंमे धर्मशास्त्रों, पुराणों आदिके कारण उपरोक्त धार्मिक प्रतिबन्धोंसे समाजको जकड़ा जा रहा था उसी कालमे यहाँ बौद्धधर्म द्रुतवेगसे पतनशील था और बौद्ध लोग स्वदेशको छोड़-छोड़कर बृहत्तर भारतके उक्त प्रदेशोंमे जा-जाकर बस रहे थे। मध्य-कालके भारतीयोंने तो अपने देशके इन बाह्य अंगोंको सर्वथा भुला दिया। अतः बौद्धधर्मकी ही वहाँ सर्वत्र प्रधानता हो गयी तथा चीन, जापान आदि बौद्ध देशोंसे ही उनका सम्पर्क रह गया।

मध्य एशियाकी फरात नदीकी घाटीके ऊपरी भागमें एक भारतीय उपनिवेश २री शती ई०पू० मे ही विद्यमान था। लगभग ५०० वर्ष बाद पोप ग्रेगरीने भयानक आक्रमण करके इस उपनिवेशका ध्वंस किया था। एक अनुश्रुतिके अनुसार खोतानमे भारतीय उपनिवेश स्थापित करने-का श्रेय अशोकके पुत्र और सम्प्रतिके पिता राजकुमार कुणालको है। सम्भवतया मध्य एशियामे यही सर्वप्रथम भारतीय उपनिवेश था। ४थी शती ई० के प्रारम्भ तक काशगरसे लेकर चीनकी सीमा पर्यन्त समस्त पूर्वी तुर्किस्तानका पूर्णतया भारतीयकरण हो चुका था। उसके दक्षिणी भागमे शैलदेश (काशगर), चोक्कुक (यारकन्द), खोतम्न (खोतान) और चलन्द (शानशान) नामके भारतीय राज्य थे। उत्तरी भागमे भरूक, कुचि, अग्नि-देश और काओचग नामके राज्य थे। इन सबमे उत्तरका कुचि और दक्षिणका खोतम्न ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं भारतीय संस्कृतिके सर्वमहान् प्रसारकेन्द्र थे। दक्षिणी राज्योंमे भारतीयोंकी सख्या अधिक थी। इन उपनिवेशोंको प्रारम्भ करनेमे निर्ग्रन्थ साधुओं और बौद्ध भिक्षुओंका ही

हाथ सर्वाधिक था। बादमे निर्ग्रन्थोंका विहार शिथिल होता गया और बौद्धोका सम्पर्क एवं आवागमन बढता गया। इन राज्योंकी लोकभाषा प्राकृत थी, भद्रजनोमे संस्कृतका भी प्रचार था, वहाँ, भारतीय लिपिका ही प्रयोग होता था तथा भारतीय नाम, वेषभूषा और आचार-विचार अपनाये जाने लगे थे। गुप्तकालके उपरान्त बौद्धधर्म ही वहाँका प्रधान धर्म हो गया और प्रमुख नगरोके विहारोमे कश्मीर आदिके बौद्ध विद्यार्थी ही धर्माध्यक्ष होने लगे। कुमारजीव नामक ऐसे एक सार्वभौमिक बौद्ध विद्वान्का नाम इस कालमे अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। खोतानका गोमती विहार उसका प्रमुख केन्द्र था। इन राज्योके विहारो एवं विद्यापीठोमे भारतीय आयुर्वेद, ज्योतिष, साहित्य आदि विषयोके ग्रन्थ पठन-क्रममे रहते थे। खोतानके निकट राजाका नव्य विहार एक अत्यन्त उत्तुंग एवं विशाल भवन था। फ़ाह्यान, हुएनसांग आदि चीनी यात्रियोने इस विहार तथा उसके रीति-रिवाजो, उत्सवों आदिका सुन्दर वर्णन किया है। ये राज्य और इनका बौद्धधर्म ८वी शती ई० तक अच्छी दशामे विद्यमान थे। राजा लोग और राजवंशके स्त्री-पुरुष भी धार्मिक थे, वे भिक्षु-भिक्षुणी भी हो जाते थे। ये लोग भारतीय संगीत, चित्र, मूर्त्त, स्थापत्य आदि कलाओके प्रेमी और प्रश्रयदाता भी थे। बौद्धधर्मकी प्रधानता और प्रमुखता होते हुए भी चीनी यात्रियोके वृत्तान्तोसे उस कालमे इन प्रदेशोमे निर्ग्रन्थ जैन साधुओंका अस्तित्व भी रहा सूचित होता है। कुछ जैन मूर्त्तियाँ तथा अन्य जैन अवशेष भी यत्र-तत्र पाये जाते है। काश्यपके रूपमे पार्श्वनाथका गमन उधर हुआ प्रतीत होता है। अनेक पुरातत्त्वज्ञोका मत है कि जैनधर्म भी प्राचीनकालमे इन प्रदेशोमे अवश्य पहुँचा था। तिब्बत, कपिशा (अफ़गानिस्तान), गान्धार (तक्षशिला और कन्दहार), ईरान, अरब, मध्यएशिया आदिमे जैनधर्मके किसी-न-किसी रूपमे किसी-न-किसी समय पहुँचनेके चिह्न पाये जाते है। चीनदेशके ताओ आदि प्राचीन धर्मोपर तथा उत्तरकालीन बौद्ध साहित्यमे अनेक जैनसूचक संकेत मिलते है। जैनोकी छोटी-मोटी बस्तियाँ भी इन देशोमे

मध्यकाल तक रही प्रतीत होती है।

सिंहलद्वीप और रत्नद्वीप—सिहलद्वीप या लंकामे विद्याधर-वशकी ऋक्ष जातिका निवास था। भरत चक्रवर्तीने इस द्वीपकी विजय करके वहाँ जैनधर्म और श्रमण संस्कृतिका प्रवेश किया बताया जाता है। एक अनुश्रुतिके अनुसार भारतके पूर्वी भागसे वररोज नामक असुर सरदार ऋक्ष, यक्ष, नाग आदि विद्याधर जातियोके व्यक्तियोको लेकर लंका गया था और उसने उस द्वीपको वसाया था। रामायण-कालमे ऋक्षवंशी रावण लंकाका महापराक्रमी नरेश था। जैन अनुश्रुतिके अनुसार रावण और उसका वंश जैनधर्मी था। महाभारत-कालमे श्रीकृष्ण सिंहल जाकर वहाँके राजा श्लक्षणरोमकी कन्या लक्ष्मणाको हर लाये थे और उन्होने उसे अपनी पत्नी बनाया था। पार्श्वनाथके तीर्थमे करकण्डु-नरेशने भी सिहलकी यात्रा की थी। महावीरके समयमे उडीसाके सिहपुरसे विजय नामक एक राजकुमार लका पहुँचा था और वहाँ उसने एक नये राजवंशकी स्थापना की थी। बौद्धग्रन्थ महावशसे पता चलता है कि ४थी शती ई० पू० मे इसी वंशमे उत्पन्न सिहल-नरेश पाण्डुकाभयने अपनी राजधानी अनुराधापुरमे एक विशाल जैन विहार और भव्य जैन-मन्दिर बनवाया था। सम्राट् अशोकके समयमे लगभग २३६ ई० पू० से लंकामे बौद्धधर्मका प्रचार प्रारम्भ हुआ और प्रथम शती ई० पू० से लका बौद्धधर्मका एक प्रमुख गढ हो गयी। इसका श्रेय लंकाके राजा वट्टगामिनीको है जिसने सन् ३८ ई० पू० मे उपरोक्त जैन मन्दिरो एवं विहारोको, जो उसके पूर्ववर्त्ती २१ राजाओंके राज्यकालमे अक्षुण्ण बने रहे थे, नष्ट करवाकर उनके स्थानमे बौद्ध मन्दिर और विहार बनवाये। उसीके समयमे सिहलमे बौद्ध त्रिपिटकके संकलन एवं लिपिबद्ध करनेका सर्वप्रथम प्रयत्न किया गया। सिंहल द्वीपका भारतीय-करण इस प्रकार अति प्राचीन कालमे हो चुका था और बादमे भी निरन्तर भारतवासी वहाँ जा-जाकर बसते रहे। जैन पुराणो एवं कथा-

ग्रन्थोमे सिंहल द्वीपके, उसके निकटवर्ती रत्नद्वीपके तथा इन द्वीपोमे जैन व्यापारियोके व्यापारके लिए जाने-आनेके, सिंहलके कतिपय राजाओ एवं भारतीय राजाओके परस्पर सम्बन्धो आदिके अनेक उल्लेख भरे पड़े है। ७वी-८वी शती ई० मे भी जैन धर्म व जैनियोका अस्तित्व सिंहलद्वीपमे था, इस बातके स्पष्ट निर्देश मिलते हैं। इतना ही नही मध्यकालके प्रारम्भमे भी आचार्य यश.कीर्त्ति-सम्बन्धी एक शिलालेखसे पता चलता है कि सिंहलके तत्कालीन राजासे उस जैनाचार्यने सम्मान प्राप्त किया था। तथापि लंकाद्वीप प्रधानतया बौद्धधर्मानुयायी ही रहा और अँगरेजोके आनेसे पूर्व तक उसकी स्वतन्त्र राज्यसत्ता बनी रही। भारतके तमिल राज्योके साथ भी सिंहलराज्यके सम्बन्ध बराबर बने रहे।

बर्मा—बर्मा या ब्रह्मदेशका जो प्राचीन कालमे सुवर्णभूमि कहलाता था, भारतीयकरण भी अति प्राचीन कालमे हो चुका था। श्रीक्षेत्र (प्रोम) उसका प्रधान नगर था। अन्य अनेक नगरोके नाम भारतीय थे। इस देशमे ईसवी सन्‌के प्रारम्भके लगभग बौद्धधर्मका प्रचार हुआ और वर्तमान पर्यन्त वही उसका प्रधान धर्म बना रहा है। किन्तु वहाँ अन्य भारतीय व्यापारियोका भी आवागमन बना रहा और छोटी-मोटी जैन बस्तियाँ भी बनी रही, ऐसा १८वी शती ई० के एक यात्रा-विवरणसे विदित होता है। इसी प्रकार शैव-वैष्णवादि भी बने रहे। १९वी शतीमे अँगरेजोने बर्माके राजाको पराजित करके इस देशको भारतमे मिला लिया था।

सुदूर पूर्वके मलाया (द्वीपान्तर), स्याम (द्वारावती), हिन्द चीनके कम्बोडिया (काम्बुज), चम्पा (अनाम), तथा श्रीविजय (सुमात्रा), केदरि एवं सिहसारि (यवद्वीप या जावा), सुवर्णद्वीप, नारिकेलद्वीप, इलाद्वीप, कर्पूरद्वीप आदि प्रदेशो एवं द्वीपोके साथ जलमार्गसे भारतवर्षका सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन है। सम्भवतया महाभारतोत्तर कालमे विद्याधरोकी नाग, ऋक्ष, यक्ष आदि जातियोके लोग भारतमे वैदिक आर्योके प्रसारके कारण देशको छोड़-छोडकर वहाँ जाकर बसने लगे थे। किन्तु अपने सजातीय

भारतवासियोंसे भी उनका सम्पर्क बना रहा। कालान्तरमें व्यापारके उद्देश्यसे भारतीय वणिक् जिनमें-से अनेक जैन भी थे इन देशों एवं द्वीपोंके साथ व्यापार करते थे और अपने जलपोतोंमें वहाँ जाते-आते थे। इस बातके अनेक उल्लेख जैन-साहित्यमें पाये जाते हैं। कुछ भारतीय साहसी वीर अपनी भाग्य-परीक्षाके लिए भी वहाँ जा पहुँचते थे, इनमें राजवंशों या सामन्तवंशोंके क्षत्रिय ही अधिक होते थे। कभी-कभी कोई ब्राह्मण-पण्डित या बौद्धभिक्षु अथवा जैन ब्रह्मचारी, श्रावक आदि भी वहाँ जा पहुँचते थे और अपने-अपने धर्म और संस्कृतिका वहाँ जाने-अनजाने प्रसार करते थे। सन् ईसवीके प्रारम्भके उपरान्त ही हम इन देशों एवं द्वीपोंमें नये-नये सुव्यवस्थित राज्य स्थापित होते पाते हैं और उन राजवंशोंके नरेशोंने जो अनुपम कलापूर्ण भवन, देवमन्दिर, नगर आदि बनाये, अपनी स्वयंकी तथा देवी-देवताओंकी मूर्त्तियाँ निर्माण करायी, शिलालेख अंकित कराये—उन सबके प्राप्त अवशेषोंसे और इन प्रदेशोंमें प्रचलित अनुश्रुतियोंसे वृहत्तर भारतके इन महत्त्वपूर्ण अंगोंके इतिहासका बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस बातमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि इन प्रदेशोंका पूर्णतया भारतीयकरण हो गया था। व्यक्तियोंके नाम व उपाधियाँ, नगरों एवं पर्वों आदिके नाम, वेष-भूषा, आचार-विचार, भाषा, लिपि, धर्म और संस्कार सब भारतीय थे। भारतीय विद्याओं और साहित्यका वहाँ पठन-पाठन होता था। भारतीय पौराणिक अनुश्रुतियाँ ही उन देशोंकी पौराणिक अनुश्रुतियाँ थीं। वहाँकी कला भारतीय कलासे ही प्रभावित थी। अस्तु, भारतके साथ इन देशोंका स्पष्ट राजनैतिक सम्बन्ध कोई न रहते हुए भी उनका उसके साथ सांस्कृतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध अबाध बना रहा। इन देशोंमें जो धर्म और संस्कृति प्रचलित हुई वह शैव, वैष्णव, जैन और बौद्ध चारोंका ही एक अद्भुत मिश्रण थी। कालान्तरमें वहाँ सर्वत्र बौद्ध-धर्मकी प्रधानता हो गयी और अन्वेषकोंने इन स्थानोंके पुरातत्त्व एवं इतिहासका जो भी अध्ययन किया है वह बौद्ध अथवा हिन्दू दृष्टियोंसे ही

किया है, जैनदृष्टिसे भी उक्त साधनोंका अध्ययन हो सकता है इसपर अभीतक किसीका ध्यान नहीं गया है। किन्तु कुछ ऐसे स्पष्ट संकेत मिलते है जो उक्त देशोमे जैन संस्कृतिके प्रभावके सूचक है—यथा काम्बुज, चम्प आदिके प्राथमिक भारतीय राजवंशोके मूलमे नाग-नागी सम्बन्धोका पाया जाना, काम्बुजकी भारतीय संस्कृतिके संस्थापक कौण्डिन्योका जैन-साहित्य, इतिहास और अनुश्रुतिमे जैनोके रूपसे उल्लेख पाया जाना, बृहत्तर भारतके प्रायः सभी उक्त पूर्वी देशोमे मद्य-मांसके प्रचारका अभाव तथा पशुबलि आदिका भी अभाव पाया जाना, देव या बुद्धके लिए जिन शब्दका प्रचलन, अनेक मूर्त्तियोका तीर्थंकर मूर्त्तियोके साथ विलक्षण सादृश्य, कतिपय शिलालेखोंमे पार्श्वनाथ प्रभृति तीर्थंकरों एवं कल्याणकारक आदि जैनग्रन्थो-का उल्लेख तथा जैन आध्यात्मिक विचारो एवं पदावलिका प्रयोग, रामायण और महाभारतके कथानकोके उक्त देशोंमे प्रचलित रूपोका ब्राह्मण परम्परा-की अपेक्षा जैन-परम्पराके कथानकोके साथ अधिक निकट सादृश्य, राज-नीतिमे प्राय. मनुस्मृति आदिका प्रभाव होते हुए भी स्त्रियोके विशेषा-धिकारोमे जैन नीतिका प्रभाव, वर्षारम्भ महावीर निर्वाण वर्षकी भाँति कार्त्तिक माससे होना, दीपावली उत्सवका समारोहपूर्वक मनाया जाना आदि। उन देशोमे बहुमान्य तीन प्राचीन वर्गोमे एक बौद्धभिक्षु थे दूसरे शैवाचार्य या ब्राह्मण विद्वान् थे और तीसरे पन्थी या पण्डित थे जो बड़े विद्वान्, व्यवहार-कुशल एव राज्यमे उच्च पदोंपर भी आसीन होते थे। यह तीसरा वर्ग सम्भवतया जैनोंका ही था। इस प्रकार बृहत्तर भारतके निर्माण, विकास एवं संरक्षणमे ब्राह्मणों और बौद्धोंके साथ-साथ प्राचीन भारतके जैनोंने भी भरसक योगदान दिया प्रतीत होता है।

अध्याय ७

दक्षिण भारत [१]

भारतवर्ष प्राचीन कालसे ही उत्तरापथ और दक्षिणापथ नामक दो विभागोंमे विभक्त रहता आया है। उत्तरमे विन्ध्यपर्वतमालाकी सतपुड़ा, महादेव एवं मेकल नामक पहाड़ियों तथा नर्मदा और महानदी नामक नदियोके द्वारा उत्तरापथसे विभक्त एवं दक्षिणमे तीन ओर भारतीय महासागरसे वेष्टित प्रायद्वीपाकार पठार दक्षिणापथ कहलाता है। प्राग्-ऐतिहासिक कालसे ही मध्यकाल पर्यन्त भारतका यह विशाल भू-भाग भौगोलिक ही नही, राजनैतिक एवं कुछ अंशोंमे सांस्कृतिक दृष्टिसे भी उत्तर भारतसे प्रायः पृथक् रहता रहा। विदर्भ, महाराष्ट्र, कोंकण, आन्ध्र, कर्णाटक, तमिल, तेलुगु और मलयालम दक्षिणापथके प्रमुख भाग रहे है।

वैदिक आर्योकी दृष्टिमे यह समस्त भू-भाग ईसवी सन्के प्रारम्भके भी बाद तक एक अनार्य अवैदिक देश रहा है जहाँ असुर एवं राक्षस आदिकोंका निवास था। किन्तु जैन अनुश्रुतिके अनुसार मानवी सभ्यताके प्रारम्भसे ही इस प्रदेशमें सभ्य विद्याधरोंकी नाग, ऋक्ष, वानर, किन्नर आदि जातियोंका निवास रहा है जो कि श्रमण संस्कृतिकी उपासक थी। ब्राह्मणीय अनुश्रुतिके अनुसार अगस्त्य सर्वप्रथम आर्य ऋषि थे जो विन्ध्याचलको पार करके दक्षिण भारतमे पहुँचे थे, परशुराम भी वहाँ गये कहे जाते है। अपने वनवास-कालमें रामचन्द्र उधर गये थे और वानरोंको सहायतासे लंकाके राक्षसराज रावणका अन्त करनेमे सफल हुए थे। इससे प्रतीत होता है कि रामायण-कालके लगभग वैदिक आर्योके

दो-एक छोटे-छोटे उपनिवेश दक्षिणापथमे स्थापित हो गये थे, किन्तु इस कार्यमे सन् ईसवीके प्रारम्भ तक कोई विशेष प्रगति नही हुई और दक्षिणापथ अधिकांशत: अवैदिक एवं अनार्य ही बना रहा। दूसरी ओर जैन अनुश्रुतिके अनुसार रामायण-कालके भी बहुत पूर्वसे मध्यदेशके मानवों और दक्षिणापथके विद्याधरोमे अबाध सम्पर्क रहे थे। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवने विजयार्धके दक्षिणमे स्थित नमि, विनमि आदि विद्याधर-नरेशोके साथ विवाह एव मैत्री सम्बन्ध भी किये थे और उनमे उत्तरापथके मानवोके साथ-ही-साथ जैनधर्मका प्रचार किया था। भरत चक्रवर्तीने अपनी दिग्विजयमे दक्षिणके भी समस्त देशोको विजय किया था। भरतके छोटे भाई बाहुबलिको पोदनपुरका राज्य मिला था जो एक अनुश्रुतिके अनुसार दक्षिणमे ही स्थित था। बाहुबलिकी विशाल मूर्त्तियोका निर्माण और उनकी उपासना सम्भवतया इसी कारणसे दक्षिण भारतमे इतनी अधिक रहती आयी है। रामायण-कालमे अयोध्याके सूर्यवशी दशरथ, राम, लक्ष्मण आदि, दक्षिणापथके पवनंजय, हनुमान् और बालि, सुग्रीव, नल, नील आदि वानरवंशी विद्याधर तथा लंकाके ऋक्षवंशी रावण, मेघनाद आदि, सब ही जैन धर्मके उपासक बताये गये है। ये विद्याधर लोग वैज्ञानिक आविष्कारो, लौकिक विद्याओ एवं कलाओ तथा धन और भौतिक शक्तिमे उत्तरापथके मानवो अथवा वैदिक आर्योंसे कही अधिक बढे-चढे थे किन्तु आध्यात्मिक उन्नति, धर्म, दर्शन और चिन्तनमे उन्होने मानवोके गुरु तीर्थंकरोके सम्मुख अपना मस्तक झुकाया था और उनके शिष्य एवं अनुयायी बने थे। उक्त विद्याधरोके वंशजोके लिए ही आधुनिक इतिहासकार द्रविड शब्दका प्रयोग करते है और द्रविड लोगोको अनार्य और अवैदिक ही नही भारतवर्षके प्रागार्य और प्राग्वैदिक निवासी मानते है, और इस बातकी सम्भावनाको भी स्वीकार करते है कि द्रविड जाति ब्राह्मण परम्पराके शैव वैष्णवादि धर्मोको अपनानेसे पहले जैन धर्मानुयायी थी। वस्तुत: रामायणके उपरान्त महाभारत कालमे गिरनारके

तीर्थंकर अरिष्टनेमिने दक्षिणापथमे स्वधर्मका विशेष प्रचार किया था। उनके भक्त हस्तिनापुरके कुरुवंशी पंचपाण्डव अन्ततः राज्यका परित्याग करके दक्षिणकी ओर चले गये थे और वहाँ जैन मुनियोंके रूपमे उन्होंने दुर्द्धर तपस्या की थी। उसी समयसे सुदूर दक्षिणके पाण्ड्य देश, पंच-पाण्डवमलय, मदुरा आदि स्थान प्रसिद्ध हुए। पार्श्वनाथके तीर्थमे प्रसिद्ध जिनभक्त करकण्डु दक्षिणापथके ही एक प्रमुख नरेश थे। तेरापुरकी गुफाओमे प्राप्त पुरातात्त्विक अवशेषोंसे करकण्डु चरित्रकी कथाका समर्थन होता है जिसके कारण करकण्डुको एक ऐतिहासिक व्यक्ति माना जाने लगा है। महावीरने भी दक्षिण देशमे धर्म-प्रचारार्थ विहार किया था और दक्षिणापथके हेमांगद देशका जीवन्धर नरेश उनका भक्त हुआ था। इसी प्रकार यशोधर, नागकुमार आदि भी प्रसिद्ध जैनधर्म भक्त दक्षिणी राजपुरुष थे। इन सत्पुरुषोंकी चरित्रगाथाओंका तमिल, कन्नड, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओमे दक्षिणापथमे प्राचीन कालसे ही प्रचार रहता आया है।

महावीरकी शिष्य-परम्परामे उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरके आठवे पट्टधर, अन्तिम श्रुतकेवलि भद्रबाहु प्रथम थे। अपने समयमें वही जैनसंघके अधिपति थे। उत्तरापथमे द्वादशवर्षीय भीषण दुर्भिक्ष पड़नेकी बात उन्होने अपने निमित्तज्ञानसे दुर्भिक्षके पूर्व ही जान ली थी। अतः अपने बारह हजार शिष्य साधुओके साथ उज्जैनी एवं गिरिनगर होते हुए उन्होने ई० पू० ३६६ में दक्षिण देशको विहार किया और कर्णाटक देशके कटवप्र नामक पर्वतपर म० सं० १६२ (ई० पू० ३६५) मे उन्होने शरीर त्याग किया था। इसके लगभग ५० वर्ष पूर्व ही मगध-नरेश नन्दिवर्धनने दक्षिणदेशके इस भाग (नागरखण्ड) को विजय करके मगध साम्राज्यमे मिला लिया था। भद्रबाहुके इतने बड़े संघको लेकर वहाँ जानेसे यह बात स्वतः प्रमाणित है कि उक्त प्रदेशमें जैनधर्मकी प्रवृत्ति और जैनोंका निवास उसके पूर्वसे ही था। यदि ऐसा न होता तो इतने जैनमुनि एक साथ उस ओर

प्रयाण न करते। इस युक्तिके औचित्यको प्रायः सभी आधुनिक विद्वान् मानने लगे हैं। भद्रबाहुकी मृत्युके उपरान्त संघने उसी स्थानको अपना प्रधान केन्द्र बनानेका और वहीसे दक्षिणापथके समस्त भागोमे धर्म-प्रचार करनेका निश्चय किया। विशाखाचार्य संघके अधिपतिके रूपमे आचार्य भद्रबाहुके उत्तराधिकारी हुए। तदनन्तर मुनिरूपमे चन्द्रगुप्त मौर्यने भी संघकी अध्यक्षता की। दुर्भिक्षकी उपशान्तिके उपरान्त भी इस सघके मुनियोंने मगध वापस न जाना चाहा, वैसे व्यक्तिगत रूपसे इन दक्षिणी जैनमुनियोका उत्तरापथकी ओर विहार होता रहता था और वहाँके विभिन्न भागोमे अवस्थित जैनसंघोसे सम्पर्क भी बना रहता था। कर्णाटक देशका उक्त कटवप्र पर्वत जहाँ स्थित था वह स्थान कालान्तरमे श्रवणबेलगोल (श्रवणोका श्वेत सरोवर) नामसे प्रसिद्ध हुआ और भद्रबाहु श्रुतकेवलिका समाधि-स्थान तथा मूलसंघका प्रधान केन्द्र होनेके कारण सम्पूर्ण भारतवर्ष-के जैनोके लिए उसी समयसे एक प्रधान धर्मतीर्थ बन गया।

भद्रबाहु श्रुतकेवलि महावीर-द्वारा उपदेशित द्वादशांग श्रुतके पूर्ण ज्ञानी थे। उनके समय तक ग्यारह अंग और चौदह पूर्वोका सम्पूर्ण ज्ञान अक्षुण्ण था, किन्तु उनके पश्चात् उक्त ज्ञानमे ह्रास होने लगा। निस्पृह तपस्वी निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु आगमोके संकलन और साहित्य-सृजनकी आवश्यकता नही समझते थे और उसके लिए साधन समारम्भ परिग्रह मानते थे, उसे अपने नियम, संयम और पदके लिए बाधक समझते थे, अत. गुरु-शिष्य-परम्परामे मौखिक द्वारसे ही संघने आगम संरक्षणकी व्यवस्था आचार्य, उपाध्याय, वाचकाचार्य, उच्चारणाचार्य, पृच्छकाचार्य इत्यादि साधुवर्गो-द्वारा की। किन्तु इस व्यवस्थासे भी कालदोषसे होनेवाला ह्रास न रुक सका। भद्रबाहुके विशाखाचार्य आदि क्रमशः ११पट्टधर ई० पू० ३६५–१८४ के बीच हुए। उनके समयमे बारहवे अगके १४ पूर्वोमे-से १० पूर्वोका ज्ञान ही पूर्ण रहा, शेप चार पूर्वोका एकदेश ही ज्ञान रहा। तदनन्तर ५ आचार्य १८४–६१ ई० पू० मे हुए, उनके समयमे सभी पूर्वोका ज्ञान

एकदेश रह गया। भद्रबाहुकी परम्पराके ये मुनि निर्ग्रन्थ दिगम्बर थे और अपने संघको मूलसंघ कहते थे। महानन्दिन, चन्द्रगुप्त मौर्य, बिन्दुसार और अशोकके साम्राज्यमे दक्षिण भारतका बहुत-सा भाग सम्मिलित था। इन नरेशोंने राजनैतिक वा अन्य कारणोंसे दक्षिणकी यात्राएँ भी की प्रतीत होती हैं। चन्द्रगुप्तके विषयमे तो यह अनुश्रुति है ही कि उसने अपने आम्नायगुरु भद्रबाहुके समाधि-स्थान—श्रवणबेलगोलमें जाकर तपस्या की थी और आचार्यके रूपमे जैनसंघका नेतृत्व भी किया था। अशोकके शिला-लेख भी कर्णाटक देशस्थ मस्की आदि स्थानोमे मिले हैं। अशोकके समयमे ही कुछ बौद्ध प्रचारक दक्षिण देशोमे सर्व प्रथम पहुँचे और तबसे वहाँ बौद्धधर्मका भी धीरे-धीरे प्रचार होने लगा। इसी समयके लगभग दक्षिणमे शैवधर्मका भी उदय हुआ प्रतीत होता है। सम्राट् खारवेलका दक्षिणके अनेक राज्योंसे राजनैतिक सम्बन्ध था। उसने दक्षिणापथकी भी दिग्विजय की थी और मूषिक, राष्ट्रिक, भोजक आदि राज्योंको अपने अधीन किया था। पैठनके सातवाहन शातकर्णीको भी उसने हराया था और पाण्ड्य देशका राजा उसका मित्र था। खारवेलके समयसे ही दक्षिण भारतका आधुनिक राजनैतिक इतिहास वस्तुतः प्रारम्भ होता है और उसी समयसे उस देशका साहित्यिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास भी। इस इतिहासके प्रारम्भमें हम यही पाते है कि सम्पूर्ण दक्षिण भारतकी प्रधान संस्कृति श्रमण संस्कृति थी। तमिल भाषाका सर्व-प्राचीन साहित्य संगम साहित्य है, जिसके प्राथमिक सृजक अधिकतर जैन विद्वान् थे। उसीके साथ-साथ, प्रथम शती ई० पू० से ही, मथुराके सरस्वती आन्दोलनसे प्रभावित होकर दक्षिणके ही जैनाचार्योंने प्राकृत भाषामे भी आगमिक, आध्यात्मिक, धार्मिक एवं नैतिक साहित्यका सृजन करना प्रारम्भ कर दिया था। सुदूर दक्षिणके विभिन्न भागोमे सित्तनवासल (सिद्धोंका स्थान) आदि स्थानोमे २री–३री शती ई० पू० के ब्राह्मी लेखोसे युक्त प्राचीन जैन गुफाएँ जैन धर्मके उपरोक्त प्रसार एवं

प्रभावकी सूचक है।

सम्राट् खारवेलके उपरान्त दक्षिणापथमे पैठनके सातवाहनोका उत्कर्ष हुआ जिसका वर्णन पूर्व अध्यायमे किया जा चुका है। दूसरी शती ई० के अन्त तक सातवाहन शक्ति सर्वोपरि रही। इस बीचमे दक्षिण भारतके विशेषकर जैन इतिहासमे कई महत्त्वपूर्ण घटनाएं हो गयी थी। ई० पू० ३७–१४ मे आचार्य भद्रबाहु द्वितीय द्वादशांगके नव अंगोके पूर्ण ज्ञाता तथा शेष अंगों एवं पूर्वोके एक-देशज्ञाता भगवान् महावीरकी शिष्य-परम्परामे २७वे पट्टधर थे और दाक्षिणात्य मूलसंघके अधिपति थे। उनके समय तक सरस्वती आन्दोलनके बावजूद जैन मुनियोमे साहित्य प्रणयनकी प्रवृत्ति प्रारम्भ नही हुई थी और न आगमोका संकलन ही हुआ था। इन आचार्यने सर्वप्रथम अपने शिष्योको उक्त कार्योके लिए छूट दे दी। उनके पट्टशिष्य लोहाचार्य (१४ ई० पू०–३८ ई०) भारी धर्म-प्रचारक थे। पंजाब और सिन्धकी ओर भी उन्होने धर्म-प्रचारार्थ विहार किया था। आग्रोतक (आग्रोहे) जनपदके गणतन्त्री अग्रवालोंमे जैन धर्मका प्रचार करनेमे उन्हे विशेष सफलता मिली। इन्ही आचार्यने तीर्थंकरोकी काष्ठमूर्त्तियाँ निर्माण करनेकी भी अनुमति दे दी जिसके कारण कालान्तरमे उत्पन्न होनेवाले काष्ठासंघने लोहाचार्यको ही उक्त संघका मूल प्रवर्तक माना। इन्हीके सम-कालीन दक्षिण भारतके कर्णाटक देशमे कुन्दकुन्दाचार्य नामके आचार्य थे। भद्रबाहु द्वितीयको ये अपना गुरु मानते थे किन्तु पट्ट परम्परासे इनका साक्षात् सम्बन्ध नही था। मथुराके आचार्य कुमारनन्दिको भी, जिनका अपरनाम सम्भवतया स्वामी कुमार था, कुन्दकुन्द शायद अपना गुरु मानते थे। सम्भव-तया इन स्वामी कुमारने ही कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा नामक प्राकृत ग्रन्थकी रचना की थी। सन् २१ ई० तक इन आचार्यका अस्तित्व पाया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्दने सम्पूर्ण भारतमे भ्रमण किया और धर्म प्रचार किया, इन्होने ही परम्परागमके आधारपर ८४ पाहुड ग्रन्थोकी स्वतन्त्र रचना की। इनके ग्रन्थ प्राकृत भाषामे है और अध्यात्म-प्रधान है, और जैन साहित्यकी सर्व-

प्राचीन ज्ञात लिखित कृतियोंमे-से है। तमिल भाषाके संगम साहित्यके भी ये प्राथमिक प्रेरकोंमें-से थे। तमिल देशमे ये सम्भवतया एलाचार्यके नामसे प्रसिद्ध थे और तिरुवल्लुवर-द्वारा संकलित तमिल भाषाके विश्वविख्यात नैतिक ग्रन्थ कुरल काव्यके मूल प्रणेता थे। ये कर्णाटक देशके कोण्डकुण्ड नामक स्थानके मूल निवासी थे। गुण्टकल रेलवे स्टेशनसे ४–५ मीलकी दूरीपर स्थित इस नामका गाँव अभीतक विद्यमान है और उसके निकटकी पहाडियोंपर बनी प्राचीन जैन-गुफाओंमे इन्होंने तपस्या की थी, ऐसा अनुमान किया जाता है। नन्दी पर्वतकी गुफाओंमे इन आचार्यका निवास रहा प्रतीत होता है। इन आचार्यका मुनि-जीवन सन् ८ ई० पू० से ४४ ई० पर्यन्त ५२ वर्ष रहा। दिगम्बर आम्नायमे कुन्दकुन्दका नाम भगवान् महावीर और गौतम गणधरके साथ-साथ लिया जाता है। रामकृष्ण गोविन्द भण्डारकर, पीटर्सन आदि अनेक प्राच्यविदोंके मतसे ये आचार्य अत्यन्त प्राचीन एवं सर्व-महान् जैनाचार्योंमे प्रमुख हैं। अपनी साहित्यिक कृतियों-द्वारा इन्होंने सरस्वती आन्दोलनको सफल किया। इन्हीके समकालीन आरातीय यति शिवार्यने 'भगवती-आराधना' नामक महान् ग्रन्थकी रचना की, विमलसूरिने सन् ३ ई० मे प्राकृत पउमचरिउ (जैन रामायण) की रचना की, सन् २५ ई० के लगभग आचार्य गुणधरने कसायपाहुड नामक आगम ग्रन्थका उद्धार, संकलन एवं लिपि-बद्धीकरण किया, इसी समय (४०–७५ ई०) मे गिरिनगरकी चन्द्रगुफामे आचार्य धरसेन निवास करते थे जिन्हे महाकर्मप्रकृतिपाहुड नामक आगमका पूर्ण ज्ञान था। इस समय मूलसंघके विधिवत् अधिपति एवं पट्टधर आचार्य अर्हद्बलि अपरनाम गुप्ति-गुप्त (३८–६६ ई०) थे और क्षहरातवंशी महाराज नहपान उज्जैन एवं सुराष्ट्रका अधिपति था तथा गौतमीपुत्र शातकर्णी पैठनका सातवाहन नरेश था। ६५ ई० के लगभग युद्धमे गौतमीपुत्र शातकर्णीसे पराजित होकर नहपान जैन मुनि हो गये थे और भूतबलि नामसे प्रसिद्ध हुए। सन् ६६ ई० के लगभग संघनायक अर्हद्बलिने वेण्या नदीके तटपर

स्थित महिमानगरी (वर्तमान कोल्हापुर राज्यका महिमानगढ ?) मे एक विशाल मुनि-सम्मेलन किया और सुविधाके लिए मूलसंघको नन्दि, देव, सेन, सिंह, भद्र आदि उपसंघोमे विभाजित कर दिया। इसी सम्मेलन-से आचार्य धरसेनके आमन्त्रणपर आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलिको उनके पास गिरिनगर भेजा गया और उन्होने इन शिष्यद्वयको जो आगम ज्ञान उन्हे साक्षात् था प्रदान किया और उसे लिपिबद्ध करनेका आदेश दिया। इस प्रकार लगभग ७५ ई० मे उक्त दोनों गुरुओं-द्वारा षट्खण्डागम सिद्धान्तके रूपमे महावीर-द्वारा उपदेशित आगमोके इस महत्त्वपूर्ण अंशका भी उद्धार एवं संकलन हो गया। ७३ ई० मे आचार्य धरसेनने स्वयं जोनिपाहुड नामक मन्त्रशास्त्रकी रचना की थी। कुन्दकुन्दके शिष्य उमा-स्वामिने (४०–९० ई०) संस्कृत भाषामे सूत्र शैलीमे तत्त्वार्थाधिगमसूत्र नामक महान् एवं सुप्रसिद्ध ग्रन्थकी रचना की। दक्षिण देशस्थ मूलसंघके गुरुओकी इन प्रवृत्तियोने जिनमे मथुराके तथा मालवा और गुजरातके सिवाय अन्य प्रदेशोके निर्ग्रन्थ गुरुओंका भी पूर्ण समर्थन और सहयोग था जैनसंघको सदाके लिए दो सम्प्रदायोंमे विभक्त कर दिया। सन् ७९–८२ ई० मे स्थूलभद्रकी शिष्य-परम्पराके मागधी साधुओने जो अब उज्जैन एवं सुराष्ट्रमे केन्द्रित थे श्वेताम्बर सम्प्रदायका रूप लेकर अपने-आपको मूलसंघ-से पृथक् कर लिया और शेष संघको बोण्टिकमत, अचेलक सम्प्रदाय या दिगम्बर आम्नाय नाम दिया। ७८ ई० मे ही पश्चिम भारतमे भद्रचष्टन वंशकी स्थापना हो चुकी थी और महाक्षत्रप चष्टनने उज्जैनपर अधिकार करके शक-संवत्का प्रवर्तन कर दिया था। इसी समयके लगभग प्रसिद्ध सतसईका लेखक नृप हाल शालिवाहन या सातवाहन वंशमे एक प्रसिद्ध नरेश हुआ। ९१ ई० मे श्रीकलश नामक जैनाचार्यने जो कि आरातीय आचार्य शिवार्यकी शिष्य-परम्परामे-से थे यापनीय संघकी स्थापना की। शिवार्य आदि आचार्य दिगम्बर श्वेताम्बर संघभेदका निवारण करनेके लिए प्रयत्नशील रहे थे और समझौतेके पक्षमे थे। प्रयत्न विफल होनेपर

उनके अनुयायियोंने नया सम्प्रदाय स्थापित कर लिया। सन् १०० ई० के लगभग आचार्य कुन्दकीर्त्तिने संकलित आगमोंपर सर्व-प्रथम टीका लिखी। सम्भवतया इनके विद्यागुरु स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द थे किन्तु दीक्षागुरु माघनन्दिके पट्टधर जिनचन्द्र थे। इन कुन्दकीर्त्तिका ही अपरनाम पद्मनन्दि रहा प्रतीत होता है और ये ही नन्दिसंघकी पट्टावलिमें जिनचन्द्रके पश्चात् उल्लिखित हुए है। उपरोक्त विवरण तथा उसमें उल्लिखित जैनगुरुओंके इतिहाससे यह स्पष्ट है कि ई० सन् के आगे-पीछेकी दो-तीन शताब्दियोंमें कलिंगसे गुजरात-सुराष्ट्र पर्यन्त और मध्य भारतसे लंका पर्यन्त सर्वत्र जैनधर्म और जैनगुरुओंका प्रसार था। गिरिनगर, अंकुलेश्वर (भड़ौच), महिमानगरी, वेण्यातट, बनवास देश, द्रविड देश, कर्णाटक आदि विभिन्न भौगोलिक नाम उस सम्बन्धमें बार-बार आते है।

इन शताब्दियोंमें दक्षिणापथमें सर्वमहान् शक्ति आन्ध्र सातवाहनोंकी थी, पश्चिमी भागमें चष्टनवंशी शक क्षत्रपोंका अभ्युदय था और सुदूर दक्षिणमें चोल, चेर, पाण्डच, सत्यपुत्र, केरल आदि छोटे-छोटे आदिम राज्य थे। तमिल-भाषाका प्रथम संगम (संघ) इसी कालमें हुआ और उसके प्रेरक द्रविडदेशके कुन्दकुन्द आदि जैनगुरु ही रहे प्रतीत होते हैं। ये तमिलराज्य समृद्ध और शान्तिपूर्ण थे, रोम आदि सुदूर देशोंके साथ भी उनका समुद्री व्यापार बढ़ा-चढ़ा था। प्रथम शती ई० के उत्तरार्धमें एक पाण्डच नरेशने रोमन सम्राट् ऑगस्टसके दरबारमें राजदूत भेजा था। उसी कालमें चोलराज्यमें पाण्डुचेरीके निकट एक रोमन व्यापारी कोठी भी स्थापित हुई थी। तमिल देशोंके राज्यवंशोंमें नाग प्रभाव अधिक रहा प्रतीत होता है। दूसरी शतीमें सातवाहनोंकी शक्तिका उत्तरोत्तर ह्रास होता गया और दक्षिणापथके दक्षिणार्धमें सातवाहनोंके प्रतिनिधि कतिपय नागमहारथी शासक थे, एवं कुछ स्वतन्त्र नाग-सत्ताएँ थी। इन नागराज्योंने मिलकर एक फणिमण्डल (नागमण्डल)की स्थापना की थी। दक्षिणी नागराज्योंका यह शक्तिशाली संघ था। पेरिप्लसके समय (८० ई०) तक पूर्वोत्तरका नागराज्य अविभक्त

था किन्तु टॉलेमी (१५० ई०) के समय तोण्डेयमण्डलम् चोलराज्यसे पृथक् हो गया। २री शतीके प्रारम्भमें उरैयूर (उरगपुर–वर्तमान तिरुचिरापल्ली) का नागनरेश कीलिकवर्मन चोल था। यह राजा शक्ति-शाली था। उसका कनिष्ठ पुत्र शान्तिवर्मन था जिसका जन्म १२० ई० के लगभग हुआ था। कुमारावस्थामें ही बलाकपिच्छ नामक जैनाचार्यसे दीक्षा लेकर वह जैनमुनि हो गया और समन्तभद्र नामसे विख्यात हुआ। समन्तभद्रकी युवावस्थामें ही तोण्डेयमण्डल चोल राज्यसे पृथक् हो चुका था और समन्तभद्रका प्रारम्भिक मुनिजीवन कांचीमें ही बीता इसलिए वे अपने-आपको काचीका नग्न तपस्वी कहते थे। काचीके महारथी स्कन्दनाग की कन्या चुटुपल्लवसे विवाही थी। अतः नागराजकी मृत्युके बाद पल्लवके पुत्र विरुकुरुचने कांचीमें पल्लव वंशकी स्थापना की। सम्भवतया इसीका नाम तोण्डेमान इलन्दिरैयन भी था। पाण्डच देशके राजा इस कालमें नेन्दुजालियान और तलैयालमकानम् थे। चेरराज्यका स्वामी सेगुंयुवन था जो बड़ा शक्तिशाली था। चोल देशपर कारिकल चोलका राज्य था, यह राजा भी युद्ध और शान्ति दोनोंमें ही महान् था। इस कालमें लंकामें गजबाहु प्रथमका शासन था। बनवास देशकी करहाटक नगरीमें सातवाहनो-के एक अन्य सामन्तने कदम्ब वंशकी नीव डाली थी। प्रथम कदम्ब नरेशका उत्तराधिकारी १५० ई० के लगभग शिवस्कन्दश्री था। आचार्य समन्तभद्र से सम्बन्धित जैन अनुश्रुतिका राजा शिवकोटि यही व्यक्ति प्रतीत होता है। भस्मक रोग हो जानेपर इसी राजाके शिवालयमें आचार्यने रोगकी उपशान्ति की थी और स्वयम्भूस्तोत्रकी रचना-द्वारा अपने योगबल एवं गाढ भक्तिका चमत्कार दिखाया था। फलस्वरूप राजा शिवकोटि और उसका भाई शिवायन आचार्यके शिष्य हो गये और जैनमुनि हो गये। मुनि शिवकोटिने ही तत्त्वार्थसूत्रपर रत्नमाला नामकी सर्वप्रथम टीका लिखी थी। शिवकोटिके पश्चात् उसका पुत्र श्रीकण्ठ राजा हुआ, तदनन्तर शिवस्कन्दवर्मन और फिर २५८ ई० के लगभग चन्द्रवल्ली अभिलेखका

राजन् मयूरवर्मन हुआ। कदम्बोकी अनुश्रुतिके अनुसार वे हारीतकी सन्तान मानव्य गोत्री ब्राह्मण थे। सम्भवतया नाग-ब्राह्मण मिश्रणसे उत्पन्न वे ब्रह्मक्षत्रिय थे। मयूरवर्मनके समयसे ही कदम्ब वंशका उत्कर्ष हुआ।

इस कालमे जैनसंघमें स्वामी समन्तभद्र (१२०-१८५ ई०) महान् वादी, वाग्मी, तपस्वी, योगी, धर्म-प्रचारक तथा ग्रन्थ-प्रणेता थे। दक्षिणी फणिमण्डलमे स्थित उरगपुरके चोलवंशी नाग नरेशके वे पुत्र थे और कांची-के नाग महारथी तथा प्रथम पल्लव राजे एवं करहाटकके प्रारम्भिक कदम्ब राजे उनके भक्त थे। ये आचार्य द्रविड़ संघके मूल प्रवर्तकोमे-से थे। उन्होने पुण्ड्रवर्धन, पाटलिपुत्र, वाराणसी, ठक्क, सिन्ध, मालवा, विदिशा, दशपुर, कांची, करहाट आदि सम्पूर्ण भारतवर्षके तत्कालीन सभी ज्ञान-केन्द्रोमे भ्रमण किया और अन्य धर्मोके विभिन्न विद्वानोके साथ सैकड़ो सफल शास्त्रार्थ किये थे। बौद्धाचार्य नागार्जुन उनके समकालीन एवं प्रति-स्पर्धी थे। इन्हीके समकालीन मथुरा संघके प्रसिद्ध आचार्य नागहस्ति और उनके शिष्य वह यतिवृषभाचार्य थे जिन्होने कसायपाहुड आगमपर चूर्णिसूत्र रचे और १७६ ई० मे तिलोयपण्णत्ति नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की थी। इन्हीके जीवनमे सन् १५६ ई० मे महावीरकी उस शिष्य-परम्पराका अन्त हुआ जो परम्परागमके साक्षात् ज्ञानकी मौखिक द्वारसे संरक्षक थी। समन्तभद्रके ही एक शिष्य आचार्य सिंहनन्दिको सन् १८८ ई० मे दद्दिग और माधव नामक भ्रातृद्वयके हाथों कर्णाटकके प्रसिद्ध गंगवंश और गंगवाडि राज्यकी स्थापनाका श्रेय है।

इस प्रकार दूसरी शताब्दीके अन्त तक दक्षिण भारतमे पाण्डय, चोल और चेर नामक प्राचीन छोटे-छोटे तीन तमिल राज्योंके अतिरिक्त पूर्वी तटपर तोण्डेयमण्डलमे कांचीका पल्लव राज्य, बनवास देशमे करहाट और तदनन्तर वैजयन्तीका कदम्ब राज्य और कर्णाटकमे गंगवाडिका गंग-राज्य—ये तीन प्रसिद्ध नये राजवंश स्थापित हो गये थे। इनके अतिरिक्त दक्षिणापथमे सातवाहन शक्तिके पतनसे लाभ उठाकर दक्षिणके विभिन्न

भागोमे चुटु और नाग लोगोके, जो कि आन्ध्रभृत्य भी कहलाते थे, छोटे-छोटे शक्तिशाली किन्तु अल्पस्थायी राज्य स्थापित हो गये थे। पश्चिमी भागमे शकक्षत्रप शक्तिशाली थे। आन्ध्रदेशमे इक्ष्वाकुओका राज्य था। नासिक और खानदेशपर लगभग ७० वर्ष आभीरोका राज्य रहा। तदनन्तर वहाँ प्राचीन रट्ठिक एवं भोजोके वंशजो–राष्ट्रिकोका आधिपत्य हुआ और ३रीसे ६ठी शती पर्यन्त वे वहाँ राज्य करते रहे। ५वी शतीमें चालुक्योके उदयके कारण राष्ट्रिक गौणताको प्राप्त हुए और फिर ८वी शतीमे राष्ट्रकूटोके रूपमे उनका उत्थान हुआ। अब आगे ३रीसे १०वी शती पर्यन्त दक्षिण भारतका इतिहास कदम्ब, पल्लव, गंग, चालुक्य और राष्ट्र-कूट राजवंशोका ही इतिहास है।

पल्लव वंश—पूर्वी तटपर दक्षिण भारतके तमिल प्रदेश (वर्तमान मद्रास राज्य) मे २री शती ई० के उत्तरार्धमे पल्लव वंशकी स्थापना हुई थी। कांजीवरम् (काची या दक्षिण काशी) इस राज्यकी राजधानी थी। यह प्रदेश उस कालमे तोण्डेयमण्डलम् या तोण्डेयनाड कहलाता था। कहा जाता है कि कीलिकवर्मन चोलके एक पुत्रके साथ मणिपल्लवम् द्वीपकी नागी राजकन्याके विवाह सम्बन्धसे उत्पन्न चुटुपल्लव नामक व्यक्ति इस वंशका मूल संस्थापक था। आन्ध्रोके करद सामन्त महारथी स्कन्द नागसे उत्तराधिकारके रूपमे उसे इस प्रदेशका राज्य मिला था। उसका पुत्र विष्कुरुच पल्लव वंशका प्रथम महत्त्वपूर्ण राजा था। उसके बाद स्कन्द-वर्मन राजा हुआ, यह युवराज और धर्ममहाधिराज भी कहलाता था। प्रारम्भिक पल्लव राजे आन्ध्रोके सामन्तोके रूपमे ही रहे किन्तु ३री शतीमे आन्ध्रोका ह्रास होनेपर वे स्वतन्त्र हो गये और आन्ध्र साम्राज्यके कृष्णा नदीसे लेकर अरब सागर पर्यन्त समस्त दक्षिणी भागपर उन्होने अधिकार कर लिया। पल्लवोके मूल पुरुषकी भाँति ही स्वामी समन्तभद्र भी कीलिकवर्मन चोलके ही एक पुत्र थे और स्वयंको कांचीका निवासी ही घोषित करते थे। अतः प्रारम्भिक पल्लव राजाओपर स्वामी समन्तभद्र और उनके

धर्मका प्रभाव रहा प्रतीत होता है। प्रारम्भिक पल्लव राजाओके, विशेषकर शिवस्कन्दवर्मनके उत्तराधिकारी सिहवर्मन प्रथमके प्राकृत अभिलेख भी प्राप्त हुए है। शिवस्कन्दवर्मन स्वयं आगमोके टीकाकार जैनगुरु बप्पदेवका शिष्य था। पल्लवोंका राज्यचिह्न वृषभ था इसीलिए ये वृषध्वज भी कहलाये। सिहवर्मनके उपरान्त बुद्धवर्मन और फिर कुमारविष्णु (३२५-५० ई०) राजा हुआ। तदनन्तर विष्णुगोप गद्दीपर बैठा जो समुद्रगुप्तका समकालीन था और जिसका उल्लेख उक्त गुप्त सम्राट्की प्रयाग प्रशस्तिमे कांचेयक विष्णुगोप नामसे हुआ है। विष्णुगोपके उपरान्त इस वंशका प्रसिद्ध नरेश सिहवर्मन द्वितीय था जिसके राज्यके २२वे वर्षमे शक सं० ३८० (सन् ४५८ ई०) में पाणराष्ट्रके पाटलिक ग्रामके जिनालयमे जैनाचार्य सर्वनन्दिने अपना प्राकृत लोकविभाग ग्रन्थ पूर्ण किया था। यही सर्वप्रथम सुनिश्चित तिथि है जो पल्लवोके इतिहासमे अबतक मिली है। यह राजा जैनधर्म और जैनगुरुओंका आश्रयदाता था। उसके उपरान्त दो-तीन राजा और हुए और सन् ५५० ई० के लगभग कुमारविष्णुसे प्रारम्भ होनेवाली पल्लव वंशकी इस दूसरी शाखाका अन्त हुआ।

सिहविष्णु पल्लव (५५०-६०० ई०) से पल्लवोकी तीसरी शाखाका प्रारम्भ हुआ और इस शाखाके समयमे ही पल्लव राज्यका चरम उत्कर्ष हुआ। सिहविष्णुके आश्रयमें महाकवि भारविने अपने जीवनके कुछ अन्तिम वर्ष बिताये थे। सिहविष्णुका उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मन प्रथम (६००-६३० ई०) था। वह जैनधर्मका अनुयायी था। कई जैनमन्दिर और सित्तनवासलकी गुफाएँ उसने बनवायी थी। सुदूर दक्षिणमे पार्वतीय गुफा मन्दिरोका निर्माण करानेवाला वही प्रथम नरेश था। इन जैन-गुफाओमे भित्तिचित्र भी मिले है। इन चैत्यालयोके निर्माणके कारण उस राजाको चैत्यकन्दर्प उपाधि प्राप्त हुई थी। शैवसन्त अप्परके, जो पहले स्वयं भी जैन ही था, प्रभावमे आकर यह राजा शैव हो गया था और तब इसने जैनोपर अत्याचार भी किये और कई जैन देवालयोंको भी शैवालयोमे परिवर्तित

किया। जैनोंके स्थानमे शैवनयनारोंको उसने प्रोत्साहन दिया। वह साहित्यरसिक भी था और मत्तगयन्द प्रहसनका लेखक था। उसके समयमे चालुक्य पुलकेशी द्वितीयने पल्लव राज्यपर आक्रमण किया था। महेन्द्र-वर्मनका उत्तराधिकारी नरसिंहवर्मन प्रथम (६३०–६८ ई०) प्रतापी नरेश था। उसने केरल, चोल, पाण्ड्य, चालुक्य और सिंहलके नरेशोंको युद्धमे पराजित किया था किन्तु चालुक्य विक्रमादित्यने उसे बुरी तरह पराजित किया। उसके पास एक जहाजी बेडा भी था। यह राजा भी शैवनय-नारोका समर्थक था। उसीके शासनकालमे चीनीयात्री हुएनसाग काची आया था किन्तु बावजूद शैवनयनारोके उत्थान एवं राज्याश्रयके उस समय भी वहाँ जैन और बौद्ध दोनो ही धर्मोके साधु, देवालय, मठ और अनुयायी पर्याप्त संख्यामे थे। यह राजा निर्माता भी था और उसके राज्य-मे व्यापार, समृद्धि, सुख और शान्ति थी। उसके उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मन द्वितीयका राज्य अल्पस्थायी और घटना-शून्य था। तदनन्तर नरसिंहवर्मन द्वितीय (६९०–७१५ ई०) शैवधर्मका बडा समर्थक हुआ, पाषाणके कई शैव-मन्दिर भी उसने बनवाये। परमेश्वरवर्मन प्रथम और द्वितीय इस शाखाके अन्तिम नरेश थे। सन् ७०५ ई० के लगभग नन्दिवर्मन पल्लवमल्लने सिंहासन हस्तगत किया और ७९५ ई० तक राज्य किया। यह राजा बडा पराक्रमी था, चालुक्यो, राष्ट्रकूटो और गंगोसे उसके अनेक युद्ध हुए। उसके समयमे वैष्णव सन्त अलवर हुआ, राजा भी उसका अनुयायी हुआ और शैवनयनारोके साथ अब वैष्णव अलवर भी जैन और बौद्धधर्मोके प्रतिद्वन्द्वी बने। इसीके शासनकालमे सन् ७८८ ई० मे शंकराचार्यके प्रभावसे काची प्रदेशके बौद्धोका लंकाके कैण्डी प्रदेशको निर्वासन हुआ प्रतीत होता है। इस राजाने काचीका विष्णुमन्दिर बनवाया। वह विद्वानोका भी आदर करता था। उसके पुत्र दन्तिवर्मनने ७९५ से ८४५ ई० तक राज्य किया। उसकी माता राष्ट्रकूट राजकुमारी रेवा थी तथापि उत्तरकी ओरसे राष्ट्रकूटोका और दक्षिणकी ओरसे

पाण्ड्य नरेशोंका दबाव उसे निरन्तर सहना पडा जिससे उसके राज्यको पर्याप्त क्षति हुई। उसका उत्तराधिकारी नन्दिवर्मन तृतीय (८४४–६०ई०) था। पाण्ड्य नरेशको मार श्रीवल्लभके विरुद्ध उसने गंग, चोल, राष्ट्रकूट और सिंहल नरेशोंसे मैत्रीसम्बन्ध स्थापित किये और तेल्लारुके प्रसिद्ध युद्धमे वह पाण्ड्य राजाको हराकर उसके राज्यमे घुस गया किन्तु कुम्बकोनमके निकट स्वयं हारकर वापस लौट आया। इसकी नौ-सेना भी शक्तिशाली थी। उसके पुत्र नृपतुंगवर्मनने, जो अमोघवर्ष प्रथमकी पुत्री शंखासे उत्पन्न हुआ था, पिताका बदला लेनेके लिए पाण्ड्य राजाको हराया। यह नरेश अपने नानाकी भाँति जैनधर्मका समर्थक था। इस वंशका अन्तिम नरेश अपराजित था। १०वी शताब्दीमे चोल सम्राटोके अभ्युत्थानने पल्लव राज्यका अन्त किया। पल्लवोकी ही एक शाखा नोलम्बवाडीके नोलम्ब थे। नोलम्बवशमे जैन धर्मकी प्रवृत्ति प्रायः निरन्तर बनी रही।

पल्लववंशके प्रायः सभी नरेश विद्याओं और कलाओके पोषक थे और विद्वानोका आदर करते थे। उनकी राजधानी एक प्रसिद्ध ज्ञान-केन्द्रके रूपमे उत्तरापथकी काशीसे होड़ करती थी। इस नगरीमे विभिन्न धर्मोके विद्वान् परस्पर शास्त्रार्थ करते थे जिनमे राजा और प्रजा सभी रस लेते थे। प्राकृत, संस्कृत और तमिल तीनो ही भाषाओमे श्रेष्ठ धार्मिक एवं लौकिक साहित्यका पल्लव नरेशोके आश्रयमे सृजन हुआ। ७वी शती ई० के पूर्व पल्लव राज्यमे जैन और बौद्ध धर्मोकी ही प्रधानता थी, तदुपरान्त शैव और वैष्णव धर्मोंका प्रसार हुआ। जैन, बौद्ध, शैव, और वैष्णव, चारों ही धर्म इस राज्यमे साथ-ही-साथ फलते-फूलते रहे और इस वंशके कुछ-न-कुछ नरेश इनमे-से प्रत्येक धर्मके अनुयायी रहे। ७वी-८वी शताब्दीसे शैव और वैष्णवोने जैनो और बौद्धोपर भीषण अत्याचार करने प्रारम्भ कर दिये। फलस्वरूप बौद्धधर्म तो इस देशसे शीघ्र ही तिरोहित हो गया किन्तु दक्षिणके विद्वान् जैनगुरुओ, उनके

संघोंके संगठन, अनेक पडोसी राजाओं तथा सामन्त सरदारोंकी जैनधर्ममें आस्था आदि कारणोसे जैनधर्म पल्लव राज्यमे अन्त तक बना रहा और उक्त प्रदेशमें तो मध्यकालके अन्त तक बना रहा। हुएनसांग आदिके विवरणो, जैन पुरातात्त्विक अवशेषों, तथा जैनो-द्वारा निर्मित तमिल साहित्यके आधारपर प्रायः सभी विद्वानोंका यह मत है कि पल्लवोके राज्यमे जैन बहुसंख्यक थे और यह धर्म अच्छी अवस्थामे था।

पाण्ड्य राज्य—जैसा कि वर्णन किया जा चुका है पाण्ड्य देश और राज्य तथा उसकी राजधानी मदुरा (मधुरा या दक्षिण मथुरा) अत्यन्त प्राचीन है। ईसवी सन्‌के बहुत पूर्वसे इनकी अवस्थिति थी। ईसवी सन्‌के प्रारम्भके लगभग पाण्ड्य राज्य अत्युन्नत अवस्थामे था। रोमके सम्राटों तकसे उसके राजनैतिक सम्बन्ध थे। ई० पू० २५ मे तत्कालीन पाण्ड्य नरेशने एक जैन श्रमणाचार्यको सुदूर रोमके सम्राट् ऑगस्टसके दरबारमे अपना राजदूत बनाकर भेजा था। भड़ौचके बन्दरगाहसे जलपोत-द्वारा यह विदेश यात्रा प्रारम्भ हुई थी। उक्त मुनिने अपना अन्त निकट जानकर रोम नगरमे सल्लेखना-द्वारा देह त्याग दी थी, और वहाँ उनकी समाधि बनी थी। राजधानी मदुरामे ही सर्वप्रथम तमिल भाषाके संगम साहित्यका प्रणयन हुआ। एलाचार्य (कुन्दकुन्द) आदि जैनगुरु संगम-साहित्यकी प्रवृत्तिके नेता थे। उक्त साहित्यके आद्य ग्रन्थ तिरुकुरल, तोलकप्पियम, नलादियर आदिका प्रणेता जैनोंको माना जाता है। कुन्द-कुन्दके पश्चात् बलाकपिच्छ, समन्तभद्र आदि आचार्योंने द्रविड़ देशमे जैनधर्मका पोषण किया।

२री से ७वी शती तक पाण्ड्य देशकी राज्यशक्ति क्षीण रही और वह एक गौण राज्य बना रहा किन्तु व्यापार-व्यवसाय और साहित्य-सृजनमे वह अन्य तमिल राज्योसे आगे रहा। ५वी शतीमे आचार्य देव-नन्दी पूज्यपादने द्रविड देशमे विहार किया। उनके प्रशिष्य वज्रनन्दिने सन् ६०४ ई० मे द्रविड संघको पुनः संगठित करके उसको विधिवत् स्थापना

की और मदुराको उक्त संघका केन्द्र बनाया। अस्तु ५वीं से ७वीं शती पर्यन्त पाण्डय देशमे जैनधर्मका अत्युत्कर्ष हुआ। वज्रनन्दि और उनके सहयोगी गुणनन्दि, वक्रग्रीव, पात्रकेसरि, सुमतिदेव, श्रीवर्धदेव आदि जैनाचार्योने उक्त द्रविड या द्रमिल संघको एक सजीव शक्ति बना दिया। इन विद्वानोने अनेक ग्रन्थोंका संस्कृत, प्राकृत और तमिल भाषाओमे प्रणयन किया तथा अपने भक्तो और शिष्योसे कराया। तमिल साहित्यके कई महत्त्वपूर्ण काव्य ग्रन्थ इसी कालमे लिखे गये। प्रवृत्तियोके फलस्वरूप ही ६ठी शतीके अन्तके लगभग कडुंग नामक राजाने पाण्डय देशकी राज्य शक्तिका पुनरुत्थान किया, वह अपने पूर्वजोकी भाँति ही जैनधर्मका अनुयायी था, उसके क्रमशः चार वंशज भी जैनो थे। इनमे-से अन्तिम नरेश नेन्दुमारन (कुन अथवा सुन्दर पाण्डय) के समय (६५०–६८० ई०) मे गुणसम्बन्दर नामक व्यक्तिने जो स्वयं जैन था, जैनधर्मका परित्याग करके शैव धर्मको अपनाया और राजाको भी शैव बना लिया। सम्बन्दरके प्रभावसे उस राजाने पाण्डय देशके जैनियोपर अमानुषिक अत्याचार किये बताये जाते है जिनके दृश्य मदुराके प्रसिद्ध मोनाक्षी मन्दिरकी दीवारोके प्रस्तरांकनोमे आज भी विद्यमान है। कडुंगसे लेकर नेन्दुमारनके समय तक पुनरुत्थापित पाण्डय राज्यकी शक्ति और प्रभाव बढ़ता आ रहा था किन्तु इन धार्मिक अत्याचारोके कारण फिर लगभग एक शताब्दीके लिए उसकी उन्नति पिछड़ गयी।

९वी शताब्दीमे श्रीमारन श्रीवल्लभ (८३०–६२ ई०) इस देशका प्रसिद्ध राजा हुआ। महावंशमे भी उसका उल्लेख है और सिहलपर भी उसने आक्रमण किया था। पल्लव नरेश दन्तिवर्मन और नन्दिवर्मन दोनोको उसने हराया और अपना राज्य बढाया था। किन्तु उसके अन्तिम वर्षोमे सिंहलके सेन द्वितीयने तथा काचीके नृपतुंगवर्मनने उसपर आक्रमण करके उसे बुरी तरह पराजित किया और मदुराको लूटा। श्रीमारनकी भी उसी समय आहत अवस्थामे मृत्यु हुई। उसके पुत्र वरगुणवर्मन द्वितीयको

सिंहली सेनापतिने गद्दीपर बिठाया। वह लंका-नरेश और पल्लवों, दोनोंके ही अधीन रहा। उसके बाद ३-४ और निर्बल शासक हुए और अन्तमे १०वी शतीके प्रारम्भमे चोलोने पाण्ड्य देशको विजय करके अपने साम्राज्यमे मिला लिया। १२वो शतीमे पाण्ड्योने फिरसे शक्ति पकडी और दूसरा पाण्ड्य साम्राज्य उदयमे आया। इस कालमे पाण्ड्य नरेश मारवर्मन कुलशेखर (१२६८–१३११ ई०) के समयमें मार्कोपोलो नामक वेनिस निवासी यात्री इस देशमे आया था। उसके वृत्तान्तसे यह भी विदित होता है कि उस समय पाण्ड्य देशमें अनेक जैन मठ और जैनी विद्यमान थे। मारवर्मनने १२८४ ई० मे लंकाकी भी विजय की थी। १३१० ई० मे अलाउद्दीन खलजीके आक्रमणने मदुराके पाण्ड्य राज्यका अन्त कर दिया।

चोलराज्य—ईसवी सन्‌की प्रारम्भिक शताब्दियोमे उरगपुरका चोल राज्य एक उन्नत राज्य था। नागोसे उसका सम्बन्ध था और जैनधर्मकी उस राज्यमे प्रवृत्ति थी। किन्तु ३री शती ई० से ही पल्लवोके उत्थानके कारण चोल राज्यका सूर्य कई शताब्दियो तक अस्त रहा और वह एक अत्यन्त गौणराज्यके रूपमे सम्भवतया चलता रहा। ९वी शती ई० मे चोल देशके तंचाऊर नगरमे विजयालय चोलने चोलराज्यका पुनरुत्थान और अपने वंशकी स्थापना की। उसका उत्तराधिकारी आदित्य चोल था और फिर परान्तक चोल (९०७–४३ ई०) राजा हुआ। इसने पाण्ड्य देश-को विजय करके राज्य विस्तार किया। उसके कतिपय उत्तराधिकारी महत्त्व-पूर्ण नही थे। किन्तु तदुपरान्त राजराजा चोल (९८५–१०१६ ई०) इस वंशका सर्वमहान् नरेश था, वह भारी विजेता था और सम्पूर्ण तमिलदेश एवं मद्रास प्रान्तका एकाधिपति हुआ। कर्णाटक (मैसूर) और लंकाके भी बड़े भाग विजय करके उसने अपने राज्यमे मिला लिये। वह भारी निर्माता भी था—तंचाऊरका प्रसिद्ध शैवमन्दिर उसीने बनवाया था। उसके शिलालेख भी मिले हैं जिनमे उसकी युद्धयात्राओके विवरण भी मिलते हैं।

जैन महाकवि धनपालके तिलकमंजरी नामक काव्यमें समरकेतुकी समुद्रयात्रा-का वर्णन अनेक विद्वानोंके मतानुसार राजराजा चोलके ही सुदूरपूर्वके किसी द्वीप या देशपर किये गये समुद्री आक्रमणकी तैयारीका सजीव वर्णन है। कवि धनपाल इसी कालमे हुए थे, मालवेके परमारो, कन्नौजके प्रतिहारों और कल्याणीके चालुक्योंसे उन्होंने सम्मान प्राप्त किया था, क्या आश्चर्य है कि वे राजराजा चोल-द्वारा भी सम्मानित हुए हों। राजराजा सामान्यतः शैवधर्मका अनुयायी था किन्तु वह एक बहुत उदार और सहिष्णु नरेश था। उसके राज्यमे जैनोके ऊपर कोई अत्याचार नही हुआ वरन् विद्वानों-का तो यह मत है कि उसके समयमे जैनियोंको शैवोके समान ही राज्याश्रय प्राप्त था और उसके साम्राज्यमे जैनधर्म उन्नत अवस्थामे था। उसका पुत्र राजेन्द्र चोल (१०१६–४२ ई०) सुयोग्य पिताका सुयोग्य पुत्र था। उसने अपनी विजयवाहिनीको उत्तरमे गंगातट तक पहुँचा दिया और समुद्रपारके देशोको भी विजय किया। किन्तु वह जैनधर्मका विद्वेषी था, मैसूर प्रान्तके अनेक जिन-मन्दिरोको उसने जलवा दिया था। उसका उत्तराधिकारी राजाधिराज (१०४५–५४ ई०) था। तदनन्तर अधिराजेन्द्र राजा हुआ वह भी शैव था। सन् १०७४ ई० मे उसके भानजे कोलुत्तुग चालुक्यने उसे मारकर चोळ और पूर्वी चालुक्य राज्योंको सम्मिलित कर लिया। उसने ११२३ ई० तक राज्य किया। यह राजा भी बडा पराक्रमी था और उसने कलिंग देशको पुनः विजय किया। इस विजय यात्राका सजीव वर्णन तमिल-के प्रसिद्ध महाकाव्य कलिंगट्टुपरनिमे मिलता है। इस काव्यके लेखक कोलुत्तुंग चोलके प्रधान राजकवि जयंगोदन्न थे जो जैनी थे। यह सम्राट् जैनधर्मका अनुयायी था और उसके आश्रयमें अनेक धार्मिक एवं साहित्यिक कार्य हुए। उसने राजेन्द्र-द्वारा नष्ट किये गये जिन-मन्दिरोका भी जीर्णो-द्धार कराया। कोलुत्तुंगके भयसे भागकर ही रामानुजाचार्यने होयसल नरेश विट्टिवर्धनकी शरण ली थी। कोलुत्तुंगके आश्रयमे अनेक जैन विद्वानोने अनेक ग्रन्थोकी रचना की थी। इस नरेशने अपने राज्यमे समस्त निषिद्ध

पदार्थोका आयात बन्द कर दिया था। प्राचीन भारतके चरित्रवान् नरेशोमे उसकी गणना की जाती है। उसके बाद उसका चतुर्थ पुत्र अकलंक (विक्रम या त्रियम्समुद्र) सिहासनपर बैठा। उसने भी अपने पिताका ही पदानुसरण किया और उसकी राजसभा भी विद्वानो एवं गुणियोसे भरपूर रही। इस वंशका अन्तिम महान् नरेश राजराजा तृतीय (१२१६–४८ ई०) था। उसके उपरान्त चोल शक्तिकी अवनति होने लगी। गृह-युद्धो, निर्बल शासको और नवोत्थित पाण्डच नरेशोके आक्रमणोके कारण १३वी शतीके अन्तमे यह चोलसाम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। चोल साम्राज्यकी शासन-व्यवस्था बडी सुन्दर थी, उसकी ग्राम पंचायतो और उनके स्वायत्त शासनके जो विवरण प्राप्त हुए है वे उन्हे प्रजातन्त्र पद्धतिकी आदर्श संस्थाएँ सिद्ध करते है। देवमन्दिर और विहार सजीव संस्थाएँ थी, शिक्षा और लोकोपकारके समस्त कार्य उन्हीके हाथमें थे। चोल साम्राज्यमे जैन संस्कृति अपने उन्नत रूपमे थी और हिन्दूधर्मके साथ निर्विरोध सद्भावपूर्वक लोककल्याणमे रत थी। इस कालमे बौद्धधर्मका वहाँ कोई चिह्न नही मिलता।

चेर राज्य—तमिल देशका तीसरा प्राचीन राज्य चेरोका था। प्रथम शताब्दी ई० मे चेर नरेश अथन प्रथमके समयसे इस राज्यका उत्कर्ष हुआ। उसका उत्तराधिकारी अथन द्वितीय था जो कवियो और विद्वानोका बडा आदर करता था। प्रारम्भिक संगम साहित्यको इस राजाने बहुत प्रोत्साहन दिया। २री शती ई० के उत्तरार्धमे सेंगुत्थवन इस वंशका सर्वप्रसिद्ध एवं सर्वमहान् शासक हुआ। उसने चेर राज्यको साम्राज्य बना दिया, चोल-सिहासनपर उसने अपने चचेरे भाईको स्थापित किया, सम्पूर्ण तमिलनाडपर उसका आधिपत्य था, समुद्री मार्ग-द्वारा उसने कदम्बोंपर आक्रमण किया और उन्हे पराजित किया। उसने उत्तरमे हिमालय पर्यन्त अपनी विजयवाहिनीको पहुँचाया और वहाँ एक शिलापर अपने धनुर्ध्वजको अकित कराया। इस वंशमे बराबर जैनधर्मकी ही प्रवृत्ति रही। सम्राट् सेंगुत्थवन स्वयं जैन था और उसका भाई राजकुमार इल्लिवलवन

तो दीक्षा लेकर जैनमुनि हो गया था—तमिल भाषाके सुप्रसिद्ध प्राचीन महाकाव्य शिलप्पदिकरम्की रचना इसी राजर्षिने की थी। ३री—४थी शती ई० से चेरोंको अवनति होने लगी और चेरराज्य एक छोटा-सा गौण राज्य रह गया। इस प्राचीन चेरवंशका संस्थापक चेरमान पेरुमल था। ८वीं शतीके अन्तमे इस वंशका अन्त हो गया। ९वीं शतीमे वैष्णव अलवर मतके अनुयायी कुलशेखरने अपना वंश स्थापित किया और उसीके साथ-साथ चेर प्रदेशमे जैनधर्मके स्थानमें वैष्णव मतकी प्रधानता हो गयी। इस प्रदेशके मलाबार तटपर शरणार्थी यहूदियों और नवागत ईसाइयोंकी बस्तियाँ भी बहुत प्राचीन कालमे ही स्थापित हो गयी थी। प्राचीन कालमे केरल भी चेर राज्यका ही अंग था। सन् १३१० ई० मे मदुरापर मुसलमानोके प्रथम आक्रमणके उपरान्त कुछ कालके लिए केरल राज्य एक स्वतन्त्र और शक्तिशाली राज्य हो गया था। चेर, केरल एवं सत्यपुत्र प्रदेशोमें अनेक प्राचीन जैन पुरातत्त्वावशेष पाये जाते है। चेरोकी राजधानी कावेरीपट्टन थी। पाण्ड्य, चोल, चेर नामक प्राचीन अथवा आदिम तमिल राज्यो एवं पल्लव नामक नवस्थापित राज्यके साथ सुदूर दक्षिणके तमिल प्रदेशका इतिहास समाप्त हो जाता है। उपरोक्त विवरणसे यह भी विदित होता है कि ३री से ६ठी शती ई० पर्यन्त सम्पूर्ण तमिल देशका इतिहास अन्धकाराच्छन्न रहा। इस बीचमें वहाँ कलभ्र (कलिअरसन=सभ्यताके शत्रु) नामक जातिका प्रभुत्व रहा प्रतीत होता है। अच्युत विक्रान्त कलभ्र इस वंशका प्रसिद्ध राजा था और बौद्धधर्मका समर्थक था। किन्तु ६ठी शतीके अन्तमे पाण्ड्यों और पल्लवोंने कलभ्रोंका अन्त कर दिया था। १०वी शतीके जैनाचार्य अमितसागरने भी अपने तमिल व्याकरणमे उक्त कलभ्र नरेशके अत्याचारोंसे सम्बन्धित कुछ प्राचीन गीतोंको उद्धृत किया है।

कदम्ब वंश का संस्थापक कदम्ब आन्ध्र सातवाहनोंका सामन्त था जिसने कदम्ब नामक वृक्ष-विशेषके नामपर अपने वंश और राज्यकी

दक्षिणके बनवास देशमे २री शती ई० के मध्यके लगभग स्थापना की थी और करहाटक (वर्तमान करहद) नगरको अपनी राजधानी बनाया था। कदम्ब लोग अपने-आपको हरीतके वंशज मानव्यगोत्री ब्राह्मण कहते थे, मधुकेश्वरको अपना कुलदेवता मानते थे और स्वामी महासेनको कुलगुरु। सम्भवतया कदम्बोके मूलमे भी ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं नाग रक्तका मिश्रण था। इस वंशका दूसरा राजा शिवस्कन्द अथवा शिवकोटि अपने भाई शिवायनके साथ जैनाचार्य समन्तभद्र-द्वारा जैनधर्ममे दीक्षित हो गया था। उसी समयसे इस वंशमे जैनधर्मकी प्रवृत्ति अथवा उसके प्रति आदरभाव रहता आया। उसका पुत्र श्रीकण्ठ था और पौत्र शिवस्कन्दवर्मन् जिसके उत्तराधिकारी मयूरवर्मन् (३री शतीका उत्तरार्ध) के समय तक कदम्ब राज्य एक छोटा-सा राज्य था जो चाहे नाममात्रके ही लिए सही, एक ओर अपने-आपको आन्ध्रोके अधीन मानता था और दूसरी ओर कांचीके पल्लवोसे दबता था। मयूरवर्मन् युवावस्थामे शिक्षा-प्राप्तिके लिए कांचोमे रहा था। वहाँ पल्लवोने उसका अपमान किया था। इससे उत्तेजित होकर उसने अपने राज्यकी शक्तिको बढाने और पल्लवोसे बदला लेनेकी दृढ प्रतिज्ञा की। राज्यभार सँभालते ही उसने वैजयन्ती (बनवासी) को अपनी राजधानी बनाया और पलाशिका (हल्सी) को उपराजधानी बनाया, शासन-व्यवस्था ठीक की और सर्वप्रकार अपनी शक्ति बढानेमे संलग्न हो गया। इसी कारण कदम्ब राज्यका वास्तविक संस्थापक मयूर-वर्मनको ही कहा जाता है। आन्ध्र सातवाहनोके जिस प्रदेशपर कदम्बो-का अधिकार था उसको और अधिक विस्तृत करके वह अब एक स्वतन्त्र नरेश बन गया। वह सम्पूर्ण सातनीहरका स्वामी था। पल्लवोंको पराजित करके उसने अपने अपमानका बदला लिया और उनका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी हो गया। उसने बृहद्‌वाण, त्रैकूट, आभीर, पारियात्र, शकस्थान, सैन्द्रक, पुन्नाट और मौखरि राजाओको भी युद्धोमे पराजित किया बताया जाता है। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी कंगवर्मन्‌ने वकाटकनरेश विन्ध्यशक्ति द्वितीय-

के आक्रमणका निवारण किया। उसने महपट्टिदेवके लिए एक दान भी दिया था। उसके पुत्र भगीरथके कुछ सिक्के मिले हैं। भगीरथका पुत्र रघु भारी योद्धा था। उसने पल्लवोंको पराजित करके अपने राज्यको निष्कण्टक किया। युवावस्थामे ही युद्धमे उसकी मृत्यु हो गयी और उसका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई काकुत्स्थवर्मन् भी छोटी अवस्थामे ही राजा हो गया, किन्तु वह एक महान् नरेश, योग्य शासक, बड़ा नीति-निपुण और दीर्घजीवी था। उसने गंग, गुप्त और वकाटक नरेशोंका अपनी कन्याओंके साथ विवाह करके तत्कालीन भारतके प्रसिद्ध राजवंशोसे मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये। इस नरेशके हल्सी ताम्रशासनमे वर्षसंख्या ८० दी हुई है जो इस राजाकी ८०वीं वर्षगाँठका सूचक प्रतीत होती है। इस अभिलेखकी तिथि सन्४०० ई० निश्चित की जाती है और लेखसे स्पष्ट है कि यह राजा जैनधर्मका भारी पोषक था। जैनपण्डित श्रुतकीर्त्ति भोजकको इस ताम्रशासन-द्वारा राजधानीके जैनमन्दिरके लिए दान दिया गया था। काकुत्स्थवर्मन् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यका समकालीन था और सम्भवतया राजकुमार कुमारगुप्तके साथ भी एक कदम्ब राजकुमारीका विवाह हुआ था। स्वयं कवि कालिदास इस विवाह सम्बन्धको स्थिर करनेके लिए उज्जैनसे वैजयन्ती आये बताये जाते हैं। काकुत्स्थकी दूसरी कन्या गंगनरेश तदंगल माधवको विवाही थी और इस प्रकार गंग अविनीत इस कदम्ब नरेशका दौहित्र था। काकुत्स्थवर्मन्के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र शान्तिवर्मन् राजा हुआ। उसने कदम्ब राज्यके बनवासी, त्रिपर्वत और उच्छंगी नामक तीनों भागोको संगठित करके केन्द्रीय शासनके भीतर ले लिया। शान्तिवर्मन् भी जैनधर्म और जैनगुरुओंका समादर करता था। उसका पुत्र मृगेशवर्मन् (४५०-४७८ ई०) जैनधर्मका अनुयायी था। उसके कई उपलब्ध ताम्रशासनोमे इस नरेश-द्वारा जैन मन्दिरोंका निर्माण कराने, निर्ग्रन्थ जैनगुरुओ, श्वेतपट जैन साधुओं और जैनोके कूर्चक नामक एक अन्य सम्प्रदायके साधुओको दान देनेके उल्लेख है। स्वयं राजधानी पलाशिकामे उसने अपने पिता शान्तिवर्मन्की

स्मृतिमे एक भव्य जिनालय बनवाया था। अभिलेखसे स्पष्ट है कि फुटकर जैनगुरुओका ही नही वरन् उनके विभिन्न सुगठित संघो और सम्प्रदायोका राज्यमे निवास था। दान प्राप्त करनेवाले जैनगुरुओमें प्रमुख नाम दामकीर्त्ति भोजकका है जो श्रुतिकीर्त्ति भोजकके उत्तराधिकारी थे। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रुतकीर्ति और उनके उत्तराधिकारी गृहस्थाचार्य सरीखे थे और कदम्ब नरेशोके राजगुरुओके पदपर आसीन रहे। इस राजाका हाल्मडि अभिलेख कन्नड भाषाके सर्वप्राचीन अभिलेखोमे-से है।

मृगेशवर्मन्के शासनकालमे उसके चाचा कृष्णवर्मन् प्रथमने विद्रोह किया था और त्रिपर्वत प्रदेशपर अधिकार करके अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था जहाँ उसके वंशजोने वैजयन्तीवाली मूल शाखाके साथ-साथ स्वतन्त्र राज्य किया। यह कृष्णवर्मन् अपने भानजे अविनीत गंगसे बहुत स्नेह करता था अतः गंगनरेश उसके सहायक रहे। उसने नागोको भी पराजित किया था। कृष्णके बाद उसका पुत्र विष्णुवर्मन् प्रथम राजा हुआ, मूलवंशमे मृगेशका ही शासन चल रहा था। इस कालमे पल्लवो, सैन्द्रको और बाणोके परस्पर युद्धोके कारण अशान्ति रही। विष्णुवर्मन्की सहायतार्थ आये गंगों और पल्लवोंको मृगेशने पराजित किया, उसने अलुवोको भी अपने अधीन किया। उसकी रानी प्रभावती केकयवंशकी राजकन्या थी। पल्लवोके साथ इस युद्धमे उस रानीका भाई शिवनन्दिवर्मन् कैकय मारा गया था। फिर भी पल्लव सिंहवर्मन्की सहायतासे ही विष्णुवर्मन् अपने राज्यको स्थिर रख सका। मृगेशके पश्चात् उसका पुत्र रविवर्मन् जो कैकय राज्यकन्या प्रभावतीसे उत्पन्न हुआ था, राजा हुआ। ४७८ से ५२० ई० तक उसने राज्य किया। गद्दीपर बैठनेके समय उसकी आयु कम थी अतएव उसके चाचा मानधातृवर्मन्ने संरक्षकके रूपमें राज्य कार्य सम्हाला। उसने गंग अविनीतसे सन्धि कर ली और उसके उत्तराधिकारी दुर्विनीतको अपना मित्र एवं सहयोगी बना लिया। सम्हलनेपर रविवर्मन्ने राज्यकी बागडोर अपने हाथमे ली। कदम्बोकी त्रिपर्वत शाखामे विष्णु-

र्मन्, सिंहवर्मन् और कृष्णवर्मन् द्वितीयका क्रमशः शासन इसके समयमें रहा। रविवर्मन्ने अपने इन सम्बन्धियोको उभरने नही दिया और कृष्ण-वर्मन् द्वितीय तथा उसके सहायक चण्डदण्ड पल्लवको बुरी तरह पराजित किया। रविवर्मन्ने अपने भाई भानुवर्मन्को हल्सीमे अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। दुर्विनीत गंग पल्लवोके विरुद्ध रविवर्मन्का मित्र था। इस प्रकार रविवर्मन्ने अपने पिताके समय हुए राज्य और वंशके विभाजनका अन्त करके पुनः एक कर लिया। कृष्ण द्वितीयके वंशज अजयवर्मन्, भोगि और विष्णुवर्मन् कुछ काल तक और विद्रोही बने रहे किन्तु उनका भी अन्त चालुक्य पुलकेशि प्रथमके पुत्र कीर्त्तिवर्मन्ने कर दिया। रविवर्मन् एक महान् प्रतापी एवं सुयोग्य नरेश था। वह जैनधर्मका भी परम भक्त था। हल्सी, कोरमंग आदि स्थानोसे उसके कई ताम्रशासन मिले है जो उसकी उत्कट जिनधर्म-भक्ति, धार्मिक आचरण, जिनमन्दिरोका निर्माण, जैनगुरुओ और विद्वानोका सम्मान, कार्त्तिकी अष्टाह्निका आदि जैनपर्वो और उत्सवोको मनाने, विविध दान देने आदिका वर्णन करते है।

रविवर्मन्के धर्मगुरु जैनमुनि कुमारदत्त तथा हरिदत्त थे और राजगुरु एवं प्रमुख दानपात्र बन्धुसेन भोजक थे जो दामकीर्त्ति भोजकके उत्तरा-धिकारी थे। महाराजके भाई भानुवर्मन्ने जो हल्सीका शासक था, प्रत्येक पूर्णिमाको जिनेन्द्र भगवान्का अभिषेक करनेके लिए पण्डर भोजकको दान दिया था। पण्डर सम्भवतया बन्धुसेन भोजकका उत्तराधिकारी था। इसमे सन्देह नही कि कदम्ब-नरेश रविवर्मन् एक प्रतापी, धर्मात्मा एवं शक्तिशाली राजा था।

इसके उपरान्त इसका पुत्र हरिवर्मन् (५२०–५४० ई०) राजा हुआ। यह कदम्बवंशका अन्तिम महान् नरेश और अपने पूर्वजोकी ही भाँति जैनधर्मका भक्त था। उसके राज्यके चौथे और पाँचवें वर्षोमे लिखे गये ताम्रपत्र प्राप्त हुए है जिनमे इस राजाके द्वारा जैनमन्दिरो और गुरुओ-को दान देने तथा जैनधर्ममें उपदेशित अन्य धार्मिक कार्योंके करानेकी

व्यवस्था करनेके उल्लेख हैं। कूर्चक संघके जैनाचार्य वारिषेणका यह राजा बहुत आदर करता था। इस नरेशके अभिलेखोसे यह भी ज्ञात होता है कि उसका चाचा शिवरथ, जो रविवर्मन्‌का दूसरा भाई था, तथा दूसरी शाखाके कृष्ण द्वितीयके एक भाई और उसके पुत्र राजकुमार देववर्मन् आदि कदम्ब राजकुलके अन्य अनेक व्यक्ति भी जैनधर्मके अनुयायी थे और यह कि कदम्वोका मित्र सैन्द्रक नरेश भानुशक्ति भी जैन था। हरिवर्मन्‌के पश्चात् इस वंशका अन्त हो गया। ५६६ ई० तक कृष्ण द्वितीयके वंशज सम्भवतया चलते रहे, अन्ततः चालुक्य पुलकेशी प्रथम और कीर्तिवर्मनने कदम्ब शक्तिको समाप्त करके अपने राज्यका विस्तार किया। वैसे इस वंशका अस्तित्व गौण सामन्त सरदारोके रूपमे १३वी-१४वी शती ई० तक पाया जाता है, विशेषकर हांगलके कदम्ब राजे ११वी-१२ वी शतीमें अच्छे शक्तिशाली थे।

कदम्बोका शासन सुचारु एवं सुव्यवस्थित था। यद्यपि गंगो और पल्लवोके साथ उन्हे निरन्तर युद्ध करने पड़े और आस-पासके नाग सरदारोसे भी उलझते रहना पडा तथापि उनके राज्यमे आन्तरिक शान्ति-समृद्धि और व्यवस्था बनी रही। व्यापार-व्यवसाय निगमो-द्वारा सुसंगठित थे। इन नरेशोकी स्वर्णमुद्राएँ अति श्रेष्ठ हैं। जैनमठो, अग्रहारो और ब्रह्मपुरियो-द्वारा सार्वजनिक शिक्षाका प्रबन्ध था। जैनसंघ और संस्थाएँ सजीव एवं प्रगतिशील थी और राजा-प्रजाकी लौकिक उन्नतिमे साधक एवं सहायक थी। कदम्बोके प्रमुख सामन्तवंश यथा सैन्द्रक, पुन्नाट, बाण आदि भी जैन-धर्मके अनुयायी थे।

गंगवंश—२री शती ई० दक्षिण भारतमे स्थापित होनेवाले नवीन राजवंशोमे तीसरा गंगवश था। दक्षिणके सम्पूर्ण वंशोमे यह सर्वाधिक स्थायी रहा और पल्लव, कदम्ब, चालुक्य, राष्ट्रकूट आदि एकके बाद एक उदय होनेवाली सभी प्रधान राजशक्तियोका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बना रहा। वर्तमान मैसूर प्रदेशके अधिकांश भाग तथा कावेरी नदीकी पूरी घाटीमे

व्याप्त गंगवाडि राज्य पश्चिमी गंगवंशके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

इस वशके नरेशोंके शिलालेखों व ताम्रपत्रो, साहित्यिक आधारो तथा अनुश्रुतियोसे ज्ञात होता है कि अयोध्यामे तीर्थंकर ऋषभके इक्ष्वाकुवंशमे राजा हरिश्चन्द्र हुए जिनके पुत्र भरतकी पत्नी विजयमहादेवीसे गंगदत्त या गंगेयका जन्म हुआ। उसीके नामसे यह वंश गंगवंश कहलाया। गंगेयका एक वंशज विष्णुगुप्त अहिच्छत्रका राजा था और तीर्थंकर अरिष्टनेमिका भक्त था। उसका वंशज श्रीदत्त तीर्थंकर पार्श्वनाथका उपासक था। श्रीदत्तके वंशमे अहिच्छत्रका राजा कम्प हुआ जिसका पुत्र पद्मनाभ था। इसके ऊपर उज्जैनीके राजाने आक्रमण किया अतएव पद्मनाभने सुरक्षाके लिए अपने दद्दिग और माधव नामक दोनो बालक-पुत्रोंको राजचिह्नोंसहित दूर विदेशमें भेज दिया। प्रवासमे ये राजकुमार धीरे-धीरे बडे हुए और घूमते-घूमते दक्षिण भारतके कर्णाटक देशस्थ पेरूर नामक स्थानमे पहुँचे। नगरके बाहर स्थित चैत्यालयमें दोनों राजकुमार अपने कुलदेव जिनेन्द्रका दर्शन-पूजन करनेके लिए गये। वहाँ आचार्य सिंहनन्दि अपने शिष्य-समूह-सहित विराजमान थे, यह उस काल और प्रदेशके एक प्रमुख जैनाचार्य थे। दोनों राजकुमारोने जब उन्हे नमस्कार किया तो उन्होने प्रसन्न होकर उन्हे आशीर्वाद दिया, उन्हे अपने पास रखकर समस्त राज्योचित विद्याओमें पारंगत किया, अन्तमे कर्णिकार-पुष्पोंका मुकुट पहनाकर उन राजकुमारोंका राज्याभिषेक किया, अपनी मयूरपिच्छिका उन्हे राजध्वजके रूपमे प्रदान की और मत्तगयन्द उनका राजचिह्न निश्चित किया। उस समय उन्हे आचार्यने यह चेतावनी दी कि 'यदि तुम लोग कभी अपना वचन भंग करोगे, कभी जिन-शासनसे विमुख होगे, पर-स्त्रीके ऊपर कुदृष्टि डालोगे, मद्य-मांसका सेवन करोगे, नीच व्यक्तियोकी संगति करोगे, याचक-जनोंको दान देनेसे मुँह मोड़ोगे और रणभूमिसे पीठ दिखाकर भागोगे तो तुम्हारे कुलका नाश हो जायेगा।' राजकुमारोने गुरुवचनोको शिरोधार्य किया और गुरुकी मन्त्रणानुसार अद्भुत उत्साहके साथ राज्य-निर्माणमे

संलग्न हो गये। उन्होंने बाण-मण्डलको विजय करके गंगवाडि ९६००० की नीव डाली। एक शिलालेखके अनुसार इस प्रकार दद्दिग और माधवने नन्दिगिरिको अपना दुर्ग, कुवलाल (कोलार) को अपनी राजनगरी, ९६००० संज्ञक देशको अपना राज्य, रणभूमिमे विजयको अपनी चिरसंगिनी, जिनेन्द्र-को अपना इष्टदेव, जिनमतको अपना धर्म और आचार्य सिंहनन्दिको अपना गुरु बनाकर इस पृथ्वीका उत्तरमे माण्डले पर्यन्त, पूर्वमे तोण्डेयमण्डलम् तक, दक्षिणमे कोगु देश तक और पश्चिममे चेर देशकी दिशामे महासागर पर्यन्त भोग किया।'

ऐसा प्रतीत होता है कि दद्दिगकी मृत्यु राज्यनिर्माणके प्रयत्नके मध्य ही हो गयी थी अत. दक्षिणके इस पश्चिमी गंगवंशका प्रथम वास्तविक नरेश और गंगवाडि राज्यका प्रथम स्वामी उसका छोटा भाई माधव कोंगुणिवर्म प्रथम (१८९–२५० ई०) था। यह नरेश बड़ा पराक्रमी एवं धर्मात्मा था। बाणोके साथ उसके निरन्तर युद्ध चलते रहे। गंग अभि-लेखोमे उसे 'बाणरूपी वनके लिए दावाग्नि' कहा है। उसने मण्डलि नामक स्थानमे एक भव्य जिनालय एवं जैनपीठ बनवाया जो शिक्षा और संस्कृतिका केन्द्र और निर्ग्रन्थ गुरुओका आवास-स्थान था। यह मन्दिर काष्ठका बनवाया गया बताया जाता है। उसके उपरान्त उसका पुत्र किरियमाधव द्वितीय राजा हुआ। इसने अपने पिताका पदानुसरण किया। वह नीति-शास्त्रमे निष्णात था और दत्तककृत वैशेषिक सूत्रोपर उसने टीका लिखी थी। इसके तीन पुत्र थे—हरिवर्मन्, आर्यवर्मन् और कृष्णवर्मन्। हरि-वर्मन्को पिताका उत्तराधिकार मिला। उसने कोलारका परित्याग करके तलकाड (तालवनपुर या तालवननगर) को राजधानी बनाया। अपने भाई आर्यवर्मन्को उसने पेरूर विषयका शासक बनाया जिससे गंगवंशकी पेरूर शाखा प्रारम्भ हुई। दूसरे भाई कृष्णवर्मन्को कैवार विषयका शासक बनाया और उससे वशकी कैवार शाखा प्रारम्भ हुई। कृष्णने कुछ समयके लिए पेरूरपर भी अधिकार कर लिया किन्तु पल्लव सिंहवर्मन् और उसका

पुत्र स्कन्दवर्मन् पेरूरके गंगोंके सहायक रहे और उन्हे उन्होंने फिरसे अपने राज्यमे स्थापित कर दिया। मूलवंशमे हरिवर्मन् अपनी धनुर्विद्याके लिए प्रसिद्ध था। युद्धमे उसने हाथियोंका प्रयोग किया और राज्यको समृद्ध बनाया। उसका पुत्र विष्णुगोप नारायणका विशेष भक्त था और जैन-धर्मकी ओरसे उदासीन था। उसका पुत्र पृथ्वीगंग शीघ्र ही मर गया। पृथ्वीगंगका पुत्र तदंगल माधव या माधव तृतीय एक महान् शासक था। उसका विवाह कदम्बनरेश काकुत्स्थवर्मन्की पुत्रीके साथ हुआ था। वह त्र्यम्बक और जिनेन्द्रका समान रूपसे भक्त था। मतूर तालुकेके नोनमंगल स्थानमे एक प्राचीन जैन बसदिके भग्नावशेषोमे प्राप्त इस नरेशके १३वें वर्षमे लिखाये गये ताम्रशासनसे प्रकट है कि उसने परब्रोलल ग्रामके अर्हत् मन्दिरके लिए दिगम्बराचार्य वीरदेवको कुमारपुर ग्राम तथा बहुत-सी अन्य भूमि प्रदान की थी। लुइस राइसने इस दान-पत्रकी तिथि ३७० ई० निश्चित की है। सम्भवतया इन्हीं वीरदेवने बिहारके राजगिरिपर स्थित सोनभण्डार गुफामे भी जिनमूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित करायी थी जैसा कि उक्त गुफामे प्राय: उसी कालके एक शिलालेखसे सूचित होता है। इस राजाका एक दानपत्र ३५७ ई० का तथा दूसरा ३७९ ई० का प्राप्त हुआ है। अत: इसका शासनकाल लगभग ३५५ ई० से लेकर ४०० ई० तक चला।

३री-४थी शताब्दीमे गंगनरेशोके शासनकालमे कई प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए। उच्चारणाचार्यने कसायपाहुडके यतिवृषभ-कृत चूर्णीसूत्रोपर वृत्ति लिखी, शामकुण्ड और बप्पदेवने भी आगमोंपर टीकाएँ लिखी। कुचि-भट्टारक और नन्दिमुनिने पुराणग्रन्थ लिखे। ये नन्दि भट्टारक पेरूर विषयके गंगराज आर्यवर्मन् आदिके गुरु थे। इसी कालमे जैन विद्वान् शिवशर्मने कम्मपयडि और सत्तक नामक कर्मग्रन्थोंकी रचना की। यशोभद्र, प्रभाचन्द्र और श्रीदत्त (जल्पनिर्णयका कर्त्ता) आदि विद्वान् भी इसी कालमे हुए। ४०० ई० के लगभग ही कविपरमेष्ठि या कवि

परमेश्वर नामके जैनाचार्य हुए जो कन्नड भाषाके प्रथम कवि माने जाते हैं और जिन्होने संस्कृत-कन्नड मिश्रित भाषामे वागर्थसंग्रह नामका प्रथम ज्ञात जैन महापुराण (त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र) लिखा।

तदंगल माधवका पुत्र अविनीत कोगुणि महाराजाधिराज जो काकुत्स्थवर्मन् कदम्बका दौहित्र और शान्तिवर्मन् एवं कृष्णवर्मन् प्रथमका प्रिय भागिनेय था. अपने पिताकी मृत्युके समय माताकी गोदमे छोटा-सा शिशु मात्र था। शिलालेखोमे उसे शतजीवी कहा गया है और उसका शासन बहुत दीर्घकालीन सूचित किया गया है। लगभग ४००-४८२ ई० पर्यन्त उसने राज्य किया। यह नरेश बड़ा पराक्रमी और धर्मात्मा था। उसके गुरु जैनाचार्य विजयकीर्त्ति थे जिनकी देख-रेखमे इस नरेशकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। सन् ४३० ई० मे उसने अपने नोनमंगल ताम्रशासन-द्वारा इन विजयकीर्त्तिको मूलसंघके चन्द्रनन्दि आदि गुरुओ-द्वारा स्थापित उरनूरके अर्हत् मन्दिर और विहारके लिए दान दिया था। ४४२ ई० मे उसने हसकोटे ताम्रशासन-द्वारा एक अन्य अर्हतायतनको दान दिया था। इस अभिलेखमे पल्लवाधिराज सिहवर्मनकी माताका भी उल्लेख है। यह पल्लव-नरेश जैनाचार्य सर्वनन्दिके लोक-विभाग (४५८ ई०) मे उल्लिखित सिहवर्मन् ही प्रतीत होता है। सन् ४६६ ई० मे अविनीतने राजधानी तालवननगरकी प्रसिद्ध जैन बसदिके लिए दान दिया था जिसकी सूचना मर्करा ताम्रपत्रमे पायी जाती है। सुपसिद्ध दिगम्बराचार्य देवनन्दी पूज्यपाद (४६४-५२४ ई०) को उसने अपने पुत्र युवराज दुर्विनीतका शिक्षक नियुक्त किया था। अभिलेखोमे अविनीतको 'विद्वज्जनोमे प्रमुख, मुक्तहस्त दानी और दक्षिणापथमे जाति-व्यवस्था एवं धर्मसस्थानोका प्रधान संरक्षक' लिखा है। एक स्थानमे लिखा है कि 'इस नरेशके हृदयमे महान् जिनेन्द्रके चरण अचल मेरुके समान स्थिर थे।' पेरूरके जिनालय, पुन्नाटकी जैन बसदियों तथा अन्य जिनायतनोको भी उसने दान दिये थे। पल्लव और कदम्ब

प्रतिस्पर्धाके बीच भी उसने अपने राज्यकी शक्ति और समृद्धिको अक्षुण्ण रखा। उसका शासन-प्रबन्ध भी उत्तम था।

उसका पुत्र दुर्विनीत कोगुणी (४८२–५२२ ई०) गंगवंशका एक महान् नरेश था। वह बडा प्रतापी, महत्त्वाकांक्षी, वीर, विद्वान्, साहित्यरसिक और गुणियोका आदर करनेवाला था। स्वगुरु आचार्य पूज्यपादका पदानुसरण करनेमे वह अपने-आपको धन्य मानता था। महाकवि भारवि भी कुछ समय तक उसके दरबारमे रहे और उसने उनके किरातार्जुनीयके १५वें सर्गपर एक टीका भी लिखी। गुरु-द्वारा रचित पाणिनि व्याकरणकी शब्दावतार टीकाका कन्नड अनुवाद और प्राकृत वृहत्कथाका संस्कृत अनुवाद भी उसने किये बताये जाते है। कोगलि नामक स्थानमे उसने चेन्नपार्श्वनाथ वसदिका निर्माण कराया था। उसके कई ताम्रपत्र मिले है, गुम्मरेडिपुर ताम्रशासन उसके राज्यके ४०वें और सम्भवतया अन्तिम वर्षका है। कन्नड भाषाके प्रारम्भिक लेखकों और कवियोमे भी दुर्विनीतकी गणना है। चालुक्यवीर विजयादित्यके साथ दुर्विनीतने अपनी कन्या विवाह दी थी किन्तु चण्डदण्ड त्रिलोचन पल्लवके साथ युद्धमे विजयादित्यकी मृत्यु हो जानेपर दुर्विनीतने उक्त पल्लव-नरेशको बुरी तरह पराजित करके बदला लिया और अपने दौहित्र जयसिंह रणराग विष्णुवर्धनको उसके पिताके सिंहासनपर स्थापित किया। भुजग पुन्नाटकी पौत्री और स्कन्द पुन्नाटकी पुत्रीके साथ अपना विवाह करके दुर्विनीतने पुन्नाट प्रदेशको दहेजमे प्राप्त किया था। अपने पराक्रम और विजयोके द्वारा उसने पूर्व पश्चिम दोनों दिशाओमे राज्यका विस्तार करके साम्राज्यकी स्थापना की। वस्तुतः अपने समयमे दुर्विनीत गंग दक्षिणापथका सर्वाधिक शक्तिशाली सम्राट् था। पुन्नाट देश जो उसके राज्यका अंग हो गया था, जैनधर्मका प्राचीन कालसे ही एक प्रमुख केन्द्र था। जैनाचार्योका एक प्रसिद्ध संघ, जिसमे हरिवंशकार जिनसेन हुए है, पुन्नाट संघके नामसे ही प्रसिद्ध था। दुर्विनीतके प्रधान धर्म एवं विद्यागुरु पूज्यपाद देवनन्दि जैनधर्मके सर्वमहान्

आचार्योमे-से है। जैनेन्द्रव्याकरण, कल्याणकारक, शब्दावतार, सर्वार्थसिद्धि, समाधितन्त्र आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोकी उन्होने रचना की। सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, काव्य, आयुर्वेद, छन्दशास्त्र आदि विभिन्न विषयोमे वे निष्णात थे। गंगराजधानी तलकाडकी प्रधान जैन बसदिके वे अध्यक्ष थे और यह संस्थान उस कालमे दक्षिण भारतमे ज्ञानका प्रमुख केन्द्र, एक महान् विद्यापीठ और सांस्कृतिक अधिष्ठान था। अन्य धर्मोके प्रति भी यह राजा सहिष्णु था।

दुर्विनीतके दो पुत्र थे—पोलवीर और मुष्कर। दुर्विनीतके पश्चात् कुछ समय तक पोलवीरने राज्य किया प्रतीत होता है। तदुपरान्त मुष्कर (मोक्कर) राजा हुआ। इसने ५५० ई० के लगभग बेलारीके निकट मुष्कर बसदि नामक जिनालयका निर्माण कराया था। मुष्करका पुत्र श्रीविक्रम था। इसके समयमे चालुक्योके वृद्धिगत प्रतापके सम्मुख कदम्ब वंशका प्रायः अन्त हुआ और गंगराज भी कुछ हतप्रभ हो गया। इस राजाकी दो पत्नियाँ थी, एक चोल राजकुमारी जिससे युवराज भूविक्रम उत्पन्न हुआ था और दूसरी सिन्धुराजकी कन्या शिवमार नवकामकी माता थी। श्रीविक्रमके समयमे गंगोकी पेरूर और कैवार शाखाओंका अन्त हुआ और कोलालपर फिरसे तलकाड शाखाका अधिकार हुआ। इसी समय कोलालसे कुछ गंग कलिंग चले गये और उन्होंने कलिंगके गंगवंशकी स्थापना की तथा वहाँ अपना गंगसंवत् चालू किया। श्रीविक्रमके पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र भूविक्रम या भूवल्लभ श्रीविक्रम राजा हुआ। उसने पल्लव नरेशको पराजित करके उससे एक बहुमूल्य हार छीना जिसमे उग्रोदय नामका प्रसिद्ध रत्न जडा था। सन् ६३४ ई० के उसके बेदनूर दानपत्रसे उसका जिनभक्त होना सूचित होता है और यह भी ज्ञात होता है कि उसका सामन्त वाणवंशी राजा विक्रमादित्य गोविन्द शचीन्द्र भी जिनभक्त था। यह राजा अकलंकदेवके सधर्मा पुष्पसेन मुनिका भी भक्त रहा प्रतीत होता है। भूविक्रमका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई शिवमार प्रथम

नवकाम शिष्टप्रिय पृथ्वीकोंगुणि हुआ। इसे वृद्धावस्थामें राज्य मिला था। यह राजा परम जैन था, सन् ६७० ई० मे इसने जैनमन्दिरोंका निर्माण कराया था और जैनगुरु चन्द्रसेनाचार्यको दान दिया था। ये आचार्य सम्भवतया पंचस्तूपान्वय शाखाके थे और स्वामी वीरसेनके दादागुरु थे। सन् ७०० ई० का शिवमारका हीरेमथ ताम्रशासन मिला है जिससे गंगोंके पूर्व इतिहासपर प्रकाश पडता है और जिसमे गंग दुर्विनीत और उसके गुरु देवनन्दी पूज्यपादका भी उल्लेख है। ७१३ ई० का उसका एक अन्य अभिलेख मिलता है। उसके उपरान्त उसके पुत्र राचमल्ल एरे गंगका अल्पकालीन शासन रहा प्रतीत होता है, तदनन्तर शिवमारका पौत्र श्रीपुरुष (७२६–७७६ ई०) राजा हुआ।

दुर्विनीतके उत्तराधिकारी और श्रीपुरुषके उपरोक्त पूर्वज गंगनरेश चालुक्य नरेशोके प्राय: अधीन रहे, किन्तु उनके राज्यविस्तार एवं राज्यकी शक्ति और समृद्धिको विशेप क्षति नही पहुँची। चालुक्य नरेश गंग राजाओं-का बहुत आदर करते थे। यह युग शान्तिपूर्ण रहा, अनेक विद्वान् जैनाचार्यो-ने ६ठी-७वी शताब्दीमे जैनधर्मकी प्रभावना की और महत्त्वपूर्ण साहित्यका सृजन किया। गंगराज्यमे निवास करनेवाले अथवा गंगनरेशोसे सम्मान और प्रश्रय पानेवाले इस कालके जैनगुरुओमे निम्नलिखित उल्लेखनीय है–पूज्यपादके शिष्य गुणनन्दि शाब्दब्रह्म जिन्होने जैनेन्द्र प्रक्रियाकी रचना की (ल० ५५० ई०), नवशब्दवाच्यके कर्त्ता वक्रग्रीव (ल० ५७५ ई०), त्रिलक्षण-कदर्थनके कर्त्ता पात्रकेसरि (५७५–६२५ ई०), नवस्तोत्रके रचयिता और मदुरामे द्रमिलसंघके संस्थापक वज्रनन्दि (५८२–६०४ ई०), सन्मतिसूत्रके टीकाकार सुमति देव (ल० ६०० ई०), कवि दण्डी-द्वारा प्रशंसित तथा चूडामणि शास्त्रके कर्त्ता श्रीवर्धदेव (६००–६२५ ई०), ज्योतिषाचार्य गर्गाचार्य और ऋषिपुत्र (६५० ई०), पंचस्तूपान्वयके गुरु वृषभनन्दि (६५० ई०) तथा चन्द्रसेनाचार्य (६७० ई०) आदि। परमात्मप्रकाश आदिके कर्त्ता अपभ्रंशके महाकवि जोइन्दु, सुलोचनाकथाके

कर्त्ता महासेन, वरांगचरित्रके रचयिता जटासिंहनन्दि, पद्मपुराणकार रविषेण, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिके कर्त्ता पद्मनन्दि, विजयोदया टीकाके कर्त्ता अपराजितसूरि, वादन्यायके कर्त्ता कुमारनन्दि, वर्द्धमानपुराणकार जिनसेन प्रथम पुन्नाटवंशी, नाममालाके कर्त्ता कवि धनञ्जय तथा वीरसेनके गुरु आर्यनन्दि इत्यादि विद्वान् भी इसी कालमे हुए। इनमे-से कुछ उत्तर या मध्य भारतमे भी रहे प्रतीत होते है।

गंगनरेश श्रीपुरुष मुत्तरस शत्रुभयंकर पृथ्वीकोगुणि परम्मानदि (७२६-७६ ई०) के दीर्घकालीन शासनकालमे गगराज्य अपनी समृद्धिकी चरम सीमाको पहुँच गया। इस समय नवोदित राष्ट्रकूट नरेश अपनी शक्ति बढानेमे संलग्न थे और चालुक्य सम्राट् उनके प्रहारोसे संत्रस्त थे, अतएव गंगोको शान्तिके साथ अपनी शक्ति और समृद्धिके बढ़ानेका अवसर मिल गया। श्रीपुरुष योग्य, नीतिपरायण एवं धर्मात्मा शासक था। पल्लवो और राष्ट्रकूटोसे उसे कई युद्ध भी करने पड़े। पल्लवोको तो उसने बुरी तरह पराजित किया, युद्धमे पल्लव-नरेश मारा गया और उसका राज्यछत्र श्रीपुरुषके हाथ लगा। राष्ट्रकूटोके प्रहारोका भी श्रीपुरुष वीरता और बुद्धिमत्ताके साथ निवारण करता रहा। नेक्कुण्डिके युद्धमे महाबली बाणरायको उसने पराजित किया, कल्वप्पनाडुका दिंडिग बाण भी उसके अधीन हुआ। चिलर्देके युद्धमे ऊपर लिखे अनुसार पल्लव-नरेशको पराजित करनेपर उसने परमाडि उपाधि प्राप्त की। श्रीवल्लभ, लोकधूर्त और राजकेसरी उसके अन्य विरुद थे और उसका राज्य श्रीराज्य कहलाया। पाण्ड्य-नरेश राजसिंहके पुत्रके साथ अपनी कन्याका विवाह करके श्रीपुरुषने पाण्ड्योसे मैत्री सम्बन्ध बनाया और फलस्वरूप पाण्ड्यराज्य मे जैनोंपर जो अत्याचार पिछले दशकोसे हो रहे थे उनका अन्त हुआ, और उसके साथ ही जैनोकी तमिल साहित्यिक प्रवृत्तियोका पुनरुत्थान हुआ। तमिल भाषाके कई सर्व-श्रेष्ठ ग्रन्थ इस समयके लगभग रचे गये और उनको रचनेमे जैन विद्वानोका हाथ विशेष रूपसे था। चिकबल्लालपुर

आदि कई स्थानोंके भग्न जैनमन्दिरोंका जीर्णोद्धार हुआ। गंगोंके अधीनस्थ बाण-नरेश भी जैनधर्मके भारी भक्त थे। ७५० ई० के लगभग वल्लमलई-मे जैनमुनि अज्जनन्दिने आचार्य भानुनन्दिके शिष्य और बाणनरेशके गुरु देवसेनकी मूर्त्ति स्थापित की थी। इस समयके लगभग श्रवणबेलगोल प्रशस्ति-के आचार्य प्रभाचन्द्र एक महान् धर्मप्रभावक एवं राजमान्य गुरु थे। विमलचन्द्र, वृद्धकुमार सेन, परवादिमल्ल, तोरणाचार्य, पुष्पसेन, अनन्त-कीर्त्ति प्रथम, बृहद् अनन्तवीर्य, महान् नैयायिक स्वामी विद्यानन्दि आदि इस कालमे कर्णाटक देशके प्रसिद्ध जैनगुरु थे। नरसिंहपुरा ताम्रशासनके द्वारा इस राजाने तोल्ल विषयके जिनमन्दिरको दान दिया था। ७७६ ई० मे उसने श्रीपुरके पार्श्व-जिनालयके लिए दान दिया, सम्भवतया इसी अव-सरपर उक्त जिनालयमे राजाके समक्ष ही स्वामी विद्यानन्दिने अपने प्रसिद्ध श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्रकी रचना की थी। इसी वर्ष इस नरेशने निर्गुण्ड प्रदेश-मे स्थित पोण्णलिस्थानके लोकतिलक-जिनालयको कई ग्राम प्रदान किये। इस जिनमन्दिरका निर्माण कंदच्चि नामक राजमहिलाने कराया था जो पल्लवाधिराजकी पुत्री थी और निर्गुण्डराज परमगुलकी रानी थी। इस निर्गुण्डराजके पिताके गुरु विमलचन्द्राचार्य थे जिन्होने इसी गंगनरेश श्रीपुरुष 'शत्रुभयंकर' की राजसभाके द्वारपर परवादियोके प्रति शास्त्रार्थका खुला चैलेंज लिखकर लगाया था। इन्हीके किसी शिष्य-प्रशिष्यको उपरोक्त दान दिया गया प्रतीत होता है। महान् तार्किक स्वामी विद्यानन्दिका साहित्यिक जीवन और आचार्य-काल भी इसी वर्षसे प्रारम्भ होता है। श्रीपुरको ही उन्होंने अपना निवास स्थान बनाया था क्योंकि इसी समयके लगभग उस स्थानके निकट शृंगेरीमे शंकराचार्य और उनके शिष्य सुरेश्वर अपने वेदान्त दर्शन एवं नवीन धार्मिक आन्दोलनकी प्रधान पीठ स्थापित कर रहे थे। विद्यानन्दिके प्रभाव, प्रतिभा, सहिष्णुता एवं सौजन्यके कारण ही शंकरा-चार्य और उनके सगठनका सारा कोप बौद्धोंको सहन करना पड़ा, जैनोंके साथ उनका सौहार्द बना रहा।

सन् ७७७ ई० में ५० वर्षसे ऊपर राज्य करनेके उपरान्त श्रीपुरुषने राज्यका परित्याग करके और पुत्र शिवमार द्वितीय सैगोतको सिंहासन देकर जैनगुरुओंके निकट उदासीन श्रावकके रूपमें धर्मसाधनमें शेष जीवन बिताया। सम्भवतया ७८८ ई० के लगभग उसकी मृत्यु हुई। श्रीपुरुषके तीन पुत्र थे, शिवमार द्वितीय सैगोत, दुग्गमार एयरप्प और विजयादित्य। पिताके उपरान्त शिवमार द्वितीय सैगोत (७७६–८१५ ई०) राजा हुआ। वह इस समय बूढा हो चला था, पिताके राज्यकालमें ७५४ ई० मे ही वह कुदुम्बरका प्रान्तीय शासक था। उसके सिंहासनपर बैठते ही राष्ट्रकूटोमे गृह-युद्ध हुआ। ध्रुवने अपने भाई गोविन्द द्वितीयको मारकर राज्य हस्तगत किया। शिवमार गोविन्दका सहायक था अत. ध्रुवने गंगराज्यपर आक्रमण किया और ७८४ ई० मे शिवमारको हराकर बन्दी कर लिया। उसका अधिकांश जीवन राष्ट्रकूटोके बन्दीगृहमे ही बीता। प्रारम्भमें, ७८४–८८ ई० मे ध्रुवका पुत्र कम्भ गंगवाडिका शासक रहा, तदुपरान्त शिवमारका पुत्र युवराज मारसिंह अपने पिताकी ओरसे राज्य करता रहा। उसका चाचा दुग्गमार एयरप्प उसका सहायक था। ७९४ ई० मे राज्य प्राप्त करनेपर राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीयने शिवमारको मुक्त कर दिया और इस पराक्रमी गंगने वल्लभेन्द्र, राष्ट्रकूट, चालुक्य और हैहयोके मित्र-संघको पराजित किया, वेंगिके विरुद्ध गोविन्दकी सहायता की और पल्लवोको अपना मित्र बनाया, किन्तु राष्ट्रकूटोने उसे फिरसे बन्दी बना लिया। ८१० ई० के लगभग वह फिर मुक्त हो गया। उसके जीवन-कालमे उसके पुत्र युवराज मारसिंह और भाई दुग्गमारकी मृत्यु हो गयी प्रतीत होती है और अन्तिम वर्षोंमे उसका तीसरा भाई विजयादित्य रणविक्रम उसका सहायक रहा। अत. ८१५ ई० मे शिवमारकी मृत्युपर उसका भाई विजयादित्य राजा हुआ किन्तु तुरन्त उसकी मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (८१५–८५३ ई०) मूल गंगराज्यका स्वामी हुआ। उसके साथ-ही-साथ शिवमारका द्वितीय

पुत्र और मारसिंहका छोटा भाई पृथ्वीपति प्रथम अपराजित भी राज्यके कुछ भागपर अधिकृत हुआ और गंगवंश फिर एक बार दो शाखाओमे विभक्त हुआ।

इसमे सन्देह नहीं कि शिवमार भारी योद्धा और पराक्रमी था, जैन-धर्मका भी वह महान् संरक्षक एवं भक्त था। वह स्वामी विद्यानन्दिका आश्रयदाता था, उसका पुत्र मारसिंह और भतीजा सत्यवाक्य भी उनके भक्त थे। इन गंगनरेशोके नाम-संकेत विद्यानन्दिके विभिन्न ग्रन्थोमे पाये जाते है। शिवमारने श्रवणबेलगोलके छोटे पर्वतपर एक सुन्दर जिनालय भी बनवाया था जिसे शिवमारन बसदि कहते है। ७९७ ई० मे युवराज मारसिह लोकत्रिनेत्रके सेनानायक श्रीविजयने श्रीविजय नामक सुन्दर जिनालय राजधानी मान्यपुरमे बनवाया था, उसके लिए युवराजने विपुल दान दिया था और कुन्दकुन्दान्वयके गुरु प्रभाचन्द्रका सम्मान किया था। ८०० ई० मे युवराज मारसिंह और उसके चाचा दुग्गमारने अंजनेय नामक सुन्दर मन्दिर बनवाया था। गंजम दान-पत्रके द्वारा इसी समयके लगभग इस शासकने जैनगुरुओंको और भी बहुत-सा दान दिया था तथा नन्दि पर्वतपर आचार्य कुन्दकुन्दका स्मारक भी बनवाया था। शिवमारके प्रान्तीय शासक विट्टिरस और विजयशक्तिरसने भी उसी कालमे जैनमन्दिरोका निर्माण कराया और उनके लिए दान दिया था। ८०१ ई० मे बसवट्टिके ईश्वर जिनालयका निर्माण हुआ। ८०२ ई० मे राष्ट्रकूट सम्राट् गोविन्द तृतीयने गंगराज्यमे मान्यपुरकी उपरोक्त श्रीविजय बसदिके लिए मन्ने दान-पत्र-द्वारा दान दिया और उदारगणके जैनगुरुओका सम्मान किया। ८०७ ई० मे राष्ट्रकूट गोविन्दके भाई कम्भने चामराजनगर दानपत्र-द्वारा अपने पुत्र शंकरगणकी प्रार्थनापर तालवननगरकी श्रीविजयवसदिके लिए कुन्दकुन्दान्वयके कुमारनन्दिके प्रशिष्य और एलाचार्यके शिष्य वर्धमान गुरुको दान दिया था। गोविन्दके कदब दानपत्र (८१२ ई०) से विदित होता है कि उस समय गंगराज्यमे राष्ट्रकूटोंका प्रतिनिधि चाकिराज

था जिसकी प्रार्थनापर राजाने शीलग्रामके जैन-मन्दिरके लिए यापनीय संघके गुरु अर्ककीर्तिको दान दिया था। शिवमार भारी विद्वान् और गुणी भी था, वह पतञ्जलिके फणिसूतमत प्रकरणका परिज्ञाता और गजाष्टक ग्रन्थका कर्त्ता भी था।

मूल शाखामें शिवमारका उत्तराधिकारी राचमल्ल सत्यवाक्य था जिसके आश्रयमें आचार्य विद्यानन्दिने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की। अपने पूर्वजोंकी नाईं वह भी जैनधर्मका भक्त था। दूसरी शाखामें उसीके समानान्तर राज्य करनेवाला पृथ्वीपति प्रथम अपराजित भी बड़ा पराक्रमी था। उसने बाणोंसे मैत्री की, राष्ट्रकूटोंसे निरन्तर युद्ध चालू रखा, उनके विरुद्ध दो बाण राजकुमारोंको शरण दी और पल्लवोंके सहयोगसे पाण्ड्य-नरेश वरगुण द्वितीयको करारी हार दी। युद्धमें ही उसकी मृत्यु हुई। इस राजाके गुरु जैनाचार्य अरिष्टनेमि थे। उनके समाधिमरणपूर्वक देहत्यागके समय पृथ्वीपति और उसकी रानी कम्पिला श्रवणबेलगोलके कटवप्र पर्वतपर स्वयं उपस्थित हुए थे। उसके पुत्र मारसिंहने ८५३ ई० में हिन्दूपुर ताम्रपत्र-द्वारा दान दिया था। उसका पुत्र पृथ्वीपति द्वितीय हस्तिमल्ल तथा पौत्र नन्नियगंग भी जैनधर्मके भक्त थे। ये राष्ट्रकूट कृष्णके सामन्त हो गये थे। इनके उपरान्त यह शाखा समाप्त हो गयी।

मूलशाखामें राचमल्ल सत्यवाक्यके समयसे गंगवंशकी शक्ति और समृद्धिका फिरसे उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। उसके गद्दीपर बैठनेके समय गंग राज्यकी स्थिति बड़ी डाँवाडोल थी—एक ओर राष्ट्रकूटोंकी महान् शक्ति, और दूसरी ओर बाण सरदार एवं नोलम्ब सामन्त उभड़ रहे थे। उसने बाण-नरेशको पराजित करके उसका दमन किया, नोलम्बाधिराजकी बहनके साथ अपना और अपनी पुत्रीके साथ उसका विवाह करके पल्लव नोलम्बोंको मित्र बनाया। राष्ट्रकूटोंके साथ उसका निरन्तर युद्ध चलता रहा। किन्तु अन्यत्र उलझे रहनेके कारण राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष गंगोंके विरुद्ध पूरी शक्ति कभी न लगा सका। राचमल्लने उत्तरी अर्काटके चित्तूर तालुकेके वल्लमलई

पर्वतपर गुफाएँ निर्माण करायीं और उनमे जिन-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायीं। उसके गुरु बालचन्द्रके शिष्य आर्यनन्दि थे। सम्भवतया यही ज्वालमालिनी-कल्पके रचयिता थे। राचमल्लके बाद ऐरगंग नीतिमार्ग प्रथम राजा हुआ। उसकी बहन जयब्बे पल्लव नोलम्बराजसे विवाही थी। अपने पुत्र युवराज बूटुग (भुतुग) का विवाह राष्ट्रकूट अमोघवर्पकी कन्या चन्द्रबेलब्बाके साथ करके उसने राष्ट्रकूटोंको भी मित्र बना लिया, यह मैत्री स्थायी हुई। कूड-लूर शिलालेखमे इस नरेशको 'परमपूज्य अर्हद्भट्टारकके चरणकमलोंका भ्रमर लिखा है, उसी शिलालेखमे युवराज भुतुगेन्द्र बुत्तरस गुणतुरंगको भी परम जैन लिखा है। उसी शिलालेखके निकट राजन् नीतिमार्गकी जैन सल्लेखना-का प्रस्तरांकन भी मिलता है जिसमे उनका विश्वासपात्र सेवक अगरव्य उन्हे सम्हाले हुए बैठा है और सम्मुख शोकमग्न युवराज खड़ा है। इस राजाने अनेक युद्धोमे वीरताके साथ विजय भी प्राप्त की बतायी जाती है, सम्भवतया वे युद्ध इसने राष्ट्रकूटोंकी सहायताके लिए किये थे। नीतिमार्गने ८५३-८७० ई० तक राज्य किया। युवराज भुतुगेन्द्र सम्भवतया पिताके समाधिमरणको देखकर विरक्त हो गया था, अतः नीतिमार्गके पश्चात् उसका दूसरा पुत्र राचमल्ल सत्यवाक्य द्वितीय (८७०-९०७ ई०) राजा हुआ। यह भी सम्भव है कि भुतुगेन्द्र राचमल्लका छोटा भाई हो और क्यों कि वह स्वय निस्सन्तान था अतः उसके समयमे ही वह युवराज कहलाया हो। राचमल्लके शासन-कालमे भुतुग कोगुनाड और पुन्नाडका शासक रहा प्रतीत होता है। इस राचमल्ल सत्यवाक्य द्वितीयने सन् ८८७ ई० मे वेलूर ताम्र शासन-द्वारा पेन्नेकडंगके स्वनिर्मित सत्यवाक्य-जिनालयके लिए शिव-नन्दि सिद्धान्त भट्टारकके शिष्य सर्वनन्दिको बारह ग्राम प्रदान किये थे। इन दोनो ही भाइयोने वेगिके चालुक्यो, पाण्ड्यों, पल्लवों आदिके साथ अनेक युद्ध किये और प्रशंसनीय विजय प्राप्त की। राचमल्लके जीवनमे ही भुतुगकी मृत्यु हो गयी अतः भुतुगका पुत्र एयरप्प ऐरेयगंग नीतिमार्ग द्वितीय सत्यवाक्य महेन्द्रान्तक युवराज हुआ और ताऊकी मृत्युके बाद (९०७ ई० मे)

राजा हुआ। उसका विवाह चालुक्य-राजकुमारी जकम्बाके साथ हुआ था। पल्लवोके विरुद्ध युद्ध करके उसने अनेक दुर्ग जीते थे। इस राजाने सुडहल्लि और तोरमवुके जिन-मन्दिरोको दान दिये थे। उसका पुत्र एव उत्तराधिकारी इरिववेडेंग नरसिंह सत्यवाक्य था, इसने थोडे समय ही राज्य किया, ९२० ई० के लगभग इसकी मृत्यु हो गयी। इसके गुरु द्रविड-संघी विमलचन्द्राचार्य थे। इस राजाके दो पुत्र थे, राचमल्ल सत्यवाक्य तृतीय और बुतुगगंग गगेय। राचमल्ल सत्यवाक्य तृतीय ९२० से ९३८ ई० तक राजा रहा। इसने वेंगिके चालुक्योको युद्धमे पराजित किया। इसी समय राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीयने पल्लव शक्तिको कुचल डाला और गग राचमल्ल-पर भी आक्रमण किया। युद्धमे राचमल्ल मारा गया। तदुपरान्त राष्ट्रकूटो-की सहायतासे उसका भाई बुतुग द्वितीय गंग गंगेय राजा हुआ। ९३८–९५३ ई० तक उसने राज्य किया। बुतुगका विवाह राष्ट्रकूट अमोघवर्ष तृतीयकी पुत्री और कृष्ण तृतीयकी बड़ी बहन रेवाके साथ हुआ था, उसका दूसरा विवाह कलम्बरसी नामक राजकुमारीसे हुआ था। राष्ट्रकूट राजकुमारीके साथ उसने पुलिगेरे, बेलवोला, किसुकद, बगे आदि विषय दहेजमे प्राप्त किये थे। यह राजा भी बड़ा पराक्रमी था, अनेक युद्धोमे इसने विजय प्राप्त की थी। वह एक प्रभावशाली शासक था और जैनधर्मका परम भक्त था। जैनमन्दिरों और गुरुओको उसने अनेक दान दिये थे। जैनसिद्धान्तका भी वह पण्डित था और परवादियोसे शास्त्रार्थ करनेका भी उसे चाव था। एक बौद्ध विद्वान्‌के साथ उसके शास्त्रार्थके उल्लेख मिलते हैं। सन् ९३८ के उसके सुदी दानपत्रसे पता चलता है कि उसकी एक अन्य रानी दिवलम्बिकाने ऐसी छह जैनआर्यिकाओके लिए जो तपस्यामे लीन थी वह दान समर्पित किया था। उसमे जैनगुरु नागदेव पण्डितका तथा राजाके वीरतापूर्ण कार्य-कलापोका भी उल्लेख है। उसके एक अन्य-गुरु कनकसेन वादिराज थे। सन् ९५० ई० के अतकूर दानपत्रमे बुतुग-द्वारा चोलोकी विजय और उनके सेनापति चोल राजकुमारके मारे जानेका उल्लेख है।

इस लेखसे यह भी प्रतीत होता है कि सम्भव है अपने भाई राचमल्ल तृतीय-की मृत्युमे उसका भी हाथ रहा हो। उसके कुडलूर ताम्रपत्रसे प्रकट है कि उसके परिवारके अन्य व्यक्ति भी जैनधर्मके भक्त थे। राजाकी बड़ी बहन पमब्बेने, जो बड़ी विदुषी थी एवं पोदियर दोरपय्यकी रानी थी और गुणचन्द्र भट्टारक तथा आर्यिका नाणब्बेकन्तिकी शिष्या थी, तीस वर्ष पर्यन्त जैन आर्यिकाके रूपमे तपस्या की थी और अन्तमे समाधिमरण-द्वारा उसकी मृत्यु हुई थी। राजाके हृदयपर इस घटनाका प्रभाव पड़ा। बुतुगके स्वयंके तथा उससे सम्बन्धित अन्य भी कई अभिलेख मिलते है। बुतुग द्वितीयके पश्चात् राष्ट्रकूट-राजकुमारी रेवासे उत्पन्न उसका पुत्र मरुलदेव (९५३–९६१) राजा हुआ। उसके अभिलेखोमे उसे 'जिनपदभ्रमर' लिखा है। इसका विवाह अपनी ममेरी बहन, राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीयकी कन्या बीजब्बे-के साथ हुआ था और उसके उपलक्ष्यमे मरुलको एक राजच्छत्र भी प्राप्त हुआ था। उसकी बहन सोमिदेवीका विवाह राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीयके पुत्रसे हुआ था जिससे इन्द्र चतुर्थका जन्म हुआ। राष्ट्रकूटोके साथ कई पीढियोंसे चले आते इन विवाह-सम्बन्धोकी शृंखलाने गंगवंशकी शक्ति काफी बढ़ा दी थी और इसीसे गंगनरेश वेंगिके चालुक्योंको बार-बार छका सके, पल्लवोको दबाये रख सके और चोलोंकी बढ़ती हुई शक्तिका निवारण कर सके।

मरुलके पश्चात् उसका सौतेला भाई मारसिह पल्लवमल्ल नोलम्ब-कुलान्तक गुत्तियगंग (९६१–९७४ ई०) राजा हुआ। उसका राज्य-विस्तार बहुत बड़ा था। यह इस वंशका अन्तिम महान् नरेश था। राष्ट्रकूट गंगोको अपना अधीनस्थ सामन्त समझते थे किन्तु वास्तवमे इस कालमे गंगनरेश ही राष्ट्रकूट-साम्राज्यके संरक्षक हो रहे थे। मारसिहके गंगकन्दर्प, गंगविद्याधर आदि और भी अनेक विरुद थे। उसने मालवापर आक्रमण करके सियक परमारको पराजित किया। श्रवणबेलगोलके कूगे ब्रह्मदेवस्तम्भपर उत्कीर्ण इस नरेशकी प्रशस्तिसे पता चलता है कि उसने

कृष्ण तृतीयके लिए गुर्जर देशको विजय किया, कृष्णके बली शत्रु अल्लका दमन किया, विन्ध्यप्रदेशके किरातोंको छिन्न-भिन्न किया, मान्यखेटमे चक्रवर्तीके कटककी रक्षा की, शिलाहार विज्जलसे युद्ध किया, बनवासीके राजाओंको पराजित किया, मातुरोका दमन किया, उच्चंगीके सुदृढ दुर्गको हस्तगत किया, सवर राजकुमार नरगका नाश किया, चेर चोल पाण्ड्य और पल्लवोका दमन किया, चालुक्य विजयादित्यका अन्त किया, इत्यादि। इन विजयोका उल्लेख करते हुए लेखमे लिखा है कि मारसिहने जैनधर्मका अनुपम उद्योत किया था और कई स्थानोमे दर्शनीय जिन-मन्दिर एवं मान-स्तम्भ निर्माण कराये थे। इस प्रकार भक्तिपूर्वक धर्मकार्य करते हुए मृत्युसे एक वर्ष पूर्व उसने राज्यका परित्याग कर दिया और उदासीन श्रावकके रूपमे शेष जीवन बिताया। अन्तमे तीन दिवसके सल्लेखना व्रत-द्वारा बंका-पुरमे उसने अपने गुरु अजितसेन भट्टारकके चरणोमे समाधिमरण किया। कुडलूर दान-पत्रसे प्रकट है कि "महाराज मारसिह परहित-साधनमे आनन्द लेता था, परधन परस्त्रीका त्यागी था, सज्जनोकी निन्दा सुननेमे बधिर था, साधुओ और ब्राह्मणोको दान तथा शरणागतोको अभय देनेमे सदैव तत्पर रहता था।" वह स्वयं एक उच्चकोटिका विद्वान् था, नाम वर्म और केशि-राज-जैसे कवियोने उसकी प्रतिभाकी मुक्तकण्ठसे प्रशसा की है। गुरुओकी वह सदा विनय करता था। उसके श्रुतगुरु ब्राह्मण श्रीधर भट्टके पुत्र जैना-चार्य मुंजार्य वादिघंगल भट्ट थे। यह आचार्य सिद्धान्त, दर्शन, न्याय, व्याकरण, राजनीति आदि विविध विषयोके महापण्डित और श्रेष्ठ कवि थे। वह वल्लभराज कृष्ण-जैसे नरेशो एवं उनके माण्डलिको और सामन्तों-द्वारा सम्मानित हुए थे। मारसिहने राष्ट्रकूटोकी अन्तसमय तक सहायता की। ९७४ ई० मे उसने राजत्याग किया था और ९७५ ई० मे एक आदर्श जैनकी मृत्यु पायी थी।

मारसिहके उपरान्त गंगराज्यमे गड़बड़ी फैल गयी। एक ओर उत्तरवर्ती चालुक्योकी और दूसरी ओर चोल-सम्राटोकी बढ़ती हुई

नवोत्थित शक्तियाँ थीं, राष्ट्रकूट साम्राज्यने दम तोड़ दिया था और गंगोंमे कोई योग्य व्यक्ति दिखाई नही पड़ रहा था। गंग पंचलदेवने, जो मारसिंहके अधीन सेब्बी विषयका शासक था और सम्भवतया राजवशसे ही सम्बन्धित था, गंगराज्यके बहुभागपर अधिकार कर लिया, जैसा कि उसके ९७५ ई० के मूलगुंड शिलालेखसे विदित होता है, किन्तु २-३ वर्षके भीतर ही चालुक्य तैलके सेनापति नागदेवने उसे पराजित करके युद्धमे मार डाला। पंचलदेव मारसिंहका न्याय्य उत्तराधिकारी नही था वरन् राज्य-अपहर्त्ता था। मारसिंहका वास्तविक उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई राचमल्ल सत्यवाक्य चतुर्थ था, पंचल देवने उसे आच्छादित कर लिया था किन्तु पंचलकी मृत्यु (९७६–७७ ई०) के बाद राचमल्ल ही वस्तुतः गंगराज्यका अधिपति हुआ। सन् ९७७ ई० के उसके दो अभिलेख नंजनगढ और मन्दयसे प्राप्त हुए है। ११२२ ई० के सिद्धेश्वर शिलालेखमे इस राचमल्लको मारसिंहका पुत्र लिखा है। राचमल्लके राजत्वका अन्त ९८४ ई० मे हुआ। गग-इतिहासके सन्ध्याकालमे अव्यवस्था एवं विपत्तियोसे भरा यह युग राचमल्लके अद्वितीय मन्त्री चामुण्डरायके कारण अमर हो गया। चामुण्डराय सम्भवतया गंगवंशमे ही उत्पन्न हुआ था। वह एक महान् राजनीतिज्ञ, सुदक्ष सेनानी, वीर योद्धा, परम स्वामिभक्त, कन्नड, संस्कृत और प्राकृतका महान् विद्वान्, कवि और लेखक, विद्वानों और कलाकारोका प्रश्रयदाता, अद्भुत निर्माणकर्त्ता और जैनधर्मके सर्वमहान् प्रभावकोमे-से था किन्तु गंगोंको ऐसे व्यक्ति का लाभ उस समय हुआ जब कि उनका सूर्य अस्ताचलगामी था। ऐसी विरुद्ध विषम परिस्थितियोंमे भी इस द्रुत-वेगसे पतनशील वंशको रक्षा एवं अभिभावकता चामुण्डरायने सफलतापूर्वक की और साथ ही दक्षिण भारतमे जैनधर्मकी स्थिति भी सुदृढ कर दी। चामुण्डराय राचमल्ल चतुर्थका ही नही बल्कि उसके पूर्वज मारसिह और उत्तराधिकारी राक्कस गंगका भी राजमन्त्री और सेनापति रहा प्रतीत होता है। अनेक युद्धोंमे सराहनीय

कृष्ण तृतीयके लिए गुर्जर देशको विजय किया, कृष्णके बली शत्रु अल्लका दमन किया, विन्ध्यप्रदेशके किरातोंको छिन्न-भिन्न किया, मान्यखेटमे चक्रवर्तीके कटककी रक्षा की, शिलाहार विज्जलसे युद्ध किया, बनवासीके राजाओको पराजित किया, मातुरोका दमन किया, उच्चंगीके सुदृढ़ दुर्गको हस्तगत किया, सवर राजकुमार नरगका नाश किया, चेर चोल पाण्डच और पल्लवोका दमन किया, चालुक्य विजयादित्यका अन्त किया, इत्यादि। इन विजयोका उल्लेख करते हुए लेखमे लिखा है कि मारसिहने जैनधर्मका अनुपम उद्योत किया था और कई स्थानोमे दर्शनीय जिन-मन्दिर एवं मान-स्तम्भ निर्माण कराये थे। इस प्रकार भक्तिपूर्वक धर्मकार्य करते हुए मृत्युसे एक वर्ष पूर्व उसने राज्यका परित्याग कर दिया और उदासीन श्रावकके रूपमे शेष जीवन बिताया। अन्तमे तीन दिवसके सल्लेखना व्रत-द्वारा बंका-पुरमे उसने अपने गुरु अजितसेन भट्टारकके चरणोमे समाधिमरण किया। कुडलूर दान-पत्रसे प्रकट है कि "महाराज मारसिह परहित-साधनमे आनन्द लेता था, परधन परस्त्रीका त्यागी था, सज्जनोकी निन्दा सुननेमे बधिर था, साधुओ और ब्राह्मणोको दान तथा शरणागतोको अभय देनेमे सदैव तत्पर रहता था।" वह स्वयं एक उच्चकोटिका विद्वान् था, नाम वर्म और केशि-राज-जैसे कवियोने उसकी प्रतिभाकी मुक्तकण्ठसे प्रशसा की है। गुरुओकी वह सदा विनय करता था। उसके श्रुतगुरु ब्राह्मण श्रीधर भट्टके पुत्र जैना-चार्य मुंजार्य वादिघंगल भट्ट थे। यह आचार्य सिद्धान्त, दर्शन, न्याय, व्याकरण, राजनीति आदि विविध विषयोके महापण्डित और श्रेष्ठ कवि थे। वह वल्लभराज कृष्ण-जैसे नरेशो एवं उनके माण्डलिको और सामन्तों-द्वारा सम्मानित हुए थे। मारसिहने राष्ट्रकूटोकी अन्तसमय तक सहायता की। ९७४ ई० मे उसने राजत्याग किया था और ९७५ ई० मे एक आदर्श जैनकी मृत्यु पायी थी।

मारसिहके उपरान्त गंगराज्यमे गड़बड़ी फैल गयी। एक ओर उत्तरवर्ती चालुक्योकी और दूसरी ओर चोल-सम्राटोकी बढ़ती हुई

नवोत्थित शक्तियाँ थीं, राष्ट्रकूट साम्राज्यने दम तोड़ दिया था और गंगोंमे कोई योग्य व्यक्ति दिखाई नही पड़ रहा था। गंग पंचलदेवने, जो मारसिहके अधीन सेब्बी विषयका शासक था और सम्भवतया राजवशसे ही सम्बन्धित था, गंगराज्यके बहुभागपर अधिकार कर लिया, जैसा कि उसके ९७५ ई० के मूलगुंड शिलालेखसे विदित होता है, किन्तु २-३ वर्षके भीतर ही चालुक्य तैलके सेनापति नागदेवने उसे पराजित करके युद्धमे मार डाला। पंचलदेव मारसिहका न्याय्य उत्तराधिकारी नही था वरन् राज्य-अपहर्त्ता था। मारसिंहका वास्तविक उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई राचमल्ल सत्यवाक्य चतुर्थ था, पंचल देवने उसे आच्छादित कर लिया था किन्तु पंचलकी मृत्यु (९७६–७७ ई०) के बाद राचमल्ल ही वस्तुतः गंगराज्यका अधिपति हुआ। सन् ९७७ ई० के उसके दो अभिलेख नंजनगढ़ और मन्दयसे प्राप्त हुए हैं। ११२२ ई० के सिद्धेश्वर शिलालेखमे इस राचमल्लको मारसिंहका पुत्र लिखा है। राचमल्लके राजत्वका अन्त ९८४ ई० मे हुआ। गग-इतिहासके सन्ध्याकालमे अव्यवस्था एवं विपत्तियोसे भरा यह युग राचमल्लके अद्वितोय मन्त्री चामुण्डरायके कारण अमर हो गया। चामुण्डराय सम्भवतया गंगवंश-मे ही उत्पन्न हुआ था। वह एक महान् राजनीतिज्ञ, सुदक्ष सेनानी, वीर योद्धा, परम स्वामिभक्त, कन्नड, संस्कृत और प्राकृतका महान् विद्वान्, कवि और लेखक, विद्वानों और कलाकारोका प्रश्रयदाता, अद्भुत निर्माणकर्त्ता और जैनधर्मके सर्वमहान् प्रभावकोमे-से था किन्तु गंगोको ऐसे व्यक्ति का लाभ उस समय हुआ जब कि उनका सूर्य अस्ताचलगामी था। ऐसी विरुद्ध विषम परिस्थितियोमे भी इस द्रुत-वेगसे पतनशील वंशको रक्षा एवं अभिभावकता चामुण्डरायने सफलतापूर्वक की और साथ ही दक्षिण भारतमे जैनधर्मकी स्थिति भी सुदृढ कर दी। चामुण्डराय राचमल्ल चतुर्थका ही नही बल्कि उसके पूर्वज मारसिह और उत्तराधिकारी राक्कस गंगका भी राजमन्त्री और सेनापति रहा प्रतीत होता है। अनेक युद्धोंमे सराहनीय

विजय प्राप्त करके उसने वीरमार्त्तण्ड, समरकेसरी, नोलम्ब-कुलान्तक आदि अनेक विरुद प्राप्त किये थे। वह बडा सच्चरित्र और धर्मात्मा था तथा चामुण्डराय पुराण, चरित्रसार आदि ग्रन्थोका रचयिता, रन्न आदि कवियों-का प्रश्रयदाता, गुरुओका सेवक और जिनेन्द्रदेवका परम भक्त था। उसकी स्वामिभक्ति आदर्श थी, वह चाहता तो स्वयं गंगराज्यका अधिपति हो सकता था। अपनी माताकी इच्छा पूरी करनेके लिए उसने सन् ९७८ ई० मे श्रवणवेलगोलमे पर्वतके ऊपर वह सुप्रसिद्ध विशाल उत्तुंग खड्गासन गोम्मटेश्वर बाहुबलिकी प्रतिमा निर्माण करायो जो रूप-शिल्प और मूर्त्ति-विज्ञानकी अद्वितीय कलाकृति है और अपनी मौलिकता, मनोज्ञ-शोभा, सुस्मित वीतरागध्यानस्थ मुद्रा, सादगी और विशालतामे अप्रतिम है। आचार्य अजितसेन चामुण्डरायके गुरु थे, यही मारसिहके भी गुरु थे। चामुण्डरायकी प्रेरणापर आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने अपने गोमट्ट-सार, त्रिलोकसार आदि सुप्रसिद्ध सिद्धान्त-ग्रन्थोकी रचना की थी।

९८५ ई० मे राचमल्लके छोटे भाई गोविन्द या वासवका पुत्र राक्कस गंग राजा हुआ। किन्तु यह भी निस्सन्तान था और उसने अपनी दो भतीजियो और एक भानजे विद्याधरका पालन-पोषण किया था। उसने अपने वंश और राज्यको स्थिर रखनेका यथाशक्य प्रयत्न किया। राक्कस-गंग परमानदिके गुरु आचार्य हेमसेनके शिष्य श्रीविजयदेव थे। कन्नड कादम्बरी और छन्दाम्बुधि ग्रन्थोके रचयिता कन्नडके सुप्रसिद्ध जैनकवि नागवर्म इस राजाके आश्रित थे। इस राजाने राजधानी तलकाडमे व अन्यत्र जैनमन्दिर बनवाये, वेलूरमे एक सरोवर बनवाया और दान दिये। राक्कस गंगका राज्य कबतक चला निश्चित नही कहा जा सकता। सम्भवतया १०२४ ई० तक वह जीवित रहा किन्तु १००४ ई० के लगभग ही चोलोने आक्रमण करके गंगवाडि राज्यका अन्त कर दिया था, राजधानी तलकाड-पर अधिकार कर लिया था और गंगप्रदेशको अपने साम्राज्यका अंग बना लिया था। तथापि गंगवंशका समूल नाश नही हुआ। मूलवंश एवं राज्य

भी एक छोटे से उपराज्यके रूपमे चलता रहा प्रतीत होता है। राक्कसके बाद नीतिमार्ग तृतीय राचमल्ल राजा रहा प्रतीत होता है। १०४० ई० के एक शिलालेखसे ज्ञात होता है कि इस राजाके गुरु मूलसंघ द्रविडान्वय के वज्रपाणि पण्डित थे। १०२२ ई० के एक शिलालेखसे उस समय एक गंग परमानदिका राजा होना पाया जाता है जो सम्भवतया नीतिमार्गका पूर्ववर्ती उक्त राक्कसगंग ही होगा। एक गंग राजकुमारी चालुक्य सम्राट् सोमेश्वर प्रथमकी रानी और सुप्रसिद्ध विक्रमांकदेव (१०७६–११२६ ई०) की जननी थी। उक्त राचमल्ल नीतिमार्गके बाद राक्कसगंग द्वितीय राजा हुआ। उसकी पुत्री ही चालुक्य सोमेश्वरसे विवाही प्रतीत होती है। इस राक्कसगंगके गुरु जैनाचार्य अनन्तवीर्य सिद्धान्तदेव थे। उसका उत्तराधिकारी एवं छोटा भाई कलिगंग भी परम जैन था। सम्भवतया इसी गंगनरेशने सन् १११६ ई० मे मैसूर प्रदेशसे चोलोको निकाल बाहर करके अपने स्वामी होयसल नरेश विष्णुवर्धनका साम्राज्य स्थापित किया था। इस कलिगंगके ही शासनकालमे उसका प्रधान सामन्त भुजबल गंगपरमादि बर्म्मदेव था जो जैनाचार्य मुनिचन्द्रका शिष्य था जैसा कि सन् १११५ ई० के उसके एक अभिलेखसे ज्ञात होता है। भुजबलका पुत्र नन्नियगंग आचार्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तका शिष्य था। नन्नियगंगके सन् ११२२ ई० के शिमोगा-तालुक़के सिद्धेश्वर बसदि शिलालेखसे गंगोके पूर्व इतिहासके सम्बन्धमे अनेक रोचक तथ्य प्राप्त होते है। शिलालेखसे यह भी ज्ञात होता है कि इस राजाने मण्डलि विषयके एडेदोर तालुकाके अन्तर्गत मण्डलि पर्वतपर स्थित उस प्राचीन जिनालयका जीर्णोद्धार कराया था जिसे गंगवंश-संस्थापक दड्डिग और माधवने बनवाया था, जिसके लिए सभी गंग-नरेश दान देते रहे और संरक्षण करते रहे थे, जिसे कालान्तरमे काष्ठसे निर्मित किया गया था और जिसे भुजबलके पिताने पुनः निर्मित कराया था तथा जिसे भुजबलने पट्टदइ बसदि (राज्यमौलि मन्दिर) नाम देकर उसे राज्यके समस्त मन्दिरोमे प्रधान पद दिया था, और यह कि उसी बसदिको अब भुजबलके

पुत्र नन्नियगंगने पाषाण-निर्मित कराकर विपुल दान दिया। नन्नियगंगने जैनधर्मकी प्रभावनाके लिए पच्चीस अन्य जिन-चैत्यालय भी बनवाये थे। उसके भाई सत्यगंगने कुरुली तीर्थपर गंग-जिनालय निर्माण कराया और अपने गुरु माधवचन्द्र देवको दान दिया।

इस प्रकार चोलो और होयसलोके उपराजोके रूपमे गंगनरेश तथा अन्य गंगसामन्त सरदार विजयनगर काल तक चलते रहे। इस वंशका अन्तिम प्रतिनिधि उम्मथूरका गंग राजा रहा प्रतीत होता है जिसने कावेरी-के मुहानेके निकट शिवसमुद्रम् नामक टापूमे अपनी स्थिति पर्याप्त सुदृढ़ कर ली थी और जिसका दमन अन्ततः विजयनगर-नरेश कृष्णदेव राय महान्‌ने सन् १५११ ई० में किया था।

गंगवंशकी पूर्वी शाखा ५वी शताब्दीसे ही कलिंग देशपर शासन कर रही थी। इन नरेशोने गजपति उपाधि धारण की थी, गंगसंवत् प्रचलित किया था अनेक दानपत्र लिखाये और अनेक ऊँच-नीच देखते हुए त्रिकलिंगके एक प्रमुख राजवंशके रूपमे यह वंश ११वी शती तक चलता रहा। इस पूर्वी शाखाके राजराजा नामक अन्तिम गंगनरेशने चोल-नरेश राजेन्द्र चोल देवकी पुत्रीसे विवाह किया। उसके पुत्र अनन्तवर्मन् चोलगंग (१०७८–११४२ ई०) ने पूर्वमे उत्कलके पराभूत राजाको पुनः स्थापित किया और पश्चिममे वेंगिके पतनोन्मुख राजाको सहारा दिया। इस चोल-गंगका वंश १६वी शतीके मध्य तक चलता रहा और अन्ततः मुसलमानोने उसका अन्त किया। गंगोकी यह पूर्वी शाखा भी जैनधर्मके प्रति उदार और सहिष्णु रही। पश्चिमी शाखाकी भाँति यह धर्म पूर्वी शाखाका राजधर्म और कुलधर्म तो नही रहा फिर भी अनेक राजे इस धर्मके अनुयायी रहे और उसके प्रति उदार एवं सहिष्णु तो प्रायः सभी रहे। गंगोकी पासिण्डि शाखाके गंगराज नागवर्म आदि सामन्त भी जैन थे।

इस प्रकार दक्षिण भारतका गंगवंश एक सर्वाधिक दीर्घजीवी राजवंश था। बीच-बीचमे उसने साम्राज्य-शक्तिका रूप भी धारण किया, चिर-

काल तक एक महत्त्वपूर्ण एवं बलवान् राज्यशक्ति तो वह बना ही रहा। उसकी पैरवि, कैरवि, पासिण्डि, पूर्वी या कलिगी आदि अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ हुई, गंगवंशमे उत्पन्न अनेक व्यक्ति स्वयं गंगराज्यके तथा अन्य दक्षिणी राज्यवंशोके सामन्त सरदार भी रहे और इस वंशका कुलधर्म एवं बहुधा राजधर्म भी जैनधर्म ही रहा जिसके संरक्षण और प्रभावनाके लिए गंगवंशके पुरुषों, स्त्रियों, सामन्त सरदारों, राज्यकर्मचारियों और जनताने निरन्तर यथाशक्य उद्योग किया। फलस्वरूप जैनाचार्योंने कन्नड, तमिल, संस्कृत, प्राकृत—विभिन्न भाषाओमे विविधविषयक विपुल साहित्यका सृजन किया, लोक-शिक्षामे प्रधान योग दिया और राजाओंका पथ-प्रदर्शन किया, जनताके नैतिक स्तरको उन्नत बनाये रखा और अनेक लोकोपकारी कार्य किये। साथ ही देशमे रूप एवं शिल्प-स्थापत्यकी अनेक सुन्दर कला-कृतियाँ निर्मित हुई। लक्ष्मेश्वरकी रायराचमल्ल बसदि, गंगपरमादि चैत्यालय, गंगकन्दर्प चैत्यालय, तलकाड और मान्यपुरकी श्रीविजय बसदि, सत्यवाक्य जिनालय, श्रवणबेलगोलकी शिवमारन बसदि आदि अनेक भव्य मन्दिर इस तथ्यके प्रमाण है।

अध्याय ८

दक्षिण भारत [२]

पूर्व अध्यायमे हम देख चुके है कि ३री शती ई० के मध्य तक दक्षिण भारतमे न केवल आन्ध्र सातवाहनोके प्रभुत्वका अन्त हो चुका था वरन् उनके नाग महारथी आदि आन्ध्रभृत्य सरदार सामन्तोकी सत्ता भी समाप्त हो चुकी थी। तमिल देशके पाण्डय, चेर और चोल राज्य भी एकके बाद एक अल्पकालीन चमक दिखाकर पुनः हतप्रभ हो चुके थे। साथ ही २री शती ई० के उत्तरार्धमे पल्लव, कदम्ब और गंग नामक तीन नवीन राजवंशोकी स्थापना हो चुकी थी और आगे ३रीसे लेकर ६ठी शताब्दी ई० पर्यन्त दक्षिण भारतका इतिहास इन्ही ३ राज्योके संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विताका इतिहास था। इनमे भी ३री-४थी शताब्दियोमे काचीके पल्लव राजे सर्वाधिक शक्तिशाली रहे और सम्राट् कहलाये, ४थी-५वी शताब्दियोमे बनवासीके कदम्बोका वैसा ही चरमोत्कर्ष हुआ और ५वी-६ठी शताब्दियों-मे तलकाडके गंगनरेश दक्षिण भारतके सर्वाधिक शक्तिशाली एवं प्रतापी सम्राट् थे। किन्तु ५वी शताब्दीके उत्तरार्धमे दक्षिण भारतके महाराष्ट्र प्रदेशमे एक नवीन राज्यशक्तिका उदय हुआ जिसने ६ठी शताब्दीमे बल पकडा और जो ७वी शताब्दीमे दक्षिणके ही नही सम्पूर्ण भारतवर्षके सर्वाधिक शक्तिशाली एव समृद्ध साम्राज्यमे परिणत हो गयी। यह राज्य-शक्ति चालुक्योकी थी और वातापी (बदामी) के पश्चिमी चालुक्य वंशके रूपमे इसका जन्म हुआ था।

वातापीके पश्चिमी चालुक्य—इस वंशसे सम्बन्धित अनुश्रुतियोके

अनुसार चालुक्योंका मूलपुरुष अयोध्यासे दक्षिण भारतमें आया था। चालुक्य लोग अपने-आपको सोमवंशी क्षत्रिय, मानव्यगोत्री और हारीतके पुत्र बतलाते थे। वराहको इन्होंने अपना राज्य-चिह्न बनाया था। ५वी शताब्दी ई० के उत्तरार्धमे विजयादित्य चालुक्य नामका एक साहसी सैनिक रहा प्रतीत होता है जो तलवारके द्वारा अपने भाग्यका निर्माण करना चाहता था। कडप्पा ज़िलेके मुडिवेमि नामक ग्रामको जो उस समय पल्लवोंके राज्यके अन्तर्गत था, उसने अपना केन्द्र बनाया और अपनी शक्ति बढानी प्रारम्भ की। किन्तु पल्लवोके हाथो युद्धमे उसकी मृत्यु हो गयी। उसका पुत्र जयसिंह पिताकी मृत्युके पश्चात् उत्पन्न हुआ था। विष्णुभट्ट नामक एक ब्राह्मणने उसका पालन-पोषण किया इसलिए जयसिंहने विष्णु-वर्द्धन उपाधि ग्रहण की। वह भारी योद्धा था और सम्भवतया राजसिंह और रणपराक्रमांक भी कहलाता था। युवावस्थामे महाकवि भारविका यह मित्र और साथी रहा था। दुर्विनीत गंगने जो उस समय युवराज ही था, जयसिंहकी वीरता और पराक्रमसे प्रसन्न होकर उसके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया था। जयसिंह पल्लवोसे अपने पैतृक राज्यको जीतनेका प्रयत्न करता रहा, साथ ही महाराष्ट्रके राष्ट्रिकोंका कुछ प्रदेश छीनकर उसने वातापी (बदामी) को अपनी राजधानी बनाया। ऐहोल और अलक्तकनगर (अल्तम) उसके छोटे-से राज्यके प्रमुख नगर थे। पल्लव चण्डदण्ड त्रिलोचनके साथ युद्धमे जयसिंहकी मृत्यु हो गयी। इसपर दुर्विनोत गंगने अपने दौहित्र रणराग एरेयप्प सत्याश्रयको, जो जयसिंहका एकमात्र पुत्र था और अभी नवयुवक ही था, प्रश्रय दिया और उसकी ओरसे पल्लव-नरेशपर भीषण आक्रमण किया। चण्डदण्ड युद्धमे मारा गया और दुर्विनीतने अपने नाती रणरागको उसके पिताके सिंहासनपर बिठाया और उसके राज्य एवं स्थितिको सुदृढ़ किया। इस एरेयप्प सत्याश्रय रणरागके भुजगसेन्द्रकवंशी सामन्त कुन्दशक्तिके पुत्र दुर्गशक्तिने पुलिगेरे (लक्ष्मेश्वर) के शंखतीर्थ जिनालयके लिए भूमिदान दिये थे। रणरागका

पुत्र एवं उत्तराधिकारी पुलकेशी प्रथम बडा वीर, प्रतापी और योग्य शासक था और यद्यपि इस चालुक्यवंशका मूलपुरुष विजयादित्य था तथापि इस वंशका प्रथम वास्तविक नरेश और राज्य-संस्थापक पुलकेशी महान् (मृगराज) प्रथम ही था। उसके राज्यमे जैनधर्मका पर्याप्त प्रचार था, जैन-गुरुओका निरन्तर विहार होता था और उसके अनेक सामन्त सरदार और कर्मचारी जैन थे। शक सं० ४६४ (सन् ५४२ ई०) में सम्भवतया अपने राज्यके ११वें वर्षमे उसने अपने सैन्द्रकवंशी सामन्त सामियारके सहयोगसे अलक्तकनगर (अल्तम) मे एक जिनालयका निर्माण कराया था और उसके लिए ग्राम-दान दिया था और शिलालेख अंकित कराया था जिसमे कनकोपल शाखाके जैनाचार्य सिद्धनन्दि, चित्तकाचार्य, नागदेव और जिननन्दिके नामोल्लेख है। राजधानी वातापीमे भी उसके समयमे एक जिनालय बना प्रतीत होता है। वातापी और अलक्तकनगरके अतिरिक्त ऐहोल भी पुलकेशी प्रथमके समयमे ही एक प्रमुख जैन केन्द्र बन गया था।

पुलकेशी प्रथमका शासन ५३२ से ५६५ ई० के लगभग तक रहा प्रतीत होता है। इस राजाने अश्वमेध यज्ञ भी किया बताया जाता है। उसका अधिकांश जीवन अपनी स्थितिको सुदृढ बनाने, अपने राज्यको सुरक्षित रखने और जब अवसर मिला राष्ट्रिको, कदम्बो और पल्लवोके प्रदेशोको दबा-दबाकर अपने राज्यका विस्तार करनेमे ही बीता। उसके उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र कीर्त्तिवर्मन् प्रथम राजा हुआ और सन् ५६५ से ५९७ ई० तक उसने राज्य किया। इस राजाने अनेक युद्ध किये और चालुक्य राज्यका विस्तार किया। विशेषकर बनवासीके कदम्बो, कोकणके मौर्यो, नलवाडीके नलो तथा गंगो और अलूवोको पराजित करके उनके प्रदेश जीते। यह राजा भी जैनधर्मका अनुयायी था। सन् ५६७ ई० के लगभग उसने जैन-मन्दिरमे जिनेन्द्रके अभिषेक तथा अक्षत, पुष्प, धूप, दीप आदिसे जिनेन्द्रके पूजनके लिए विपुल दान दिया था। उसीके

राज्यकालमे सन् ५८५ ई० मे जैनाचार्य रविकीर्त्तिने ऐहोळके निकट मेगुतीमे एक जिन-मन्दिर बनवाया था और एक विशाल जैन विद्यापीठकी स्थापना की थी। ऐहोल (ऐविल्ल या आर्यपुर) मे स्वयं एक बडा जैन-गुहामन्दिर था जिसमे सहस्र फणयुक्त पार्श्व-प्रतिमा स्थापित थी। ५९७ ई० मे कीर्त्तिवर्मन् प्रथमकी मृत्यु हुई। उस समय उसके पुळकेशिन्, विष्णुवर्धन और जयसिह आदि पुत्र बालक थे अतएव उनके चाचा मंगलीशने राज्य-सिहासन हस्तगत कर लिया और ५९७–६०८ ई० तक राज्य किया। मंगलीशने कलचुरी-नरेश शंकरगणके पुत्र राजकुमार बुद्धको पराजित किया और रेवती द्वीपपर अधिकार किया। सम्भवतया इसी राजाके शासनकालमे महाराष्ट्र देशके अलक्तकनगर (अल्तेम) मे चालुक्योके लघुह्व्व नामक एक उपराजाकी पत्नीने सुप्रसिद्ध जैनाचार्य भट्टाकलंक देवको जन्म दिया था। बदामीकी प्रसिद्ध गुफाओंका निर्माण भी इसीके समयमे प्रारम्भ हुआ।

मंगलीशके उपरान्त उसका भतीजा और कीर्तिवर्मन् प्रथमका ज्येष्ठ पुत्र पुलकेशिन् द्वितीय सत्याश्रय (६०८–६४२ ई०) चालुक्य राज्यका स्वामी हुआ। अपने चाचा मंगलीश-द्वारा राज्यापहरण कर लिये जानेके कारण उसे वयस्क होनेके बाद कुछ वर्ष राज्यसे निर्वासित रहकर बिताने पड़े थे। सन् ६०८ ई० के लगभग कुछ शक्ति संग्रह करके उसने मंगलीश-को गद्दीसे उतार दिया और उसे तथा उसके पुत्रको राज्यसे निकाल दिया। सम्भवतया इसी समयके लगभग मंगलीशकी मृत्यु भी हो गयी। राज्यको गृह-शत्रुओसे निष्कण्टक करके और अपनी स्थितिको सुदृढ एवं सुरक्षित करके उसने अपना विधिवत् राज्याभिषेक कराया। तदुपरान्त उसने बाह्य शत्रुओ तथा राज्य-विस्तारकी ओर ध्यान दिया। पूर्वमे महेन्द्रवर्मन् पल्लव कर्णाटककी ओर बढ रहा था और उत्तरकी ओरसे हर्ष शिलादित्य आक्रमण कर रहा था। पुलकेशीने गंगो और अलूपोको अपना मित्र और सहकारी बनाया, उसने बनवासीके अप्पायिक और गोविन्द नामक कदम्ब नरेशोको पराजित करके कदम्बोकी स्वतन्त्र सत्ताका अन्त किया,

पुत्र एवं उत्तराधिकारी पुलकेशी प्रथम बडा वीर, प्रतापी और योग्य शासक था और यद्यपि इस चालुक्यवंशका मूलपुरुष विजयादित्य था तथापि इस वंशका प्रथम वास्तविक नरेश और राज्य-संस्थापक पुलकेशी महान् (मृगराज) प्रथम ही था। उसके राज्यमे जैनधर्मका पर्याप्त प्रचार था, जैन-गुरुओका निरन्तर विहार होता था और उसके अनेक सामन्त सरदार और कर्मचारी जैन थे। शक सं० ४६४ (सन् ५४२ ई०) मे सम्भवतया अपने राज्यके ११वें वर्षमे उसने अपने सैन्द्रकवंशी सामन्त सामियारके सहयोगसे अलक्तकनगर (अल्तम) मे एक जिनालयका निर्माण कराया था और उसके लिए ग्राम-दान दिया था और शिलालेख अंकित कराया था जिसमे कनकोपल शाखाके जैनाचार्य सिद्धनन्दि, चित्तकाचार्य, नागदेव और जिननन्दिके नामोल्लेख है। राजधानी वातापीमे भी उसके समयमें एक जिनालय बना प्रतीत होता है। वातापी और अलक्तकनगरके अतिरिक्त ऐहोल भी पुलकेशी प्रथमके समयमे ही एक प्रमुख जैन केन्द्र बन गया था।

पुलकेशी प्रथमका शासन ५३२ से ५६५ ई० के लगभग तक रहा प्रतीत होता है। इस राजाने अश्वमेध यज्ञ भी किया बताया जाता है। उसका अधिकांश जीवन अपनी स्थितिको सुदृढ बनाने, अपने राज्यको सुरक्षित रखने और जब अवसर मिला राष्ट्रिको, कदम्बो और पल्लवोके प्रदेशोको दबा-दबाकर अपने राज्यका विस्तार करनेमे ही बीता। उसके उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र कीर्त्तिवर्मन् प्रथम राजा हुआ और सन् ५६५ से ५९७ ई० तक उसने राज्य किया। इस राजाने अनेक युद्ध किये और चालुक्य राज्यका विस्तार किया। विशेषकर वनवासीके कदम्बो, कोंकणके मौर्यो, नलवाडीके नलो तथा गंगों और अलूवोको पराजित करके उनके प्रदेश जीते। यह राजा भी जैनधर्मका अनुयायी था। सन् ५६७ ई० के लगभग उसने जैन-मन्दिरमे जिनेन्द्रके अभिषेक तथा अक्षत, पुष्प, धूप, दीप आदिसे जिनेन्द्रके पूजनके लिए विपुल दान दिया था। उसीके

राज्यकालमे सन् ५८५ ई० मे जैनाचार्य रविकीर्त्तिने ऐहोळके निकट मेगुतीमे एक जिन-मन्दिर बनवाया था और एक विशाल जैन विद्यापीठकी स्थापना की थी। ऐहोल (ऐविल्ल या आर्यपुर) मे स्वयं एक बड़ा जैन-गुहामन्दिर था जिसमे सहस्र फणयुक्त पार्श्व-प्रतिमा स्थापित थी। ५९७ ई० मे कीर्त्तिवर्मन् प्रथमकी मृत्यु हुई। उस समय उसके पुळकेशिन्, विष्णुवर्धन और जयसिह आदि पुत्र बालक थे अतएव उनके चाचा मंगलीशने राज्य-सिहासन हस्तगत कर लिया और ५९७–६०८ ई० तक राज्य किया। मंगलीशने कलचुरी-नरेश शंकरगणके पुत्र राजकुमार बुद्धको पराजित किया और रेवती द्वीपपर अधिकार किया। सम्भवतया इसी राजाके शासनकालमे महाराष्ट्र देशके अलक्तकनगर (अल्तेम) मे चालुक्योके लघुहृव्व नामक एक उपराजाकी पत्नीने सुप्रसिद्ध जैनाचार्य भट्टाकलंक देवको जन्म दिया था। बदामीकी प्रसिद्ध गुफाओका निर्माण भी इसीके समयमे प्रारम्भ हुआ।

मंगलीशके उपरान्त उसका भतीजा और कीर्तिवर्मन् प्रथमका ज्येष्ठ पुत्र पुलकेशिन् द्वितीय सत्याश्रय (६०८–६४२ ई०) चालुक्य राज्यका स्वामी हुआ। अपने चाचा मंगलीश-द्वारा राज्यापहरण कर लिये जानेके कारण उसे वयस्क होनेके बाद कुछ वर्ष राज्यसे निर्वासित रहकर बिताने पड़े थे। सन् ६०८ ई० के लगभग कुछ शक्ति संग्रह करके उसने मंगलीश-को गद्दीसे उतार दिया और उसे तथा उसके पुत्रको राज्यसे निकाल दिया। सम्भवतया इसी समयके लगभग मंगलीशकी मृत्यु भी हो गयी। राज्यको गृह-शत्रुओसे निष्कण्टक करके और अपनी स्थितिको सुदृढ़ एवं सुरक्षित करके उसने अपना विधिवत् राज्याभिषेक कराया। तदुपरान्त उसने बाह्य शत्रुओ तथा राज्य-विस्तारकी ओर ध्यान दिया। पूर्वमे महेन्द्रवर्मन् पल्लव कर्णाटककी ओर बढ रहा था और उत्तरकी ओरसे हर्ष शिलादित्य आक्रमण कर रहा था। पुलकेशीने गगो और अलूवोको अपना मित्र और सहकारी बनाया, उसने बनवासीके अप्पायिक और गोविन्द नामक कदम्ब नरेशोंको पराजित करके कदम्बोकी स्वतन्त्र सत्ताका अन्त किया,

कोकण एव पुरीके मौर्यो, तथा लाट, गुर्जर और मालवाके राजाओका दमन किया। ६१५ ई० मे ही पिष्टपुर एव कोनाल झीलको हस्तगत करके सम्पूर्ण आन्ध्रदेशपर उसने अधिकार कर लिया और आन्ध्रकी राजधानी वेंगिमे अपने छोटे भाई कुब्जविष्णुवर्धनको प्रान्तीय शासक नियुक्त किया। यही व्यक्ति वेगिके पूर्वी चालुक्यवंशका, जो कालान्तरमे वातापीके मूल वंशसे स्वतन्त्र हो गया, संस्थापक हुआ। पुलकेशीने कांचीके महेन्द्रवर्मन् प्रथम पल्लवको बुरी तरह दमन करके पाण्ड्य, चोल, केरलके तमिल राज्योको पल्लवोके त्राससे मुक्त किया और शान्ति प्रदान की। ६२५ ई० मे उसने ईरानके शाह खुसरो द्वितीयके दरबारमे अपने राजदूत भेजे। पुलकेशीका समकालीन उत्तरापथका स्वामी थानेश्वर—कन्नौजका सुप्रसिद्ध हर्षवर्धन शिलादित्य था। पुलकेशी उसका सबसे प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था। उसके भयसे ही हर्षने वल्लभीके मैत्रक राजाके साथ अपनी पुत्रीका विवाह करके उसे अपना मित्र बनाया, साथ ही कलिंग कोंगदके तत्कालीन बौद्ध नरेशको भी अपना मित्र बनाया। गुजरात और कलिंग दोनो ही मार्गोसे हर्षने दक्षिण भारतमे प्रवेश करनेका कई बार प्रयत्न किया किन्तु पुलकेशीकी शक्ति एव पराक्रमके कारण असफल ही रहा। हर्षके ऊपर विजय प्राप्त करनेके पश्चात् पुलकेशीने परमेश्वर उपाधि धारण की, अब वह एक महान् सम्राट् था। यह कहना कठिन है कि हर्ष और पुलकेशीमे कौन अधिक महान् था। किन्तु इसमे सन्देह नही कि राज्यविस्तार, शक्ति, समृद्धि, प्रताप और प्रभाव आदिमे चालुक्य सम्राट् पुलकेशी सम्राट् हर्ष-वर्धनसे कम नही था। हर्षवर्धन यदि बौद्धधर्मका भारी समर्थक था तो पुलकेशी जैनधर्मका महान् पोषक था। किन्तु इन दोनो ही सम्राटोके बीच एक समानता थी, वे दोनो ही अन्य सर्वधर्मोके प्रति अत्यन्त उदार और सहिष्णु थे। इस सर्वधर्म-समदर्शितामे भी पुलकेशी हर्षसे कुछ आगे ही था। सन् ६३४ ई० मे सम्राट् पुलकेशीने अपनी दिग्विजयके उपरान्त राजधानी वातापीमे प्रवेश किया। उत्तरमे उसके विशाल साम्राज्यकी

सीमा रेवा नदीको स्पर्श करती थी और दक्षिणमे समुद्रसे समुद्र पर्यन्त उसका विस्तार था, समुद्र पारके अनेक द्वीपोंपर भी उसका अधिकार और प्रभाव था। सन् ६३४ ई० मे राजधानीमे प्रवेश करनेके उपरान्त सम्राट् पुलकेशी द्वितीयका सर्वप्रथम कार्य अपने गुरु जैनाचार्य रविकीर्त्तिको उनके द्वारा निर्मित ऐहोलके जिनमन्दिर एवं अधिष्ठानके लिए उदार दान देकर सम्मानित करनेका था। इस समय सम्भवतया वहाँ किसी नवीन जिनालयका भी निर्माण हुआ था। रविकीर्त्ति भारी विद्वान् एवं महाकवि थे। उनकी काव्य-प्रतिभाकी तुलना महाकवि कालिदास और भारविके साथ की जाती थी। इस दानके उपलक्ष्यमे स्वयं रविकीर्त्तिने ही ऐहोलके जिनमन्दिरमे उत्कीर्ण सम्राट् पुलकेशीकी वह विस्तृत, भाव एवं कलापूर्ण संस्कृत प्रशस्ति रची थी जो उक्त सम्राट्के चरित्र और कार्यकलापोके लिए हमारा सर्वप्रधान ऐतिह्य आधार है। इस कालके सर्वमहान् जैनाचार्य अकलंकदेव है जो स्वयं रविकीर्त्ति अपर नाम रविभद्रके ही शिष्य रहे प्रतीत होते है। सम्राट् पुलकेशीके आदरपूर्ण प्रश्रयमे ही उनकी प्रतिभा, विद्वत्ता, वाग्मिता इस समय चमकनी प्रारम्भ हुई थी। इसी कालमे बदामी और अजन्ताके उन प्रसिद्ध गुहामन्दिरोका निर्माण हुआ जिनमे सम्राट्के प्रश्रयमे जैन एवं बौद्ध कलाकारोने उन विश्वविश्रुत भित्तिचित्रोका निर्माण किया जो अपने कलापूर्ण सौन्दर्यके लिए अद्वितीय है। इन चित्रोमे कतिपय ऐतिहासिक दृश्य भी है। इसी वर्ष अद्दूर (धारवाड) मे नगरसेठ-द्वारा निर्मित जैनमन्दिरको सम्राट्ने दान दिया। सन् ६३८–४० ई० के लगभग चीनी यात्री हुएन-सागने पुलकेशीके राज्य और राजधानीकी यात्रा की थी। उसके विवरणोसे भी पुलकेशीकी शक्ति और महत्ता, राज्यका वैभव, समृद्धि और शान्ति, राजा-प्रजा दोनोमे ही विद्याओं और कलाओकी साधना आदि-का पर्याप्त पता चल जाता है। इस चीनी यात्रीके ही विवरणोसे इस बातमे भी सन्देह नही रहता कि चालुक्य-साम्राज्यमे बौद्धोकी अपेक्षा जैनमन्दिरो, उनके निर्ग्रन्थ साधुओ और गृहस्थ अनुयायियोंकी संख्या कही अधिक थी।

वस्तुतः चालुक्य सम्राट् पुलकेशीकी गणना मात्र दक्षिणके नहीं, सम्पूर्ण भारतके सर्वमहान् सम्राटों एवं नरेशोंमें की जाती है। सन् ६४० ई० के लगभग उसे फिर युद्धोंमें संलग्न होना पड़ा। पल्लव नरसिंहवर्मन् प्रथम चालुक्य-नरेशके हाथों अपने पिताकी तथा स्वयं अपनी पूर्व पराजयोंके कारण अत्यन्त क्षुब्ध था। उसने चुपके-चुपके शक्ति संग्रह की। वह अवसर-की ताकमें था। इधर पुलकेशी युद्धोंसे विराम लेकर शान्तिपूर्ण कार्योंमें रत था और असावधान हो गया। अस्तु, सन् ६४१–४२ ई० में पल्लव नरसिंहवर्मन्ने चालुक्योंपर भीषण आक्रमण किया। परिमल, मणिमंगल और शूरमार नामक स्थानोंमें भयंकर युद्ध हुए। अन्तमें पुलकेशी स्वयं युद्धमें मारा गया और युद्धका पासा पलट गया। पल्लव सेनापति शिरुत्तोंड चालुक्य राजधानी वातापी तक चढ़ दौड़ा, और उसने उसे लूटा एवं विध्वंस किया।

पुलकेशीके पुत्र चालुक्य विक्रमादित्य प्रथम साहसांक अथवा साहस-तुंग (६४२-६८० ई०) को अपने पिताकी मृत्यु-द्वारा जिस समय राज्यका उत्तराधिकार प्राप्त हुआ, उसकी स्थिति बड़ी डाँवाडोल थी। राजधानीको भी बहुत कुछ क्षति हो चुकी थी। यद्यपि पल्लव लोग तुरन्त वापस चले गये थे किन्तु उनके आक्रमणों, युद्धों, विजय, लूट-मार, सम्राट्की मृत्यु आदि संकटोंने चालुक्य साम्राज्यको अस्त-व्यस्त कर दिया था, सर्वत्र अरा-जकता थी। स्वयं विक्रमादित्यके भाई चन्द्रादित्य एवं आदित्यवर्मन् राज्यके विभिन्न भागोंको दबा बैठे थे और स्वयंको सम्राट् घोषित कर रहे थे। किन्तु विक्रमादित्य बड़ा वीर, बुद्धिमान् एवं साहसी था। सब ओरसे स्वयंको अकेला और निस्सहाय पाकर भी उसने साहस न छोड़ा। शीघ्र ही उसने अपनी स्थितिको सँभाला और भाइयों तथा अन्य आन्तरिक शत्रुओंका दमन करके सिंहासन सुरक्षित किया। पल्लवों, चेरों, चोलों, पाण्ड्यों, कलभ्रों आदि बाह्य शत्रुओंसे भी उसे अकेले ही युद्ध करने पड़े। अपने पराक्रमसे इस साहसी वीरने थोड़े ही वर्षोंमें अपने प्रतापी पिताके साम्राज्य और

प्रतिष्ठका पुनरुद्धार कर लिया और तभी (सन् ६५३ ई० के लगभग) अपना विधिवत् राज्याभिषेक कराया। तदनन्तर भी उसे प्रायः पूरे जीवन-भर युद्धोमे रत रहना पडा और शायद इसीलिए वह रणरसिक भी कहलाता था। पल्लव ही उसके सबसे बडे शत्रु थे। उनके विरुद्ध उसने पाण्डयनरेश परांकुश मारवर्मन्को मित्र बनाया, गंग चालुक्योके पुराने मैत्री सम्बन्धको दृढ किया। फलस्वरूप उसने पल्लवोंको एकके बाद एक युद्धोमे पराजित किया। गंगोकी सहायतासे ही उसने पल्लव नरसिंहवर्मन् प्रथमको चालुक्य राज्यसे निकाल बाहर किया और उसके पुत्र महेन्द्र-वर्मन् द्वितीयको भी बुरी तरह पराजित किया। महेन्द्रवर्मन् द्वितीयके उत्तराधिकारी परमेश्वरवर्मन्को विलिन्देके युद्धमे चालुक्य सम्राट्की ओरसे भूविक्रम गंगने बुरी तरह पराजित किया और उससे उग्रोदय नामक प्रसिद्ध रत्नहार छीना। दक्षिणकी ओरसे पाण्डयोने पल्लवोपर धावा किया और स्वयं विक्रमादित्य पल्लव-नरेशका पीछा करते हुए कावेरी तटपर उरैयूर तक जा पहुँचा और वहाँ अपनी छावनी डाल दी। विक्रमादित्यने अपने आज्ञाकारी भाई जयसिंहको लाट देशका शासक बनाया। विक्रमा-दित्यको युद्धोसे इतना विराम नही मिला जो वह विशेष शान्तिसे कार्य कर सकता। किन्तु वह भी अपने पूर्वजोकी भाँति जैनधर्मका पोषक था और पूज्यपाद अकलंकदेवको अपना गुरु मानता था।

महाराष्ट्र देश और चालुक्य राज्यके अन्तर्गत अलक्तकनगरमे सम्भ-वतया चालुक्य वंशकी ही एक शाखाके नृपति लघुहव्वके पुत्र अकलंकदेवने ८ वर्षकी आयुमे ही ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था, तदनन्तर रविकीर्तिके ऐहोल विद्यापीठमे और कन्हेरीके बौद्ध विहारमे क्रमशः जैन एवं बौद्ध दर्शनोका गम्भीर अध्ययन किया। लगभग बीस वर्षकी आयुमे उन्होने मुनि-दीक्षा ले ली। सम्राट् पुलकेशी और विक्रमादित्य प्रथमके आदरपूर्ण उदार प्रश्रयमे उन्होने अपने विशाल अध्ययन, अद्वितीय प्रतिभा एवं उद्भट विद्वत्ता-द्वारा भारतीय विद्वत्समाजमे शीर्ष स्थान प्राप्त कर लिया था। जैन

सिद्धान्त, दर्शन, न्यायशास्त्र, व्याकरण, विभिन्न भारतीय दर्शनो आदि विविध विषयोमे वे निष्णात थे। जैन न्यायके तो वे इतने भारी प्रतिपादक थे कि वह 'अकलंक न्याय'के नामसे प्रसिद्ध हुआ। तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, अष्टशती, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, लघीयस्त्रय, प्रमाणसंग्रह आदि अनेक प्रसिद्ध महान् ग्रन्थोके वे प्रणेता थे। बौद्धाचार्य धर्मकीर्त्ति, वाक्यपदीयकार भर्तृहरि और मीमासा दर्शनके पुरस्कर्त्ता कुमारिलभट्ट उनके समकालीन एवं प्रतिद्वन्द्वी थे। अकलंक देवसघके आचार्य थे और बहुधा 'देव' नामसे भी उनका उल्लेख किया जाता था। विक्रमादित्य साहसतुंग उन्हे अपना गुरु मानता था और उसने उन्हे पूज्यपाद उपाधि प्रदान की थी। अतः विक्रमादित्यके वंशज चालुक्य-नरेशोके अभिलेखोमे अकलंकका उल्लेख पूज्यपाद नामसे हुआ है। सम्भवतया ६४१-४२ ई० मे जब पुलकेशी पल्लवोके साथ युद्धोमे उलझा हुआ था और राज्यमे अशान्ति थी, अकलंकदेव अन्य मतोके विद्वानोके साथ शास्त्रार्थ करने और जैनधर्मका उद्योत करनेके उद्देश्यसे विदेशका भ्रमण कर रहे थे। सन् ६४३ ई० मे वे कलिंगदेशके हीरक तटपर स्थित उस देशकी राजधानी रत्नसंचयपुरके उपवनमे ठहरे हुए थे। तत्कालीन त्रिकलिंगाधिपति हिमशीतलके बौद्ध गुरुओकी चुनौती स्वीकार करके ६ मास पर्यन्त बौद्ध विद्वानोके साथ वहाँ अकलंकने शास्त्रार्थ किया और उन्हे पराजित किया। फलस्वरूप हिमशीतल जैनी हो गया और चूँकि इसी समय पुलकेशीके पराभवका समाचार भी सर्वत्र फैल गया था, हर्षने कलिंगपर आक्रमण कर दिया। हिमशीतल युद्धमे मारा गया, किन्तु विक्रमादित्यकी तत्परता और उसके सहयोगी वेंगिके चालुक्योके कारण वह दक्षिणमे फिर प्रवेश न कर सका और वापस लौट गया। उपरोक्त वाद-विजयके उपलक्ष्यमे अकलंकको 'भट्ट' उपाधि प्राप्त हुई। कुछ वर्ष उपरान्त जब वे भ्रमणसे स्वदेश लौटे तो अपने शिष्य चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य प्रथम साहसतुंगकी राजसभामे उन्होने अपनी कलिंग आदिकी वाद-विजयोका विवरण सुनाया। वे इस कालके सर्व-

महान् जैनाचार्य थे ।

६७८ या ६८० ई० मे विक्रमादित्यकी मृत्युके पश्चात् उसका पुत्र विनयादित्य (६८०–६९६ ई०) गद्दीपर बैठा । उसके राजगुरु देवगणके उपरोक्त आचार्य पूज्यपाद अकलंकके गृही शिष्य निरवद्य पण्डित थे जो भारी विद्वान् थे । रविकीर्त्तिके उपरान्त ऐहोलके विद्यापीठकी अध्यक्षता अकलंकको प्राप्त हुई थी, उनके पश्चात् उनका शिष्य-समुदाय उक्त ज्ञान-केन्द्रका सफलतापूर्वक संचालन करता रहा । विनयादित्यने पल्लव-नरेश नरसिंहवर्मन् द्वितीयको युद्धमे पराजित किया, कावेर, पारसीक और सिंहल-नरेशोसे राज्य-कर वसूल किया और उत्तरापथके प्रभु, सम्भवतया कन्नौजके यशोवर्मन्को भी पराजित किया । अन्तिम विजयका प्रधान श्रेय युवराज विजयादित्यको है । गंग और अलूप राजे चालुक्य-सम्राट्के सहायक थे और उसे अपना अधिपति स्वीकार करते थे । तत्पश्चात् विजयादित्य द्वितीय (६९७–७३३ ई०) राजा हुआ । पल्लवोके विरुद्ध किये गये युद्धोमे उसने अपने पितामह और पिताकी ओरसे सराहनीय भाग लिया था । एक युद्धमे पाण्ड्य-नरेशने उसे बन्दी भी बना लिया था किन्तु वह निकल भागा और उसने अपने शत्रुओका दमन किया । पूज्यपाद अकलंककी परम्पराके उदयदेव पण्डित इस सम्राट्के राजगुरु थे । सन् ७०० ई० मे इस नरेशने उक्त गुरुको शंखजिनेन्द्र मन्दिरके लिए दान दिया था । इसी समयके लगभग राजधानी वातापीमे भी एक दानसूचक कन्नडी जैन शिलालेख अंकित कराया गया । इस नरेशके हलगिरि शिला-लेखमे जैनतीर्थक्षेत्र कोप्पणका उल्लेख है । अकलंकके सधर्मा पुष्पसेन और उनके शिष्य विमलचन्द्र तथा कुमारनन्दि और अकलंकके प्रथम टीकाकार बृहत् अनन्तवीर्य भी इसी कालमे और सम्भवतया इसी नरेशके प्रश्रयमे हुए थे । ७२९ ई० मे उत्कीर्ण लक्ष्मेश्वरके शिलालेखसे विदित होता है कि विजयादित्यने पूज्यपाद अकलंककी शिष्य-परम्पराके गुरुओको पुलिगेरेके जिनमन्दिरके लिए ग्रामदान दिया था । उसीके शासनकालमे

७३३ ई० में त्रिकीर्णक नामक एक राज्यमान्य व्यक्तिने पुलिगेरेके शंख जिनालयको पुष्कल दान दिया। सम्राट्की छोटी बहन कुंकुम महादेवीने भी एक सुन्दर जिनालय निर्माण कराया था। इसी कालमे युवराज विक्रमादित्य-ने कांचीके पल्लव परमेश्वरवर्मन् द्वितीयपर आक्रमण किया और उससे कर वसूल किया। पिताकी मृत्युपर वही चालुक्य-राज्यका अधिपति हुआ। विक्रमादित्य द्वितीय (७३३–७४४ ई०) भी अपने पूर्वजोकी भाँति जैन-धर्मका भक्त था और अकलंककी परम्पराके विजय पण्डित उसके राजगुरु थे। ये भारी वादी और विद्वान् थे। राजाने शंखजिनालय आदि मन्दिरों-का जीर्णोद्धार कराया और जैनगुरुओको दान दिया। उसके समयमें सिन्धके अरबोने दक्षिण भारतपर आक्रमण करनेका प्रयत्न किया किन्तु चालुक्य पुलकेशीने, जो इस वंशकी लाट शाखाका तत्कालीन शासक था और विक्रमादित्यका सामन्त था, उन्हें सफलतापूर्वक पीछे भगा दिया। इसपर सम्राट्ने उसे 'अवनिजनाश्रय' उपाधि दी। उसने पल्लव नन्दिपोत-वर्मन्को भी पराजित किया, स्वयं कांचीमे प्रवेश किया और वहाँके मन्दिरोको दान दिया। इस आक्रमणमे उसके पुत्र कीर्तिवर्मन्ने भी सराह-नीय भाग लिया था। कीर्तिवर्मन् द्वितीय (७४४-७५७ ई०) इस वंशका अन्तिम नरेश था। उसके समयमें चालुक्योके राष्ट्रकूट सामन्तोंकी शक्ति बहुत बढ गयी थी। ७५३ ई० में राष्ट्रकूट दन्तिदुर्गने कीर्तिवर्मन्को पराजित करके चालुक्य-साम्राज्यको छिन्न-भिन्न कर दिया और ७५७ ई० में वातापीके पश्चिमी चालुक्योके राज्यका अन्त हुआ। कीर्तिवर्मन् निस्स-न्तान था। उसके चाचा भीम पराक्रमकी सन्ततिमें क्रमशः कीर्तिवर्मन् तृतीय, तैल प्रथम, विक्रमादित्य तृतीय, अय्यन प्रथम और विक्रमादित्य चतुर्थ राष्ट्रकूटोके अधीन गौण सामन्तो या उपराजाओकी भाँति चलते रहे। अन्तिमके पुत्र तैल द्वितीयने १०वी शताब्दीके उत्तरार्धमें राष्ट्रकूटोंका अन्त करके चालुक्य-शक्तिका पुनरुद्धार किया और कल्याणीके उत्तरवर्त्ती चालुक्य-वंशकी स्थापना की। वातापीके चालुक्य जैनधर्मके विशेष पक्षपाती

होते हुए भी शैव-वैष्णवादि धर्मोके प्रति उदार और सहिष्णु थे। बौद्धधर्म इस कालमे पतनोन्मुख था।

वेंगिके पूर्वी चालुक्य—आन्ध्र देशपर पहले इक्ष्वाकुओं फिर शालंकायनो और अन्तमे विष्णुकुण्डिनोका शासन रहा था। सन् ६१५ ई० मे चालुक्य-सम्राट् पुलकेशी द्वितीयने आन्ध्र देशकी विजय करके अपने अनुज कुब्जविष्णुवर्धनको उसका प्रान्तीय शासक नियुक्त किया था। वेंगि इस देशकी राजधानी थी। पुलकेशीके अन्तिम वर्षोमें ही वेंगिके चालुक्य मूलशाखासे प्रायः स्वतन्त्र हो गये थे। नाममात्रके लिए वे उसके उत्तराधिकारियोके अधीन रहे किन्तु ८वी शतीके प्रारम्भसे वे सर्वथा स्वतन्त्र हो गये। कुब्जविष्णुवर्धनसे प्रारम्भ होनेवाले इस वंशमें लगभग २७ राजे हुए और उन्होने लगभग ५०० वर्ष तक आन्ध्र देशपर राज्य किया। कुब्जविष्णुवर्धन स्वयं बहुत योग्य और चतुर शासक था, उसने ही अपने वंशकी नीव भली प्रकार सुदृढ कर दी थी। चालुक्योकी इस पूर्वी शाखामे भी मूलवंशकी भाँति ही जैनधर्मकी प्रवृत्ति थी। कुब्जविष्णुवर्धनकी रानी अपने पतिसे भी अधिक जैनधर्मकी भक्त थी, इस धर्मकी प्रभावनाके लिए उसने कई ग्राम भेट करवाये थे। कुब्जविष्णुवर्धनके पश्चात् जयसिंह प्रथम, विष्णुवर्धन द्वितीय, जयसिंह द्वितीय और विष्णुवर्धन तृतीय क्रमशः राजा हुए। अन्तिम नरेशने जैनाचार्य कलिभद्रका सम्मान किया और उन्हे दान दिया था। उसके पुत्र विजयादित्य प्रथमकी महारानी अय्यन महादेवीने ७६२ ई० मे उक्त दानपत्रको पुनरावृत्ति की थी। तदुपरान्त विष्णुवर्धन चतुर्थ (७६४–७९९ ई०) वेंगि राज्यका स्वामी हुआ। राष्ट्रकूटोंके साथ भी उसके युद्ध हुए किन्तु वह उनके अधीन नही हुआ। उसके विरुद्ध आक्रमणमें सहायता करनेके लिए ही राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीयने गंग शिवमार द्वितीयको बन्दीगृहसे मुक्त किया था। विष्णुवर्धन चतुर्थ जैनधर्मका बड़ा भक्त था। इस कालमे विजगापट्टम (विशाखापत्तनम्) ज़िलेकी रामतीर्थ या रामकोंड नामक पहाडियोंपर एक भारी जैन

सांस्कृतिक केन्द्र विद्यमान था। त्रिकलिंग (आन्ध्र) देशके वेंगि प्रदेशकी समतल भूमिमे स्थित यह रामगिरि पर्वत अनेक जैनगुहामन्दिरों, जिनालयो एव अन्य धार्मिक कृतियोसे सुशोभित था। अनेक विद्वान् जैनमुनि वहाँ निवास करते थे। विविध विद्याओ एवं विषयोकी उच्च शिक्षाके लिए यह संस्थान एक महान् विद्यापीठ था। वेंगिके चालुक्य-नरेशोके संरक्षण एवं प्रश्रयमे यह संस्थान फल-फूल रहा था। इस कालमे जैनाचार्य श्रीनन्दि इस विद्यापीठके प्रधानाचार्य थे। वह आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयोमे निष्णात थे, स्वय महाराज विष्णुवर्धन उनके चरणोकी पूजा करते थे। इन आचार्यके प्रधान शिष्य उग्रादित्याचार्य थे जो आयुर्वेद एवं चिकित्साशास्त्र-के उद्भट विद्वान् थे। सन् ७९९ ई० के कुछ पूर्व ही उन्होने अपने सुप्रसिद्ध वैद्यकग्रन्थ कल्याणकारककी रचना की थी। ग्रन्थ-प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि मूल ग्रन्थको उन्होने वेंगिनरेश विष्णुवर्धनके ही शासनकाल और प्रश्रयमे रचा था।

तदुपरान्त विजयादित्य द्वितीय गुणग (७९९–८४७ ई०), कलि-विष्णुवर्धन पंचम, विजयादित्य तृतीय (८४८–८९२ ई०) क्रमश: राजा हुए। राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय और उसके पुत्र सम्राट् अमोघवर्पने बार-बार वेंगिपर आक्रमण करके पूर्वी चालुक्योको पराजित किया और उन्हे प्राय: अपने अधीन कर लिया था। तदुपरान्त चालुक्य भीम प्रथम (८९२–९२२ ई०) राजा हुआ। वह राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीयका प्रतिद्वन्द्वी था। भीमके उत्तराधिकारी विजयादित्य चतुर्थकी मृत्यु ६ महीनेमे ही हो गयी अतएव अम्म प्रथम (९२२–२९ ई०) राजा हुआ। तदनन्तर भीम द्वितीय और फिर अम्म द्वितीय राजा हुए। अम्म द्वितीय बड़ा प्रतापी और धर्मात्मा नरेश था। सन् ९४५–९७० ई० तक इसने राज्य किया। अपने पूर्वजोकी ही भाँति वह भी जैनधर्मका पोषक और संरक्षक था, बल्कि इस दिशामें वह अन्य पूर्वी चालुक्य-नरेशोसे कुछ आगे ही बढा हुआ था। उसके शासनकालके तीन अभिलेख प्राप्त हुए है जो यह प्रमाणित करते है कि

१०वी शती ई० मे जैनधर्म आन्ध्र देशमें अत्यधिक लोकप्रिय एवं उन्नत दशामे था। राजा स्वयं शिव और जिनेन्द्रका समान रूपसे भक्त था। एक लेखके अनुसार इस नरेशने पट्टवर्धक घरानेकी राजमहिला माचकाम्बेके निवेदनपर जैनगुरु सकलचन्द्र सिद्धान्तके प्रशिष्य और अय्यपोटिके शिष्य अर्हनन्दीको 'सर्वलोकाश्रय जिनभवन' के लिए दान दिया था। अम्मका प्रधान सेनापति दुर्गराज था जो कटकाधिपति विजयादित्यका पुत्र था। चालुक्य-लक्ष्मीकी सुरक्षाके लिए उसकी तलवार सदैव म्यानसे बाहर रहती थी। वह पूर्वी चालुक्य राज्यका शक्ति-स्तम्भ कहा जाता था। उसके वंशने महादेश वेंगिके सरक्षणमे सदैव भारी योग दिया था। यह वंश जैनधर्मका अनुयायी था। स्वय दुर्गराजने धर्मपुरीके निकट 'कटकाभरण' नामका भव्य जिनालय बनवाया था और उसे यापनीय संघके जैनगुरु जिन-नन्दिके प्रशिष्य एवं दिवाकरके शिष्य श्रीमन्दिरदेवको सौप दिया था। स्वयं महाराज अम्म द्वितीयने मलियापूण्डि दान-पत्र-द्वारा इस मन्दिरके लिए ग्राम भेट किये थे। अम्मके पश्चात् दानार्णव, जटाचोडभीम और शक्ति-वर्मन् क्रमश. वेंगिके राजा हुए। तदनन्तर १०२२ ई० के लगभग विमला-दित्यका राज्य हुआ। यह राजा भी जैनधर्मका भारी भक्त था। देशीय-गणके आचार्य त्रिकालयोगी सिद्धान्तदेव उसके गुरु थे। अनेक जैनमन्दिरोको इस राजाने दान दिये। उपरोक्त रामतीर्थ (रामगिरि) भी ११वी शताब्दीके मध्य तक प्रसिद्ध एवं उन्नत जैन सास्कृतिक-केन्द्र बना रहा, जैसा कि वहाँके एक शिलालेखसे प्रमाणित होता है। विमलादित्यके भी एक कन्नडी शिलालेखसे ज्ञात होता है कि उसके गुरु त्रिकालयोगी सिद्धान्तदेव तथा सम्भवतया स्वयं राजा भी जैन तीर्थके रूपमे रामगिरिकी वन्दना करने गये थे।

विमलादित्यके उत्तराधिकारी राजराजनरेन्द्रके समयसे आन्ध्रदेशमे जैनधर्मका ह्रास होने लगा। वस्तुतः ११वी शतीके अन्त तक वेंगिके पूर्वी चालुक्योकी सत्ताका भी अन्त हो गया। इस प्रकार लगभग ५०० वर्ष

पर्यन्त चलनेवाले इस पूर्वी चालुक्य वंशके शासनमें आन्ध्रदेशमें जैनधर्मने पर्याप्त उन्नति की। यद्यपि ये नरेश अपने-आपको बहुधा परममाहेश्वर लिखते थे तथापि वे प्रायः सब ही जैनधर्मके प्रति अति उदार और सहिष्णु रहे और जैनधर्म और जैनगुरुओका आदर करते थे। अनेक नरेश तो जैनधर्मके ही अनुयायी थे, साथ ही राज्यवंशके अन्य अनेक स्त्री-पुरुष, अनेक उपराजे, सामन्त-सरदार, उच्चपदस्थ राजकर्मचारी जैनधर्मके अनुयायी थे। पूर्वी चालुक्य नरेशोके प्रश्रय और संरक्षणमे रामतीर्थ-जैसा महान् विद्याकेन्द्र एवं सास्कृतिक अधिष्ठान समुन्नत हुआ और उसने उग्रादित्य-जैसे महान् वैद्य एव ग्रन्थकारको उत्पन्न किया। ११वी शताब्दीसे आन्ध्रदेशमे जैनधर्मके पतनका श्रेय विजयवाडके परिच्छदि पशुपति सामन्तोको तथा कोट और काकातीय राजाओको है जो हिन्दूधर्मके अनुयायी ही नही थे वरन् जैनधर्मके कटु विरोधी हो उठे थे।

राष्ट्रकूट वंश—८वी शती ई० मे वातापीके चालुक्योके उपरान्त दक्षिण भारतीय साम्राज्यका उत्तराधिकार राष्ट्रकूट वंशको प्राप्त हुआ। ये राष्ट्रकूट दक्षिणापथके प्राचीन रट्ठिको (राष्ट्रिको) के वंशज थे। और अपने-आपको चन्द्रवंशी क्षत्रिय कहते थे। प्रसन्नके वंशज एक अभिमन्यु राष्ट्रकूटका ५३० ई० के लगभग पता चलता है, एक दूसरी शाखामें दुर्गराजका वंशज युद्धसूर नन्न ६३२ ई० के लगभग था। एक अन्य शाखाके जज्जटकी प्रपौत्री कन्नौजके धर्मपाल प्रतिहारसे विवाही थी, उसके पुत्र राज्यपालकी पत्नी भाग्यदेवी भी एक राष्ट्रकूट कन्या ही थी। इन राष्ट्रकूटोकी एक शाखा लट्टलूरमे स्थापित थी। ६२५ ई० के लगभग लट्टलूरके राष्ट्रकूट वरार प्रदेशके एलिचपुरमे आ बसे। यहीसे इस शाखाका अभ्युदय प्रारम्भ हुआ। इस शाखाका प्रथम ज्ञात राजा दन्तिवर्मन् था, उसके उत्तराधिकारी क्रमशः इन्द्र प्रथम, गोविन्द प्रथम और कर्क थे। ये सब वातापीके चालुक्योके करद सामन्त थे। कर्कके ज्येष्ठ पुत्र इन्द्र द्वितीयका विवाह चालुक्य राजकुमारीके साथ हुआ था। इन्द्र महत्त्वाकाक्षी था और चालुक्योकी गिरती दशाको

देखकर इसने शक्तिसंचय करना आरम्भ किया। उसका पुत्र दन्तिदुर्ग खण्डावलोक वैरमेघ ८वीं शतीके प्रथम पादके लगभग अपने पिताका उत्तराधिकारी हुआ। यह अत्यन्त चतुर, साहसी और महत्त्वाकांक्षी था। ७४२ ई० के लगभग उसने एलोरा (एलउर या ऐलपुर) पर अधिकार किया और उसे अपनी राजधानी बनाया। एलोरा जैन, शैव, वैष्णव और बौद्ध चारो ही धर्मो और संस्कृतियोका सन्धिस्थल था। उक्त धर्मोसे सम्बन्धित इस स्थानके पाषाणखनित गुहा-मन्दिर भारतीय कलाके अद्वितीय उदाहरण है। सन् ८५८ ई० मे रचित धर्मोपदेशमालामे एक और अधिक पुरानी घटनाका उल्लेख है कि एक समय समयज्ञ नामक मुनि भृगुकच्छसे चलकर एलउर नगर आये थे और वहाँकी प्रसिद्ध दिगम्बर वसही (बसदि) मे ठहरे थे। इससे विदित होता है कि राष्ट्रकूटोंके शासनके आरम्भसे ही एलोरा दिगम्बर जैनधर्मका प्रसिद्ध केन्द्र था। और इसका कारण यही है कि राष्ट्रकूट-नरेश प्रारम्भसे ही सर्वधर्मसमदर्शी थे और उनका व्यक्तिगत या कुलधर्म शैव वैष्णवादि होते हुए भी वे जैनधर्मके विशेष पक्षपाती और संरक्षक रहे थे। दन्तिदुर्गने एलोराको राजधानी बनाकर नासिक विषयके मयूरखण्डी दुर्गको अपनी प्रधान छावनी बनाया। ७५२ ई० मे उसने चालुक्य-नरेश कीर्त्तिवर्मन्को पूर्णतया पराजित करके महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक पृथ्वीवल्लभ खण्डावलोक वैरमेघ आदि उपाधियाँ धारण की और अपने-आपको सम्राट् घोषित किया। अपनी मृत्युसे पूर्व, ७५७ ई० तक उसने वातापीकी चालुक्य सत्ताका प्राय: अन्त कर दिया था और अब वही दक्षिणापथका सम्राट् था। इसके अतिरिक्त उसने सिन्धुभूप, श्रीशैलके चोड, पल्लव नन्दिवर्मन्, पाण्डय नेडुजलियन, परान्तक, श्रीहर्ष, तथा परमार, वज्रार, कोसल, मालवा, लाट, टंक आदि देशोके राजाओको पराजित किया था। इसने पल्लवमल्ल-के साथ अपनी पुत्री रेवाका विवाह करके उसे मित्र बना लिया था। चित्रकूटपुरके श्रीवल्लभ राहप्पदेवको पराजित करके उसकी उपाधि और

श्वेतच्छत्र स्वयं ग्रहण किया। इसी समय सम्भवतया इसी राहप्पके अनुज वीरप्पदेव, जो जैनमुनि हो गये थे और स्वामी वीरसेनके नामसे प्रसिद्ध हुए, राष्ट्रकूट राजधानीके निकट ही वाटनगरमे आ बसे और वहाँके चन्द्रप्रभु जिनालय एव चामरलेणके गुहामन्दिरोमे उन्होने अपना विद्याकेन्द्र स्थापित किया। जैनाचार्य विमलचन्द्रने (७२५-७५०), जो निर्गुण्ड युवराज परमगुल डुण्डुराजके राजनीति-गुरु थे और बडे भारी वादी थे, राष्ट्रकूट दन्तिदुर्गसे तथा गगनरेश श्रीपुरुष मुत्तरस शत्रुभयंकरसे सम्मान प्राप्त किया था।

इस प्रकार थोडेसे ही समयमे राष्ट्रकूट दन्तिदुर्गने दिग्विजय करके अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। राष्ट्रकूट वशकी नीव सुदृढ कर दी और शासन-व्यवस्था ठीक करके राज्यकी स्थिति सुरक्षित कर दी। साथ ही विद्वानो और गुणियोका आदर करने और अन्य शान्तिपूर्ण कार्योके लिए भी अवसर निकाल लिया। ७५७ ई० में उसकी निस्सन्तान मृत्यु होनेपर उसका चाचा कृष्ण प्रथम अकालवर्ष शुभतुग सिहासनपर बैठा और ७७३ ई० तक उसने राज्य किया। चालुक्य सत्ताको निश्शेष करके उसने दक्षिणी कोकणमे अपने शिलाहार सामन्तोको नियुक्त किया। ७६३ ई० के लगभग अपने पुत्र गोविन्द द्वितीय-द्वारा वेंगिके चालुक्य विजयादित्य प्रथमको पराजित एव अधीन कराया। ७६८ ई० मे गगनरेश श्रीपुरुष मुत्तरसको पराजित करके अधीन किया। ७६९-७० ई० मे उसने एलोरामे सुप्रसिद्ध 'कैलाश मन्दिर' पहाडमे-से काटकर बनवाया। उसके निकट ही इन्द्रसभा और जगन्नाथसभा आदि सुविख्यात जैनगुहा-मन्दिर भी इसी समयके लगभग बनने प्रारम्भ हुए। कुछ विद्वान् चित्तौड़के मौर्यनरेश राहप्पकी विजयका श्रेय कृष्णको देते है। पूर्वोक्त जैनगुरु विमलचन्द्रके प्रशिष्य परवादिमल्ल थे जिन्होने बौद्ध दिङ्नागके न्यायबिन्दु-पर धर्मोत्तर-द्वारा लिखे गये टिप्पणपर भाष्य लिखा था। ये परवादिमल्ल (७७०-८०० ई०) भी बडे भारी तार्किक और वादी थे। वे इस

कृष्णराज प्रथम-द्वारा सम्मानित हुए थे। कृष्णके उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र गोविन्द द्वितीय प्रभूतवर्ष विक्रमावलोक (७७३–७७९) राजा हुआ। वह दुराचारी और अयोग्य था। उसने गंग शिवमारको उसके भाई दुग्गमार एयरप्पके विरुद्ध राज्य प्राप्त करनेमे सहायता दी थी अतः शिवमार उसका मित्र था किन्तु गोविन्दके भाई ध्रुवने, जो अत्यन्त महत्त्वाकाक्षी था, गोविन्द-का उच्छेद करके राज्य हस्तगत करनेका षड्यन्त्र किया। पल्लव, गंग, पूर्वी चालुक्य और मालवनरेश गोविन्दके सहायक थे किन्तु ध्रुवने अपने पुत्रोकी सहायतासे युद्धमे इन सबको परास्त किया। सम्भवतया गोविन्दकी भी युद्धमे ही मृत्यु हो गयी। इस प्रकार ७७९ ई० मे धारावर्ष, निरुपम, कलिवल्लभ, श्रीवल्लभ, धोर, धवलइय, बोट्टणराय (बल्लहराय) आदि उपाधियोसे युक्त ध्रुव राष्ट्रकूट राज्यका स्वामी हुआ। ७९३ ई० तक उसने राज्य किया। यह महापराक्रमी और वीर योद्धा था। राज्य प्राप्त करते ही उसने गोविन्द द्वितीयके सहायकोका दमन करना प्रारम्भ किया। गंग शिवमार द्वितीयको बन्दी बनवाया, नन्दिवर्मन् पल्लवको पराजित करके उससे हाथियोके रूपमे कर वसूल किया, वेगिके विष्णुवर्धन चतुर्थको हराया और उससे कुछ प्रदेश तथा उसकी पुत्री शीलभट्टारिकाको पत्नीरूपमे प्राप्त किया। तदनन्तर विन्ध्याचलको पार करके वह गंगा-यमुनाके मध्यदेश तक जा पहुँचा। वहाँ गुर्जर प्रतिहार वत्सराजको पराजित करके उसे मरुदेशकी ओर भगाया और गौडके धर्मपालको पराजित करके उसे बंगाल वापस पठाया। कन्नौजमे इन्द्रायुधको उक्त दोनो शत्रुओसे कुछ समयके लिए सुरक्षित करके वह वापस दक्षिण लौट आया। ध्रुवने इस प्रकार राष्ट्रकूट शक्तिको सम्पूर्ण भारतवर्षमे सर्वोपरि बना दिया। वह विद्वानोका भी बड़ा सम्मान करता था। उसकी रानी चालुक्य राजकुमारी शीलभट्टारिका जैन धर्मकी भक्त थी और एक प्रसिद्ध एवं श्रेष्ठ कवयित्री थी। उत्तरापथकी विजय-यात्रामे ध्रुव सम्भवतया कन्नौजसे अपभ्रंश भाषाके जैन महाकवि स्वयम्भूको अपने साथ सपरिवार लिवा लाया था। स्वयम्भूने अपनी

रामायण, हरिवंश, नागकुमार चरित, स्वयम्भू छन्द आदि महान् ग्रन्थोंकी रचना इसी नरेशके आश्रयमें राष्ट्रकूट राजधानीमें की और ध्रुवराय धवलइय नामसे अपने इस आश्रयदाताका उल्लेख किया। स्वयम्भूकी पत्नी सामिअब्बा भी बड़ी विदुषी थी और सम्राट्ने अपनी राजपुत्रियोंको शिक्षा देनेके लिए उसे नियुक्त किया था। जिनसेन पुन्नाटवंशीने ७८३ ई० में अपने हरिवंशपुराणको समाप्त करते हुए इस नरेशका उल्लेख 'कृष्णनृपका पुत्र श्रीवल्लभ जो दक्षिणापथका स्वामी था' इस रूपमें किया है। राष्ट्रकूट राजधानीके निकट ही वाटनगर (वाटग्रामपुर) में पंचस्तूपान्वयी स्वामी वीरसेनका सुप्रसिद्ध ज्ञानकेन्द्र था। वहाँ रहते हुए ही इस महान् जैनाचार्यने ध्रुव राजके शासनकालमें सन् ७८० ई० में अपने महान् ग्रन्थ श्रीधवलको पूर्ण किया था और तदनन्तर जयधवलका एक तिहाईके लगभग अंश तथा महाधवलकी रूपरेखा तैयार की थी। सिद्धभूपद्धति आदि अन्य ग्रन्थ भी उन्होंने रचे थे। इस दिग्गज विद्वान्ने अकेले लगभग एक लक्ष श्लोक प्रमाण ग्रन्थ रचना की थी। दिगम्बर आगम ग्रन्थोंकी सर्वमहान् एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण टीकाएँ वीरसेनाचार्यके उपरोक्त ग्रन्थ ही हैं। उनके विद्यापीठमें एक विशाल पुस्तक-संग्रह था—उतना बड़ा जैन पुस्तकालय उस कालमें भारतवर्षमें अन्य नहीं था। उनका शिष्य-समुदाय भी विशाल था। सन् ७९० ई० के लगभग स्वामी वीरसेनकी मृत्यु हुई। इनके अतिरिक्त स्वामी विद्यानन्दि, परवादिमल्ल और गुरुकुमारसेन उस समयमें राष्ट्रकूट राज्यके प्रसिद्ध जैनाचार्य थे।

ध्रुवका उत्तराधिकारी उसका प्रिय पुत्र गोविन्द तृतीय जगत्तुंग प्रभूतवर्ष श्रीवल्लभ जनवल्लभ कीर्त्तिनारायण त्रिभुवन धवल (७९३-८१४ ई०) था। ध्रुवके कम्भ, स्तम्भ और इन्द्र नामके तीन और पुत्र थे, किन्तु उन सबसे अधिक योग्य गोविन्द ही था। ध्रुवके राजा होनेके पूर्व ही उसने अपनी योग्यता एवं वीरताका पर्याप्त परिचय दे दिया था और पिताकी राज्य-प्राप्तिमें तथा उसके शत्रुओंका दमन करनेमें भी वह ध्रुवका प्रधान

सहायक था। अतः राज्य-सिंहासनपर बैठते ही ध्रुवने गोविन्दको युवराज घोषित कर दिया था और फलस्वरूप मयूरखण्डीकी प्रधान छावनीका अध्यक्ष तथा उसके अन्तर्गत प्रदेश (नासिकदेश) का प्रान्तीय शासक नियुक्त कर दिया था। वाटनगर विषय उसीके शासनमे था अतः स्वामी वीरसेन-ने धवलाकी प्रशस्तिमे बल्लहराय (ध्रुव) नरेन्द्रचूडामणिके साथ राजन जगत्तुगदेवका भी उल्लेख किया। गोविन्द तृतीयने गद्दीपर बैठनेके उपरान्त गंग शिवमारको मुक्त कर दिया क्योकि अपने शत्रुओके दमनमे वह उस वीर योद्धाकी सहायता चाहता था किन्तु शिवमारने फिर विद्रोह किया और ७९९ ई० मे फिरसे बन्दी बनाया गया। गोविन्दने अपने भाई कम्भदेव-को गगवाडिका राज्यपाल नियुक्त किया। वस्तुतः कम्भने ही शिवमार तथा अन्य दस-बारह राजाओंकी सहायतासे गोविन्दके विरुद्ध विद्रोह किया था क्योकि वह स्वयं ध्रुवका ज्येष्ठ पुत्र था। परन्तु गोविन्दका राज्याभिषेक भी ध्रुवने अपने ही जीवन-कालमे कर दिया था अतः उसका अधिकार न्याय्य था। उसने अकेले ही बारह नरेशोके उक्त शत्रु-संघका दमन किया, गंग राजको बन्दी करके भाई कम्भको सन्तुष्ट करनेके लिए गंगदेशका शासन उसे सौप दिया। तदनन्तर उसने लाटकी विजय करके अपने आज्ञाकारी छोटे भाई इन्द्रको गुजरातका शासक बनाया और मालवाकी विजय करके उसे भी गुर्जर राज्यमे सम्मिलित कर दिया। पल्लव दन्तिवर्मन्को पराजित करके उसने उससे कर लिया। विन्ध्याचलके निकटवर्ती प्रदेशके राजा मार-शर्वको अपना करद बनाया। वेगिनरेश उसका आज्ञाकारी बना रहा और उसीने राष्ट्रकूटोकी नव-स्थापित राजधानी मान्यखेट (मलखेड) की बाहरी प्राचीरका निर्माण कराया बताया जाता है। गोविन्दने ही प्राचीन राज-धानीको एलोरा और मयूरखण्डीसे हटाकर नवीन राजधानी मान्यखेटका एक विशाल सुन्दर एवं सुदृढ़ महानगरीके रूपमे निर्माण किया। उसने गुर्जरप्रतिहार नागभट्ट द्वितीयको पराजित किया तथा कन्नौजके चक्रायुध और बंगालके धर्मपालसे अधीनता स्वीकार करायी। सिंहल नरेशने भी

उसके दरबारमे राजदूत भेजा और उसे अपना अधिपति स्वीकार किया था। उत्तरापथके एक अभियानसे लौटते हुए जब ८०३–४ ई० मे गोविन्द नर्मदा तटवर्ती श्रीभवन नामक स्थानमे छावनी डाले पडा था, उसके पुत्र अमोघ-वर्पका जन्म हुआ। किन्तु पल्लव दन्तिवर्मन्के उपद्रवके कारण पुत्र-जन्मोत्सव मनानेका भी उसे अवसर न मिला और उसने तुरन्त जाकर शत्रुका दमन किया। ८०८ ई० मे गद्दीपर बैठनेवाले विजयादित्य नरेन्द्र मृगराजने भी जो एक भारी योद्धा था सिर उठानेका प्रयत्न किया किन्तु वह भी परास्त हुआ।

सन् ८१३–१४ ई० मे गोविन्द तृतीयकी मृत्यु हो गयी। वह इस वंशके सर्वमहान् नरेशोमे-से था। भारतवर्पकी समस्त राज-शक्तियाँ उसका लोहा मानती थी, अपने समयका वह निश्चय ही सर्वमहान् नरेश था। साथ ही निर्माता, दानी, तथा विद्वानो और गुणियोका आदर करनेवाला था। जैनधर्मके प्रति भी वह अत्यन्त सहिष्णु और उदार था। मन्ने दान-पत्र-द्वारा ८०२ ई० मे उसने गंगराजधानी मान्यपुरकी श्रीविजय नामक जैन वसदि (मन्दिर) के लिए उदारगणके जैन-गुरुओको दान दिया था। ८०७ ई० मे चामराजनगर दानपत्र-द्वारा उसके भाई एवं प्रतिनिधि कम्भ-देवने तालवननगरको जैन वसदिके लिए अपने पुत्र शंकरगणकी प्रार्थनापर कुन्दकुन्दान्वयके कुमारनन्दिके प्रशिष्य और एलाचार्यके शिष्य वर्धमान गुरुको ग्राम भेट किये थे। ८१२ ई० मे कदब दानपत्रके द्वारा जो मयूरखण्डीके दुर्गसे प्रचारित किया गया था, स्वयं सम्राट् गोविन्द तृतीयने शीलग्राममे जैनमन्दिरके लिए कूविलाचार्यके प्रशिष्य और विजयकीर्त्तिके शिष्य अर्क-कीर्त्तिको अपने गंग सामन्त चाकिराजकी प्रार्थनापर प्रभूत दान दिया था, क्योकि उक्त गुरुने चाकिराजके भानजे चालुक्यवंशी विमलादित्यके ऊपरसे शनिग्रहकी कुदृष्टिका निवारण किया था। वाटनगरका जैन अधिष्ठान तो सम्राट्से प्रारम्भसे ही संरक्षण पाता रहा था। वहाँ अब स्वामी वीरसेनके पट्टशिष्य स्वामी जिनसेन शान्तिपूर्वक गुरु-द्वारा अधूरे छोडे

गये कार्यकी पूर्त्तिके लिए प्रयत्नशील थे। उनके सधर्मा दशरथ गुरु, विनयसेन, पद्मसेन और वृद्धकुमारसेन तथा स्वामी विद्यानन्दि, अनन्तकीर्त्ति, रविभद्र शिष्य अनन्तवीर्य, परवादिमल्ल आदि अनेक जैनगुरु राष्ट्रकूट राज्यको सुशोभित कर रहे थे। महाकवि स्वयम्भू भी मुनि हो गये थे और सम्भवतया श्रीपाल नामसे प्रसिद्ध हुए। वे आचार्य जिनसेन-द्वारा जयधवलाकी पूर्त्तिमे उनके परम सहायक सिद्ध हुए। उनके पुत्र त्रिभुवन-स्वयम्भू भी महाकवि थे। पिताके मुनि हो जानेपर उनके रामायण आदि महाग्रन्थोका सम्पादन, संशोधन, परिवर्धन आदि इन्होने ही किया। सम्राट् गोविन्द तृतीयके ये विशेष कृपापात्र थे। उपरोक्त समस्त गुरु सम्राट्से आश्रय एवं संरक्षण प्राप्त कर रहे थे। जैनधर्म उसके शासनमे खूब फल-फूल रहा था।

सम्राट् अमोघवर्ष नृपतुंग महाराजशण्ड वीरनारायण अतिशयधवल शर्ववर्म वल्लभराय (८१४–८७८ ई०) जिस समय सिंहासनपर बैठा ९–१० वर्षका बालक मात्र था। अतः उसके चाचा इन्द्रका पुत्र कर्कराज, जो गुर्जर देशका शासक था, अमोघवर्षका अभिभावक एवं सरक्षक बना। अमोघकी बाल्यावस्थाका लाभ उठाकर साम्राज्यमे जगह-जगह विद्रोह हो गये। गंग, पल्लव, पाण्डच, पूर्वी चालुक्य आदि अधीन राजे भी विरुद्ध उठ खडे हुए। ८१७ ई० मे वेंगिके विजयादित्य द्वितीय और गंगवाडिके राचमल्ल प्रथमके प्रोत्साहनसे साम्राज्यके दक्षिणी भागके अनेक सामन्तोने भयंकर विद्रोह कर दिया। किन्तु कर्ककी स्वामिभक्ति, वीरता, बुद्धिमत्ता एवं तत्परताके कारण इन सब विद्रोहोका दमन हुआ और ८२१ ई० तक स्थिति काबूमे आ गयी तथा शान्ति स्थापित हो गयी। नवीन राजधानी मान्यखेटका निर्माण गोविन्द तृतीयने ही प्रारम्भ कर दिया था किन्तु उसे राजधानीको पूरी तरह स्थानान्तर करनेका समय नही मिला था। अब अमोघवर्ष वयस्क हो गया था, उसकी स्थिति भी अपेक्षाकृत सुरक्षित हो गयी थी अतएव ८२१ ई० मे गुर्जराधिप कर्कराजने नवीन राजधानी

मान्यखेटमे ही अमोघवर्पका विधिवत् राज्याभिपेक किया। अमोघके प्रधान सामन्त कर्कराज और वीर सेनापति वंकेयरसने साम्राज्यको स्वचक्र एवं परचक्रके उपद्रवोसे सुरक्षित रखनेका सफल प्रयत्न किया और स्वयं सम्राट्ने राजधानीको सुन्दर प्रासादो, सरोवरो, भवनो आदिसे अलंकृत करनेकी ओर ध्यान दिया। ८३० ई० मे वेंगिके चालुक्योका दमन किया तथा पाण्ड्योको पराजित किया। अपनी पुत्री शंखाका विवाह पल्लव नन्दिवर्मन् द्वितीय (८४४–६६ ई०) के साथ करके उसने पल्लवोको मित्र बनाया। शंखाका पुत्र नृपतुंगवर्मन्, नन्दिवर्मन्का उत्तराधिकारी हुआ और अपने पिताकी भाँति ही अमोघवर्पका आज्ञाकारी रहा। गंग राचमल्लके उत्तराधिकारी एरेयगंगने विद्रोह किया किन्तु सेनापति बकेयने कैदाल और तलकाडपर अधिकार करके गंगोका पूर्णतया दमन किया जिसके लिए सम्राट्ने उसे बनवासी १२००० प्रदेश जागीरमे दिया और वहाँ उसने बकापुर नगर बसाया। बकेय जब गंगोका दमन कर रहा था तभी राजधानीमे युवराज कृष्ण और गुर्जराधिप कर्कके पुत्र ध्रुवने मिलकर षड्यन्त्र किया। बंकेयने तुरन्त मान्यखेट आकर इस विद्रोहका भी तत्परताके साथ दमन किया। ध्रुव युद्धमे मारा गया। उसके उत्तराधिकारी अकालवर्प और ध्रुव द्वितीय कन्नौजके मिहिरभोजसे आक्रान्त थे अतः वे अमोघवर्पके प्रति स्वामिभक्त बने रहे। वेंगिके विजयादित्य तृतीय गुणगने भी सिर उठाया। वह अपने समयके सर्वश्रेष्ठ शासकोंमे-से था और राष्ट्रकूटोकी पराधीनतासे मुक्त होना चाहता था किन्तु युद्धमे पराजित हुआ। इस विजयका श्रेय भी बंकेयको था। अब स्वयं विजयादित्यने अमोघवर्पके लिए गगोका दमन किया। तदुपरान्त अमोघने अपनी पुत्री चन्द्रबेलब्बेका विवाह गंग राजकुमार भूतुगसे करके गंगोको अपना स्थायी मित्र और स्वामिभक्त सामन्त बना लिया। ८६७ ई० के उपरान्त अमोघको पूर्णतया शान्ति मिली। उसके दीर्घकालीन शासनकालके बहुभागमे उपद्रव, विद्रोह और युद्ध चलते रहे किन्तु पहले तो उसके चचेरे भाई कर्कके कारण और

तदनन्तर सेनापति वंकेयके पराक्रमसे समस्त शत्रुओका तत्परताके साथ दमन होता रहा और साम्राज्यकी समृद्धि एवं शान्तिमे कोई उल्लेखनीय विघ्न नही हुआ। वस्तुत: स्वयं अमोघवर्ष एक शान्तिप्रिय एवं धर्मात्मा नरेश था। युद्ध-कार्य उसके स्वामिभक्त सेनापति और सामन्त सरदार ही सफलता-पूर्वक संचालित करते रहे। फल-स्वरूप उसकी शक्ति, वैभव एवं प्रतापमे उत्तरोत्तर वृद्धि ही हुई।

८५१ ई० मे अरब सौदागर सुलेमान भारत आया था उसने 'दीर्घायु बलहरा (वल्लभराय)' नामसे अमोघवर्षका वर्णन किया है और लिखा है कि उस समय संसार-भरमे जो सर्वमहान् चार सम्राट् थे वे भारतका वल्लभराय (अमोघवर्ष), चीनका सम्राट्, बगदादका खलीफा और रूम (कुस्तुन्तुनिया) का सम्राट् थे। अलइद्रिसि, मसूदी, इब्नहौकल आदि अन्य अरब सौदागरोने भी अमोघवर्षके प्रताप और वैभव तथा साम्राज्यकी शक्ति एवं समृद्धिकी भरपूर प्रशंसा की है। उसका शासन भी सुचारु रूपसे सुव्यवस्थित था। इसके अतिरिक्त यह नरेश विद्वानों और गुणियोंका प्रेमी, स्वयं भी भारी विद्वान् और कवि था। संस्कृत, प्राकृत, कन्नडी एवं तमिलके विविधविषयक साहित्यके सृजनमे उसने भारी प्रोत्साहन दिया था। उसकी राजसभा विद्वानोसे भरी रहती थी।

सम्राट् अमोघवर्ष जैनधर्मका अनुयायी और एक आदर्श जैन-श्रावक था, इस विषयमे प्राय: कोई मतभेद नहीं है। वीरसेन स्वामीके पट्ट-शिष्य सेनसंघी आचार्य जिनसेन स्वामी उसके राजगुरु और धर्मगुरु थे। ये विभिन्न भापाविज्ञ एवं विविध विषयपटु दिग्गज विद्वान् थे। लड़कपनसे ही उनके साथ अमोघवर्षका सम्पर्क रहा था और वह उनकी बडी विनय करता था। जिनसेनके सम्मुख सर्वप्रथम कार्य अपने गुरु-द्वारा अधूरे छोडे गये जयधवल महाग्रन्थकी पूर्ति करना था। सन् ८३७ ई० मे अमोघवर्षके आश्रयमे तथा उसके प्रधानामात्य गुर्जराधिप कर्कराजके संरक्षणमे गुरु-द्वारा स्थापित वाटनगरके ही अधिष्ठानमे उन्होने ६०००० श्लोक प्रमाण उक्त

ग्रन्थको समाप्त किया। श्रीपाल गुरुने उस ग्रन्थका सम्पादन किया था। तदनन्तर सम्राट्‌के आग्रहपर जिनसेन स्वामी राजधानी मान्यखेटमे ही आकर रहने लगे और वहाँ उन्होने पार्श्वाभ्युदय नामक सुप्रसिद्ध महाकाव्यकी रचना की तथा महापुराणकी रचना प्रारम्भ की। किन्तु उक्त अद्वितीय पुराण-ग्रन्थको वे पूरा न कर सके और सन् ८५० ई० के लगभग उनकी मृत्यु हो गयी। उनके पट्टशिष्य आचार्य गुणभद्र थे जिनका अमोघवर्ष तथा उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय दोनो ही सम्मान करते थे। इन्हे अमोघवर्षने अपने पुत्रका शिक्षक नियुक्त किया था। इन्होने गुरु-द्वारा प्रारम्भ किये गये महापुराणको सक्षेपमे पूरा किया—इनके द्वारा लिखा गया भाग उत्तरपुराण कहलाता है। इसके अतिरिक्त आत्मानुशासन, जिनदत्तचरित्र आदि ग्रन्थ भी उन्होने रचे। आचार्य उग्रादित्यने अपने कल्याणकारक नामक वैद्यक ग्रन्थकी रचना ८०० ई० के पूर्व ही कर ली थी किन्तु अमोघवर्षके आग्रहपर उन्होने उसकी राजसभामे आकर अनेक वैद्यो एव विद्वानोके समक्ष मद्य-मास निषेधका वैज्ञानिक विवेचन किया और इस ऐतिहासिक भाषणको 'हिताहित अध्याय'के नामसे परिशिष्ट रूपमे अपने ग्रन्थमे सम्मिलित किया। प्रसिद्ध जैन गणिताचार्य महावीराचार्यने अपना सुविदित 'गणितसार-संग्रह' इसी सम्राट्‌के आश्रयमे लिखा तथा उसीके आश्रयमे यापनीय-सघके आचार्य शाकटायन पाल्यकीर्त्तिने अपने सुविख्यात 'शब्दानुशासन' व्याकरण एवं उसकी अमोघवृत्तिकी रचना की, स्वयं अमोघवर्षने संस्कृतमे 'प्रश्नोत्तर रत्नमालिका' नामका नीति-ग्रन्थ और कन्नडीमे 'कविराज-मार्ग' नामका महत्त्वपूर्ण छन्द एवं अलंकार शास्त्र रचा।

उपरोक्त विद्वानो-द्वारा अपने ग्रन्थोमे दी गयी सूचनाओसे सम्राट्‌के धर्मभाव, सदाचरण एव श्रेष्ठ चरित्रके सम्बन्धमे बहुत कुछ ज्ञात हो जाता है। वह बीच-बीचमे बहुधा राज्य-कार्यसे अवकाश लेकर गुरुचरणोमे, सम्भवतया वाटग्रामके मठमे, अकिंचन होकर धर्म-सेवन किया करता था, स्याद्वाद-

विद्याका रसिक था और अपने जीवनके अन्तिम वर्षोंमें तो पुत्रको राज्यकार्य सौंपकर एक आदर्श त्यागी जैन श्रावकके रूपमे उसने जीवन व्यतीत किया था। सन् ८२१ ई० मे ही अमोघवर्षका राज्याभिषेक करके और उसकी स्थिति सुरक्षित करके उसके प्रधान सामन्त, अभिभावक एवं चचेरे भाई गुर्जराधिप कर्कराजने जो स्वयं जिनभक्त था सूरत दानपत्रके-द्वारा जैनाचार्य परवादिमल्लके प्रशिष्यको नवसारी (नवसारिका) के जैन विद्यापीठके लिए भूमि प्रदान की थी। ८५९ ई० के एक शिलालेखमे राज्य-द्वारा एक जैन बसदिके लिए सिहवरगणके आचार्य नागनन्दिको दान देनेका उल्लेख है। ८६० ई० मे स्वयं सम्राट् अमोघवर्षने सेनापति बंकेयरसकी प्रार्थनापर मान्यखेट राजधानीमे त्रैकालयोगीके शिष्य देवेन्द्र मुनीश्वरको दान दिया था। अन्य भी अनेक दान उसने दिये।

उसके सामन्त सरदारोमे लाट (गुजरात) के राष्ट्रकूट, नोलम्ब वाडीके नोलम्ब, सौन्दत्तिके रट्ट, हुम्मचके सान्तार राजे, गंगनरेश, पूर्वी चालुक्य आदि अनेक जैनधर्मावलम्बी थे। उसका प्रधान सेनापति एवं राज्यका वास्तविक रक्षक चेल्लकेतन वीर बंकेय (बंकेश या बंकेयरस) महान् वीर, भीषण योद्धा, कुशल सेनाध्यक्ष और परम स्वामिभक्त था, साथ ही परम जैन भी था। उसके प्रपितामह वीर मुकुल राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथमके, पितामह एरकोरि ध्रुवधारा-वर्षके और पिता घोर सम्राट् गोविन्द तृतीय जगत्तुगके राजसचिव एवं सेनानायक रहे थे। प्रारम्भसे ही बंकेयका वंश जैनधर्मका अनुयायी था। उसकी माता विजयाम्बा भी बडी धर्मात्मा थी। बंकेय सम्राट् अमोघवर्षका अत्यन्त कृपापात्र एवं प्रिय अनुचर था। उसकी सेवाओसे प्रसन्न होकर सम्राट्ने उसे विशाल बनवासी प्रान्तका एकाधिपति सामन्त बना दिया था और वहाँ बंकेयने बंकापुर नगरका निर्माण करके उसे अपनी राजधानी बनाया था। अमोघवर्षका कोन्नूर शिलालेख (८६० ई०) सेनापति बकेयकी प्रार्थनापर ही लिखा गया था और उसीके द्वारा निर्मित जिनमन्दिरके लिए राष्ट्रपति जयाल्वके तत्त्वावधानमे

भूदान किया गया था। बनवासीके जैनमठोमे अमोघवर्ष-द्वारा प्रचारित पूजा आदिके नियम आज तक चले आते है। स्वयं सम्राट्की माता महारानी गामुण्डब्बे, उसकी पट्टमहिषी उमादेवी, पुत्र कृष्णराज, पुत्रियाँ शंखादेवी और चन्द्रबेलब्बे, चचेरे भाई कर्क आदि राजपरिवारके प्राय. अन्य सभी व्यक्ति जैनधर्मके भक्त थे। इस प्रकार राष्ट्रकूट चक्रवर्ती सम्राट् अमोघवर्ष नृपतुंगके साम्राज्यमे जैनधर्म ही राष्ट्रधर्म हो रहा था। तथापि सम्राट् परधर्म-सहिष्णु एवं समदर्शी था। लोकाचार और कुलाचारके अनुसार कतिपय वैष्णव देवी-देवताओको भी मानता था, कमसे कम अपनी कुलदेवी महालक्ष्मीमे उसकी प्रायः जिनेन्द्र-जैसी ही आस्था रही प्रतीत होती है क्योंकि इस प्रजावत्सल नरेशने एक बार अपनी प्रजाको महामारी-के प्रकोपसे बचानेके लिए उक्त देवीके चरणोमें अपनी अँगुली काटकर चढा दी थी। इसमें सन्देह नही कि यह नरेश एक विशाल साम्राज्यका अधिपति, तत्कालीन भारतवर्षका सर्वाधिक शक्ति एवं वैभव-सम्पन्न और विश्वके सर्वमहान् नरेशोमे परिगणित सम्राट् था।

सन् ८७५–७६ ई० के लगभग ६० वर्ष राज्य करनेके उपरान्त अमोघवर्षने राज्यका भार युवराज कृष्ण द्वितीयको सौपकर स्थायी रूपसे अवकाश ले लिया और एक विरक्त त्यागी श्रावकके रूपमे धर्मसाधनमें जीवनके शेष वर्ष व्यतीत किये। सन् ८८० ई० के लगभग उसकी मृत्यु हुई। अस्तु उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय शुभतुंग अकालवर्ष (८७८–९१४ ई०) राज्यका वस्तुतः स्वामी तो ८७५ ई० में ही हो गया था, ८७८ ई० मे उसका राज्याभिषेक हुआ। अपने सामन्त लाटके राष्ट्रकूटोकी सहायतासे उसने भोजप्रतिहारके आक्रमणका निवारण किया और भोजकी मृत्युके कुछ वर्ष बाद उसके पोते महीपालके राज्यपर आक्रमण किया। कृष्णके सामन्त नरसिंह चालुक्यने जो जैनी था गंगामे अपने घोडे नहलाये और महीपालको पराजित किया। उसका एक दूसरा सेनाध्यक्ष श्रीविजय भी जैन था। कृष्णने लाट शाखाका अन्त करके उस प्रदेशको अपने प्रत्यक्ष

शासनमे ले लिया। कृष्णकी पट्टरानी चेदिनरेश कोक्कल प्रथमकी कन्या थी और उसने अपनी पुत्रीका विवाह आदित्य चोलके साथ किया था। कृष्णने वेंगिके गुणग विजयादित्यपर आक्रमण किया किन्तु असफल रहा। उसके बाद चालुक्य भीमके विरुद्ध भी वह उसी प्रकार असफल रहा। अपने पिताकी भाँति कृष्ण भी जैनधर्मका भक्त था। जिनसेनके पट्टशिष्य गुणभद्राचार्य उसके गुरु थे। ८९८ ई० मे गुणभद्रके शिष्य लोकसेन-ने उनकी उत्तरपुराणकी प्रशस्तिका संवर्धन करके वीर बंकेयके पुत्र और बंकापुरके स्वामी लोकादित्यकी राजसभामे उक्त महापुराणका पूजोत्सव एवं वाचन किया था। लोकादित्य अपने पूर्वजोंकी भाँति ही राष्ट्रकूट-सम्राट्का स्वामिभक्त सामन्त एवं उच्चपदाधिकारी था। ८७५ ई० मे कृष्णके सामन्त सौन्दत्तिके पृथ्वीरामने जैनमन्दिरोके लिए भूमि प्रदान की थी। एक अन्य प्रमुख सामन्त तोलपुरुष विक्रम सान्तारने हुमच्च-मे पलियक्का नामक बसदि तथा कुन्दकुन्दान्वयके मौनी सिद्धान्त भट्टारकके लिए एक अन्य बसदि (८९७ ई० मे) निर्माण करायी थी। सम्भवतया इसी राजाने हुमच्चमे गुडड नामक बसदि बनवाकर उसमे भगवान् बाहु-बलिकी मूर्त्ति प्रतिष्ठित की थी। विक्रमवरगुण नामक एक अन्य सामन्तने पेरियकुडीके अरिष्टनेमि भट्टारकके शिष्यको दान दिया था। कृष्णके ही राज्यकालमें कोप्पण तीर्थपर (८८१ ई० में) एक चट्टु-गट्टुभट्टारकके शिष्य आचार्य सर्वनन्दिका समाधिमरण हुआ था। उस कालमे कोप्पण एक उन्नत तीर्थ एवं जैन-केन्द्र था। स्वयं कृष्ण द्वितीयने मूलगुण्ड, बदनिके आदि स्थानोके जैनमन्दिरोको दान दिये थे। उसका सन् ९१४ ई० का बेगुमारा ताम्रशासन एक जैन दान-पत्र ही है। इसी नरेशके आश्रयमे कन्नडी भाषाके जैन महाकवि गुणवर्मने अपने हरिवंशपुराणकी रचना की थी। एक अन्य जैन महाकवि हरिश्चन्द्र कायस्थने भी अपने धर्मशर्माभ्युदय काव्यकी रचना सम्भवतया इसी कालमे की थी। ९०० ई० के चिक्कहनसोगे जैन बसदिके शिलालेखसे ज्ञात होता है कि कृष्णकी जक्कियब्बे नामक एक

जैनधर्मभक्त सामन्त महिला अत्यन्त कुशल शासक थी।

कृष्ण द्वितीयको प्रायः वृद्धावस्थामें ही राज्य प्राप्त हुआ था और उसके पुत्र जगत्तुंगकी उसके जीवनमें ही मृत्यु हो गयी थी, अतः उसका उत्तराधिकारी उसका पोता इन्द्र तृतीय नित्यवर्ष रट्टकन्दर्प (९१४-२२ ई०) हुआ। इसने मालवाके उपेन्द्रको पराजित करके अपने अधीन किया, वेंगिके चालुक्योंको भी अपनी अधीनता स्वीकार करनेपर विवश किया। कन्नौजके महीपालके विरुद्ध युद्धोंमें भी वह विजयी हुआ बताया जाता है। उसके दुर्द्धर सेनापति नरसिंह और श्रीविजय दोनों ही जैनधर्मके अनुयायी थे। सेनापति श्रीविजय 'अरिविनराज' और अनुपम कवि भी कहलाता था। वह शस्त्र और शास्त्र दोनों ही विद्याओंमें अद्वितीय था। जीवनके अन्तिम भागमें संसारका त्याग करके वह जैनमुनि हो गया था। यह राजा (इन्द्र तृतीय) इतना भारी दानी था कि ९१५ ई० में कुरन्धक नामक स्थानमें जब उसका पट्टबन्धोत्सव मनाया गया तो उसने धर्मगुरुओं, धर्मायतनों और याचक गणोंको ४०० ग्राम दान दिये थे। अपने पूर्वजोंकी भाँति वह भी जिनेन्द्रका भक्त था। अपने अभीष्टकी प्राप्तिकी इच्छासे उसने अर्हत् शान्तिनाथका पाषाण-निर्मित सुन्दर पादपीठ बनवाया था। नलचम्पूके लेखक त्रिविक्रमभट्ट तथा उसके पिता नेमादित्यका भी वह प्रश्रयदाता था।

उसके उपरान्त उसका पुत्र अमोघवर्ष द्वितीय (९२२-२५ ई०) राजा हुआ किन्तु वह अपने छोटे भाई गोविन्दके षड्यन्त्रका शिकार हुआ प्रतीत होता है। गोविन्द चतुर्थ सुवर्णवर्ष (९२५-३६ ई०) जो सम्भवतया अपने बड़े भाईकी हत्या करके राजा बना था एक दुराचारी और अयोग्य शासक सिद्ध हुआ। इसके समयमें ९३३ ई० में देवसेनने दर्शनसारकी रचना की थी। सामन्त सरदारोंकी प्रार्थनापर उसका चाचा अमोघवर्ष तृतीय बद्दिग (९३६-३९ ई०) गोविन्दको गद्दीसे उतारकर स्वयं राजा हुआ। यह एक शान्तिप्रिय नरेश था। उसका पुत्र युवराज कृष्ण

गंगनरेश राचमल्ल सत्यवाक्य द्वितीयके विरुद्ध उसके भाई भूतुग द्वितीय-का पक्षपाती और सहायक था, अतः अमोघवर्षने भूतुगके साथ अपनी पुत्री रेवाका विवाह कर दिया।

कृष्णराज तृतीय अकालवर्ष (९३९-६७ ई०) राष्ट्रकूट वंशके अन्तिम नरेशोमे सर्वमहान् था। अपने बहनोई भूतुग गंगकी सहायतासे लल्लेयको पराजित करके वह पिताके सिंहासनपर बैठा। बदलेमे उसने भूतुगको अपने भाई राचमल्लका अन्त करके सिंहासन प्राप्त करनेमे सहायता दी, भूतुगको गंगवाडि और बनवासीका राजा घोषित किया, उसके पुत्र तथा अपने भानजे मरुलदेवके साथ अपनी पुत्री विजब्बा-का विवाह किया और उसकी पुत्रीके साथ अपने पुत्रका। इन विवाह-सम्बन्धो एवं मैत्री-व्यवहारोके कारण गंगनरेश भूतुग द्वितीय, मरुलदेव, मारसिंह आदि कृष्ण और उसके उत्तराधिकारियोके सबसे बडे हितू और सहायक बन गये। उसे अपना अधिपति स्वीकार करनेमे उन्होने अपना सम्मान ही समझा। कृष्णके लिए इन गंगोने अनेक युद्ध किये। भूतुगने उत्तरमे चित्रकूट और कालिंजर तक विजय की, दक्षिणमे कृष्णके साथ चोलों-पर आक्रमण किया और परान्तक चोलके पुत्र राजादित्यको हाथीपर बैठे-बैठे ही बाणसे वेध दिया। गंगनरेशकी सहायतासे कृष्णने चोल, पाण्ड्य, केरल, कलभ्र, औच एवं सिंहलके राजाओको पराजित किया तथा रामेश्वरम्मे अपना विजय-स्तम्भ स्थापित किया। उसकी ओरसे गंग मारसिंह और उसके वीर सेनापति चामुण्डरायने बनवासी देशको विजय किया, नोलम्बो, गुर्जरो और किरातोको पराजित किया, उच्छंगी-जैसे सुदृढ दुर्गोको हस्तगत किया, अल्लण, वज्जवल, मुडुराचय्य आदि सामन्तो एवं उपराजाओका दमन किया। उसने मालवापर आक्रमण किया और परमार हर्षसियकने उसकी अधीनता स्वीकार की। कृष्ण एक वीर योद्धा, दक्ष सेनानी, मित्रोके प्रति अति उदार, धर्मात्मा और पराक्रमी नरेश था। उसने राष्ट्रकूट साम्राज्यकी प्रतिष्ठाको गिरते-गिरते बचाया। किन्तु दो-एक राजनैतिक

भूले उसने की, परमारोंको पराजित तो किया किन्तु उनका पूर्णतया दमन नहीं किया, दूसरे एक चालुक्य सरदार तैलपको साम्राज्यके केन्द्रीय भागमें एक महत्त्वपूर्ण जागीर सैनिक-सेवाओंके लिए प्रदान कर दी। तथापि कृष्ण तृतीय एक महान् नरेश था और अपने पूर्वजोंकी भाँति जैन-धर्मका पोषक और विद्वानोंका आश्रयदाता था। जैनाचार्य वादिघंगलभट्ट-का वह बड़ा सम्मान करता था और उन्हें अपना गुरु मानता था। उन्हींके उपदेशसे उसने निरन्तर युद्ध किये और हर दिशामें विजय प्राप्त की। वास्तवमें यदि वह ऐसा न करता तो दक्षिणमें चोलोंकी बढ़ती हुई शक्ति और उत्तरमें परमारोंको तथा निकट ही वेंगिके चालुक्यों एवं तैलप-जैसे अन्य साहसी सामन्तोंके प्रयत्न राष्ट्रकूट साम्राज्यका बहुत पहले ही अन्त करनेमें सफल हो जाते।

कृष्णने कन्नडी भाषाके जैन महाकवि पोन्नको उभयभाषाचक्रवर्तीकी उपाधि देकर सम्मानित किया था। सोमदेवने यशस्तिलक एवं नीतिवाक्या-मृतकी रचना कृष्णके चालुक्य सामन्तके आश्रयमें ९५९ ई० में गंगधार नगरमें की थी। कृष्णके प्रधान मन्त्री भरत थे। ये भी जैनधर्मके अनुयायी थे और अपभ्रंशके महाकवि पुष्पदन्तके आश्रयदाता थे। उन्हींकी प्रेरणापर कविने अपने प्रसिद्ध महापुराणकी रचना की थी। महामात्य भरतके पुत्र नन्न भी राजमन्त्री थे। जैन धर्मानुयायी और पुष्पदन्तादि विद्वानों एवं कवियोंके आश्रयदाता थे।

कृष्ण तृतीयकी मृत्युके बाद उसका छोटा भाई खोट्टिग नित्यवर्ष (९६७–७२ ई०) राजा हुआ। जिस समय उसके प्रधान सहायक गंग मारसिंह और उनके सेनापति चामुण्डराय अन्यत्र युद्धोंमें उलझे हुए थे मालवेके सियक हर्ष परमारने तरदवाडि या रट्टवाडिपर आक्रमण कर दिया और ९७२ ई० में स्वयं मान्यखेट राजधानीको लूटा और भस्म किया। सम्भवतया इसी युद्धमें खोट्टिग भी मारा गया। मान्यखेटकी लूटके समय महाकवि पुष्पदन्त वहीं थे और उन्होंने उस सुन्दर नगरीके विनाशका बड़ा

करुण चित्रण किया है। समाचार सुनकर गंग मारसिंह राष्ट्रकूटोंकी सहायताको पहुँचा, परमार सेना तुरन्त वापस लौट गयी और खोट्टिगका पुत्र कर्क द्वितीय (९७२–७३ ई०) राजा हुआ। यह भारी योद्धा था और थोड़े ही समयमे इसने पल्लवो, गुर्जरो, हूणो और पाण्डचोको युद्धमे पराजित किया। इन युद्धोके कारण राजधानी फिर अरक्षित हो गयी और ९७३ ई० मे चालुक्य सरदार तैलपने उसपर अधिकार करके कर्कको राज्यच्युत किया और सम्भवतया युद्धमे मार भी दिया। राष्ट्रकूट वंशका अन्तिम राजा इन्द्र चतुर्थ था जो कृष्ण तृतीयका पोता तथा गंग मारसिंहका भानजा था। वह भारी वीर और योद्धा था तथा चौगान (पोलो) के खेलमे निपुण था। मारसिंहने उसे अपने पूर्वजोका राज्य प्राप्त करनेमे भरसक सहायता दी। एक बारको मान्यखेटमे उसका राज्याभिपेक भी कर दिया। दोनोने वीरतापूर्वक अनेक युद्ध किये किन्तु स्थायी सफलता न मिली। ९७४ ई० मे मारसिंहकी स्वगुरुचरणोमे सल्लेखनापूर्वक मृत्यु हो गयी। अतः निस्सहाय इन्द्रराज भी कुछ वर्षो तक प्रयत्न करनेके बाद संसारसे विरक्त हो गया और श्रवणबेलगोल चला गया। हेमावतीके तथा श्रवणबेलगोलकी चन्द्रगिरिके शिलालेखोसे ज्ञात होता है कि अन्तमे वह जैनमुनि हो गया था और ९८२ ई० मे इस 'विश्वविख्यात इन्द्रराजने शान्त-चित्तसे सल्लेखना व्रत धारण करके देवराज इन्द्रके पदको प्राप्त किया।' इस प्रकार इन्द्र चतुर्थकी मृत्युके साथ दक्षिण भारतके महान् राष्ट्रकूट वंश और साम्राज्यका अन्त हुआ।

लगभग २५० वर्षके उपरोक्त राष्ट्रकूट युगमे जैनधर्म और विशेपकर उसका दिगम्बर सम्प्रदाय सम्पूर्ण दक्षिणापथमे सर्व-प्रधान धर्म था। डॉ० अल्तेकरके अनुसार साम्राज्यकी लगभग दो तिहाई जनता तथा राष्ट्रकूट नरेशो एवं उनके परिवारोके विभिन्न स्त्री-पुरुषो, अधीनस्थ राजाओ, उपराजाओ, सामन्त-सरदारो, उच्च-पदाधिकारियो, राज्यकर्मचारियो, महाजनो और श्रेष्ठियों सभीमे अधिकतर लोग इसी धर्मके अनुयायी थे।

लोक-शिक्षा भी जैन-गुरुओ और वसदियो-द्वारा संचालित होती थी। वर्णमालाका प्रारम्भ जैनमन्त्र 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' से होता था जो महाराष्ट्रमे आज तक चला आता है। गुजरातसे लेकर आन्ध्रदेश पर्यन्त और नर्मदासे लेकर मदुरा पर्यन्त अनेक जैन विद्यापीठ जन-साधारणको ही नही राजकुमारो एवं अन्य उच्च वर्गोके छात्र और छात्राओको भी धार्मिक एवं लौकिक शिक्षा प्रदान करते थे। अनेक जैनाचार्य राजाओ और महाराजाओके राजगुरु और पथप्रदर्शक थे। आहार, अभय, औषधि और विद्यादान-द्वारा मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका रूप चतुर्विध सघ लोकोपकारके कार्योमे रत था। साथ ही शान्तिप्रिय, स्याद्वादात्मक एवं सहिष्णु जैनधर्म अन्य धर्मोके साथ उदारता, सद्भाव और सहयोगपूर्वक उन्नति कर रहा था। शैव-वैष्णवादि-द्वारा काल-विशेषो और प्रदेश-विशेषोमे जैनोपर भीषण अत्याचार किये जानेपर भी और स्वय जैनोके इस युगमे इतना अधिक शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी उनके द्वारा अजैनोपर धार्मिक अत्याचार किये जानेका कोई प्रमाण नही मिलता। साथ ही जैनधर्म अपने अनुयायियोके लौकिक कर्त्तव्यों, वीरता-पूर्वक युद्ध संचालन, स्वदेश प्रेम, स्वराज्य रक्षा एवं विस्तार, शासन-प्रबन्ध आदिमे बाधक तो हुआ ही नही, साधक ही हुआ। जैन विद्वानोने भारतीका भण्डार भरा और जैन कलाकारोने अद्वितीय कृतियोसे देशको अलंकृत किया। अपने इस अभ्युदय कालमे जैन-संस्कृतिने भारतीय संस्कृतिका सर्वतोमुखी विकास किया।

कल्याणीके उत्तरवर्त्ती चालुक्य—१०वी शती ई० के तृतीय पादके अन्तिम वर्ष भारतीय इतिहासमे अत्यधिक घटनापूर्ण थे। अनेक राज्योमे उलट-फेर हुई, कई नरेशोकी मृत्यु, नवीनोके राज्याभिषेक, कई स्थानोमे राज्य एवं वंश-परिवर्तन हुए। वस्तुत जैन-परम्पराके अनुसार यह युग दूसरे उपकल्किके अन्तका सूचक था। कमसे कम दक्षिण भारतमे इस कालमे एक महान् राज्यक्रान्ति हुई। ९६७ ई० मे राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय नर्मदाके दक्षिणवर्ती समस्त भू-भागका एकच्छत्र स्वामी था

किन्तु दिसम्बर ९७३ ई० मे उसका सम्पूर्ण राज्य उसके भतीजे कर्क द्वितीयके हाथोसे अकस्मात् छिन गया और २५० वर्षसे चला आया विशाल एवं शक्तिशाली राष्ट्रकूट साम्राज्य एक स्मृतिमात्र रह गया। उसके स्थानमे वातापीके प्राचीन पश्चिमी चालुक्य वंशका चमत्कारी पुनरुत्थान हुआ और इसका श्रेय चालुक्य वीर तैलपको है।

तैलके पूर्वज कहाँ रहते थे या राज्य करते थे इसका कुछ पता नही चलता। पीछेके चालुक्य अभिलेखोमे उसका सम्बन्ध वातापीके पश्चिमी चालुक्य-सम्राट् विजयादित्य द्वितीयके साथ जुड़ा मिलता है जिसका पौत्र कीर्त्तिवर्मन् द्वितीय ७५७ ई० मे इस वंशका अन्तिम नरेश था। उसके चाचा भीमपराक्रमकी सन्ततिमे कीर्त्तिवर्मन् तृतीय, तैल प्रथम, विक्रमादित्य तृतीय, अय्यन प्रथम और विक्रमादित्य चतुर्थ क्रमश हुए। अन्तिमका पुत्र यह तैल द्वितीय था। कुछ विद्वान् इस वंशक्रममे सन्देह करते है। ९५७ ई० मे यह तैल या तैलप राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीयके अधीन तरद्दवादी १००० प्रान्तका एक साधारण श्रेणीका अज्ञात कुल एवं निरुपाधि शासक था। किन्तु ९६५ ई० मे वही उसी प्रान्तको एक अणुगजीवि (जागीरदार सामन्त एवं सेनानायक) के रूपमे भोगता हुआ सत्याश्रय वंशी महा-सामन्ताधिपति चालुक्यराम आहवमल्ल तैलपरस बना मिलता है। सम्भवतया अपनी महत्त्वपूर्ण युद्ध सेवाओके कारण कृष्ण तृतीयका कृपापात्र बनकर मात्र ८ वर्षमे ही उसने ऐसी अद्भुत उन्नति कर ली थी। उसकी माँ बोंथादेवी चेदिनरेश लक्ष्मणकी पुत्री थी। उसने स्वयं अपना विवाह राष्ट्र-कूट सरदार बम्महाट्टकी कन्या जकब्बे अपर नाम लक्ष्मीके साथ किया था। चेदियोको कृष्णने अपने विरुद्ध कर लिया था। इस प्रकार अपने मामा चेदिनरेश युवराज द्वितीय, अपने श्वसुर बम्महाट्ट, वेगिके पूर्वी चालुक्य बद्दिग द्वितीय, सुयेनदेशके यादवराज भिल्लम द्वितीय आदिकी मित्रता एवं सहायतासे तैलपने अपनी शक्ति बढानी प्रारम्भ की। राष्ट्रकूटोका सामन्त और सेनानायक बनकर उसने उनकी आन्तरिक दुर्बलताओको लक्ष्य किया

और अवसरकी ताकमे रहा। धल्ल नामक एक ब्राह्मण सरदार कृष्णके विरुद्ध हो गया था अतः गंग मारसिहने उसका दमन किया था। अब वह भी तैलपसे आ मिला।

वाजीवंशका यह ब्राह्मण धल्ल एक महान् योद्धा एवं विलक्षण राजनीतिज्ञ था। तैलपने उसे अपने महकमे मालका अध्यक्ष नियुक्त किया और 'महामन्त्र अक्षयपटल अधिपति' पद दिया। धल्लको मंगलसिद्धि, विवेक बृहस्पति, सचिवोत्तम आदि उपाधियाँ राजासे प्राप्त हुईं। वस्तुत' धल्ल ही तैलपका प्रधानामात्य हो गया था, राज्य-व्यवस्था एव शासन-भार उसके सुयोग्य हाथोमे छोड़कर तैलप स्वयं शत्रुओके दमन और राज्य-विस्तारमे संलग्न हुआ। धल्लका पुत्र महादण्डनायक नागदेव भी महान् योद्धा एव कुशल सेनानायक था।

तैलपका सेनापति मल्लप भी अत्यन्त योग्य एवं कार्य-कुशल था। सोव्वनरस कन्ननवन्त आदि राष्ट्रकूटोके कई अन्य सामन्त सरदारो एवं कर्मचारियोको भी तैलपने फोड़ लिया था। उसके सौभाग्यसे ९७२ ई० मे सियक परमारने मान्यखेटका विध्वंस और खोट्टिगकी हत्या करके राष्ट्रकूट शक्तिको जर्जर कर दिया था। तदनन्तर वह महान् राजधानी भीषण दुष्कालका शिकार हुई। ऐसी स्थितिमे ९७३ ई० मे तैलपने मान्यखेटपर भीषण धावा बोला। राष्ट्रकूट कर्क द्वितीय भी भारी योद्धा था, भयंकर युद्ध हुआ जिसमें कर्क मारा गया और तैलपने राष्ट्रकूट राजधानीपर अधिकार कर लिया। गग मारसिहने कुछ समयके लिए मान्यखेट फिरसे छीन लिया और इन्द्र चतुर्थको राष्ट्रकूट सिहासनपर स्थापित किया, किन्तु कुछ ही महीनो वाद तैलपने इन्द्रको निकालकर मान्यखेटमे अपना राज्याभिषेक किया।

संवत्सर श्रीमुख (९७३-७४ ई०) तैलप राज्यका प्रथम वर्ष था। सर्वप्रथम उसे गंगोसे लोहा लेना था। मारसिह और उसके सेनापति चामुण्डरायके प्रति उसके हृदयमे आदर-भाव था किन्तु वे दोनो उसके द्वारा

राष्ट्रकूट राज्यका अपहरण भी सहन नही कर सकते थे। अतः परस्पर युद्ध चलते रहे। मारसिहने तो विरक्त होकर समाधिमरण कर लिया। तैलपने पंचलदेव, गोविन्द, मुदराचय्य आदि गंग सरदारोका दमन करनेमे चामुण्डरायकी सहायता की और गंग सिहासनपर राचमल्ल चतुर्थको तथा तदनन्तर रावकसगंगको बैठानेमे साधक हुआ, अतएव ये दोनो गंग-नरेश और उनके महामन्त्री चामुण्डरायसे उसकी मैत्री हुई और वह उनकी ओरसे निश्शंक हुआ। तदनन्तर तैलपकी सेनाओने करहाट, कोकण, पल्लिकोट, भद्रक आदि प्रदेशोपर आक्रमण किया और राष्ट्रकूट साम्राज्यके अन्तर्गत जितना प्रदेश था उस सबपर प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसने गुर्जरदेशको भी विजय किया और मालवा नरेशसे युद्ध किये। मुंज परमारने छह बार तैलपके राज्यमे आक्रमण किया और प्रत्येक बार पीछे हटा, अन्तिम धावेमे स्वयं बन्दी हुआ। कहा जाता है कि तैलपकी बहन मृणालवतीसे उसका प्रेम हो गया था और फलस्वरूप वह भाग निकला किन्तु तैलपने उसे युद्धमे फिर पराजित किया और उसी युद्धमे मुंजकी मृत्यु हुई। तैलपने शिलाहार, रट्ट और नोलम्ब नरेशोका दमन करके उन्हे अपने अधीन किया। गंग भी अब उसके अधीन राजे ही थे। केवल चोल सम्राट् उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे, उनका ध्यान बटानेके लिए उसने वेंगिपर आक्रमण किये, उसे पराजित किया और उसकी राजनीतिमे हस्तक्षेप करता रहा। ९९७ ई०मे तैलप द्वितीयकी मृत्यु हुई। मान्यखेटका त्याग करके कल्याणीको उसने अपनी राजधानी बनाया था।

वस्तुतः, जैसा कि उसके वंशजोके अभिलेखोमे कथन किया गया है। तैलपने प्राचीन चालुक्योके राज्यका अपहरण करनेवाले राष्ट्रकूटोको पराजित एवं निष्कासित करके चालुक्य वंशकी साम्राज्य-लक्ष्मीको पुनः प्राप्त किया और प्रतिष्ठित किया। निस्सन्देह वह एक महान् पराक्रमी और योग्य नरेश था। विद्वान् और गुणी पुरुषोका वह आदर करता था। सेनापति मल्लप्प, मन्त्री धल्ल, दण्डनायक नागदेव, वीर सेनानायक

पोनमय्य, भूटेपदेव और पदुवेल तैल-जैसे राज्य-पदाधिकारी एवं सुयोग्य युवराज, सत्याश्रय आदि महावीर योद्धाओं, राजनीति-पटु अमात्यों, कुशल शासनाधिकारियों एवं स्वामिभक्त सेवकोंकी सेवाओंका लाभ उसे प्राप्त हुआ था जिनके कारण ही उसे वैसा आश्चर्यजनक अभ्युदय सहज ही प्राप्त हुआ। देशकी सांस्कृतिक परम्पराको भी उसने प्रशस्त एवं पूर्ववत् निर्बाध जारी रखा। वह सर्व-धर्मसहिष्णु, उदार और दानी नरेश था। जैन धर्मके साथ तो उसने वैसा ही श्रद्धा एवं उदारतापूर्ण बरताव बनाये रखा जैसा कि पूर्ववर्ती कदम्बों, गंगों, पश्चिमी चालुक्यों एवं राष्ट्रकूटोंने बनाये रखा था। बेल्लारी ज़िलेके हडगल्लि तालुकेके कोगलि नामक स्थानमें स्थित चेन्नपार्श्वबसदिका सन् ९९२ ई० का शिलालेख सूचित करता है कि यह राजा जैनधर्मका अनुयायी था। कन्नडका जैन महाकवि रन्न (रत्नाकर) उसका राजकवि था। ९९३ ई० मे कविके अजितपुराण या पुराणतिलक महाकाव्यको पूर्ण करनेपर सम्राट्ने उसे 'कविचक्रवर्ती' उपाधिसे विभूषित किया था और स्वर्ण-दण्ड, चँवर, छत्र, गज आदि देकर पुरस्कृत किया था। साहस भीमार्जुन, रत्नकाण्ड आदि काव्य भी इसी कविने रचे थे। उसी वर्षके सोमसमुद्र शिलालेख-द्वारा लोकहितके लिए सम्राट्ने एक विशाल तालका निर्माण कराया था और उसके लिए 'विहुवत्त' भूमि लगायी। राजाज्ञाका उल्लंघन करनेवालेको उसने बसदि (जिनमन्दिर), काशी, अन्य देवालय आदिको हानि पहुँचानेवाले-जैसा पातकी एवं दण्डनीय घोषित किया था। महामन्त्री धल्ल, सेनापति मल्लप और नागदेव आदि भी जैनधर्मके भक्त थे। मल्लपकी पुत्री और धल्लकी पुत्र-वधू तथा नागदेवकी पत्नी और पदुवेल तैलकी जननी विदुषीरत्न अतिमब्बेकी साहित्य-सेवा, धर्म-प्रभावना, शील-सदाचरण एवं धार्मिकताके उत्कृष्ट आदर्शसे तैलका शासनकाल धन्य हुआ। उभयभाषाचक्रवर्ती महाकवि पोन्नके शान्तिपुराणकी एक सहस्र प्रतियाँ इस महिलाने अपने व्ययसे तैयार कराकर वितरित की थीं। स्वर्ण मणि माणिक्यादिकी १५०० जिनमूर्तियाँ बनवाकर उसने विभिन्न

मन्दिरोमे स्थापित की थीं, अनेक मन्दिरोंका निर्माण एवं जीर्णोद्धार कराया था और आहार, औषध, अभय एवं विद्यारूप चार प्रकारके अनवरत दान-द्वारा वह दानचिन्तामणि कहलायी। ऐसा प्रसिद्ध है कि उसके सतीत्वके प्रभावसे गोदावरीका प्रवाह रुक गया था। उसका पति नागदेव युवराज-का अनन्य मित्र और सम्राट्का अतिमान्य अनुचर था। अतः इस देवीके धर्मकार्योंमे सम्राट्की अनुमति, सहायता एवं प्रसन्नता थी इसमे कोई सन्देह नही। किसी भी धर्मवीर महिलाके लिए आदर्श नारी रत्न अतिमव्बेसे तुलना किया जाना परम सौभाग्य माना जाता था।

तैलप द्वितीयका उत्तराधिकारी उसका पुत्र सत्याश्रय इरिव बेदेग (९९७–१००९ ई०) था। उसने अपने पिताकी आक्रमणकारी नीति चालू रखी। उसका प्रधान शत्रु राजराजा चोल था। राजराजा चोलने चालुक्य राज्यपर आक्रमण किया, सत्याश्रयने उसका मुकाबला डटकर किया, साथ ही वेंगिपर आक्रमण कर दिया और भीमको पराजित करके शक्तिवर्मनको राजा बनाया। चोलोंकी शक्ति इस समय द्रुत-वेगसे बढ रही थी अतः सत्याश्रयने उनसे सन्धि कर ली। यह नरेश भी जैनधर्मका भक्त था। उसके गुरु सम्भवतया कुन्दकुन्दान्वय पुस्तकगच्छके द्रमिलसंघी भट्टारक कनकसेन वादिराज और श्रीविजय ओडेयदेव थे। सत्याश्रयने एक जैनगुरुकी स्मृतिमे अगदि नामक स्थानमे एक भव्य निपद्या निर्माण करायी थी। उसका प्रधान राजकर्मचारी उसके मित्र नागदेव और अति-मव्बेका पुत्र पदुवेल तैल था, वह भी जैनधर्मका परमभक्त और कवि रन्नका आश्रयदाता था।

सत्याश्रयके पश्चात् उसका पुत्र कुन्दमरस राजा न हो सका, उसके भाई दशवर्माका पुत्र विक्रमादित्य पचम (१००९–१३ ई०) राजा हुआ। तदुपरान्त इसके भाई अय्यन द्वितीयने लगभग एक वर्ष राज्य किया और फिर तीसरा भाई जयसिह द्वितीय जगदेकमल्ल चालुक्यचक्री (१०१४–१०४२ ई०) राजा हुआ। इसके समय भोज परमारने अपने चाचा मुंजका

वदला लेनेके लिए कल्याणीपर आक्रमण किया। जयसिंहने भोजका मुकाबला किया और दोनोमे सन्धि हो गयी। वेंगिके साथ भी उसका युद्ध हुआ और राजेन्द्र चोलसे भी युद्ध हुए जिनमे चोल ही विजयी रहे और सन्धि हो गयी। जयसिंह द्वितीय जैनधर्मका विशेष भक्त था, अनेक जैन विद्वानो एवं गुरुओका उसने सम्मान किया तथा साहित्य-निर्माणको प्रोत्साहन दिया। आचार्य वादिराजसूरिका वह वहुत आदर करता था। उसकी राजसभामे पर-वादियोके साथ उन्होने अनेक शास्त्रार्थ किये थे। उनकी विजयके उपलक्ष्यमें राजाने उन्हे स्वमुद्रा युक्त जयपत्र तथा 'जगदेकमल्लवादी' उपाधि प्रदान की थी। १०२५ ई० में इन्ही आचार्यने अपना प्रसिद्ध काव्य 'पार्श्वचरित' रचा था। यशोधरचरित, एकीभाव स्तोत्र तथा अकलंकदेवकृत न्यायविनिश्चयकी टीका (विवरण) आदि अन्य ग्रन्थ भी इन्होने रचे। अनेक ग्रन्थोके रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्र भी इसी समयमे हुए। उन्हे धाराके भोजका आश्रय भी प्राप्त था। चालुक्य जयसिंहका विरुद मल्लिकामोद था और उसने वलिपुरमें मल्लिकामोद शान्तीश वसदि नामक सुन्दर जिनालयका निर्माण कराया था।

तदनन्तर उसका पुत्र सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल (१०४२-६८ ई०) राजा हुआ। यह वड़ा पराक्रमी था। उसने चोलोको युद्धमे पराजित किया। इसी युद्धमे उसके हाथो चोल-नरेश मारा गया। उसके उत्तराधिकारियोके साथ सोमेश्वरका संघर्ष और युद्ध वरावर चलते रहे। उसने आक्रान्ता भोज परमारको पराजित करके पीछे हटा दिया, कांचीकी विजय करके उसमे प्रवेश किया और कर्णकी शक्तिका अन्त किया। वेंगिकी राजनीतिमे वह वरावर हस्तक्षेप करता रहा। वह एक निष्ठावान् जैन था। कोगलि शिलालेखमे इस राजाको स्याद्वादमत (जैनधर्म) का अनुयायी लिखा है। उसी स्थानके एक अन्य शिलालेखमे इस नरेश-द्वारा वहाँकी चेन्नपार्श्व वसदिको भूमिदान करनेका उल्लेख है। यह वसदि तैलप द्वितीयने निर्माण करायी थी और तभीसे चालुक्य नरेशोके आश्रयसे एक प्रसिद्ध जैन-केन्द्र तथा

विद्यापीठ बनी हुई थी। सोमेश्वर प्रथमने जैनाचार्य अजितसेनका सम्मान किया और उन्हे शब्दचतुर्मुख उपाधि प्रदान की। इस नरेशका माहामात्य लक्ष्म 'राय दण्डगोपाल' जो उसका दाहिना हाथ था तथा वीर सेनापति (दण्डनाथ) शान्तिनाथ भी परम जैन थे। इन्होने कई जैनमन्दिर बनवाये और उनके लिए दान दिये। सोमेश्वरकी पट्टरानी केतलदेवीने भी अपने सचिव चाकिराज-द्वारा सेनगण पोगरिगच्छके गुरु ब्रह्मसेनके प्रशिष्य और आर्यसेनके शिष्य महासेनको १०५४ ई० मे दान दिया था। इस राजाने राजधानी कल्याणीको विस्तृत एवं अलंकृत किया। अभीतक मान्यखेट भी कल्याणीके साथ-साथ राजधानी बनी हुई थी, किन्तु अबसे कल्याणी ही चालुक्योंकी पूर्णतया राजधानी हो गयी। १०६८ ई० मे एक भयानक रोगसे पीडित होनेके कारण इस राजाने तुंगभद्रामे जल-समाधि ले ली। यह राजा इस वंशके सर्वमहान् नरेशोमे-से था। वह जितना योद्धा था उससे अधिक कूटनीतिज्ञ था।

उसका पुत्र सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल (१०६८–७६ ई०) भी चोलोके साथ युद्ध करता रहा। अपने भाइयोके साथ भी उसका द्वन्द्व चला और राज्यके दो टुकड़े होते-होते बचे। सोमेश्वरने कदम्बोका दमन किया और चोलोपर भी विजय प्राप्त की। अपने पूर्वजोंकी भाँति वह भी जैन रहा प्रतीत होता है। उसने मूलसंघके आचार्य कुलचन्द्रदेवको शान्तिनाथ बसदिके लिए नागरखण्ड प्रदेशमे भूमि प्रदान की थी और उक्त मन्दिरमे एक नवीन मूर्ति प्रतिष्ठित करायी थी तथा श्रीनन्दि पण्डितको भी दान दिया था।

१०७६ ई० मे उसका छोटा भाई विक्रम उसे बन्दी करके स्वयं राजा बना। यह विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल साहस-तुंग (१०७६-११२८ ई०) इस वंशके अन्तिम नरेशोमे सर्वमहान् था। उसके दीर्घकालीन राज्यकालमे चोलों, मालवाके परमारो और वेंगिके पूर्वी चालुक्योके साथ उसके निरन्तर युद्ध चलते रहे। गौड़, कामरूप, केरल, लाट, चेदि तथा अपने साम्राज्यके

अन्तर्गत छोटे-बड़े सामन्तोसे भी युद्ध चलते रहे। यह काल विशेष रूपसे चालुक्यो और चोलोके बीच युद्धो एव कूटनीतिक दाव-पेंचोसे भरपूर था। चोलोको पराजित करके प्रारम्भमे ही उसने चोल राजकुमारीके साथ विवाह कर लिया था, किन्तु सघर्ष फिर भी चलता रहा। इसी राजाके लिए महाकवि विल्हणने 'विक्रमाकदेव चरित' की रचना की थी। इस राजाकी विद्यारसिकताकी ख्याति सुनकर ही यह कवि कश्मीरसे कर्णाटक आया था। मिताक्षर न्यायका पुरस्कर्त्ता विज्ञानेश्वर भी इसीके समयमे हुआ। इस नरेशने अपने राज्याभिषेकको तिथिसे चालुक्य विक्रम वर्ष नामका अपना संवत् भी प्रचलित किया। इसने जैनाचार्य वासवचन्द्रका सम्मान करके उन्हे 'वालसरस्वती' उपाधि प्रदान की थी। राज्य प्राप्त करनेके पूर्व ही जब वह एक प्रान्तीय शासक मात्र था उसने बनवासी प्रान्तके बल्लिगवे नगरमे चालुक्य-गग-परमानदि जिनालय नामका सुन्दर मन्दिर बनवाया था। सिंहासन प्राप्त करनेके उपरान्त अपने दण्डनायक बर्म्म देवकी प्रार्थनापर राजाने उसी मन्दिरके लिए जैनगुरु रामसेनको दान दिया था। गुल्वर्गा जिलेमे स्थित पद्मावती-पार्श्वनाथ जिनालयके शिला-लेखसे यही नरेश उक्त मन्दिरका भी निर्माता सिद्ध होता है। वस्तुतः स्थापत्य शिल्पकी प्रसिद्ध चालुक्य शैलीके विकासका श्रेय इसी नरेशको प्रधानतया है। बनवासीकी राजधानी उपरोक्त बल्लिगवे उस कालमे प्रमुख ज्ञान-केन्द्र थी, उसकी विभिन्न बसदियो एवं मठोमे विभिन्न भारतीय धर्मो एवं दर्शनोकी शिक्षा साथ-साथ दी जाती थी। इस राजाके समयमे भारतीय सस्कृतिका बहुमुखी सवर्धन हुआ। यह नरेश सर्वधर्म-सहिष्णु था और सब ही धर्मोका प्रतिपालन करता था, यद्यपि उसका निजी एवं कुलधर्म जैनधर्म था। जैनाचार्य अर्हनन्दि जो अपने नियम-संयम एवं तपश्चरणके लिए प्रसिद्ध थे विक्रमादित्यके धर्मगुरु थे।

उसकी मृत्युके पश्चात् उसका पुत्र सोमेश्वर तृतीय भूलोकमल्ल ११२८–३९ ई०) राजा हुआ। 'सर्वज्ञ' उसका विरुद था, अभिलषितार्थ-

चिन्तामणि अपरनाम राजमानसोल्लास नामक ग्रन्थका वह रचयिता था। इसका शासनकाल शान्तिपूर्ण रहा, वह स्वयं युद्धप्रिय नहीं था वरन् साहित्य-रसिक था। फलस्वरूप उसके होयसल आदि सामन्त स्वतन्त्र होने लगे। उसके पुत्र जयसिह तृतीय जगदेकमल्ल (११३९–११५१ ई०) के समयमे होयसलोने चालुक्य राज्यका बहुभाग दबा लिया और उसके छोटे भाई एवं उत्तराधिकारी तैल तृतीय (११५१–११६३ ई०) के समयमे स्वयं राजधानी कल्याणीपर बिज्जल कलचुरिने अधिकार कर लिया। कलचुरि, होयसल और ककातियोके बीच चालुक्य-साम्राज्यके तीन टुकड़े हो गये। और तैल तृतीयका पुत्र सोमेश्वर चतुर्थ (११६३–८४ ई०) नाममात्रका ही राजा रह गया।

कल्याणीके कलचुरि—कलचुरि भारतका एक प्राचीन राजवंश था। इसका सम्बन्ध मूलतः चेदि (बुन्देलखण्ड) प्रान्तसे था अतः यह चेदि वंश भी कहलाता है। चेदि सवत्के प्रवर्तनकाल सन् २४९ ई० से इस वंशका उदय माना जाता है। मध्यभारत, विदर्भ महाकोसल तथ सरयूपार आदिके कलचुरि वंशोका वर्णन पिछले एक अध्यायमे किया जा चुका है। १२वी शताब्दीमे इस वंशकी एक शाखाका उदय दक्षिण भारतके कर्णाटक प्रदेशमे हुआ। ११२८ ई० मे कल्याणीके चालुक्य-सम्राट् सोमेश्वर तृतीयने कृष्णके वशज परम्मदि कलचुरिको बीजापुर विषयका शासक नियुक्त किया था। उसका पुत्र बिज्जल कलचुरि उसी पदपर उसका उत्तराधिकारी हुआ।

बिज्जल बडा वीर और महत्त्वाकांक्षी था। चालुक्य जयसिह तृतीयने उसे महामण्डलेश्वर बना दिया और अपना सेनाध्यक्ष नियुक्त किया। चालुक्य तैल तृतीयकी अयोग्यतासे लाभ उठाकर साम्राज्यके सामन्त सरदार स्वतन्त्र होने लगे। बिज्जलने इस विद्रोही सामन्तोका संघ बनाया और उसका स्वयं नेतृत्व किया। ११५१ ई० मे उसने इस प्रकार सहज ही राज्यशक्ति अपने हाथमे कर ली। अन्य सामन्त लोग उसकी बढती

हुई शक्तिसे प्रसन्न नहीं हुए। अतः उसने छलमे महाराज तैल तृतीयको वन्दी कर लिया और विद्रोही सामन्तोका दमन करके ११५६ ई० में अपने-आपको कल्याणीका सम्राट् घोपित कर दिया और अपना संवत् भी चलाया। उसी वर्पके एक शिलालेखमे उसका उल्लेख 'कलचुरि भुजवल-चक्रवर्ती त्रिभुवनमल्ल' विरुदके साथ हुआ है। ११६७ ई० पर्यन्त लगभग १२ वर्प उसने राज्य किया और इतने समयमे ही उसने प्रमाणित कर दिया कि वह एक वीर योद्धा, भारी विजेता और महान् नरेश था। अपने कुलकी प्रवृत्तिके अनुसार वह जैनधर्मका अनुयायी था। राज्य-प्राप्ति एवं संरक्षणमें विज्जलका प्रधान सहायक उसका महामात्य एवं प्रधान सेनापति रेचिमय्य था। वसुधैकबान्धव उसका विरुद था और वह महा-प्रचण्ड दण्डनायक कहलाता था। ७२ उच्च पदाधिकारी उसके अधीन कार्य करते थे। वह मन्त्र एवं नीतिकुशल, वीर योद्धा, दक्ष सेनानी, चरित्रवान् और महान् दानी था, उदारतामे कल्पद्रुमसे उसकी तुलना की जाती थी। महाराज विज्जलने प्रसन्न होकर उसे नागरखण्ड प्रान्त जागीर-में प्रदान किया था। रेचिमय्य परम जैन था और जैनधर्मकी प्रभावनाके लिए उसने अनेक कार्य किये।

विज्जलका एक अन्य जैन मन्त्री ब्राह्मण बलदेव था, इसका जामाता वासव भी जैन था। वलदेवकी मृत्युके पश्चात् उस पदपर वासवकी नियुक्ति हुई। वह पहलेसे अपने श्वसुरके सहकारीके रूपमे कार्य कर रहा था। किन्तु वासव बडा महत्त्वाकांक्षी था। अपने कुलधर्मसे उसे अपने लौकिक उत्कर्पकी गुंजाइश दिखाई नही दी। संयम-नियम और तपस्यासे उसे घृणा थी। अतः उसने एक नवीन मतका प्रचार करनेका निश्चय किया, उसने जैनधर्मके प्रचलित लोकतत्त्वो एवं प्रसिद्ध तथा व्यवहृत मान्यताओके साथ शैवधर्मकी कतिपय परम्पराओं एवं मान्यताओंका मिश्रण करके और इस मिश्रणको अपने मनोनुकूल विकृत करके लिंगायत या वीरशैव मतकी स्थापना की। ऐसी किवदन्ती है कि अपने कार्यकी सिद्धिके

लिए उसने राजाका ध्यान अपनी अतीव सुन्दरी भगिनी पद्मावतीकी ओर आकृष्ट किया और राजाकी इच्छाका आभास पाते ही उसके साथ राजाका विवाह कर दिया। पद्मावती अपने भाईकी इच्छानुसार बिज्जलको अपने धर्मसे विमुख और वासवके मतका पोषक तो न बना सकी किन्तु उसके मोहपाशमे बँधा राजा राज्यकार्यकी ओरसे असावधान हो गया। इसका लाभ उठाकर बासवने अपने मतके प्रचारमे सम्पूर्ण राजकोष खाली कर दिया और राज्यके विभिन्न पदोसे जैन राज्य-कर्मचारियो और पदाधिकारियोको अलग करके अपने साथी और सहायकोको नियुक्त करना आरम्भ कर दिया। अन्ततः राजाकी मोहनिद्रा टूटी और बासवकी कुचेष्टाओंपर उसका ध्यान गया, वह बहुत क्रोधित हुआ। अतएव बासवने राजाको विषाक्त आम खिलाकर छलसे उसकी हत्या कर दी। एक मतके अनुसार बिज्जलने राज्य अपने पुत्रको सौंपकर शेष जीवन धर्म-साधनमे बिताया था।

बिज्जलके पुत्र सोमेश्वर (११६७–७५ ई०)ने, जो बासवके कुकृत्योके कारण उससे अत्यन्त रुष्ट था, गद्दीपर बैठते ही उसे धर्म और राज्यका शत्रु घोषित कर दिया। बासव भाग निकला, किन्तु सोमेश्वरके सिपाहियोने उसका पीछा न छोड़ा, अन्ततः थककर बासवने एक कूँएँमे डूबकर आत्महत्या कर ली। उसके अनुयायियोंने उसे शहीद घोषित किया और उसके अन्तके सम्बन्धमे अनेक चमत्कार एवं किवदन्तियाँ प्रचलित कर दीं। बिज्जल और उसके उत्तराधिकारियोने बासवसे चिढ़कर लिगायतोंका क्रूरताके साथ दमन किया बताया जाता है। वीरशैव लोग ब्राह्मणोके भी विरोधी थे, वे जाति-व्यवस्था, यज्ञोपवीत, वेद और बाल-विवाहको अमान्य करते थे तथा विधवा विवाहके पक्षपाती थे। गुरु, लिग और जंगम (साधर्मी) इन तीन पदार्थोको सर्वोपरि श्रद्धाका पात्र मानते थे। बासवपुराण और चेन्न बासवपुराण उनके प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ है। बासवके एक शिष्य पाशुपतिने इस धर्मको खूब फैलाया। १३वी से १७वी शती तक

दक्षिण भारतके विभिन्न भागोमे इस धर्मका बहुत प्रचार रहा और इन वीरशैवो या लिंगायतोका सर्वाधिक तीव्र विद्वेष जैनधर्म और जैनोपर था। जब जहाँ इन्हे शक्ति प्राप्त हुई जैनोपर इन्होंने भीषण अत्याचार किये जिनमें ये प्राचीन शैव नयनारो और वैष्णव आलवारोसे भी आगे बढ़ गये। वस्तुत. दक्षिणापथमे मध्य कालमे जैनधर्मके ह्रास और अवनतिका प्रधान श्रेय लिगायतो-द्वारा किये गये धार्मिक अत्याचारोको है। लिगायत मतकी उत्पत्ति और तत्कालीन इतिहासपर १२०० ई० के एक जैन शिलालेख तथा विज्जलराय चरित्र नामक कन्नड ग्रन्थसे पर्याप्त प्रकाश पडता है।

विज्जलके उपरान्त उसके तीन पुत्रो सोमेश्वर या रायमुरारी सोविदेव (११६७-७५ ई०), संकाम या शकम (११७५-७८ ई०) और आहवमल्ल (११७८-८२ ई०) ने क्रमश राज्य किया। इन तीनोके एक अन्य भाईका पुत्र कन्नर इस वंशका अन्तिम राजा रहा प्रतीत होता है। इन लोगोके शासनकालमे देवगिरिके यादवो, और द्वारसमुद्रके होयसलोके आक्रमणोसे कलचुरि-शक्तिका ह्रास होता रहा। ११८३ ई० मे चालुक्य सोमेश्वर चतुर्थने कल्याणीपर फिरसे अधिकार कर लिया और १२१० ई० तक थोडे-से प्रदेशपर उसका राज्य चलता भी रहा। अन्तमे होयसलो और यादवोने उसका भी अन्त कर दिया।

अध्याय ९

दक्षिण भारत [३]

दक्षिण भारतके इतिहासमे चोलों और कल्याणीके चालुक्य-सम्राटोके उपरान्त देवगिरिके यादव, वारंगलके ककातीय और द्वारसमुद्रके होयसल प्रसिद्ध है। ११वी शताब्दीमे इन वशोका उदय हुआ और १२वी, १३वी शताब्दियोंमें सम्पूर्ण दक्षिण देश उन्ही तीन राज्यशक्तियोंके बीच बँटा हुआ था, इन्हीसे मुसलमानोने उसे अन्ततः छीना। होयसलोके अन्तके थोड़े समय उपरान्त ही विजयनगर राज्यकी स्थापना हुई जो १६वी शतीके अन्त तक चला। उपरोक्त प्रमुख राज्यवंशोके साथ-ही-साथ कुछ छोटे-छोटे राज्यवंश प्रमुख सामन्तो और उपराजाओके रूपमे चलते रहे। इन सभीने देशके सास्कृतिक इतिहासके निर्माणमे भाग लिया। अतः प्रमुख राज्यवंशो-का विवरण देनेके पूर्व पूर्वमध्यकालके उपराजवशोके विषयमे सक्षेपसे जान लेना उचित होगा।

पूर्वमध्यकालके प्रमुख उपराजवंश—(१) पोम्बच्चपुर (हुमच्च) के सान्तर उग्रवंशी क्षत्रिय थे और सान्तलिगे १००० प्रदेशके शासक थे। ७०० ई० के लगभग पश्चिमी चालुक्य विनयादित्यके शासनकालमे इस वशकी स्थापना हुई थी। इस वंशके अभ्युदयका श्रेय इसके वास्तविक संस्थापक जिनदत्तराय'(लगभग ८०० ई०) को है। वह जैनधर्मका परम भक्त था, हुमच्चकी जैन यक्षी पद्मावती उसकी इष्टदेवी एवं कुलदेवी थी। इस देवीकी साधनासे जिनदत्तको अद्भुत मन्त्रसिद्धि हुई थी। वह और उसके वंशज राष्ट्रकूटोके और तदनन्तर चालुक्योके प्रमुख सामन्तोमे-से थे।

जिनदत्तका पुत्र या पौत्र तोलपुरुप विक्रम सान्तर (८७०-९०० ई०) राष्ट्रकूट अमोघवर्ष एवं कृष्ण द्वितीयका एक प्रधान सामन्त था। ८६७ ई० के उसके अलूर शिलालेखसे उसका परम जैन होना प्रमाणित है। ८७८ ई० में उसने हुमच्चमे पलियक्क बसदिका निर्माण कराया। ८९७ ई० मे उसने अपने गुरु कुन्दकुन्दान्वयके मौनी सिद्धान्त भट्टारकके लिए एक नवीन वसदि वनवायी और उसके लिए भूमिका दान दिया। ८९८ ई० मे उसने हुमच्चमे गुड्ड बसदि बनवायी और उसमे भगवान् बाहुवलिकी मूर्त्ति प्रतिष्ठित की। राष्ट्रकूटोका अन्त होनेपर सान्तरोने कल्याणीके चालुक्योंकी अधीनता स्वीकार कर ली। १०६२ ई० मे इस वंशके राजा तैल सान्तरके पुत्र एवं उत्तराधिकारी और राक्कसगंगके जामाता वीरदेव सान्तरने स्वगुरु दिवाकरनन्दिके शिष्य सकलचन्द्रको अपने पट्टणसामि (राज्यश्रेष्ठि) नोक्कय्यके जिनालयके लिए दान दिया था और उसकी रानी चागलदेवीने कुलदेवी पद्मावतीके मन्दिरका मकरतोरण बनवाया था। उसकी दूसरी पत्नी कंचलदेवी (या वीरल महादेवी) से उसके भुजवल (तैल), नन्नि (गोगि), विक्रम (ओड्डुग) और वर्म्म नामके चार पुत्र हुए थे जिनका पालन-पोपण उनकी मौसी चट्टलदेवीने किया था। १०६५ ई० मे भुजबल सान्तर चालुक्य सोमेश्वर प्रथम त्रैलोक्यमल्लका कृपापात्र था। उसने अपनी राजधानी पोम्बच्चमे भुजवल सान्तर जिनालयका निर्माण कराया और उसके लिए अपने गुरु कनकनन्दिदेवको एक ग्राम प्रदान किया। उसका भाई एवं उत्तराधिकारी नन्नि सान्तर चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठका कृपापात्र था। इस परिवारके सभी व्यक्ति जैन धर्मके परम भक्त थे। भुजवल और नन्नि सान्तरकी मौसी पल्लव महारानी चट्टलदेवी, जो राक्कस गगकी पुत्री थी, अपनी बहन सान्तर रानी बीरलदेवीकी सन्तानकी संरक्षक थी। उसने हुमच्चमे ही सुप्रसिद्ध पंचकूट बसदि, ताल, सरोवर, कूप, वापी आदि निर्माण कराये, और भी कई जिनमन्दिर (१०७७ ई० मे) निर्माण कराये। वादिघरट्ट अजितसेन पण्डित इन लोगोके गुरु थे। सान्तर

राज-महिलाओमे पम्पादेवी, बाछलदेवी आदि भी अपनी धार्मिकता और दानशीलताके लिए प्रसिद्ध है। १०८१ ई० के एक लेखके अनुसार वीर सान्तरका मन्त्री नगुलरस जैनधर्मका भारी संरक्षक था। ११०३ ई० मे त्रिभुवनमल्ल सान्तरने राजधानीमे पंचकूट बसदिके सामने ही एक नवीन बसदि बनवायी। ११७३ ई० मे एक अन्य वीर सान्तरका विरुद 'जिनपाद भ्रमर' था। इसके उपरान्त सान्तरोपर लिंगायत मतका प्रभाव हुआ। १३वी शतीमे उन्होने अपनी राजधानीको हुमच्चसे बदलकर कलश नामक स्थानमे बनाया। तदनन्तर वे तुलुवदेशस्थ कार्कलमे जाकर राज्य करने लगे प्रतीत होते है। ये उत्तरवर्ती सान्तर यद्यपि बहुधा लिंगायत मतके अनुयायी हुए तथापि जैनधर्म और जैन-गुरुओके प्रति पूर्ववत् उदार बने रहे।

(२) **सौन्दत्तिके रट्ट** राष्ट्रकूटोके प्रमुख सामन्त थे और सम्भवतया राष्ट्रकूट वंशकी ही किसी शाखासे सम्बन्धित थे। इस वंशमे भी प्रारम्भसे लेकर अन्त तक जैन धर्मकी प्रवृत्ति रही। रट्टवाडीके ये शासक थे और सौन्दत्ति इनकी राजधानी थी, ये महामण्डलेश्वर कहलाते थे। ८७५ ई० मे राष्ट्रकूट अमोघवर्षके सामन्त मेरद्रके पुत्र पृथ्वीराम रट्टने सौन्दत्तिमे जिन-मन्दिर निर्माण कराके उसके लिए दान दिया था। उसके गुरु इन्द्रकीर्त्ति थे। यह राजा सम्राट् कृष्ण द्वितीयका दाहिना हाथ था। उसके पुत्र शान्तिवर्मा-की रानी चन्दकब्बे बड़ी धर्मात्मा थी, अपने पतिसे उसने एक सुन्दर जिनालय निर्माण कराया था। तदुपरान्त कलसेन, कन्नकेर, तीन कार्त्तवीर्य, कलसेन द्वितीय आदि राजा हुए। ११६५ ई० मे इसी वंशका रट्ट महासामन्त महाराज कार्त्तवीर्य चतुर्थ शिलाहार-नरेशके राज्यमे स्थित एकसाम्बीके नेमीश्वर जिनालयकी प्रसिद्धि सुनकर दर्शनार्थ वहाँ गया और महामण्डला-चार्य गुरु विजयकीर्त्तिको उक्त मन्दिरकी पूजा, संगीतवाद्य, साधुके भोजन, भवनके संरक्षण आदिके लिए उदार दान दिया। ये गुरु यापनीय संघके पुन्नागवृक्ष-मूलगणके साधु थे। इस सुन्दर जिनालयका निर्माण

शिलाहार सेनापति कालनने अपने गुरु कुमारकीर्त्ति त्रैविद्यके उपदेशसे कराया था। कार्त्तवीर्य चतुर्थके मन्त्री एवं वीर सेनानायक बुचिराज और मल्लिकार्जुन भी परम जैन थे। बुचिराजने बेलगाममे रट्ट-जिनालय बनवाया था और मल्लिकार्जुनके पुत्र केशीराजने सौन्दत्तिमे अपने पिताकी स्मृतिमे मल्लिकार्जुन-जिनालय बनवाया था। मुनि चन्द्रदेव इस रट्ट राजाके धर्मगुरु और उसके युवराजके शिक्षक ही नही थे वरन् राजाके संकट-कालमे उन्होने प्रधान मन्त्रीका पद ग्रहण किया और शत्रुओके दमनके लिए शस्त्र भी धारण किये। संकटकी निवृत्तिके बाद वे फिर साधु हो गये। वे काणूर-गणके जैन मुनि थे। रट्टोके अन्य मन्त्री, सेनापति एवं उपसामन्त भी जैन थे जिनमे शान्तिनाथ, नागदेव आदि नाम उल्लेखनीय है। कार्त्त-वीर्य चतुर्थके बाद लक्ष्मीदेव द्वितीय राजा हुआ। १२५० ई० के लगभग इस रट्ट वंशका अन्त हुआ।

(३) **कोंकणके शिलाहार** विद्याधरवंशी क्षत्रिय थे। वे अपने-आपको तगरपुर-नरेश जीमूतवाहनका वंशज मानते थे और इसीलिए अपने लिए तगरपुराधीश्वर पदका प्रयोग करते थे। वर्तमान बम्बई प्रदेशके बेलगाम और कोल्हापुर जिलोपर उनका शासन था। उनकी प्रारम्भिक राजधानी करहद थी और बादमे क्षुल्लकपुर (कोल्हापुर) को उन्होने राजधानी बनाया। राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथमके समयमे शिलाहार सबसे पहले प्रसिद्धिको प्राप्त हुए। दक्षिणी कोंकणकी विजय करके कृष्णने उसका शासक अपने एक शिलाहार सामन्तको बनाया था। धीरे-धीरे शिलाहार सामन्त शक्तिशाली हो गये और महामण्डलेश्वर कहलाने लगे। राष्ट्रकूटोके उपरान्त कल्याणीके चालुक्योके अधीनस्थ सामन्तोके रूपमे भी शिलाहार कोंकणपर शासन करते रहे।

१००७–१००९ ई० में रट्टराज शिलाहार एक प्रसिद्ध राजा और परम जैन था। १२वी शतीमे गण्डरादित्य (१११०–११४० ई०) इस वंशका प्रसिद्ध नरेश हुआ। वह नाम मात्रको ही चालुक्योके अधीन था। उसने

अनेक युद्ध किये, विजय प्राप्त की और शत्रुओंसे अपने राज्यको सुरक्षित रखा। वह भारी दानी और सर्व-धर्म समदर्शी था। कोल्हापुरके निकट प्रयागमें उसने एक-सहस्र ब्राह्मणोंको भोजन कराया और उसके निकट ही अजरेना नामक स्थानमें एक सुन्दर जिनालय बनवाया। उसने एक विशाल सरोवरके मध्य एक ऐसा देवालय भी बनवाया था जिसमें जिनेन्द्र, शिव और बुद्ध तीनों देवताओंकी मूर्त्तियाँ साथ-साथ स्थापित की थीं। इस प्रकारके धार्मिक समन्वयके प्रयत्नका यह पहला ही अथवा अकेला ही उदाहरण नहीं है, पूर्वमध्यकालमें अन्य कई देव-मन्दिर इस प्रकार जैन, शैव, वैष्णव, बौद्ध देवी-देवताओंकी साथ-साथ मूर्त्तियोंसे युक्त बने थे। ये उस कालके भारतीयोंकी उदाराशयता और विवेकके प्रतीक हैं।

गण्डरादित्यका प्रधान सामन्त और सेनापति वीर निम्बदेव था। गण्डरादित्यके उत्तराधिकारी विजयादित्यके राज्यकालमें भी वह उस पदपर आरूढ रहा बल्कि शिलाहार-नरेशका दाहिना हाथ बन गया था। शिलालेखोंमें निम्बदेवकी बड़ी प्रशंसा पायी जाती है। उसे 'विजयसुन्दरी-वल्लभ', 'सामन्तशिरोमणि', शत्रुसामन्तोंके संहारमें प्रचण्ड पवनके समान, सज्जनोंके लिए चिन्तामणि, गण्डरादित्य-महावक्ष-दक्षिण भुजदण्ड आदि कहा गया है। राजाने उसकी सेवाओंसे प्रसन्न होकर उसके नामपर निम्बसिरगाँव नामका नगर बसाया था। यह वीर इतना प्रसिद्ध हुआ कि उसके कई सौ वर्ष बाद कन्नड कवि पार्श्वदेवने निम्बदेवचरित्र बनाकर उसकी यशोगाथा गायी। साथ ही वह बडा धर्मात्मा था और उसकी जिनेन्द्र-भक्ति असीम थी, जिसके कारण सम्यक्त्वरत्नाकर और जिनचरण-सरसिरुहमधुकर-जैसे विशेषण उसने प्राप्त किये थे। वह मन्त्रशास्त्रका भी ज्ञाता था और शासनदेवी पद्मावतीका उसे इष्ट था। वह धर्मशास्त्रका भी ज्ञाता था और श्रावकोंको धर्मानुकूल आचरण करनेके लिए सदैव प्रेरित एवं उत्साहित करता रहता था। कोल्हापुरके आस-पास कोई बसदि ऐसी न थी जिसने निम्बदेवकी दानशीलतासे लाभ न उठाया हो।

स्वयं कोल्हापुरमे सुप्रसिद्ध महालक्ष्मी-मन्दिरके निकट ही उसने अत्यन्त सुन्दर एवं कलापूर्ण नेमिजिनालय बनवाया था। इस मन्दिरके शिखरकी कर्णिकापर तीर्थंकरोंकी ८२ पद्मासन मूर्तियाँ अंकित है। वर्तमानमे यह मन्दिर वैष्णवोंके हाथमे है और नेमिनाथकी मूर्तिके स्थानमे विष्णुमूर्ति स्थापित कर दी गयी है।

गण्डरादित्यके उपरान्त उसका पुत्र विजयादित्य शिलाहार (११४०-११६५ ई०) राजा हुआ। उसने चालुक्योंकी पराधीनताका जुआ उतार फेका और वह विज्जल कलचूरिके चालुक्योंका अन्त करने और कल्याणीका राजा बननेमे प्रधान सहायक हुआ। किन्तु जब विज्जलने शिलाहार-नरेशको भी अधीन करना चाहा तो दोनोंमे भयंकर युद्ध हुआ। शिलाहारोंकी ओरसे वीर सेनापति निम्बदेव युद्धका संचालन कर रहा था। उसी युद्धमे वह मारा गया किन्तु मरते-मरते भी कलचुरियोंको इतना आतंकित कर गया कि वे मैदान छोड भाग गये। विजयादित्य स्वयं बड़ा पराक्रमी था। अपने शत्रुओंके लिए वह यमराज कहा गया है। कलिकाल विक्रमादित्य उसका विरुद था। अपने धार्मिक उत्साहके कारण वह धर्मात्मा भी कहलाता था। वह श्रावकके व्रतोंका पालन करता था और अपने जैन-गुरु माणिक्यनन्दि पण्डितदेवकी बडी विनय करता था। कोल्हापुर तथा अन्य स्थानोंके जैनमन्दिरोंको उसने अनेक दान दिये थे। उसके प्रसिद्ध जैन सेनापति बोप्पणके सम्बन्धमे किदारपुर शिलालेखमे लिखा है कि वह विजयादित्यके लिए वैसा ही था जैसा कि हरिके लिए गरुड, रामके लिए मारुति और कामके लिए वसन्त। युद्धभूमिमे शत्रुओंका संहार करनेमे वह अद्वितीय था। राजाके लिए एक विशाल जिनालय निर्माण करवानेका कार्य उसने हाथमें लिया था किन्तु उसे पूरा करनेके पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गयी। विजयादित्यका एक अन्य प्रमुख जैन-मन्त्री एवं सेनानायक लक्ष्मीधर या लक्ष्मीदेव था। वह पार्वतीय दुर्ग किलेकलके दुर्गपति गोवर्धनका पुत्र और उच्च पदाधिकारी गोपयका जामाता था।

लक्ष्मीदेव राज्य-प्रबन्धमे कुशल और युद्धभूमिमे निपुण सैन्यसंचालक था। वह साहित्यरसिक और धर्मात्मा भी था और सम्यक्त्वभण्डार कहलाता था। नेमिनाथपुराणके कर्त्ता कन्नडके जैनकवि कण्णप्पार्यका वह आश्रयदाता था और उसके धर्मगुरु नेमिचन्द्र मुनि थे। विजयादित्यके समयमे ही उसके एक अन्य धर्मात्मा सामन्त कालनने एकसम्बीनगरमे सन् ११६५ ई० मे नेमीश्वर बसदि नामका सुन्दर एवं विशाल जिनालय निर्माण कराया और उसके लिए प्रभूत दान दिया था। उसके गुरु यापनीय सघके पुन्नागवृक्ष-मूलगणके कुमारकीर्तिके शिष्य महामण्डलाचार्य विजयकीर्ति थे। रट्ट-नरेश कार्त्तवीर्यने भी उक्त मन्दिरके दर्शनार्थ वहाँ आकर उसके लिए उक्त गुरुको दान दिया था। यह घटना रट्टो और शिलाहारोकी मैत्रीकी भी सूचक है। इस बसदिमे चारो दानोकी नियमित व्यवस्था थी। उसका निर्माता सामन्त कालन धर्मात्मा और दानी ही नही था वरन् शास्त्रज्ञ, विद्वान् और कलामर्मज्ञ निर्माता भी था।

विजयादित्यके उपरान्त भोज द्वितीय (११६५-१२०५ ई०) शिलाहार राजा हुआ। बिज्जल कलचुरि और उसके उत्तराधिकारियोने भोजको अपने अधीन करनेका भरसक प्रयत्न किया किन्तु असफल रहे। अन्तत. दोनोके बीच सन्धि हो गयी। भोजके जीवनमे ही कलचुरियोका अन्त भी हो गया। यह राजा भी अपने पूर्वजोकी भाँति जैनधर्मका परम भक्त था। विशालकीर्ति पण्डितदेव उसके गुरु थे। इसी वीर भोजदेवके शासनकालमे, १२०५ ई० मे आचार्य सोमदेवने जैनेन्द्र-व्याकरणकी शब्दार्णवचन्द्रिका नामक प्रसिद्ध टीका रची थी। यह टीका गण्डरादित्यके बनवाये हुए अर्जुरिका ग्रामके त्रिभुवनतिलक नेमिनाथ जिनालयमे उक्त विशालकीर्तिके सहयोगसे लिखी गयी थी। राजधानी क्षुल्लकपुर (कोल्हापुर) को भी इस राजाने अनेक सुन्दर जिनालयोसे अलकृत किया। भोजके उपरान्त इस वशका कोई इतिहास प्राप्त नही होता। शिलाहारोके

शासनमे करहद, कोल्हापुर, एकसम्बी आदि प्रसिद्ध जैनकेन्द्र थे।

(४) **कोंगाल्व वंश**—इस वंशके सामन्त राजे कुर्गके उत्तर और हासन ज़िलेके दक्षिणमे स्थित कोगलनाद ८००० प्रान्तके शासक थे। ८८० ई० के लगभग गंग राजकुमार एयरप्पने उस प्रान्तमे इस वंशके प्रथम व्यक्ति-को स्थापित किया था किन्तु कोगाल्वोंका वास्तविक अभ्युदय १००४ ई० से हुआ जब सम्राट् राजराज चोलने इस वंशके पंचव महारायको उसकी सेवाओसे प्रसन्न होकर 'क्षत्रियशिखामणि कोगाल्व' विरुद दिया, मालब्बि प्रदेश दिया और अपना प्रमुख सामन्त बनाया। कोगाल्व-नरेश, उनके सामन्त और राज्यपदाधिकारी अधिकांशत: जैन थे और उनके राज्यका यही प्रधान धर्म था।

शिलालेखोसे पता चलता है कि १०५० ई० के लगभग कोगाल्वोके एक सरदार मदुवंगनाडके स्वामी और किरिविके सामन्त अय्यने बारह दिनके सल्लेखनाव्रतपूर्वक चंगाल्व बसदिमे समाधिमरण किया था, बीलिय सेट्टी नामक धनी व्यापारीने भी गुरु-चरणोमे समाधिमरण किया था। १०५८ ई० में राजेन्द्र कोगाल्व अदटरादित्यने मुल्लूरुमे अपने पिता-द्वारा निर्मित पार्श्वनाथ बसदिके लिए कई गाँवोकी भूमि भेट की थी। इस राजाके गुरु मूलसंघ क्राणूरगण तगरिगल गच्छके गण्डविमुक्त सिद्धान्तदेव थे। उसने अपने नामपर अदटरादित्य चैत्यालय नामका एक जैनमन्दिर स्वयं भी बनवाया था और उसके लिए उभयसिद्धान्तरत्नाकर उपाधिधारी मुनि प्रभाचन्द्र सिद्धान्तको भूमिदान दिया था। इस राजाकी माता रानी पोचब्बरसि भी बड़ा धर्मात्मा थी। उसके गुरु नन्दिसंघ इरुंगुलान्वयके पुष्पसेनके शिष्य गुणसेन पण्डित थे। ये भारी वैयाकरण थे, १०६४ ई० मे इनकी मृत्यु हुई। इस रानीने भी एक बसदि बनवायी थी जिसमे अपने गुरुकी मूर्त्ति भी प्रतिष्ठित की थी और दान दिया था। चोलोके पतनपर कोगाल्व-नरेश होयसलोके अधीन हो गये। ११०० ई० मे कोगाल्वराज दुद्दमल्लरसने एक जिनालयके निर्माण और संरक्षणके लिए

प्रभाचन्द्रदेवको एक गाँव दान दिया था। ११९५ ई० के लगभग वीर कोंगाल्वदेव देशीगण-पुस्तकगच्छके माघचन्द्र त्रैविद्यके शिष्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेवका शिष्य था। इस राजाने सत्यवाक्य नामक जिनालय निर्माण कराके उसके लिए अपने गुरुको एक ग्राम दान दिया था। इसके उपरान्त कोंगाल्वोका कुछ इतिहास नही मिलता।

(५) **चंगाल्व वंश**—इस वंशके राजे मैसूर कुर्ग प्रदेशके अन्तर्गत चंगनादके शासक थे और कोगाल्वोकी भाँति ही चोलोके और फिर होयसलोके सामन्त थे। इस वंशमे कुछ राजे जैन रहे और शेष शैव रहे प्रतीत होते है। १०९१ ई० मे चंगाल्व राज मरियपेरगडे पिल्डुब्बयने पिल्डु ईश्वरदेवको मुनिआहारदानके लिए क्षेत्र प्रदान किया था। इनके प्रदेशमे हनसोगे प्रसिद्ध जैन केन्द्र था। लगभग ११०० ई० के एक शिलालेखसे प्रकट होता है कि उस समय इस नगरमे ६४ प्राचीन जिन-मन्दिर थे जो इक्ष्वाकुवंशी दाशरथी-सीतापति राम-द्वारा निर्मित कराये गये बताये जाते थे। इन्हीमे-से बन्दतीर्थ नामक बसदिको गंगनरेशोने दान दिये थे और उसी मन्दिरके लिए राजेन्द्र चोल नन्नि चंगाल्वने पूर्वोक्त दानोकी पुनरावृत्ति की। इन बसदियोका प्रबन्ध मूलसंघ-देशीगण-पुस्त-कान्वय-होत्तगगच्छके गुरुओके हाथमे था। इस राजाने उक्त शाखाके तत्कालीन गुरु जयकीर्त्तिको उपरोक्त दान दिया था। ये गुरु व्रत-उपवासो, विशेषकर चान्द्रायण व्रतके लिए विख्यात थे। इसी होत्तगगच्छके गुरुओके अधिकारमे तलकावेरीकी बसदियाँ और पनसोगेकी ४ बसदियाँ भी थी। उपरोक्त चंगाल्व नरेशने स्वयं भी १०२५ ई० और १०६० ई० के मध्य कई जिनमन्दिर निर्माण कराये थे।

(६) **अलुप या अलुव वंश** भी इस कालका एक प्रसिद्ध सामन्त वंश था। ये तुलुवनाडुके शासक थे। १०वी शतीमे इस वंशका उदय हुआ, किन्तु उनके आगमनके बहुत पहलेसे ही यह प्रदेश जैनधर्मका गढ रहता आया था। मूडबिद्री, गेरुसप्पे, भट्टकल, कार्कल, बिलिग, सोदे,

हाडुहल्लि, होन्नावर आदि इस प्रदेशके प्रसिद्ध नगर थे जो सब ही जैनधर्म-के सुदृढ गढ थे। १२वी शतीमे भुजबल अलुपेन्द्र (१११४–५५ ई०) इस वशका प्रसिद्ध राजा था। ११६१ ई० मे राजकुमार कुमाररायने केरेवासे नामक स्थानमे, जो जैनधर्मका केन्द्र था, एक जिनमन्दिरके बनवानेमे सहायता दी थी। कुलशेखर अलुपेन्द्रदेव प्रथम (लगभग ११७६–१२०० ई०) के समयमे तुलुदेशमे जिनधर्मको राजकीय महायता प्राप्त थी। इस राजाने मलधारिदेव, माधवचन्द्र, प्रभाचन्द्र आदि जैन-गुरुओका सम्मान किया था। पाण्डचदेव अलुपेन्द्रने १२९६ ई० मे नल्लूरकी जैन बसदिके लिए दान दिया था। कुलशेखर अलुपेन्द्र तृतीय (१३८४ ई०) बड़ा वैभवशाली राजा था, वह रत्नसिहासनपर बैठता था। वह परम जैन भी था और मूडबिद्रीके पार्श्वनाथदेवका भक्त था। उसके पौत्र वीरकुलशेखर (१४४४ ई०) के पश्चात् इस वशके सम्बन्धमे कुछ और पता नही चलता।

(७) इस कालके जिन कतिपय अन्य सामन्त एवं राजा-उपराजाओ-का शिलालेखोसे पता चलता है उनमे एक हुल्लियेरपुरका सामन्त गोवदेव था। उसकी रानी शान्तले इतनी उदार और समदर्शी थी कि जैन होते हुए भी वह जिनश्री धर्मके अतिरिक्त माहेश्वरागम, सद्वैष्णवाश्रित और बौद्धागम शब्दोसे सूचित शैव, वैष्णव एवं बौद्धधर्मोको भी समान रूपसे प्रश्रय प्रदान करती थी। उसके गुरु देशीगणके जैनाचार्य चन्द्रायणदेव थे। ११६० ई० मे जब शान्तलेकी सपत्नी महादेवी नायकित्तिकी मृत्यु हुई तो रानी शान्तलेने हेग्गेरेमे चेन्नपार्श्व बसदिका निर्माण कराया और उस बसदिमे पूजा-पाठ एव आहारदानके लिए उसके पुत्र बिट्टिदेवने भूमि और राज्यकरका कुछ अंश प्रदान किया। राज्यके प्रमुख नागरिकोने भी इस बसदिके लिए दान दिये। बिट्टिदेवके गुरु जैनाचार्य माणिक्यनन्दि सिद्धान्त-देव थे।

(८) १११५ ई० के एक शिलालेखसे पता चलता है कि उस समय

गोल्लदेशका शासक नूतनचन्दिलवंशी नरेश था जिसका नाम सम्भवतया भूपाल था। किसी कारणसे संसारसे विरक्त होकर यह राजा जैन मुनि हो गया था और गोल्लाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुआ। प्रसिद्ध भूपालचतुर्विंशति स्तोत्रका रचयिता सम्भवतया यही था।

(९) प्राचीन कदम्बोकी एक उत्तरकालीन शाखा इस कालमे कर्णाटकके कुछ भागपर शासन करती रही थी। उसके सोविदेव आदि राजे जैनधर्मके अनुयायी थे। नागरखण्ड उनके प्रदेशका प्रधान भाग था और वह जैनधर्मका केन्द्र था। कदम्बराज कीर्त्तिदेवकी पट्टरानी मालल देवीने १०७७ ई० मे कुप्पटूरमे पार्श्वदेव चैत्यालय बनवाया, आचार्य पद्मनन्दि सिद्धान्तको उसका अध्यक्ष बनाया, राजासे दान दिलाया और वहाँके अग्रहार ब्राह्मणोसे मान्य कराकर उसका ब्रह्मजिनालय नाम रखा। इस प्रदेशके अनेक सामन्त जैनधर्मानुयायी थे। इन सबमे उल्लेखनीय तेवरतेप्पका नाडप्रभु लोकगावुण्ड था। ११७१ ई० मे उसने अपने स्वामी कदम्बनरेश सोविदेवके राज्यकालमे एक सुन्दर जिनालयका निर्माण कराया और उसमे 'रत्नत्रय' की मूर्ति प्रतिष्ठित की और उक्त मन्दिरके साथ ही एक सरोवर और एक कूप बनवाया तथा प्याऊ और सत्रकी व्यवस्था की। मन्दिरमे नित्य अष्टद्रव्य पूजनके लिए भूमि प्रदान की। उसके गुरु मूलसंघ-क्राणूरगण-तिन्त्रिणीगच्छके जैनाचार्य मुनि चन्द्रदेवके शिष्य भानुकीर्त्ति सिद्धान्तदेव थे।

(१०) गंगधाराका चालुक्य वंश—यह प्राचीन चालुक्य वंशकी एक लघु शाखा थी, गंगधारा इसकी राजधानी थी। आर० नरसिंहाचार्यके मतानुसार इस वंशकी राजधानी पुलिगेरे (लक्ष्मेश्वर) थी, सम्भव है इसीका अपरनाम गंगधारा भी हो। यह एक प्राचीन जैनतीर्थ भी था। इस वंशके राजे राष्ट्रकूटोके महामण्डलेश्वर थे, और प्रायः वे सब ही जैनधर्मानुयायी थे। ९६६ ई० मे इस वंशके राजा अरिकेसरी तृतीयने अपने गुरु सोमदेवको अपने पिता-द्वारा बनवाये हुए राजधानी लेंबुपाटकके

शुभधाम जिनालयके लिए ग्राम-दान दिया था। इस दान-सम्बन्धी शिला-लेखसे उसके क्रमशः आठ पूर्वजोका पता चलता है, यथा युद्धमल्ल प्रथम, अरिकेसरी प्रथम, नारसिह प्रथम, युद्धमल्ल द्वितीय, वद्दिग प्रथम, नारसिह द्वितीय, अरिकेसरी द्वितीय और वद्दिग द्वितीय। उसके पिता वद्दिग द्वितीयके समयमें उन्ही सोमदेवाचार्यने सुप्रसिद्ध यशस्तिलकचम्पूकी रचना ९५९ ई० मे की थी। नीतिवाक्यामृत नामक राजनीति शास्त्रकी रचना वह उसके पूर्व ही कर चुके थे। वद्दिग द्वितीयका पिता अरिकेसरी द्वितीय कन्नडीके सर्वमहान् कवि आदिपंप (९४१ ई०) का आश्रयदाता था। इस क्रमसे वंशावलीके प्रथम नरेश युद्धमल्ल प्रथमका समय लगभग ८०० ई० के पहुँच जाता है। अरिकेसरी तृतीयके पश्चात् इस वंशका कुछ पता नही चलता। सम्भव है कल्याणोकी नवोदित पश्चिमी चालुक्य-शक्तिमे यह शाखा आत्मसात् हो गयी हो।

(११) **तुलवदेशमें वंगवाडिका वंगवंश**—यह वंश आदिसे अन्त तक जैनधर्मानुयायी रहा। प्रारम्भिक वंगनरेश गंगवाडिके गंगवंशकी ही एक शाखामे-से निकले प्रतीत होते है और वे पहले राष्ट्रकूटोके और तदनन्तर कल्याणीके चालुक्योंके सामन्त रहे प्रतीत होते हैं। इस वंशके चन्द्रशेखर वंग प्रथमको विष्णुवर्धन होयसलने ११४० ई० के लगभग पराजित करके युद्धमे मार डाला था और उसके राज्यको हस्तगत कर लिया था। उसके स्वामिभक्त पुरोहित, मन्त्री आदिने उसके बालक पुत्र वीर-नरसिहको मलेनाडमे छिपाकर रखा। होयसल नरसिहके समयमे वह राजकुमार भी वयस्क हो गया और उसने अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया। ११५७–१२०८ ई० तक उसने राज्य किया। तदनन्तर उसके ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रशेखर वंग द्वितीयने १२०८ से १२२५ ई० तक, द्वितीय पुत्र पाण्ड्यप्प वगने १२२५से१२३९ ई० तक और पुत्री विट्ठलादेवीने १२४०से १२८४ तक राज्य किया। वह बड़ी धर्मात्मा और सुयोग्य शासिका थी, अपने पुत्र एवं उत्तराधिकारी कामिराय वीरनरसिह वंगनरेन्द्र (१२४५–

१२७५ ई० लगभग) को इसने समुचित शिक्षा दी थी। कामिराय बड़ा विद्यारसिक था। आचार्य अजितसेन उसके गुरु थे। इसी राजाके लिए उन्होने शृंगारमंजरी और अलंकार-चिन्तामणि नामक संस्कृत ग्रन्थोकी रचना की थी। उसीके लिए विजयवर्णीने शृंगारार्णवचन्द्रिका रची थी। १६वी शतीके अन्तमे विवाह-सम्बन्धोके द्वारा यह वंश कार्कलके भैररस वंशसे संयुक्त हो गया। उसके उपरान्त भी सम्भवतया इसका कुछ अस्तित्व १८वी शती तक बना रहा।

(१२) बेजवाड़ाके परिच्छदि पाशुपति राजे और धान्यकटकके कोत राजे आन्ध्र देशके प्रमुख सामन्त वंश थे। ये लोग शैव थे और जैनधर्मसे भारी विद्वेष रखते थे। आन्ध देशमे जैनधर्मके पतनका अधिक श्रेय इन्ही सामन्त वंशोंको है।

वारंगलके ककातीय—११वी शताब्दीके मध्यके लगभग तेलंगानेमे ककातीय वंशका उदय हुआ। वारंगलको राजधानी बनाकर इन्होने शीघ्र ही अपनी शक्ति बढ़ायी और एक अच्छा स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। १३वी शताब्दीमे इस राज्यका अभ्युदय रहा। रुद्रका उत्तराधिकारी राजा गणपतिदेव (११९९–१२६० ई०) इस वंशका प्रसिद्ध और शक्तिशाली नरेश था। उसके समयमे तैलेगु महाभारतके रचयिता टिक्कन सोमय्य नामक हिन्दू विद्वान्ने शास्त्रार्थमे जैनियोको पराजित किया बताया जाता है। उसी समयसे इस राज्यमे जैनधर्मका पतन प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है। राजा कट्टर शैव बन गया और जैनियोपर उसने भारी अत्याचार किये। उसके उपरान्त वारंगलमे रानी रुद्रम्मा (१२६१–१२९१ ई०) का राज्य हुआ। यह इस वंशकी अन्तिम शक्तिशाली एवं महान् शासक थी, उसका उत्तराधिकारी रुद्रदेव (१२९१–१३२१ ई०) था। १३२१ ई० मे मुहम्मद तुगलुकने वारंगलके अन्तिम ककातीय-नरेशको पराजित करके तेलंगानेके इस हिन्दू राज्यका अन्त किया। वारंगलका प्राचीन नाम एकशैलनगर था। इस प्रान्तसे सम्बन्धित कैफियतोके आधारपर प्रो०

शेषागिरिरावने प्रमाणित किया था कि वारंगल एक समय जैनधर्मका एक प्रमुख केन्द्र रहा था। इस प्रान्तमे जिला विशाखापटनम् वेंगिके चालुक्योके समयमे जैनधर्मका गढ था और उसके अन्तर्गत रामतीर्थका जैन संस्थान दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। इसी जिलेके भोगपुर नगरमे पूर्वी गंग नरेश अनन्तवर्मन्के आश्रयमे राज्य-श्रेष्ठि कण्णम नायकने राज-राज जिनालय नामक वसदिका निर्माण कराया था और ११८७ ई० में उसके नेतृत्वमें उक्त जिलेके व्यापार-प्रमुखोने इस मन्दिरके लिए दान दिया था। ११९८ ई० मे अनन्तपुर जिलेके ताडपत्रिनगरके निवासी सोमदेव और कंचलादेवीके पुत्र उदयादित्यने जैनमन्दिर और गुरुओको दान दिया था। इसी कालमे उसी जिलेके पेनुगोडा नगरमे सुप्रसिद्ध पार्श्वनाथ वसदि विद्यमान थी जिसके तत्कालीन अध्यक्ष जिनभूषण भट्टारक थे। बेलागी जिलेमें तो कई जैनकेन्द्र थे जिनमे कोगलि प्रधान था। इसकी चेन्नपार्श्व-वसदिको पश्चिमी चालुक्यो और तदनन्तर होयसलोसे भी संरक्षण प्राप्त हुआ था। सोमि, कोट्टर आदि अन्य केन्द्र थे। अन्तिम राजा रुद्रदेवके समय जैन कवि अय्यपार्यने जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदयकी रचना की थी। ककातीयोके वंशज इसके उपरान्त भी चलते रहे और बीच-बीचमे शक्ति पकड़ने और स्वतन्त्र होनेका उपक्रम भी करते रहे। अन्ततः १४२५ ई० में वारंगलके तेलंग राजके अन्तके साथ मुसलमानों-द्वारा इस वंशका सर्वथा अन्त हुआ।

देवगिरिके यादव—इस वंशका मूलपुरुष सुबाहु था जिसका पुत्र दृढप्रहार था। इसका पुत्र सुएनचन्द्र था। यह सुएन प्रथम ही इस वंशका वास्तविक संस्थापक था। उसीके नामपर यह वंश सुएनवंश भी कहलाता है। सुएन सम्भवतया राष्ट्रकूट अमोघवर्षके अधीन एक छोटा-सा सामन्त था। उसे जो प्रदेश जागीरमें मिला था उसका नाम भी सुएनदेश पड़ा। उसका पौत्र भिल्लम प्रथम था जिसका प्रपौत्र भिल्लम द्वितीय हो सुएनदेशका वह भिल्लम यादव था जो कल्याणीके चालुक्य वंशके

संस्थापक तैलप द्वितीयका मित्र और सहायक था और जिसने तैल तथा उसके पुत्र सत्याश्रय चालुक्यकी ओरसे धारके परमारों (मुंज और भोज) के साथ युद्ध किये थे। मुंजकी मृत्यु इसी भिल्लमके हाथसे हुई बतायी जाती है। उसका पौत्र भिल्लम तृतीय चालुक्य-सम्राट् सोमेश्वर प्रथमका महासामन्त था और उसका विवाह भी सोमेश्वरकी बहनके साथ हुआ था। इसी समयसे इन सुएन यादवोंकी शक्ति बढ़नी प्रारम्भ हुई। भिल्लम तृतीयको चौथी पीढ़ीमे सुएन द्वितीय विक्रम षष्ठका उसके भाईके विरुद्ध सिंहासन प्राप्तिमे सहायक हुआ था। चालुक्योंकी अवनतिसे लाभ उठाकर यादव शक्तिशाली हो गये।

सुएन द्वितीयका प्रपौत्र भिल्लम पंचम (११८७–९१ ई०) देवगिरिके स्वतन्त्र यादव राज्यका वास्तविक संस्थापक था। उसने कल्याणीपर भी अधिकार कर लिया था किन्तु देवगिरिको ही अपनी राजधानी बनाया। ११९० ई० मे होयसल-नरेश वीरबल्लाल द्वितीयने सोरतूरके युद्धमे भिल्लमको पराजित किया और उसे कृष्णाके पार भगा दिया। भिल्लमके पुत्र जैतुगि (११९१–१२१० ई०) ने वारंगलके ककातीय राजा रुद्रको युद्धमे मारकर गणपति देवको ककातीयोके सिंहासनपर बैठाया। जैतुगिका पुत्र सिंहन (१२१०–४७ ई०) इस वंशका सर्वमहान् और अपने समयका सर्वाधिक शक्तिशाली नरेश था। उसने होयसल बल्लालको भी पराजित किया और १२२२ ई० तक बनवासी प्रान्तको अपने अधिकारमे रखा। उसने गुजरातपर भी आक्रमण किया, फलस्वरूप गुजरातके राजा लावण्यप्रसादने १२३१ ई० मे उसके साथ सन्धि कर ली। सिंहनने अर्जुन, लक्ष्मीधर, भम्भागिरिके सिंह तथा जज्जल, कक्कल, हम्मीर आदि राजाओं और सामन्तोंको भी पराजित करके अपने अधीन किया बताया जाता है। उसका पुत्र जैतुगि उसके जीवनमे ही मर गया था अतः उसके बाद उसका पौत्र कृष्ण (१२४७–६० ई०) राजा हुआ। उसने भी मालवा, गुजरात, कोंकण और चोल देशोंकी विजय की थी। कृष्णका छोटा भाई महादेवराय

उसके समयमें ही राज्यकार्य संचालन करने लगा था अतः कृष्णकी मृत्युके उपरान्त उसके पुत्र रामचन्द्रको गद्दी न देकर वह स्वयं राजा बन गया और उसने १२६०–७० ई० मे राज्य किया। १२६८ ई० के लगभग होयसल नरसिंहने उसे युद्धमे पराजित किया। महादेव अपने पुत्र आमण-को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था किन्तु उसके भतीजे रामचन्द्र-ने आमणको अन्धा कर दिया और महादेवकी मृत्युके पश्चात् वही स्वयं राजा हुआ।

रामचन्द्रराय (१२७०-१३०९ ई०) के समयसे इस वंशका पतन प्रारम्भ हुआ। १२७६ ई० मे होयसल नरसिंहने यादवोको फिर पराजित किया किन्तु अगले ही वर्ष रामचन्द्रने होयसलोको पराजित करके उनकी राजधानी द्वारसमुद्रपर आक्रमण कर दिया। फलस्वरूप दोनोमे सन्धि हो गयी। १२९६ ई० मे अलाउद्दीन खलजीने एकाएक देवगिरिपर आक्रमण कर दिया। रामचन्द्र पराजित हुआ, उसने खलजियोकी अधीनता स्वीकार की और कर देनेका वचन दिया। किन्तु कुछ काल तक देनेके वाद बन्द कर दिया अतएव १३०७ ई० में मलिक काफूरने रामचन्द्रको पकडकर वन्दी कर लिया और ६ मास तक वन्दी-गृहमे रखा। रामचन्द्रके पुत्र शंकर (१३०९–१२ ई०) ने भी दिल्लीके सुलतानको कर देनेसे इनकार कर दिया अतएव मलिक काफ़ूरने उसे युद्धमे मार डाला। शंकरके पश्चात् उसका बहनोई हरपाल (१३१२-१८ ई०) देवगिरिका राजा हुआ। उसने मुसलमानोको अपने राज्यसे निकाल बाहर किया, इसपर मुबारकशाह खलजीने देवगिरिपर भयकर आक्रमण किया और हरपालकी खाल खिचवा ली। इस प्रकार देवगिरिके यादव-राज्यका अन्त हुआ।

पश्चिमी चालुक्योके पतनसे लाभ उठाकर दक्षिणापथके उत्तरी भागमे १३वी शती ई० मे यादवोने विस्तृत एवं शक्तिशाली साम्राज्यकी स्थापना कर ली थी। होयसलोके वे प्रवल प्रतिद्वन्द्वी थे। यद्यपि सुएन देशके प्रारम्भिक यादव सामन्त उस कालकी प्रवृत्तिके अनुसार जैनधर्मके अनुयायी

अथवा उसके पोषक रहे प्रतीत होते हैं किन्तु उनके वंशज देवगिरिके यादव नरेश प्रायः सब ही हिन्दूधर्मके अनुयायी थे। किन्तु साथ ही वे जैनधर्मके प्रति भी सहिष्णु थे और साहित्य एवं कलाके भी रसिक थे। सिंहन यादवके आश्रयमें ही ज्योतिषाचार्य भास्करभट्टने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्धान्त-शिरोमणिकी रचना की थी। इस आचार्यकी ज्योतिषविद्याके शिक्षणके लिए उस नरेशने एक विद्यालय भी स्थापित किया था। यह राजा संगीत विद्याका भी मर्मज्ञ था और उसने सारंगधर नामक संगीताचार्यसे संगीत-रत्नाकर नामक ग्रन्थकी रचना करायी थी। कर्णाटकीय संगीतके सैद्धान्तिक पक्षपर यह सर्वप्रथम ग्रन्थ माना जाता है। इसी समयके लगभग जैनाचार्य पार्श्वदेवने भी सम्भवतया इसी नरेशके आश्रयमें अपना संगीत-समयसार नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचा था। पार्श्वदेव श्रीकान्तजातीय आदिदेव और गौरीके पुत्र तथा महादेवार्यके शिष्य थे और श्रुतिज्ञानचक्रवर्ती एवं संगीताकर उनकी उपाधियाँ थी। आधुनिक विद्वान् उन्हे संगीतशास्त्रका प्रकाण्ड विद्वान् और उनके ग्रन्थको संगीत विषयकी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति मानते हैं। यादव-नरेश महादेवराय एवं रामचन्द्ररायका एक प्रमुख सामन्त कूचिराज था, इसे पाण्ड्यदेशके मध्यमें बेतूर प्रदेशका शासक नियुक्त किया गया था। कूचिराजके गुरु मूलसंघ-सेनगण-पोगलिगच्छके पद्मसेन भट्टारक थे। उनके उपदेशसे कूचिराजने बेतूरमें लक्ष्मी-जिनालयका निर्माण कराया था और उसके संरक्षणके लिए कुछ भूमि, एक दूकान और कई उद्यानोंकी आय दान की थी। अपने उत्कर्षकालमें उत्तरमें गुजरातसे लेकर दक्षिणमें तुंग-भद्रा तक यादव-राज्यका विस्तार था।

द्वारसमुद्रका होयसल वंश—पूर्वमध्यकालमें दक्षिण भारतका यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं शक्तिशाली राज्यवंश था। पूर्व-दक्षिणमें मैसूरसे लेकर उत्तरमें तुंगभद्रा नदी पर्यन्त सम्पूर्ण प्रदेशपर होयसल-नरेशों-का अधिकार था। द्वारावती (द्वारसमुद्र या दोरसमुद्र) इनकी राजधानी थी और ये द्वारावतीपुरवराधीश्वर कहलाते थे। ये लोग अपने-आपको

सोमकुलके यदुवंशी क्षत्रिय बताते थे। होयसलोंका मूल निवासस्थान पश्चिमीघाटपर मुदगेरे तालुकेमे स्थित अंगदि अपर नाम शशकपुर नगर था। यह स्थान पहलेसे ही जैनधर्मका एक प्रमुख केन्द्र रहता आया था। होयसलोके पूर्वज अन्तिम राष्ट्रकूटो एवं उत्तरवर्ती चालुक्योके साधारण श्रेणीके सामन्त मात्र थे और सम्भवतया अंगदिके ही शासक थे।

११वी शती ई० के प्रारम्भमे इस वंशका मुखिया सल नामक एक वीर नवयुवक था। वह महत्त्वाकांक्षी और उत्साही था किन्तु निस्सहाय एवं साधन-विहीन था। ९२५ ई० के लगभग अंगदिमे ही कुन्दकुन्दान्वय-द्रविडसंघ-पुस्तकगच्छके मौनी भट्टारकके शिष्य विमलचन्द्र पण्डितदेवने संन्यासमरण किया था और इस उपलक्ष्यमे गंगनरेश इरिववेडेगने वहाँ आकर गुरुका स्मारक स्थापित किया था। सम्भवतया इन्ही विमलचन्द्रकी निकट शिष्यपरम्परामे मुनीन्द्र सुदत्त वर्धमान अंगदि जैन केन्द्रके अध्यक्ष हुए थे। नगरके बाहर ९वी-१०वी शताब्दीकी कई सुन्दर जिन-वसदियाँ थी जिनमें मकरजिनालय और उसीके निकट जैन देवी वासन्तिका (पद्मावती) का विशाल मन्दिर था। इसी स्थानपर जैनाचार्य सुगत वर्धमानका विद्यापीठ विद्यमान था जिसमे अनेक गृहस्थ, त्यागी और मुनि शिक्षा प्राप्त करते थे।

एक दिन नवयुवक सल वासन्तिदेवीके मन्दिरके निकट वनमे गुरु सुगतसे अकेले ही किसी विषयका अध्ययन कर रहा था। इतनेमे एक भयानक सिंह वनमें-से निकलकर गुरुके ऊपर झपटा। गुरुने अपना दण्ड (या मयूरपिच्छि) सलकी ओर फेंककर कहा, 'पोयसल !' (हे सल, इसे मार)। वीर सलने तुरन्त उस दण्डके प्रहारोसे ही सिंहको मार गिराया। कहा जाता है कि गुरुने सलके पराक्रम और वीरताकी परीक्षा करनेके लिए ही मन्त्रबलसे उस सिंहकी सृष्टि की थी। जो भी हो उसके इस कार्यसे गुरु बहुत प्रसन्न हुए, उन्होने उसे आशीर्वाद दिया, तथा अपने लिए स्वतन्त्र राज्य स्थापित करनेका आदेश दिया और सिंह ही सलका

विजय-चिह्न निश्चित किया। इस घटनासे सल, पोयसल कहलाने लगा जो कालान्तरमे होयसल शब्दमे परिवर्तित हो गया और सल-द्वारा स्थापित राज्यवंशका नाम हुआ। उपरोक्त घटना लगभग १००६ ई० की है।

पोयसल (१००७-१०२२ ई०) ने गुरु सुगतके उपदेश और पथ-प्रदर्शनमे अपनी राज्यशक्तिकी नीव डालनी प्रारम्भ की। पोयसल कर्णाटककी एक पार्वतीय जातिसे सम्बन्धित था और उसकी जननी सम्भवतया एक गंग राजकुमारी थी। इस कालमे चोलो-द्वारा गंगवाडि राज्यका अन्त कर दिये जानेसे कर्णाटक देशकी स्थिति संकटापन्न थी अतः पोयसल अपनी वीरता एवं योग्यतासे चालुक्योका एक महत्त्वपूर्ण सामन्त हो गया और चोलों तथा उनके कोंगाल्ववंशी सामन्तोसे युद्धों-द्वारा शनैः-शनै. प्रदेश छीनकर वह अपनी शक्ति बढ़ाने लगा। उसके पुत्र विनयादित्य प्रथम (१०२२-१०४७ ई०) और पौत्र नृपकाम होयसल (१०४७-१०६० ई०) ने पोयसल-द्वारा प्रारम्भ किये कार्यको चालू रखा और वे अपनी शक्ति बढाते रहे। गुरु सुगत वर्धमान ही उनके भी धर्मगुरु एवं राजगुरु थे और शासन-प्रबन्ध एवं राज्य-संचालनमे उनका सक्रिय मार्ग-दर्शन करते थे।

नृपकामके उत्तराधिकारी विनयादित्य द्वितीय (१०६०-११०१ ई०) के गुरु शान्तिदेव थे। श्रवणबेलगोलकी पार्श्वनाथ बसदि ११२९ ई० के शिलालेखसे प्रकट है कि 'गुरु शान्तिदेवकी पादपूजाके प्रसादसे पोयसल-नरेश विनयादित्यने अपने राज्यको श्रीसम्पन्न किया था।' १०६२ ई० मे अंगदिमे ही शान्तिदेवने समाधिमरण किया और उस उपलक्ष्यमे राजा तथा उसके समस्त नागरिक जनोने वहाँ उनका स्मारक स्थापित किया था। 'इस राज-गुरुके उपदेशसे महाराज विनयादित्यने प्रसन्नतापूर्वक अनेक जिनमन्दिर, देवालय, सरोवर, ग्राम और नगर निर्माण किये।' 'इस निर्माण-कार्यमे वह बलीन्द्रसे भी आगे बढ गया।' उत्तरायण सक्रमणके अवसरपर १०६२ ई० मे ही इस नरेशने मेघचन्द्रके शिष्य बेलवेके जैनगुरु

अभयचन्द्रका भी भूमिदान देकर सम्मान किया। इस राजाने अपने राज्यके प्रधान धानक्षेत्र मत्तावर-नगरकी सिचाईके लिए एक नहर खुदवायी थी, १०६९ ई० मे नहर पूरी होनेपर वह स्वयं उसका निरीक्षण करनेके लिए गया और ग्रामके निकट पहाडीपर स्थित जिनमन्दिरके दर्शन किये। उस अवसरपर उसने नगरके मानिक सेट्टी आदि मुखियाओसे पूछा कि उन्होने नगरके अन्दर जिनमन्दिर क्यो नही बनवाया। नगर-प्रमुखोने महाराजसे प्रार्थना की कि वही स्वयं बनवा दे। अत. राजाने वहाँ एक सुन्दर मन्दिर बनवाया, मानिक सेट्टी आदि मुखियाओसे उसके लिए दान दिलवाया और स्वय भी भूमि, द्रव्य, राजकर आदिका दान दिया ओर नगरका नाम ऋषिहल्लि रखा। शान्तिदेवके शिष्य शब्दचतुर्मुख स्वामी अजितसेन भट्टारकका भी उसने सम्मान किया प्रतीत होता है। अपने जीवनके पिछले भागमे उसने सम्भवतया राज्यकार्य अपने पुत्र एरेयंगको सौपकर धर्मसाधन किया था। उस कालमे वास्तविक राजा एरेयंग ही रहा। अब होयसल राजे मेलप्रशिरोमणि (पार्वतीय राजाओमे शिरोमणि) और महामण्डलेश्वर कहलाते थे। १०९४ ई० मे इस नरेशने सुप्रसिद्ध दार्शनिक, तार्किक एवं वादी जैन विद्वान् गोपनन्दि-का सम्मान किया और बेलगोल तीर्थकी बसदियोकी मरम्मतके लिए कई गाँव दान दिये। गोपनन्दिके उपरान्त जगद्गुरु उपाधिप्राप्त प्रसिद्ध विद्वान् अजितसेन इस राजाके गुरु हुए।

महाराज विनयादित्य द्वितीय और उसके पुत्र युवराज एयरगकी मृत्यु थोड़े ही समयके अन्तरसे हुई अत तदनन्तर एरेयगका ज्येष्ठ पुत्र बल्लाल प्रथम (११०१–११०६ ई०) राजा हुआ। इसके राजगुरु चारुकीर्ति पण्डितदेव थे। ये महान्वादी श्रुतकीर्त्तिदेवके शिष्य थे और स्वयं विविधविद्यापारंगत थे, आयुर्वेद, व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त, योग एव मन्त्रशास्त्र सभीमे निष्णात थे। जिस समय राजा बल्लाल दुर्द्धर शत्रुओका घेरा डाले पड़ा था, और उसकी अश्वारोही सेना शत्रु-सैन्यको आतंकित

कर रही थी, वह स्वयं एक असाध्य रोगसे पीडित हो गया। उस अवसर-पर गुरु चारुकीर्तिने उसे अपने अद्भुत औषधि प्रयोगसे शीघ्र ही नीरोग एवं स्वस्थ कर दिया था। ११०३ ई० मे बल्लाल प्रथमने मरयन्ने दण्ड-नायककी तीन सुन्दरी कन्याओंका विवाह सुयोग्य वरोके साथ स्वयं कराया था। ११०४ ई० मे उसने चंगाल्व राजाओको पराजित करके अपने अधीन किया। जगदेव सान्तरने स्वय बल्लालकी राजधानीपर आक्रमण किया तो उसने उसे बुरी तरह पराजित करके भगा दिया और साथ ही उसके कोष और प्रसिद्ध रत्नहारको भी हस्तगत कर लिया। इस राजाने बेलूरको अपनी राजधानी बनाया था।

उसका उत्तराधिकारी उसका अनुज सुप्रसिद्ध बिट्टिदेव (विष्णुवर्धन) होयसल (११०६–११४१ ई०) था। यह इस वशका सर्व-प्रसिद्ध नरेश, भारी योद्धा, महान् विजेता और अत्यन्त शक्तिशाली राजा था। द्वार-समुद्रको उसने अपनी राजधानी बनाया। उसने चालुक्योकी अधीनतासे अपने-आपको प्राय मुक्त कर लिया और चोलोको देशसे निकाल भगाया। स्वतन्त्र होयसल-राज्यका वह वास्तविक संस्थापक था और होयसल-साम्राज्यको नीव डालनेवाला था। उत्तरकालीन वैष्णव ग्रन्थो एवं अनु-श्रुतियोके आधारपर आधुनिक इतिहास-पुस्तकोमे प्रायः यह लिखा पाया जाता है कि इस राजाके समयमे वैष्णवाचार्य रामानुजने जैनियोको शास्त्रार्थमे पराजित किया फलस्वरूप राजाने जैनधर्मका परित्याग कर दिया, वैष्णवधर्म अंगीकार कर लिया, अपना नाम बदलकर विष्णुवर्धन रखा, जैनियोपर अत्याचार किये, यहाँतक कि जैनगुरुओको घानीमे पिलवा दिया, श्रवणबेलगोलके बाहुबलिकी मूर्ति और अन्य जैन-मन्दिर तुडवाये, वैष्णव मन्दिर बनवाये और वैष्णवधर्मके प्रचारको अपना प्रधान लक्ष्य बनाया। किन्तु वास्तवमे ये कथन मिथ्या और भ्रमपूर्ण है। रामानु-जाचार्य तिरुचिरापल्लीके निकट श्रीरंगम्के निवासी थे, कांचीमे उन्होने शिक्षा पायी थी, शंकराचार्यके अद्वैत वेदान्तके विरोधमे वे विशिष्टाद्वैत

दर्शन और श्रीवैष्णव मतके पुरस्कर्त्ता थे। श्रीरंगम् उस कालमे अधिराजेन्द्र चोलके शासनमे था। यह राजा कट्टर शैव था और जैन तथा वैष्णव धर्मोका समान रूपसे विरोधी था। मैसूर प्रदेशके अनेक जैनमन्दिर उसने नष्ट करवा दिये थे, और स्वयं रामानुजने उसके अत्याचारसे पीडित होकर एवं प्राण बचाकर कर्णाटकमे शरण ली थी। उसका उत्तराधिकारी कोलुत्तुग भी रामानुजसे असन्तुष्ट था। अतः इधर-उधर घूमते-घामते १११६ ई० के लगभग उन्होने होयसल-नरेश विट्टिवर्धन, विट्टिग या विष्णुवर्धनकी राजधानी द्वारसमुद्रमे आकर इस राजाका आश्रय लिया प्रतीत होता है।

यह नरेश अत्यन्त सहिष्णु और समदर्शी था। उसने रामानुजको अभय और प्रश्रय दिया। सम्भव है उसकी राजसभामे जैन विद्वानोके साथ रामानुजाचार्यके शास्त्रार्थ भी हुए हो और फलस्वरूप राजा इन वैष्णवाचार्यकी विद्वत्तासे भी प्रभावित हुआ हो तथा उसने इन्हे अपने मत-का प्रचार अपने राज्यमे करनेकी छूट दे दी हो। उसके कालमे एक दो विष्णु-मन्दिर भी द्वारसमुद्रमे बने और सम्भव है कि राजाने भी उनके निर्माणमे द्रव्य आदिसे सहायता दी हो। रामानुजके परम शत्रु अधिराजेन्द्र चोलकी मृत्यु १०७४ ई० मे हो गयी थी और इस कालमें उसका उत्तरा-धिकारी राजेन्द्र कुलोत्तुङ्ग प्रथम (१०७४–११२३ ई०) राज्य कर रहा था। रामानुज विष्णुवर्धनके आश्रयमे १११६ ई० मे आये। इससे प्रतीत होता है कि राजेन्द्र कुलोत्तुङ्ग भी अपने पूर्वजकी भाँति ही रामानुज और उनके मतका शत्रु था और होयसल-नरेशके सम्पर्कमे आनेके समय रामानुज पर्याप्त वृद्ध होगे।

किन्तु रामानुजकी विद्वत्तासे प्रभावित होने और उनका आदर करनेपर भी विष्णुवर्धनने न तो जैनधर्मका परित्याग ही किया, न उसके ऊपरसे राज्यका सरक्षण और प्रश्रय उठाया और न वैष्णव धर्मको पूर्णतया अपनाया ही। उसके नाम विष्णुवर्धनका भी कोई सम्बन्ध उसके धर्म-

परिवर्तनसे नही है, यह नाम उसका पहलेसे ही था, अन्यथा स्वयं जैन शिलालेखोंमे इस नामसे उसका उल्लेख न होता। वस्तुत. कर्णाटकके राजा लोग बहुधा अपने मूल कन्नडिग नाम (यथा बिट्टिग या बिट्टिदेव)के साथ-साथ विनयादित्य, विष्णुवर्धन आदि जैसे संस्कृत उपनाम भी रख लेते थे। प्राचीन चालुक्यो, राष्ट्रकूटो आदिमे बराबर ऐसा होता था, स्वयं होयसळ वंशमे दोनो प्रकारके नाम पाये जाते है। इसके अतिरिक्त ११२१ ई० मे महाराज विष्णुवर्धनने अपने प्रधान सेनापति गंगराजके अनुज सोवणके हितार्थ हादिरवागिलु जैन बसदिको दान दिया। ११२५ ई० मे इस नरेशने जैनगुरु श्रीपाल त्रैविद्यव्रतीका सम्मान किया। चामराजपट्टन तालुकेके शल्य नामक स्थानसे प्राप्त उसी वर्षके शिलालेखके अनुसार अदियम, पल्लव नरसिंहवर्म, कोग, कल्पाल, अगर आदि राजाओके विजेता इस होयसल-नरेशने भक्तिपूर्वक शल्यनगरमे एक जैन विहार बनवाया और उस बसदि-के लिए तथा उसमे जैन ऋषियोके संरक्षणके लिए वादोभसिंह, वादि-कोलाहल, तार्किकचक्रवर्ती आदि विरुदप्राप्त स्वगणनायक विद्वान् जैनगुरु श्रीपालदेवको वही ग्राम तथा अन्य समुचित दानादि प्रदान किये। ११२९ ई० मे इस राजाने बेलूरके मल्लि जिनालयके लिए दान दिया। ११३० ई० मे इसके सेनापति गंगराजके पुत्र बोप्पने रूवारि द्रोहघरट्टाचारि कन्ने-द्वारा राज्याश्रयमे शान्तीश्वर बसदिका निर्माण कराया। इस कालमे दण्डनायक मरियाने और भरत नामक भव्योंने पाँच बसदियाँ बनवायी, जिनमे-से चार देशीगणके लिए और एक काणूरगणके लिए थी, तथा काणूरगण तित्रिणी-गच्छके गुरु मुनिभद्रके शिष्य मेघचन्द्र सिद्धान्तीको दान दिया। राजधानी द्वारसमुद्र (हलेबिड) के निकट बस्तिहल्लिकी प्रसिद्ध पार्श्वनाथ बसदिका सन् ११३३ ई० का शिलालेख भी इस राजाको परम धार्मिक भव्य सूचित करता है। इस लेखमे यह भी उल्लेख है कि स्वयं राजधानी द्वारसमुद्रमे महाराजके एक महान् जैन दण्डाधिपने विजयपार्श्वदेव नामका सुप्रसिद्ध जिनालय बनवाया था और महाराज विष्णुवर्धनने उक्त जिनालयके मूल

नायक विजयपार्श्वदेवके नामपर अपने नवजात राजकुमारका नाम विजय-नरसिंहदेव रखा था। तथा उस अवसरपर द्वारसमुद्रके ही एक अन्य जिनालयके लिए जावगल नामका ग्राम प्रदान किया था। इस नरेशने दक्षिणचक्रवर्ती और सम्यक्त्वचूडामणि विरुद धारण किये थे जो उसकी वंश-परम्परामे तबसे बराबर चलते रहे। सम्यक्त्वचूडामणि विरुद ही जैन-धर्मके प्रति होयसल-नरेशोकी असीम निष्ठाका परिचायक है।

महाराज विष्णुवर्धनकी पट्टमहिषी शान्तलदेवी अत्यन्त सुन्दरी, विदुषी, सती साध्वी और धर्मात्मा नारी-रत्न थी। उसके निपुण संगीत नृत्य वाद्य एवं सौन्दर्यकी ख्याति दूर-दूर थी। इसका पिता पेरग्गडेमारसिगय्य कट्टर शैव था और माता मचिकव्वे उसी प्रकार परम जैन थी। रानीके गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्त देशीगण—पुस्तकगच्छके मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवके शिष्य थे। महारानी शान्तलदेवीने जैनधर्मकी प्रभावनाके लिए स्थायी कार्य किये। उसने चतुःसमय (मुनिधर्म, आर्यिकाधर्म, श्रावकधर्म एवं श्राविका-धर्म) का उत्कर्ष किया, चार प्रकारके दान देने और शलाकापुरुषोंके पुराणचरित्र सुननेमे उसे बड़ा आनन्द आता था। ११२३ ई० मे उसने श्रवणबेल्गोल तीर्थपर शान्ति जिनेन्द्रकी मूर्ति प्रतिष्ठित की, वही सवति-गन्धवारण नामकी एक अन्य सुन्दर बसदि निर्माण करायी, महाराजकी अनुमतिपूर्वक उसके लिए स्वगुरुको एक ग्राम भेट दिया, तदनन्तर कुछ अन्य भूमि प्रदान की। अपने अनुज दुद्दमहादेवके साथ-साथ एक अन्य ग्राम वीर-कोगाल्व-जिनालयके लिए प्रदान किया। अपने धार्मिक कार्योंके कारण यह राजमहिषी सम्यक्त्वचूडामणि और जिनमतस्तम्भ कहलायी। ११३१ ई० मे उसने शिवगंगा-तीर्थपर स्वगुरुकी उपस्थितिमे समाधिमरण किया। इसपर उसकी जननी माचिकव्वेने भी श्रवणबेलगोल जाकर एक मासकी सल्लेखनापूर्वक सन्यासमरण किया। उस समय वहाँ मुनि प्रभाचन्द्र, वर्धमानदेव और रविचन्द्र उपस्थित थे और उन्होने उस साध्वीके तप-साहसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। विष्णुवर्धनकी ज्येष्ठ पुत्री राजकुमारी

हरियब्बरसि भी, जो सिह सामन्तसे विवाही थी, बडी धर्मात्मा थी। उसके गुरु गण्डविमुक्त-सिद्धान्तदेव थे। ११२९ ई० मे हन्तियूरमे इस राजकुमारीने गोपुर आदिसे मण्डित एक उत्तुग सुन्दर जिनालय बनवाया था और उसके लिए अपने पिता महाराजसे नि.शुल्क भूमि प्राप्त करके स्वगुरुको दान दी थी। महाराज विष्णुवर्धनके मन्त्रियो, सेनानायको, सामन्त सरदारों एवं राज्य-कर्मचारियोंमे-से भी अधिकाश जैनधर्मानुयायी थे। वस्तुतः विष्णुवर्धन होयसलकी महत्ता, शक्ति, समृद्धि और विजयोका अधिक श्रेय उसके प्रचण्डवीर जैन सेनापतियोको है। उन्होने ही होयसलो-के दक्षिण, दक्षिणपूर्व, पूर्व और पश्चिमवर्ती समस्त दुर्द्धर शत्रुओका सहार किया था और द्वारसमुद्रके नरेशोको एक शक्तिशाली साम्राज्यका अधिपति बना दिया था।

इन जैन-वीरोंमे सर्वप्रमुख महाराज विष्णुवर्धनका प्रधान सेनापति गंगराज था। यह कौण्डिन्यगोत्री द्विज था। इसका वंश पहलेसे ही जैनधर्मका परम अनुयायी रहता आया था। गंगराजका पिता एचिगंक या बुद्धिमित्र होयसल नृपकामका मन्त्री और सेनानायक था और मल्लूरके कनकनन्दि गुरुका शिष्य था। उसकी माता पोचिकब्बे भी बडी धर्मात्मा थी, ११२० ई० मे श्रवणबेलगोलमे इस साध्वीने सन्यासमरण किया था। अपनी वीरता, पराक्रम, राज्य-सेवाओ एव धर्मभक्तिके कारण गगराजने महासामन्ताधिपति, महाप्रधान, महाप्रचण्ड, द्रोहघरट्ट, दण्डनायक, होय-सलनरेशको राज्याभिषिक्त करनेके लिए पूर्णकुम्भ, चार दानमे तत्पर, धर्मस्तम्भ आदि अनेक विरुद प्राप्त किये थे। शिलालेखोसे प्रतीत होता है कि अपने बडे भाई बल्लाल प्रथमकी मृत्युके उपरान्त एक अन्य भाई उदयादित्यके विरोध और पाण्ड्य एवं सान्तरोकी शत्रुताके कारण विष्णुवर्धन-की स्थिति बडी डाँवाडोल थी और यह गंगराजका ही पराक्रम था कि उसने उन सब शत्रुओका दमन करके विष्णुवर्धनके लिए सिहासन निष्कण्टक किया और उसका राज्याभिषेक कर दिया। वह महाराज विष्णुवर्धनका

दाहिना हाथ हो गया था। महाराजके सम्मुख सर्वप्रथम महान् समस्या तलकाडसे चोलोंको निकाल बाहर करनेकी थी और यह कार्य उसने गंगराजको सौंपा जो १११७ ई० मे इसमे पूर्ण सफल हुआ। उसने कर्णाटकमे स्थित राजेन्द्र चोलके तीनो सामन्तो-अदियम, दामोदर और नरसिंहवर्मका पूर्णतया दमन कर दिया और गंगवाडिकी राजधानी तलकाडपर अधिकार कर लिया। महाराज विष्णुवर्धनने प्रसन्न होकर उससे पुरस्कार माँगनेके लिए कहा तो उसने गंगवाडि देशको माँगा क्योंकि उस प्रान्तमे अनेक प्राचीन जैनतीर्थ और बसदियाँ थी जिनमें-से अनेकोंको राजेन्द्र और अधिराजेन्द्र चोलने नष्ट करवा दिया था। गंगराजको उनका जीर्णोद्धार और संरक्षण कराना था जो उसने बड़ी उदारतापूर्वक किया। गंगराजने कांगुदेश और चेगरिकी विजय की और कई अन्य दुर्द्धर सामन्तोका दमन किया। होयसलोने चालुक्य विक्रम षष्ठके पाण्ड्य सामन्त त्रिभुवनमल्ल पाण्ड्यको पराजित करके उच्छंगीका प्रसिद्ध दुर्ग छीन लिया था। इसका बदला लेनेके लिए चालुक्य-सम्राट्ने स्वयं बारह दुर्द्धर सामन्तो-सहित होयसल-राज्यपर आक्रमण कर दिया। विष्णुवर्धनने तुरन्त गंगराजको दक्षिणसे बुलाकर चालुक्योके विरुद्ध उत्तरमे भेजा और इस वीर सेनानीने चालुक्य-सम्राट् और उसके सामन्तोको १११८ ई० मे बुरी तरह पराजित किया। गंगराजकी इन चामत्कारिक विजयोका महत्त्व असीम था, इन्होंने होयसलोको स्वतन्त्र ही नही, अत्यन्त शक्तिशाली भी बना दिया, इसी कारण शिलालेखोमे उसे 'विष्णुवर्धन पोयसल महाराजका राज्योत्कर्षकर्त्ता' कहा गया है। देशीगण पुस्तकगच्छके कुक्कुटासन मलधारीदेवके शिष्य दर्शनमहोदधि शुभचन्द्रदेव गंगराजके गुरु थे। १११८ ई० मे इन गुरुको गंगराजने एक ग्राम भेट दिया और राजधानी द्वारसमुद्रकी पार्श्वनाथ-बसदिमे उसने अनेक जिन-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी। गंगवाडि ९६००० प्रान्त जो उसे पुरस्कारमे प्राप्त हुआ था उसकी समस्त आय उसने श्रवणबेलगोल आदि तीर्थोंकी उन्नति, प्राचीन

बसदियोके जीर्णोद्धार एवं संरक्षण, नवीनोके निर्माण और विविध रूपोमे जिनधर्मकी प्रभावनाके हित व्यय की। शिलालेखोमे उसकी तुलना गोमट्टप्रतिष्ठापक गंग-सेनापति चामुण्डरायसे की गयी है। किन्तु ऐसा धर्मात्मा एवं जिनभक्त होते हुए भी गंगराजके सम्मुख राजनीति पहले और धर्म पीछे था, उसका धर्म उसकी राजनीतिमे सहायक एव साधक था, बाधक नही। वह अनन्य स्वामिभक्त था। गंगराजका पुत्र और पत्नी भी परम जिनभक्त थे। उसके पुत्र बोप्प और भतीजे एचिराज उसके जीवनमे ही प्रसिद्ध दण्डनायक थे। ११३३ ई० मे गगराजकी मृत्यु हो जानेपर एचिराजने राजधानी द्वारसमुद्रमे ही अपने पिताकी स्मृतिमे द्रोहघरट्ट-जिनालयका निर्माण कराया जो अत्यन्त विशाल, सुन्दर और कलापूर्ण था। यही जिनालय विजय-पार्श्वदेवके नामसे प्रसिद्ध हुआ। इस मन्दिरकी प्रतिष्ठा होनेपर जब पुजारी जिनेन्द्रके अभिषेकका पवित्र गन्धोदक लेकर राजाके सम्मुख पहुँचा तो विष्णुवर्धन उस समय बकापुरमे छावनी डाले पड़ा था और वह मसण कदम्ब नामक एक दुर्द्धर शत्रु सामन्तका संहार करके निवृत्त हुआ था और तभी उसकी रानी लक्ष्मी महादेवीने पुत्र प्रसव किया था। राजाने अत्यन्त आनन्दित होकर पुजारी-का स्वागत किया, खडे होकर करबद्ध उसे नमस्कार किया और गन्धोदक-को भक्तिपूर्वक मस्तकपर चढाया तथा कहा कि 'भगवान् विजय-पार्श्वदेवकी प्रतिष्ठाके पुण्य फलसे ही मैने आज यह विजय और पुत्र प्राप्त किये है।' तदनुसार ही उसने नवजात शिशुका नामकरण किया और मन्दिर-को ग्राम भेट किया। सेनापति बोप्प अपने पिता गंगराजकी भाँति उदार और वीर था। उसने शान्तीश्वर बसदि और त्रैलोक्यरंजन अपर नाम बोप्पन चैत्यालयका निर्माण कराया। वह भारी विद्वान् भी था। उसके गुरु नयकीर्त्ति सिद्धान्तचक्रवर्ती थे। बोप्पकी माता और गंगराजकी पत्नी लक्कले या लक्ष्मीमती दण्डनायकित्ति गुरु शुभचन्द्रकी शिष्या थी, वह अपने पतिके युद्ध एवं राज्य-कार्योमे भी उसकी सक्रिय सहायक रही थी,

साथ ही बड़ी दानशीला और धर्मात्मा थी। १११८ ई० मे श्रवणवेलगोल-मे उसने एक जिनालय बनवाया था और ११२१ ई० मे वहीं उसने समाधिमरण किया था। उसकी जिठानी जकणब्बे भी, जो गगराजके भाई दण्डनायक बम्मकी पत्नी थी, बडी धर्मात्मा थी। ११२० ई०में उसने एक विशाल जिनमूर्त्ति और एक सरोवरका निर्माण कराया था।

विष्णुवर्धनका दूसरा प्रमुख जैनमन्त्री दण्डनाथ पुणिसमय्य था। वह राजाका सन्धिविग्रहिक था। उसके पूर्वज भी राजमन्त्री रहे थे, स्वयं उसके पितामह सकलशासनवाचक-चक्रवर्ती पुणिमराज दण्डाधीश थे और पिता चामराजचमूप थे। दण्डनाथ पुणिसकी विजय भी महत्त्वपूर्ण थी, नीलगिरिके युद्धोंमे चोल-नरेशके कई सामन्तोको पराजित करके उसने अपने स्वामीको दक्षिणकी कुंजी ही प्रदान कर दी थी और सुदूर दक्षिण-की विजयोके लिए उसका मार्ग प्रशस्त कर दिया था, तथा मलय और केरलपर उसका अधिकार करा दिया था। पुणिस बडा धर्मानुरागी और उदारचेता था। कई जिनमन्दिर उसने निर्माण कराये और अनेक निस्सहाय व्यक्तियोकी सहायता की। उसकी परोपकारवृत्तिका लाभ जैन-अजैन सबको समान रूपसे होता था। उसकी पत्नी दण्डनायकित्ति जकणब्बे भी बडी धर्मात्मा थी। सीता और रुक्मिणीसे उसकी तुलना की जाती थी। १११७ ई० मे उसने पाषाण-निर्मित एक जिन-मन्दिर बनवाया था। उसीके उत्तरमे उसके पति पुणिसने मूलस्थान-बसदि बनवायी। यह बसदि विष्णुवर्धन-पोयसल-जिनालयसे सन्नद्ध थी। महाप्रधान दण्डनायक पुणिसमय्यके गुरु अजितसेन पण्डितदेव थे।

दण्डनायक बलदेवण्ण महाराज विष्णुका तीसरा सेनापति था। वह राजा आदित्य या अरसादित्य और उसकी पत्नी आचाम्बिकेका तृतीय पुत्र था और राजाके प्रधान मन्त्रियोमे-से था तथा बड़ा वीर सेनानी था, वह जिनेन्द्रका भी परम भक्त था। इसके अन्य दो भाई पम्पराय और हरिदेव तथा भतीजे माचिराज भी जिनभक्त तथा राजाके वीर सेनानी थे।

भारद्वाजगोत्री मरियाने प्रथमके पौत्र और दाकरसके पुत्र भ्रातृद्वय मरियाने और भरतेश्वर भी महाराज विष्णुवर्धनके दण्डनायक थे। मरियाने दण्डनायककी तीन पुत्रियोका विवाह राजा बल्लाल प्रथमने स्वयं कराया था और वह स्वयं गंगराजके जामाता थे। ये दोनो भाई महाराज विष्णुके समयमे सर्वाधिकारी, माणिकभण्डारी और प्राणाधिकारी पदोपर आरूढ़ रहे। इनका सम्पूर्ण परिवार जिनभक्त था, अनेक जिनमन्दिरोका इन्होने निर्माण कराया। इनके गुरु माघनन्दिके शिष्य गण्डविमुक्तदेव थे।

गंगराजका भतीजा और दण्डनायक बम्मका पुत्र एच भी विष्णुवर्धनके समयमे ही दण्डाधीश हो गया था। वह भी बड़ा धार्मिक और वीर था किन्तु उसकी मृत्यु थोड़ी ही आयुमे हो गयी प्रतीत होती है।

होयसल एयरंगके राजमन्त्री चिन्नराज दण्डाधीशका पुत्र इम्मडि दण्डनायक बिट्टिमय्य महाराज विष्णुका एक अन्य जैन वीर सेनानी था। बाल्यावस्थामे ही इसके माता-पिताकी मृत्यु हो गयी थी अत. स्वयं महाराजने उसका पालन-पोषण किया था। यह बालक इतना व्युत्पन्न था कि थोड़ी ही आयुमे अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य विविध-विद्याओमे पारंगत हो गया। एक राजमन्त्रीकी पुत्रीके साथ राजाने उसका विवाह कर दिया। युवा होनेके पूर्व ही यह बालवीर महाप्रचण्ड दण्डनायक, सर्वाधिकारी, सकल-जनोपकारी आदि पदवियोंसे विभूषित हो गया था। एक पक्षके भीतर ही इस बाल-सेनापतिने कोगुदेशपर भीषण आक्रमण करके शत्रुको बुरी तरह पराजित करके अधीन किया था, अपनी चमत्कारी विजयोके कारण थोड़ी ही आयुमे यह वीर महाराजका दाहिना हाथ हो गया था। साथ ही वह परम धार्मिक भी था। श्रीपाल त्रैविद्यदेव उसके गुरु थे और स्वयं राजधानी द्वारसमुद्रमे उसने विष्णुवर्धन-जिनालयका निर्माण कराया था, और जो ग्राम उसे राजासे पुरस्कार-स्वरूप मिले थे उन्हे उसने उक्त मन्दिरके लिए तथा मुनियोके आहार-दानके लिए समर्पित कर दिया था।

इस प्रकार अपने अष्ट प्रधान जैन राजमन्त्रियो और वीर सेनापतियोके

उत्साहपूर्ण एवं सुयोग्य सहयोगसे महाराज विष्णुवर्धन होयसलने न केवल अपने वंश और साम्राज्यकी नींव सुदृढ कर दी वरन् शिल्प-स्थापत्यकी होयसल शैलीके विकासको अत्यन्त बल दिया, विद्या, साहित्य तथा अन्य लोकोपकारक एवं लोकोपयोगी कार्योंको भी प्रोत्साहन दिया, शासन-व्यवस्था सुचारु की और जैनधर्मका भी सर्वतोमुखी उत्कर्ष किया। उपरोक्त विवरणसे यह भी पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि रामानुजाचार्य-द्वारा इस नरेशके मत-परिवर्तन और जैनोंपर अत्याचार करनेकी बात सर्वथा भ्रमपूर्ण है।

उसकी मृत्युके पश्चात् लक्ष्मीमहादेवीसे उत्पन्न उसका पुत्र विजय नरसिंहदेव प्रथम (११४१–११७३ ई०) राजा हुआ। जन्म-समयमें ही उसका राज्याभिषेक कर दिया गया था। पिताकी मृत्युके समय वह केवल ८ वर्षका बालक था। वय प्राप्त करनेपर भी वह आमोद-प्रमोदमें अधिक व्यस्त रहता था। उसके समयमें होयसल-साम्राज्यकी महत्ता और प्रतिष्ठाकी रक्षा उसके अपने युद्ध-कौशल, विजयोल्लास या राजनैतिक चतुराईसे नहीं हुई वरन् उसके प्रतापी पिताके नामके प्रभाव और उसके स्वामिभक्त, सुयोग्य एवं वीर जैन मन्त्रियों और सेनापतियोंके कारण ही हो सकी। मरियाने, भरत आदि कुछ पदाधिकारी तो उसके पिताके समयके ही थे। सौभाग्यसे देवराज, हुल्ल, शान्तियण्ण और ईश्वर नामके चार अन्य स्वामिभक्त कुशल एवं वीर सेवक उसे स्वयं प्राप्त हो गये। देवराज कौशिकगोत्रीय था, उसके गुरु जैनाचार्य मुनिचन्द्र भट्टारक थे। जिन-भक्तिमें देवराजकी तुलना चामुण्डराय और गंगराजके साथ की जाती थी। राजाने इसे 'सूरनहल्लि' ग्राम पुरस्कारमें दिया, जिसे उसने वहाँ एक चैत्यालय बनवाकर अपने गुरुके नामपर उत्सर्ग कर दिया। राजा नरसिंहने चैत्यालयके दर्शन करके उस ग्रामका नाम पर्वपुर रख दिया। महाराज नरसिंहके सेनापतियोंमें सर्वप्रसिद्ध एवं सर्वमहान् हुल्ल था। वह वाजिकुलमें उत्पन्न हुआ था। उसके पिताका नाम यक्षराज,

माताका लोकाम्बिके और पत्नीका पद्मावती था। लक्ष्मण और अमर नामके उसके दो भाई थे। यह पूरा परिवार जैनधर्मका परम भक्त था। स्वयं हुल्ल न केवल उदारचेता, दानशील, मन्दिरोंका निर्माता और धर्मात्मा जैन था वरन् वह व्यवहारकुशल, राजनीतिज्ञ, योग्य प्रशासक और अपने समयका सर्वमहान् सैन्य-संचालक एवं वीर योद्धा भी था। राज्यकी सेवामें वह महाराज विष्णुवर्धनके समयसे ही चला आ रहा था और अब नरसिहके समयमें महाप्रधान, प्रधान कोषाध्यक्ष, सर्वाधिकारी एवं महाप्रचण्ड दण्डनायक आदि पदोंपर आरूढ था। अपने युद्धों, विजयों और सुशासनसे उसने नरसिहदेवके साम्राज्यको अक्षुण्ण एवं सुरक्षित रखा। उसकी तुलना चामुण्डराय और गंगराजसे की जाती थी। हुल्लके व्रतगुरु कुक्कुटासन मलधारीदेव थे। देवकीर्ति मण्डलाचार्यका भी वह भक्त था और उसके स्वगुरु नयकीर्त्ति सिद्धान्तदेव थे। हुल्लने श्रवणबेल-गोलपर चतुर्विंशति-वसदि नामका अत्यन्त सुन्दर एवं कलापूर्ण जिनालय निर्माण कराया था। ११५९ ई० में स्वयं महाराज नरसिहदेव जब दिग्वि-जयके लिए निकले तो इस जिनालयका दर्शन करनेके लिए गये और प्रसन्न होकर हुल्लकी उपाधि 'सम्यक्त्वचूडामणि' के कारण इस बसदिका नाम 'भव्यचूडामणि' रखा तथा उसके लिए एक ग्राम दान दिया। राजाने उक्त स्थानकी बसदियोंकी जिनेन्द्र प्रतिमाओं, गोम्मटेश्वर और पार्श्वनाथ-की भक्तिपूर्वक वन्दना एवं पूजा की। सेनापति हुल्लने केल्लंगेरे बंकापुर और कोप्पण तीर्थके अनेक जिन-मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराया, नवीन मन्दिर निर्माण कराये, मन्दिरोंके संरक्षणके लिए दान दिये और कई दान-शालाएँ स्थापित कीं। नरसिहका तीसरा प्रसिद्ध सेनापति शान्तियण्ण था। उसका पिता पारिषण्ण भी एक पराक्रमी योद्धा और राज्य कोषाध्यक्ष था। आहवमल्लको उसने पराजित किया था और उसी युद्धमें उसकी मृत्यु हुई थी। शान्तियण्णकी माता बम्मलदेवी मरियाने दण्डनायककी पुत्री थी और बड़ी धर्मात्मा थी। उसके पिताकी मृत्युके बाद नरसिंहने शान्ति-

यण्णको दण्डनायक बनाया और एक ग्राम प्रदान किया। दण्डनायक शान्तियण्णके गुरु वासुपूज्य सिद्धान्तके शिष्य मल्लिषेण पण्डित थे। शान्तियण्णने अपनी जागीर करिगुण्डमे एक भव्य जिनालय बनवाया जिसके लिए उसने स्वयं तथा उसकी समस्त प्रजाने प्रभूत दान दिया। नरसिंहका चौथा सेनापति ईश्वर चमूपति था। वह सर्वाधिकारी एवं सेनापति दण्डनायक एरेयंगमका पुत्र था। उसने मन्दारगिरिके जिनमन्दिरका जीर्णोद्धार कराया। ११६० ई० मे उसकी पत्नी माचियक्केने जो साहिणी बिट्टिगकी पुत्री और गण्डविमुक्तदेवकी शिष्या थी, एक जिन-मन्दिर निर्माण कराकर दान दिया था। नरसिंहदेवके दो अन्य राजमन्त्री शिवराज और सोमेय थे जिन्होने ११६५ ई० मे माणिकबोल्लके होयसल-जिनालयको मुनि आहारके लिए दान दिया था। नरसिंहदेवके एक अन्य मन्त्री ताम्बुलवाहक चाविमय्यकी पत्नी जक्कव्वेने हेरगुमे चेन्नपार्श्वनाथ–वसदि बनवाकर राजाकी अनुमतिसे समस्त सरदारोके समक्ष अपने गुरु नयकीर्ति सिद्धान्तदेवको दान दिया था। इसी कालमें नरसिंहके सामन्त गोवकी पत्नी सिरियादेवीने एक जैन-प्रतिमाकी प्रतिष्ठा कराके स्वगुरु चन्द्रायणदेवको दान दिया था। इस प्रकार होयसल नरसिंहदेव भी अपने पूर्वजोकी भाँति जिन-धर्मका भक्त और प्रश्रयदाता था और उसके जैन-मन्त्रियो, सेनापतियो एवं पदाधिकारियोने उत्साह एव योग्यतापूर्वक साम्राज्यका संरक्षण एवं उत्कर्ष किया।

नरसिंहका पुत्र सुप्रसिद्ध बल्लाल या वीरबल्लाल द्वितीय (११७३–१२२० ई०) अपने पितामह विष्णुवर्धनकी भाँति ही भारी पराक्रमी, महान् विजेता और स्याद्वादमतका पक्षपाती था। उसके गुरु नन्दिसंघ-अरुंगुलान्वयके जैनाचार्य श्रीपालदेवके शिष्य वासुपूज्य व्रती थे, जैसा कि ११६९ ई० के एक शिलालेखसे स्पष्ट है। इस राजाने अनेक वार जैन तीर्थोकी यात्रा, मन्दिरोके दर्शन और बसदियो एव गुरुओको दान दिया। उसके समयमे भी उसके पिताके समयके हुल्ल आदि अनेक जैन सेनापति और मन्त्री चलते रहे थे। ११७४-७५ ई० में उसने हुल्लके निवेदनपर उसके द्वारा श्रवण-

बेलगोलपर निर्मापित चतुर्विंशति-बसदिके लिए दो गाँव दान दिये थे। ११७६ ई० मे राजधानीके देवीसेट्टी नामक धनी सेठने वहाँ वीर बल्लाल-जिनालय नामका सुन्दर मन्दिर राज्याश्रयसे निर्माण कराया और उसके लिए स्वगुरु बालचन्द्र मुनिको दान दिया था। स्वयं राजाने भी कई गाँव उसके लिए प्रदान किये थे। ११९२ ई० मे राजधानीके अन्य चार प्रमुख सेठोने समस्त नागरिको एवं अन्य नगरोके व्यापारियोके सहयोगसे वहाँ नगर-जिनालय नामका विशाल एवं सुन्दर मन्दिर निर्माण कराया था। इस मन्दिरका नाम अभिनव शान्तिदेव भी था। राज्यश्रेष्ठिके साथ महाराज 'प्रतापचक्रवर्ती वीरबल्लालदेव' स्वय मन्दिरमे दर्शनार्थ गया और उसने उसके लिए गुरु वज्रनन्दि सिद्धान्तको कई ग्राम दान दिये। सदैवकी भाँति इस समय भी होयसल-राजधानी द्वारसमुद्र जैन धर्मका गढ और भव्यों (जैनो) का प्रधान केन्द्र थी। जैनाचार्य श्रीपाल देव और उनके शिष्य इस कालमे होयसलोके राजगुरु थे। बल्लाल द्वितीयके समयमे भी होय-सलोके शौर्य और पराक्रमकी प्रतिष्ठाके आधार उसके जैन सेनापति और मन्त्री ही थे। वृद्ध सेनापति हुल्लके अतिरिक्त वसुधैकबान्धव रेचिमय्य बल्लालका अन्य प्रसिद्ध सेनानी था। इसके पूर्व वह बिज्जल कलचुरिका प्रधान सेनापति था, कलचुरियोके पतनके पश्चात् वह बल्लालकी सेवामे आया। वह दुर्द्धर योद्धा और कुशल सेनानी था, बल्लालकी अनेक विजयो-का श्रेय उसे ही है। साथ ही वह बडा जिनभक्त था। उसने भागुदिके रत्नत्रय-जिनालयके लिए मुनि भानुकीर्त्तिको दान दिया, नागरखण्ड देशकी अपनी राजधानीमे एक अति सुन्दर सहस्रकूट चैत्यालयका निर्माण कराया, १२०० ई० मे इस मन्दिरके लिए अपने गुरु सागरनन्दिको दान दिया और महाराज बल्लालने भी उस अवसरपर उन्हे एक ग्राम दान दिया। उसी वर्ष श्रवणबेलगोलमे भी उसने एक शान्तिनाथ बसदि बनवायी। मरियाने दण्डनायकके पुत्र भरत और बाहुबलि भी बल्लालके स्वामिभक्त जैन सेनानायक थे। बल्लालका एक अन्य सेनानायक बूचिराज था, वह राजाका

सन्धिविग्रहिक था, साथ ही संस्कृत एवं कन्नडी दोनों भाषाओंका विद्वान् और कवि भी था। ११७३ ई० मे बल्लालके राज्याभिषेकके अवसरपर मारिकलिमे त्रिकूट-जिनालय बनवाकर उसने स्वगुरु वासुपूज्यको उसके लिए ग्राम दान दिये थे। बल्लालका एक अन्य राजमन्त्री शम्भुदेवका पुत्र चन्द्रमौलि था जो अनेक विद्याओंमे पारंगत भारी विद्वान् था और कट्टर शैव होते हुए भी जैनधर्मके प्रति अति उदार था, उसकी पत्नी आचलदेवी तो परम जिनभक्त एवं मुनि नयकीर्त्तिकी शिष्या थी। ११८२ ई० मे आचलदेवीने श्रवणबेलगोलमे पार्श्वनाथका सुन्दर जिनालय निर्माण कराया था जिसके लिए उसके पति चन्द्रमौलिने राजासे प्रार्थना करके नयकीर्त्तिके शिष्य बालचन्द्रको एक ग्राम दानमे दिलाया था। नानादेशीय व्यापारियों एवं नगर और नाडुके प्रतिनिधियोने भी इस मन्दिरके लिए दान दिये थे, स्वयं राजाने अपनी ओरसे एक अन्य ग्राम भी दान दिया था। एक अन्य जैनमन्त्री एचणकी पत्नी सोमलदेवीने १२०७ ई० मे एक बसदि निर्माण कराकर दान दिया था। एचणने स्वयं भी १२०५ ई० में एक सुन्दर जिनालय निर्माण कराया था। इसी राज्यकालमे शान्तले, मालब्बे, जक्कब्बे आदि सम्भ्रान्त धर्मात्मा महिलाओने धर्मकार्य और समाधिमरण किये थे। बल्लालका एक जैनमन्त्री नागदेव था जो मन्त्री बम्मदेवका पुत्र और नयकीर्त्तिका शिष्य था। वह जिनमन्दिरप्रतिपाल कहलाता था, श्रवणबेलगोलके पार्श्वमन्दिरमें ११९५ ई० मे उसने नाट्यभवन बनवाया तथा वही नगर-जिनालय अपर नाम श्रीनिलय नामक प्रसिद्ध कलापूर्ण मन्दिर बनवाया था। एक अन्य मन्त्री महादेव दण्डनाथ था। वह उक्त राजपदाधिकारियोंके प्रतिष्ठित कुलमे उत्पन्न हुआ था। वह और उसकी पत्नी लोकलदेवी दोनो बड़े धर्मात्मा थे और कुलभूषणके शिष्य सकलचन्द्र भट्टारकके शिष्य थे। ११९८ ई० मे इन्होने एरग–जिनालय नामका अत्यन्त भव्य जिनमन्दिर बनवाया था जिसके लिए महामण्डलेश्वर एक्कलरसके समक्ष इन्होने दान दिया था। राज्यसेठ पट्टणस्वामी, अन्य

नागरिकों, तैलव्यापारियों और स्वयं महामण्डलेश्वरने भी इस मन्दिरके लिए दान दिये। १२०० ई० मे राज्यके एक अन्य सर्वाधिकारी कम्मट माचय्यने अपने श्वसुर बल्लय्यके साथ परवादिमल्ल-जिनालयके लिए एक प्रदेशकी समस्त तैलमिलोका कर प्रदान किया था। राजाका एक दूसरा सर्वाधिकारो 'महापायसम-विरुद-नामोत्तदिष्टायकम' आदि पदारूढ दण्डनायक अमृत भी नयकीत्तिका शिष्य था और बल्लालकी उपराजधानी लोक्कुंडीका निवासी था तथा जाति एवं कुलसे शूद्र था। अपने तीन भाइयोके साथ १२०३ ई० मे उस स्थानमे उसने एक्कोटि-जिनालयका निर्माण कराया था और समस्त नगर-निवासियो एवं कृषकोके नायकोके समक्ष भगवान् शान्तिनाथकी पूजा और मुनियोके आहारके लिए भूमिदान दिया था। सेनापति अमृत इतना उदारचेता था कि उसने ब्राह्मणोके लिए एक अग्रहार भो स्थापित किया था एव एक शिवालय भी बनवाया था। बल्लालके राज्याभिषेकके अवसरपर उसके एक अन्य पदाधिकारी माचिराजने ११७३ ई० मे बोगवदिके श्रीकरण-जिनालयके पार्श्वदेवके लिए गुरु अकलकसिंहासन पद्मप्रभस्वामीको एक गाँव दान दिया था।

बल्लाल द्वितीयने विद्वानोका भी आदर किया और साहित्यको प्रोत्साहन दिया। उसके पूर्वजोके प्रश्रयमे श्रीधरने जातकतिलक और चन्द्रप्रभचरित (१०४९ ई०) की, नागवर्म प्रथमने चन्द्रचूडामणिशतक (१०७० ई०) की, नागचन्द्र 'अभिनवपम्प' (११०५ ई०) ने मल्लिनाथ चरित एवं रामचन्द्रचरित नामक चम्पुओकी, ब्रह्मशिवने समयपरीक्षाकी, कीर्त्तिवर्मने गोवैद्यकी और नागवर्म द्वितीयने काव्यालोकन, कर्णाटकभाषाभूषण तथा वस्तुकोषकी रचना की थी। स्वयं बल्लाल द्वितीयके राजकवि नेमिचन्द्र थे जिन्होने लीलावती नामक प्रेमगाथा लिखी थी, राजादित्य (११९० ई०) ने व्यवहारगणित, क्षेत्रगणित और लीलावती नामक गणित ग्रन्थ रचे, महाकवि जन्न (१२०९ ई०) ने यशोधरचरित, जगदल्लसोमनाथने कन्नड-कल्याणकारक नामक वैद्यक ग्रन्थ, बन्धुवर्म वैश्यने हरिवंशाभ्यु-

दय और जीवसम्बोधन, शिशुमायनने अंजनाचरित और त्रिपुरदहन, आन्दय्यने मदनविजय, और जन्नके भाई मल्लिकार्जुनने सूक्तिसुधार्णव (१२३५ ई०) की रचना की थी। उपरोक्त विद्वान् प्रायः सब ही जैन थे और कन्नड साहित्यके पुरस्कर्त्ता थे। उसके समयके जिनमन्दिर होयसल कालीन शिल्प और मूर्त्तिकलाके श्रेष्ठ नमूने हैं। वीर बल्लालके समयमे होयसल-साम्राज्यकी विस्तार-वृद्धि भी हुई विशेषकर उत्तर-दिशामे। ११९२ ई० मे देवगिरिके यादवोपर विजय प्राप्त करके उसने होयसल वंशको तत्कालीन दक्षिणापथका सर्वाधिक शक्तिशाली राज्यवंश बना दिया था।

वीर बल्लालकी मृत्युके उपरान्त इस वंशकी अवनति प्रारम्भ हो गयी। १२२० ई० मे उसका पुत्र नरसिंह द्वितीय राजा हुआ, सम्भवतया थोड़े समय पश्चात् ही उसकी मृत्यु हो गयी। तदनन्तर बल्लाल द्वितीयका पौत्र सोमेश्वर राजा हुआ। उसकी मृत्यु १२४५ ई० मे हुई। सोमेश्वरकी दो रानियाँ थी, एकका नाम बिज्जलरानी था और दूसरीका देवलदेवी। प्रथमका पुत्र नरसिंह तृतीय था और दूसरीका रामनाथ। सोमेश्वरके जीवन-कालमे ही उत्तराधिकारके प्रश्नको लेकर कलह प्रारम्भ हो गयी थी जिसके कारण राज्यमे अव्यवस्था-सी उत्पन्न हो गयी थी किन्तु राज्यके पुराने स्वामिभक्त सेवकोंके कारण विशेष क्षति नही हुई। तथापि इस बीचके न कोई शिलालेख मिलते है और न किसी प्रसिद्ध ग्रन्थकारके उल्लेख। साहित्य और निर्माण कार्यके साथ-ही-साथ महत्त्वपूर्ण युद्धो और विजयोसे भी यह काल प्राय शून्य ही था। सोमेश्वरकी मृत्युके उपरान्त १२४५ से १२५४ ई० तक उसके दोनो पुत्रोके पक्षसमर्थकोके बीच झगडा चलता रहा प्रतीत होता है। अन्ततः पारस्परिक समझौतेसे प्राचीन कर्णाटक साम्राज्यका पैतृक भाग और राजधानी द्वारसमुद्र नरसिंह तृतीय (१२५४–१२९१ ई०) को प्राप्त हुए और तमिल देश एवं कोलर प्रान्त रामनाथ (१२५४–१२९७ ई०) को मिले। उसने कन्ननूर या विक्रम-

पुरको अपनी राजधानी बनाया।

ये दोनों ही राजे जिनधर्मभक्त रहे प्रतीत होते हैं। १२५४ ई० मे नरसिंह राजधानीके प्रसिद्ध विजय-पार्श्व-जिनालयमे दर्शनार्थ गया, देव-पूजन किया, मन्दिरके पूर्ववर्ती शासनो (फर्मानों) को देखा, उन्हे स्वीकृत किया और कुछ और भूमिदान दिया। १२५५ ई० मे अपने उपनयन संस्कारके अवसरपर भी इस पंचदशवर्षीय राजाने भगवान् विजय पार्श्वकी पूजाके लिए दान दिये। इस राजाके गुरु बलात्कारगणके कुमुदेन्दु योगीके शिष्य और कुमुदचन्द्र पण्डितके गुरु माघनन्दि सिद्धान्त थे जो सारचतुष्टयके रचयिता और भारी विद्वान् थे। १२६५ ई० मे राजाने राजधानीके कलि-होयसल-जिनालयमे उपस्थित होकर अपने महाप्रधान सोमेय दण्डनायककी सहायतासे त्रिकूट-रत्नत्रय-शान्तिनाथ-जिनालयके संरक्षणके लिए स्वगुरुको १५ ग्राम दान दिये थे। इसी उपलक्ष्यमे वह जिनालय नरसिंह-जिनालयके नामसे भी प्रसिद्ध हुआ। १२५७ ई० मे राजधानीके जैन नागरिकोने भी द्रव्य एकत्रित करके शान्तिनाथका एक नवीन मन्दिर बनवाया था और राजाने उसके लिए दान दिया था। १२७१ ई० मे नरसिंहके उसी सोमय्य दण्डनायकने राजधानीके निकट एक प्राचीन बसदिका पुनरुद्धार किया। १२८२ ई० के एक शिलालेखमे उपरोक्त मण्डलाचार्य माघनन्दिको स्पष्टतया होयसलनरेशका राजगुरु कहा है। उस वर्ष भी राजाने गुरुको दान दिया था। १२८३ ई० मे नरसिंहके माधव नामक एक अन्य दण्डनायकने कोप्पण तीर्थकी चतुर्विंशति-तीर्थंकर-बसदिमे एक नवीन जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठित की और अपने गुरु उन्ही माघनन्दिको दान दिया। इसी राजाके प्रश्रयमे मल्लिकार्जुनके पुत्र केशिराज (१२६० ई०) ने शब्दमणिदर्पण नामका प्रामाणिक कन्नड व्याकरण लिखा और कुमुदेन्दु (१२७५ ई०) ने कन्नड जैन-रामायणकी रचना की।

नरसिंह तृतीयका प्रतिद्वन्द्वी रामनाथ होयसल भी जिनभक्त था। उसने कोगलिने चेन्न-पार्श्व-रामनाथ-बसदिका १२७६ ई० मे निर्माण

कराया था जिसके लिए उसके राजसेठ नलप्रभु देविसेट्टीने भूमिदान दिया था। दो तिथिरहित शिलालेख उक्त जिनालयके लिए स्वयं राजा रामनाथ-द्वारा स्वर्ण-दान दिये जानेका उल्लेख करते है। कोगलिके जैनगुरु उभयाचार्यका भी उसने सम्मान किया था, और कोल्हापुरके सामन्त जिनालयको भी इसी कालमे दान दिया गया। किन्तु इस कालमे राज्यका विभाजन हो जाने, और उत्तरकी ओर मुसलमानोके आक्रमण तथा उनके द्वारा देवगिरिके यादवोकी स्वतन्त्रताका नाश होनेके कारण होयसल-राज्यकी दशा भी शोचनीय थी।

नरसिंह तृतीयका पुत्र और उत्तराधिकारी वीरवल्लाल तृतीय (१२९१–१३३३ ई०) इस वंशका अन्तिम उल्लेखनीय राजा था। वह स्वयं जैनधर्मके प्रति उदासीन रहा प्रतीत होता है। उसका महाप्रधान सर्वाधिकारी केतेय दण्डनायक अवश्य ही जैन था। १३३२ ई० मे इस मन्त्रीने एडेनाड-की कोलुगण-वसदि नामक जिनालयके लिए दो ग्रामोका राज्यकर प्रदान किया था। १३०० ई० मे राजधानी द्वारसमुद्रमे महामुनि रामचन्द्र मलधारीदेवने समाधिमरण किया था। इस अवसरपर जनताने बडा उत्सव किया और मुनिकी मूर्त्तियाँ बनवाकर स्थापित की थी। इसी वर्ष जैन विद्वान् रट्टकविने प्रकृतिविज्ञानपर रट्टसूत्र या रट्टमाला नामका ग्रन्थ लिखा था। किन्तु इस कालमे होयसल-राज्यकी शक्ति शिथिल होती जा रही थी। १३१० ई० मे अलाउद्दीन खलजीके सेनापति मलिक काफ़ूर और ख्वाजा हाजीने होयसल-राज्यपर भीषण आक्रमण किया और राजधानी द्वारसमुद्रको लूटा एव नष्ट-भ्रष्ट किया। राजाने विवश होकर अधीनता स्वीकार कर ली और कर देने लगा, किन्तु थोडे ही समय पश्चात् बन्द कर दिया। १३२६-२७ ई० में मुहम्मद तुगलुकने होयसल राज्यपर भयंकर आक्रमण किया और इस राज्यका प्राय अन्त ही कर दिया। वस्तुत इस वीर वल्लालका आधेसे अधिक जीवन स्वराज्यकी रक्षार्थ मुसलमानोसे लड़ते-लड़ते ही बीता और इसी प्रयत्नमे अन्ततः १३३३ ई० के लगभग

उसकी मृत्यु हो गयी। किन्तु मरनेसे पूर्व वह ऐसी व्यवस्था कर गया और राज्य एवं स्वदेशकी सीमारक्षाका भार कुछ ऐसे व्यक्तियोंको सौंप गया कि जिन्होंने उसके स्वप्नको उसकी आशाओंसे कही अधिक चरितार्थ कर दिखाया। अपने राज्य एवं वंशकी रक्षा अन्तिम होयसल बीरबल्लाल भले ही न कर सका किन्तु भावी विजयनगर साम्राज्यके बीज वह ही बो गया था, इस तथ्यमे विशेष सन्देह नही है।

■

अध्याय १०

विजयनगर-साम्राज्य

विधर्मी विदेशी मुसलमानोने भयंकर आक्रमणों और निर्दयतापूर्ण अत्याचारो-द्वारा समस्त उत्तरापथपर अधिकार कर लेनेके उपरान्त गुजरातके बघेलो, देवगिरिके यादवो, वारंगलके ककातीयो और अन्तमें द्वारसमुद्रके होयसलोकी राज्य-शक्तिका भी अन्त कर दिया था, किन्तु वे दक्षिणापथ, विशेषकर कर्णाटक, के निवासियोकी देशभक्ति और स्वातन्त्र्य-प्रेमका अन्त नही कर सके। होयसल-राज्यकी समाप्ति होने भी नही पायी थी कि विजयनगर राज्यके रूपमे वह स्वातन्त्र्य-प्रेम नवीन वल और उत्साहके साथ प्रस्फुटित हो उठा। मध्यकालका विजयनगर-साम्राज्य भारतीय राजनीतिकी अत्युत्कृष्ट एवं अनुपम सृष्टि थी। कर्णाटकके प्राचीन सातवाहन, नाग, गंग, कदम्ब, पश्चिमी चालुक्य, राष्ट्रकूट, उत्तरवर्ती चालुक्य और होयसल प्रभृति राजवंशोकी अविच्छिन्न सीधी परम्परामे उत्पन्न विजयनगरके राजवंशने अपने-आपको उस परम्पराका सुयोग्य उत्तराधिकारी सिद्ध किया। राजनीति, शासन-व्यवस्था, जीवन और व्यवहारमे उन्हीकी नीतिको सुविकसित रूपमे अपनाया, राज्यमे प्रचलित विभिन्न धर्मोके प्रति वैसी ही समदर्शिता, सहिष्णुता एवं सदाशयताका परिचय दिया और संस्कृतिके साहित्य, कला, लोकजीवन आदि विभिन्न अंगोका बिना भेदभावके उदारता एवं उत्साहपूर्वक पोषण एवं विकास किया। जिन विषम परिस्थितियोके बीच विजयनगर-साम्राज्यकी स्थापना, निर्माण और विकास हुआ उनपर ध्यान देनेसे उसके नरेशोके कार्य और सफलताका महत्त्व और

अधिक हो उठता है। उनके प्रतिद्वन्द्वी उनके स्वदेशवासी, सजातीय, साधर्मी पडोसी राजे-महाराजे नही थे वरन् वे विदेशी विधर्मी क्रूर आक्रान्ता थे जो न केवल तत्कालीन भारतकी स्वतन्त्रता और धनका एक अपहरण करनेवाले राजनैतिक शत्रु थे बल्कि भारतीयोके धर्म, संस्कृति, आचार-विचार और जीवनके भी भयानक शत्रु बने हुए थे।

इस भारत-गौरव साम्राज्यके मूल संस्थापक संगम नामक एक छोटे-से सरदारके पाँच वीर पुत्र थे। १३८५ ई० के एक जैन शिलालेखमे इन्हे यादवराजवंशोद्भूत कहा है अत' देवगिरिके सुएन और द्वारसमुद्रके होयसलोकी भाँति संगमके पुत्र भी यदुवंशी क्षत्रिय थे। संगम और उसके पुत्र यद्यपि होयसलोके अति साधारण श्रेणीके छोटे-से सामन्त और उसकी सीमान्त चौकियोके रक्षक थे, किन्तु साथ ही वे स्वदेश-भक्त, स्वतन्त्रता-प्रेमी, वीर, साहसी और महत्त्वाकांक्षी भी थे। मुसलमानोके आक्रमण न होते तो स्यात् ये गुण सुषुप्त ही रह जाते या वे कोई होयसल आदि जैसा राज्य स्थापित भी कर लेते। किन्तु देखते-देखते ही एक दशकके भीतर दक्षिण भारतकी तीनो महान् राज्य-शक्तियोंका अन्त हो गया। इन वीरोका रक्त उबल उठा, ये सचेष्ट हो गये और पाँचो भाई मुसलमानोके आक्रमणकी भीषण बाढको स्तम्भित करनेके लिए जुट पडे। इसमे सन्देह नही कि उनका यह उपक्रम विशेष रूपसे द्वारसमुद्र और सम्भवतया वारंगलके भी मुसलमानो-द्वारा पतन किये जानेकी प्रतिक्रिया था। इन पाँचो भाइयोने दक्षिण देशके विभिन्न सामन्त सरदारोंका, जो उत्तर दिशासे आनेवाला इस सर्वसंहारक बवण्डरसे क्षुब्ध थे, अपने नेतृत्वमे संगठन किया और देशसे मुसलमानोको निकाल बाहर करनेमे जुट गये। इस प्रयत्नमे यह मुसलमानोके हाथो बन्दी हुए, मुसलमान भी बना लिये गये, किन्तु छूट निकले, और फिर स्वधर्ममे दीक्षित होकर दुगुने उत्साहसे कार्य-सिद्धिमे जुट गये। किन्तु कार्य सरल न था, दिल्लीके सुलतान शक्तिशाली थे और स्थान-स्थानमे उनके मुसलमान सूबेदार अर्धस्वतंत्र शासकोके रूपमे

निरंकुश शासन करने लगे थे। एक केन्द्रित राज्य-शक्तिका निर्माण करना प्रथम आवश्यकता थी। अतः थोडा-सा संगठन और शक्ति-संचय कर लेनेके उपरान्त १३३६ ई० मे तुंगभद्रा नदीके उत्तरी तटपर प्राचीन दुर्ग आनेगुंडोके सामने हम्पी नामक स्थानको इन भाइयोने अपना केन्द्र बनाया और विजयनगरकी नीव डाली। १३४३ ई० के लगभग यह विशाल सुदृढ एवं सुन्दर नगरी (विजयनगर, विद्यानगर या विद्यानगरी) बनकर तयार हुई और १३४६ ई० मे स्वतन्त्र विजयनगर राज्यकी वहाँ स्थापना हुई। इस बीचमे तीन भाइयोकी राज्य-स्थापनाके लिए किये गये संघर्षोमे मृत्यु हो चुकी प्रतीत होती है, शेष दो, हरिहर और बुक्काराय, जीवित थे, अतः राज्यकी वास्तविक स्थापनाके समय ज्येष्ठ भ्राता हरिहरराय प्रथम (१३४६-१३६५ ई०) विजयनगर राज्यका प्रथम अभिषिक्त नरेश हुआ। विजयनगरकी स्थापनासे प्रेरित होकर अगले ही वर्ष (१३४७ ई० मे) दिल्लीके सुलतानके हसन नामक एक तुर्की सरदारने, जो प्रारम्भमे गंगू नामके किसी ब्राह्मणका सेवक रहा बताया जाता है, दक्षिण देशके उत्तरी भागमें दौलताबाद (देवगिरि) पर अधिकार करके और कुल्बर्गाको राजधानी बनाकर बहमनी राज्यकी नीव डाली। इस प्रकार प्रारम्भसे ही विजयनगरका प्रतिद्वन्द्वी और निकट शत्रु यह मुसलमानी राज्य हुआ और आगामी दो शताब्दियो तक इनमें परस्पर चलनेवाला युद्ध संघर्ष ही तत्कालीन दक्षिण भारतका राजनैतिक इतिहास है। हरिहर प्रथमका प्रतिद्वन्द्वी मुहम्मद प्रथम था, दोनोके बीच अनेक युद्ध हुए जिनमे मुसलमानोकी नृशसताके कारण लाखो व्यक्तियोका संहार हुआ। महाराज हरिहरका प्रधानमन्त्री एवं दण्डाधिनायक (प्रधान सेनापति) जैन वीर बैच या बैचप्प था जो प्रभाव, उत्साह और मन्त्र इन तीनो शक्तियोसे युक्त था और रणक्षेत्रमे राजा हरिहरका तीसरा हाथ था।

हरिहर और उसके वंशजोका राज्यधर्म सामान्यतः हिन्दूधर्म था।

प्रजामे अधिकांश भाग जैन, उनके पश्चात् श्रीवैष्णव और फिर लिंगायत या वीरशैव और कुछ सद्‌शैव थे। किन्तु विजयनगर-नरेश प्रारम्भसे ही सिद्धान्ततः सभी धर्मोंके प्रति सहिष्णु, समदर्शी और उदार थे। स्वय राजधानी विजयनगर (हम्पी या प्राचीन पम्पा) के वर्तमान खण्डहरोमे वहाँके जैन-मन्दिर ही सर्वप्राचीन है, वे नगरके सर्व-श्रेष्ठ केन्द्रीय स्थानमे स्थित है और अनेक विज्ञ विद्वानोके मतसे उनमे-से अनेक ऐसे है जो वहाँ विजयनगरकी स्थापनाके पूर्व ही विद्यमान थे। इससे स्पष्ट है कि यह स्थान बहुत पहलेसे ही एक प्रसिद्ध जैन केन्द्र था। हरिहरके शासनकालमे ही १३५५ ई० मे भोगराज नामक एक प्रतिष्ठित राजपुरुषने रायदुर्गमे अनन्त-जिनालयकी स्थापना करके अपने गुरु नन्दिसंघ-बलात्कारगण-सरस्वती-गच्छके अमर-कीर्त्तिके शिष्य माघनन्दि सिद्धान्तको समर्पित किया था। इस राजाके अन्तिम वर्ष १३६५ ई० में कम्पाके जैन-गुरु मल्लिनाथको दान दिया गया था। हरिहरका पुत्र राजकुमार विरूपाक्ष ओडेयर १३६३ ई० मे मालेराज प्रान्तका शासक था। उस समय उसकी राजधानी अरगमे पार्श्वनाथ-बसदि नामक एक प्राचीन जिनमन्दिरसे सम्बन्धित भूमिकी सीमाके प्रश्नपर जैनो और वैष्णवोमे विवाद हुआ। राज्यकी ओरसे प्रान्तीय सभाभवनमे महाप्रधान नागन्न तथा प्रान्तके प्रमुख सामन्त सरदारो, जननेताओं और जैन एवं वैष्णव मुखियाओके समक्ष राजकुमारने सर्व-सम्मतिसे जैनोके पक्षको न्यायपूर्ण घोषित किया, प्राचीन शासनोमे जो सीमाएँ निर्धारित थी वे ही स्थिर रखी गयी और एक शिलालेखमे अंकित करवा दी गयी। इस कालके प्रमुख जैन विद्वान् महान् वादी सिंहकीर्त्ति, धर्मनाथपुराणके कर्त्ता उभयभाषाचक्रवर्ती बाहुबलि पण्डित, गोमट्टसार वृत्ति-के कर्त्ता केशववर्णी और धर्मभूषण भट्टारक थे। सुप्रसिद्ध ग्रन्थ खगेन्द्रमणि-दर्पणके प्रणेता मंगरस प्रथम भी इसी राज्यकालमे हुए है।

हरिहर प्रथमके बाद उसका छोटा भाई बुक्काराय प्रथम (१३६५–१३७७ ई० राजा हुआ। इसके समयमे भी बहमनी सुल्तान मुहम्मद और

उसके उत्तराधिकारी मुजाहिदके साथ युद्ध हुए। बुक्कारायका भी महाप्रधान एवं महासेनापति बैचप्प दण्डाधिनायक ही था, दण्डेश, क्षितीश और धरणीश उसकी उपाधियाँ थी। पूर्वी और पश्चिमी घाटोके मध्यवर्ती सम्पूर्ण प्रदेशपर बुक्कारायका एकाधिपत्य था। १३७४ ई० मे इस राजाने चीनके मिगवशी सम्राट् ताइन्सूके दरबारमे अपना राजदूत भेजा था। इस राजाका सारा जीवन बहमनियोके साथ भीषण युद्ध करते बीता। इन युद्धोमे उसके सहायक जैन वीर दण्डाधिनायक बैच तथा बैचके तीन पुत्र दण्डेश इरुग, दण्डनायक मंग और दण्डनायक बुक्कन ही अग्रणी थे। बैच अपने साहस, वीरता, उदारता, विद्वत्ता और सर्वानुमोदित नीतिके लिए प्रसिद्ध था। उसके पुत्र इरुगने १३६७ ई० मे एक जिनमन्दिर बनवाकर दान दिया था। १३६८ ई० मे महाराज बुक्कारायके सम्मुख एक जटिल अन्तःसाम्प्रदायिक समस्या उपस्थित हुई। राज्यके समस्त नाडुओ (ज़िलो) के भव्यो (जैनो) ने उनके प्रति भक्तो (श्रीवैष्णवो)-द्वारा किये गये अन्यायोका प्रतिकार करानेके लिए राजाकी सवामें एक आवेदन-पत्र भेजा। राजाने अठारहो नाडुओके भक्तो, उनके आचार्यो, गुरुओ, पुरोहितो, मुखियाओको तथा अपने प्रमुख सामन्तोको एकत्र करके जैनियोका हाथ वैष्णवोके हाथमे दिया और घोषणा की कि हमारे राज्यमे जैनदर्शन और वैष्णवदर्शनके बीच किसी प्रकारका भेद नही है। जैनदर्शन पूर्ववत् पंचमहाशब्द और कलशका अधिकारी है। अपने-द्वारा जैनदर्शनकी हानि या वृद्धि करना वैष्णवजन अपने ही धर्मकी हानि या वृद्धि समझे। जैन और वैष्णव एक है उनके बीच कोई अन्तर करना ही नही चाहिए। श्रवणबेलगोल तीर्थकी रक्षार्थ वैष्णवजन अपनी ओरसे २० [वैष्णव-रक्षक नियुक्त करेंगे। राज्यके जैनी एक 'हण' प्रति घरके हिसाबसे इस कार्यके लिए प्रदान करेंगे। रक्षकोके वेतनसे अतिरिक्त द्रव्यका उपयोग जिनमन्दिरोकी लिपाई-पुताई-मरम्मत आदिमे किया जायगा। तातय्य नामक एक मुखियाको इस द्रव्यके एकत्रित करने और व्यय करनेका भार सौंपा गया और राजा-

ने आज्ञा प्रचारित की कि जो कोई व्यक्ति उपरोक्त शासनकी अवज्ञा करेगा वह राजद्रोही, संघद्रोही और समुदायद्रोही समझा जायेगा। जैन और वैष्णव दोनो सम्प्रदायोने मिलकर जैन सेठ बुसुविसेट्टीको अपना सामूहिक संघनायक बनाया और उपरोक्त राजाज्ञाको राज्यकी समस्त बसदियोमे अंकित करा दिया। बुक्कारायका यह महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक निर्णय उसके वंशजोकी धार्मिक नीतिका आधार बना। दोनों ही धर्मोके अनुयायियोको धर्म-स्वातन्त्र्य और राज्यसंरक्षण समान रूपसे प्राप्त हुआ, साथ ही उनमे परस्पर सद्भाव उत्पन्न किया गया।

बुक्काराय प्रथमका पुत्र और उत्तराधिकारी हरिहर द्वितीय (१३७७-१४०४ ई०) एक प्रतापी सम्राट् था। उसका प्रतिद्वन्द्वी बहमनी सुलतान भी शान्तिप्रिय था अतः मुसलमानोकी ओरसे उसे निश्चिन्तता रही और उसने इससे लाभ उठाकर सुदूर दक्षिणके सम्पूर्ण तमिल देशपर, त्रिचनापल्ली और काचीपर भी अधिकार कर लिया। शासन-व्यवस्था और अधिक सुचारु करके उसने अपने साम्राज्यका संगठन किया और विविध उपाधियोसे विभूषित सम्राट् पद धारण किया। इसके प्रमुख मन्त्रियों और सेनापतियोमे उसके पूर्वजोके महाप्रधान बैचका पुत्र दण्डेश इरुग, जो क्षितीश और धरणीश भी कहलाता था, और उसके भाई मंगप्प एवं बुक्कन थे। दण्डेश इरुगने जो भारी धनुर्धर भी था, १३८५ ई० मे विजयनगरमे कुन्थुनाथ जिनेन्द्रका सुन्दर पाषाण-निर्मित मन्दिर बनवाया था। मन्दिरके सम्मुख दीपस्तम्भपर इस अभिप्रायका लेख उत्कीर्ण है। कालान्तरमे यह मन्दिर गाणिगित्ति-बसदि (तेलिनका मन्दिर) नामसे प्रसिद्ध हुआ, सम्भव है पीछे किसी समय किसी तेलिनने इसका जीर्णोद्धार कराया हो। इरुगके गुरु आचार्य सिहनन्दि थे। १३६७ ई० मे भी इरुगने एक मन्दिर चेलुमल्लूरमे बनवाया था। उसका बड़ा भाई मंगप्प भी जैनागमका परम भक्त और जिन-धर्मका स्तम्भ कहलाता था। इरुगका नामधारी और भतीजा तथा मंगप्पका पुत्र दण्डाधिनायकेश इरुगप्प अपने पूर्वजोसे

भी आगे बढ़ गया। हरिहर द्वितीयके समयमे ही वह राज-सेवामें नियुक्त हो गया था। १३८२ ई० मे जब वह राज्यके दक्षिणी प्रान्तके शासक राजकुमार बुक्काराय द्वितीयका दण्डनायक था, उसने चिंगलपुत जिलेमे त्रैलोक्यनाथ बसदि बनवायी थी। १३८७ ई० मे उसने अपने गुरु पुष्पसेन मुनिके उपदेशसे उक्त बसदिके सम्मुख एक सुन्दर मण्डप बनवाया। वह एक कुशल अभियन्ता (इन्जीनियर) भी था, १३९४ ई० मे उसने एक विशाल सरोवरका उत्कृष्ट बाँध बनवाया था। संस्कृतका भी वह भारी विद्वान् था और उसने 'नानार्थरत्नाकर' नामक कोष ग्रन्थकी रचना की थी। १४०३ ई० मे वह महाराज हरिहर द्वितीयका महाप्रधान सर्वाधिकारी था। उसकी माताका नाम जानकी था जो बड़ी धर्मात्मा थी। उसका भाई बैचप भी राज्यका दण्डनायक था, साथ ही भव्याग्रणी और धर्ममार्गको पवित्र करनेवाला कहा जाता था। १४०० ई० मे इरुगप्पका सहयोगी ब्राह्मण मन्त्री कूचिराज भी परम जैन था, वह चन्द्रकीर्तिदेवका शिष्य था और कोप्पण तीर्थके लिए उसने दान दिया था। राज्यके अनेक जैनतीर्थोमे श्रवणबेलगोल उस सयम भी सर्वप्रधान था, अनगिनत यात्री इस तीर्थकी यात्राको आते थे। १३९८ ई० में उस प्रान्तके शासक राज्यके जैन-सामन्त थे जो वहाँके अध्यक्ष चारुकीर्त्ति पण्डितदेवके शिष्य थे। १४०० ई० मे इस तीर्थपर एक भारी उत्सव, सम्भवतया गोम्मटेश्वरका महामस्तकाभिषेक, हुआ था जिसमे दूर-दूरसे असंख्य यात्री सम्मिलित हुए थे। १४०४ ई० में राजा हरिहरकी मृत्यु-घटना भी यहीं एक शिलालेखमें उत्कीर्ण हुई। इस राजाने मूडबिद्री आदि स्थानोकी अनेक जैन-बसदियोको स्वयं भूमि-दान दिये थे। इसके राज्यकालमे अभिनव श्रुतमुनिने मल्लिषेणकृत सज्जनचित्तवल्लभकी कन्नड टीका लिखी और मधुरने धर्मनाथपुराण और गोम्मटाष्टक लिखे। यह जैनकवि मधुर हरिहर द्वितीयके राजकवि भी थे और भूनाथस्थानचूडामणि कहलाते थे। कन्नड रत्नकरण्डके कर्त्ता आयतवर्मा और परमागमसारके कर्त्ता चन्द्रकीर्त्ति

भी इसी कालमे हुए ।

हरिहर द्वितीयके पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र बुक्काराय द्वितीय (१४०४–६ ई०) और तदनन्तर द्वितीय पुत्र देवराय प्रथम (१४०६–१० ई०) और फिर देवरायका पुत्र विजय या वीरविजय (१४१०–१९ ई०) राजा हुए । इन राजाओके समयमे बहमनी सुलतानोके साथ बराबर युद्ध चलते रहे । १४०६ ई० मे तो बहमनी फिरोजने विजयनगरपर ही आक्रमण किया । चार मास तक वह राजधानीका घेरा डाले पड़ा रहा और एक बार नगरमे भी घुस आया, किन्तु निकाल बाहर किया गया । अन्ततः सन्धि हो गयी और वह वापस लौट गया । कहा जाता है कि देवराय प्रथमने अपनी कन्याका विवाह उसके साथ करनेका वचन दे दिया था, किन्तु मुसलमान बादशाहका देवरायने सम्मान नही किया, इसीसे शत्रुताका अन्त न हुआ ।

कुछ इतिहासकारोने इस कालमे विजयनगर राज्यमे दक्षिणभुजा और बामभुजा नामक दो जातियोका उल्लेख किया है और उन्हे राज्यके दो प्रधान वर्ग बताये है । वस्तुतः ये जातियाँ या वर्ग 'भव्य' और 'भक्त' शब्दोसे सूचित जैन और वैष्णव ही थे जिन्हे विजयनगरके राजागण अपनी दक्षिण और वाम भुजाएँ समझते और मानते थे । राज्यकी अधिकांश जनता एवं सम्भ्रान्त जन इन्हीं दो समकक्ष और प्रायः समसख्यक वर्गोमे बँटे हुए थे । हरिहर और बुक्काकी आदर्श नीतिका प्रभाव उनके वंशजोंपर भी हुआ, फलस्वरूप इस वंशके राजे, रानियाँ, राजकुमार और अन्य व्यक्ति तथा सामन्त सरदार राजकर्मचारी और प्रजाजन सभीने जिनधर्मको उन्मुक्त प्रश्रय दिया । राजा लोग व्यक्तिगत रूपसे अधिकतर शिवविरूपाक्षके उपासक थे किन्तु राज्यधर्म जैन और वैष्णव दोनों ही धर्म थे, और साथ ही विभिन्न धर्मोमे परस्पर सद्भाव और सहयोग था । १३९७ ई० के एक शिलालेखमे सेनापति इरुगपके साथी गुण्ड दण्डनाथने लिखाया था कि 'जिसकी उपासना शैव लोग शिवके रूपमे, वेदान्ती ब्रह्माके, बौद्ध बुद्धके,

नैयायिक कर्त्ताके, जिन शासनके अनुयायी अर्हत्के, और मीमांसक कर्मके रूपमे करते है वे केशवदेव तुम्हारी मनोकामना पूरी करें।' १४०० ई० में वीरशैव मतके प्रसिद्ध विद्वान् एकान्त-वासवेश्वरने भी त्रिविक्षित दानको अवज्ञा करनेवालोको शैवधर्मके साथ-साथ जैनधर्म द्रोहका पातकी बताया था। १५वी शतीके भी अनेक अभिलेखोमे विभिन्न धर्मोके अनुयायियो-द्वारा जिनेन्द्र, शिव, विष्णुकी एक साथ स्तुति इस कालमे सर्वधर्म-सम-भावकी परिचायक है। राजा लोग 'सकल वर्णाश्रमधर्म संरक्षक' अथवा 'सर्वधर्म-संरक्षक' कहलानेमें गौरव मानते थे। स्वयं महाराज देवराय प्रथमकी महारानी भीमादेवी जैनधर्मकी परम भक्त थी। श्रवणबेलगोलके मठाधीश पण्डिताचार्य उसके गुरु थे। १४१० ई० मे इस महारानीने इस तीर्थकी मंगायि बसदि (निर्माणकाल १३२५ ई०) मे शान्तिनाथकी प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी और दान दिया था। स्वयं राजाधिराज परमेश्वर देवराय प्रथम जैनाचार्य वर्धमान मुनिके पट्टशिष्य और महान् व्याख्याता धर्मभूषण गुरुके चरण पूजता था। कई तत्कालीन शिलालेखोमे इस नरेश-द्वारा जैनधर्मके प्रति उदार रहने और जैनगुरुओका आदर करनेके उल्लेख है। १४०७, १४०९, १४१०, १४१७ आदि वर्षोके अनेक शिलालेख श्रवणबेलगोल तीर्थपर अनेक राजपुरुषो एवं राज्यमान्य प्रतिष्ठित व्यक्तियो-द्वारा किये गये धार्मिक कृत्यो एवं निर्माण कार्योका उल्लेख करते है।

वीर विजयके पुत्र और उत्तराधिकारी देवराय द्वितीय (१४१९-१४४६ ई०) ने भी अपने पूर्वजोकी उदार नीतिका अनुसरण किया। १४२४ ई० मे उसने तुलुव देशका वराग ग्राम वहाँकी वराग–नेमिनाथ–बसदिको दान दिया। १४२६ ई० में इसी नरेशने स्वयं राजधानी विजयनगरकी 'पर्ण्णपूगीफल-आपणवीथी' (पान सुपारी बाजार) मे अर्हत् पार्श्वनाथका एक पाषाणनिर्मित सुन्दर चैत्यालय बनवाया था। इस राजाका उल्लेख अभिनव देवराज, वीरदेवराय, श्रीप्रताप देवराय आदि नामोसे भी हुआ है। इस राजाने हट्टगण्डिकी चन्द्रनाथ, मूडबिद्रीकी त्रिभुवन-

तिलक आदि कई अन्य जैन बसदियोंको भी भूमिदान दिये थे। १४३१-३२ ई० मे देवरायके एक उपराजे कार्कल नरेश भैरवरायके पुत्र एवं उत्तराधिकारी वीरपाण्डयने कार्कलमे जो लोकविश्रुत बाहुबलिकी उत्तुग मूर्ति प्रतिष्ठित करायी थी उसके समारोहमे महाराज देवराय स्वयं सम्मिलित हुए थे। जैनाचार्य नेमिचन्द्रने राजसभामे अन्य विद्वानोके साथ शास्त्रार्थ करके इस राजासे विजय-पत्र प्राप्त किया था। इस राजाके जैन होनेमे प्राय: कोई सन्देह नही है, अपने राज्यके प्रथम वर्ष (१४२० ई०) मे ही इसने बेलगोलके गोमट्टस्वामीको पूजाके लिए एक गाँव दिया था और अपने जैन महाप्रधान बैचप दण्डनायकको, जो सेनापति इरुगपका बड़ा भाई था, उसका उत्तरदायित्व सौपा था। ये दोनो भाई राजा हरिहर द्वितीयके समयसे ही राज्यके महत्त्वपूर्ण स्तम्भ रहते आये थे। १४२२ ई० मे महासेनापति इरुगपने भी बेलगोलके गोम्मटेशको पूजाके लिए गुरु श्रुतमुनिके उपदेशसे एक गाँव प्रदान किया था। १४४२ ई० मे इरुगप गोआ प्रान्तका शासक बना दिया गया था। इस प्रकार इस वीर, विद्वान्, विविध विपय पटु कुशल प्रशासक एवं प्रसिद्ध सेनानीने लगभग ६० वर्ष पर्यन्त राज्यकी सेवा की। राज्यका एक अन्य तत्कालीन सेवक महाप्रधान गोप चमूप या गोप महाप्रभु भी परम जैन था। १४०८ ई० के पूर्वसे ही वह राज्यका एक उच्च पदाधिकारी था। उसके पूर्वज भी राज्यमे उच्च पदोपर रहे थे। गोपने स्वगुरुके उपदेशसे कई मन्दिर बनवाये, दान दिये और अन्त समयमे घर-बार छोड़ त्यागी बनकर धर्मसाधन किया था। उसके अभिलेखोमे उसका उत्कट देश-प्रेम भी स्पष्ट झलकता है। मसनहल्लिका कम्पन गौड एक अन्य तत्कालीन उल्लेखनीय जैन सामन्त था। १४२४ ई० मे उसने स्वगुरु पण्डितदेवको गोम्मट पूजाके लिए दान दिया था। इस राज्यकालके अन्य अनेक अभिलेख उस कालमे जैनधर्मकी प्रभावना, राज्याश्रय एवं प्रतिष्ठित पुरुष-स्त्रियो तथा जनताकी जिनभक्ति और जैनगुरुओंके लोकोपकारी कार्योके उल्लेखोसे भरे पड़े है। जैन विद्वानोमे

जीवन्धरचरितके कर्त्ता भास्कर (१४२४ ई०), ज्ञानचन्द्राभ्युदय, कामनकथे, अनुप्रेक्षे, जिनस्तुति और तत्वभेदाष्टकके कर्त्ता कल्याणकीर्ति (१४३९ ई०), श्रेणिकचरित्रके कर्त्ता जिनदेव (१४४४ ई०), द्वादशानुप्रेक्षाके कर्त्ता विजय, महान्‌वादी विशालकीर्ति आदि उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त मध्यकालीन ग्रन्थकारोंमे लोक-प्रसिद्ध मल्लिनाथसूरि कोलाचल्ल, जो महाकवि कालिदास आदि प्राचीन संस्कृत-कवियोंके सर्व-प्रसिद्ध टीकाकार है, इन्ही सम्राट् वीरप्रताप प्रौढ़-देवरायके आश्रित थे। राजाके आदेशसे उन्होने वैश्य-वंशसुधार्णव नामक एक महान् सन्दर्भ ग्रन्थ निर्माण किया था। मल्लिनाथ शुद्ध अधार्मिक या असाम्प्रदायिक लौकिक साहित्यके सर्व-महान् जैन प्रणेता थे, मल्लिनाथके पुत्र-द्वारा भी मेघदूत आदि काव्योंकी कुछ टीकाएँ लिखे जानेका पता चला है। १४४६ ई० मे देवराय द्वितीयकी मृत्युका उल्लेख भी इसी वर्षके श्रवणबेलगोलके दो शिलालेखोंमे मिलता है।

देवराय द्वितीयका प्रतिद्वन्द्वी फिरोज बहमनी महाभयंकर एवं नृशंस हत्यारा था। जिस दिन अरक्षित असहाय जनताके २०००० स्त्री-पुरुष और बालकोंका वह वध कर लेता तीन दिन तक उत्सव मनाता। १४२५ ई० मे वारंगलके हिन्दू राज्यका पूर्ण अन्त उसीने किया। उसने विजयनगरपर भी कई बार आक्रमण किये। उसके उत्तराधिकारी अलाउद्दीनके साथ भी देवरायके युद्ध चले। राजाने अनुभव किया कि मुसलमानोंका अश्वारोही दल और धनुर्धर दल अधिक निपुण है। अत. उसने अपनी सेनाकी इन त्रुटियोंकी पूर्त्ति करनेका प्रयत्न किया, मुसलमानोंको भी सेनामे भर्ती किया और उन्हे प्रसन्न रखनेके लिए कुरानकी एक प्रति अपने सिंहासनके निकट रखवायी। राज्यके धन-जनकी क्षतिको रोकनेके लिए राजाने कुछ समयके लिए बहमनियोंको कर भी देना स्वीकार किया। फिर भी वह अपने समयका भारतका एक अत्यधिक शक्तिशाली और सबसे अधिक वैभवशाली नरेश था। कृष्णासे कन्याकुमारी पर्यन्त उसके राज्यका

विस्तार था। इटलीवासी पर्यटक निकोलो कोण्टी और ईरानी राजदूत अब्दुर्रजाक इसीके शासन-कालमे विजयनगर आये और उन्होंने राज्य एवं राजधानीके प्रताप, सौन्दर्य एवं वैभवकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

देवरायके उपरान्त संगमवंशकी अवनति होने लगी। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी मल्लिकार्जुन इम्मडिदेवराय (१४४७–६७ ई०) के समयमे १४५५ ई० से सालुव नरसिह राज्यका प्रधानमन्त्री हो गया। इम्मडि-देवरायके उपरान्त विरूपाक्षराय (१४६७–७८ ई०) और फिर पदियाराय (१४७९–८६ ई०) राजा हुए। ये शासक निर्बल थे और वे बाहरसे बहमनियोंके आक्रमणों तथा भीतर गृहकलह एवं षड्यन्त्रोसे ग्रस्त रहे। अतएव १४८६ ई० मे मन्त्री नरसिह सालुवने जो अत्यन्त शक्तिशाली हो गया था और उस समय चन्द्रगिरिका प्राय: स्वतन्त्र शासक भी था, अन्तिम नरेश पदियारायको गद्दीसे उतार दिया और स्वयं विजयनगरका राजा बन बैठा। नरसिह सालुब (१४८६–९२ ई०) ने थोड़ेसे समयमे ही दक्षिणके सम्पूर्ण तमिल देशकी फिर विजय करके राज्यकी प्रतिष्ठाका उद्धार किया और अपने सुशासनसे साम्राज्यकी जनताके हृदयपर ऐसी छाप बैठा दी कि युरोपवासियोंने बहुधा विजयनगर राज्यका 'नरसिहका राज्य' कहकर उल्लेख किया। मुसलमानोंके साथ भी उसके निरन्तर युद्ध चलते रहे। इस कालमे बहमनी राज्यका मन्त्री महमूदगवाँ अत्यन्त योग्य था किन्तु १४८२ ई० मे षड्यन्त्र-द्वारा उसका वध हुआ और उसके मरनेके थोड़े वर्ष बाद ही बहमनी राज्य पाँच टुकडोंमे विभक्त हो गया। इनमे-से बीजापुरके सुलतान ही विजयनगर राज्यके निकट पडोसी और आगेसे उसके प्रधान शत्रु हुए। शत्रु राज्यकी इस क्रान्तिके कारण नरसिहको अपनी स्थिति सुदृढ करने और शक्ति बढानेका अच्छा अवसर मिल गया। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी इम्मडि नरसिह (१४९२–१५०५ ई०) ने भी प्राय: शान्ति-पूर्वक राज्य किया, किन्तु उसके समयमे अरसनायक नामक एक तुलुव सामन्त शक्तिशाली हो उठा और

राज्यका सेनापति बन गया। १५०५ ई० में इम्मडि नरसिंहको मारकर उसने विजयनगरके इस दूसरे अर्थात् सालुव वंशका भी अन्त कर दिया और स्वयं राजा बन बैठा।

उपरोक्त ६० वर्षकी अवधिके बीच महाराज मल्लिकार्जुनके समय सन् १४५१-५२ ई० मे बारकुर राज्यके शासक गोपण ओडेयरने मूडबिद्रीकी होमाबसदिमे भैरादेवी मण्डप बनवाया था, और १४७२ ई० मे महाराज विरूपाक्षरायके प्रतिनिधि विट्टरस ओडेयरने उसी बसदिको भूमिदान दिया था। एक सहस्र स्तम्भोवाला यह मन्दिर अत्यन्त कलापूर्ण है और वह त्रिभुवन-तिलक चूडामणि कहलाता था। श्रवणबेलगोल तीर्थकी वन्दनाके लिए उस कालमे सुदूर मारवाड तकके यात्री आते थे। १४८६ ई० मे ऐसे ही एक मारवाडी सेठने इस तीर्थपर एक जिनमूर्ति निर्माण करायी थी। १४८८ और १४९० ई० मे भी अनेक मारवाडी व्यापारियो-के वहाँ आनेके उल्लेख है। उत्तरापथके इन जैन-व्यापारियोके बहु-संख्यामे गमनागमनसे विजयनगर राज्यके व्यापारको भी बडा प्रोत्साहन मिला था। १५०० ई० मे गोम्मटेशका महामस्तकाभिषेक असंख्य जन-समूहके बीच बडे समारोह-पूर्वक हुआ था जिसके लिए राज्यकी ओरसे सर्व-सुविधा प्रदान की गयी थी। १४७२ ई० के एक शिलालेखमें जिन-शासनकी प्रशंसा और पार्श्व-तीर्थेश्वर तथा पंच-परमेष्ठियोके साथ-साथ शम्भुको नमस्कार करना उस कालकी विजयनगरकी जनताकी उदाराशयताका परिचायक है। महाराज विरूपाक्षरायकी राजसभामे उद्भट विद्वान् एवं महान् वादी जैनाचार्य विशालकीर्त्तिने परवादी विद्वानोको शास्त्रार्थमें पराजित करके राजासे जयपत्र प्राप्त किया था। राजाके एक प्रमुख सामन्त अरगके शासक देवप्प दण्डनाथकी राजसभामे भी इस जैनाचार्यने जिनधर्मपर एक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान देकर ब्राह्मण विद्वानोकी भी श्रद्धा और विनय प्राप्त कर ली थी। विजयकीर्त्ति, विद्यानन्द, सनत्कुमारचरित एवं जीवन्धर-चरितके कर्त्ता बम्मरस (१४८५ ई०), जीवन्धर-अष्टपदीके कर्त्ता और

संगीतपुर नरेश संगमके आश्रित कोटीश्वर (१५०० ई०), धर्मशर्माभ्युदय–टोकाके कर्त्ता यश कीर्त्ति, नरपिंगलीके कर्त्ता शुभचन्द्र आदि इस कालके अन्य जैन विद्वान् और ग्रन्थकार थे।

१५०५ ई० मे अपने स्वामीकी हत्या करके अरसनायक राजा हुआ था किन्तु उसके इस कृत्यसे राज्यमे एक व्यापक विद्रोह भडक उठा और एक वर्षके भीतर ही वीर नरसिह भुजबल (१५०६–९ ई०) राजा हुआ। तदुपरान्त कृष्ण देवराय (१५०९–३० ई०) विजयनगरके सिंहासनपर आरूढ हुआ। विजयनगरके नरेशोमे यह सर्वाधिक प्रसिद्ध, प्रतापी, शक्तिशाली और महान् था। इसके राज्यकालमे विजयनगर साम्राज्य अपने चरमोत्कर्षको प्राप्त हुआ। राज्याभिषेकके उपरान्त लगभग डेढ वर्ष तक राजाने राजधानीमे ही रहकर अपनी स्थिति सुदृढ की, अपने कर्त्तव्यो, उत्तरदायित्व और समस्याओका सूक्ष्म अध्ययन किया तथा राज्यकी अभिवृद्धिकी योजनाएँ बनायी। तदनन्तर निश्चित कार्य-क्रमके अनुसार उसने कौशलसे अपनी विजय-यात्रा प्रारम्भ की और थोडे ही समयमे नेल्लोर जिलेके सुदृढ उदयगिरि दुर्गको हस्तगत कर लिया और फिर अन्य अनेक दुर्ग विजय किये। उसका सर्व-प्रसिद्ध युद्ध १५२० ई० का रायचूरका युद्ध था जिसमे उसने बीजापुरके सुलतान इस्माइल आदिलशाहके ऊपर बड़ी शानदार विजय प्राप्त की। उसने वह दुर्ग तो छीना ही, स्वयं बीजापुरपर भी अधिकार कर लिया। इस युद्धमे उसके सोलह हजार सैनिक काम आये। उसने बहमनियोकी प्राचीन राजधानी कुलबर्गाको भी भूमिसात् कर दिया। उसके सैनिकोने बीजापुरको लूटा और क्षत-विक्षत किया। किन्तु सम्राट् कृष्णराय एक उदार-चेता शूरवीर नरेश था। उसने अपनी विजयका भी मानवता एवं दयाके साथ उपयोग किया। उसने शत्रुकी प्रजाको नही सताया, निहत्त्यो और आत्म-समर्पण करनेवाले शत्रु-सैनिकोको भी अभय दिया, मुसलमानो-जैसी क्रूरता और बर्बरताका उसने किसी अशमे भी प्रदर्शन नही किया। पुर्तगाली इतिहास-

कार नूनिज़ने कृष्णदेवके इस युद्ध, विजय और व्यवहारका आँखो देखा सजीव वर्णन किया है।

१५२२ ई० मे पुर्तगाली डोमिगो पाइसने इस राजाकी शक्ति, प्रताप और चरित्रकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसने लिखा है कि—'इस सम्राट्-की राजराजेश्वर महाराजाधिराज आदि उपाधियाँ केवल इसीलिए नही है कि वह भारतके सभी नरेशोसे अधिक शक्तिशाली और वैभव-सम्पन्न है, उसकी सेना अतुल है, उसका राज्य-विस्तार समुद्रसे समुद्र पर्यन्त सर्वाधिक विशाल है, सभी नरेश उसे अपना अधिपति मानते है और वह उन सबसे अधिक बलशाली है, वरन् इस कारण भी है कि वह स्वयं अत्यन्त शूर-वीर, उदारचेता और सर्वगुण-सम्पन्न है, एक महान् सम्राट्के सभी गुण उसमे है।' स्मिथ आदि अँगरेज इतिहासकारोने भी इस नृपके चरित्रकी सराहना की है। एक अन्य इतिहासकारके शब्दोमे—'इस राजा-की धार्मिकता एवं समदर्शिता भी सर्व-प्रसिद्ध थी। उसका व्यक्तिगत झुकाव वैष्णव धर्मकी ओर होते हुए भी वह सब भारतीय धर्मोका समान रूपसे आदर करता था। पतित शत्रुओ और विजित प्रदेशोकी जनताके साथ दयापूर्ण उदार व्यवहार और स्वयंके युद्ध पराक्रमने उसे शत्रु, मित्र, स्वप्रजा और सामन्त सरदारो सभीका प्रिय बना दिया था। विदेशी राजदूतो एवं पर्यटकोके स्वागत-सम्मान एवं अपना प्रभावशाली व्यक्तित्व, प्रसन्न वदन, विनम्र भाषण और भद्रव्यवहार उसके पवित्र एवं उत्कृष्ट जीवनके परिचायक थे। साहित्य-प्रेम, विद्वानोके आदर, धर्मभक्ति और प्रजा-वात्सल्यमे वह अद्वितीय था। देवालयो, गुरुओ और ब्राह्मणोंको इस दानवीरने अपार धन दानमे दिया था। इस प्रकार इतिहासके पृष्ठोको समुज्ज्वल करनेवाला यह सम्राट् दक्षिण भारतके नरेशोमे सर्वमहान् था।'

जैनधर्म भी इस नरेशकी उदारता एवं धार्मिकताके लाभसे वंचित नही रह सकता था, उसकी दृष्टिमे राज्यके सर्व धर्म समान थे। १५१६ ई० में उसने चिंगलपुट जिलेमें स्थित त्रैलोक्यनाथ-बसदिको दो ग्राम भेट

किये थे। १५१९ ई० मे फिर उसी मन्दिरको और दान दिया था। १५२८ ई० मे बेलारी जिलेकी एक अन्य बसदिको प्रभूत दान दिया था और शिलालेख अंकित कराया था, उसने मूडबिद्रीकी गुरु-बसदिको भी स्थायी वृत्ति दी थी। १५३० ई० के एक जैन-शिलालेखमे स्याद्वादमत और जिनेन्द्रके साथ-साथ आदि वराह और शम्भुको नमस्कार करना इस नरेश-द्वारा राज्यकी परम्परा नीतिके अनुसरणका परिचायक है। १५०९ ई० मे उसके सामन्त चंगाल्व नरेशके राजमन्त्री चेन्न-बोम्मरसने बेलगोलपर एक सुन्दर मण्डप बनवाया था। इसी कालमे चंगाल्व-नरेशका सुप्रसिद्ध सेनापति मंगरस था। वह बडा वीर और पराक्रमी था तथा अपने पिता महाप्रभु विजय-पालकी ही भाँति परम जैन था, साथ ही विद्वान् और कवि भी था। उसने सम्राट्के कई युद्धोमे वीरता दिखायी थी, कई जिनमन्दिर और सरोवर निर्माण कराये थे तथा जयनृपकाव्य, प्रभंजन-चरित, नेमिजिनेशसंगति, सम्यक्त्वकौमुदी (१५०९ ई०), सूपशास्त्र आदि ग्रन्थोकी कन्नडीमे रचना करके कन्नड साहित्यमे अपना नाम अमर किया था। कृष्णदेवके सामन्त संगीतपुरके सालुव-नरेश भी बडे जिनभक्त थे, इसी प्रकार कार्कलके भैररस-नरेश थे। एक अन्य महिला सामन्त एवं प्रान्तीय शासक काललदेवी (१५३० ई०) भी बडी जिनभक्त थी। १५१७ ई० मे चामराज नगरके शासक वीरय्य नायकने वहाँ एक जिनमन्दिर बनवाकर दान दिया था। गेरुसप्पेके ओडेयर शासक भी परम जैन थे, १५२३ ई० मे इन्होने कई मन्दिर बनवाये और दान दिये। जैनगुरु वादी विद्यानन्द इस कालमे सर्व-प्रसिद्ध थे। महाराज कृष्णदेवकी राजसभामे विभिन्न दर्शनो एवं मतोके विद्वानोके साथ कई बार शास्त्रार्थ करके वे संसार-प्रसिद्ध हो गये थे। महाराज स्वयं उनका बडा आदर करते थे। अनेक राज-सभाओमे इस गुरुने वाद विजय की थी। इस राज्यकालके प्रसिद्ध कन्नडी जैन ग्रन्थकारोमे भारत, शाब्दाविलास,

नेमीश्वरचरित और वैद्य-सागत्यके कर्त्ता साल्व, चन्द्रप्रभुचरितके कर्त्ता दोडय्य, अश्ववैद्यके कर्त्ता बाचरस आदि उल्लेखनीय हैं जिन्होंने राज्याश्रयमें साहित्य निर्माण किया। इस चिरस्मरणीय महान् नरेशके शासनकालमें मध्यकालीन भारतीय संस्कृतिकी सर्वतोमुखी उन्नती हुई।

कृष्णदेवकी मृत्युके उपरान्त उसका भाई अच्युतराय (१५३०-४२ ई०) राजा हुआ। वह दुर्बल चरित्र, कायर एवं अत्याचारी कहा जाता है। मुद्गल और रायचूरके दुर्ग, जिन्हें कृष्णदेवने कठिनाईसे प्राप्त किया था, उसके हाथसे छिन गये। राज्यमें स्वयं आन्तरिक षड्यन्त्र चलने लगे, एक पक्षने बीजापुरके सुलतानको राजधानीमें ही ससैन्य बुला लिया। विपुल द्रव्य देकर ही उसे वापस लौटाया जा सका। अच्युतरायकी मृत्युपर उसका भतीजा सदाशिवराय (१५४२-१५७० ई०) जो एक दूसरे भाईका पुत्र था, राजा हुआ। यह नाममात्रका ही राजा रहा। राज्यकी समस्त शक्ति उसके प्रधानमन्त्री एवं सेनापति रामराय-सालुव (रामराजा) के हाथमें चली गयी।

रामराजा कृष्णदेवके सुयोग्य मन्त्री तिम्मराज सालुवका पुत्र था और विवाह सम्बन्ध-द्वारा भी राजवंशसे सम्बन्धित था। अब वह शनैः-शनैः वास्तविक शासक बन बैठा। १५४३ ई० में रामराजाने अहमदनगर और गोलकुण्डाके सुलतानोंके साथ यह सन्धि की कि तीनों मिलकर बीजापुरपर आक्रमण करें, किन्तु बीजापुरके सुयोग्य मन्त्री असदखाँके कौशलसे यह योजना निष्फल हुई। १५५८ ई० में रामराजाने बीजापुरको अपनी ओर मिलाया और अहमदनगरपर धावा बोल दिया। विजयनगरकी सेनाने बीजापुर राज्यमें निर्दयतापूर्वक लूट-मार की। स्वयं रामराजा अपने सहयोगी मुसलमान सुलतानोंसे खुले रूपमें घृणा करता था। और भी राजनैतिक कूट दाँव-पेच चलते रहे। अन्ततः सब सुलतानोंने यह निश्चय किया कि मिलकर पूरी शक्ति लगा दें और विजयनगरका अन्त कर दें तभी उनकी रक्षा है वर्ना विजयनगरवाले दक्षिणके सब मुसलमानी

राज्योको हडप जायेगे। १५६४ ई० मे यह समझौता पक्का हुआ। केवल बरारका सुलतान इसमे सम्मिलित नही हुआ। उसी वर्षके अन्तमे अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा और बीदरके सुलतान अपनी सेनाओके साथ विजयनगरकी ओर चल पडे, और जनवरी १५६५ ई० मे कृष्णा नदीके उत्तरमे बीजापुरकी हद्दमे ही स्थित तालिकोटा नगरमे वे सब एकत्रित हुए। विजयनगरवाले आत्म-विश्वस्त और असावधान थे। वे समझते थे कि मुसलमान उनका कभी कुछ न बिगाड़ सके, अब भी कुछ न कर सकेंगे। राजधानी और राज्यमे सब कार्य पूर्ववत् शान्तिसे चल रहे थे। विजयनगरकी सैन्य-शक्ति भी सर्वोपरि थी। जहाँ मुसलमानोके लिए युद्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था, हिन्दू इसे खेल समझ रहे थे। किन्तु विश्वासघात, जासूसी और षड्यन्त्र भीतर-ही-भीतर उनकी शक्तिको खोखला कर रहे थे। रामराजा विशाल सेनाके साथ रणक्षेत्रमे उतरा, कृष्णाके दक्षिण और तालिकोटासे २५-३० मीलकी दूरीपर संग्राम छिड़ा। रामराजा वीरताके साथ लड़ा, एक बार तो मुसलमानोके पैर उखड़ गये किन्तु वे सँभले और प्राण हथेलीपर लेकर पिल पड़े। रामराजा पकड़ा गया। अहमदनगरके सुलतानने अपने हाथसे तुरन्त उसका वध कर दिया। विजयनगरकी सेनाके पैर उखड़ गये। मुसलमानोंकी बन आयी और वे राजधानीके ऊपर दौड़ चले। विजयनगरके एक लाख सैनिक खेत रहे और राजधानी विजयनगरको मुसलमानोने इस बुरी तरह लूटा और विध्वंस किया कि जिसका अन्य उदाहरण नही है। देव-प्रतिमाओंकी पवित्रता, शिल्पकृतियोकी कलात्मकता, स्त्रियोके सतीत्व, बच्चोकी मासूमियत, वृद्धोकी असहायता, ग्रन्थ-भण्डारोंके महत्त्व, किसीकी भी रक्षा न हुई। उनकी धर्मान्धबर्बरता, नृशंसता और क्रूरता पैशाचिक थी। प्रत्येक मुसलमान सिपाही इस खुली लूटसे मालदार होकर लौटा। पाँच महीने तक विजयनगरकी यह लूट-मार जारी रही। अलकापुरी-सदृश इस नगरीके धन-जन-भवन और प्रत्येक वस्तुका सर्वथा नाश करके ही दम लेनेपर आततायी

तुले हुए थे। अँगरेज विद्वान् सिवेलके शब्दोंमे . "विश्वके सम्पूर्ण इतिहासमे ऐसे महान् एवं उत्कृष्ट नगरके इस प्रकारके प्रलयंकारी आकस्मिक और भयकर विनाशका दूसरा उदाहरण नही मिलता।"

पराजयका समाचार सुनते ही रामराजाका भाई तिरुमल राजा सदाशिवके साथ राजधानीको छोडकर भाग गया था और इन दोनोने पेनुगोण्डामे जाकर शरण ली थी। १५७० ई० मे तिरुमल स्वयं राजा बन बैठा। विजयनगरका यह चौथा वंश-परिवर्तन था। उसके बाद उसका पुत्र रंगा या श्रीरंगराय प्रथम (१५७३–१५८५ ई०) राजा हुआ। तदनन्तर रंगाका भाई वेकट प्रथम (१५८६–१६१७ ई०) इस चौथे वंशका सर्व-प्रसिद्ध राजा था। चन्द्रगिरिको उसने अपनी राजधानी बनाया। राज्य अत्यन्त सकुचित हो ही चुका था किन्तु अब सुल्तानोंकी ओरसे कोई विशेष खटका नही था। अतएव इसने शान्तिसे राज्य किया। इसके आश्रयमे तैलेगु-काव्य और वैष्णव-साहित्यको अच्छा प्रोत्साहन मिला। तदुपरान्त वेंकटराय द्वितीय (१६१७–१६४१ ई०) राजा हुआ। उसीके एक नायकने १६३९ ई० मे डे नामक अँगरेज व्यापारीको कुछ स्थान दे दिया था जहाँ मद्रास बसा। उसका पुत्र रगराय द्वितीय (१६४२–१६८४ ई०) था, उसने अँगरेजोंके पक्षमे वह पट्टा स्वीकृत कर लिया। अब ये छोटे-से शासक रह गये थे। विजयनगरके छिन्न-भिन्न होनेसे और भी कई ऐसे ही छोटे-छोटे राज्य सुदूर दक्षिणमे बन गये थे। रंगा द्वितीयके वशजोमे मदुराके नायक कुछ प्रसिद्ध हुए इनमे भी तिरुमल नायक सुन्दर भवन-निर्माताके रूपमे प्रसिद्ध हुआ। वर्तमान शताब्दीमे आनेगुण्डीका अन्तिम राजा रामराजाके वंशका अन्तिम प्रतिनिधि था।

कृष्णदेवके उपरान्त तालिकोटा युद्ध पर्यन्तका २५ वर्षका काल साम्राज्यकी अन्तिम चमक-दमकका था। राज्यके सर्वे-सर्वा रामराजाका सारा ध्यान मुसलमान सुलतानोके साथ तरह-तरहके कूटनीतिक दाँव-पेच खेलने और अपनी सैन्य-संख्याको बढानेकी ओर था। इस कालमे धर्म,

साहित्य, कला आदिकी ओर ध्यान देनेका राजाओ और उनके सामन्तोको कोई अवकाश न था। अत. उस कालके जैनधर्मके इतिहासमे कतिपय जैन छोटे-मोटे सामन्तों या उपराजाओं और सेठ-व्यापारी आदि प्रजाजनोके ही कतिपय धार्मिक कार्योका उल्लेख मिलता है। इस बीचके शिलालेख एवं साहित्यिक रचनाएँ भी विरल ही है। महाराज अच्युतरायके समयमे १५३१ ई० मे मुदगिरिकी जैन बसदिको और १५३३–३४ ई० मे तमिल देशकी कुछ अन्य बसदियोको दान दिये गये थे। सदाशिवरायके शासनारम्भमे, १५४२–४३ ई० मे, तुलुव देशकी कुछ बसदियोको दान दिये जानेके उल्लेख मिलते है। १५६० ई० मे गेरुसप्पेके जैन राजा सालुव इम्मडिदेवरायके आश्रयमे उसके राजसेठ तथा अन्य धनी व्यापारियोने उस नगरमे कई सुन्दर जिनालयोका निर्माण कराया था और अन्य धार्मिक कार्य किये थे। इस कालमे श्रवणबेलगोल तीर्थका प्रबन्ध भी गेरुसप्पेके जैनसेठोके ही हाथमे रहा प्रतीत होता है, और उसका प्रारम्भ उपरोक्त सालुवराज-द्वारा १५३९ ई० के लगभग गोम्मटेश्वरका महामस्तकाभिषेक महोत्सव मनाये जानेसे हुआ प्रतीत होता है। इस कालमे मूडबिद्री और श्रृंगेरीकी जैन-बसदियोंको भी दान दिये जानेके कुछ उल्लेख मिलते है। इसी युगमे अनेक राजाओसे सम्मानित महान् वाद-विजेता, वादो-विद्यानन्दिने यत्र-तत्र जैन-शासनका उत्कर्ष किया। श्रीरंगपट्टनमे ईसाई पादरियोंको भी शास्त्रार्थमे इन्होने पराजित किया था। ये पूर्वकालके प्रसिद्ध वादी विशालकीर्त्तिके शिष्य थे। काव्यसार नामक ग्रन्थ इन्हीकी कृति बतायी जाती है। १५५७ ई० मे रत्नाकरनन्दिने त्रिलोकशतक नामका दस हजार श्लोक-प्रमाण ग्रन्थ ९ मासमे रचकर तैयार किया था, भरतेश्वरचरित और पदजाति इनकी अन्य रचनाएँ है। १५५९ ई० मे नेमन्नने ज्ञानभास्करचरित्र और बाहुबलिने १५६० ई० मे नागकुमारचरित्रकी रचना की थी। इस कालमे भी जैनोने अपनी सहिष्णुता और सहन-शीलताके कारण शैवो और वैष्णवोके साथ सद्भाव बनाये रखा।

उपरोक्त विवरणसे स्पष्ट ही है कि साहित्य और कलाके क्षेत्रमे इस कालके जैन कुछ अधिक नही कर पाये।

१५६५ ई० के विनाशकारी युद्धके फलस्वरूप राजधानीके साथ-साथ साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न हो गया। विजयनगरके प्राणघातक सुलतानोने जितना बन सका उसका धन-जन और क्षेत्र परस्पर बाँटकर हडप लिया। किन्तु फिर भी १७वी शताब्दीके अन्त तक लगभग सवा-सौ वर्ष पर्यन्त रामराजाके भागे हुए वशज चन्द्रगिरिको राजधानी बनाकर विजयनगर राज्यके नाम और उसकी परम्पराको चलाते रहे। उत्तरमे मुगल सम्राट् अकबरके अभ्युदय, विजयनगरकी ओरसे निश्चिन्तता, लूटमे प्राप्त अतुल धन आदि कारणोसे दक्षिणके सुलतान अब परस्परकी फूट, झगडो तथा अपनी-अपनी रंगरेलियोमे फँसकर असावधान हो गये। अतः विजयनगरके ये उत्तरवर्ती राजे प्राय. शान्तिपूर्वक ही तमिल, तुलुव और दक्षिण कर्णाटकके अपने छोटे-से साम्राज्यपर राज्य करते रहे। ऐसी परिस्थितिमे धर्म, साहित्य और कलाके क्षेत्रोमे भी वहाँ अधिक कार्य हुआ।

१५७९ ई० मे कार्कलके जैन नरेशो और राज्यके जैन नागरिकोने एक विद्यापीठ स्थापित किया और छात्रोके लिए अनेक वृत्तियाँ प्रदान की जिनका 'विचारकर्त्ता' गुरु ललितकीर्ति भट्टारकको बनाया गया। उसी वर्ष विजयनगर-नरेश रंगराय प्रथमके एक सामन्त एव प्रादेशिक शासक वल्लभराज महाअरसने, जो कि राजय्यदेव महाअरसका पुत्र और महामण्डलेश्वर श्रीपतिराजका पौत्र था, अपने प्रदेशके जैनसेठोकी प्रार्थनापर हेग्गरबसदिके लिए भूमिदान दिया था। १५८३–८५ ई० के कई अभिलेखोसे प्रकट होता है कि इस कालमे गेरुसप्पेके जैन भट्टारक वीरसेन जो भट्टारक गुणभद्रके शिष्य थे बड़े प्रभावशाली और धनवान् थे। कृषि करानेके लिए भी उन्होने बहुत-सी भूमि कई नायको और सेठोसे खरीदी थी। १५८५ ई० मे ब्राह्मणोंके प्रमुख चिकमय्यके पुत्र पण्डितय्यने चिक्कहनसोगेकी प्राचीन आदिनाथ-बसदिमें अपने गुरु चारुकीर्ति–पण्डितदेवके उपदेशसे

भगवान् आदीश्वर, शान्तिनाथ और चन्द्रनाथकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थी। विजयनगर-नरेश वेंकटराय प्रथम (१५८६–१६१७ ई०) की राजसभामे जैनगुरु भट्टाकलंकने सारत्रय और अलंकार-त्रयका व्याख्यान करके कीर्ति समार्जित की थी। कर्णाटक-शब्दानुशासन नामक प्रसिद्ध कन्नडी व्याकरण भी इन्हीकी कृति है। १५८६ ई० मे कार्कल-नरेश इम्मडि भैरवेन्द्र ओडेयरने कार्कलमे सुप्रसिद्ध चतुर्मुख बसदिका निर्माण कराया था और १५९८ ई० मे उसी तथा अन्य बसदियोंको दान दिये थे। इसी वर्षका एक अन्य शिलालेख जिन-शासनकी प्रशंसा और वीतरागदेवके साथ-साथ शम्भुको नमस्कार करनेसे तत्कालीन जैनोंकी सहिष्णुताका परिचायक है। १६०४ ई० में पाण्डच-नरेशके भाई तिम्मराजने वेणूरमे वेलगोलके मठाधीश चारुकीर्ति पण्डितदेवके उपदेशसे गोम्मटेश बाहुबलिकी उत्तुग विशालकाय प्रतिमा निर्मित करायी थी। यह मूर्ति दक्षिणकी सुप्रसिद्ध विशालकाय गोम्मट मूर्त्तियोमे तीसरी है। मूर्त्ति-प्रतिष्ठापक तिम्मराज गंगकालीन प्रसिद्ध चामुण्डरायका वंशज था। १६१० ई० मे महाराज वेकटरायके प्रान्तीय शासक एवं राज-प्रतिनिधि बोम्मन हेगडेने मेलिगेमे अनन्त-जिनालयकी स्थापना की थी। १६१२ ई० में श्रवण-बेलगोलके गोम्मटेशका महामस्तकाभिषेक हुआ था। १६३८ ई० के एक लेखसे ज्ञात होता है कि इस कालमे प्रसिद्ध जैन-केन्द्रोमे भी लिंगायत आदि अजैन मतावलम्बी जैनमन्दिरोमे अपनी मूर्तियाँ या चिह्न आदि स्थापित करके उनपर अधिकार कर लेनेका प्रयत्न यदा-कदा करते रहते थे, किन्तु उनके मुखिया और उत्तरदायी नेता ऐसी प्रवृत्तियोंका अनुमोदन नही करते थे, यहाँतक कि उन्होने सर्वसम्मतिसे यह विज्ञप्ति प्रचारित कर दा थी कि 'जो कोई जिनधर्मका विरोध या अनादर करेगा वह महामहत्तु (वीरशैवधर्मके सबसे बड़े अध्यक्ष) के चरणोसे बहिष्कृत कर दिया जायेगा, शिव और जंगमका द्रोही माना जायेगा और विभूति, रुद्राक्ष तथा काशी एवं रामेश्वर तीर्थोके लिंगके प्रति अभक्त समझा जायेगा।'

निस्सन्देह यह निर्णय प्रभावशाली जैनोंके आन्दोलनके फलस्वरूप किया गया था, तथापि तत्कालीन वीर शैव मताध्यक्षोंके विवेक और सदाशयताका परिचायक तो है ही। १६४६ ई० मे कार्कलके गोम्मटेशका महामस्तकाभिषेक उत्सव हुआ था। विजयनगर कालमें वेलूर जिला स्थापत्य-कलाके सर्वोत्कृष्ट विकासका एक प्रमुख केन्द्र था। अनेक सुन्दर एवं कलापूर्ण जैन, वैष्णव एवं शैव देवालयोंसे यह प्रदेश अलंकृत था। १६८० ई० में भी वहाँके भट्टारक लक्ष्मीसेनकी प्रेरणासे विमलचैत्य नामक एक सुन्दर जिनालयका निर्माण हुआ था। ये जैनगुरु स्वयं भी बड़े मठाधीश थे और अनेक राजाओंसे सम्मानित हुए थे।

इस कालके जैन विद्वानों और साहित्यकारोंमें उल्लेखनीय है—विजयकुमारचरितके कर्त्ता श्रुतकीर्ति (१५७५ ई०), चन्द्रप्रभुषट्पदीके कर्त्ता दोड्ड (१५७८ ई०), शृंगारकथेके कर्त्ता पद्मरस (१५९९ ई०) जो भट्टाकलंकके शिष्य थे और जो प्रसिद्ध मल्लिनाथकी भाँति ही ऐसे असाम्प्रदायिक थे कि छत्रत्रयपुरके चन्द्रनाथ-जिनालयमे रचे गये अपने उपरोक्त ग्रन्थके प्रारम्भमे मंगल रूपमें इन्होंने शिव-पार्वती और गणेशकी भी स्तुति की है, प्रसिद्ध व्याकरण कर्णाटक-शब्दानुशासनके कर्त्ता भट्टाकलंक, दशभक्त्यादिशास्त्र एवं कई शिलालेखोंके रचयिता बहुभाषाविज्ञ एवं विविध-विषयपटु वर्धमान, नानार्थरत्नाकर नामक कोषके कर्त्ता देवोत्तम (१६०० ई०), रत्नकराधीश्वरके कर्त्ता हंसराज (१६०० ई०), कर्णाटक संजीवनके कर्त्ता शृंगारकवि (१६०० ई०), सम्यक्त्वकौमुदीके कर्त्ता पायनवर्णी (१६०० ई०), वज्रकुमारचरितके कर्त्ता ब्रह्मकवि (१६०० ई०), सनत्कुमारचरितके कर्त्ता पायनमुनि (१६०६ ई०), भुजबलिचरितके कर्त्ता पंचबाण (१६१४ ई०), मैसूरनरेश चामराजके आदेशपर हयसारसमुच्चय नामक अश्वशास्त्रके कर्त्ता पद्मण्ण पण्डित (१६२७ ई०), गुरुदत्तचरितके कर्त्ता देवरस (१६५० ई०) इत्यादि। वीरशैव-साहित्य और शैव-वैष्णव मन्दिरोंका भी इस कालमे निर्माण हुआ।

विजयनगरके इतिहासके प्रधान आधार इटलीवासी पर्यटक निकोलो कोण्टी (१४२० ई०), हिरातके सुलतान शाहरुखके विद्वान् राजदूत अब्दुर्रज़ाक (१४४३ ई०), पुर्तगाली लेखक डोमिंगो पाइस (१५२२ ई०) और नूनिज (१५३५ ई०) आदि कई विदेशी यात्रियों-द्वारा लिखे गये आँखों देखे वर्णन, फ़रिश्ता आदि मध्यकालीन मुसलमान इतिहासकारो-द्वारा दिये गये विवरण, तत्कालीन शिलालेख जिनमे जैन शिलालेखोकी ही अधिकता है, तत्कालीन साहित्य ग्रन्थ—इनमे भी कन्नडी भाषाकी जैन-धार्मिक एवं लौकिक रचनाओंकी ही बहुलता है, स्वयं राजधानी विजयनगर और उसके आस-पास दूर-दूर तक फैले हुए भग्नावशेष, मुसलमानोके प्रकोपसे बच रहनेवाले कन्नड, तुलुव, तमिल प्रदेशोके जैन, शैव, वैष्णव तीर्थ एवं मन्दिर आदि और इनके आधारपर वर्तमान शतीके प्रारम्भमे लिखे गये राबर्ट सिवेलकी पुस्तक तथा एच० कृष्णा शास्त्रीके लेख है। तदुपरान्त भी अध्ययन और अनुसन्धान चलता रहा है और अनेक विद्वानोने इस सम्बन्धमे कार्य किया है।

उपरोक्त साधनोंसे पता चलता है कि राजधानी विद्यानगरी (विजयनगर) अपने समयके सम्पूर्ण विश्वमे अद्वितीय नगरी थी। ६० मीलके घेरेमे फैली हुई, एकके भीतर एक सात परकोटोसे घिरी हुई, अनेक सरोवरों, वापी, कूप, तडाग एवं जलप्रणालियो, उपवनों, उद्यानो, उत्तुंग कलापूर्ण जैन, शैव, वैष्णव-देवालयों, अत्यन्त दर्शनीय राजप्रासादों (एक भवन निरे हाथी दाँतका ही बना हुआ था), सामन्त सरदारो एवं धनी नागरिकोंके सुन्दर भवनों, पचासो हाट-बाजारों और वीथियों आदिसे समलंकृत एक लाख घरो और लगभग दस लाखकी जन-संख्यावाली इस अलकापुरी-सदृश महानगरीमे मणि-मुक्ता और सोने-चाँदीसे लेकर छोटीसे छोटी प्रत्येक वस्तुका खुला व्यापार होता था। लोग ईमानदार थे, चोरी-डाकेका भय नही था, प्रजा प्रसन्न, सम्पन्न, सुखी और शौक़ीन थी। धर्म, कला और साहित्यमे विद्यानगरी अपने नामको चरितार्थ करती

थी। सम्राट् और उसके दरबारकी शान निराली थी, राजकोष स्वर्ण, रजत, मणि, मुक्तासे पूर्ण था। वेषभूषा, रीति-रिवाज, आचार-विचार सुचारु एवं सुसंस्कृत थे। सम्राट्के पास पदातिकों, अश्वारोहियों और विशाल हाथियोंकी लगभग दस लाख सेना सदैव तैयार रहती थी। समस्त साम्राज्य लगभग दो-सौ प्रान्तोंमें विभक्त था जिनपर सम्राट्की ओरसे उसके वीर सामन्तगण शासन करते थे। साम्राज्य-भरमें घनी आबादी थी, कृषि समुन्नत दशामें थी और जल-थल मार्गोंसे देशी-विदेशी व्यापार अत्यन्त बढ़ा-चढ़ा था। विविध प्रकारके उद्योग-धन्धे फल-फूल रहे थे। प्रजाकी समृद्धिके कारण राज्य-कर अधिक होते हुए भी सरलतासे प्राप्त हो जाते थे। दण्डविधान आधुनिक युगकी अपेक्षा कड़ा था, किन्तु साथ ही राज्यमें भयानक अपराधोंकी विरलता थी। आपसी झगड़ोंका निर्णय प्रायः द्वन्द्वयुद्धसे भी किया जाता था। नगरमें नर्तकियों और वेश्याओंकी प्रचुरता थी। १६वीं शताब्दीमें इस महानगरीमें पशु-हिंसा, कतिपय हिन्दू-मन्दिरोंमें पशुबलि, जनतामें मांसाहार और मद्यपान आदिका भी बहुत प्रचार बढ़ गया था। विजयनगरके सम्राटोंने संस्कृत, कन्नड और तेलेगु तीनों ही भाषाओंके साहित्यको प्रोत्साहन दिया, वेद-भाष्यकार सायण और उसका भाई माधव बुक्का और हरिहर द्वितीयके मन्त्री रहे थे। नरसिंह सालुवने तैलेगु कवियोंको बहुत प्रोत्साहन दिया। कृष्णदेव स्वयं एक अच्छा कवि और लेखक था तथा विद्वानोंका आदर करता था। उसका राजकवि अलसानिपेद्दन अपने समयका सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार था। रामराजा और उसके भाई भी सुशिक्षित एवं विद्वान् थे। उन्होंने श्रीवैष्णव धर्मको बहुत प्रोत्साहन दिया। कलाके क्षेत्रमें विजयनगरके सम्राट् प्रारम्भसे ही अत्यन्त उत्साही थे। स्थापत्य, मूर्त्त, चित्र, संगीत आदि सभी कलाओंका उनके प्रश्रयमें विकास हुआ। अनेक दुर्ग, महल, मन्दिर, मूर्त्तियाँ, बाँध, नहरें आदि बने जिनके कारण विजयनगर-सम्राट् भारी निर्माता कहलाये। कृष्णदेवका हजारा

रामस्वामी मन्दिर (१५१३ ई०) अपने प्रस्तरांकनोके लिए प्रसिद्ध है। तत्कालीन विदेशी यात्रियोंने विजयनगरके शिल्पियों, रूपकारों, चित्रकारो तथा अन्य कलाकारोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इस सबके अतिरिक्त ये सम्राट् स्वदेशभक्त, सर्वधर्म-सहिष्णु, उदाराशय और प्रजावत्सल भी थे, अत प्रजाके सभी वर्गोने साम्राज्यके बहुमुखी उत्कर्षमे योग दिया।

मध्यकालीन भारतीय राजनीतिकी यह अद्वितीय सृष्टि विजयनगर और उसका साम्राज्य तालिकोटाके युद्धमे भस्मसात् हो गये। लगभग सौ-सवासौ वर्ष तक चन्द्रगिरिके महाराजाओने उसकी स्मृतिको सजीव बनाये रखा। १७वी शतीके अन्तमे वह स्मृति भी निर्जीव हो गयी। किन्तु निर्जीव होनेसे पूर्व ही वह मराठा वीर शिवाजीको राष्ट्रोद्धारकी प्रेरणा देनेमे सफल हो चुकी थी। महाराष्ट्रमे जब शिवाजी दक्षिण और उत्तरके मुसलमान-नरेशोके विरुद्ध विद्रोह एवं संघर्ष करके स्वदेशी स्वधर्मी राज्यकी स्थापनाका उपक्रम कर रहे थे तो चन्द्रगिरिका छोटा-सा अवशिष्ट विजयनगर-साम्राज्य भी बिखरकर तमिल, तैलेगु और दक्षिणी कन्नड प्रान्तके अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्योंमे परिणत हो गया था। इस कालमे राजनैतिक पतनके फलस्वरूप नैतिक पतन भी हुआ जो इन सामन्त सरदारोके व्यवहारमे चरितार्थ हुआ। इन छोटे-छोटे राजाओंमे अधिकतर वीर-शैव, सद्शैव या श्रीवैष्णव थे और तत्कालीन शैव वैष्णव ग्रन्थोमे ही पता चलता है कि इन्होने जैनधर्म और उसके अनुयायियोपर अमानुषिक अत्याचार किये, बारकुरु, मारुडिगे, कल्याण आदि नगरोमे एक-एक दिनमे सैकड़ो जैन-मन्दिरो, मूर्तियो, ग्रन्थ-भण्डारो, विद्यालयों, दानशालाओ आदिसे युक्त जैन-बसदियोका ध्वंस कर दिया गया, जैनोंसे बरबस धर्मत्याग कराया गया, उनका वध कर दिया गया, बारकुरु-जैसे अनेक सुन्दर जैन-केन्द्र उजाड़ हो गये। समर्थ आश्रयदाता केन्द्रीय राज्य-शक्तिका अभाव हो गया था और जैन-गुरुओंमे युगान्तरकारी

दिग्गज एवं प्रभावक विद्वान् होने भी बन्द हो गये थे। इस कालके जैन-गुरु शैव और वैष्णव महन्तोंकी भाँति मठाधीशोंके रूपमें छोटे-छोटे जमींदार मात्र रह गये थे। राजनीति और धर्मका समुचित समन्वय करके देशका द्विविध अभ्युदय करनेवाले पिछले कालों-जैसे गुरु अब नहीं रह गये थे। विजयनगर कालमें ही – १५वीं शतीमें ही – पहले जैसे राज्य और धर्मके स्तम्भ जैन सेनापतियों, मन्त्रियों, सामन्त और सरदारोंकी संख्या घटते-घटते नगण्य रह गयी थी। शनैः-शनैः वे सब वंश शैव या वैष्णव हो गये थे। इस कालके शैव और वैष्णव, जैनोंको अपना शत्रु समझने लगे और मुसलमानोंके लिए तो शैव, वैष्णव और जैन तीनों ही समान रूपसे काफिर और अत्याचारके पात्र थे। फलस्वरूप जो जैनधर्म चिरकालसे दक्षिणापथमें प्रधान, व्यापक, सर्वाधिक संरक्षक एवं प्रभावपूर्ण बना आया था वह द्रुत-वेगसे विभिन्न प्रान्तोंमें समाप्त होता गया और केवल वणिक् जातिमें या चतुर्थ एवं पंचम कहे जानेवाले छोटे लोगोंमें सीमित रहता हुआ यत्र-तत्र थोड़ी-थोड़ी संख्यामें रह चला।

किन्तु तुलुव और दक्षिण कर्णाटकमें कुछ श्रवणबेलगोल आदि जैसे ऐसे महत्त्वपूर्ण जैन तीर्थक्षेत्र एवं प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्र थे जिन्हें सम्पूर्ण भारतके जैन-नरेश और जैन-जन सहस्राब्दियोंसे सींचते चले आ रहे थे, जिन स्थानोंके साथ अनेक अमिट परम्पराएँ सम्बद्ध थीं, जो अनेक प्राचीन कलापूर्ण एवं अविस्मरणीय स्मारकोंसे युक्त थे, जिनके इस कालके जैन-गुरु भी कुछ प्रभाव रखते थे और जो अब भी धर्म और ज्ञानके फलते-फूलते केन्द्र थे, अतएव जिन प्रदेशोंमें ये स्थान स्थित थे उनकी जनता और उनपर शासन करनेवाले शासक वंश धर्मप्राण थे, वे प्रारम्भसे जैन थे और प्रायः अन्त तक जैन ही बने रहे। कालान्तरमें उनमें-से कुछने शैव, वैष्णव आदि धर्म अंगीकार भी किये तब भी वे नवीन धर्मको अपना व्यक्तिगत धर्म और जिनधर्मको अपना कुल-परम्परा धर्म ही मानते रहे और इन तीर्थों एवं केन्द्रोंका संरक्षण पूर्ववत् करते रहे। ऐसे इन जैन-

राजवंशोमे प्रमुख थे—

(१) **संगीतपुरके सालुव या कदम्बराजे**—भट्टकल इनकी राजधानी थी, मोतियोके व्यापारके कारण यह मोतीभट्टकल भी कहलाता था। सगीतपुर, भट्टकल, गेरुसप्पे जिसे उत्तरकाशी भी कहते थे, मूडबिद्री जिसे दक्षिणकाशी भी कहते थे और जहाँ १७वी-१८वी शतीमे भी सात-सौ चैत्यालय और सात-सौ सतहत्तर घर जैनियोके थे, और मंगलूर प्रसिद्ध जैन-केन्द्र थे। इस वंशमे पुत्रियोको भी राज्यका उत्तराधिकार मिलता था। १६वी शतीमे तत्कालीन कदम्ब-नरेशकी मृत्युपर यह राज्य उसकी सात कुमारी कन्याओके बीच सात भागोंमें बँट गया था और १७वी शतीके प्रारम्भमे उन सातोने योग्यतापूर्वक शासन किया।

(२) **कार्कलके भैररस राजे**—मथुराके राजकुमार जिनदत्त रायकी सन्ततिमे-से थे और बडे धर्मभक्त थे।

(३) **वेणूरका अजिलवंश**—इसीकी एक शाखा बंगवाडिपर बंग वंशके नामसे राज्य करती थी और एक नन्दावरमे राज्य करती थी। यह वंश विजयनगर नरेशोसे भी सम्बन्धित था, और अबतक वर्तमान रहा है।

(४) **उल्लालका चौटवंश**—१२वी शतीके मध्यसे लेकर १८वी शतीके अन्त तक चलता रहा।

(५) **बिलिकेरेका अरसुवंश**—१९वी शताब्दीके अन्त तक चलता रहा। इस वंशके राजा देवराज (मृत्यु १८२७ ई०) बडे वीर योद्धा और आत्मतत्त्वपरीक्षण नामक ग्रन्थके कर्त्ता थे तथा मैसूर-नरेशके प्रधान अंगरक्षक थे।

(६) **बारुकुरुके पाण्ड्य राजे**—इस वंशके कई राजे प्रसिद्ध ग्रन्थ-कार भी हुए है। इनकी राजधानी बारुकुरु बडी समृद्धिशाली सुन्दर नगरी थी। इक्केरि वंशी बेंकप नायकने, जो शैव था, इस नगर और वहाँके जैनोंका १६१९ ई० मे विध्वंस किया था।

(७) मैसूरके ओडेयर राजे—श्रवणबेलगोल तीर्थके प्रधान संरक्षक ये ही रहे। १८वी शतीमे हैदरअली और टीपू सुलताननें इन्हे ग्रस लिया था। अँगरेजोने इस वंश एवं राज्यका उद्धार किया और यह वर्तमान तक चलता रहा।

(८) नगरीके चन्द्रवंशी राजे।

(९) श्वेतपुर (बिलिगे) के जैन राजे।

(१०) बैलंगडिके सूल।

(११) मूल्किके सावंत, इत्यादि।

इन एक दर्जनके लगभग जैन-राज्योने तद्देशीय तीर्थों एवं केन्द्रोंका संरक्षण किया, बसदियोंका जीर्णोद्धार, निर्माण और रक्षा की, साहित्यकी रचना करायी, विद्वानो और गुरुओका आदर किया और यथाशक्य जैनधर्मको उस देशमे जीवित रखा।

खण्ड २

विदेशी-शासनमें भारत

[मुसलमान और अंगरेज़ी-शासन]

अध्याय १

इस्लामका भारत-प्रवेश और दिल्लीके सुलतान

१३वी शतीके प्रारम्भसे लेकर १८वी शतीके अन्त पर्यन्त, लगभग ५०० वर्षके, इस मध्यकालकी सबसे बड़ी ऐतिहासिक विशेषता इस देशमे उत्तर-पश्चिमी सीमान्तको पार करके मध्य-एशियाई मुसलमानोके आक्रमण, यहाँ उनके राज्योका प्रारम्भ और विकास और फलस्वरूप स्वदेशी राज्य-सत्ताओंका धीरे-धीरे अन्त अथवा पराधीनताकी बेडियोमे जकड जाना है। भारतीय राजनीति, अर्थव्यवस्था, सस्कृति और समाजमे एक प्रबल, नवीन, अपरिचित, विरोधी अथवा प्रतिकूल तत्त्वके प्रवेशने विविध प्रकारकी उथल-पुथल, क्रान्तियो और आन्दोलनोको जन्म दिया। देशका स्वरूप ही बहुत कुछ बदल गया।

गुप्तकालके अन्त तक मध्य-एशियाके बहुभागपर भारतीय संस्कृतिका प्रभाव था, वहाँ हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि भारतीय धर्मोका प्रसार था और उसके कई भाग बृहत्तर भारतके अंग थे। किन्तु पिछली दो-एक शताब्दियोसे भारतकी ओरसे उक्त भारतीय प्रभावका पोषण होना रुक गया था। आर्यजनोको म्लेच्छ देशों और जातियोसे सम्पर्क रखना पाप है, ऐसी भावना हिन्दुओ और जैनोमे बल पकडती जा रही थी। परिणामस्वरूप बृहत्तर भारतके मध्य-एशियाई भागकी सम्पूर्ण भारतीयता शनैः-शनैः बौद्ध रूपमे ही अवशिष्ट रह चली। वह भी स्थानीय तथा अवशिष्ट हिन्दू जैन आदि प्रभावोके अत्यधिक मिश्रणके कारण बौद्ध संस्कृतिके भी अत्यन्त

परिवर्तित एवं विकृत रूपमे ही प्राप्त हो रही थी ।

६ठी शती ई० मे मध्य-एशियाके सब देशोमे अरब देश ही अधिक पिछडा हुआ था। वहांके लोग वलिष्ठ, परिश्रमी, युद्ध-प्रिय और सरल-स्वभावी तो थे किन्तु साथ ही बहुत गरीब थे, अनेक कबीलोमे बँटे हुए थे और परस्पर लड़ते रहनेमे ही व्यस्त थे। अनेक अन्ध-विश्वासोंके वे दास थे। ऐसे समयमे ५७० ई० मे अरबके मक्का नामक स्थानमे मुहम्मद साहबका जन्म हुआ। होश सँभलनेपर अपने देश और जातिकी दशासे उनका चित्त दुःखी हुआ। वे स्वयं एक क़बीलेके नेता हुए और देशकी दशा सुधारनेके लिए उन्होने प्रचलित आचार-विचारोमें-से श्रेष्ठ-तत्त्वोको चुनकर और उनपर अपनी बुद्धिका प्रयोग करके अपने अवनत देश-भाइयोकी समझमे आने लायक एक सरल सक्षिप्त नवीन धर्मका प्रचार किया। 'इस सम्पूर्ण खल्क (विश्व) और मखलूक (प्राणियो) का बनानेवाला, उनकी रक्षा करनेवाला और उन्हे मारनेवाला खुदा एक है और मुहम्मद साहब ही उसके एकमात्र सच्चे रसूल या पैगम्बर है। इस दीक्षा-मन्त्रपर आँख मूँदकर ईमान लाओ, नित्य पाँच वक्त नमाज़ पढो, रमज़ानके महीनेमे रोज़ा (उपवास) रखो, अपनी आयका एक अंश दीन-दुखियोके लिए जकात (दान) दो, यथासम्भव मक्का-मदीनेकी हज (यात्रा) करो। खुदाने मुहम्मदके द्वारा जो कुरान नामक धर्मग्रन्थ प्रकट किया है उसे ईश्वरवाक्य समझो। यही इस्लाम धर्म है, इसपर पूर्ण विश्वास रखनेवाले मुसलमान 'मुसल्लम ईमान है जिनका' है, वे सब खुदाके बन्दे है, एक है, उनमें कोई किसी प्रकारका भेद-भाव नही है और वे मरनेके बाद जन्नत (स्वर्ग) प्राप्त करेंगे। जो ऐसा नही करते वे काफिर है, दोज़ख (नरक) की आगमें भस्म होंगे, उनपर किसी प्रकारकी भी दया करनेको आवश्यकता नही।' इस प्रकार, अनेको छोटे-मोटे अन्ध-विश्वासोंका अन्त करके उनके स्थानमें अपने अनुयायियोपर थोपे गये इस एक बड़े विश्वासकी भित्तिपर पैगम्बर मुहम्मदने

राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक, तीनों सत्ताओको एकत्र (संयुक्त) करके अपने धर्म-राज्यकी स्थापना की, वे स्वयं उसके पूर्णतया स्वेच्छाचारी और सर्वशक्ति एवं सत्ताधारी नेता बने और उन्होंने अपने अनुयायियोको एक हाथमे कुरान और दूसरेमे तलवार लेकर इस धर्मके प्रचारार्थ निकल पडने की आज्ञा दी। इस मतमे विवेक और तर्कको विशेष गुंजायश नही थी, पैग़म्बरकी आज्ञा ही प्रमाण थी। जैसा प्राय: होता है, मुहम्मदका विरोध भी बहुत हुआ और फलस्वरूप ६०९ ई० मे उन्हे मक्का छोडकर मदीनेको पलायन कर जाना पडा। तभीसे हिजरी सन्‌की प्रवृत्ति हुई। अन्ततः इस्लाम ज़ोरोके साथ फैलने लगा। मुहम्मद (मृत्यु ६२२ ई०) के उत्तराधिकारी ख़लीफ़ा कहलाये। अरबोमे नवीन जीवन और उत्साहका संचार हुआ। नवीन धर्मोन्मादसे मत्त होकर वे देश-देशान्तरके काफिरोंको बरबस मुसलमान बनानेपर तुल पड़े। खलीफाओकी शक्ति, धन, राज्य-विस्तार और अनुयायियोंकी संख्या दिन दूनो रात चौगुनी बढने लगी। थोडे-से समयमे ही इस्लाम विश्वकी एक प्रबल शक्ति बन गया। अलमंसूर, हारूँ-अलरशीद आदि कुछ खलीफा नेक, उदार और विद्याप्रेमी भी हुए और विभिन्न देशोके ज्ञान-विज्ञानका लाभ उठाकर अरब संस्कृति एवं साहित्यका भी अच्छा विकास हुआ। किन्तु उनके धर्मकी नीरस एकांगी कठोरता और उनकी धर्मान्ध-कट्टरता दर्शन, न्याय, तत्त्वचिन्तन तथा स्थापत्य, मूर्त्ति, चित्र, संगीत, काव्य आदि ललित-कलाओके क्षेत्रमे अनिवार्य रुकावट बनी रही।

हजरत मुहम्मदकी मृत्युके कुछ ही वर्ष बाद, ६४४ ई० मे, मकरान और बिलोचिस्तानके मार्गसे अरबोने भारतके सिन्धु देशपर सर्व-प्रथम आक्रमण किया। तत्कालीन सिन्धु-नरेश सिहरसराय युद्धमे मारा गया। ६४६ ई० मे फिर आक्रमण हुआ उसमे सिहरसरायके पुत्रकी भी वही गति हुई। दोनों बार मुसलमान आये और चले गये। ७१२ ई० मे जुन्नैदके सेनानी मुहम्मद बिन क़ासिमने एक प्रबल आक्रमण किया। सिन्धका ब्राह्मण राजा दाहिर वीरता-पूर्वक लड़ा किन्तु मारा गया और

इस बार उसके राज्यपर अरबोंने अधिकार कर लिया। सिन्धका यह पतन वहाँके तत्कालीन ब्राह्मण और बौद्धोंकी परस्पर फूट, विश्वासघात और नैतिक-पतनके कारण हुआ माना जाता है। अरबोंके रूपमें मुसलमानोंने इस देशमें यह अपना प्रथम राज्य जमा लिया। प्रारम्भिक अत्याचारोंके बाद इन अरबोंने बहुत-कुछ उदारता एवं नरमीके साथ राज्य किया। सिन्ध खलीफाओंके साम्राज्यका एक प्रान्त बन गया और उनके प्रतिनिधि प्रादेशिक शासक यहाँ राज्य करते रहे। दो-एक बार गुजरातकी ओर बढ़नेका उन्होंने उपक्रम किया किन्तु विफल रहे। ७३८ ई० में नवसारीके युद्धमें वे बुरी तरह पराजित हुए। अगले वर्ष उन्होंने सैन्धव राज्यपर भी आक्रमण किया, किन्तु तदुपरान्त वे शान्त रहे और सिन्धमें ही सन्तुष्ट रहे। खलीफाओंका पतन होनेके बाद सिन्धके अरब शासक छोटे-छोटे 'अमीरों' के रूपमें शताब्दियों तक चलते रहे। शेष भारतके साथ अरबोंका केवल व्यापारिक सम्बन्ध रहा। राष्ट्रकूट अमोघवर्षके राज्यमें सुलेमान, अलइद्रिसि, मसूदी, इब्नहौकल आदि अरब सौदागरोंका आना पाया जाता है। उसके बहुत बाद तक भी वे आते रहे। किन्तु भारतके ये अरब-व्यापारी बड़ी सभ्यता और शिष्टतापूर्वक रहते थे। भारतीयोंको बुरा न लगे इसलिए वे अपने मुरदोंको भी अपने घरोंमें ही दफन कर लेते थे।

१०वीं शतीके प्रारम्भके लगभग काबुल जो तबतक भारतका ही अंग रहता आया था मुसलमानोंके अधिकारमें चला गया। इसी शताब्दीके उत्तरार्धमें अफगानिस्तानके गज़नी नगरमें एक नवीन मुसलमानी राज्यका उदय हुआ। ९८७ ई० में उत्तर-पश्चिमी सीमान्तको पार करके भारतकी सीमामें प्रवेश करनेवाला गज़नीका अमीर सुबुक्तगीन प्रथम मध्य-एशियाई मुसलमान नरेश था। भटिण्डेके साही राजा जयपालने उसका डटकर मुकाबला किया और उसे पीछे हटा दिया तथा ९८९ ई० में स्वयं गजनीपर आक्रमण किया, किन्तु हारकर पीछे लौट आया। चार

दुर्ग और कुछ हाथी अमीरको देकर उसने सन्धि कर ली और तुरन्त उसे तोड़ भी दिया। फल-स्वरूप मुसलमानोने सीमान्त देशके जलालाबाद जिलेको तहस-नहस कर दिया। ९९१ ई० में जयपालने राज्यपाल प्रतिहार और धंग चन्देल आदि नरेशोंका एक मुसलिमविरोधी संघ बनाकर ग़जनीवालोंके साथ कुर्रम घाटीमे भयंकर युद्ध किया और मुसलमानोको पेशावरसे आगे न बढने दिया। ९९७ ई० मे सुबुक्तगीनका बेटा महमूद ग़जनीका सुलतान हुआ। मध्य-एशियामे अपने राज्य-विस्तारसे उसने बहुत शक्ति बढा ली थी और वह अपने समयका सर्वाधिक शक्तिशाली मुसलमान सुलतान समझा जाता था। भारतके धन-वैभवकी कहानियोने उसे अत्यन्त लालची बना दिया था। किन्तु वीर-योद्धाओके इस महान् देशमे घुसने और लूट-मार करनेके लिए अपने सैनिकोमे पर्याप्त साहस पैदा करनेके लिए केवल अतुल लूटका लोभ दिखाना पर्याप्त न था, अत: उसने उनके धर्मोन्मादको भड़काया, बुतपरस्तोंके बुतोको तोड़कर, उनके कल्पनातीत दौलतसे भरे मन्दिरोको लूटकर और काफिरोंको मुसलमान बनाकर या तलवारके घाट उतारकर गाजी बन इस जीवनमे धन, विजय और धर्मभक्ति तथा मरनेके बाद जन्नत मिलनेकी सहज आशा दिलायी। ९९९ से १०२७ ई० के बीच महमूदने भारतपर लगभग १७ आक्रमण किये। भटिण्डेके वीर साही राजे प्राणपणसे उसका प्रतिरोध करते रहे और इसी प्रयत्नमे होम हो गये। १००१ ई० मे जयपाल पेशावरके निकट युद्धमे पराजित होकर बन्दी हुआ, महमूदने उसे मुक्त भी कर दिया किन्तु उस अपमानक्षुब्ध नरेशने चितामे प्रवेश करके जीवनका अन्त कर लिया। उसके पुत्र आनन्दपालने महमूदका प्रतिरोध करनेके लिए अजमेरके बीसलदेव चौहानके नेतृत्वमे मालवा, खजराहो, कन्नौज, शाकम्भरी आदिके भारतीय नरेशोका एक प्रबल संघ संगठित किया। पेशावरके निकट ४० दिन तक दोनो सेनाएँ आमने-सामने पडी रहीं। पंजाबके खोखरोने भी भारतीय संघको सहयोग दिया। सुलतानकी सुदृढ सुरक्षित

दुर्ग और कुछ हाथी अमीरको देकर उसने सन्धि कर ली और तुरन्त उसे तोड़ भी दिया। फल-स्वरूप मुसलमानोने सीमान्त देशके जलालाबाद जिलेको तहस-नहस कर दिया। ९९१ ई० मे जयपालने राज्यपाल प्रतिहार और धंग चन्देल आदि नरेशोंका एक मुसलिमविरोधी संघ बनाकर गजनीवालोंके साथ कुर्रम घाटीमे भयंकर युद्ध किया और मुसलमानोको पेशावरसे आगे न बढने दिया। ९९७ ई० मे सुबुक्तगीनका बेटा महमूद ग़जनीका सुलतान हुआ। मध्य-एशियामे अपने राज्य-विस्तारसे उसने बहुत शक्ति बढा ली थी और वह अपने समयका सर्वाधिक शक्तिशाली मुसलमान सुलतान समझा जाता था। भारतके धन-वैभवकी कहानियोंने उसे अत्यन्त लालची बना दिया था। किन्तु वीर-योद्धाओके इस महान् देशमे घुसने और लूट-मार करनेके लिए अपने सैनिकोमे पर्याप्त साहस पैदा करनेके लिए केवल अतुल लूटका लोभ दिखाना पर्याप्त न था, अत: उसने उनके धर्मोन्मादको भडकाया, बुतपरस्तोके बुतोको तोड़कर, उनके कल्पनातीत दौलतसे भरे मन्दिरोंको लूटकर और काफिरोंको मुसलमान बनाकर या तलवारके घाट उतारकर गाजी बन इस जीवनमे धन, विजय और धर्मभक्ति तथा मरनेके बाद जन्नत मिलनेकी सहज आशा दिलायी। ९९९ से १०२७ ई० के बीच महमूदने भारतपर लगभग १७ आक्रमण किये। भटिण्डेके वीर साही राजे प्राणपणसे उसका प्रतिरोध करते रहे और इसी प्रयत्नमे होम हो गये। १००१ ई० मे जयपाल पेशावरके निकट युद्धमे पराजित होकर बन्दी हुआ, महमूदने उसे मुक्त भी कर दिया किन्तु उस अपमानक्षुब्ध नरेशने चितामे प्रवेश करके जीवनका अन्त कर लिया। उसके पुत्र आनन्दपालने महमूदका प्रतिरोध करनेके लिए अजमेरके बीसलदेव चौहानके नेतृत्वमे मालवा, खजराहो, कन्नौज, शाकम्भरी आदिके भारतीय नरेशोका एक प्रबल संघ संगठित किया। पेशावरके निकट ४० दिन तक दोनो सेनाएँ आमने-सामने पडी रही। पंजाबके खोखरोने भी भारतीय संघको सहयोग दिया। सुलतानकी सुदृढ सुरक्षित

छावनीपर पहले धावेके कुछ मिनिटोमे ही भारतीय वीरोने सहस्रो मुसलमानोको मृत्युके घाट उतार दिया। किन्तु अन्तमे हाथियोके बिगड़ जानेसे भारतीय सेनामे गडबड मच गयी और मुसलमान विजयी रहे, फिर भी वापस लौट जानेमे ही उन्होने रक्षा समझी। १००९ ई० में महमूदने कांगडेके दुर्गपर आक्रमण किया और वहाँके सुप्रसिद्ध रजत-मन्दिरको तोडा और लूटा। ३५ वर्ष तक इस दुर्गपर मुसलमानोका अधिकार भी रहा जिसके उपरान्त भारतीयोने इसे उनसे फिर छीन लिया। १०१८ ई० मे (अब भटिण्डेके साहीवंश और राज्यका अन्त हो गया था) महमूदने वरनके राजा हरदत्तको पराजित करके अपने अधीन किया तथा मथुराके मन्दिरोको लूटा और विध्वंस किया। नगरके मध्यमें सम्भवतया कृष्ण भगवान्का अत्यन्त विशाल कलापूर्ण एवं अद्वितीय मन्दिर था जिसे आततायीने जलाकर भस्म कर डाला। अपार धन-सम्पत्तिके अतिरिक्त उक्त मन्दिरकी पाँच विशालकाय स्वर्ण-प्रतिमाओको भी वह साथ ले गया। इस आक्रमणमे मथुराके चौरासी नामक स्थानपर स्थित तथा उसके कुछ पूर्व ही निर्मित जैनमन्दिर और मूर्त्तियाँ न जाने कैसे सुरक्षित रह गयी। सम्भव है कि अन्य मन्दिरोकी लूटका धन ही उससे सँभाले न सँभला और इन जैनमन्दिरोको वह चूक गया। मथुराके बाद उसने कन्नौजपर आक्रमण किया और उसे लूटा। राजा राज्यपाल नगर छोडकर भाग गया था। उसकी इस कायरताके लिए विद्याधर चन्देल आदि नरेशोने उसे दण्ड दिया। अतः अगले वर्ष महमूदने चन्देलोपर आक्रमण किया। चन्देल नरेशकी मूर्खतासे महमूद सफल हुआ और लूट-मार करके चला गया। अगले आक्रमणमें भी धन देकर उसने उसे लौटा दिया। १०२४ ई० मे महमूदने गुजरातके प्रसिद्ध सोमनाथ-मन्दिरको लूटा और विध्वंस किया। भीम सोलंकी बडी वीरतासे लडा किन्तु पराजित होकर आया। उसके जैनमन्त्री विमलशाहने गजनी तक सुलतानका पीछा किया और उसकी सेनाकी बहुत कुछ हानि की। १०३० ई०में महमूद मर गया।

भारतके इन आक्रमणोंमे अपार धन उसके हाथ लगा था जिसके कारण भारत-बाह्य समस्त संसारमे वह सर्वाधिक धनशक्ति-सम्पन्न नरेश हो गया था। भारतके लिए उसके आक्रमण प्रलयंकर किन्तु अस्थायी बवण्डर थे। देशके असंख्य जन-धन, मन्दिर, मूर्त्तियो एवं अनुपम कला-कृतियोका विध्वंस इस नृशस लुटेरेके हाथों हुआ, किन्तु देशके साधन ऐसे असीम थे कि थोड़े समय पश्चात् ही उसकी दशा पूर्ववत् हो गयी और इन भयंकर आक्रमणों एवं लूट-मारका चिह्न भी न रहा। इसमें भी सन्देह नही कि तत्कालीन राजपूत राजाओंका दुरभिमान और उनमे परस्पर सहयोग, संगठन और एकताका अभाव तथा अश्वारोही सेनाकी अपेक्षा गजदलपर अधिक भरोसा रखना ऐसे तथ्य थे जो मुसलमानोंकी सफलताके उस समय भी और आगे भी प्रधान कारण हुए।

व्यक्तिगत रूपसे महमूदमे राजनैतिक और धार्मिक उदारता भी थी। तिलक नामक एक हिन्दूके नायकत्वमे उसकी सेनामे एक हिन्दू सैनिक दल भी था और उन्हे मुसलमान छावनी तथा ग़ज़नीमे भी अपने धर्म-पालनकी स्वतन्त्रता थी। महमूदने साहित्य और कलाको भी प्रश्रय दिया, गजनीमे सुन्दर महल और मसजिदें बनवायी और फ़ारसीके फ़िरदौसी आदि कवियोंको प्रश्रय दिया। उसके एक महान् विद्वान् अनुचर अल्बेरुनीने, जो उसके साथ कई बार भारत आया और कुछ समय यहाँ रहा भी, भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, ज्ञान-विज्ञान आदिका प्रशंसापूर्ण विवरण दिया है। इस विद्वान्ने संस्कृत-भाषा भी सीखी और भारतीय धर्मशास्त्रोंका भी अध्ययन किया था। फिर भी भारतीय इतिहासकी दृष्टिसे तो महमूद ग़ज़नवी एक धर्मान्ध विध्वंसक एवं बर्बर लुटेरा ही था। पंजाबके कुछ भागपर उसका अधिकार भी स्थायी हो गया।

इस भारतीय प्रान्तके संरक्षणके लिए उसके पुत्र और उत्तराधिकारी मसूदके समयमे भी भारतपर कई आक्रमण हुए। किन्तु जब पंजाबसे आगे बढ़कर पूर्वी-उत्तर प्रदेशमे उसकी सेना घुसी तो बहराइचके युद्धमे

श्रावस्तीके जैन नरेश सुहिलदेव-द्वारा पराजित हुई और उसका सिपह-सालार युद्धमें मारा गया। यह सिपहसालार ही सम्भवतया सैयद सालार मसूद गाजीके नामसे प्रसिद्ध है। १०८० ई० के लगभग मसूदके उत्तराधिकारी इब्राहीमने भारतपर आक्रमण किया। इसके लगभग १०० वर्ष बाद तक पश्चिमोत्तर सीमापर मुसलमानोंके उपद्रव शान्त रहे और कोई उल्लेखनीय आक्रमण नहीं हुआ। पंजाब अवश्य ही उनके अधिकारमें रहा।

१२वीं शतीके पूर्वार्धमें गोरी वंशका उदय हुआ। महमूद गजनवीके वंशज बहरामने दो गोरी शाहजादोंकी हत्या करवा दी थी अतः ११५० ई० में गोरी सुलतान अलाउद्दीन हुसेनने गजनीपर आक्रमण किया, उसे बुरी तरह ध्वंस किया और लूटा। बहरामके उत्तराधिकारी खुसरूशाहने भागकर पंजाबमें शरण ली और लाहौरको अपनी राजधानी बनाया किन्तु केवल पंजाबके कुछ भागपर ही उसका राज्य रहा। ११७३ ई० में गोरी सुलतान गयासुद्दीन मध्य-एशियाका प्रायः वैसा ही शक्तिशाली नरेश था जैसा कि अपने समयमें महमूद गजनवी था। उसी वर्ष उसने अपने राज्यका पूर्वी भाग, जिसमें गजनी और काबुल सम्मिलित थे, अपने भाई मुहम्मद बिन साम शिहाबुद्दीन मुइजुद्दीन गोरीको दे दिया। यह मुहम्मद गोरी चतुर, दूरदर्शी और महत्त्वाकांक्षी था। भारतको विजय करके इस दिशामें अपना राज्य-विस्तार करनेकी उसकी आकांक्षा थी, अन्य दिशाओंमें उसके लिए गुंजायश भी न थी। ११७५-७६ ई० में उसने मुल्तानपर आक्रमण करके उसपर अधिकार किया, तदनन्तर स्थानीय रानीके विश्वासघातसे उच्छके दुर्गपर अधिकार किया। इस प्रकार सिन्धपर अधिकार करनेके पश्चात् ११७८ ई० में उसने गुजरातपर आक्रमण किया। अन्हिलवाड़ेका तत्कालीन राजा भीम द्वितीय सोलंकी बालक था किन्तु उसके जैनमन्त्री एवं सेनापति सज्जनने आबूकी तलहटीके युद्धमें मुहम्मद गोरीको बुरी तरह पराजित करके देशसे भगा दिया। इस विजयने लगभग सौ वर्षके

लिए गुजरातको मुसलमानो आक्रमणोंसे प्रायः सुरक्षित कर दिया। ११८७ ई० मे मुहम्मद गोरीने खुशरूशाह गज़नवीको, जो उस वंशका अन्तिम प्रतिनिधि था, पदच्युत करके पंजाबपर अधिकार किया। पंजाब और सिन्धपर अपना शासन सुदृढ कर लेनेके उपरान्त ११९१ ई० मे उसने एक भारी सेनाके साथ उत्तर-भारतके मध्य भागमे प्रवेश किया। शत्रुको उसकी इस धृष्टताके लिए दण्डित करनेके लिए दिल्ली और अजमेरके संयुक्त नरेश वीर पृथ्वीराज चौहानके नेतृत्वमे उत्तर-भारतके विभिन्न राजे आपसी वैर-भाव भुलाकर एक हो गये और मुसलमानोको देशसे निकाल बाहर करनेके लिए यह संयुक्त सैन्यदल द्रुत वेगसे चल पडा। कर्नाल और थानेश्वरके मध्य तराइन या तलावडीके मैदानमे दोनो दलोंकी मुठभेड एवं भयकंर युद्ध हुआ। पृथ्वीराजके वीर भाईने स्वयं मुहम्मद गोरीको द्वन्द्व-युद्धमे उलझाया। गोरी सुलतान बुरी तरह जख्मी होकर रण-क्षेत्रको छोड प्राण बचाकर भाग निकला, उसके सैनिक भी पराभूत एवं तितर-बितर होकर भाग निकले। भारतीय शूरोने भागते हुए शत्रुओंका पीछा भी न किया और उन्हे सुरक्षित वापस लौटने और नवीन आक्रमणके लिए शक्ति संग्रह करनेके लिए छोड़ दिया। अगले वर्ष (११९२ ई० मे) ही और अधिक सेना, बल एवं उत्साहके साथ गोरीने फिर आक्रमण किया। पृथ्वीराजने इस बार भी पूर्ण उत्साहके साथ तलावड़ीके मैदानमे उसका मुक़ाबला किया। किन्तु जहाँ इस बार मुसलमानोंका बल और संकल्प द्विगुणित था, कन्नौज-नरेश जयचन्दके असहयोगके कारण पृथ्वीराजको बन्धु नरेशोकी पिछले वर्ष जितनी और जैसी सहायता प्राप्त न हुई। फिर भी वह वीर और उसके सूरमा अत्यन्त वीरताके साथ लड़े। पृथ्वीराज आहत होकर बन्दी हुआ और मार डाला गया। भारतीय सेनाके पैर उखड गये और विजय मुसलमानोंके हाथ रही। तलावडीके इस युद्धने भारतके भाग्यका निर्णय कर दिया।

पंजाबको पार करते ही दिल्लीके उत्तर-पश्चिमकी ओर फैली हुई

यह विस्तृत ऐतिहासिक समर-भूमि जहाँ महाभारत युद्धका कुरुक्षेत्र, उन प्राथमिक मुसलमान युद्धोंकी तलावडी और कालान्तरके अन्य तीन महायुद्धोंका पानीपत अवस्थित है, भारतकी वास्तविक कुंजी और उसकी भाग्य-विधात्री रहती आयी है। पश्चिमोत्तर सीमान्तके दर्रोंको पार करके आनेवाला आक्रान्ता पंजावकी नदियोंको लाँघकर सहज ही इस स्थान तक आ पहुँचता है। भारतीय दल भी यदि उसे उक्त दर्रोंके मुहानोंपर ही रोक ले सके तो ठीक वर्ना पंजावकी सभी नदियोंके सभी घाटोंकी रक्षा करना असम्भव-सा हो जाता है, अत शत्रुका प्रतिरोध करनेके लिए वह इसी स्थानपर उसकी प्रतीक्षा करता है। युद्ध-विज्ञानकी दृष्टिसे यह स्थान है भी सर्वथा उपयुक्त। बडेसे बडे युद्धके लिए पर्याप्त विस्तृत एवं समतल मैदान जिसके उत्तरमे उत्तुग हिमालय पर्वत तथा दक्षिणमे बीहड मरुभूमिके कारण आगे बढने या पीछे लौटनेके अतिरिक्त अन्य गति नहीं। आक्रान्ता यदि पराजित होता है तो उसे प्राण बचाकर पीछे ही भागना पडता है और उसमे भी भारी हानि उठानी पडती है। और यदि वह विजयी हुआ तो भारतका वक्षस्थल, विशाल उत्तरापथ, उसे सहज ही हस्तगत हो जाता है। यही इस बार हुआ। वल्कि यही प्रथम अवसर था जब भारत इस क्षेत्रमें शत्रुओंका प्रतिरोध करनेमें असफल हुआ और परिणाम स्वरूप उसने अपने-आपको शताब्दियोंके लिए विदेशियों एवं विधर्मियोंकी उत्पीड़क पराधीनताके सुपुर्द कर दिया। उस पराजयका कारण भी यह नहीं था कि भारतीय सैनिक या उनके सेनानी निर्भीकता, वीरता, शौर्य, साहस, युद्ध-कौशल और रण मुसलमानोंसे कुछ कम थे। यह सर्वमान्य तथ्य है कि इन गुणोंमे वे अपने शत्रुओंसे कहीं अधिक श्रेष्ठ थे। किन्तु उनका सैन्य-संगठन, था और व्यक्तिगत दुरभिमान, ईर्ष्या, मानापमान आदिके कारण शिथिल था। उनमें एकसूत्रता एवं एकनेतृत्वका अभाव था। युद्ध-प्रणालीमें उन्होंने समयानुरूप एवं विरोधीके अनुरूप सुधार करना नहीं सीखा

था। ये राजा लोग अपने या अपने राज्यके लिए लडते थे, समग्र देशके लिए लडनेकी भावना उनमे न थी। बौद्धधर्मके प्राय: सर्वथा अभाव और जैन प्रभावके अपेक्षाकृत मन्द पड़ जानेके कारण ब्राह्मण-पण्डितोकी कृपासे इस कालमे जाति-पाँतिका भेद कुछ ऐसा पुष्ट हो चला था कि राजपूत जातिके अलावा अन्य कोई व्यक्ति सैनिक ही नहीं हो पाता था जिससे देशके सैन्य-साधन एकांगी और सीमित हो गये, और अन्तत: देश पराधीन हुआ।

शीघ्र ही गोरीकी सेनाने जयचन्द्रको भी पराजित किया जो स्वयं मुसलमानोकी क्रान्तिकारी विजयका एक प्रधान यद्यपि परोक्ष साधक बन चुका था। ११९३ ई० मे ही मुहम्मद गोरीके सेनानी कुतुबुद्दीनने मेरठ और दिल्लीपर अधिकार किया, तदनन्तर कन्नौज, वाराणसी और ग्वालियरपर अधिकार किया, अजमेर भी दिल्लीके साथ-ही-साथ मुसलमानोके अधिकारमे आ गया। ११९७ ई० मे कुतुबुद्दीनने अन्हिलवाडेपर फिर आक्रमण किया किन्तु भीम द्वितीय-द्वारा नाममात्रकी अधीनता स्वीकार कर लेनेपर वापस लौट आया। उसी वर्प उसके उपसेनानी मुहम्मद बिन बख्तियार खलजीने बिहार प्रदेशकी राजधानी बिहार दुर्गपर अधिकार कर लिया। यह स्थान उस समय बौद्धोका प्रधान केन्द्र रह गया था और यहाँका बौद्धधर्म इस कालमे अपने अति अवनत एवं विकृत रूपमे था। थोडे-से ही परिश्रमसे मुसलमानोंका बिहार प्रदेशपर अधिकार हो गया, अनेक बौद्ध-बिहार, पुस्तकालय, मन्दिर और मूर्तियाँ नष्ट कर दी गयी, बौद्ध-भिक्षुओको तलवारके घाट उतार दिया गया, जो किसी प्रकार बचकर भाग निकले उन्होने नेपाल, तिब्बत आदि देशोमे जाकर शरण ली। ११९९ ई० मे इस खलजी सेनानीने बंगालकी राजधानी नदियाको भी मात्र १८ अश्वारोहियोके साथ छल-कौशलसे हस्तगत कर लिया कहा जाता है। बूढा ब्राह्मण राजा लक्ष्मणसेन बिना लडे ही महल और राजधानी छोड़ भाग गया। नदियाको तहस-नहस करके खलजीने

लखनौती या गौड़को प्रान्तीय राजधानी बनाया। १२०३ ई० मे गोरीने कुतुबुद्दीन-द्वारा चन्देल परमालको पराजित करवाकर कालिंजरका सुदृढ दुर्ग हस्तगत किया। उसी वर्ष गयासुद्दीन गोरीकी मृत्यु होनेसे मुहम्मद गोरी उसके भी राज्यका स्वामी हुआ और इस प्रकार वह उस समयका सर्वाधिक शक्तिशाली नरेश हुआ, उसका साम्राज्य भी सर्वाधिक विस्तृत था। इसी वर्ष वह भारतसे वापस लौटा। कहा जाता है कि जब मुहम्मद गोरी भारतमें रहकर अपने सेनानियो-द्वारा देशके विभिन्न भागोकी विजय करा रहा था तो उसने अपनी मलिकाके आग्रहपर एक दिगम्बर जैन साधुको, जिन्हे उसने इलियटके अनुसार बहुसख्यामे पाया था, अपने दरबारमे बुलाकर सम्मानित किया था। सम्भव है उक्त साधुके प्रभावको सुनकर अथवा केवल जिज्ञासाके लिए उसने वैसा किया हो। यो मुहम्मद गोरी और उसके सेनानियोने भी जिन-जिन राजधानियो, नगरो, दुर्गो आदिपर अधिकार किया उन्हे नष्ट-भ्रष्ट किया और लूटा। मन्दिरो और मूर्तियोको तोडना और लूटना ये मुसलमान अपना धर्म समझते थे। प्रायः सभी प्रमुख स्थानोमे हिन्दू और जैन-मन्दिरोको मसजिदोके रूपमे परिवर्तित किया गया। उनकी दृष्टिमे ब्राह्मण पण्डित या सन्यासी, जैन साधु और बौद्ध भिक्षु समान रूपसे काफिर थे और उन्हे मारना सवाब था। फिर भी मुहम्मद गोरीका प्रधान उद्देश्य लूट-मार और मन्दिर-मूर्त्ति तोडना नही था वरन् राज्य-स्थापना करना था, अतः उसके ऐसे ध्वंस-कार्य सीमित ही रहे। दो वर्ष बाद ही उसे पंजाबकी खोखर जातिका दमन करनेके लिए वापस आना पड़ा किन्तु वापसीमे सन् १२०६ ई० मे झेलम जिलेके धमियाक नामक स्थानमे एक देश, धर्म और जाति-भक्त वीरने अकेले ही छावनीमें घुसकर मुहम्मद गोरीका वध कर दिया। उसकी मृत्युके साथ ही भारतके मुसलमानी राज्यकी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हुई।

गुलामवंश (१२०६–१२९० ई०) उत्तर भारतमें मुसलमान सुलतानोका सर्वप्रथम वंश था। यह विधिका विचित्र विधान था कि इस

लखनौती या गौडको प्रान्तीय राजधानी बनाया। १२०३ ई० मे गोरीने कुतुबुद्दीन-द्वारा चन्देल परमालको पराजित करवाकर कालिजरका सुदृढ दुर्ग हस्तगत किया। उसी वर्ष गयासुद्दीन गोरीकी मृत्यु होनेसे मुहम्मद गोरी उसके भी राज्यका स्वामी हुआ और इस प्रकार वह उस समयका सर्वाधिक शक्तिशाली नरेश हुआ, उसका साम्राज्य भी सर्वाधिक विस्तृत था। इसी वर्ष वह भारतसे वापस लौटा। कहा जाता है कि जब मुहम्मद गोरी भारतमे रहकर अपने सेनानियो-द्वारा देशके विभिन्न भागोकी विजय करा रहा था तो उसने अपनी मलिकाके आग्रहपर एक दिगम्बर जैन साधुको, जिन्हे उसने इलियटके अनुसार बहुसख्यामे पाया था, अपने दरबारमे बुलाकर सम्मानित किया था। सम्भव है उक्त साधुके प्रभावको सुनकर अथवा केवल जिज्ञासाके लिए उसने वैसा किया हो। यो मुहम्मद गोरी और उसके सेनानियोने भी जिन-जिन राजधानियो, नगरो, दुर्गो आदिपर अधिकार किया उन्हे नष्ट-भ्रष्ट किया और लूटा। मन्दिरो और मूर्त्तियोको तोडना और लूटना ये मुसलमान अपना धर्म समझते थे। प्राय' सभी प्रमुख स्थानोमें हिन्दू और जैन-मन्दिरोको मसजिदोके रूपमे परिवर्तित किया गया। उनकी दृष्टिमे ब्राह्मण पण्डित या संन्यासी, जैन साधु और बौद्ध भिक्षु समान रूपसे काफिर थे और उन्हे मारना सवाब था। फिर भी मुहम्मद गोरीका प्रधान उद्देश्य लूट-मार और मन्दिर-मूर्त्ति तोडना नही था वरन् राज्य-स्थापना करना था, अतः उसके ऐसे ध्वंस-कार्य सीमित ही रहे। दो वर्ष बाद ही उसे पंजाबकी खोखर जातिका दमन करनेके लिए वापस आना पडा किन्तु वापसीमे सन् १२०६ ई० मे झेलम ज़िलेके धमियाक नामक स्थानमे एक देश, धर्म और जाति-भक्त वीरने अकेले ही छावनीमे घुसकर मुहम्मद गोरीका वध कर दिया। उसकी मृत्युके साथ ही भारतके मुसलमानी राज्यकी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हुई।

गुलामवंश (१२०६–१२९० ई०) उत्तर भारतमे मुसलमान सुलतानोका सर्वप्रथम वंश था। यह विधिका विचित्र विधान था कि इस

महादेशको सर्वप्रथम गुलामीकी बेडियोंमे जकड़नेवाले स्वयं गुलाम थे। मुहम्मद गोरीकी मृत्युके उपरान्त उसका प्रिय क्रीतदास (जरखरीद गुलाम) और प्रधान सेनानायक कुतुबुद्दीन ऐबक (१२०६–१० ई०) गोरी-द्वारा विजित भारतमे उसीके द्वारा स्थापित मुसलमानी राज्यका सर्वप्रथम स्वतन्त्र शासक हुआ। गोरीके उत्तराधिकारीने स्वयं उसकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली और उसे सुलतानकी पदवी दी। खलीफाने भी स्वीकारोक्ति दे दी। वास्तवमे भारतमे मुसलमानी राज्यका प्रथम संस्थापक ऐबक ही था, उसीने स्वयं तथा अपने उपसेनानायकों-द्वारा, जिनमे-से अधिकतर उसीकी भाँति गोरीके गुलाम थे, पिछले १५ वर्षोंमे उत्तरी भारतके विभिन्न देशी राजाओंको एक-एक करके पराजित किया था और इस देशमे दिल्लीको केन्द्र एवं राजधानी बनाकर मुसलमानी राज्यका विस्तार किया था तथा गोरीके वाइसरायके रूपमे शासन किया था। बिहार, बंगाल-विजेता खलजीका आसामकी चढाईमे १२०६ ई० मे ही अन्त हो गया था। यल्दुजकी लडकीके साथ अपना, कुबाचाके साथ अपनी बहनका और इल्तुतमिशके साथ अपनी पुत्रीका विवाह करके ऐबकने प्रधान मुइज़्ज़ि गुलाम सरदारोको अपना सहयोगी और सहायक बना लिया था और इस प्रकार अपनी स्थिति सुदृढ कर ली थी।

ऐबक और उसके साथी तथा उनके उत्तराधिकारी ये प्रारम्भिक मुसलमान सुलतान और सरदार धर्मान्ध, क्रूर, निर्दयी एवं बर्बर मध्यएशियाई योद्धा थे। जो मुल्ला मौलवी अनिवार्यतः इनके परामर्श-दाता और इतिहास-लेखक रहते थे वे उनके धर्मोन्मादको और अधिक प्रज्वलित करते रहते थे। प्रत्येक सुलतान या सरदारके महत्त्वपूर्ण और प्रशंसनीय कारनामे यही होते थे कि उसने कितने सशस्त्र या निहत्थे काफिरोको मय उनके निस्सहाय स्त्री-बच्चोके दोज़ख पठाया, कितनोको जबरदस्ती मुसलमान बनाया, कितने मन्दिरो और मूर्त्तियोको तोडा और लूटा आदि। उनकी द्रुत सफलताका कारण भी उनके निर्दय अमानुषिक व्यवहारसे

महादेशको सर्वप्रथम गुलामीकी बेडियोमे जकड़नेवाले स्वयं गुलाम थे। मुहम्मद गोरीकी मृत्युके उपरान्त उसका प्रिय क्रीतदास (जरखरीद गुलाम) और प्रधान सेनानायक कुतुबुद्दीन ऐबक (१२०६–१० ई०) गोरी-द्वारा विजित भारतमे उसीके द्वारा स्थापित मुसलमानी राज्यका सर्वप्रथम स्वतन्त्र शासक हुआ। गोरीके उत्तराधिकारीने स्वयं उसकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली और उसे सुलतानकी पदवी दी। खलीफाने भी स्वीकारोक्ति दे दी। वास्तवमे भारतमे मुसलमानी राज्यका प्रथम संस्थापक ऐबक ही था, उसीने स्वयं तथा अपने उपसेनानायकों-द्वारा, जिनमे-से अधिकतर उसीकी भाँति गोरीके गुलाम थे, पिछले १५ वर्षोंमे उत्तरी भारतके विभिन्न देशो राजाओंको एक-एक करके पराजित किया था और इस देशमे दिल्लीको केन्द्र एवं राजधानी बनाकर मुसलमानी राज्यका विस्तार किया था तथा गोरीके वाइसरायके रूपमे शासन किया था। बिहार, बंगाल-विजेता खलजीका आसामकी चढाईमे १२०६ ई० मे ही अन्त हो गया था। यल्दुजकी लडकीके साथ अपना, कुबाचाके साथ अपनी बहनका और इल्तुतमिशके साथ अपनी पुत्रीका विवाह करके ऐबकने प्रधान मुइज़्ज़ी गुलाम सरदारोंको अपना सहयोगी और सहायक बना लिया था और इस प्रकार अपनी स्थिति सुदृढ कर ली थी।

ऐबक और उसके साथी तथा उनके उत्तराधिकारी ये प्रारम्भिक मुसलमान सुलतान और सरदार धर्मान्ध, क्रूर, निर्दयी एवं बर्बर मध्य-एशियाई योद्धा थे। जो मुल्ला मौलवी अनिवार्यत: इनके परामर्श-दाता और इतिहास-लेखक रहते थे वे उनके धर्मोन्मादको और अधिक प्रज्वलित करते रहते थे। प्रत्येक सुलतान या सरदारके महत्त्वपूर्ण और प्रशंसनीय कारनामे यही होते थे कि उसने कितने सशस्त्र या निहत्थे काफिरोंको मय उनके निस्सहाय स्त्री-बच्चोंके दोज़ख पठाया, कितनोको जबरदस्ती मुसलमान बनाया, कितने मन्दिरो और मूर्त्तियोंको तोडा और लूटा आदि। उनकी द्रुत सफलताका कारण भी उनके निर्दय अमानुषिक व्यवहारसे

भारतीय जनता और राजाओके हृदयमें उत्पन्न होनेवाला भीषण आतंक ही था। अधीनता स्वीकार कर लेनेपर भी इन भयंकर अत्याचारोंसे त्राण पाना सदैव सम्भव न था, अत. भारतीय वीर प्राणोकी बाजी लगाकर लड़ते और मर मिटते थे। दुर्भाग्यसे मुसलमानोंकी इन विजयों और अत्याचारो तथा उनके विरोधके विवरण भारतीय दृष्टिकोणसे किसी तत्कालीन या उत्तरवर्ती भारतीयने लिखे ही नही। राजस्थानकी कतिपय ख्यातो और विरुदावलियों आदिसे ही उस पक्षका थोड़ा-सा अधूरा ज्ञान होता है। इन मुसलमान सुलतानोंने कुछ अपने धर्मके लिए और कुछ अपने नाम और मानके लिए प्रारम्भसे ही यहाँ मसजिदे और मकबरे बनवाने शुरू किये। इस कार्यके लिए उन्हीके द्वारा ध्वस्त अनगिनत हिन्दू एवं जैन-मन्दिरोने प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की। स्वयं ऐबकने ऊश-निवासी कुतुबशाह फकीरकी स्मृतिमें दिल्लीमे कुतुबमसजिद, कुतुबमीनार आदि इमारतें बनवानी शुरू की। अकेली कुतुबमसजिदमे सत्ताईस स्थानीय हिन्दू और जैनमन्दिरोकी सामग्री लगी है। कुतुबमीनार व अन्य इमारतोमे भी अनेक हिन्दू और जैन-मन्दिरोंके भग्नावशेष काम आये। अजमेरकी बड़ी मसजिद तो वहाँके एक विशाल जैन-मन्दिरको ही तद्रूप परिवर्तित करके बनी, कालंजर आदि अन्य स्थानोके भी अनेको सुन्दर जैन-मन्दिरोंके ध्वसावशेषोसे तत्कालीन अनेक मुसलमान इमारतें बनी। बनानेवाले कारीगर भी प्रायः भारतीय ही थे, किन्तु बनावटके मौलिक सिद्धान्त मुसलमानी थे। अतः इस प्रकार ग़ुलाम सुलतानोके समयसे ही भारतीय मुसलमान कलाका भी विकास शुरू हो गया।

कुतुबुद्दीनकी मृत्युके बाद उसका पुत्र आरामशाह (१२११ ई०) सुलतान हुआ। वह अयोग्य था अतः कुछ ही महीनोमे उसे पदच्युत करके ऐबकका गुलाम और दामाद शमसुद्दीन इल्तुतमिश (१२१२–१२३६ ई०) जो उस समय बदायूँका सूबेदार था, सुलतान बन बैठा। यल्दुज, कुबाचा आदि मुइज्जि और कुतबी गुलाम सरदार जो उसके प्रबल

प्रतिद्वन्द्वी थे उनका उसने दमन किया और उत्तरी भारतके बहुभागको अपने अधीन किया। यह एक योग्य न्यायी एवं कुशल शासक था। इसके समयमे भयंकर मंगोल सरदार चंगेजखाँने भारतपर सर्व-प्रथम आक्रमण किया किन्तु इल्तुतमिशकी चतुराईसे वह सिन्धसे ही वापस लौट गया। इस सुलताननने ऐबक-द्वारा प्रारम्भ की हुई कुतुबमीनार आदि इमारतोको पूरा किया, अजमेरकी विशाल मसजिद जैन-मन्दिरोंको तोड़कर बनवायी और दिल्लीमे अपना मकबरा बनवाया। इल्तुतमिशका पुत्र रुकनुद्दीन अयोग्य और दुराचारी था अतएव कुछ ही महीने राज्य करनेके बाद सरदारोने उसे मारकर उसकी बहन सुलताना रज़िया बेगम (१२३६–३९ ई०) को गद्दीपर बैठाया। वह योग्य और बुद्धिमती थी, पुरुष-वेषमे ही रहती थी, युद्धोमे भाग लेती थी, किन्तु कुछ सरदारोके प्रेमपाशमे पड़कर उसने अन्य सरदारोंको अपना विद्रोही बना लिया और जीवनसे हाथ धोया। तत्कालीन मुसलमान इतिहासकारोने उसकी बड़ी प्रशंसा की है और उसके पतनका कारण उसका स्त्री होना लिखा है। उसके बाद उसके भाई बहरामने और फिर एक भतीजेने थोडे-थोड़े समय तक राज्य किया। ये दोनों हो निकम्मे शासक रहे। तदनन्तर इल्तुतमिशका ही एक अन्य छोटा लड़का नासिरुद्दीन (१२४६–६६ ई०) सुलतान हुआ। उसके एक मुल्ला राजकर्मचारी मिनहाज सिराजने 'तबकाते नासिरी' नामका प्रथम भारतीय मुसलमानी इतिहास-ग्रन्थ फारसी भाषामे लिखा। सुलतान नासिरुद्दीन एक बहुत सीधा नेक और धर्मात्मा व्यक्ति कहा जाता है। समस्त शासनकार्य उसके श्वसुर एवं प्रधान मन्त्री उलुगखाँ बलबनके हाथमे था। उसीको सुलतानने अपना उत्तराधिकारी भी बनाया। नासिरुद्दीनकी ओरसे बलबनने भी हिन्दुओके विरुद्ध अनेक जहाद किये, असंख्य काफिरोको मारा, कितनो ही को मुसलमान बनाया, उनके मन्दिरो और मूर्त्तियोको तोड़ा, उनका धन लूटा और राज्यकोष भरा। मुल्ला इतिहासकार इन जहादोंका वर्णन करते अघाता नही। इस कालमे भी

मंगोलोंके कई आक्रमण हुए। लाहौर तक उन्होंने लूट-मार की। इसलिए बलबनने सीमान्तप्रदेशकी रक्षाकी ओर अधिक ध्यान दिया।

गद्दीपर बैठनेके बाद बलबन (१२६६–८६ ई०) ने सर्वप्रथम उस चालीस शम्सी गुलाम सरदारोंके दलका दमन किया जिसे इल्तुतमिशने सगठित किया था और जो इस समय बलबनका भीषण प्रतिद्वन्द्वी बना हुआ था। बलबन बहुत कठोर अनुशासक था, विद्रोहियोंको कड़ा दण्ड देता था और उनका बीज नाश कर देता था। बंगालका विद्रोही सूबेदार तुगरिल बेग इसका उदाहरण है। दिल्लीके निकटवर्ती प्रदेशमे हिन्दू मेवाती प्रायः उत्पात करते रहते थे, उसने उन्हे बुरी तरह कुचल दिया। उनमे-से अनेक मुसलमान बन गये। बंगालमे उसने अपने पुत्र बुगराखाँको सूबेदार बनाया जिसके वंशज वहाँ उस पदपर १३३८ ई० तक चलते रहे। बलबनने अपने गुप्तचर चारो ओर फैला रखे थे। भारतीयोंको वह राज्य-सेवामे नियुक्त नही करता था। वह अपने दरबारकी शान-शौकतकी ओर भी बड़ा ध्यान रखता था। मंगोलोंके भयसे भागे हुए अनेक मध्य-एशियाई राजे उसकी शरणमें रहते थे। प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो भी इन्ही शरणार्थियोंके साथ यहाँ आया था। हिन्दू विद्रोहियोंके प्रति बलबनके अत्याचार अन्य सुलतानोसे भी अधिक अमानुषिक थे। जीते-जी खाल खिचवा लेना या हाथियोंके पैरो-तले कुचलवा डालना सामान्य दण्ड थे। मंगोलोंके भी अनेक आक्रमण हुए जिनके कारण वह राज्य-विस्तारकी ओर ध्यान ही न दे सका। उसकी कठोरताने अस्थायी सुरक्षा प्रदान की किन्तु उसके मरते ही अशान्ति और अराजकता फैल गयी। उसका उत्तराधिकारी उसका पौत्र कैकूबाद (१२८६–९०) गुलामवंशका अन्तिम सुलतान था। वह महा दुराचारी और निकम्मा शासक था। अत १२९० ई० में उसके नृशंस वधके साथ इस वंशका अन्त हुआ। इन सुलतानोका राज्य इस्लाम और मुसलमानोके लिए ही था, न्याय और सुशासनका लाभ भी उन्हीके लिए था। भारत उनका

आखेट-क्षेत्र और भारतीय जनता आखेट मात्र थी।

खलजीवंश (१२९०-१३२० ई०)—कैकुबादका वध करके सरदारो-ने समानाके हाकिम वृद्ध खलजी सरदार जलालुद्दीन फिरोज (१२९०-९६ ई०) को सुलतान बनाया। अगले ही वर्ष दिल्लीके आस-पास भीषण अकाल पडा जिसमे अनेक भारतीयोने यमुनामे डूबकर प्राण दे दिये। फिर मंगोलोका आक्रमण हुआ। उन्हे सुलताननने घूस देकर वापस लौटा दिया किन्तु उनमे-से कुछ मुसलमान बनकर यही बस गये और नव-मुसलिम कहलाये। इस सुलतानने सिदिमौला नामक एक मुल्लाको मरवा डाला, इससे मुल्ला-मौलवी भडक उठे। वैसे वह नम्र प्रकृतिका था। हिन्दुओपर उसने अधिक अत्याचार नही किये प्रतीत होते। सुलतानकी नरमीके कारण राज्यमे ठगोका जोर बढ गया था। १२९४ ई० मे उसका भतीजा एवं दामाद अलाउद्दीन सुलतानकी अनुमतिसे मालवा विजय करनेके लिए गया किन्तु तदुपरान्त दक्षिणमे घुसकर उसने देवगिरिके यादव राजा रामचन्द्ररायको भी पराजित किया और लूटका विपुल धन लेकर वापस लौटा। कडामे प्रेमविह्वल वृद्ध सुलतान यशस्वी उत्तराधिकारीका स्वागत करने गया तो उसीके हाथो छलसे मारा गया।

अलाउद्दीन खलजी (१२९६-१३१६ ई०) ने लूटके धनको सर-दारोमे बाँटकर उन्हे अपनी ओर मिलाया और अपनी स्थिति सुदृढ एव सुरक्षित करके अपने विद्रोहियो एव विरोधियोको शनै:-शनै कुचल डाला। १२९७-१३०५ ई० के बीच मंगोलोके कई आक्रमण हुए, एक बार तो वे दिल्लीपर ही आ धमके, किन्तु छल-बल, चतुराई और घूस आदिके प्रयोगसे सुलतानने उनसे त्राण पाया। १२९८ ई० मे नव-मुसलिम मगोलोके विद्रोह करनेपर उसने सहस्रोकी संख्यामे उन्हे मरवा डाला। उसने स्वयं तथा अपने मलिक काफूर, उलुगखाँ, अलपखाँ, जफरखाँ, नसरतखाँ आदि सेना-नायकोके द्वारा राजपूतानेके रणथम्भौर (१३०१ ई०) और चित्तौड़ (१३०३ ई०) जैसे प्रसिद्ध दुर्गोको अधिकृत किया। राज-

पूत वीर अत्यन्त वीरतासे लडे और अन्तत: जौहर-द्वारा अपनी स्त्रियों एवं बच्चोंको चिताग्निको अर्पण कर एक-एक करके कट मरे। १२९८ ई० में कर्ण बघेलेको पराजित करके गुजरातको अधीन किया गया, तदुपरान्त अलाउद्दीनने मालवाको अधीन किया तथा देवगिरिके यादवों और द्वारसमुद्रके होयसलोंको पराजित करके उन्हें अपने अधीन किया। कोरोमण्डल तटको रौंदते हुए मदुरा तक उसकी सेनाएँ पहुँची। इस प्रकार चाहे नामके ही लिए सही, हिमालयसे लेकर कुमारी अन्तरीप पर्यन्त सम्पूर्ण देशपर उसकी विजय-पताका फहरायी और वह भारतमें मुसलमानोंके तबतकके सर्वाधिक विस्तृत साम्राज्यका अधिपति कहलाया।

उसकी विजयका कारण यह भी था कि उसके द्वारा विजित देशी राज्य संयोगसे उस समय अपनी अवनतिकी अन्तिम अवस्थामें थे। इन विजय-यात्राओंमें की गयी लूटके धनसे उसकी शक्ति और समृद्धि भी अत्यधिक बढ गयी और वह अपने-आपको दूसरा सिकन्दर समझने लगा। मुल्ला-मौलवियोंका राज्यकार्योंमें हस्तक्षेप भी वह सहन नहीं करता था। अत: वे भी उससे बहुत चिढने लगे थे। इसी कारण जियाउद्दीन बरनी आदि मुल्ला इतिहास-लेखकोंने उसकी बडी निन्दा की है जब कि इब्नबतूताने उसे भारतका एक सर्वश्रेष्ठ एवं महान् सुलतान बताया है। पुराने अमीरों और सरदारोंका भी उसने दमन किया और अपने नये सेवकोंको आगे बढाया। सामान्य भारतीय जनताके प्रति उसका यह भाव था कि उनके पास खाने-पीनेकी परम आवश्यकताओंसे अधिक धन नहीं रहना चाहिए क्योंकि धन ही विद्रोहको प्रेरणा देता है। अत. उसने भारी-भारी कर लगाये। जगह-जगह गुप्तचरोंका जाल बिछाया और राज्यके अफसरोंपर कडा नियन्त्रण रखा। उसका शासन कठोर था, अत्याचारकी भी कमी नहीं थी किन्तु पहले सुलतानों-जैसी धर्मान्धता भी नहीं थी। शासन एवं राजनीतिमें वह धर्मकी परवाह नहीं करता था। प्रारम्भमें वह प्राय: निरक्षर था किन्तु सत्संगसे कुछ शिक्षा प्राप्त

कर ली थी और विद्वानोका आदर करता था। सुप्रसिद्ध अमीर खुसरो उसका राजकवि था। राघो और चेतन नामक दो ब्राह्मण पण्डितोका भी सुलतानके ऊपर पर्याप्त प्रभाव रहा, उसका एक हिन्दू मन्त्री माधव था। जिनप्रभसूरिके विविधतीर्थकल्पके अनुसार मन्त्री माधवकी प्रेरणापर ही सुलतानने अपने भाई उलुगखाँको गुजरातकी विजय करनेके लिए भेजा था। दिल्लीका नगरसेठ उस समय पूर्णचन्द्र नामक अग्रवाल जैनी था और सुलतान भी उसे काफी मानता था। इसी सेठसे कहकर सुलतानने दिगम्बराचार्य माधवसेनको दिल्ली बुलवाया था, सुलतानने अपने दरबारमे उनका व्याख्यान सुना और सम्मान किया। राघो और चेतन नामक विद्वानोके साथ शास्त्रार्थमें जैनाचार्यने विजय प्राप्त की बतायी जाती है। दिल्लीमे काष्ठासघकी गद्दीके सस्थापक भी यही आचार्य थे। इस सुलतानसे इन्होने कई फरमान भी प्राप्त किये बताये जाते है। नन्दिसघके आचार्य प्रभाचन्द्रने भी इसी समयके लगभग दिल्लीमे अपना पट्ट स्थापित किया था। गुजरातके अपने पहले आक्रमणमे भडौचके दिगम्बर जैन साधु श्रुत-वीर स्वामीसे भी इस सुलतानका साक्षात्कार हुआ बताया जाता है। श्वेताम्बराचार्य रामचन्द्रसूरि और जिनचन्द्रसूरिका भी उसने सम्मान किया था, ऐसी अनुश्रुति है। उसीके शासन-कालमे सेठ पूर्णचन्द्र सुलतानके फरमान एव सहायताको प्राप्त करके जैनोका एक बडा सघ गिरनार तीर्थ-की यात्राके लिए ले गया था। उसी समय पेथडशाहके नेतृत्वमे वहाँ गुजरातका सघ भी आया था और दोनो सघोने सद्भावपूर्वक साथ-साथ तीर्थ-वन्दना की थी। गुजरातके सूबेदार अलपखाँने भी पाटनके सेठ समर-शाहको शत्रुजय तीर्थका जीर्णोद्धार करने एव यात्रासंघ ले जानेके लिए सहर्ष सैनिक सहायता भी दी थी। इन तथ्योसे विदित होता है कि विजयार्थ या विद्रोह-दमनार्थ किये गये युद्ध-अवसरोको छोडकर सामान्यत: इस कालमे भारतीयोको स्वधर्म पालनकी सीमित स्वतन्त्रता दी जाने लगी थी, और भारतीयोको राज्यमे यदा-कदा पदादि भी दिये जाने लगे थे।

अलाउद्दीनने कई मसजिदे, भवन आदि भी बनवाये और सीरी नामक स्थानमे नयी दिल्लीके निर्माणका कार्य भी आरम्भ किया था। सुलतानके कठोर शासनके परिणामस्वरूप चोरी, ठगी आदि भी बहुत कम हो गयी थी और खाद्य पदार्थोंके मूल्य तो उसने इतने कम निर्धारित किये थे कि उतना सस्ता समय आगे फिर शायद कभी नही आया। उसके अन्तिम समयमे उसके मन्त्री मलिक काफूरकी शक्ति बहुत बढ गयी थी।

सुलतानकी मृत्युके बाद काफूरने उसके एक शिशु पुत्रको गद्दीपर बिठाया, सारी शक्ति अपने हाथमे कर ली, और राज्यवंशके अनेक व्यक्तियोका वध करा दिया। किन्तु लगभग एक मास पश्चात् ही उसकी और उसके साथियोकी हत्या कर दी गयी। अब अलाउद्दीनका एक अन्य पुत्र कुतुबुद्दीन मुबारकशाह खलजी (१३१६–१३२० ई०) सुलतान हुआ किन्तु वह भी बडा दुराचारी, अत्याचारी एवं निकम्मा था। देवगिरिके विद्रोही राजा हरपाल देवकी उसने खाल खिचवा ली थी और यादव राज्यका अन्त कर दिया था। किन्तु वह हिन्दुओका पक्ष भी करता था, पाटनके सेठ समरशाहको दिल्ली बुलाकर उसे उसने एक उच्च पदपर नियुक्त किया था। गुजरातके एक नीच परवारी जातिके हिन्दूको उसने अपना अधिक मुँह-चढा बना लिया था। यह व्यक्ति खुसरोखाँके नामसे प्रसिद्ध हुआ और अपने स्वामीका वध करके स्वयं सुलतान बन बैठा। उसने सरदारोको अपमानित किया आर अपने जाति-भाइयोको राजकीय पदोपर भर लिया। दुराचार, अनाचार और अत्याचारका दौर और अधिक बढा। अन्तत सरदारोने उसका वध कर दिया।

तुग़लुक़वंश (१३२१–१४१४ ई०)—खुसरोखाँकी तथाकथित हिन्दू-गर्दीसे क्षुब्ध होकर उसका अन्त करनेवाले सरदारोका नेता दिपालपुरका हाकिम गाजी मलिक था। यह एक तुर्क सरदार था। खलजी वशमे कोई पुरुष जीवित बचा नही था, अतः सब सरदारोकी सम्मतिसे मलिक गाजी ही गयासुद्दीन तुगलुकशाह (१३२१–१३२५ ई०) के नामसे सुलतान

बना। वस्तुत' उसका बाप बलबनका एक तुर्क गुलाम था और माँ एक जाटनी थी, भारतमे ही इसका जन्म हुआ था, अतः वह अन्य प्रारम्भिक सुलतानो-जैसा निर्दय, क्रूर और धर्मान्ध नही था, साथ ही एक योग्य शासक भी था। थोडे से समयमे ही उसने आन्तरिक शासन व्यवस्थित कर लिया और मंगोलोके निरन्तर होनेवाले आक्रमणोसे राज्यकी रक्षा करनेके उपाय भी कर लिये। कतिपय भारतीयोको भी उसने उच्च पदों-पर नियुक्त किया था। पाटनके सेठ समरशाहको वह पुत्रवत् मानता था और उसे उसने तेलिगाने भेजा था। सोमचरित्रगणिकृत गुरुगुण-रत्नाकर ग्रन्थ (१४८५ ई०) के अनुसार सूर और नानक नामके प्राग्वाट जातीय दो जैन-भ्राता भी उसके प्रतिष्ठित सरदार थे। अपने पुत्र जूना-खाँको उसने दक्षिण-विजयके लिए भेजा। वारगलके प्रथम युद्धमे तो जूनाखाँ बुरी तरह पराजित हुआ किन्तु दूसरे आक्रमणमे उसने ककातीय राज्यका अन्त करके वारंगल और बीदरपर अधिकार कर लिया। इस समय सुलतान स्वयं बगालके उत्तराधिकारकी समस्या सुलझानेके लिए गया हुआ था। उसके लौटनेके पूर्व ही जूनाखाँ दिल्ली लौट आया। सुलतानके स्वागतके लिए राजधानीसे बाहर उसने अपने विश्वासी अनुचर ख्वाजाजहाँ-द्वारा एक अस्थायी काष्ठमण्डप बनवाया। सुलतान जब अपने छोटे पुत्र महमूदके साथ उस भवनमे शयन कर रहा था तो जूनाखाँके षड्यन्त्रसे वह मण्डप गिरवा दिया गया और सुलतान व उसका पुत्र उसीमे दबकर मर गये। मुसलमान फकीर निजामुद्दीन औलियाका भी इस षड्यन्त्रमे हाथ रहा बताया जाता है। गयासुद्दीनने दिल्लीके निकट ही तुगलकाबाद नामक एक सुदृढ दुर्ग बनवाया था और उसमे अपार धन संग्रह किया था। वहो उसने अपना मकबरा भी पहलेसे ही बनवा लिया था।

अब जूनाखाँ, मुहम्मद बिन तुगलुक (१३२५-५१ ई०) के नामसे सुलतान बना। इस वंशका यह सर्वमहान् शासक था। उसका व्यक्तित्व

भी बहुत विचित्र और दिलचस्प था। आज तक इतिहासकारोमे उसके स्वभाव एवं गुणोके विषयमे भारी मतभेद है। उसका चरित्र अनेक विरोधी तत्त्वोका मिश्रण था। जहाँ एक ओर वह सुशिक्षित, बहुभाषाविज्ञ, दर्शन, न्याय, तर्क, चिकित्सा आदि विविध विद्याओं और ज्ञान-विज्ञानोमे पारंगत, विद्वानोका समादर करनेवाला, उदार, स्वतन्त्र-विचारक, दानशील, प्रजाहितैषी, वीर योद्धा, सदाचारी और आविष्कारक बुद्धि-सम्पन्न था वहाँ साथ-ही-साथ बहुत क्रोधी, उतावला, अदूरदर्शी, अव्यावहारिक और निर्दयी भी था। स्वय अपने पिताकी हत्यामे उसका हाथ था और उसीके सचित धनसे विरोधी सरदारोका उसने मुँह बन्द किया था। शीघ्र ही उसने अपनी स्थिति सुरक्षित कर ली। उसने शासन-प्रबन्ध सावधानीसे किया। न्यायका वह पूरा ध्यान रखता था। किन्तु अपराधियोको और विशेषकर विद्रोहियोको अत्यन्त कठोर एव अमानुषिक दण्ड देता था और इस विषयमे किसी प्रकारके पद, वर्ग या सम्बन्धकी भी परवाह न करता था। अपने सगे भानजोको, कई उच्च-पदाधिकारियो-को और एक काजीको भी उसने खुले आम मृत्यु-दण्ड दिया था।

इब्नबतूता नामक अफ्रीकाका एक मूर यात्री उसके शासन-कालमे भारतवर्ष आया था और कई वर्ष उसके दरबारमे रहा एवं सम्मानित हुआ था। १३४७ ई० मे सुलतानने उसे चीन-सम्राट्के पास अपना राजदूत बनाकर भेजा किन्तु मार्गमें ही जहाजी दुर्घटनाके कारण इब्नबतूता चीन तो न जा सका, किसी प्रकार प्राण बचाकर अपने देश वापस चला गया। इस यात्रीके विवरण सुलतान मुहम्मद तुगलुकके स्वभाव एव कार्य-कलापो-पर अच्छा प्रकाश डालते है। इस सुलतानने अस्पताल और दानशालाएँ खोली और विद्वानोको मुक्तहस्तसे धन दिया। मुल्ला-मौलवी लोग इस सुलतानसे डरते और चिढते थे। मुसलमान फकीर शेख रुक्नुद्दीनका वह भक्त था, अरस्तूके दर्शनका मर्मज्ञ था, भारतीय धर्मों और दर्शनोके विद्वानोको भी अपने दरबारमे बुलाकर उनका भाषण और वाद-विवाद

चावसे सुनता था और उक्त विद्वानोसे स्वयं भी वाद करता था।

विविधतीर्थकल्पके कर्त्ता जिनप्रभसूरिका सुलतानने सम्मान किया और उन्हे कई फरमान दिये जिससे उन्होने हस्तिनापुर, मथुरा आदि तीर्थो-की ससंघ यात्राएँ की और अनेक धर्मोत्सव किये। राज्य-सभामे उन्होने वाद-विवाद भी किये। उनके शिष्य जिनदेवसूरि बहुत समय तक सुलतानके साथ रहे और सम्मानित हुए। इनके कहनेसे सुलतानने कन्नान नगरकी महावीर-प्रतिमाको दिल्लीमे स्थापित करवाया। यह प्रतिमा कुछ दिन तुगलकाबादके शाही खजानेमे भी रही। एक पोपधशाला भी उस समय सुलतानकी आज्ञा और सहायतासे दिल्लीमे बनी। सुलतानकी माता मखदूमेजहाँ बेगम भी इन जैन-गुरुओका आदर करती थी। जैन यति महेन्द्रसूरिका भी सुलतानने सम्मान किया था। पाटनके शाह समरसिहको सुलतान भाई-जैसा मानता था और उसे उसने तेलिगानेका शासक नियुक्त किया था। ज्योतिपी धराधर भी सुलतानका कृपापात्र था। १३३४ ई० की एक जैन-ग्रन्थ प्रशस्तिमे दिल्लीका नाम योगिनीपुर मिलता है। राज-धानी तुगलकाबादके शाही किलेमे ही 'दरबार चैत्यालय' नामका एक जैनमन्दिर विद्यमान था जिसमे १३४२ ई० मे उस चैत्यालयके निकट रहनेवाले पाटन-निवासी अग्रवाल जैन साह सागियाके वंशजोने एक महान् पूजोत्सव किया था। इन लोगोके गुरु काष्ठासघी जयसेनके शिष्य भट्टारक दुर्लभसेन थे। सुलतान भी उनका आदर करता था। इस अवसरपर अनेक ग्रन्थोकी प्रतिलिपियाँ करायी गयी जिनका लेखक गन्धर्वका पुत्र पण्डित बाहड था। इस सुलतानके समयमे दिल्लीमे नन्दिसंघके पट्टाधीश प्रसिद्ध भट्टारक प्रभाचन्द्र थे जिनसे सुलतान बहुत प्रसन्न था।

अपने शासनके प्रथम वर्षमे ही इस सुलतानने अपने राज्यके जैनियो (सयुरगान = सराओगान, श्रावको) के हितार्थ एक फर्मान भी जारी किया था। १३२७ ई० मे ही सुलतानने दक्षिण-देशस्थ दौलताबाद (देवगिरि) को राजधानी स्थानान्तरित करनेका निश्चय किया और

दिल्लीको खाली करनेका हुक्म दे दिया। अपार धन-जनकी हानि हुई किन्तु प्रयोग सफल नहीं हुआ। हाँ १३२७ ई० मे ही उसने द्वारसमुद्रके होयसलोंका अन्त करके दक्षिण भारतका अवशिष्ट बहुभाग भी मुसलमानी शासनके अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया। मंगोलोंके आक्रमणके कारण सुल्तानको तुरन्त उत्तर आना पड़ा और घूस देकर ही उसने मंगोलोंसे पीछा छुड़ाया। ईरान और चीनपर आक्रमण करनेकी योजनाएँ भी इस सुल्तानने बनायी, किन्तु दोनोमें ही असफल रहा। १३४० ई० के लग-भग फिर उसने दिल्लीको छोड़कर दौलताबादको राजधानी बनानेका प्रयत्न किया और इस बार भी विफल हुआ। इसके शासन-कालमे उत्तरा-पथमें भीषण दुष्काल पड़ा, असंख्य प्राणी भूखो मर गये। मंगोलोंके आक्रमणो, सुल्तानकी अटपटी योजनाओ, अदूरदर्शी दानशीलता और राजधानी-परिवर्तन आदिके कारण राजकोष खाली हो गया था, अतएव उसने सोने-चाँदीके स्थानमे ताँबे और पीतलकी प्रतीक मुद्रा चलानी चाही। यह योजना भी विफल हुई। उधर शासन-व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त हो गयी। सिन्ध, बंगाल, दक्षिण आदि साम्राज्यके विभिन्न भागोमे विद्रोह होने लगे जिनके दमन करनेके प्रयत्नमे उसका जीवन बीता और फिर भी उनके अन्ततः स्वतन्त्र होने और साम्राज्यके छिन्न-भिन्न होनेको वह न रोक सका। इस प्रकार विद्वान्, सुयोग्य, सदाशय और सदुद्देश्य होते हुए भी मुहम्मद तुगलुकके शत्रुओ, प्रकृति, दुर्भाग्य—सबने मिलकर ऐसी विषम परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि उसे सब ओर विभिन्न रूपोमे अपने शत्रु-ही-शत्रु दीख पड़ने लगे, वह विक्षिप्त-जैसा हो गया, उसकी प्रतिक्रिया भड़क उठी और अपने शत्रुओ एवं विरोधियोके निस्संकोच रक्तपानमें वह जुट गया। तत्कालीन मुसलमान इतिहासकार ज़ियाउद्दीन बरनी लिखता है कि लोग तो उसके विरुद्ध विद्रोह करते नही थकते थे और सुल्तान उन्हे कठोरसे कठोर दण्ड देते नही थकता था। इस प्रकार [illegible] सिन्धके विद्रोहका दमन करनेके प्रयत्नमें वह सिन्धुनदके किनारे

छावनी डाले पडा था तो बीमार पड गया और वही १३५१ ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी।

वह निस्सन्तान था अतः उसका चचेरा भाई फीरोजशाह तुगलुक (१३५१–१३८८ ई०), जो उस समय छावनीमे ही उपस्थित था तथा बडा सूबेदार था, सभी उपस्थित हिन्दू एवं मुसलमान सरदारोके आग्रहसे गद्दीपर बैठा और सेनाके साथ दिल्ली लौटा। वहाँ वृद्ध नगरपाल ख्वाजा-जहाँने एक शिशुको सिहासनपर बिठा दिया था, अत विद्रोहके अपराधमे उन दोनोका वध करा दिया गया। १३५४ ई० मे फीरोजने बगालपर आक्रमण किया और एक साल तक युद्ध चलता रहा, लाखो व्यक्ति मारे गये किन्तु वह सूबा प्राय. स्वतन्त्र ही बना रहा और सुलतान दिल्ली लौट आया। १३६० ई० मे उसने वहाँ फिर आक्रमण किया, किन्तु शीघ्र ही सन्धि हो गयी और बगालका सूबा पूर्णतया साम्राज्यसे अलग हो गया। दक्षिणको फिरसे अधीन करनेका उसने प्रयत्न ही नही किया, बल्कि बहमनी सुलतान और माबरके सुलतानकी स्वाधीनताको ही प्रायः स्वीकार कर लिया। १३६१ ई० मे उसने सिन्धपर आक्रमण किया। प्रथम बार तो अपनी भारी हानि करके उसे गुजरातकी ओर हट जाना पडा किन्तु दूसरे आक्रमणमे सिन्धका शासक पराजित हुआ और सुलतान उसे बन्दी करके दिल्ली ले आया, फिर भी सिन्धका सूबा उसके अधीन न हुआ। इसके उपरान्त फीरोजने युद्ध एवं आक्रमणोको तिलाजलि दे दी और अपने सकुचित साम्राज्यपर शान्तिसे शासन करने लगा। वह अपने मजहबका बडा पक्का था, मुल्ला-मौलवियोका बडा आदर करता था तथा उन्हीके परामर्शसे कुरान शरीफ और शरीयतके अनुसार राज्य-कार्य करता था। आन्तरिक शासन-प्रबन्ध सब उसके सुयोग्य मन्त्री खाँजहाँके हाथमे था जिसकी मृत्युके बाद उसीके पुत्रने वह कार्य सम्हाला। सुलतान स्वयं भी नरमदिल था। अपराधियोको भीषण दण्ड और नाना प्रकारकी यन्त्रणाएँ देनेकी प्रथा उसने बन्द कर दी।

उसने हिन्दुओंपर जजिया कर लगाया, जो मुसलमान बनना स्वीकार कर लेते थे उन्हें वह उस करसे मुक्त कर देता था। इस प्रकार बलात्कार और अत्याचारके स्थानमें घूस और धनका लोभ देकर उसने मुसलमानोंकी संख्या-वृद्धि की। जागीर प्रथा और गुलामोंकी प्रथाको भी उसने प्रोत्साहन दिया। उसने मुसलमान यतीमों और बेवाओंके लिए वृत्तियाँ दीं, और मुसलमानोंके लिए मकतब, खानकाहें तथा अस्पताल खुलवाये। वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था और शिया आदि अन्य मुसलमानी सम्प्रदायोंके प्रति भी वैसा ही असहिष्णु था जैसा कि हिन्दुओंके प्रति। एक ब्राह्मणको उसने जिन्दा जलवा दिया, कुछ मन्दिरों एवं मूर्तियोंको भी तुडवाया तथा नवीन मन्दिरोंके निर्माणपर प्रतिबन्ध लगा दिया। मुल्ला-मौलवियोंके लिए वह एक आदर्श मुसलमान सुलतान था। देशमें भी शान्ति रही, प्रजा भी अपेक्षाकृत सुखी थी। नगरों और इमारतोंके निर्माणका भी उसे शौक था, जौनपुर, हिसार, फीरोजाबाद आदि नगरोंका उसने निर्माण किया, यमुनाकी नहर निकलवायी, कई बाँध बनवाये, अनेक मसजिदें, किले, दारुलउलूम (विद्यालय) आदि बनवाये। मेरठ और टोपरासे अशोक-स्तम्भोंको उखडवाकर वह दिल्ली ले गया। जैन नन्दिसंघके भट्टारक प्रभाचन्द्रको जो दिगम्बर मुनि थे, उसने अपने महलमें बुलवाया था। कहा जाता है कि मुनिको इस अवसरपर वस्त्र धारण करने पडे थे और तभीसे उत्तर भारतमें वस्त्रधारी भट्टारक प्रथाका प्रादुर्भाव हुआ। दिल्लीमें भट्टारकीय गद्दियाँ पहले ही स्थापित हो चुकी थीं। सुलतान और उसकी बेगमोंने मुनिके दर्शन किये और सम्मान किया। सुकवि रत्नशेखरसूरिका भी इस सुल्तानने सम्मान किया बताया जाता है। उपरोक्त अशोक-स्तम्भोंके लेखको पढवानेके लिए जिन हिन्दू विद्वानोंको बुलाया था उनमें ब्राह्मण पण्डितोंके अतिरिक्त जैन (मयुरगान) विद्वान् भी थे। इस सुल्तानने अपने शासनकालका इतिहास स्वयं लिखा है, और जियाउद्दीन बरनीकी तारीखे फीरोजशाही तथा शम्ससिराज अफीफकी फतुहाते फीरोजशाही

नामक इतिहास-ग्रन्थ भी उसीके आश्रयमे लिखे गये।

१३८८ ई० मे ८० वर्ष की अवस्थामे फीरोजशाहकी मृत्यु हुई और उसके मरते ही राज्यमे अव्यवस्था एवं अराजकता उत्पन्न हो गयी। सब सूबेदार स्वतन्त्र बन बैठे। मन्त्रियोके षड्यन्त्रोसे एकके बाद एक कई नाममात्रके सुलतान हुए। एक साथ कई-कई दावेदार भी चलते रहे। अन्तत फीरोजका पोता महमूद तुगलुक नाममात्रका सुलतान बना रहा। उसके समयमे १३९८ ई० मे मध्यएशियाके सर्वशक्तिशाली एवं रक्त-पिपासु अमीर तैमूरलगने भारतपर आक्रमण किया। पंजाव, दिल्ली, मेरठ, हरद्वार आदिको लूटता-पाटता, असंख्य नर-नारियोको तलवारके घाट उतारता, यह भयानक नर-संहारक देशकी रही-सही दुर्दशा कर गया। अब सर्वत्र अराजकता, दुष्काल, भुखमरी और त्राहि-त्राहि मच रही थी। तुगलुकोके नाममात्रके राजत्वमे १४१४ ई० तक प्राय यही हालत चलती रही।

सैयदवंश (१४१४–१४५० ई०)—१४१४ ई० मे पंजाबके सूबेदार खिज्रखाँने, जो अपने-आपको सैयदवंशमे उत्पन्न हुआ कहता था और तैमूरलगका प्रतिनिधि घोषित करता था, दिल्लीपर अधिकार कर लिया। दिल्लीके आस-पासके थोडे-से प्रदेशपर उसका राज्य था। उसने और उसके तीन उत्तराधिकारियोने न अपने आपको सुलतान घोषित किया और न अपने नामके सिक्के ही चलाये। सैयद मुबारकशाहका एक मन्त्री हिसार-निवासी अग्रवाल जैनी हेमराज था जो भट्टारक यश'कीर्तिका शिष्य था। इस वशका अन्तिम शासक अलाउद्दीन १४५० ई० मे पदच्युत कर दिया गया और वह दिल्लीका परित्याग करके बदायूँमे जाकर एक साधारण जागीरदारकी तरह रहने लगा।

लोदीवंश (१४५०–१५२६ ई०)—अफगान सरदार बहलोलखाँ लोदीने, जो सैयदोके शासनकालमे पजाबका स्वतन्त्र सूबेदार वन बैठा था, १४५० ई० मे दिल्लीपर अधिकार कर लिया और अपने-आपको सुलतान घोषित कर दिया। उसने दिल्लीका जो छोटा-सा राज्य बचा था उसमे

अव्यवस्था उत्पन्न की और जौनपुरकी शर्की सल्तनतका अन्त करके अपने पुत्र बारबकशाहको उसका सूबेदार नियुक्त किया। इस प्रकार पंजाबसे वाराणसी पर्यन्त और उत्तर दिशामें हिमालयकी तराईसे लेकर बुन्देलखण्ड-की सीमा पर्यन्त प्रदेशपर उसने अपना अधिकार बहुत कुछ जमा लिया था। बहलोल लोदीका एक उच्च पदाधिकारी गढ़ासाव था जिसके पुत्र तारण स्वामी (१४४८-१५१५ ई०) अपने समयके प्रसिद्ध जैन सुधारक हुए, इन्होंने मूर्त्तिपूजाका विरोध किया और तारण पन्थ चलाया। सन्त कबीर, गुरु नानक आदिके समकालीन तथा उन्हींकी भाँति विश्वधर्मके प्रचारक तारण स्वामी भी अपने समयके एक महान् सन्त थे।

बहलोलके उपरान्त उसका पुत्र निजामखाँ सुलतान सिकन्दर गाजी (१४८९-१५१७ ई०) दिल्लीके सिंहासनपर बैठा। यह इस वंशका सबमें अधिक योग्य और शक्तिशाली शासक था। किन्तु उसकी भी राज्य-शक्ति, बंगाल, मालवा, गुजरात, बहमनी आदि मुसलमानी राज्यों और मेवाड़, ग्वालियर, विजयनगर आदि हिन्दू राज्योंमें-से किसीसे भी बल, विस्तार या समृद्धिमें विशेष अधिक नहीं थी। उसने जौनपुरसे अपने भाई-को निकालकर उसे दिल्ली राज्यमें मिला लिया और बिहारके सूबेको भी अपने अधीन किया। मेवाड़का राणा कुम्भ, ग्वालियरका मानसिंह तोमर, मालवाका नासिरुद्दीन और गुजरातका महमूद बेगड़ा उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी रहे। उनके साथ उसके दाव-पेच और युद्ध चलते रहे। फिर भी सिकन्दरने दिल्ली राज्यकी प्रतिष्ठा कुछ बना दी। उसने आगरा फिरसे बसाया तथा आगराका निकटवर्ती स्थान सिकन्दरा उसीके नामसे प्रसिद्ध हुआ। सन् १५०५ ई० में उसीके समयमें एक भयंकर देश-व्यापी भूकम्प आया था। यह सुलतान अपने धर्मका कट्टर पक्षपाती था, हिन्दुओंके प्रति सामान्यत असहिष्णु था और मुसलमानी कानूनका अनुसरण करता था। एक बार ग्वालियर आक्रमण करके वहाँके मन्दिरोंको भी उसने तोड़ा और उनके स्थानमें मस्जिदें बनवाया। चिकित्सा-शास्त्रमें उसे बहुत दिलचस्पी थी।

कर्णाटकके कुछ तत्कालीन शिलालेखोसे पता चलता है कि वहाँके महान् वादी एवं वक्ता प्रसिद्ध जैनाचार्य विशालकीर्त्ति सुलतान सिकन्दर लोदीकी राजसभामे आये थे और उसके द्वारा सम्मानित हुए थे। सिकन्दरके राज्य-कालमे अत्यधिक सुकाल था, सभी पदार्थ अत्यन्त सस्ते थे और अल्प साधनवाले व्यक्ति भी सुखसे रह सकते थे, ऐसा उस कालके इतिहास-ग्रन्थोसे पता चलता है।

उसका पुत्र इब्राहीम लोदी (१५१७–२६ ई०) निर्दयी और अयोग्य शासक था। उसके समयमे भी वस्तुएँ अत्यधिक सस्ती थी किन्तु उसने अपनी उद्दण्डतासे अपने अफगान अमीरोको रुष्ट कर दिया और उनसे निरन्तर लडता-झगडता रहा। जब कभी उनको अपने हाथमे कर पाता तो उनपर बडे निर्दय अत्याचार करता। क्षुब्ध अफगान सरदारोने पंजाबके सूबेदार दौलतखाँ लोदीको अपना नेता बनाया और उसने काबुलके बादशाह बाबरको भारतपर आक्रमण करनेका निमन्त्रण दिया। बाबर आया और १५२६ ई० मे पानीपतकी प्रसिद्ध रणभूमिमे इब्राहीमकी विशाल सेनाको उसने पराजित किया। इब्राहीम मारा गया और उसके साथ ही लोदीवंशका अन्त हुआ। दिल्लीमे मुगलवंशकी स्थापना हुई किन्तु अस्थायी रही। १३-१४ वर्ष बाद ही बाबरके उत्तराधिकारी हुमायूँ-को एक अन्य अफगान सरदार शेरखाँने निकाल बाहर किया।

सूरिवंश—(१५४०–१५५५ ई०)—लोदी सुलतानोके शासनकालमे पूर्वी भारतमे अनेक अर्धस्वतन्त्र छोटे-छोटे अफगान अमीर उत्पन्न हो गये थे। उन्हीमे बिहार प्रान्तस्थ सहसरामका जागीरदार हसन था। उसका बेटा फरीद अपनी सौतेली माँके दुर्व्यवहारसे चिढकर घर छोडकर जौनपुर चला आया। वहाँ उस होनहार युवकने थोडे ही समयमे शासन एवं राजनीति-सम्बन्धी विविध ज्ञान और अनुभव प्राप्त किया। लौटकर उसने अपने बापकी जागीरका बडी निपुणताके साथ प्रबन्ध किया और उसे अत्युन्नत बना दिया। बाबरके आक्रमणसे उत्पन्न विषम परिस्थितिसे

तथा उसके उपरान्त हुमायूँकी दुर्बलताओंसे उसने पूरा लाभ उठाया। चुनार और रोहतासके सुदृढ दुर्गोंको अधिकृत करके उसने शनै. शनै सम्पूर्ण बिहारपर अपना अधिकार जमा लिया और पहले शेरख़ाँ तथा फिर शेरशाहसूरि (१५२९–१५४५ ई०) के नामसे अपने-आपको सुलतान घोषित किया। हुमायूँ शेरशाहकी इस प्रगतिको कैसे सहन कर सकता था, उसने बिहारपर (१५३८ ई०मे) आक्रमण किया तथा चुनारके दुर्गको छीन लिया, तदनन्तर बहुत-सा अमूल्य समय बगालकी राजधानी गौड़मे व्यर्थ गँवा दिया। फलस्वरूप १५३९ ई० मे चौसाके युद्धमे शेरशाहने हुमायूँको बुरी तरह पराजित किया, उसकी सेना तितर-बितर हो गयी और वह कठिनाईसे प्राण बचाकर भागा। अगले वर्ष कन्नौजके युद्धमे उसे फिर पराजित किया, परिणामस्वरूप हुमायूँको भारतवर्षसे बाहर भाग जाना पड़ा और शेरशाह दिल्लीको राजधानी बनाकर राज्य करने लगा। पंजाबपर भी उसका अधिकार हो गया। अब वह राजपूताना, मालवा और बुन्देलखण्डके दमनमे व्यस्त हुआ। पाँच वर्षके भीतर उसने अनेक युद्ध लड़े। रणथम्भोरके दुर्गमे इस सुलतानने वहाँके प्रसिद्ध जैन वैद्यराज रेखा पण्डितका सम्मान किया था। सम्भवतया इस वैद्यने सुलतानका इलाज भी किया था। मध्यभारतमें रायसीनके दुर्गको हस्तगत करनेमे उसने विश्वासघात करके दुर्गकी सम्पूर्ण सेनाका कत्लेआम करा दिया। १५४५ ई० मे कालंजरके दुर्गपर आक्रमण करते हुए वह स्वयं मारा गया।

शेरशाह एक भारी योद्धा और सुयोग्य सैन्य-सचालक ही नहीं था, शासन-प्रबन्धमें भी निपुण था। अपनी सहसरामकी छोटी-सी जागीरमे उसने जो प्रयोग किये थे उन्हे अब साम्राज्यमे प्रयुक्त किया। अपने दीवान टोडरमलकी सहायतासे उसने भूमिकी नाप-जोख करवाके एक नया ठोस बन्दोबस्त किया जिसका विकास बादमे सम्राट् अकबरने किया। न्याय-शासन वह स्वयं करता था, अपराधियोको कड़ा दण्ड देता

था, खेतीकी हानि करना भयंकर अपराध मानता था, और ग्राम-पंचायतोको उनके क्षेत्रमे किये गये अपराधोके लिए उत्तरदायी ठहराता था। उसने नहर, सडके, दुर्ग और नगर भी निर्माण कराये। सहसराममे स्वयं उसका मकबरा पठान-स्थापत्यका सुन्दर नमूना है। लगभग पाँच लाख सशवत सेना वह सदा तैयार रखता था। उसने सडकोके किनारे पेड लगवाये, कुएँ खुदवाये और सराये बनवायी। मुद्राका भी सुधार किया। आलस्य उसे छू नही गया था, सतत उद्योग करते रहनेमे वह विश्वास करता था।

उसकी मृत्युके उपरान्त उसका बेटा जलालखाँ, इस्लामशाहसूरि (१५-४५–५४ ई०) के नामसे सिंहासनपर बैठा। वह अपने बापके जैसा योग्य और बुद्धिमान् तो न था किन्तु उसने शेरशाहके राज्य एवं शासन-प्रबन्धको अक्षुण्ण बनाये रखा। इसके राज्यमे १५४५ ई० मे रोहितास नगर (रोहतक) मे, जिसे सम्भवतया शेरशाहने ही पुन वसाया था, ग्वालियरके भट्टारक मलयकीर्त्तिके पट्टधर गुणभद्रने १५ जैन-कथाओका एक संग्रह अपभ्रंश भाषामे रचा था। उन्होने स्वयं तत्कालीन सुलतानका नाम 'पातिशाह जलालदी' (जलालखाँ) दिया है। आमेर आदिके मूलसंघी भट्टारक धर्मचन्द्र, धर्मकीर्त्ति, ललितकीर्त्ति आदिके १५४५–१५५३ ई० कालके प्रशस्तिलेखोमे भी इस सुलतानके उल्लेख पाये जाते है, कभी-कभी शाहसलीम नामसे।

उसकी मृत्युके बाद उसके साले मुहम्मद आदिलशाहसूरि (१५५४–५६ ई०) ने दिल्लीकी गद्दीपर अधिकार कर लिया। वह स्वयं बिलकुल अयोग्य था अत सम्पूर्ण राज्यकार्य उसने अपने मन्त्री हेमूके हाथमे छोड दिया और स्वयं बिहारके चुनार दुर्गमे जाकर रहने लगा। उसके मन्त्री और सेनापति हेमूने, जो जातिसे वणिक् था और जिसने अपने स्वामीके लिए कई युद्धोमे विजय प्राप्त करके अपना सिक्का जमा लिया था, अब दिल्ली और आगरेपर फिरसे अधिकार कर लिया और विक्रमादित्यकी

उपाधि धारण करके स्वयंको ही दिल्लीका सम्राट् घोषित कर दिया। किन्तु १५५६ ई० मे पानीपतके युद्धमें अकबर और बैरमखाँ-द्वारा पराजित होकर एवं मारा जाकर उसका और उसके साथ ही आदिलशाह सूरिके दिल्ली राज्यपर अधिकारका अन्त हो गया। शेरशाहका एक अन्य भतीजा सिकन्दरशाह सूरि भी प्रारम्भसे ही मुहम्मद आदिलशाहका प्रतिद्वन्द्वी था और राज्यके पश्चिमी भाग (पंजाब) पर अधिकृत था। हुमायूँ और उसके बाद अकबरके साथ पंजाबमे वह लडता रहा। पानीपतके युद्धके उपरान्त उसने आत्म-समर्पण कर दिया और अकबरने उसे क्षमा कर दिया। इस प्रकार सूरीवंशका लगभग १५ वर्पके राज्यके बाद अन्त हुआ।

अध्याय २

पूर्व-मुग़लकालके प्रादेशिक राज्य

जैसा कि वर्णन किया जा चुका है मुहम्मद तुगलुकके समयसे ही दिल्ली-साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा था और अनेक नवीन एवं स्वतन्त्र मुसलमानी राज्य यत्र-तत्र अस्तित्वमे आ गये थे, जिनमे बंगाल, जौनपुर, गुजरात, मालवा एवं कश्मीरके राज्य और दक्षिणका बहमनी राज्य उल्लेखनीय है।

बंगाल (१३४०–१५७६ ई०)—मुहम्मद तुगलुकके समयमे बगाल-के सूबेदार फखरुद्दीनने १३४० ई० मे विद्रोह करके अपने प्रान्तको साम्राज्यसे प्राय: पृथक् कर लिया था। १३५३–५४ ई० मे फीरोजशाहने बंगालके सूबेदारको अधीन करनेका विफल प्रयत्न किया था, १३६० ई० मे फिर उसने एक प्रयत्न किया और अन्तत: उसकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। तभीसे लेकर अकबरकी विजय पर्यन्त सूबेदार फखरुद्दीनके वंशज सिकन्दरशाह (१३६८ ई०) आदि जो अरबदेशीय सैयद जातिके थे स्वतन्त्र सुलतानोके रूपमे उस प्रान्तपर राज्य करते रहे। देशके अन्य राज्योके साथ उनके प्राय. कोई युद्ध नही हुए किन्तु तत्कालीन सभी मुसलमानी राज्योकी भाँति गुप्त हत्याएँ, गृह-कलह, उत्तराधिकार सघर्ष, षड्यन्त्र, विश्वासघात आदिसे इस वंशका इतिहास भी ओत-प्रोत है। शासन-व्यवस्था भी प्राय: दिल्ली-सल्तनत एवं अन्य सभी भारतीय मुसलमानी राज्योके प्रतिरूप ही थी। उसमे मुसलमानों एवं इस्लामका हित प्रधान था और शासन प्राय: नागरिक ही था। असंख्य ग्रामीण

प्रजाको भूमि-कर देनेके अतिरिक्त शासनसे अन्य कोई विशेष हानि-लाभ नही था। किन्तु इन सूबा राज्योके सुलतान दिल्लीके सुलतानोकी अपेक्षा सामान्यतया अधिक सहिष्णु होते थे।

वंगालके सुलतानोमे सर्व-प्रसिद्ध हुसैनशाह (१४९३–१५१९ ई०) था। वह पूर्ववर्ती सुलतान मुजफ्फरशाहका प्रधान मन्त्री था। मुजफ्फरके अत्याचारोके कारण उसने उसे पदच्युत करके उसका वध कर दिया था और सरदारोकी सम्मतिसे स्वयं सुलतान वन गया था। उसका राज्यकाल अत्यन्त सुख-शान्ति और समृद्धिपूर्ण रहा। उसकी प्रजा उससे प्रेम करती थी और पडोसी राजे उसका आदर करते थे। वंगालमे उसका नाम आज तक अमर है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उसे चाहते थे। उसका पुत्र नसरतशाह बाबरका समकालीन था। वह भी एक भला सुलतान था। मुसलमान-नरेशोकी प्रथाके प्रतिकूल वह अपने १७ छोटे भाइयोसे हार्दिक प्रेम करता था और उन्हे सुखसे रखता था। बाबरके साथ उसने सम्मानपूर्ण सन्धि की थी। इस वंशका अन्तिम सुलतान दाऊदशाह था जो १५७६ ई० में अकवरके मानसिंह आदि सेनापतियों-द्वारा पराजित हुआ और युद्धमें मारा गया।

वंगालके इन सुलतानोके शासनकालमे सिकन्दरशाह-द्वारा पाण्डुआमे निर्मित अत्यन्त विशाल एवं सुन्दर अदीना मसजिद, गौडमे हुसैनशाहका मकवरा एवं छोटी सुनहली मसजिद, नसरतशाहकी वड़ी सुनहली मसजिद और कदमरसूल तथा राजधानी गौड़ एवं अन्य प्रमुख नगरोमे निर्मित भवन कलापूर्ण एवं दर्शनीय है। इन्हीके राजत्वमे १३४६ ई० मे कवि कृत्तिवासने वँगला रामायण लिखी और हुसैनशाह एवं नसरतशाहने महाभारतके भी वँगला अनुवाद कराये। इस प्रकार इन सुलतानोने न केवल प्राचीन भारतीय साहित्यमे अभिरुचि दिखायी वरन् वँगला भाषाके विकासको भी प्रोत्साहन दिया। वंगालमे अब शैव और शाक्त मतोका ही वाहुल्य था किन्तु इसी कालमे चैतन्य महाप्रभुने कृष्णभक्ति और

वैष्णवधर्मका भी प्रचार किया।

जौनपुर (१३९९-१४७६ ई०)—फ़ीरोजशाह तुगलुकने अपने भाई जूनखाँकी स्मृतिमे जौनपुर नगर बसाया था। १३९४ ई० मे उसके उत्तराधिकारी महमूद तुगलुकने अपने कृपापात्र खोजे सरदार ख्वाजाजहाँको मलिकुश्शर्ककी उपाधि देकर जौनपुरका सूबेदार नियुक्त किया। तैमूरके आक्रमणसे लाभ उठाकर १३९९ ई० मे ख्वाजाजहाँका दत्तक पुत्र और उत्तराधिकारी मुबारकशाह शर्की स्वतन्त्र हो गया। इसके उपरान्त उसके भाई इब्राहीमशाह शर्की (१४००-४० ई०) ने शान्तिपूर्वक राज्य किया। वह पक्का मुसलमान था, रक्तपात तो उसने अधिक नहीं किया किन्तु हिन्दुओंपर अन्य सुलतानोंकी भाँति जोर-जुल्म किये ही। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी महमूदशाह शर्की भी सफल शासक रहा। सम्भवतया इसी सुलतानके दरबारमे कर्णाटकके जैनाचार्य वादी सिहकीत्तिने आकर शास्त्रार्थ किया था और जयपत्र प्राप्त किया था। सिहकीत्तिका समय १४५० ई० के लगभग है। 'अश्वपतेर्हिनतनय-वंगाल्यदेशावृत-दिल्लीपुरेड महम्मुद सूरीत्राण'-वर्णन उस कालके सुलतानोमे सबसे अधिक इसीपर लागू होता है। तदुपरान्त हुसैनशाह शर्की सुलतान बना। १४७६ ई० मे दिल्लीके सुलतान बहलोल लोदीने उसे पराजित करके जौनपुरसे निकाल दिया और उसने जाकर बगालके सुलतानकी शरण ली। बहलोलने जौनपुरका सूबा अपने बेटे बारबकशाहको दे दिया, किन्तु सिकन्दर लोदीने बारबकशाहको भी मारकर जौनपुरको दिल्ली राज्यमे ही मिला लिया। जौनपुरके शर्की सुलतान अरबी और फारसी साहित्यके भारी प्रश्रयदाता थे। उन्होने जौनपुरमे अनेक सुन्दर एवं विशाल मसजिदे भी बनवायी जिनमे अटालादेवी मसजिद अति प्रसिद्ध है। इनकी निर्माण-कलामे भारतीय प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

मालवा (१३८७-१५६४ ई०)—मध्य भारतका वह बहुभाग जो उत्तरमे चम्बल, दक्षिणमे नर्मदा, पूर्वमें बुन्देलखण्ड और पश्चिममे गुजरात-

से वेष्टित है मालवा कहलाता है। यह उर्वर, समृद्ध एवं सुरम्य प्रदेश चिरकाल तक भारी सास्कृतिक केन्द्र भी रहा। प्राचीन राजधानियो अवन्ति, उज्जैनी, दशपुर आदिके उपरान्त परमारोंके राज्यकालमे धारा नगरीका उत्कर्ष हुआ। इल्तुतमिशने १३वी शतीके पूर्वार्धमे मालवापर आक्रमण किया था और तत्कालीन परमार-नरेशको अधीनता स्वीकार करनेपर बाध्य किया था। १३१० ई० में अलाउद्दीन खलजीने मालवाके हिन्दूराज्यका अन्त करके उसे साम्राज्यका एक प्रान्त बना लिया और वहाँ एक मुसलमान सूबेदार नियुक्त कर दिया। फीरोज़ तुगलुकके अन्तिम समयमें दिलावरखाँ (१३८७–१४०० ई०) मालवाका सूबेदार था। वह नाममात्रको ही दिल्लीके अधीन था और तैमूरके आक्रमणके उपरान्त सुलतान शिहाबुद्दीन गोरी (१४०१–१४०५ ई०) के नामसे उसने अपने-आपको मालवाका स्वतन्त्र सुलतान घोषित कर दिया, तथा धाराका परित्याग करके माण्डू (मण्डपदुर्ग) को अपनी राजधानी बनाया। उसके पुत्र अलपखाँ या 'अलमसाहि' उपनाम सुलतान होशंगशाह गोरी (१४०५–१४३२ ई०) ने पिताको विष देकर राज्य प्राप्त किया और माण्डू राजधानीको सुन्दर-सुन्दर भवनोंसे अलकृत किया। गुजरातके सुलतान उसके प्रधान शत्रु थे। १४०८ ई० मे गुजरातके सुलतान मुज़फ्फरने उसे पराजित करके बन्दी कर लिया किन्तु एक वर्ष बाद मुक्त कर दिया। मालवा और गुजरातके बीच बादमे भी निरन्तर युद्ध चलते रहे, कभी एक पक्षकी जीत होती कभी दूसरेकी। होशग गोरीका पुत्र मुहम्मद गोरी (१४३२–१४३५ ई०) अयोग्य, कुव्यसनी और मद्यपायी था। उसके मन्त्री महमूद खलजी (१४३६–१४८२ ई०) ने विष देकर उसे मार डाला और स्वय सुलतान बन बैठा। मालवाके सुलतानोमे वह सर्वाधिक योग्य व्यक्ति था। गुजरातके सुलतान, बहमनी सुलतान और राजस्थानके राजपूत राजे उसके प्रधान शत्रु थे और उनके साथ उसके निरन्तर युद्ध चले। इतिहासकार फरिश्ताने उसके न्याय, शासन और चरित्रकी बडी प्रशंसा की

है। उसकी हिन्दू और मुसलमान प्रजा समान रूपसे सुखी और सम्पन्न थी। चित्तौड़के राणा कुम्भके साथ उसके जो युद्ध हुए उनकी स्मृतिमे राणाने चित्तौडमे कीर्त्तिस्तम्भ बनवाया और महमूदने माण्डूमे। उसका पुत्र सुलतान गयासुद्दीन (१४८३–१५०१ ई०) दिल्लीके सिकन्दर लोदी, गुजरातके महमूद बेगडा, ग्वालियरके मानसिह तोमर और चित्तौडके राणा रायमल्लका प्रतिद्वन्द्वी था। उसका पुत्र नासिरुद्दीन (१५०१–१५१२ ई०) भी अपने पिताको विष-द्वारा मारकर सुलतान बना, वह बहुत दुराचारी और निर्दयी था। उसका पुत्र महमूद द्वितीय (१५१२–३१ ई०) इस वंशका अन्तिम सुलतान था जिसे १५३१ ई० मे गुजरातके बहादुरशाहने पराजित करके मार दिया और मालवाको अपने राज्यमे मिला लिया। १५३५ ई० मे हुमायूँने मालवाको गुजरातसे छीनकर अपने अधीन किया और मालवाके राज्यवंशके ही एक व्यक्तिको जो उसके आश्रयमे चला गया था अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। किन्तु हुमायूँका अधिकार अल्पस्थायी ही रहा। अन्ततः मालवाके बाजबहादुरको १५६४ ई० मे अकबरने समाप्त करके इस प्रदेशको अपने राज्यमे मिलाया। बाजबहादुर और रूपमतीको प्रेम-गाथा सुप्रसिद्ध है।

मालवाके इन सुलतानोने माण्डूका विशाल सुदृढ दुर्ग एवं नगर, हिडोला महल, जहाज महल, बाजबहादुर और रूपमतीका महल आदि सुन्दर राजप्रासाद, भव्य जामामसजिद, होशंग गोरीका सुन्दर मक़बरा आदि अनेक कलापूर्ण दर्शनीय कृतियोका निर्माण किया जिनमे माण्डूके प्राचीन जैन एवं हिन्दू मन्दिरोकी सामग्री भी प्रयुक्त हुई। वे धर्म-सहिष्णु भी थे और हिन्दुओपर उन्होने धर्मके नामपर विशेष अत्याचार नही किये। सुलतान होशंग गोरी अलपखॉके समयमे, १४२४ ई० मे दिल्लीके मूल-संघी भट्टारक शुभचन्द्रके उपदेशसे इस सुलतानके राज्यके संघपति होलीचन्द्र आदि अनेक धनी श्रावकोने देवगढमे तीर्थंकरो और गुरुओकी कई प्रतिमाएँ निर्माण कराकर भारी प्रतिष्ठोत्सव किया था। शिलालेखमे

सुलतानकी भी बहुत प्रशंसा है। मालवामें इस कालमें दिगम्बर आम्नायके नन्दि, काष्ठा और सेनसंघोके कई पट्ट विद्यमान थे। अनेक हिन्दू और जैन माण्डू राज्यमे उच्च राजकीय पदोपर भी नियुक्त थे जिनमें-से एक जैनवंश बहुत प्रसिद्ध हुआ—संघपति झम्पण सूबेदार दिलावरखाँके पूर्वजोके समयमें राजमन्त्री था। उसका पुत्र बाहड स्वयं दिलावरखाँ उपनाम शिहाबुद्दीन गोरीका मन्त्री था और उसका भाई पद्म भी। बाहड-का पुत्र मण्डन सुलतान होशंग गोरीका महाप्रधान या प्रधान मन्त्री था। यह बडा शासन-कुशल और साथ ही महान् विद्वान् एवं साहित्यकार था। काव्यमण्डन या कौरव-पाण्डवोदयकथा, शृंगारमण्डन, संगीतमण्डन, सारस्वतमण्डन आदि विविधविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोकी उसने रचना की थी और वह सर्वविद्याविशारद कहलाता था। मण्डनके चचेरे भाई संघपति धनदराजने भी १४३४ ई० मे शतकत्रयकी रचना की थी। सम्भवतया मण्डनके ही वंशका मेघ नामक व्यक्ति सुलतान गयासुद्दीन खलजीका मन्त्री था और उसे 'मफरल-मलिक'की उपाधि प्राप्त थी। इसका भतीजा पुंजराज भी उच्च पदपर आसीन था, यह हिन्दुआ राय वजीर कहलाता था और भारी विद्वान् था। १५०० ई० में उसने सारस्वतप्रक्रिया नामक व्याकरणकी टीकाकी रचना की थी और उसकी प्रेरणापर ईश्वरसूरिने ललितागचरितकी रचना की थी। गयासुद्दीनके समयमे ही १४९७ ई० मे श्रुतकीर्त्तिके हरिवंशपुराणकी एक प्रतिलिपि जेरहट नगरमे करायी गयी थी। अतः स्पष्ट है कि मुसलमान सूबेदारो और सुलतानोके काल (लगभग १३००–१५५० ई०) मे मालवामें हिन्दू और जैन अच्छी अवस्थामें थे। इस कालके अनेक जैन-मन्दिर भी माण्डू व अन्य स्थानोमें पाये जाते है। सुलतानोकी धार्मिक उदारता अवश्य ही इसमे साधक थी।

गुजरात (१३९१–१५७३ ई०) या गुर्जरदेश, जिसे सुराष्ट्र भी कहा जाता था और जिसमे काठियावाड़ सम्मिलित है, मालवाकी भाँति

ही समृद्ध, सुरम्य और उर्वर प्रदेश रहा है। समुद्रतटके निकट होनेके कारण विदेशोके साथ समुद्री व्यापारका भी वह प्रमुख द्वार रहा है। १२९७ ई० मे अलाउद्दीन खलजीके सेनापति उलुगखाँ और नसरतखाँ ने कर्ण बघेलेका अन्त करके इस देशको दिल्ली-साम्राज्यमे मिला लिया था, और तभीसे दिल्लीके सुलतानोके सूबेदार यहाँ शासन करते थे। १३९१ ई० मे जफरखाँ गुजरातका सूबेदार नियुक्त हुआ। वह नाम मात्रको ही दिल्लीके अधीन था। १४०१ ई० मे उसने अपने पुत्र तातारखाँको सुलतान नासिरुद्दीन मुहम्मदशाहके नामसे गुजरातका स्वतन्त्र बादशाह बना दिया। किन्तु १४०७ ई० मे स्वयं ही उसे विष देकर मार डाला और मुजफ्फरशाहके नामसे स्वयं ही सुलतान बन गया। १४११ ई० मे उसके पोते अलपखाँने उसे भी विष देकर मार डाला और अहमदशाह (१४११–१४४१ ई०) के नामसे सुलतान बना। कर्णावतीको अहमदाबाद नाम देकर उसने अपनी राजधानी बनाया और उसे इतना सुन्दर बना लिया कि विदेशी यात्री इस नगरीकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। बहमनी सुलतान फीरोज उसका मित्र था तथा मालवाके सुलतान, चित्तौडके राणा और असीरगढके राजा उसके प्रधान शत्रु थे। वह निरन्तर युद्धोमे संलग्न रहा और प्रायः सदैव सफल रहा, फलस्वरूप अपने राज्यका उसने काफी विस्तार कर लिया। हिन्दुओके मन्दिरोको तोडना, उनपर अत्याचार करना और इस्लामका प्रचार एवं मुसलमानोकी संख्या बढ़ाना सभी सुलतानोका खब्त था, उसका भी था। किन्तु ये कार्य युद्ध और विद्रोहदमन आदि अवसरोपर, सो भी प्रायः दिखावेके लिए ही अधिक किये जाते थे। सामान्यतः अपनी हिन्दू, जैन प्रजाके साथ उदारता और सहिष्णुताका ही बर्ताव होता था। उसका उत्तराधिकारी सामान्य श्रेणीका व्यक्ति था, किन्तु पोता सुलतान महमूद बेगड़ा (१४५९-१५११ ई०) अपने दीर्घकालीन शासन, विशाल काय, दानवो-जैसे भोजन, चारित्रिक विशेषताओं और कार्य-कलापोके लिए दूर-दूर प्रसिद्ध हो गया। राज्यकी भी उसके

समयमें सर्वाधिक उन्नति हुई। वह बड़ा युद्धप्रिय था और युद्धोमे प्रायः सदैव सफल भी रहा। चम्पानेर, वड़ौदा और जूनागढ़के दुर्गोंको उसने हस्तगत किया। तुर्कोंकी सहायतासे उसने पुर्तगालियोको भी हराया किन्तु भारतसे उन्हे वाहर निकालनेमे असमर्थ रहा। वचपनसे ही विषपान करनेकी आदतके कारण उसका विषाक्त शरीर जिसपर मक्खी भी बैठते ही मर जाती थी, नित्यका दस-वारह सेर ठोस भोजन, कमर तक लटकती दाढी और सिरके पीछे लपेटकर वाँधनेवाली मूँछोने उसे संसारका आश्चर्य वना दिया था। उसका राजकवि राजविनोदका कर्त्ता उदयराज था। इस सुलतानका उत्तराधिकारी निकम्मा था किन्तु पोता वहादुरशाह (१५२६–३७ ई०) अन्तिम सुलतानोमे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा। उसने मालवाके महमूद खलजीको पराजित करके ३–४ वर्ष मालवाको अपने राज्यमे मिलाये रखा। १५३४ ई० में उसने चित्तौड़ विजय किया और वहाँके वीरोने जौहर करके अपना अन्त किया। किन्तु १५३५ ई० मे हुमायूँने उसे वुरी तरह पराजित किया और उसने भागकर मालवामें शरण ली। हुमायूँके लौट जानेपर वह फिर अपने राज्यपर अधिकृत हो गया। १५३७ ई० मे ३१ वर्षकी आयुमे पुर्तगालियोने, जिनके साथ उसने मैत्री सन्धि कर ली थी, विश्वासघात-द्वारा वहादुरशाहका वध कर दिया। वह निस्सन्तान था। उसके वाद देशमे अराजकता और अव्यवस्था ही चलती रही, कई दुर्वल शासक हुए, हत्याओ और षड्यन्त्रोका वोलवाला रहा। अन्ततः १५७३ में अकवरने गुजरातको विजय करके अपने साम्राज्यमें मिला लिया।

गुजरातके सुलतानोने राजधानी अहमदावादको उस कालकी सर्वाधिक सुन्दर महानगरी वना दिया था। उन्होने अहमदावाद, खम्भात तथा अन्य स्थानोमें अनेक अत्यन्त दर्शनीय एवं कलापूर्ण इमारतें वनवायी जिनपर हिन्दू और जैन-कलाका प्रत्यक्ष प्रभाव है। गुजरातमें अनगिनत लक्षाधीश एवं कोटचधीश व्यापारी और सेठ थे जिनमें-से अधिकांश उस कालमे भी

जैनी ही थे। अनेक हिन्दू और जैन राज्यमे उच्चपदोंपर भी आसीन थे। जैनियोके देलवाडा, आवू, शत्रुजय, गिरनार, अन्हिलवाडा, अहमदाबाद आदिके प्रसिद्ध मन्दिर उस कालमें भी अधिकाशतः सुरक्षित रहे और कुछ नवीन भी बने। इस कालमे दिगम्बर आम्नायके लाटबागड संघका भी इस प्रदेशमे काफी प्रभाव था। १५वी शताब्दी तक सूरत, सौजित्रा, भड़ौच, ईडर आदि कई स्थानोमे दिगम्बरी भट्टारकोंकी गद्दियाँ स्थापित हो चुकी थीं और उनमे-से आचार्य सकलकीर्त्ति, ब्रह्म श्रुतसागर, ब्रह्म नेमिदत्त, ज्ञानभूपण, शुभचन्द्र आदि अनेक विद्वानोने विविधविषयक विपुल संस्कृत-साहित्यकी रचना की थी। इनके अतिरिक्त जिनेश्वर और भद्रेश्वरकी कथावलियाँ (लगभग १२०० ई०), प्रभाचन्द्रका प्रभावकचरित्र (१२७७ ई०), मेरुतुगकी प्रबन्ध-चिन्तामणि (१३०५ ई०), जिनप्रभसूरिका विविधतीर्थकल्प (१३३२ ई०), राजशेखरका प्रबन्धकोष (१३४८ ई०) आदि महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ भी मुसलमानी कालमे ही लिखे गये। उपरान्त कालमे भी जैन मुनियो, यतियो और विद्वानोद्वारा साहित्य-सृजन होता रहा। १५वी शतोमे अहमदाबादमे जैन-ग्रन्थोकी प्रतिलिपियाँ करनेका कार्य कई संस्थाओमे बड़े पैमानेपर होता था। इसी कालमे अहमदाबादके लौकाशाह (१४२०-१४७६ ई०) नामके एक जैन सुधारकने मुसलमानी शासनकालको मन्दिर और मूर्त्तियोके प्रतिकूल समझकर मन्दिर और मूर्त्तियोका विरोध किया। उसके द्वारा प्रचलित लुंकामतमे, जो कालान्तरमे जैनोका श्वेताम्बर-स्थानकवासी सम्प्रदाय कहलाया, मूर्त्तिपूजा निषिद्ध मानी जाती है। नारायणके पुत्र मण्डनमिश्र (१४३० ई०) अहमदशाहके राजवैद्य थे और उनके पुत्र अनन्तने १४५७ ई० मे काम-समूहकी रचना की थी।

कश्मीर (१३००-१५८६ ई०)—कश्मीरमे १३वी शती ई० के अन्त तक उत्पलवंशी हिन्दू राजाओका स्वतन्त्र राज्य बना रहा। १४वी शतीके प्रारम्भमे स्वातके शाह मिर्जा या मोर नामक मुसलमानने जो अन्तिम

राजाका मन्त्री बन गया था राजाको मारकर सिंहासन हस्तगत कर लिया और कश्मीरका सुल्तान बन बैठा। इस वंशका छठा सुलतान सिकन्दर (१३८९-१४१० ई०) बड़ा क्रूर, अत्याचारी और धर्मान्ध था। तैमूरके आक्रमणसे सौभाग्यसे कश्मीरकी रक्षा हो गयी किन्तु सिकन्दरके अत्याचारोंने अधिकांश हिन्दू जनताको मुसलमान बननेपर विवश कर दिया। अनेक हिन्दू देश छोड़कर चले गये। जो रह गये उनपर जजिया लगा और बड़ी दुर्दशामें उनका जीवन बीता। मन्दिरों और मूर्त्तियोंका तो वह ऐसा शत्रु था कि उसका नाम ही मूर्त्ति-भंजक पड़ गया। किन्तु उसके उपरान्त, आठवाँ सुलतान जैनुलआबदीन (१४१७-१४६७ ई०) उसके बिलकुल विपरीत था। वह बड़ा सहिष्णु और उदार था। उसने हिन्दुओं-पर-से जजिया कर उठा दिया, निर्वासित हिन्दुओंको फिर देशमें वापस बुला लिया और उन्हें नवीन मन्दिरोंके निर्माणकी भी सहर्ष अनुमति दे दी। उसने राज्यमें गोवध बन्द करा दिया, वह स्वयं भी मांस न खाता था, एकपत्नीव्रती और बड़ा सदाचारी था। उसने संस्कृत और अरबी ग्रन्थोंके अनुवाद कराये और साहित्य, संगीत एवं चित्रकलाको भारी प्रोत्साहन दिया। वह सारी प्रजाका प्रेमभाजन हो गया और सन्त तुल्य माना जाने लगा, आज भी कश्मीरी 'बुधशाह' बादशाहके नामसे उसे याद करते हैं। उसके बाद कई साधारण एवं अयोग्य शासक हुए। हुमायूँने कश्मीरकी विजय करके अपने एक सम्बन्धी मिर्जा हैदर (१५४१–५२ ई०) को कश्मीरका शासक नियुक्त किया। तदुपरान्त इस देशमें चाकवंशका राज्य चला जिसका १५८६ ई० में अकबरने अन्त करके कश्मीरको अपने साम्राज्यमें मिला लिया।

बहमनीराज्य (१३४७–१५२६ ई०)—हसन नामक एक तुर्क या ईरानी सिपाही दौलताबादके गंगू नामक ब्राह्मणका सेवक था। उस ब्राह्मण-की कृपासे हसनका उत्कर्ष हुआ अतः वह अपने-आपको हसनगंगू कहता था। जफरखाँ उपाधि धारण करके वह शक्ति-संचय करने लगा और

१३४७ ई० मे जब मुहम्मद तुगलुकके साम्राज्यमे सर्वत्र विप्लव एवं विद्रोह हो रहे थे जफरखाँने दौलताबादपर कब्जा कर लिया। वह अपने-आपको ईरानके बहमनशाह-अरदशीर-दराजदस्तका वंशज कहता था अतः अलाउद्दीन बहमनशाहके नामसे दक्षिणापथका स्वतन्त्र सुलतान बन बैठा। उसने ही बहमनी-राज्य और वंशकी स्थापना की और कुल्बर्ग (गुल्बर्ग) को अहसानाबाद नामसे अपनी राजधानी बनाया। १३४७–१३५८ ई० तक उसने राज्य किया।

दक्षिणमे १३३६ ई० मे संगमके पुत्रों-द्वारा विजयनगरके हिन्दू-राज्यकी स्थापना बहमनी-राज्यकी स्थापनामे प्रधान प्रेरक थी। उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिममे प्रदेश विजय करके उसने अपना पर्याप्त राज्यविस्तार कर लिया। अन्य सुलतानोकी भाँति बहमनी-सुलतान भी कट्टर मुसलमान थे, हिन्दुओ और उनके धर्मके विद्वेषी शत्रु थे तथा निर्दयी एवं रक्तपिपासु थे। उनके प्रधान राजनैतिक शत्रु विजयनगरके हिन्दू सम्राट् थे, जिनके साथ प्रारम्भसे अन्त तक उनके निरन्तर युद्ध चलते रहे। उत्तर और पश्चिममें मालवा एवं गुजरातके सुलतानोके साथ उनके राजनैतिक सम्बन्ध कभी मित्र रूपमे और कभी शत्रु रूपमे चलते रहे।

उसका उत्तराधिकारी मुहम्मदशाह प्रथम (१३५८–१३७३ ई०) अत्यन्त नृशंस हत्यारा था, नरसंहार करनेमे उसे आनन्द आता था। विजयनगरके साथ उसके भीषण युद्ध निरन्तर चले जिनमे लाखो व्यक्ति मारे गये। इस नरपशु सुलतानको पाँच लाख हिन्दुओंको हत्याका श्रेय दिया जाता है, देशकी जनसंख्या अत्यधिक कम हो गयी अन्तत. दोनो पक्षोने यह निर्णय किया कि युद्ध-बन्दियो एव युद्धमे भाग न लेनेवालोको हत्या न की जायेगी। राज्यका सुयोग्य मन्त्री सैफुद्दीन गोरी प्रथम सुलतान-के समयस हो चला आ रहा था और छठे सुलतानके समय तक उसी पदपर चलता रहा। उसके कारण आन्तरिक शासन बहुत कुछ सुव्य-वस्थित रहा।

१३७३ ई० से १३९७ ई० के बीच २४ वर्षोंमें पाँच सुलतान गद्दीपर बैठे। इस कालमे विजयनगरका सम्राट् हरिहर द्वितीय था, वह भी शान्तिप्रिय था, अतः दोनो राज्योंके बीच प्रायः शान्ति रही। आठवाँ सुलतान फीरोज (१३९७–१४२२ ई०) था जो मुहम्मदशाह प्रथमका ही एक भतीजा था। उसके राज्यके प्रारम्भमे ही महाराष्ट्रमे १२ वर्षका भीषण अकाल पडा। यह सुलतान भी बडा नृशंस एवं हिन्दू-विद्वेषी था। वह विजयनगरके साथ निरन्तर युद्ध करता रहा। एक वार तो वह चार मास तक विजयनगरका घेरा डाले पडा रहा और कुछ घण्टोके लिए नगरमें प्रवेश करनेमे भी सफल हुआ। उसने दो हिन्दू-कन्याओसे भी विवाह किया था जिनमे-से एक विजयनगरकी राजकुमारी बतायी जाती है। वह ईसाइयोकी बाइबिल भी चावसे पढता था, शरावका बडा पियक्कड था, संगीतका भी भारी प्रेमी था। उसके हरममें विभिन्न देशोंकी सैकडो स्त्रियाँ थी और कहते है कि वह उन सबसे उन्हीकी भाषाओमें वार्तालाप कर सकता था। यूरॅपकी नारियो एवं अन्य वस्तुओंको वह गोआ और दभोलके द्वारोसे प्राप्त करता था। भीमाके किनारे फीरोजाबाद नगर उसने बसाया और वहाँ एक दुर्ग और महल बनवाया। कुलबर्गमें उसने अनेक सुन्दर भवन बनवाये जिनमे जामामसजिद दर्शनीय है और सम्पूर्ण भारतमे किन्ही अंशोमे अद्वितीय समझी जाती है। उसके समयमे बहमनी-राज्य अपने चरमोत्कर्षपर था। विजयनगरके साथ अपने अन्तिम युद्ध (१४२० ई०) में वह बुरी तरह पराजित हुआ, जिसके सदमेसे वह शीघ्र ही मर गया।

वस्तुत इस वृद्ध सुलतानको उसके भाई अहमदशाह (१४२२–३५ ई०) ने षड्यन्त्र-द्वारा पदच्युत करके मार डाला था और वह स्वयं सुल्तान बन बैठा। हिन्दू-विद्वेषमें यह अपने पूर्वजोसे भी आगे बढ गया। फ़ीरोज़की पराजयका बदला लेनेके लिए उसने विजयनगर राज्यपर भीषण आक्रमण किया और निःशस्त्र प्रजाके स्त्री, बच्चों, वृद्धो जिसे देखा उसीका

का सुदृढ दुर्ग विजय किया, गोआपर अधिकार किया, अगले वर्ष पड़नेवाले भीषण अकालका सामना किया, १४८१ ई० में कोंडपल्लीपर आक्रमण किया जहाँ सुलतानने अपने हाथोंसे प्रमुख हिन्दू-मन्दिर और उसकी मूर्त्तिको तोड़ा तथा ब्राह्मण पुजारियोंका वध करके वह गाज़ी बना। तदनन्तर उसने पवित्र महानगरी कांचीपर आक्रमण किया और वहाँके प्रधान मन्दिरोंको तोड़ा, लूटा, पुजारियों और रक्षकोंका वध किया तथा नगरको बहुत कुछ विध्वंस किया। यह सुलतान भयंकर शराबी था। दक्षिणी दलने षड्यन्त्र करके महमूदगवाँको, जो ईरानी था, शराबी सुलतानकी क्रोधाग्निका छलसे शिकार बनवा दिया। मन्त्रीकी हत्या करवानेके बाद सुलतान बहुत पछताया और शराबके कारण ही अन्तमें मर गया। महमूदगवाँके मरते ही सल्तनतका पतन आरम्भ हो गया। मुहम्मदशाहके द्वादशवर्षीय पुत्र महमूदशाह (१४८२–१५१८ ई०) ने नाममात्रके लिए ही शासन किया। वह अयोग्य और निकम्मा था, दिन-रात भोग-विलासमें ही मस्त रहता।

शनैः-शनैः राज्यके विभिन्न सूबे स्वतन्त्र हो गये और बहमनी-सुलतानका अधिकार राजधानी बीदरके आस-पास थोड़ेसे प्रदेशपर ही रह गया। उसमें भी सम्पूर्ण राज्यकार्य एक चालाक तुर्क सरदार कासिम बरीदके हाथोंमें था। उसके बाद उसका पुत्र अमीर बरीद सर्वे-सर्वा हो गया। सुलतान महमूदकी मृत्युके बाद एक-एक करके उसने चार सुलतान गद्दीपर बैठाये और अन्ततः १५२६ ई० में बहमनी वंशका सर्वथा अन्त करके वह स्वयं स्वतन्त्र सुलतान बन बैठा। बहमनियोंका राज्यकाल दुराचार, अनाचार, अत्याचार, षड्यन्त्रों, हत्याओं और नरसंहारसे पूर्ण है। हिन्दुओंके विरुद्ध वह एक अविच्छिन्न जहाद था; उसकी सेनाएँ सशस्त्र रक्तलोलुप नरपशुओंकी भीड़ मात्र थीं। जन-साधारणकी अत्यन्त दुर्दशा थी। किन्तु सब अत्याचारों, नरसंहार और बलात् धर्मपरिवर्तनके प्रयत्नोंके बावजूद देशके दशमांश निवासियोंको भी वे मुसलमान न बना सके। कुछ सुदृढ

दुर्ग, मसजिदें, महल आदि उन्होंने अवश्य बनवाये, मुसलमानी विद्याको भी प्रोत्साहन दिया तथापि शान्तिपूर्ण सांस्कृतिक कार्योंके लिए नृशंस सुलतान उपयुक्त ही न थे ।

बहमनी-साम्राज्य बिखरकर जिन विभिन्न स्वतन्त्र मुसलमानी राज्योमे परिवर्तित हुआ उनमे सर्वप्रथम **बरारकी इमादशाही** (१४८४–१५७४ ई०) थी । बरार (प्राचीन विदर्भ) बहमनी-साम्राज्यका धुर उत्तरी सूबा था । १४८४ या १४९० ई० मे फतहुल्ला इमादुलमुल्कने, जो पहले हिन्दू था, अपनी स्वतन्त्रता घोषित की । उसके वंशमे चार सुलतान हुए और १५७४ ई० मे इस राज्यका अन्त होकर यह अहमदनगर राज्यमे ही मिल गया जिसने इस सूबेको १५९६ ई० मे अकबरके पुत्र मुरादको दे दिया ।

बीदरकी बरीदशाही (१५२६–१६०९ ई०)—अन्तिम बहमनी-सुलतान महमूदका मन्त्री क़ासिम बरीद १४९२ ई० से ही सर्वेसर्वा हो गया था, १५२६ ई० मे उसके पुत्र अमीर बरीदने बहमनी राज्य और वंशका नामके लिए भी अन्त कर दिया और अपने-आपको ही सुलतान घोषित कर दिया । १६०९ ई० के लगभग इस वंशका अन्त करके उसके राज्यको बीजापुरने अपनेमे मिला दिया । बीदरमे अमीर बरीदकी दरगाह तथा एकाध अन्य इमारतोको छोड़कर इस छोटी-सी सल्तनतके सम्बन्धमे कुछ उल्लेखनीय नही है ।

गोलकुण्डाकी कुतुबशाही (१५१८–१६८७ ई०) वारंगलके प्राचीन ककातीय राज्यके प्रदेशपर स्थापित हुई । मन्त्री महमूदगवाँ-द्वारा नियुक्त इस प्रदेशका सूबेदार एक तुर्की सरदार सुलतान कुली-कुतुबशाह इस वंश और राज्यका संस्थापक था । १५१८ ई०मे वह स्वतन्त्र हो गया और ९० वर्षकी आयुमे अपने पुत्र जमशेद-(१५४३–५०ई०) द्वारा मार डाला गया । जमशेदका भाई इब्राहीम (१५५०–८०ई०) इस वंशका सर्वमहान् शासक था । गोलकुण्डाके सुलतान विजयनगर, बीजापुर और अहमदनगरके

संघर्ष एवं युद्धोंसे प्रायः अलग ही रहते थे, किन्तु १५६५ ई० के विजयनगर विरोधी संघमें इब्राहीम भी सम्मिलित था। उसका शासन अच्छा रहा, हिन्दुओंपर विशेष अत्याचार नहीं हुआ, वरन् वे राज्य-सेवामें भी बहुसंख्यामें नियुक्त होते थे और कभी-कभी ऊँचे पद भी प्राप्त कर लेते थे। उसके पुत्र मुहम्मद कुली (१५८०–१६११ ई०) के उपरान्त इस राज्यकी अवनति होने लगा और वह मुगल सम्राटोंकी प्रायः अधीनतामें ही चलता रहा। १६८७ ई० में औरंगजेबने इसका सर्वथा अन्त कर दिया। प्रथम कुतुबशाहने ही वारंगलका त्याग करके गोलकुण्डाको राजधानी बनाया था, सुलतान इब्राहीमके समयमें उस नगरकी बहुत उन्नति हुई। कुतुबशाही सुल्तानोंके सुन्दर मकबरों, गोलगुम्बद और सुदृढ़ किलेके लिए तथा अपनी हीरेकी खानके लिए गोलकुण्डा प्रसिद्ध है। यति शील-विजयके यात्रा-विवरणके अनुसार इस नगरमें उस कालमें कई सुन्दर जैनमन्दिर भी थे। १५८९ ई० में उसके अस्वास्थ्यकर होनेके कारण भागनगर (हैदराबाद) को राजधानी बनाया गया जो कालान्तरमें दक्खिनके निजाम नवाबोंकी प्रसिद्ध राजधानी बना।

अहमदनगरकी निज़ामशाही (१४९०–१६३७ ई०)—बीदरके बहमनी दरबारमें दक्षिणी दलके जिस नेता निजामुलमुल्क बहरीके षड्यन्त्रसे महमूदगवाँकी हत्या हुई थी और जो स्वयं थोड़े समय पश्चात् उसी प्रकार मार डाला गया था, उसके बेटे मलिक अहमदने जो कि जुन्नेरका सूबेदार था १४९० ई० में विद्रोह कर दिया। उसने महमूद बहमनीको पराजित करके अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी, अहमदनगरको अपनी राजधानी बनाया और वह स्वयं अहमद निजामशाहके नामसे इस वंशका प्रथम सुलतान (१४९०–१५०८ ई०) बना। १४९९ ई० में दौलताबादके दुर्गको हस्तगत करके उसने अपने राज्यको सुसंगठित कर लिया। उसके उत्तराधिकारी बुरहान निजामशाह (१५०८–५३ ई०) ने १५३७ ई० में शिया मत अंगीकार किया। वह अपने पड़ोसी हिन्दू और मुसलमान

राज्योके साथ बराबर लडता रहा और १५५० ई० मे उसने विजय-नगरके साथ सन्धि करके बीजापुरके विरुद्ध उसका साथ दिया। उसके उत्तराधिकारी हुसैनशाहने १४६५ ई० मे विजयनगर-विरोधी संघमे सक्रिय भाग लिया और उस महानगरीकी लूट तथा हिन्दू-राज्यके प्रदेशो-मे अपना हिस्सा प्राप्त किया। १५७४ ई० मे उसने बरार राज्यको विजय करके अपने राज्यमे मिला लिया। तदुपरान्त निजामशाहीकी अवनति होने लगी। सम्राट् अकबरके पुत्र मुरादके आक्रमणोमे अहमदनगरकी राजकुमारी और तत्कालीन बालक सुलतानकी बुआ चाँदबीबीने, जो कि बीजापुरके सुलतानके साथ विवाही थी, अहमदनगर आकर अपने भतीजे-के राज्यकी वीरतापूर्वक रक्षा की थी। अन्तत: १५९६ ई० मे बरारका सूबा लेकर तथा चाँदसुलतानके साथ सन्धि करके मुराद लौट गया। १६०० ई० मे मुगलोने फिर आक्रमण किया और इस बार चाँद सुलताना युद्धमे मारी गयी। किन्तु पूरे राज्यपर मुगलोका फिर भी अधिकार नही हुआ। १६३७ ई० मे शाहजहाँने इस राज्यका सर्वथा अन्त किया।

बीजापुरकी आदिलशाही (१४८९-१६८६ ई०) इन समस्त सल्तनतोमे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका संस्थापक बीजापुरका बहमनी सूबेदार यूसुफ आदिलखाँ था जो १४८९ ई० मे स्वतन्त्र हुआ और यूसुफ आदिलशाह (१४९०-१५१० ई०) के नामसे बीजापुरका प्रथम सुलतान हुआ। वह शिया मुसलमान था और १५०२ ई० मे उसने इसी धर्मको अपना राजधर्म बनाया। विजयनगर तथा दक्षिणकी उपरोक्त मुसल-मानी सल्तनतोके साथ उसके निरन्तर युद्ध चलते रहे। सुन्नी होनेके कारण उन्होने उसका और भी विरोध किया। गोआको उसने अपना प्रिय आवास बना रखा था, जिसके लिए पुर्तगालियोके साथ इसके युद्ध हुए, अन्ततः उन्होंने १५१० ई० मे उस नगरको अधिकृत कर लिया और वहाँके मुसलमानोका बुरी तरह संहार किया। इस सुलतानने मराठा

सरदार मुकन्दराओकी बहिनके साथ विवाह किया तथा मराठो और अन्य हिन्दुओको राज्यमें उच्च पदोपर भी नियुक्त किया। उसके राज्यमे लोकव्यवहारमे मराठी भाषाका ही प्रयोग होता था। वह मानव-स्वभावका ज्ञाता, बुद्धिमान्, न्यायी, सुन्दर, सुशिक्षित, विद्यारसिक और निपुण संगीतज्ञ था, साथ ही उदार और सहिष्णु भी था। बीजापुरके दुर्गका उसने पुनः निर्माण कराया था।

उसका पुत्र इस्माइलशाह (१५१०–३४ ई०), जो मराठा रानीसे उत्पन्न था, अपने पिताकी भाँति ही सुयोग्य था। सुलतान बननेके समय वह बालक था अत. उसके संरक्षक और मन्त्री कमालखाँने स्वयं राज्य हस्तगत करना चाहा किन्तु भेद खुल गया और वह मारा गया। इस्माइल भी पडोसी राज्योके साथ बराबर लड़ता रहा और विजयनगरसे रायचूर-का दोआब छीन लेनेमे सफल हुआ। ईरानके शाहने उसके दरबारमें एक राजदूत भेजा जिसका उसने बडे समारोहके साथ स्वागत किया।

उसका पुत्र मल्लू अयोग्य और दुराचारी था अतः कुछ मास पश्चात् ही उसे अन्धा करके पदच्युत कर दिया गया और उसका अन्य भाई इब्राहीम आदिलशाह प्रथम (१५३५–५७ ई०) सुलतान हुआ। उसने सुन्नी मत और दक्षिणी एव हब्शी सरदारोका पक्ष लिया अतः बहुत-से ईरानी आदि विदेशी सरदारोने विजयनगरके रामराजाको नौकरी कर ली। १५३५–३६ ई० मे सुलतान विजयनगरके कुछ सरदारोंके निमन्त्रण-पर वहाँ गया और बहुत-सा धन लेकर वापस लौटा। उसका मन्त्री असद-खाँ बहुत चतुर था, उसीकी कूटनीतिसे विजयनगरके विरुद्ध पाँचो मुसल-मान सुलतानोका संघ संगठित हुआ था। सारे शासनकालमे कूटनीतिक दाँव-पेंच चलते रहे। अन्तिम वर्षोंमे सुलतान मद्यपान और भोग-विलासमें अत्यधिक मग्न हो गया और बुरी मौत मरा।

उसका पुत्र अली आदिलशाह (१५५७–८० ई०) कट्टर शिया था और सुन्नियोका विरोधी था। १५५८ ई० में रामराजाके साथ सन्धि

करके उसकी सहायतासे उसने अहमदनगरपर आक्रमण किया और वहाँ निर्दयताके साथ लूट-मार की। इस अवसरपर रामराजाने मुसलमानोंपर जो अन्याचार किये और उनके प्रति जैसी घृणा प्रदर्शित की उससे सभी सुलतान आपसी झगड़ोंको भुलाकर उसका अन्त करनेपर कटिबद्ध हो गये। इसी उद्देश्यसे आपसी सम्बन्धोंको और अधिक पुष्ट करनेके लिए उसने अहमदनगरके हुसैन निजामशाहकी बहिन चाँदबीबीके साथ अपना और उसकी पुत्रीके साथ अपने पुत्रका विवाह कर लिया।

१५६४ ई० के दिसम्बर मासमें बीजापुर, अहमदनगर, बीदर और गोलकुण्डाके सुलतान अपनी-अपनी सेनाओं-सहित तालिकोटामें एकत्रित हुए और १५६५ ई० के प्रारम्भमें मंगलवार २३ जनवरीके दिन तालिकोटासे २५ मील दूर उनका विजयनगरकी सेनाके साथ भीषण युद्ध हुआ। वृद्ध रामराजा और उसके वीर सैनिक अत्यन्त वीरताके साथ लड़े और उन्होंने मुसलमानोंके पैर उखाड दिये। किन्तु विजयनगरके दुर्भाग्यसे कुछ हाथी भड़क गये, गड़बड़में रामराजा बन्दी हुआ और तुरन्त उसका सिर काट दिया गया, हिन्दुओंमें भगदड मच गयी, मुसलमानोंने बडी निर्दयताके साथ हिन्दुओंका संहार किया और लूट-मार करते हुए विजयनगरपर चढ़ दौड़े तथा कई सप्ताह पर्यन्त उस महानगरीका ऐसा भयंकर विध्वंस किया जिसका अन्य उदाहरण नहीं। सभी मुसलमान सुलतान धनी बन गये और विशेषकर अली-आदिलशाह अपार धन लेकर बीजापुर लौटा। १५७० ई० में सुलतानने अहमदनगरके साथ मिलकर पुर्तगालियोंकी बस्तियोंपर अधिकार करनेका विफल प्रयत्न किया। १५७९ ई० में एक खोजेके हाथों अली-आदिलशाहकी मृत्यु हुई।

उसका पुत्र इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (१५८०–१६२६ ई०) राज्य प्राप्त करनेके समय बालक ही था और १५८४ ई० तक उसकी माँ चाँदबीबी ही सब राज्यकार्य करती रही। तदुपरान्त वह अपने मायके अहमदनगर चली गयी और उस राज्यकी रक्षामें ही उसका अन्त हुआ।

१५९५ ई० में बीजापुर और अहमदनगरके बीच अन्तिम युद्ध हुआ। तदुपरान्त बीजापुर ही अकेला शक्तिशाली राज्य रह गया और मुगल सम्राट् ही उसके प्रधान शत्रु थे। यह सुलतान बहुत योग्य शासक था, परधर्मसहिष्णु भी था, अनेक ब्राह्मण और मराठे उसके राज्यमें उच्च पदोंपर नियुक्त थे, उसने भूमिका उत्तम बन्दोबस्त किया और पुर्तगालियोंसे भी मैत्री सम्बन्ध रखे। चित्रकलाको भी उसने प्रश्रय दिया। इसके समयमें बीजापुर-राज्य सर्वाधिक विस्तृत था और उसके पास अस्सी हजार सेना और भरा-पुरा राजकोष था। उसने कई सुन्दर इमारतें भी बनवायीं।

उसके पुत्र मुहम्मद आदिलशाह (१६२६–१६५६ ई०) ने १६३६ ई० में शाहजहाँकी अधीनता स्वीकार कर ली। उसीके समयमें वीर शिवाजीके नेतृत्वमें मराठा-शक्तिका उदय हुआ जो बीजापुरके पतनमें प्रधान कारण बनी। उसके पुत्र अली आदिलशाह द्वितीय (१६५६–७३ ई०) के साथ शिवाजीके अनेक युद्ध हुए। अन्ततः शिवाजीके नवोदित मराठा-राज्यकी स्वतन्त्र सत्ता बीजापुरको स्वीकार करनी पड़ी। अन्तिम सुलतान सिकन्दर आदिलशाह (१६७३–८६ ई०) को औरंगजेबने बन्दी बनाकर बीजापुर-राज्यका अन्त कर दिया।

बीजापुरके सुलतानोंने बीजापुर नगर, उसके गगन-महल-जैसे सुन्दर भवन, नहरें, अनेक मसजिदें और मकबरे बनवाये। बीजापुरमें एक बहुमूल्य विशाल पुस्तकालय था जिसके कई अद्भुत ग्रन्थ लन्दनके ब्रिटिश म्यूजियममें हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार फरिश्ताने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना इब्राहीम द्वितीयके आश्रयमें उसकी आज्ञासे ही की थी। समर्थ रामदास-जैसे सन्तोंने इन सुलतानोंके समयमें ही हिन्दू जनतामें जागृति उत्पन्न की थी।

खानदेशका फ़ारूक़ीवंश (१३८८–१६०१ ई०)—फीरोज तुगलुककी मृत्युके समय खानदेशका सूबा स्वतन्त्र हुआ। यह छोटा-सा

मुसलमानी राज्य अपने सुदृढ असीरगढ-दुर्गके लिए प्रसिद्ध था जिसे १६०१ ई० मे अकबरने विजय करके इस राज्यका अन्त किया। फारूकी सुलतानोकी राजधानी बुरहानपुर थी। ताप्तीकी घाटीमे स्थित यह छोटा-सा मुसलमानी राज्य भी पडोसी राज्योके साथ युद्धोमे संलग्न रहा और कुछ काल तक गुजरातके सुलतानोके अधीन भी रहा।

राजपूत राज्य—उपरोक्त मुसलमानी राज्योके अतिरिक्त इस कालमे कुछ शक्तिशाली हिन्दू राज्य भी थे जिनमे सर्वाधिक शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण दक्षिणका विजयनगर-साम्राज्य था जिसका वर्णन पिछले खण्डमे किया जा चुका है। उसके अतिरिक्त कोकण, कर्णाटक, तुलुव और सुदूर दक्षिणमे कुछ छोटे-छोटे हिन्दू और जैन राज्य थे। गोआकी पुर्तगाली शक्ति भी अपने समुद्री बलके कारण महत्त्वपूर्ण थी। उत्तरापथमे राजस्थानमे कई प्रसिद्ध राज्य थे यथा बीकानेर, जोधपुर, जयपुर (अम्बर), हाडाबूँदी, रणथम्भौर, चित्तौड आदि। इन सबमे चित्तौड़ राजधानीसे राज्य करनेवाले मेवाडके गुहिलौत या सीसोदियावशी राणा सबसे अधिक शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण थे। वास्तवमे ये ही सम्पूर्ण राजस्थानके नेता थे और मुसलमान सुलतानोके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। दिल्लीके तथा गुजरात और मालवाके सुलतानोके साथ उनके निरन्तर युद्ध होते रहे। महमूद गजनवीके लुटेरे आक्रमणो, मुहम्मद गोरी और उसके सिपहसालारोके देश-विजयके लिए किये गये हमलो तथा गुलामवशके शासकोके धावोसे भी अजमेर और रणथम्भौरको छोडकर प्राय: सम्पूर्ण राजस्थान सुरक्षित रहा।

१०वी शतीमे मेवाडका राजा शक्तिकुमार था। उसकी दसवी पीढीमे विजयसिह (११०८–१६ ई०) प्रसिद्ध राजा हुआ। इसका पुत्र अरिसिह था जिसके प्रपौत्र रणसिह (कर्ण) के पुत्र क्षेमसिहके वंशज रावल कहलाये और मूल राजधानी नागहद (नागदा) से ही राज्य करते रहे। रणसिहके एक पुत्र राहपके वंशज राणा कहलाये और वे सिसोदमे

रावलोके सामन्तोके रूपमें राज्य करते रहे। १२वी शती ई० के उत्तरार्ध-में क्षेमसिंहके पुत्र रावल सामन्तसिंहने सम्भवतया पृथ्वीराजके गोरी विरोधी संघमें एवं तलावडीके युद्धोमे भाग लिया था। १२१३–५२ ई० मे जैत्रसिंह (जैतल) एक महान् नरेश हुआ। उसीने चित्तौडपर अधिकार करके उसे राजधानी बनाया। १२६० ई० के लगभग उसका पुत्र तेजसिंह मेवाडपर शासन करता था। उसकी पट्टरानी जयतल्लदेवीकी जैन-धर्मपर अटूट श्रद्धा रही बतायी जाती है। इस रानीने चित्तौड दुर्गके भीतर ही श्याम पार्श्वनाथका सुन्दर मन्दिर बनवाया था, और भी अनेक जिन-मन्दिर बनवाये थे। उसके पुत्र वीरकेसरी रावल समरसिंहने आचार्य अमितगतिसूरिके उपदेशसे अपने राज्यमे जीव-हिंसा बन्द करा दी थी। समरसिंह अपनी वीरताके लिए इतिहास-प्रसिद्ध है।

राजपूतानेके अन्त:प्रदेशमे प्रवेश करनेवाला सर्वप्रथम मुसलमान सुलतान अलाउद्दीन खलजी था जिसने १३०० ई० मे रणथम्भौरपर भीषण आक्रमण किया किन्तु राजपूतोकी वीरताके कारण उस बार उसे विफल होकर लौटना पड़ा। अगले वर्ष उसने और अधिक भीषण आक्रमण किया और कई मास तक घेरा डाले रहनेके उपरान्त जब समस्त राजपूत जौहर-द्वारा कट मरे तब वह दुर्गपर अधिकार कर सका। इस समय रण-थम्भौरका स्वामी पृथ्वीराज चौहानका वंशज वीर शिरोमणि राणा हम्मीर-देव (१२८३–१३०१ ई०) था जो हम्मीरमहाकाव्य, हम्मीररासो आदि काव्य ग्रन्थोंका नायक है। मूल संघके भट्टारक धर्मचन्द्रका वह भक्त था। स्वराज्यकी रक्षामें लड़ते-लडते ही उसने वीरगति प्राप्त की। तदनन्तर खलजीने चित्तौड़पर आक्रमण किया। उस समय राणा भीमसिंह-का शासन था। कहा जाता है कि उनकी महारानी पद्मिनीके अतुल रूप-सौन्दर्यकी चर्चाने सुलतानको चित्तौडकी ओर आकृष्ट किया था। राजपूतो-की वीरताके कारण कई बार उसके प्रयत्न विफल हुए, अन्ततः १३०३ ई० मे महारानी पद्मिनी सहस्रो स्त्रियोंके साथ दुर्गके गर्भ-गृहमें चितामे भस्म

हो गयी और वीर राजपूत केसरिया बाना पहन लडते-लड़ते जूझ मरे। इस भयंकर जौहरमे चित्तौडके समस्त स्त्री-पुरुषोंका अन्त हो जानेपर ही मुसलमान किलेपर अधिकार कर सके। चित्तौडपर कुछ वर्ष तक अलाउद्दीन-का पुत्र खिज्रखाँ सूबेदार रहा और उसपर मुसलमानोंका अधिकार रहा। तदनन्तर राजपूतोंने उन्हे निकाल बाहर किया। १३२५ ई० के लगभग सीसीदिया शाखाके राणा हम्मीरके समयसे चित्तौड़ राज्यका उत्कर्ष वेगके साथ हुआ। और फिर कई शताब्दियो तक मुसलमानोको उसकी ओर दृष्टिपात करनेका साहस न हुआ।

१४वी शती ई० के उत्तरार्धमे मेवाडके बघेरवाल जैनी साहजीजाने चित्तौड़मे प्राचीन चन्द्रप्रभु चैत्यालयके निकट एक सतखना उत्तुग एवं अत्यन्त कलापूर्ण कीर्तिस्तम्भ (मानस्तम्भ) बनवाया या पुरातन अपूर्ण स्तम्भका जीर्णोद्धार कराके उसे पूर्ण किया था। कहा जाता है कि इस धर्मात्मा सेठने १०८ प्राचीन मन्दिरोका जीर्णोद्धार, उतने ही नवीन मन्दिरोका निर्माण एवं प्रतिष्ठा करायी थी, अठारह स्थानोमे अठारह विशाल श्रुत-भण्डार स्थापित किये थे और सवालाख बन्दियोंको मुक्त कराया था। उसके गुरु दिगम्बराचार्य सोमसेन भट्टारक थे।

१५वी शतोके प्रारम्भमे राणा लाखाके समयसे मेवाड़-राज्यकी शक्ति और अधिक बढ़ने लगी। रामदेव नामक जैन भी इनका एक मन्त्री था, लाखाका उत्तराधिकारी राणा मोकल भी योग्य शासक था। तदनन्तर महाराणा कुम्भ दिल्ली, मालवा और गुजरातके मुसलमान सुलतानोंका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी हुआ। मालवाके सुलतानपर विजय पानेके उपलक्ष्यमे इस राणाने चित्तौड़मे एक नौ-मंजिला उत्तुग कीर्त्तिस्तम्भ या जयस्तम्भ बनवाया था। इसीके आश्रयमे उसके एक ओसवाल महाजन गुणराजने १४३८ ई० मे जैन-कीर्तिस्तम्भके निकट स्थित महावीर स्वामीके प्राचीन मन्दिरका जोर्णोद्धार कराया था। स्वयं महाराणा कुम्भने मचीद दुर्गमे एक सुन्दर चैत्यालय बनवाया था। महाराणा कुम्भके प्रतापके आगे

पडोसी सुलतान थर-थर कांपते थे। १४४८ ई० मे राणाके कोठारी (कोपाध्यक्ष) वेलाकने, जो साह केल्हाका पुत्र था, राजमहलके निकट ही एक छोटा-सा कलापूर्ण जिन-मन्दिर बनवाया था। शान्तिनाथके इस मन्दिरको शृंगार-चँवरी कहते है। इसकी प्रतिष्ठा खरतरगच्छके आचार्य जिनसेनसूरिने की थी। कुम्भका उत्तराधिकारी राणा रायमल बहलोल और सिकन्दर लोदीका प्रतिद्वन्द्वी था। पडोसी मुलतानोंके साथ इसके भी अनेक युद्ध हुए। इसके समयमे चित्तौड दुर्गके गोमुखतीर्थके निकट १४८६ ई० मे एक जैन-मन्दिरका निर्माण हुआ था जिसमे दक्षिणके कर्णाटक देशसे लाकर जिन-मूर्ति स्थापित की गयी थी।

रायमलका उत्तराधिकारी महाराणा संग्रामसिंह या राणा सांगा पूर्व-मुगलकालके राणाओमें सर्वाधिक प्रसिद्ध है। वह सिकन्दर लोदी, इब्राहीम लोदी, बाबर मुगल और गुजरातके महमूद बेगडा एवं बहादुरशाह तथा मालवाके गयासुद्दीन, नासिरुद्दीन और मुहम्मद द्वितीयका प्रतिद्वन्द्वी था। ग्वालियरमे उस समय मानसिंह तोमरका राज्य था। सभी तत्कालीन हिन्दू एवं मुसल्मान नरेशोमे महाराणा सांगाकी अत्यन्त प्रतिष्ठा थी। अपने जीवनमे एक सौसे अधिक युद्धोमे इस वीर राणाने भाग लिया था, उसके शरीरपर तलवार और बरछे आदि शस्त्रोंके आघातके अस्सी चिह्न थे, युद्धोमे उसकी एक आँख, एक हाथ और एक टाँग भी जाती रही थी। उसके अधीन लगभग एक सौ बीस छोटे-बडे राजा, सामन्त और सरदार थे और उसकी सेनामे अनगिनत पदाति सैनिकोके अतिरिक्त ८०००० अश्वारोही तथा ५०० हाथी थे। १५२७ ई० मे जब दिल्लीकी असंख्य मुसलमान सेनापर पानीपतके प्रथम युद्धमे विजय पानेवाले शक्तिशाली मुगल-बादशाह बाबरका कनवाहके रणक्षेत्रमे इस प्रचण्ड राजपूत युद्ध-वीरसे सामना हुआ तो उसका दिल दहल गया। उसने आजन्म शराबको न छूनेकी प्रतिज्ञा की, रात-भर खुदाकी इबादत की और संयोगसे ही वह उस युद्धमे विजयी हुआ। किन्तु राणा और

उसके राज्यको स्पर्श करनेका उसे फिर भी साहस न हुआ। इस युद्धके परिणामसे राणाको बड़ा सदमा पहुँचा और १५२९ ई० में उस वीरकी मृत्यु हो गयी। इस महाराणा सांगाके राज्यकालमें ही दिल्लीके मूलसंघी पट्टाचार्य जिनचन्द्रसूरिके शिष्य अभिनवप्रभाचन्द्र (१५१४–१५२४ ई०) ने चित्तौडमें स्वतन्त्र पट्ट स्थापित किया था। मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र (१५२४–१५४६ ई०) उनके उत्तराधिकारी थे। इनके प्रशिष्यके समय चित्तौडका पतन होनेपर यह पट्ट आमेरको स्थानान्तरित हो गया था। चित्तौड़के इस पट्टके आश्रयमें अनेक ग्रन्थोंकी रचना हुई। आचार्य नेमिचन्द्रने गोमट्टसारकी संस्कृत टीका १५१५ ई० में चित्तौडमें ही जिनदासशाहके पार्श्वजिनालयमें की थी। लाला वर्णीकी प्रेरणापर नेमिचन्द्र दक्षिणसे यहाँ आये थे। राणाने जैनाचार्य धर्मरत्नसूरिका भी हाथी, घोडे, सेना और बाजे-गाजेके साथ स्वागत-सत्कार किया था तथा उनके उपदेशसे प्रभावित होकर शिकार आदिका त्याग कर दिया था, ऐसा कहा जाता है। इन जैनाचार्यका ब्राह्मण विद्वान् पुरुषोत्तमके साथ सात दिन तक राजसभामें शास्त्रार्थ भी हुआ था। राणा सांगाके पुत्र भोजराजकी पत्नी ही कृष्ण भगवान्‌की परम भक्त सुप्रसिद्ध मीराबाई थी जिनके कारण राजस्थानमें कृष्ण-भक्तिकी अपूर्व लहर दौड गयी थी।

सांगाके उपरान्त उसका पुत्र रत्नसिंह राणा हुआ। उसके समयमें उसके मन्त्री कर्माशाहने १५३० ई० में शत्रुंजय तीर्थका जीर्णोद्धार कराया और इस कार्यमें गुजरातके सुलतान बहादुरशाहने भी उसकी सहायता की थी। कर्माशाहके लिए तत्कालीन शिलालेखोंमें लिखा है कि वह 'श्रीरत्नसिंहराज्ये राज्यव्यापार-भारधौरेयः' था। इसका पिता तोलाशाह राणा सांगाका मित्र और मन्त्री था। राणा रत्नसिंहकी मृत्युके कुछ ही समय पश्चात् १५३४ ई० में गुजरातके बहादुरशाहने चित्तौड़पर भीषण आक्रमण किया। इस विपत्तिमें राणा सांगाकी विधवा महारानी कर्णवतीने मुगल-बादशाह हुमायूँके पास राखी भेजकर सहायता माँगी। हुमायूँ उस

समय शेरशाहके विरुद्ध बिहारमें फँसा हुआ था, किन्तु उस पवित्र राखीका सम्मान रखनेके लिए तुरन्त चित्तौडकी रक्षाके लिए चल दिया। फिर भी विलम्ब हो ही गया। वीर महारानीने और उसके वीर राजपूतोंने जौहर करके अपना अन्त किया, केवल तब ही बहादुरशाह दुर्गको अधिकृत कर सका। किन्तु उसकी विजय अस्थायी रही, हुमायूँ आ पहुँचा और १५३५ ई० में ही बहादुरशाहको बुरी तरह पराजित करके उसने चित्तौड-विध्वंसका बदला लिया। तदनन्तर चित्तौडका राणा, सांगाका एक अन्य पुत्र, विक्रमाजीत हुआ किन्तु दासीपुत्र बनवीरने उसकी हत्या कर दी और स्वयं राणा बन बैठा। उसने सांगाके अवशिष्ट पुत्र बालक उदयसिंहकी हत्या करनेका भी प्रयत्न किया, किन्तु स्वामिभक्त पन्नाधायने स्वपुत्रकी बलि देकर स्वामीके पुत्रकी रक्षा की। राजकुमारको लेकर वह अनेक सामन्तोंके पास शरण-प्राप्तिके लिए गयी किन्तु अत्याचारी बनवीरके भयसे किसीने भी राजकुमारको शरण न दी। अन्तमें कुम्भलनेरके जैनी किलेदार आशाशाह देपरा और उसकी वीर माताने राजकुमारको शरण दी, पद और प्राणोंकी परवा न करके उसका संरक्षण किया तथा वयस्क होनेपर उसको चित्तौडके सिंहासनपर आसीन कराया। भारमल कावड़ियाको राणा उदयसिंहने अपना प्रधान बनाया। राणा सांगाने ही उसे अलवरसे बुलाकर रणथम्भौरका किलेदार नियुक्त किया था।

पूर्व-मुगलकालमें मेवाडके उपरोक्त वीर राणाओंने भारतीय स्वातन्त्र्य-संघर्षको सजीव रखा और वे अपने नेतृत्वमें कमसे कम राजपूतानेकी प्रायः समस्त हिन्दूराज्य-शक्तियोंको एकत्रित करके सुलतानोंसे बराबर लोहा लेते रहे, और एक प्रकारसे उनके धार्मिक अत्याचारोंपर प्रतिबन्धका कार्य भी करते रहे। राणाओंका कुलधर्म शैव था, उनके राज्यमें तथा राजपूतानेके अन्य राजपूत राज्योंमें भी शैव और वैष्णव धर्मोंकी प्रधानता हो चली थी। तथापि जैनधर्मके प्रति प्रायः सभी राणा और अन्य राजे तथा सामन्त-सरदार पूर्णतया उदार और सहिष्णु थे। दिगम्बर और

श्वेताम्बर जैन साधुओंका सम्पूर्ण राजस्थानमे उन्मुक्त विहार था। अनेक स्थानोमे उनके तीर्थ, सांस्कृतिक केन्द्र और भट्टारकीय गद्दियाँ थी। राज्य-वंशों एवं सामन्तवशोके अनेक स्त्री-पुरुष और कभी-कभी कोई-कोई नरेश भी जैनधर्मके अनुयायी या भक्त होते रहे। उस कालमे वहाँ जैनोंकी संख्या अबकी अपेक्षा कमसे कम दुगुनी थी, और क्योंकि उस कालमे जैनी प्रायः क्षत्रिय और वैश्य जातियो एवं मध्यम वर्गमे-से ही थे, अतएव उस वर्गमे आधेसे अधिक उन्हीकी संख्या थी और इन जैनोने मेवाड़ तथा अन्य राजपूत राज्योके संरक्षण, उन्नति, शासन-प्रबन्ध, धर्म, साहित्य एवं कलाके क्षेत्रमे और सास्कृतिक विकासमे स्तुत्य योगदान दिया। स्वयं मेवाड राज्यमे ही जब-जब किलेकी नीव रखी जाती तब-ही-तब राज्य-की ओरसे एक नवीन जैनमन्दिर बनवाये जानेकी रीति थी। राज्य-भरमे राजाज्ञासे रात्रि-भोजनका निषेध था। कोई भी जैनसाधु राजधानीमे पधारता तो महारानियाँ उसे राजमहलमे आदर-पूर्वक आमन्त्रित करके उसके आहार आदिका प्रबन्ध करती थी। राज-सभाओंमे जैनसाधुओके भाषण और शास्त्रार्थ होते और उनका सम्मान किया जाता था। उनके तीर्थोंका संरक्षण राज्यकी ओरसे होता था। प्रायः यही व्यवहार अन्य राजपूत राज्योका भी था। इसी कालमे सन् १४९१ ई० मे राजस्थानके एक धनकुबेर साह जीवराज पापड़ीवालने दिल्लीके भट्टारक जिनचन्द्रके उपदेशसे धातु और पाषाणकी असंख्य जिन-मूर्त्तियोंका निर्माण और प्रतिष्ठा करायी थी और भारतके विभिन्न भागोमे बहुसंख्यामे इन मूर्त्तियोको भेजा था। आज भी उत्तर और मध्यभारतके अनगिनत स्थानोमे इन मूर्त्तियोमे-से अनेक पायी जाती है।

राजपूतानेके अतिरिक्त ग्वालियरमे तोमरवंशी राजपूतोका राज्य भी इस कालका शक्तिशाली राज्य था। ग्वालियर (गोपाचल या गोपगिरि) का प्रसिद्ध सुदृढ दुर्ग कमसे कम गुप्तकाल-जितना प्राचीन है। गुर्जर प्रतिहारोके बाद चन्देलोका और कच्छपघट राजपूतोका इस प्रदेश-

पर राज्य रहा। १२वी शती ई० के प्रारम्भमें प्रतिहारोंकी ही एक अन्य शाखाका इसपर पुनः अधिकार हुआ, किन्तु १२वी शताब्दीके अन्तमें मुहम्मद गोरीके सिपहसालार कुतुबुद्दीन ऐबकने कन्नौज लेनेके बाद ग्वालियरपर घेरा डाला। राजपूत बड़ी वीरतासे लड़े, अन्तमें जौहर-द्वारा एक-एक करके कट मरे, स्त्रियाँ चितामें भस्म हो गयी और ११९६-९७ ई० मे ग्वालियरपर मुसलमानोंका अधिकार हो गया। इसके उपरान्त इल्तुतमिशने पूरे प्रदेशको पूर्णतया विजित करके अपने राज्यमें मिला लिया और तभीसे सुलतानोंके प्रतिनिधि हिन्दू या मुसलमान शासकोंका शासन उस दुर्गपर चलता रहा।

फीरोज़ तुगलुकके अन्तिम दिनोंमे उद्धरणदेव तोमर नामके एक राजपूत सरदारने ग्वालियरपर अधिकार कर लिया। १३९८ ई० मे तैमूर लंगके आक्रमणसे उत्पन्न हुई गड़बड़ीमें उसके प्रतापी पुत्र वीरसिंह या वीरमदेव तोमरने उसके आस-पास एक अच्छे बड़े प्रदेशपर अपना राज्य सुसंगठित कर लिया। दिल्लीके शक्तिहीन सैयद सुल्तान कोई बाधा दे नही सकते थे। १४०५ ई० में मल्लू इकबालने दो बार ग्वालियरपर आक्रमण किया किन्तु विफल-प्रयत्न होकर उसे लौटना पड़ा। अत. १५वी शताब्दीके उत्तरार्ध और १६वीके प्रारम्भमे ग्वालियरका तोमर-राज्य दक्षिणमें मालवाके सुलतानोंका और उत्तर-पश्चिममें दिल्ली आगराके लोदी सुलतानोंका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था। चम्बल और बेतवाके मध्य विस्तृत ग्वालियर-राज्यका नरवरगढ दुर्ग उसकी दक्षिणी सीमा थी।

वीरसिंहके पश्चात् उसका पुत्र गणपतिदेव (१४२२-२४ ई०) राजा हुआ, तदनन्तर गणपतिदेवका पुत्र डूंगरसिंह १४२४ ई० में राजा हुआ। इसका पुत्र कीर्त्तिसिंह या करणसिंह (१४६०-७८ ई० लगभग) था। १४७९ ई० में मानसिंह तोमर राजा हुआ। वह सिकन्दर लोदीका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था। उसके साथ उसके कई युद्ध हुए किन्तु सिकन्दर ग्वालियर-राज्यका अन्त करनेमे असमर्थ रहा। मालवाके गयासुद्दीन और

नासिरुद्दीनके साथ भी मानसिंहके युद्ध हुए। मानसिंहके उत्तराधिकारी विक्रमाजीतसे इब्राहीम लोदीने ग्वालियरको कुछ समयके लिए छीन लिया था, किन्तु उसके तुरन्त उपरान्त बाबरका आक्रमण हुआ और उसने चन्देरी पर्यन्त सम्पूर्ण ग्वालियर-राज्यको विजय करके अपने राज्यमें मिला लिया। मुगल कालमें ग्वालियरका किला उच्चवंशीय राजनैतिक अपराधियोंका बन्दीगृह रहा।

ग्वालियरके तोमर-नरेश धार्मिक, उदार, सहिष्णु और संस्कृति-प्रेमी थे। ग्वालियरमें पूर्वकालसे ही जैनधर्मका प्राधान्य था, कच्छपघट-राजे स्वयं जैन थे। तोमरोंने भी इस दिशामें कच्छपघट-नरेशोंका ही प्रायः अनुसरण किया। वीरसिंहको तो राज्य स्थापित करने एवं उसकी व्यवस्थासे ही अवकाश न मिला किन्तु डूंगरसिंह और कीर्तिसिंहने साहित्य, कला और धर्मको प्रोत्साहन दिया। ग्वालियर किलेके भीतर उसकी दीवारोंपर उत्कीर्ण विशाल जिन-मूर्तियोंका निर्माण इन्हीं नरेशोंका कार्य है। आदिनाथकी मूर्ति तो 'बावनगजा' कहलाती है और लगभग ५० फुट ऊँची है। मूर्ति-निर्माणका यह कार्य डूगरसिंहने प्रारम्भ किया था और कीर्त्तिसिंहने पूर्ण किया। इसमें लगभग ३३ वर्ष लगे। तोमरोंके कालमें ग्वालियर नगर एवं राज्यमें अनेक प्राचीन जिन-मन्दिरोंका जीर्णोद्धार हुआ, कितने ही नवीन भी बने। स्वयं ग्वालियरमें काष्ठासंघके दिगम्बर भट्टारकोंका प्रधान पट्ट था और इस पट्टके आचार्य राज्यके सांस्कृतिक उत्कर्षमें भली प्रकार साधक हुए। महाराज वीरसिंहके महामात्य कुशराजने ग्वालियरमें चन्द्रप्रभु-चैत्यालय बनवाया था और कवि पद्मनाभ कायस्थसे यशोधर-चरित्र या दयासुन्दर काव्यकी रचना करायी थी। इस कालमें भट्टारक गुणकीर्त्तिके पट्टधर भट्टारक यशःकीर्त्ति भारी विद्वान् एवं ग्रन्थकार थे। इन्होंने १४२९ ई० में बिबुध श्रीधरकृत संस्कृत भविष्यदत्त-चरित्र और अपभ्रंश सुकुमालचरितकी प्रतिलिपियाँ करवायीं, १४४० ई० में अपने पाण्डवपुराणकी और १४४३ ई० में हरिवंशपुराणकी रचना की, जिनरात्रि-

कथा, रविव्रत-कथा और चन्द्रप्रभचरित उनकी अन्य रचनाएँ हैं। इनके सब ग्रन्थ अपभ्रंश भाषामें रचे गये हैं। महाकवि स्वयम्भूके हरिवंशकी एक जीर्ण-शीर्ण प्रतिका भी इन्होंने उद्धार किया था। इनके भक्त महाकवि रइधूने इनकी प्रेरणासे अपने २३-२४ ग्रन्थोंकी अपभ्रंश भाषामें रचना की थी। १४६४ ई० में ग्वालियरके नगरसेठ पद्मसिंहने महाकवि पुष्पदन्तके महापुराणकी प्रतिलिपियाँ करायी, एक-लाख श्लोक प्रमाण अन्य ग्रन्थ लिखवाये और २४ जिन-मन्दिर बनवाये थे। इसी कालमें ब्रह्मचारी खेल्हाने ग्वालियरमें चन्द्रप्रभुकी विशाल मूर्तिका निर्माण कराया और साहू खेमसिंहके पुत्र कमलसिंहने ग्यारह हाथ ऊँची आदिनाथकी प्रतिमा निर्माण करायी और उसकी प्रतिष्ठा करायी। यशःकीर्त्तिके शिष्य मलयकीर्ति और उनके शिष्य गुणभद्रने भी अनेक ग्रन्थोंकी रचना की। ग्वालियरमें नन्दिसंघके भट्टारकोंकी भी एक गद्दी था। राजा मानसिंह अपने गूजरीमहल और मानमन्दिरके निर्माणके लिए प्रसिद्ध हैं। संगीताचार्य बैजू नायक और तानसेनने भी इस रसिक नरेशके आश्रयमें ही उत्कर्ष प्राप्त किया था।

मालवाके उत्तरकी ओर गोंडवानामें गोंड राजपूतोंका हिन्दू-राज्य धीरे-धीरे शक्ति पकड़ रहा था। गंगा नदीके उत्तरी काठेपर हिमालयकी तराईमें भी कई छोटे-छोटे हिन्दू राज्य थे।

आगरा नगरके पूर्व-दक्षिण और ग्वालियर राज्यके उत्तरमें यमुना और चम्बलके मध्यवर्ती प्रदेशपर जो वर्तमानमें जिला आगराके बटेश्वर व फीरोजाबाद तथा एटा, मैनपुरी, इटावा आदि जिलोंसे सूचित होता है, एक छोटा-सा शक्तिशाली हिन्दू-राज्य था। यहाँ पहले भोर या भारवंशी राजपूतोंका राज्य था जो कुछ नीच जातिके समझे जाते थे। असाईखेड़ा उनकी राजधानी थी। ये राजे जैनधर्मके अनुयायी थे। असाईखेड़ेके अवशेषोंमें उनके बनवाये हुए कई सुन्दर जिन-मन्दिरोंके (९वी-१०वी शतीके) चिह्न विद्यमान हैं। १०१७ ई० में कन्नौजकी ओर जाते हुए महमूद

गज़नवीका इन भार-राजाओने इटावाके निकट मुंजके दुर्गसे भीषण विरोध किया था, तदनन्तर असाई दुर्गसे भीषण युद्ध किया, अन्तत महमूदने उन्हे पराजित किया, दुर्ग और मन्दिरोको लूटा और विध्वंस किया। उस समय राजपूत स्त्री-पुरुषोने जौहर करके अपना अन्त किया था। तदनन्तर फतहपुर, इलाहाबाद, अलीगढ आदि जिलोमे भारोने अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये। महमूद गजनवीके समयमे मेरठ, हापुड, बुलन्दशहर (बरन) का दोर राजा हरदत्तराय प्रसिद्ध था, उसीने मेरठका वह सुदृढ़ दुर्ग बनवाया था जिसे तरमेशरीनखॉ भी नही जीत सका था और जिसे सर करनेमे तैमूर लंगको काफी कठिनाई हुई थी। इसी राजाने हापुड़ नगर भी बसाया था।

स्वयं असाईखेडामे भारोका अन्त होनेके बाद उसके निकट चन्दवाड (चन्द्रपाठ) मे, जिसे रपरी–चन्दवाड भी कहते थे, चन्द्रसेनके पुत्र चन्द्रपाल नामक चौहान राजपूतने अपना राज्य स्थापित किया, और चन्दवाड दुर्ग एवं नगरका निर्माण करके उसे अपनी राजधानी बनाया। राजा चन्द्रपाल जैनी था और उसका दीवान रामसिह हारुल भी जैनी था। १३वी-१५वी शतियोमे यह नगर बड़ा सुन्दर समृद्ध और प्रसिद्ध था। इस राज्यमे चन्दवाडके अतिरिक्त ५–६ अन्य महत्त्वपूर्ण दुर्ग एवं नगर थे जिनमे रायबद्दीय, रपरी, हथिकन्त, शौरीपुर (बटेश्वर), आगरा आदि प्रमुख थे। अटेर, हथिकन्त, (हस्तिकान्त) और शौरीपुरमे जैन भट्टारकोकी गद्दियाँ स्थापित थी जो महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक केन्द्रोका कार्य करती थी। वहॉके भट्टारकोने उत्तर मध्यकालमे साहित्यरचनाको भी भारी प्रोत्साहन दिया। शौरीपुरकी गद्दी गत शताब्दी तक विद्यमान थी। अतः चन्दवाड़ राज्यमे जैनधर्म और जैनोकी पर्याप्त मान्यता एवं प्रतिष्ठा थी। राजागण प्रायः सब स्वयं जैन थे और प्रधान मन्त्री आदि भी प्रायः जैन ही होते थे। राज्य-संस्थापक चन्द्रपालके उत्तराधिकारी भरतपालका नगरसेठ हल्लण था। उसके उत्तराधिकारी अभयपालका मन्त्री हल्लणका

पुत्र अमृतपाल था। जिसने चन्दवाडमे एक सुन्दर जिनालयका भी निर्माण कराया था। उसके उत्तराधिकारियो जाहड और श्रीवल्लालके राज्य-कालोमे अमृतपालका पुत्र सोढू राज्यमन्त्री था। वल्लालके उत्तराधिकारी आहवमल्ल (१२५७ ई०) के समयमे सोढूका ज्येष्ठ पुत्र रत्नपाल नगर-सेठ था और छोटा पुत्र कृष्णादित्य राज्यका प्रधान मन्त्री और सेनापति था। गुलाम सुलतानोके विरुद्ध उसने अनेक सफल युद्ध किये थे। उसने अनेक जिन-मन्दिरोका जीर्णोद्धार कराया तथा कवि लक्ष्मणसे अपभ्रंश भाषामे अणुव्रतरत्नप्रदीप नामक धर्मग्रन्थकी रचना करायी थी। उसका भतीजा शिवदेव भी श्रेष्ठ विद्वान् एवं कलाकार था और अपने पिता रत्नपालके उपरान्त राजसेठ बना था। जसधर राजा सम्भरिरायका मन्त्री था। उसका पुत्र गोकर्ण, जो सूपकारसारका रचयिता भी था, सारग नरेन्द्रका मन्त्री रहा। गोकर्णका पुत्र सोमदेव राजा अभयपाल द्वितीयका तथा जयचन्द्रका और उसका पुत्र वासाधर (१३९८ ई०) राजा राम-चन्द्रका प्रधान मन्त्री था। इसके आठ पुत्र भी सुयोग्य थे और राजसेवामे नियुक्त थे। अपने पूर्वजोकी भाँति वासाधर भी बडा धर्मात्मा था, अनेक जिन-मन्दिरोका उसने जीर्णोद्धार कराया, एक नवीन सुन्दर जिनालय भी राजधानीमे बनवाया और गुजरातके कवि धनपालसे, जो शौरीपुर तीर्थकी यात्राके सम्बन्धमे चन्दवाडमे आ रहा था, अपभ्रंश भाषाका बाहुबलि चरित्र लिखवाया। दिल्लीके पट्टाचार्य पद्मनन्दिने भी वासाधरकी प्रेरणापर श्रावकाचारसारोद्धार रचा था।

चन्दवाडके ये हिन्दूराजे जब अवसर पाते दिल्लीके सुलतानोके विरुद्ध विद्रोह कर देते और उन्हे परेशान करने लगते, और जब सुलतान प्रबल पडते तो सन्धि करके अधीनता स्वीकार कर लेते। फीरोज तुगलुकने रपरीमे अपना एक मुसलमान जागीरदार भी नियुक्त कर दिया था जिसका उद्देश्य राजाओसे नियमित कर लेते रहना था। लोदी सुलतानोको भी चन्दवाडके राजाओसे अनेक युद्ध करने पड़े। अन्तत.

इब्राहीम लोदीने अपने भाई अलमखाँको चन्दवाडका सूबेदार बनाया किन्तु वह बाबरसे मिल गया। चन्दवाडके हिन्दू-राज्यकी रक्षाके लिए राणा सागा भी आये थे किन्तु हुमायूँके साथ चन्दवाडके युद्धमे पराजित होकर उनकी सेना लौट गयी। मुगलकालमे इस राज्य और नगरका अन्त हो गया। आगरे जिलेके हथिकन्त नगरमे इन्ही चौहानोकी एक शाखा भदौरिया राजपूतोका राज्य था जिसका संस्थापक राजुलरावत (१२वी शती) था। सीकरीमें सीकरवार राजपूतोका राज्य था। कटेहर (रुहेलखण्ड) मे कटेहरिया राजपूत सर्वेसर्वा थे।

इस प्रकारके और भी कई छोटे-छोटे हिन्दू-राज्य यत्र-तत्र उस कालमे रहे प्रतीत होते है जिन्होने दिल्लीके सुलतानोका नाको दम किये रखा। प्रत्येक सुलतानकी मृत्यु, दुर्बलता या असावधानीका लाभ उठाकर ये स्वतन्त्रताका झण्डा खडा कर देते थे।

लगभग ३५० वर्षके इस मुसलमानी शासनकालके प्रारम्भिक डेढ़-सौ वर्ष (लगभग ११९०–१३४० ई०) तक तो इस्लाम और उसके राजनैतिक प्रभुत्वका द्रुत वेगसे प्रसार हुआ यहांतक कि सम्पूर्ण देशको, अटकसे कटक और हिमालयसे कन्याकुमारा पर्यन्त उसने आच्छादित कर लिया। ये नवागत मुसलमान बर्बर विदेशी थे, धन और राज्यके लोभ तथा इस्लामके प्रचार और कुफ़्रके विनाशकी भावनासे उन्मत्त थे। उनके रोमाचकारी अत्याचार और उनकी अमानुपिक क्रूरता भारतवर्षके लिए सर्वथा नवीन वस्तुएँ थी। धर्म एवं न्याय्य युद्धोके आदी भारतीय वीर इन नृशंस धर्मान्ध बर्बरोकी उस पैशाचिकताको समझ ही न पाये जिसमे आत्म-समर्पण करनेवाले या युद्धमे बन्दी हो जानेवाले योद्धाओकी भयानक यन्त्रणा दे-देकर अनिवार्यतः हत्या कर दी जाती थी, भागते हुए शत्रुओका पीछा करके उनका संहार कर दिया जाता था, निहत्थी प्रजापर लूट-मार आदि भीषण अत्याचार किये जाते थे, स्त्रियोंकी लाज लूटना और असहाय बच्चों, स्त्रियो एवं वृद्धोका प्राणान्त कर देना एक खेल था, खेतोको उजाड़ देना,

गाँवोको भस्म कर देना, विशाल नगरोको विध्वंस करना, देवमन्दिरो और मूर्त्तियोको तोडना, साधुओ, मुनियो, ब्राह्मणो और तपस्वियोको भी पीड़ा देना और उनका वध कर डालना, ग्रन्थ-भण्डारोको जला डालना, गऊ-जैसे अति उपयोगी पशुका भक्षण करना इत्यादि साधारण बाते थी। सम्मुख न्याय्य युद्धमे एक-एक भारतीय वीर दस-दस शत्रुओंका सामना करनेमे समर्थ था, वल, वीरता एवं निर्भीकतामे वह उनसे कही अधिक श्रेष्ठ था, किन्तु अपने प्राण होम देनेपर अथवा पराधीनता स्वीकार कर लेनेपर भी इन आततायियोसे अपने धर्म, देश, स्त्री और वच्चोकी रक्षा करनेमें समर्थ नही था। संगठन करके विरोध करनेका भी भारतीयोको अवसर नही मिला फलस्वरूप इस तूफानी आँधीके सम्मुख भारतीय जीवन एकदम स्तम्भित हो गया। उसके राजनैतिक, आर्थिक एवं सास्कृतिक शक्ति-स्रोत शुष्क प्राय. हो गये और नैतिक दुर्वलता जड़ पकड़ने लगी। इन्ही सब कारणोसे लगभग १५० वर्ष पर्यन्त भारतमें इस्लाम उत्तरोत्तर वल पकडता गया।

किन्तु शनैः-शनै. भारतीयोने यह भी देखा कि वुद्धि, विवेक और नैतिक वलमे उनके ये शत्रु उनकी अपेक्षा हीन है। डेढ़-सौ वर्षके बीच दिल्लीमे चार वंश परिवर्तन हुए और प्रत्येक वंशके अधिकाश सुलतान अपने आत्मीयो-द्वारा वध किये गये। गुप्त हत्याएँ, षड्यन्त्र, खुले नरसहार, व्यभिचार, दुराचार, अनाचार सभी उन सुलतानोमे घर किये हुए थे। दूसरे, यद्यपि मुसलमानोकी सख्यामे पर्याप्त वृद्धि हो गयी थी किन्तु उसका मुख्य कारण भी विदेशी मुसलमानोका आयात नही था वरन् इसी देशमे वलात् धर्म-परिवर्तन एवं रक्त-मिश्रणसे ही वैसा हुआ था। शुद्ध विदेशी मुसलमानोका अनुपात तो धीरे-धीरे कम ही होता जा रहा था। तीसरे, हिन्दू और जैन साधु-सन्तो एवं आचार्योंने भारतीय जनता एवं अवशिष्ट भारतीय राजाओके हृदयमे धर्म-प्रेम, देश-प्रेम, संस्कृति-प्रेम एवं स्वातन्त्र्य-प्रेमकी लौ प्रज्वलित किये रखी। उन्होने मुसलमान सुलतानो,

सूबेदारो और सरदारोको भी अपनी विद्वत्ता एवं चारित्र-बलसे प्रभावित करके उनको क्रूर धर्मान्धताको हलका किया और इस देशको अपना ही समझकर इसकी संस्कृति और जन-साधारणका आदर करनेकी प्रेरणा दी। अलाउद्दीन खलजीके समयसे ही मुल्ला-मौलवियोका प्रभाव राज्य-कार्यो मे घटने लगा था। फलस्वरूप भारतीय जीवन फिर बल पकडने लगा। मुहम्मद तुगलुकके समयमे ही दिल्लीका मुसलमानी साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। वस्तुतः पूरे देशपर वह कठिनाईसे तीस-चालीस वर्ष ही रह पाया था। अनेक नवीन एवं स्वतन्त्र हिन्दू और मुसलमान राज्य स्थापित हो गये और पुराने हिन्दूराज्योने भी बल पकडा। दक्षिणमे विजयनगर-का शक्तिशाली हिन्दूसाम्राज्य मुसलमानोको उस दिशामे प्रगतिका लगभग सवा दो सौ-वर्ष पर्यन्त सफल अवरोधक रहा। उत्तरमे मेवाड़के वीर राणाओके नेतृत्वमे राजस्थानके अनेक विभिन्न राजे, गुजरात, मालवा और दिल्लीके मुसलमानोंपर सबल एवं सफल नियन्त्रक रहे। ग्वालियर, चन्दवाड़, बरन, कटेहर आदिके अनेक छोटे-बडे हिन्दूराज्योने सुलतानोंको सुखकी नीद न सोने दिया। दिल्ली, बगाल, गुजरात, मालवा खानदेशकी तथा बहमनी-राज्य एवं उसके पतनसे उत्पन्न दक्षिणकी पाँच मुसलमानी सल्तनते जो प्रायः सब ही समान कोटिकी और स्वतन्त्र थी, अपने आचरण और व्यवहारमे दिल्लीके प्रारम्भिक सुलतानोसे बहुत कुछ भिन्न थी। इनके शासक नाम और दिखावेके लिए ही मुसलमान थे, इस्लामके नियमोके विरुद्ध मद्यपान, व्यभिचार, संगीत, चित्र, मूर्ति आदि कलाओकी रसिकता, हिन्दुओ और जैनोको बहुलताके साथ शासनके विभिन्न विभागोमे नियुक्त करना, उनके धर्म और जातीयताके प्रति उदार और सहिष्णु रहना, उनके गुरुओका सम्मान करना, प्रादेशिक भाषाओको प्रोत्साहन देना, प्राचीन भारतीय ग्रन्थोके अनुवादादि कराना, भारतीय आयुर्वेद, ज्योतिष आदिमे विश्वास करना, इत्यादि कार्योसे कतिपय अपवादोको छोड़कर वे आधे भारतीय ही बन गये थे। युद्धो और विद्रोह-

दमनके समय ही वे अपनी धर्मान्ध बर्वरताका प्रदर्शन करते थे, अन्यथा सामान्यतया प्रजाके हितका ध्यान रखते ही थे। संख्यामे मुसलमान उस कालमे भारतके प्राय: किसी भी प्रदेशमे पूरी जनताके दशमांशसे अधिक नही थे। साथ ही स्वतन्त्र हिन्दू-सम्राटो एवं राजाओके अतिरिक्त प्रत्येक मुसलमानी राज्यमे भी अनेक नये-पुराने हिन्दू सामन्त-सरदार, उपराजे और जागीरदार थे। इस प्रकार मुहम्मद तुगलुकके समयसे लेकर मुगल सम्राट् अकबर तकका लगभग दो-सौ वर्षका काल भारतवर्षमे इस्लाम और मुसलमानी राजनैतिक शक्तिके पतन एवं हिन्दू-राजशक्ति एवं भारतीय धर्मो और सस्कृतिके पुनरुत्थानका युग था।

दिल्लीके सुलतानोमें गुलाम सुलतानोकी जातीयता अनिश्चित है यद्यपि वे अधिकाशत. तुर्क रहे प्रतीत होते है, खलजी भी तुर्क थे, तुगलुक एक तुर्क और हिन्दू जाटनीकी सन्तति थे, सैयद अपने-आपको अरबी सैयदोका वंशज कहते थे, लोदी और सूरी पठान थे। प्रान्तीय सुलतानोमें विभिन्न जातियोके और बहुधा भारतीय रक्त-मिश्रणसे उत्पन्न व्यक्ति थे। इन सब नरेशोंमे अधिकाशत. सुन्नी और दक्षिणवालोमे कुछ शिया थे। अतः पूर्व मुगल कालके सुलतानोको पूर्णतया पठान या पूर्णतया तुर्क कहना जैसा कि इतिहास-पुस्तकोमे प्राय: कहा जाता है, दोनों बाते ही असगत और भ्रमपूर्ण है। सुलतानोकी तथा गोरी, चंगेज, तैमूर-जैसे आक्रान्ताओकी बर्वर धर्मान्धता एवं अमानुपिक पैशाचिकताके कारण लगभग ३५० वर्ष के रक्त-रंजित इस भारतीय इतिहासमे थोडी-सी यह अच्छाई थी कि कुछ सुलतान अरवी फारसी साहित्यके रसिक और प्रश्रयदाता थे। मुल्ला-मौलवियोने एकागी विद्वेप एव पक्षपातपूर्ण ही सही अनेक इतिहास-ग्रन्थ भी उनके आश्रयमें रचे, उनके दरबारोमे अनेक विद्वान्, यद्यपि वे अधिकाशत. विदेशी मुसलमान ही होते थे, रहते और सम्मान पाते थे। कतिपय सुलतानोने हिन्दू और जैन विद्वानों एवं सन्तोका भी आदर-सम्मान किया। इन सुलतानोने अनेक मसजिद, मकबरे, महल और किले भी

बनवाये जिनमे अवश्य ही हिन्दू एवं जैन-मन्दिरोके विध्वंससे प्राप्त अतुल सामग्रीका ही बहुधा उपयोग किया, तथापि एक नवीन भारतीय मुसलिम स्थापत्य-कलाको भी जन्म दिया और उसका विकास किया। प्रान्तीय भेदोसे प्रान्तीय सुलतानोने उसमे और भी विचित्रताएँ उत्पन्न की। भारतीय भाषाओको भी प्रोत्साहन मिला और विशेषकर जन-भाषाके रूपमे अपभ्रंशोसे विकसित दिल्लीके आस-पासकी जन-भाषा (खडी बोली हिन्दी) मे अरबी फारसी तुर्की शब्दो और लहजोके समावेशसे एक नवीन जन-भाषाके विकासको प्रोत्साहन दिया जो उस समय ज़बान हिन्दवी कहलाती थी।

मुसलमान-सुलतानोंका शासन चाहे जितने बडे या छोटे प्रदेशपर रहा वह मुख्यतया नागरिक ही था। राजधानियों, प्रमुख दुर्गों और नगरोंपर अपनी-अपनी सेनाओके बलपर सुल्तान और उनके सूबेदार या सरदार निरकुश शासन करते थे। सामान्य नागरिक शासन पूर्ववत् ही देहातो एवं नगरोमे हिन्दू अधिकारी करते थे। जो हिन्दू-राजे, उपराजे या सामन्त-सरदार पहलेसे चले आते थे वे उसी प्रकार चलते रहे और प्रजासे भूमिकर आदि पूर्ववत् वसूल करते रहे। उन्हे केवल अपने प्रदेशके सुलतानकी अधीनता स्वीकार करनी पडती थी और उसको या उसके प्रतिनिधियोंको जैसा जितना निश्चित होता कर देना पड़ता था। अल्पसंख्यक मुसलमानोके लिए इससे अधिक सम्भव भी न था, विशेषकर जब शासित हिन्दू-जनता उनकी अपेक्षा बीसियो गुना अधिक थी। इस प्रकार उस कालका मुसलमानी शासन प्रधानतया फ़ौजी और शहरी ही था। बहुभाग जन-साधारणको वह युद्ध, विद्रोह, लूट-मार और कर आदि वसूल करनेके अवसरोपर ही, सो भी उसी सम्बन्धमे, स्पर्श करता था।

बहुसंख्यक भारतीयोके बीच विदेशोसे आगमन, प्रजनन और धर्म-परिवर्तन आदि कारणोसे बढती हुई मुसलमानोकी संख्या एक नवीन समस्या थी। प्राचीन यवन, पह्लव, शक, कुषाण, हूण आदिकी भाँति मुसलमान भारतीय समाजमे आत्मसात् न हो सके। बाहरसे आते रहने-

वाले मुल्ला-मौलवियोने उनकी कट्टर धर्मान्धताको, भारतीय जनो, धर्मो, और संस्कृतियोके प्रति उनके तीव्र विद्वेषको तथा मुसलमानोंके प्रत्यक्ष भारतीय विरोधी एवं प्रतिकूल बाह्याचार और विचारधाराको पुष्ट करते रहना ही अपना प्रधान उद्देश्य बना रखा था। अतः भारतमे रहकर भी मुसलमान भारत, भारतीयो और भारतीयतासे सर्वथा पृथक् ही बने रहे। उनके किताबी धर्ममे स्वतन्त्र विचार, सहिष्णुता और समदर्शिताके लिए विशेष अवकाश न था। प्रत्येक मुसलमान चाहे वह कितनी ही क्षुद्र स्थितिका क्यो न हो स्वयंको ऊँचेसे ऊँचे भारतीयसे श्रेष्ठ समझता था और यथासम्भव हिन्दू आदिकसे कोई सामाजिक सम्पर्क न रखता था।

किन्तु यह स्थिति सदैव ऐसे ही नही चल सकती थी। कमसे कम राजनैतिक दृष्टिसे ही मुसलमान शासकोको छोटे-बडे भारतीयोका सहयोग लेना ही पडता था, शासन-प्रबन्ध भी उनके बिना न चल सकता था। जिन भारतीयोको इस्लाम अगीकार करना पडा था, उन्होने अपने अधिकांश पुराने रीति-रिवाज, आचार-विचार भी अपनाये रखे। इसके अतिरिक्त कुछ मुसलमान फकीरो तथा मुइनुद्दीन चिश्ती, निजामुद्दीन औलिया, शेख रुक्नुद्दीन, शेख सलीम चिश्ती आदिने प्रचलित एवं व्यवहार्य इस्लामको बहुत-कुछ भारतीयताके रंगमें रग दिया। पीरपूजा, उर्स, नृत्य-गायन, वेदान्तसे मिलते-जुलते सूफी विचारो आदिके प्रचारने दोनो संस्कृतियोके बीचकी खाईको सकडा कर दिया। अब्दुल रहमान, मलिक मुहम्मद जायसी, शेख कुतबन, मंझण-जैसे सूफी कवियोने देशकी भाषा हिन्दीमे भारतीय प्रेम-गाथाओको सूफी विचारोमे रंगकर अपनी सन्देश-रासक, पद्मावत, अखरावट, मृगावती आदि मसनवियोमे रचा। अमीर खुसरो-जैसे कविने हिन्दीमें कविता की और संस्कृत, हिन्दी, फारसी मिश्रित भाषाके प्रचलनका प्रयत्न किया।

प्रारम्भिक हिन्दू और जैन-कवियोने उत्साहवर्द्धक वीरगाथाओ एवं धार्मिक ऐतिहासिक रासो ग्रन्थोका प्रणयन लोकभाषा अपभ्रंशमे करके

जहाँ वीरोंके स्वातन्त्र्य-प्रेम, युद्ध और देश-प्रेमको प्रज्वलित रखा और उनके धर्मभावको पुष्ट बनाया वहाँ उनके उत्तराधिकारियोने मुसलमान सूफी-सन्तोंके सदृश निर्गुण भक्तिका, किन्तु उनके प्रतिकूल उसके प्रेम-मार्गका नही, वरन् ज्ञान-मार्गका प्रचार किया। इस भारतीय धर्म एवं समाज-सुधार आन्दोलनके प्रमुख पुरस्कर्त्ता पूर्वोत्तर भारतमे रामानन्द, सन्त कबीर, पंजाबमे गुरु नानक, मध्यभारतमे सन्त दादू, सन्त सुन्दरदास, दक्षिणमे ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम और रामदास थे। बगालमे चैतन्यदेव, बिहारमे विद्यापति ठाकुर, गुजरातमे लौकाशाह, बुन्देलखण्डमे तारणस्वामी थे। इन सभी सन्तोने अपनी बोल-चालकी सधुक्कडी भाषामे पदरचना और व्याख्यानों एवं सत्संगो-द्वारा हिन्दू-मुसलिम विद्वेषको दूर करनेका भी प्रयत्न किया। उन्होने मन्दिरो और मूर्त्तियोका विरोध किया, सरल निर्गुण धर्मका प्रचार किया, जाति-पाँति और अन्य सामाजिक कुरीतियोके विरुद्ध आन्दोलन किया। इनके शिष्य और अनुयायी हिन्दू, जैन, मुसलमान सभीमे-से होते थे। अपभ्रंश भाषासे हिन्दीके विकासको भी इन सन्त-कवियोने भारी प्रोत्साहन दिया। उन्होंने भारतीय जीवनमे एक नयी स्फूर्ति भर दी, हिन्दू-मुसलिम वैमनस्यको बहुत कुछ कम कर दिया। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण पण्डितो, जैन मुनियो, भट्टारको और यतियोने भी अपनी-अपनी धर्म-संस्थाओंमे समयानुकूल परिवर्तन करके तथा अपने प्रभावसे जनता एवं शासकोको प्रभावित करके और अपने कार्यो एवं प्रेरणासे देशके नैतिक स्तरको उन्नत करके तथा धर्म, कला, साहित्य आदि क्षेत्रोमे उसकी सास्कृतिक अभिवृद्धि करके देशके पुनर्निर्माणमे स्तुत्य योग दिया। उन्होने कमसे कम भारतीयताको सजग और अक्षुण्ण बनाये रखा। उपरोक्त अच्छाइयोके साथ ही आततायियोकी कुदृष्टिसे अपनी बहू-बेटियो-की रक्षा करनेके लिए परदेकी, बाल-विवाहकी, सतीकी, छूतछातकी जैसी कुप्रथाओका जन्म भी हिन्दुओमे इसी कालमे हुआ और जाति-व्यवस्था भी अधिकाधिक जकड़ती चली गयी।

■

अध्याय ३

मुग़ल-साम्राज्य—ऊर्ध्वगत

१६वीं शताब्दी ई० के द्वितीय पादके प्रारम्भमें ही भारतीय इतिहासमें एक नवीन महत्त्वपूर्ण राज्य-क्रान्ति हुई और मुगल-वंशके रूपमें एक ऐसी नवीन एवं सबल राज्य-शक्तिका उदय हुआ कि जिसने न केवल पतनोन्मुख मुसलमानी सत्ताको इस देशमें नया जीवन एवं स्थायित्व प्रदान किया वरन् इस देशको राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक उन्नतिके भी शिखरपर पहुँचा दिया।

पिछले दो-सौ वर्षोंमें भारतवर्षमें मुसलमानोंकी राजनैतिक एवं सांस्कृतिक सत्ता धीरे-धीरे क्षीणप्रभ एवं अवनत होती जा रही थी और हिन्दू-शक्ति उत्तरोत्तर बल पकड़ती जा रही थी। मुसलमानोंके प्रारम्भिक विध्वंसक आक्रमणों और तदुपरान्त दिल्लीके सुलतानोंके उन्मुक्त अत्याचारोंसे स्तम्भित भारतीय जनता अब सुस्थिर होने लगी थी। वह मुसलमानोंकी दुर्बलताओंसे भी अवगत हो चुकी थी और अपनी रक्षा एवं सफल प्रतिवादके साधन भी प्राप्त करती जा रही थी। तीन-सौ वर्षसे अधिकके मुसलमानी शासन और उसके निरंकुश अत्याचारोंके बावजूद अब भी सम्पूर्ण भारतमें मुसलमानोंकी संख्या देशकी जन-संख्याके दशमांशसे बहुत कम थी, और इन मुसलमानोंमें भी तीन चौथाईसे अधिक धर्म-परिवर्तित भारतीय ही थे। भारतके मुसलमानोंको अब भारतके अतिरिक्त कोई अन्य गति नहीं थी, मध्य-एशियासे उनका कोई सम्पर्क न था, वह कहीं और जा ही न सकते थे, यहीं उन्हें रहना था। इन

कारणोंसे उनमे धर्मान्धताका उन्माद और अनुदारताका विष भी कुछ कम होने लगा था। किन्तु वे यह भी समझते थे और उनके मुल्ला-मौलवी उन्हे यह समझानेमे कभी न थकते थे कि इन दोनो उपायोके बिना उनकी और उनके धर्म एव राज्यकी रक्षा इस देशमे असम्भव है, अतः स्वरक्षार्थ वे इन उपायोका अवलम्बन लेते ही थे। उनकी राजनैतिक एकसूत्रता भी कभीकी भंग हो चुकी थी। बंगाल, मालवा, गुजरात तथा दक्षिणापथके उत्तरी भागकी मुसलमानी सल्तनतें और दिल्लीके सुलतान सब एक-दूसरेसे सर्वथा स्वतन्त्र और पृथक् थे। उन सबमे ही परस्पर फूट, ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य और युद्ध निरन्तर चलते थे। उन सबका ध्यान अपने-अपने राज्यको अक्षुण्ण बनाये रखने और हो सका तो अपने निकट पडोसियोकी क्षति करके अपनी-अपनी शक्ति और विस्तार बढाने तक ही सीमित था। सिन्धमे अनेक छोटे-छोटे अरबी अमीर इसी प्रकार परस्पर कलहमे व्यस्त थे। पंजाबसे लेकर बिहार तक पठान सरदार फैले हुए थे। दिल्लीके लोदी सुलतान उनके मुखिया थे। किन्तु पंजाब और पूर्वी भारतके पठान सरदार नाम-मात्रको ही उनके अधीन थे। वे लोदियोके पतनके ही इच्छुक थे और परस्पर भी कलहमे रत थे। भारतकी इन सभी मुसलमान राज्य-शक्तियोका उस समय एक सूत्रमे सगठित होना असम्भव था।

इसके विपरीत, जन-साधारणमे गैर-मुसलिम भारतीयोका अत्यधिक संख्या-बाहुल्य था। विभिन्न मुसलमानी सल्तनतोमे वे राज्य-कर्मचारियो, उपराजाओ एवं सामन्तों, जागीरदारो आदिके रूपमे भी काफी संख्यामे थे। इसके अतिरिक्त, दक्षिणापथके आधेसे अधिक दक्षिणी भागपर विस्तृत एवं शक्तिशाली विजयनगर-साम्राज्य था और उत्तरापथमे सम्पूर्ण राज-स्थानके अनेक स्वतन्त्र राजपूत राज्य थे जिन्हे मेवाड़के शक्तिशाली राणाओका नेतृत्व प्राप्त था। दक्षिण-पूर्व भारतमे गोंडवानाका विस्तृत हिन्दू-राज्य था, बुन्देलखण्डके बहुभागपर ग्वालियरके तोमर-राज्यका शासन था तथा चन्दवाड, बरन, तराई आदिके अन्य अनेक

स्वतन्त्रप्राय हिन्दू-राज्य थे। सामूहिक रूपसे यह सब मुसलमानोकी सामूहिक राज्य-शक्तिसे कही अधिक सबल थे। यदि उस समय कोई ऐसा राजनीति-विचक्षण देशनेता हुआ होता जो इन भारतीय शक्तियोको एक सूत्रमे पिरो सकता तो थोड़े-से ही प्रयाससे समस्त मुसलमानी राज्योका अन्त कर दिया जा सकता था। बाह्य सहायता मिलनेपर उन प्रदेशोकी भारतीय जनता, भारतीय सरदार और अधिकारी सहज ही अपने-अपने प्रदेशसे मुसलमानी शासनका अन्त कर सकते थे। विजयनगर, राजस्थान और गोंडवानाकी सम्मिलित शक्ति कुशल नेतृत्वमे माल्वा, गुजरात और दक्षिणको सल्तनतोका पलमात्रमे अन्त कर सकती थी। इसी प्रकार राजस्थान, ग्वालियर, चन्दवाड आदिके राज्य मिलकर उत्तर भारतसे पठानोकी सत्ताको अविलम्ब नष्ट कर सकते थे। किन्तु दुर्भाग्य-से भारतीयोमे उस समय तक अखिल भारतीय राष्ट्रीयताका भाव उदित ही नही हुआ था। विधर्मी विदेशियोसे स्वधर्म और स्वजातिकी रक्षाका भाव उन्हे एक सूत्रमे बाँधता था अवश्य किन्तु वह भी इतना उत्कट न था जो उनके राजनैतिक संगठनका एकत्व सम्पादित करा सकता। उनकी संकुचित दृष्टि अपने-अपने राज्य, प्रदेश और वर्ग तक ही सीमित थी। इसी कारण मुसलमानोको प्रारम्भमे यहाँ राज्य स्थापित करनेमे सफलता मिली, इसी कारण इतने द्रुत वेगसे देशके विभिन्न भागोमे उनकी सत्ता प्रसारित हो सकी और इसी कारण १६वी शती ई० के प्रारम्भमे मुसल-मानी सत्ताकी वैसी विषम और नाजुक परिस्थितिसे भी भारतीय नरेश लाभ न उठा सके। मेवाडका राणा सांगा लोदियोका अन्त देखनेका तो इच्छुक था और इस उद्देश्यसे पंजाबके दौलतखाँ आदि पठान सरदारोका वह सहयोगी भी बना, किन्तु इस कार्यके लिए उसने विदेशी आक्रान्ता बाबरका ही मुँह ताका। वह समझता था कि तैमूरकी भाँति बाबर भी आयेगा और लोदियोका अन्त करके चला जायेगा और तब वह स्वयं दिल्ली, आगरा आदि तक सहज ही अपने अधिकारका विस्तार कर लेगा।

ऐसी परिस्थितिमे बाबर आया, सहज ही उसने लोदियोका अन्त करके दिल्लीपर अधिकार कर लिया और इस देशमे मुगल-वंश एवं राज्यकी नीव डाली। वह शीघ्र ही मर गया। उसके उत्तराधिकारीको दस वर्षके भीतर ही देश छोड भाग जाना पडा। १५ वर्ष बाद वह पुनः आया और उसके पुत्र अकबरने मुगलवंश और साम्राज्यको इतना शक्तिशाली और स्थायी बना दिया कि वह अपने समयकी संसारकी एक स्पृहणीय शक्ति हो गया। मुगलवंशका अस्तित्व और दिल्लीपर उसका अधिकार तो लगभग तीन सौ वर्ष पर्यन्त बना रहा किन्तु मुगल-साम्राज्यका चरमोत्कर्ष काल लगभग एक सौ वर्ष ही रहा। अकबरके राज्यकालके मध्यसे लेकर औरगजेबके राज्य-कालके मध्य पर्यन्त भारतका मुगल साम्राज्य और उसके सम्राट् न केवल भारतीय इतिहासमे ही वरन् सम्पूर्ण तत्कालीन विश्वमे सर्वाधिक शक्तिशाली प्रतापी और वैभव-सम्पन्न थे। भारतके मुसलमानी राज्यवंशोमे इतना दीर्घकालीनवंश भी अन्य कोई न हुआ। औरंगजेबके राज्य-कालके उत्तरार्धमे साम्राज्यमे अनेक दुर्बलताओने घर कर लिया था और शीघ्र-पतनके चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। उसकी मृत्युके कुछ वर्ष उपरान्त ही साम्राज्य द्रुत वेगसे छिन्न-भिन्न होने लगा। उत्तरवर्ती मुगल-नरेशोकी अयोग्यता एवं अकर्मण्यता, उनके मुसलमान सरदारोके विश्वास-घात और स्वार्थपरता, जोधपुरके राठौड राजाओके नेतृत्वमे राजपूतोका उत्थान, महाराष्ट्रके पेशवाओ और उनके सरदारोकी द्रुत प्रगति, राज-धानीके निकट ही जाटोका और पंजाबमे सिक्खोका उदय, नादिरशाह और अहमदशाहके आक्रमणो और सात समुद्र पारसे व्यापारार्थ आनेवाले अँगरेजोकी छल-बलपूर्ण कूटनीति, सबने मिलकर मुगलोका पतन सम्पादित किया। सम्पूर्ण भारतके एकच्छत्र शक्तिशाली सम्राट् औरगजेबकी मृत्युको साठ वर्ष बीतते-न-बीतते उसका वंशज शाहआलम नाम मात्रका ही मुगल-सम्राट् रह गया था और मात्र दिल्ली-आगरापर उसका अधिकार शेष रह गया था। १८५६ ई० मे अन्तिम मुगल सम्राट् बहादुरशाहका

साम्राज्य तो दिल्लीके भी केवल लाल क़िलेकी चहार-दीवारीके भीतर ही सीमित था। यह सब होते हुए भी इसमे सन्देह नही है कि मुगल-काल भारतीय इतिहासका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण युग है। अपने सुदीर्घ उत्कर्ष-कालमें इसने देशकी सर्वतोमुखी उन्नति देखी।

१. बाबर (१५२६-३० ई०) समरकन्दके तुर्क सुलतान तैमूरलंगकी पाँचवी पीढीमे उत्पन्न हुआ था। उसका पिता मिर्ज़ा उमरशेख तैमूरके वंशज (सम्भवतया पौत्र) मीरनशाहका पुत्र था और मध्य-एशियामे फरग़नाकी छोटी-सी रियासतका स्वामी था। बाबरकी माँ प्रसिद्ध मगोल सरदार चँगेज़खाँके वंशज चगताईखाँकी पुत्री थी। इस प्रकार बाबर तुर्क और मगोल रक्त-मिश्रणका फल था। उसका वंश मुगल कहलाया और उसके लिए कभी-कभी चगताई नामका भी प्रयोग हुआ। मिर्ज़ा मुगलोकी एक सामान्य उपाधि रही। १४८३ ई० मे बाबरका जन्म हुआ था। तेरह वर्षकी अवस्थामे ही वह फरगनाके अपने छोटे-से पैतृक राज्यका स्वामी हुआ। उसकी महत्त्वाकांक्षा अपने प्रतापी पूर्वज तैमूरके साम्राज्यको प्राप्त करके समरकन्दके सिहासनपर बैठनेकी थी। दो बार उसने समरकन्दको विजय किया किन्तु दोनो ही बार वह उसके हाथसे निकल गया। उज़बेग सरदारोकी शत्रुताके कारण फरगना भी उससे छिन गया और अन्तत उसे प्राण बचाकर स्वदेशसे भागना पडा। १५०४ ई० मे वह अफगानिस्तान आया और वहाँसे अरगूनोको निकालकर उसने उस देशपर अपना राज्य स्थापित किया तथा काबुलको राजधानी बनाया। यहाँसे भी ईरानके शाह इस्माइलकी सहायतासे उसने एक बार समरकन्दको फिर हस्तगत किया, किन्तु उज़बेगोने उसे फिर निकाल बाहर किया और वह लाचार काबुल वापस लौट आया। अब इस दिशामे वह पूर्णतया निराश हो गया था।

उज़बेगोके भयसे काबुलमें भी उसकी स्थिति सुरक्षित न थी। ऐसी स्थितिमे भारतवर्ष ही उसे एकमात्र सुरक्षित आश्रय दीख पडा और उसने

इस देशकी ओर ध्यान दिया। भारतकी तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति भी संयोगसे उसके अत्यन्त अनुकूल थी। दिल्लीका पठान सुलतान इब्राहीम लोदी अयोग्य, मूर्ख और अत्याचारी था। उसने स्वय अपने पठान सरदारो और सम्बन्धियोको भी अपना शत्रु बना लिया था। उसके वंशके ही आलमखाँ लोदी और दौलतखाँ लोदी जो पंजाब प्रान्तपर अधिकृत थे उसका विनाश चाहते थे। उन्होने इसी उद्देश्यसे बाबरको आमन्त्रित किया। वे समझते थे कि तैमूरकी भाँति बाबर भी इब्राहीम लोदीका अन्त और दिल्लीकी लूट-मार करके चला जायेगा और वे फिर सरलतासे दिल्ली राज्यके स्वामी बन जायेगे। राणा सागा भी ऐसा ही समझता था। अतः ये लोग बाबरके आक्रमणोमे तनिक भी बाधक न हुए। किन्तु बाबर वीर योद्धा और कुशल सेनानी ही नही था, वह चतुर राजनीतिज्ञ भी था। १५१८ से १५२४ ई० के बीच उसने भारतपर चार बार आक्रमण किया। प्रारम्भमे उसने सीमान्त प्रदेशका अन्वेषण करके उसे अधिकृत किया, फिर शनैः-शनैः पंजाबमे घुसा, दौलतखाँ लोदीके विश्वासघातसे रुष्ट होकर उसका दमन किया और १५२४ ई० तक काबुलसे सम्पूर्ण पंजाब पर्यन्त उसने अपना अधिकार भलीभाँति जमा लिया। तदनन्तर १५२६ मे उसने दिल्लीपर आक्रमण किया। इब्राहीम लोदीने अपनी विशाल किन्तु निकम्मी सेना लेकर पानीपतके ऐतिहासिक रणक्षेत्रमे उसका सामना किया, किन्तु पराजित हुआ और मारा गया। दिल्लीपर मुगल बाबरका अधिकार हो गया। पठानोंकी आपसी फूट, इब्राहीम लोदीकी अयोग्यता, उसकी सेनामे उचित संगठन एवं कुशल नेतृत्वका अभाव, बाबरका तोपखाना जो युद्ध-विद्याका भारतके लिए उस समय एक नवीन आविष्कार था, और उसका कुशल नेतृत्व इस विजयमे प्रधान कारण थे। छोटे-से किन्तु अत्यन्त अव्यवस्थित लोदी-साम्राज्यको उसने अपने सेनानायकों-द्वारा शनैः-शनैः जीतना शुरू किया। जो सरदार जिस प्रदेशको जीतता उसे ही वह उस प्रदेशका शासक नियुक्त कर देता।

राणा सागाने अपनी आशाके विपरीत जब यह सब देखा तो वह बाबरको भारतवर्षसे निकाल बाहर करनेके लिए कटिबद्ध हो चल पडा। अफगान मेवातियोने भी उसे सहायता दी। सीकरीके निकट कनवाहमें बाबरके साथ राजपूतोका युद्ध हुआ। राजपूती सैन्यदल और महाराणा-की वीरता एव पराक्रमको देख-सुनकर बाबरके सैनिक काँप गये, स्वय बाबर भी घबडा गया। किन्तु वह दृढप्रतिज्ञ था, उसने मदिराका सर्वथा त्याग कर दिया, खुदाकी इबादत की और अपने सिपाहियो और सरदारोमे स्फूर्तिका सचार किया। अन्तत. सयोग और सौभाग्यसे वह इस युद्धमे भी विजयी रहा और राणा पराजित होकर वापस लौट गया। दिल्ली, आगरा और आस-पासके प्रदेशपर बाबरका अधिकार हो ही चुका था, अब उसने पूर्वी भारतसे भी अफगानोको खदेडकर बिहार पर्यन्त अपना अधिकार कर लिया। आगरा लेते समय ही उसके पुत्र हुमायूँको वहाँ प्रसिद्ध कोहनूर हीरा प्राप्त हुआ था। ग्वालियरपर भी बाबरने अधिकार कर लिया।

वह यहाँ लूट-मार करके चले जानेके लिए नही आया था वरन् अपना स्थायी राज्य स्थापित करने आया था अतः उसने विजित प्रदेशो और नगरोका विध्वंस करने या विशेष लूट-मार और अत्याचार करनेका प्रयत्न नही किया बल्कि जनताको सुरक्षा और सुराज्यका आश्वासन देकर शान्तिपूर्वक बसे रहनेका ही आदेश दिया। उसने अपने पुत्र हुमायूँको भी यही अन्तिम उपदेश दिया कि 'वह प्रजाके धार्मिक भावोको ठेस न पहुँचावे यथा—क्योकि गऊको हिन्दू पवित्र पशु मानते है इसलिए गोवधका राजाज्ञासे निषेध कर दे, अपने भाइयोके साथ प्रेम-भाव रखे और प्रजाका सन्तानवत् पालन करे।' शासन-व्यवस्थाके लिए बाबरको अवकाश ही न मिला, सम्भवतया उसमे उसकी योग्यता भी न थी। उदार और खर्चीले स्वभावका होनेके कारण आर्थिक कठिनाई भी उसे बनी रही। इसका यह भी कारण है कि लूट-मार उसने विशेष की नही।

उसने सुलतानके बजाय बादशाह उपाधि धारण की, अपने अधिकारके लिए खलीफाकी स्वीकृतिको भी कोई अपेक्षा न की और इस प्रकार धर्मको राजनीतिसे पृथक् रखनेका प्रथम उपक्रम किया।

वह अत्यन्त बलवान्, वीर, साहसी, बुद्धिमान्, सुशिक्षित, विद्या और कलाका रसिक, धार्मिक, उदार, सर्वप्रिय और स्नेहशील था। उसका तुजुकेबाबरी या बाबरनामा नामक आत्मचरित्र एक अत्यन्त दिलचस्प रचना है। अपने पुत्र हुमायूँकी रोगसे प्राणरक्षाके लिए उसने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। १५३० ई० मे मुगल-वंश और साम्राज्यके मूल संस्थापक इस जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर बादशाहकी मृत्यु हुई। बाबर भारत और मध्य-एशियाके बीचकी कडी था। काबुलसे उसे स्नेह था। अतः उसने अपने शवको काबुल ले जाकर दफनानेकी इच्छा अन्त समय प्रकट की थी, वैसा ही किया गया। ईरानी संस्कृतिको भारतमे प्रविष्ट करनेका श्रेय भी उसे ही है। आगरा आदिमे उसने कई बाग भी लगवाये।

२. हुमायूँ (१५३०–५५ ई०) बाबरका ज्येष्ठ पुत्र और उत्तराधिकारी था। वह सुशिक्षित, नम्र, दयालु, उदार और स्नेहशील था, किन्तु उतना ही जितना कि उस कालमे एक मध्य-एशियायी मुसलमान राजकुमार अधिकसे अधिक हो सकता था। शासन और युद्ध-विद्यामे भी वह साधारणतया योग्य था किन्तु साथ ही आलसी, अफीम खानेका अभ्यस्त, कुछ अदूरदर्शी और भावुक भी था। इन दोषोके कारण जिन परिस्थितियोमे उसने राज्य-भार सँभाला और जो विकट समस्याएँ उसके सम्मुख थी उनके योग्य वह नही था। बाबरने उत्तर भारतकी पंजाबसे बिहार पर्यन्त विजय तो कर ली थी किन्तु वह राज्यको सुसगठित नही कर पाया था और शासन-प्रबन्धकी भी कोई योजना कार्यान्वित न हो पायी थी। राजकोष प्रायः खाली था जिसके कारण आर्थिक कठिनाईका सामना था। उसके तीन अन्य भाई कामरान, अस्करी और हिन्दाल उसे सदैव तंग करते रहे, विशेषकर कामरान और अस्करीने उसके साथ

शत्रुता करनेमें कोई कसर न रखी, किन्तु हुमायूँने कुछ अपने स्नेहशील नम्र स्वभाव और कुछ पिताके अन्तिम आदेशकी रक्षार्थ उन्हे सदैव क्षमा किया और कोई हानि न पहुँचायी।

बाबरकी मृत्युके पश्चात् पठान सरदारोंने भी अपनी स्थितिका अनुभव किया और वे मुगलोंको निकाल बाहर करनेके लिए कटिबद्ध हो गये। मुगल अभीतक इस देशमें जम ही न पाये थे और जनता उन्हे विदेशी ही समझती थी। कामरानको काबुल और कंदहारका सूबेदार नियुक्त कर दिया गया था किन्तु उसने पंजाबपर भी अधिकार कर लिया और इस प्रकार हुमायूँको उसके मूलाधारसे ही वंचित कर दिया। इस समय बीकानेरका राजा राव जैतसी था। उसका एक सामन्त खेतसी भटनेरका शासक था। उसने वहाँके जैनियोंसे रुष्ट होकर उनपर बडे अत्याचार किये और उनके गुरुको भी मरवा डाला। १५३४ ई० मे कामराननें भटनेरपर आक्रमण किया। युद्धमें खेतसी मारा गया, तदनन्तर कामराननें स्वयं बीकानेरपर धावा कर दिया किन्तु पराजित होकर लौट गया। इधर हुमायूँको भी अपनी स्थितिकी सुरक्षाके लिए निरन्तर युद्ध करते रहना पड़ा। चित्तौड़पर इसी समय गुजरातके बहादुरशाहने भीषण आक्रमण कर दिया। महाराणीने हुमायूँको राखीबन्द भाई बनाकर सहायताके लिए बुलाया। वह तुरन्त उधर चल पड़ा, किन्तु इसके पहुँचनेके पूर्व ही बहादुरशाह चित्तौड़का विध्वंस कर चुका था। हुमायूँका आगमन जान वह गुजरात वापस लौट गया किन्तु हुमायूँने उसका पीछा न छोडा और १५३५ ई० में गुजरातपर आक्रमण कर दिया तथा चम्पानेरके सुदृढ दुर्गको विजय किया। बहादुरशाह पराजित होकर मालवाकी ओर भाग गया। हुमायूँ पूरे गुजरातको विजय करना चाहता था किन्तु बिहारमें पठान सरदार शेरखाँ सूरीके उपद्रवकी सूचना मिलनेसे इस कार्यको अधूरा ही छोड़ उसे फिर उधर जाना पड़ा। १५३७ ई० मे उसने शेरखाँको हराया और बंगालके भी बहुभागको विजय कर लिया, किन्तु

तदनन्तर लगभग एक वर्ष गौड नगरमे ही व्यर्थ आलस्यमे बिता दिया। इस बीचमे शेरशाहने शक्ति सग्रह करके उसे वही रोकनेका उपक्रम किया। १५३९ ई० मे चौसाके युद्धमे बुरी तरह पराजित होकर हुमायू थोड़े-से सैनिकोके साथ प्राण बचाकर दिल्ली पहुँचा। १५४० ई० मे शेरशाहके साथ कन्नौजके निकट उसका फिर भाषण युद्ध हुआ। इन युद्धमे भी वह पराजित हुआ और साथ ही उससे उसका भारती राज्य भी छिन गया।

अब वह निराश्रित और असहाय था। उसके भाइयोने उसकी कोई सहायता नही की। ऐसे ही समयमे उसने हमीदाबानूके साथ अपना विवाह किया। पत्नी और मुट्ठी-भर साथियोके साथ वह सिन्धकी ओर भागा, फिर मारवाड़ आया और जोधपुर-नरेशसे आश्रय चाहा। एकके बाद-एक कई राजाओ और मुसलमान-सरदारोसे उसने आश्रय और सहायताकी याचना की किन्तु किसीने सहारा न दिया। शेरशाहकी सेना पीछे पडी हुई थी, अत. फिर उसे सिन्धकी मरुभूमिकी शरण लेनी पडी और वही अमरकोट नामक स्थानमे १५४२ ई० मे हमीदाबानू बेगमने अकबरको जन्म दिया। किसी तरह बचकर हुमायूँ काबुल पहुँचा किन्तु उसके भाई कामरानने भी उसे आश्रय नही दिया, अत बालक अकबरको कामरानके ही आश्रयमे छोड़ १५४४ ई० मे वह ईरान पहुँचा और शाह तहमास्पसे सहायताकी याचना की। शाहने इस शर्तपर कि हुमायूँ शिया मत धारण कर ले और कन्दहारको विजय करके उसे सौप दे सहायता देनेका वचन दिया। अतः १५४५ ई० मे शाह ईरानकी सहायतासे हुमायूँने कन्दहारपर अधिकार कर लिया। उसके बाद काबुलपर आक्रमण किया। कई वर्ष तक कामरानके साथ युद्ध चलता रहा। उस दुष्टने अपने भतीजे बालक अकबर-को किलेकी दीवारपर तीरोकी बौछारमे बैठाया किन्तु अकबरका बाल बाँका न हुआ। अन्ततः कामरान पराजित हुआ, बन्दी हुआ और अन्धा कर दिया गया। कुछ वर्ष हुमायूँने काबुलमे रहकर ही अपनी स्थिति सुदृढ

की और शक्ति संचय की। कन्दहारको उसने ईरानियोंको वायदेके अनुसार दिया ही न था। १५५५ ई० मे उसने भारतपर आक्रमण किया। सूरी वंशका अवसान था, सिंहासनके तीन-तीन दावेदार थे, अतः परिस्थिति अनुकूल थी, सहज ही पजाबपर और फिर दिल्ली और आगरेपर भी हुमायूँका अधिकार हो गया। किन्तु कुछ ही मास बाद १५५६ ई० के प्रारम्भमे हो दिल्लीमे अपने पुस्तकालयकी सीढ़ियोसे फिसलकर गिरनेके कारण बादशाह हुमायूँकी मृत्यु हो गयी।

वह अपने पिताके भारतीय राज्याधिकारको नाममात्रके लिए ही पुनः प्राप्त करनेमे सफल हो पाया था। अपने पिताकी भाँति अफ़गान सरदारोंकी पारस्परिक फूटसे उसने भी लाभ उठाया था। उसका भारतमें पुनः आगमन और सिंहासन-प्राप्ति निरा संयोग ही था, उसको कोई आशा न थी। वस्तुतः अपने इन मूल संस्थापकोंकी दृष्टिसे यह भारतीय मुगलवंश अन्य सभी पूर्ववर्त्ती मुसलमान आक्रान्ताओ एवं सुलतान वंशोंकी अपेक्षा सर्वाधिक बलहीन एवं साधनहीन था।

३. अकबर (१५५६–१६०५)—जिस समय हुमायूँकी मृत्यु हुई उसका पुत्र अकबर १४ वर्षका बालक मात्र था और उस समय सेनापति बैरमखाँके साथ पंजाबमे सिकन्दर सूरीका दमन करनेमे व्यस्त था। काबुलपर अकबरका सौतेला भाई मिर्ज़ा हकीम अधिकृत था और अब प्रायः स्वतन्त्र ही था। हुमायूँके दिल्लीके निकट पहुँचते ही आदिलशाह सूरी दिल्ली छोड़कर चुनार चला गया था और वही रहने लगा था किन्तु हुमायूँकी मृत्यु होते ही आदिलशाहके मन्त्री एवं सेनापति हेमू-विक्रमादित्यने आगरे और दिल्लीपर आक्रमण कर दिया। दिल्लीके मुगल शासक तर्दीबेगने उसे आत्म-समर्पण कर दिया और हेमूका वहाँ अधिकार हो गया। विजयनगर, बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा, बीदर, बरार, खानदेश आदि राज्योमे विभक्त सम्पूर्ण दक्षिण भारत तो स्वतन्त्र था ही, गुजरात, मालवा, गोंडवाना, बंगाल और कश्मीर भी स्वतन्त्र थे और चित्तौड़,

रणथम्भौर, जैसलमेर, बूँदी, जोधपुर, बीकानेर, अम्बर आदि स्वतन्त्र राजपूत राज्योका समूह राजस्थान सजीव आतंक बना हुआ था। पश्चिमी-तटपर पुर्तगालियोकी शक्ति भी उपेक्षणीय नहीं थी। और स्वयं दिल्लीके सिंहासनके लिए तीन प्रतिद्वन्द्वी दावेदार थे, आदिलशाह सूरी, सिकन्दरशाह सूरी और हेमू। हुमायूँकी दिल्लीपर अधिकार कर लेनेकी अल्पस्थायी सफलताने अकबरको भी उन-जैसा ही किन्तु उनसे कम साधन और शक्तिसम्पन्न एक दावेदार मात्र बना दिया था। अतः १४ फरवरी १५५६ ई० के दिन जब पंजाबके ज़िले गुरुदासपुरके अन्तर्गत कलानौर नामक गाँवके बाहर एक बागमे ईंटोके कच्चे चबूतरेपर अकबरका राज्याभिषेक किया गया तो उस चौदहवर्षीय नरेशका राज्याधिकार आस-पासके दस-बीस गाँवोपर ही था, वह धन और जन दोनोसे ही हीन था, मुट्ठीभर सेना हाथमे थी और बैरमखाँ-जैसे इने-गिने विश्वासी, स्वामिभक्त और उत्साही सरदारोका भरोसा था। अकबरकी कुछ शिक्षा-दीक्षा भी नही हो पायी थी और वह प्रायः निरक्षर था। उसी समय उत्तर प्रदेशमे भीषण अकाल भी पड़ रहा था। ऐसी विषम परिस्थितियोमे अकबर और उसके साथियोके सम्मुख तीन ही मार्ग थे या तो हुमायूँकी भाँति देश छोडकर भाग जाये, या सब आकांक्षाओको तिलांजलि देकर सामान्य जनोकी भाँति यही बस जाये, अथवा राज्योद्धारका प्रयत्न करे। उन्होने यह तीसरा वीरोचित मार्ग ही पसन्द किया। इस दिशामे सबसे पहला कदम दिल्लीको हस्तगत करना था क्योकि भारतकी राजधानीपर अधिकार कर लेना ही अकबरके राज्याधिकारके औचित्यको सिद्ध कर सकता था और अन्य प्रदेशोकी विजयमे प्रधान साधक हो सकता था।

अतएव अकबरको लेकर बैरमखाँ ससैन्य थानेश्वरके मार्गसे होकर पानीपतकी ऐतिहासिक रणभूमिमे आ डटा। एक विशाल सेनाके साथ दिल्लीसे निकलकर हेमू भी आ पहुँचा। दोनो सेनाओमे घोर युद्ध हुआ, हेमूकी विजय हो रही थी कि शत्रुका एक तीर आकर उसकी आँखमे

घुस गया और वह बेहोश होकर गिर पडा। नेताके गिरते ही उसकी सेनामे भगदड मच गयी। हेमू बन्दी हुआ। बैरमखाँने अकबरसे काफिर शत्रुको अपने हाथसे मारकर गाजी बननेके लिए कहा। एक मतके अनुसार वीर अकबरने निहत्थे शत्रुपर हाथ उठाना स्वीकार न किया और स्वयं बैरमखाँने हेमूका वध किया, एक अन्य मतके अनुसार बैरमखाँके आग्रहपर अकबरने उसपर आघात किया और फिर बैरमखाँने उसका सिर काट डाला। विजयी मुगल-सेना शत्रुओको मारती-काटती दिल्लीमे प्रविष्ट हुई, हेमूका धड़ नगर-द्वारपर लटका दिया गया और उसके सम्मुख हेमूके हत सैनिकोके सिरोका बुर्ज बनाया गया, जैसा कि सब पूर्ववर्ती सुलतान करते आये थे। दिल्ली और आगरापर अकबरका अधिकार हो गया। आदिलशाह सूरीने उसका जब कोई विरोध नही किया और सिकन्दर सूरीने भी आत्म-समर्पण कर दिया, वह क्षमा कर दिया गया और उसे एक जागीर भी दे दी गयी।

अकबरका प्रधान सरदार, सेनापति, मन्त्री और अभिभावक बैरमखाँ ही था। उसीके नेतृत्वमे अकबरने अपनी विजय-यात्रा प्रारम्भ की। हेमूकी पराजय और सिकन्दरके समर्पणने पेशावरसे आगरा पर्यन्त सम्पूर्ण पजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेशपर अकबरका अधिकार जमा दिया। अब ग्वालियरके सुदृढ़ दुर्गको विजय किया गया और उत्तरी राजपूतानेकी कुंजी अजमेरपर अधिकार कर लिया गया। पूर्वमे जौनपुर प्रदेशको विजय किया गया और इस प्रकार राज्यका विस्तृत एवं सुसंगठित केन्द्र निर्माण कर लिया गया। रणथम्भोर दुर्गपर भी आक्रमण किया गया किन्तु विफल रहा और तदनन्तर मालवा-विजयकी तैयारी की गयी। यह सब कार्य १५६० ई० तक केवल चार वर्षोमे हो सम्पन्न हो गया। अब अकबर १८ वर्षका वयस्क युवक हो गया था। बैरमखाँका उद्धत अभिभावकत्व उसे अखरने लगा था। उसकी माँ हमीदा बेगम और धाय माहमअंगाने भी उसे बैरमखाँके अंकुशसे मुक्त होनेके लिए भरसक उकसाया। दिल्लीके

निरपराध रक्षक तर्दीबेगकी हत्या करने और उसके सामान्यत: उद्धत स्वभाव एवं बढते हुए प्रभावके कारण अन्य सरदार भी बैरमखाँसे रुष्ट थे। अत: अकबरने १५६० ई० मे उसे पदच्युत करके मक्का चले जानेका परामर्श दिया और राज्यकार्य अपने हाथमे ले लिया। थोडो ऊहापोहके बाद बैरमने स्वीकार कर लिया किन्तु पंजाबमे पहुँचकर विद्रोह कर दिया। अकबरने तत्परतासे उसका दमन किया और फिर क्षमा कर दिया और मक्का चले जानेका हो आदेश दिया। मार्गमे एक शत्रुके हाथो बैरमखाँ मारा गया।

बैरमखाँके अंकुशसे तो अकबर मुक्त हो गया किन्तु अब अन्त.पुरकी बेगमोके प्रभावने उसे आच्छन्न कर लिया। उसकी माँ हमीदाबानू बेगम तो उसे पुत्र-स्नेहवश परामर्श देती ही थी किन्तु उसकी धाय माहमअंगा उसपर शासन ही करने लगी और उसका पुत्र आदमखाँ निरंकुश अनाचार करने लगा। पीरमुहम्मद आदि उसके साथी थे। स्वयं अकबर आखेट आदिमे मग्न रहने लगा। १५६२ ई० मे अकबरने आदमखाँ और पीर-मुहम्मदको मालवा विजय करनेके लिए भेजा। मालवापति बाजबहादुर पराजित हुआ और मालवापर अकबरका अधिकार हुआ। आदमखाँ और पीरमुहम्मदने इस अवसरपर क्रूर नरसंहार और अत्याचार किये किन्तु बाजबहादुरको अकबरने क्षमा कर दिया और अपना एक मनसबदार बना लिया। उसकी प्रेमिका सुन्दरी नर्तकी रूपमतीको भी रक्षा हुई। इसी वर्ष अकबरने शमसुद्दीन अतकाको अपना वजीर नियुक्त किया था, किन्तु दुष्ट आदमखाँ वज़ीरसे जलता था और एक दिन शराबके नशेमे महलकी कचहरीमे घुसकर उसने वज़ीरका वध कर दिया। शब्द सुनकर अकबर स्वयं वहाँ आ गया, एक ही घूँसेसे उसने आदमखाँको गिरा दिया और फिर किलेकी दीवारसे गिरवाकर उसे मरवा डाला। उसकी माँ माहमअंगाकी पुत्रशोकमे मृत्यु हो गयी। पीरमुहम्मद आदिको भी दण्डित किया गया और स्वयं अपने मामा ख्वाजा मुअज्जमको भी जो एक

अर्धविक्षिप्त हत्यारा था अकबरने प्राण-दण्ड दिया। इस प्रकार १५६४ ई० मे अकबर सर्वथा स्वतन्त्र होकर पूरे मनोयोगसे साम्राज्य-निर्माण के कार्यमे लग गया। इन चार वर्षोमे भी मालवाके अतिरिक्त राजपूतानेके प्रसिद्ध दुर्ग मेडताको और बिहारके सुदृढ दुर्ग चुनारको उसने हस्तगत कर लिया था।

मुसलमान फकीर मुइनुद्दीन चिश्तीका अकबर इस कालमे बडा भक्त था और प्रत्येक वर्ष उस पीरकी दरगाहकी ज़ियारत करनेके लिए अजमेर जाया करता था। ऐसे ही एक अवसरपर १५६२ ई० मे अम्बर-के कछवाहा राजा भारमलने अजमेर आकर स्वेच्छासे सम्राट्की अधीनता स्वीकार कर ली। इतना ही नही, अकबरकी इच्छानुसार राजाने उसके साथ अपनी पुत्रीका विवाह भी कर दिया। यह राजपूत रानी ही अकबरकी प्रधान साम्राज्ञी और उसके उत्तराधिकारी जहाँगीरकी जननी हुई। इस रानीके भाई राजा भगवानदास और भतीजे महाराज मानसिह अकबरके दाहिने हाथ और उसके साम्राज्यके प्रधान स्तम्भ हुए। अम्बरके उदाहरणका यह प्रभाव हुआ कि जैसलमेर, बीकानेर, जोधपुर आदि राजपूतानेके अन्य अधिकाश राज्योने थोड़े-से प्रयाससे ही अकबरकी अधी-नता स्वीकार कर ली। उसने भी उनके साथ उदारताका वर्ताव किया। वे अपने राज्यके शासनमे सर्वथा स्वतन्त्र थे, केवल सम्राट्को अपना अधिपति स्वीकार करना होता था, उन्हे उसके युद्धो और विजय-यात्राओमे सैन्य-सहयोग देना होता था, कुछ निश्चित कर तथा कभी-कभी राजधानी-मे आकर सम्राट्को भेट आदि देनी पड़ती थी, वे चाहते तो राजकीय सेवामे भी उन्हे कोई उच्च पद और मनसब दे दिया जाता था। सम्राट्की दृष्टिमे और साम्राज्यमे उनका सम्मान और प्रतिष्ठा प्रायः किसी मुसलमान सरदारसे कम नही होती थी।

वस्तुत अकबर बडा दूरदर्शी था। वह अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी था और चक्रवर्ती सम्राट्के प्राचीन भारतीय आदर्शको प्राप्त करनेकी उसकी बडी

अभिलाषा थी। साथ ही उसने यह भलीभाँति समझ लिया था कि इस उद्देश्यकी सिद्धि तथा उसके वंश एवं साम्राज्यका स्थायित्व तभी सम्भव है जब वह पूर्णतया भारतीय एवं भारतीयोंका बनकर राज्य करे, मुसलमानो और गैर मुसलमानोके बीच कोई भेदभाव न करे, बल्कि अपने व्यवहारसे मुसलमानेतर भारतीयोका विश्वास, आदर और राज्यभक्ति प्राप्त कर ले। और ये सब बाते उसकी अपनी उदारता, समदर्शिता, सर्वधर्मसहिष्णुता एव कुशल नीतिमत्तासे सम्पादित हो सकती थी। अतः अपने राज्यके इन प्रारम्भिक वर्षो (१५६०-६४ ई०) मे ही उसने युद्ध-बन्दियोको गुलाम बनाये जानेकी पुरानी प्रथाका अन्त कर दिया, समस्त हिन्दू एवं जैन तीर्थोपर-से जो यात्रीकर सुलतानोने लगा रखा था उसे उठा दिया, इसी प्रकार जजिया नामक अपमानजनक करका भी जो समस्त मुसलमानेतर भारतीयोपर लगा हुआ था अन्त कर दिया। जज़ियाका प्रवर्तन खलीफा उमरने किया था और भारतके सभी मुसलमान सुलतानोने भारतीयोंपर यह कर लाद दिया था, फ़ीरोज तुगलुकके पूर्व ब्राह्मण लोग इस करसे मुक्त थे किन्तु उसने उनपर भी यह कर लगा दिया था। यह कर अतिरिक्त आर्थिक भार तो था ही हीनता और अपमानका भी सूचक था। जजिया देनेवाले भारतीय थे, वे शासकोंकी जाति मुसलमानोकी समकक्षता नही कर सकते थे। दूसरे, करके भारसे दबे रहनेके कारण वे कभी धनसम्पन्न नही हो सकते थे, अतः विद्रोह नही कर सकते थे। अकबरने इन भेदभाव-सूचक एवं अन्यायपूर्ण करका अन्त करके अपने-आपको लोकप्रिय बना लिया। राजपूत कन्यासे विवाह करके और अन्य - मुसलमान पत्नियोके रहते हुए भी उसे ही साम्राज्ञी पद देकर, तथा हिन्दुओंको राज्यमे उच्च पद देना आरम्भ करके उसने भारतीयोका विश्वास प्राप्त कर लिया। साथ ही उसने मुसलमान सरदारोपर, जो प्रायः विदेशी थे, नियन्त्रण रखनेके लिए एक शक्तिशाली भारतीय दल राजपूत-राजाओ आदि हिन्दू-सरदारोका निर्माण

करना प्रारम्भ कर दिया। आगरामे अपने महलके भीतर ही हिन्दू-मन्दिर स्थापित करवा देना, होली, दीवाली आदि भारतीय त्योहारोमे भाग लेना, दाढी मुँडवा देना, आदि कार्योसे उसने स्वयंको पूर्ण भारतीय प्रदर्शित करनेका प्रयत्न किया। आदमखाँ आदि सरदारोको भीषण दण्ड देकर उसने अपनी न्याय-प्रियताका भी परिचय दे दिया था।

उसकी उपरोक्त नीतिकी प्रतिक्रिया मुसलमान सरदारोके विद्रोहोके रूपमे प्रकट हुई। इन सरदारोके दो सबल दल थे। एक उजबेगोका और दूसरा अकबरके ही वंशके मिर्जा सरदारोका। १५६५ ई० मे खान ज़मान उज़बेगने अकबरको पदच्युत करके कामरानके बेटेको सिंहासनपर बैठानेके लिए षड्यन्त्र किया। अकबरने तत्परतासे उज़बेगोका दमन किया और उनके नेताओको मृत्युदण्ड दिया। उसने मिर्ज़ाओका भी दमन किया जिनमें-से कुछने भागकर चित्तौड आदि राजपूत-राज्योमे शरण ली। तदुपरान्त उसने गोडवानाकी विजय की जहाँकी रानी दुर्गाबाई अपने पुत्र सहित स्वराज्यकी रक्षामे लडते-लड़ते वीरगतिको प्राप्त हुई। १५६७ ई० मे अकबरने स्वयं चित्तौडपर आक्रमण किया। राणा उदयसिंह तो राजधानीको छोडकर हट गये किन्तु उनके वीर सामन्तो—जयमल और पुत्त—ने वीरतापूर्वक दुर्गकी रक्षा की और अन्ततः जौहर-द्वारा अपना अन्त कर लेनेके उपरान्त ही चित्तौड़पर मुगलोका अधिकार होने दिया। किन्तु मेवाड और उसके सिसौदिया अकबरके फिर भी अधीन न हुए। उदयसिंहके पुत्र महाराणा प्रताप जीवन पर्यन्त चित्तौडके उद्धारके लिए मुगलोके साथ लडते रहे। १५६९ ई० मे रणथम्भौरका दुर्ग भी अकबरके हाथ आ गया और उसी वर्ष मध्यभारतके प्रसिद्ध कालिंजर दुर्गपर भी उसका अधिकार हो गया। १५७२ ई० मे उसने गुजरातकी विजय की और सूरत बन्दरगाहपर भी अधिकार कर लिया। उसके वापस लौटते ही उसके सम्बन्धी मिर्जा अमीरोने गुजरातमे विद्रोह कर दिया अतः अकबर स्वय विद्युद्-वेगसे वहाँ पहुँचा और उसने विद्रोहियोका बुरी तरह दमन कर

दिया। इस प्रकार १५७३ ई० मे गुजरात-जैसे अति समृद्ध प्रान्तका प्राप्त करनेसे साम्राज्यकी समृद्धि और शक्ति अत्यधिक बढ गयी। समुद्रतट और प्रमुख बन्दरगाहोपर भी उसका अधिकार हुआ। राजा टोडरमल गुजरात-का सूबेदार नियुक्त हुआ और वही सर्वप्रथम उसने अपने भूमि-व्यवस्था सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सुधारोका प्रयोग किया। गुजरात विजयके उपलक्षमे सीकरीमे बुलन्द दरवाजा बनवाया गया और उस नगरका नाम फतहपुर रखा गया। १५७५–७६ ई० मे बंगालकी विजय हुई, वहाँका सुलतान दाऊदखाँ युद्धमें मारा गया और बंगाल प्रान्त साम्राज्यका एक सूबा बन गया।

इसी वर्ष महाराज मानसिहने हल्दीघाटीके सुप्रसिद्ध युद्धमे वीरवर महाराणा प्रतापको बुरी तरह पराजित किया। इस युद्धमे सिसौदियोकी बडी क्षति हुई। हल्दीघाटीके युद्धमे राणाकी ओरसे उसके कई जैन-सामन्त यथा वीर ताराचन्द, मेहता जयमल बच्छावत, मेहता रत्नचन्द खेतावत आदि भी बडी वीरतापूर्वक लड़े थे। पराजित होकर राणा अपने परिवार और बचे-खुचे सेवकोके साथ पहाडों और जंगलोमे चला गया जहाँ अत्यन्त कष्टमे उसके दिन बीते। मुगल-सेना उसका बराबर पीछा कर रही थी। राणाने अकबरकी अधीनता तब भी स्वीकार न की, किन्तु अन्ततः निराश होकर मेवाडको छोडकर अन्यत्र चले जानेके लिए उद्यत हुआ। ऐसे समयमे उसके स्वामिभक्त दीवान भामाशाहने अतुल द्रव्यसे राणाकी सहायता की। कहा जाता है कि यह धन इतना था कि इससे १२ वर्ष पर्यन्त २५००० सेनाका निर्वाह हो सकता था। और यह सब सम्पत्ति भामाशाहकी अपनी पैतृक तथा निजी थी। उसने अपने भाई ताराचन्दके साथ मालवापर आक्रमण करके भी कुछ द्रव्य प्राप्त किया था। राणा उदयसिहके जैनमन्त्री भारमल कावडियाके ही ये दोनो पुत्र थे। इस अप्रत्याशित सहायतासे राणामे नये जीवन और आशाका संचार हुआ और उसने नये उत्साहसे प्रयत्न करके चित्तौड और

माण्डलगढको छोडकर सम्पूर्ण मेवाडपर पुनः अधिकार कर लिया। इस सहायताके कारण भामाशाह मेवाड़का उद्धारकर्त्ता कहलाया। राणा अमरसिहके समय तक वही प्रधान मन्त्री बना रहा। उसके वंशज भी कई पीढियोतक राज्यमन्त्री बने रहे और उसका घराना तो वर्तमान काल तक मेवाड राज्यमे सम्मानित रहा। राणा प्रतापसिह अपने पिता-द्वारा बसाये गये उदयपुरको ही राजधानी बनाकर राज्य करता रहा किन्तु चित्तौड-उद्धारके लिए आजन्म प्रयत्नशील रहा। स्वातन्त्र्य-प्रेम और स्वदेशभक्तिके इस परम आदर्श वीर राणाको उदार अकबरने भी फिर नही छेडा।

१५८१ ई० मे अकबरने काबुलपर आक्रमण किया और अपने भाई मिरजा हकीमको पराजित करके अधीन किया। १५८५ ई० मे हकीमकी मृत्युके पश्चात् काबुल भी साम्राज्यका एक सूबा बन गया। १५८६ ई० मे कश्मीर, १५९० ई० मे उडीसा, १५९३ ई० मे सिन्ध और १५९५ ई० मे बिलोचिस्तान और कन्दहारपर भी अकबरका अधिकार हो गया। तदनन्तर उसने दक्षिणके मुसलमान सुल्तानोके पास राजदूत भेजे और उनसे अपना आधिपत्य स्वीकार कर लेनेके लिए कहा। अहमदनगर और बीजापुरको छोड़कर सबने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। अतः १६०० ई० मे अहमदनगरपर आक्रमण हुआ। सुलतानने पराजित होकर अधीनता स्वीकार कर ली और बरार प्रान्त सम्राट्को दे दिया। खान-देशके सुलतानने पहले ही अधीनता स्वीकार कर ली थी किन्तु अब उसने विद्रोह करना चाहा अतः १६०१ ई० मे उसके प्रधान एवं प्रसिद्ध दुर्ग असीरगढको घेरा डाल कर विजय कर लिया गया। इस प्रकार महान् विजेता अकबरने अपने जीवन-कालमे ही शनै-शनै प्राय. सम्पूर्ण भारतकी विजय कर ली। केवल दक्षिणका कुछ भाग उसके अधिकारके बाहर रहा। उसका विस्तृत सुगठित साम्राज्य अपनी विशाल जन-संख्या, उर्वरा भूमि, नाना प्रकारके कृषि एवं खनिज उत्पादनो, अनेकविध उद्योग-धन्धो, समुन्नत

अन्तर्देशीय एवं समुद्री व्यापार आदिके कारण तत्कालीन विश्वका सर्वाधिक महान्, शक्तिशाली एवं समृद्ध साम्राज्य था। उसने भारतका चक्रवर्ती सम्राट् बननेकी अपनी महत्त्वाकांक्षा प्रायः पूरी कर ली थी।

इस विशाल साम्राज्यका संगठन, शासन-व्यवस्था एवं प्रबन्ध भी उसने बडे कौशलसे किया। दमन और समझौतेपर आधारित उसकी विजय-नीति दुनाली थी। जिन नरेशोने सरलतासे उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया और विद्रोह न किया उन्हे उसने बने रहने दिया, जिन्होने ऐसा नही किया उनका अन्त कर दिया। हिन्दू राज्य प्रायः सब ही बने रहे और मुसलमानी सल्तनते प्राय. सब ही नष्ट हो गयी और उनके प्रदेश सम्राट्-द्वारा नियुक्त हिन्दू एवं मुसलमान सूबेदारोके शासनमे साम्राज्यका अग बन गय। उसने शासनको पूर्णतया केन्द्रित किया, अधीन राज्योके अतिरिक्त अन्य समस्त देशको १५ सूबोमे विभाजित किया, प्रत्येक सूबेको सरकारोमे, प्रत्येक सरकारको परगनों या महालोमे और प्रत्येक परगनेको थानोमे विभक्त किया। प्रत्येक थानेके अन्तर्गत कुछ गाँव होते थे। प्रत्येक सूबेका शासक सूबेदार होता था, सैनिक-शासन, न्याय-व्यवस्था और शान्ति-स्थापन उसका कार्य था। उसके साथ ही एक दीवान होता था जो उससे स्वतन्त्र रहता और भूमिकर आदि वसूल करता तथा सूबेके आय-व्ययकी व्यवस्था करता था। एक वाकानवीस होता था जो सूबेके समस्त समाचार सम्राट्को बराबर पहुँचाता रहता था। सूबेदारके नीचे फ़ौजदार, कोतवाल, थानेदार आदि अधिकारी रहते थे और दीवानके अधीन तहसीलदार, कानूनगो, पटवारी आदि कार्य करते थे। सम्पूर्ण शासन-यन्त्रका अध्यक्ष और संचालक सम्राट् स्वयं था और अपने मन्त्रिमण्डलकी सहायता एवं परामर्शसे वह समस्त राजकार्य करता था, यद्यपि सिद्धान्तत. सम्राट् साम्राज्यमे सर्वोपरि शक्ति था, सर्वथा निरकुश और स्वेच्छाचारी था और समस्त पदाधिकारी उसके वेतनभोगी सेवक थे। राज्यके समस्त उच्च-पदाधिकारी मनसबदार कहलाते थे।

और ये मनसव १० अश्वारोहियोसे लेकर ५००० अश्वारोहियो तकका नायकत्व एवं स्वामित्व सूचित करते थे। जितना बडा अधिकारी होता उसका उतना ही ऊँचा मनसव होता था। ग्रामोके आन्तरिक प्रवन्ध, व्यवस्था एव न्यायके लिए ग्राम-पंचायते स्वतन्त्र थी, मुगलशासन प्रधानतया नागरिक ही था। विभिन्न अधिकारियोपर नियन्त्रण रखनेकी भी पूरी व्यवस्था थी। सेनाका आवधिक निरीक्षण होता था। सेनाके अश्वोंको दागनेका नियम भी चालू किया गया था। पदातिक, अश्वारोही, गजारोही और तोपखानेके रूपमे सुसंगठित एवं विशाल चतुर्विध सेना थी। राजा टोडरमलकी अध्यक्षतामे कृषि-भूमिकी नाप-जोख, वर्गीकरण, भूमि-करकी व्यवस्था आदि सुचारु रूपसे चालू की गयी थी। भूमि-कर उपजका प्राय: एक-तिहाई होता था। सरकारी टकसालमे मुद्राएँ निर्माण की जाती थी। व्यापार आदिपर भी उचित नियन्त्रण था। न्याय-शासनका अकवर काफी ध्यान रखता था, वह स्वयं साम्राज्यकी सर्वोच्च अदालत था। सामान्यत: काजी लोग न्यायाधीश होते थे और प्राय इस्लामके कानूनके अनुसार न्याय करते थे। इस प्रकार अकवरने साम्राज्यिक एकसूत्रताके साथ देशको सुचारु शासन-व्यवस्था भी प्रदान करनेका प्रयत्न किया। वर्तमानकालकी दृष्टिसे उसकी व्यवस्था वहुत कुछ सदोप एव त्रुटिपूर्ण थी किन्तु उस कालमे तो वह सर्वोत्तम ही थी और वहुत कुछ सफल भी रही। वस्तुत: वही ढाँचा स्थूल रूपसे अँगरेजोने भी अपनाया और आज पर्यन्त चला आता है।

अकवर गुणग्राहक था और आदमी पहिचानता था। पदका मान उसने योग्यता रखा था, वंश, जाति या धर्म नही। अतएव उसे अनेक सुयोग्य सहायक और सेवक प्राप्त हुए। अवुलफजल, फैजो, अब्दुर्रहीम खानखाना, हकीम गिलानी, गयासवेग, मिर्जाकुय्याजा आदि मुसलमान, राजा भगवानदास, राजा मानसिंह, टोडरमल खत्री, बीरवल आदि हिन्दू उसके प्रधान अमात्यो एवं उच्च-पदाधिकारियोमें थे। प्राचीन विक्रमा-

दित्यकी भाँति नव नर-रत्नोसे उसने अपनी राजसभाको सजाया था। संगीताचार्य तानसेन उसके दरबारकी शोभा थे। मुसलमान होते हुए भी चित्रकला और मूर्त्तिकलाको भी अकबरने प्रोत्साहन दिया। आगराका किला और उसके भीतर सुन्दर महल बनवाये, १५७०–१५८५ ई० तक वह फतहपुर सीकरीमे रहा, उसे ही वह अपनी राजधानी बनाना चाहता था। वहाँके शेखसलीम चिश्तीकी कृपासे ही १५६९ ई० मे उसका पुत्र (सलीम—जहाँगीर) उत्पन्न हुआ था, अतः सीकरीमे उसने अनेक सुन्दर भवन बनवाये और शेखसलीमका सुन्दर मकबरा बनवाया, स्वयं अपना सुन्दर मकबरा उसने सिकन्दरेमे बनवाया। इस प्रकार कला-मर्मज्ञ सम्राट् अकबरने कलाके विभिन्न अंगोको प्रभूत प्रोत्साहन दिया और भारतीय-ईरानी मित्रतासे एक नवीन मुगल-कलाको जन्म दिया। साथ ही अनेक कलापूर्ण दस्तकारियो एवं उद्योगोको सम्राट् एवं उसके अमीरोसे अभूतपूर्व आश्रय मिला।

विद्वानो और विद्याका तो वह इतना आदर करता था कि उसके समयमे और उसके आश्रयमे विपुल साहित्य-सृजन हुआ। अबुलफजलका अकबरनामा और आइने-अकबरी, अलबदायुनी और निजामुद्दीनके इतिहास ग्रन्थ रचे गये, फ़ैजीकी सूफी कविताएँ, और रहीम एवं बीरबलकी हिन्दी रचनाएँ हुई, स्वयं अकबर भी कविता करता था, नरहरि, गंग आदि अनेक हिन्दी कवि भी थे, महाभारत तथा कई अन्य प्राचीन भारतीय ग्रन्थोके भी उसने फारसीमे और फ़ारसी ग्रन्थोके संस्कृतमे अनुवाद कराये। कृष्ण-भक्तिके महाकवि सूर व अष्टछापके कविजन, रामभक्तिके गोस्वामी तुलसीदास और जैन-अध्यात्मके बनारसीदास आदि इसी कालमे हुए। पाण्डे रूपचन्द, पाण्डे राजमल्ल, ब्रह्म रायमल्ल, कवि परिमल आदि अन्य अनेक जैन विद्वान् और ग्रन्थकार भी उस कालमे हुए।

अकबरने देशकी सर्वतोमुखी सांस्कृतिक अभिवृद्धि करने और उसे सांस्कृतिक एकत्व प्रदान करनेका स्तुत्य प्रयत्न किया। प्रजाके उत्थानके

लिए सतीकी प्रथा, बालहत्या, बाल-विवाह आदि कुप्रथाओको राजाज्ञा-द्वारा निषिद्ध किया और विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह तथा विवाहमे कन्याकी सम्मति लेनेकी प्रथाको प्रोत्साहन दिया। कोई मुसलमान हिन्दू स्त्रीसे तभी विवाह कर सकता था जब वह स्त्री स्वयं सहमत हो और स्वेच्छासे मुसलमान बननेके लिए तैयार हो, अन्यथा नही। १५७९ ई० में वह स्वयं इमामे-आदिल भी बन गया। अब मुसलमानी धर्म और कानूनके सम्बन्धमे उसका मत सर्वमान्य था, कोई मुल्ला-मौलवी उसके कार्योंकी आलोचना नही कर सकता था। वह राज्यका ही अध्यक्ष नही धर्मका भी अध्यक्ष बन गया। मुल्ला-मौलवियो और कट्टर मुसलमानोने बहुतेरा विरोध किया किन्तु उनकी एक न चली वरन् उनमे-से ही अनेक सम्राट्के समर्थक हो गये थे। अब अकबरने अपने राज्यमे सभी धर्मोको पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी।

फतहपुर सीकरीके अपने इबादतखानेमे वह शैव, वैष्णव, जैन, पारसी, ईसाई, शिया, सुन्नी, सूफी आदि सभी धर्मो एवं मतोके विद्वानोको एकत्र किया करता था और उनके पारस्परिक वाद-विवाद चावसे सुनता था, यदा-कदा स्वयं भी उन वाद-विवादोमे भाग लेता था। विभिन्न धार्मिक विचार-धाराओके इस प्रकारके अध्ययनसे उसने उन सबका समन्वय करके अपने दीने-इलाही नामक अद्भुत मतको जन्म दिया। वास्तवमे, जैसा कि जर्मन विद्वान् वॉन नोइरका कथन है, यह कोई स्वतन्त्र या पृथक् धर्म या सम्प्रदाय नही था वरन् 'सामाजिक एवं राजनैतिक हितोका उत्कर्ष सम्पादन करनेके उद्देश्यसे नियोजित विवेकवान् एव बौद्धिक मनीषियोका सास्कृतिक संगठन मात्र था।' अकबरके अनेक मन्त्री एवं उच्च अधिकारी इस संगठनके सदस्य थे और अपने-अपने निजी धर्मका पालन भी वे करते और कर सकते थे। अकबरने स्वयं भी इस्लामका सर्वथा परित्याग नही किया था। किन्तु वह उसका कुलपरम्परा धर्म ही रह गया था। वह स्वतन्त्र विचारका व्यक्ति था, जिस धर्ममें जो बात

अच्छी लगती उसे ही अपना लेता। सभी धर्मों और उनके विद्वानों एवं गुरुओंका वह समान रूपसे आदर करता था। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू लोग उसके राज्यको हिन्दू राज्य ही समझने लगे और अपने धर्मों एवं आचार-विचार, त्योहार, उत्सवों आदिका स्वतन्त्रतापूर्वक पालन करने लगे। मुसलमानोंके लिए मुहम्मद नाम रखनेका निषेध करना, नवीन मसजिदें न बनवाना, पुरानी मसजिदोंकी मरम्मत भी न कराना बल्कि अनेक मसजिदोंका अस्तबलके रूपमें उपयोग करना, कुरानकी टीकाओं, अरबी भाषा और शरीयत आदिके अध्ययनको हतोत्साहित करना, स्वयं अपने लिए सिजदा करवाना, इस्लामके रोजा, नमाज, हज आदि नियमोंका पालन न करना और इनके विपरीत जीव-हिंसा और मांस-भक्षणपर कड़े प्रतिबन्ध लगाना, गोवध बन्द करवाना, सूर्य, अग्नि और प्रकाशकी उपासना करना, हिन्दू, जैनों, पारसियों, पुर्तगाली जैसुइट पादरियों आदिको अपने-अपने धर्मायतन बनाने और धर्मोत्सव मनानेमें प्रश्रय देना, उन सबके गुरुओंका आदर करना, अन्य धर्मवालोंको यह छूट दे देना कि वे स्वयं मुसलमानोंको भी अपने धर्ममें दीक्षित कर सकें, अपने आचार-विचार, वेष-भूषाको बहुत कुछ भारतीय बना डालना, इत्यादि ऐसी बातें थीं कि कट्टर मुसलमान उसे काफिर कहने लगे थे, कोई उसे पारसी कहता, कोई जैन, कोई हिन्दू और कोई ईसाई। और वह सब कुछ था और कुछ भी न था।

तथापि इस विषयमें भी कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म और उसके गुरुओंका प्रभाव अकबरपर पर्याप्त पड़ा था। उसके शासन-कालके जैनोंसे सम्बन्धित जो निम्नोक्त तथ्य प्राप्त हैं, उनसे यह भली प्रकार स्पष्ट है। १५७९ ई० से सम्राट्-द्वारा धर्माध्यक्षका पद ग्रहण करनेकी महत्त्वपूर्ण घोषणाके तुरन्त उपरान्त राजधानी आगराके दिगम्बर जैनोंने वहाँ एक मन्दिर निर्माण किया और बड़े समारोहके साथ बिम्ब-प्रतिष्ठा महोत्सव किया। स्वयं राजधानी दिल्लीमें नन्दिसंघ और काष्ठासंघकी भट्टारकीय

गद्दियाँ थी। भटानिया कोल-निवासी अग्रवाल जैनी साहू टोडर सम्राट्की टकसालका एक अधिकारी था और सम्भवतया सम्राट्का कृपापात्र भी था। सम्राट्की सहायतासे उसने मथुराक्षेत्रके लिए एक विशाल यात्रासघ निकाला था और मथुराके लगभग ५०० प्राचीन जैन-स्तूपोंका जीर्णोद्धार कराके समारोहपूर्वक उनकी प्रतिष्ठा की थी। इसी उपलक्षमे उसने पाण्डे राजमल्लसे संस्कृत भाषामे जम्बूस्वामीचरितकी रचना भी करायी थी, इस ग्रन्थमे सम्राट्की प्रशसा करते हुए कविने लिखा है 'धर्मके प्रभावसे सम्राट् अकबरने जजिया नामक कर बन्द करके यशका उपार्जन किया, हिंसक वचन उसके मुखसे भी न निकलते थे, हिंसासे वह सदा दूर रहता था, अपने धर्मराज्यमे उसने द्यूत और मद्य-पानका भी निषेध कर दिया था क्योंकि मद्य-पानसे मनुष्यकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह कुमार्गमे प्रवृत्ति करता है।' साहू टोडरने पाण्डे जिनदास नामक एक अन्य विद्वान्से हिन्दी भाषामे जम्बूस्वामीचरित्र लिखवाया था। उस कविने भी अकबरके सुराज्यकी और टोडर साहूके धर्मकार्योंकी प्रशसा की है। १५९४ ई० मे ग्वालियर-निवासी कवि परिमलने आगरामे रहकर अपने श्रीपालचरित्रकी रचना की थी, इस ग्रन्थमे भी सम्राट् अकबरकी प्रशंसा, उसके द्वारा गोरक्षाके कार्य और आगरा नगरकी सुन्दरताका वर्णन है। आगरेमें अनेक विद्वानोंका समागम था और विद्वद्गोष्ठी होती थी। उपरोक्त पाण्डे राजमल्लका एक अन्य आश्रयदाता नागौर-नरेश राजा भारमल्ल था। यह श्रीपुरपट्टनसे आबू प्रदेशपर राज्य करनेवाले श्रीमाल जातीय रणकारावका पुत्र था और बडा धर्मात्मा था। साँभरका समस्त इलाका भारमल्लके अधिकारमे था, सोने और जवाहरातका व्यापार भी उसके हाथमे था और उसकी दैनिक आय एक लाख टका (रुपया) थी। उसकी अपनी सेना थी और अपने सिक्के चलते थे। स्वय सम्राट्के कोषमे वह प्रतिदिन पचास हज़ार टका देता था। सम्राट् उसका बहुत सम्मान करता था और स्वयं युवराज सलीम उससे भेट करनेके लिए

नागौरमे उसके दरबारमे जाया करता था। धार्मिक कार्यों और दानादिमे भी भारमल्ल लाखों रुपये खर्च करता था। कवि राजमल्लसे उसने महत्त्व-पूर्ण पिंगलशास्त्रकी रचना करायी थी। दिल्ली, आगरा, मथुरा, सहजाद-पुर, जौनपुर, मेरठ, हथिकन्त, शौरीपुर, श्रीपथ आदि अनेक नगर साम्राज्यके केन्द्रीय प्रदेशमे ही जैन-धर्मके उन्नत केन्द्र थे। दिल्ली, ग्वालियर, शौरीपुर आदि कई स्थानोंमे तो भट्टारकीय गद्दियाँ भी स्थापित थी और इन दिगम्बर भट्टारको एवं साधुओका भी सम्राट्पर प्रभाव पडा था। जैन-जाति इस कालमे व्यापार-प्रधान हो चली थी और प्रायः सभी नगर-ग्रामोमे उनकी छोटी-बडी बस्तियाँ थी। स्वयं अबुलफजलने अपनी आइने-अकबरीमे जैनोका वर्णन और उनकी मान्यताओका विवेचन किया है। महाकवि बनारसीदासके अर्धकथानक नामक आत्मचरितसे भी सम्राट् अकबरको लोकप्रियता, तत्कालीन लोकदशा आदिपर सुन्दर प्रकाश पडता है।

इस कालमे अनेक जैन-विद्वानों और कवियोने भारतीके भण्डारकी, विशेषकर हिन्दी-साहित्यकी, स्तुत्य अभिवृद्धि की। कर्मचन्द्रकी मृगावती चौपई, पाण्डे रूपचन्दके परमार्थी दोहाशतक एव गीतपरमार्थी, पाण्डे राजमल्लके पञ्चाध्यायी, लाटीसंहिता, जम्बूस्वामीचरित्र, अध्यात्मकमल-मार्त्तण्ड एवं पिंगलशास्त्र, भट्टारक सोमकीर्त्तिका यशोधररास, ब्रह्मरायमल्ल (१५५९ ई०) के हनुमन्तचरित्र, सीताचरित्र और भविष्यदत्त चरित्र, विशालकीर्त्ति (१५६३ ई०) का रोहिणीव्रतरास, सुमतिकीर्त्ति (१५६८ ई०) का धर्मपरीक्षारास, विजयदेवसूरिका सीलरासा (१५७६ ई०), कल्याणदेव (१५८६ ई०) की देवराज बच्छराज चौपई, पाण्डे जिनदास (१५८५ ई०) का जम्बूचरित्र, ज्ञानसूर्योदय, जोगीरासा और फुटकर पद, कवि परिमल (१५९४ ई०) का श्रीपालचरित्र, मालदेवसूरि (१५९५ ई०) की पुरन्दरकुमारचौपई, उदयराज जतीके राजनीतिके दोहे (१६०३ ई०), विद्याहर्षसूरि (१६०४ ई०) का अंजना-सुन्दरी

रास, आदि अनेक ग्रन्थोंका प्रणयन अकबरके राज्यकालमे हुआ। आइने-अकबरीके निर्माणमे स्वयं अबुलफज़लने जैन-विद्वानोका सहयोग लिया था, बगाल आदिके नरेशोकी वंशावली उन्हीके सहयोगसे संकलित की गयी बतायी जाती है।

बीकानेर-नरेशका प्रधान कर्मचन्द्र बच्छावत राजासे अनबन होनेके कारण सम्राट्की शरणमें आ गया था और उसने उसे अपना एक प्रतिष्ठित मन्त्री बना लिया था। कर्मचन्द्रने पूर्ववर्ती सुलतानो-द्वारा अपहृत अनेक धातुमयी जिनमूर्त्तियाँ भी मुसलमानोसे प्राप्त की और उन्हे बीकानेर आदिके जिनमन्दिरोमें भिजवा दिया। १५८१ ई० मे सम्राट्ने जैनाचार्य हीरविजयसूरिको बुलानेके लिए गुजरातके सूबेदार साहबखाँके पास सन्देशा भेजा। सम्राट्के निमन्त्रणपर आचार्य गुजरातसे पैदल ही चलकर आगरा आये। सम्राट्ने उनका धूम-धामसे स्वागत किया और उनकी विद्वत्ता एवं उपदेशोसे प्रभावित होकर उन्हे जगद्गुरुकी उपाधि प्रदान की। आचार्य और उनके कई शिष्य जो उनके साथ आये थे सम्राट्को निरन्तर धर्मशिक्षा देते थे। विजयसेन गणिने सम्राट्के दरबारमे, 'ईश्वर कर्त्ता हर्त्ता नही है' विषयपर अन्य धर्मोके विद्वानोसे अनेक शास्त्रार्थ किये, विशेषकर भट्टनामक प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान्को वादमे पराजित करनेके उपलक्ष्यमे उन्होने 'सवाई' उपाधि प्राप्त की। सम्राट्ने लाहौरमे भी उन्हे अपने पास बुलाया था। यति भानुचन्द्रने सम्राट्के लिए 'सूर्यसहस्रनाम' की रचना की और इसी कारण वे 'पातशाह अकबर जलालुद्दीन सूर्यसहस्रनामा-ध्यापक' कहलाते थे। वे फारसीके भी उद्भट विद्वान् थे और प्रसन्न होकर सम्राट्ने उन्हे 'खुशफ़हम' उपाधि प्रदान की थी। कहा जाता है कि एक बार सम्राट्को भयानक शिर शूल हुआ, भानुचन्द्र बुलाये गये, उन्होने कहा कि वह तो कोई वैद्य-हकीम नही है, किन्तु सम्राट्ने कहा कि उनपर उसका विश्वास है, वह कह देंगे तो पीड़ा दूर हो जायेगी। यतिने सम्राट्के मस्तक-पर हाथ रखा और उसकी पीड़ा दूर हो गयी। राज्यके उमरावोने प्रसन्न

होकर कुर्बानीके लिए पशु एकत्र किये किन्तु सूचना पाते ही सम्राट्ने वह कुर्बानी तुरन्त रुकवा दी और पशुओंको छुडवा दिया। उसने कहा कि 'मुझे सुख हो इस खुशीमे दूसरे प्राणियोको दु:ख दिया जाये यह सर्वथा अनुचित है।' मुनि शान्तिचन्द्रका भी अकबरपर बडा प्रभाव था। एक वर्ष ईदके त्योहारपर वे सम्राट्के पास ही थे। ईदसे एक दिन पहले उन्होने सम्राट्से कहा कि अब वे वहाँ नही ठहरेगे क्योकि अगले दिन ईदके उपलक्ष्यमे हजारो लाखो निरीह पशुओंका वध होनेवाला है। उन्होने कुरान शरीफकी आयतोसे यह सिद्ध कर दिखाया कि 'क़ुर्बानीका मास और ख़ून ख़ुदाको नही पहुँचता, वह इस हिंसासे प्रसन्न नही होता, वल्कि परहेजगारीसे प्रसन्न होता है, रोटी और शाक खानेसे ही रोजे कवूल हो जाते है।' अन्य अनेक मुसलमान ग्रन्थोंके हवाले देकर उन्होने सम्राट् और उसके उमरावोके हृदयपर अपनी बातकी सचाई जमा दी, अत: सम्राट्ने घोषणा करा दी कि इस ईदपर किसी जीवका वध न किया जाये। यति जिनचन्द्र सूरिने अकबरका प्रतिबोध करनेके लिए 'अकबर प्रतिबोधरास' नामक ग्रन्थ लिखा था। जिनचन्द्रको सम्राट्ने 'युग-प्रधान'की उपाधि दी थी। मुनि पद्मसुन्दर भी सम्राट्से सम्मानित हुए थे ओर उन्होने 'अकबरशाही श्रृंगारदर्पण' ग्रन्थकी रचना की थी। कहा जाता है कि एक बार शाहजादे सलीमके घर मूल नक्षत्रके प्रथम पादमे कन्या-जन्म हुआ। ज्योतिषियोने कन्याके ग्रह उसके पिताके लिए अनिष्टकारक बताये और उसका मुख देखनेका भो निषेध किया। सम्राट्ने अवुलफजल आदि विद्वान् अमात्योके साथ परामर्श करके मन्त्री कर्मचन्द्र बच्छावतको जैनधर्मानुसार ग्रहशान्तिका उपाय करनेका आदेश दिया। मन्त्रीने चैत्र शुक्ला पूर्णिमाके दिन स्वर्णरजत कलशोसे तीर्थंकर सुपार्श्वनाथकी प्रतिमाका समारोहपूर्वक अभिषेक किया। पूजनकी समाप्तिपर मंगलदीप और आरतीके समय सम्राट् अपने पुत्रों और दरबारियोके साथ वहाँ आया, उसने अभिषेकका गन्धोदक विनयपूर्वक अपने मस्तकपर चढ़ाया और अन्त.पुरमे वेगमोके लिए भी भेजा तथा उक्त

जिन-मन्दिरको दस सहस्र मुद्राएँ भेट की।

सम्राट्ने गुजरात प्रान्तके गिरनार, शत्रुंजय आदि जैनतीर्थोंकी रक्षा-के लिए अहमदाबादके सूबेदार आजमखाँको फरमान भेजा था कि मेरे राज्यमे जैनतीर्थों, जैनमन्दिरो और मूर्त्तियोको कोई भी व्यक्ति किसी प्रकारकी क्षति न पहुँचा सके और यह कि इस आज्ञाका उल्लंघन करने-वाला भीषण दण्डका भागी होगा। उसी कालके मेडता दुर्गके जैन-मन्दिरोंके शिलालेखोमे लिखा है कि 'अकबरने जैन-मुनियोको युगप्रधान पद दिये, प्रतिवर्ष आषाढकी अष्टाह्निकामे अमारि (जीवहिंसानिषेध) घोषणा की, प्रतिवर्ष सब मिलाकर छह मास पर्यन्त समस्त राज्यमे हिंसा बन्द करायी, खम्भातकी खाडीमे मछलियोका शिकार बन्द करवाया, शत्रुंजय आदि तीर्थोंका करमोचन किया, सर्वत्र गोरक्षाका प्रचार किया,' आदि। १६०४ ई० मे अपने ग्रन्थमे विद्याहर्षसूरिने भी लिखा है कि विजयसेन आदि जैनगुरुओके प्रभावसे अकबरने गाय, बैल, भैस, बकरी आदि पशुओ-की हिंसाका निषेध कर दिया था, पुराने कैदियोको मुक्त कर दिया था, जैनगुरुओके प्रति भक्ति प्रदर्शित की थी, दान-पुण्यके कार्योंमे वह सदा अग्रसर रहता था, इत्यादि। १५९५ ई० मे पुर्तगाली जैसुइट पादरी पिन्हेरोने अपने प्रत्यक्ष अनुभवके बलपर अपने बादशाहके नाम पत्रमे लिखा था कि अकबर जैनधर्मका अनुयायी हो गया है, वह जैन-नियमोका पालन करता है, जैनविधिसे आत्मचिन्तन एव आत्माराधनमे बहुधा लीन रहता है, मद्य, मास और द्यूतके निषेधकी उसने आज्ञा प्रचारित कर दी है।' पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी, तीन अष्टाह्निका, दशलक्षणी आदि जैनपर्वो, अपने जन्मदिन, राज्याभिषेकदिन, रविवार तथा अन्य कई दिनोपर, जो सब मिलकर वर्षके आधेके लगभग हो जाते है, अकबरने जीवहिंसाका निषेध किया था और इन आज्ञाओके उल्लघन करनेवालोको भारी दण्ड दिया जाता था।

आइने-अकबरीमे अकबरकी अपनी उक्तियाँ उसकी मनोवृत्तिकी

परिव्रायक है। वह कहा करता था कि 'यह उचित नही है कि मनुष्य अपने उदरको पशुओकी कब्र बनावे। मासके अतिरिक्त बाजपक्षीके लिए कोई अन्य भोजन न होनेपर भी उसे मासभक्षणका दण्ड अल्पायुके रूपमे मिलता है, तब मनुष्योको जिनका स्वाभाविक भोजन मास नही है इस अपराधका क्या दण्ड मिलेगा? कसाई, बहेलिये आदि जीवहिसा करनेवाले जब नगरसे बाहर रहते है तो मांसाहारियोको नगरके भीतर रहनेका क्या अधिकार है? मेरे लिए यह कितने सुखकी बात होती कि यदि मेरा शरीर इतना बडा होता कि सब मासाहारी केवल उसे ही खाकर सन्तुष्ट हो जाते और अन्य जीवोकी हिसा न करते। जीवहिंसाको रोकना अत्यन्त आवश्यक है, इसीलिए मैने स्वयं मांस खाना छोड़ दिया है।' स्त्रियो-के सम्बन्धमे वह कहा करता था 'यदि युवा अवस्थामे भी मेरी चित्तवृत्ति अब-जैमी होती तो कदाचित् मैं विवाह ही न करता। किससे विवाह करता? जो आयुमे बडी है वे मेरी माताके समान है, जो छोटी है वे पुत्रीके तुल्य है और जो समवयस्का है उन्हे मै अपनी बहने मानता हूँ।' वस्तुत जीवहिंसा अकबरको प्रिय न थी। वह अधिकतर मास नही खाया करता था और गोमास तो छूता भी न था। उसके मतसे गोमास अखाद्य पदार्थ था। वर्षके कुछ निश्चित दिनोमे पशु-पक्षियोकी हिसाको अकबरने मृत्यु-दण्डका अपराध बना दिया था। विन्सेण्ट स्मिथके अनुसार अकबरका लगभग पूर्ण रूपसे मासाहार-त्याग और अशोकके समान क्षुद्रादिक्षुद्र जीवहिसा-निषेधके लिए कडी आज्ञाओका जारी करना अपने जैनगुरुओके सिद्धान्तोके अनुसार आचरण करनेके ही परिणाम थे। हिसको-को कडी सजा देना भी प्राचीन जैन और बौद्ध सम्राटोके अनुसार ही था। इन आज्ञाओसे उसकी प्रजाके बहुत-से लोगोको, विशेषकर मुसल-मानोको बडा कष्ट हुआ होगा।...जैन-धर्मसे प्रभावित होकर ही अपने अन्तिम जीवनमे अकबरने मासाहारका सर्वथा त्याग कर दिया था.... इसमे सन्देह नही कि वर्षो पर्यन्त जैनगुरुओने अकबरको घण्टो उपदेश

जिन-मन्दिरको दस सहस्र मुद्राएँ भेट की।

सम्राट्ने गुजरात प्रान्तके गिरनार, शत्रुंजय आदि जैनतीर्थोकी रक्षा-के लिए अहमदाबादके सूबेदार आजमखाँको फरमान भेजा था कि मेरे राज्यमे जैनतीर्थो, जैनमन्दिरो और मूर्त्तियोको कोई भी व्यक्ति किसी प्रकारकी क्षति न पहुँचा सके और यह कि इस आज्ञाका उल्लंघन करने-वाला भीषण दण्डका भागी होगा। उसी कालके मेडता दुर्गके जैन-मन्दिरोंके शिलालेखोमे लिखा है कि 'अकबरने जैन-मुनियोंको युगप्रधान पद दिये, प्रतिवर्ष आषाढकी अष्टाह्निकामे अमारि (जीवहिंसानिषेध) घोषणा की, प्रतिवर्ष सब मिलाकर छह मास पर्यन्त समस्त राज्यमे हिंसा बन्द करायी, खम्भातकी खाडीमे मछलियोका शिकार बन्द करवाया, शत्रुंजय आदि तीर्थोका करमोचन किया, सर्वत्र गोरक्षाका प्रचार किया,' आदि। १६०४ ई० मे अपने ग्रन्थमे विद्याहर्षसूरिने भी लिखा है कि विजयसेन आदि जैनगुरुओके प्रभावसे अकबरने गाय, बैल, भैस, बकरी आदि पशुओ-की हिंसाका निषेध कर दिया था, पुराने कैदियोको मुक्त कर दिया था, जैनगुरुओके प्रति भक्ति प्रदर्शित की थी, दान-पुण्यके कार्योमे 'वह सदा अग्रसर रहता था, इत्यादि। १५९५ ई० मे पुर्तगाली जैसुइट पादरी पिन्हेरोने अपने प्रत्यक्ष अनुभवके बलपर अपने बादशाहके नाम पत्रमे लिखा था कि अकबर जैनधर्मका अनुयायी हो गया है, वह जैन-नियमोका पालन करता है, जैनविधिसे आत्मचिन्तन एवं आत्माराधनमे बहुधा लीन रहता है, मद्य, मास और द्यूतके निषेधकी उसने आज्ञा प्रचारित कर दी है।' पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी, तीन अष्टाह्निका, दशलक्षणी आदि जैनपर्वो, अपने जन्मदिन, राज्याभिषेकदिन, रविवार तथा अन्य कई दिनोपर, जो सब मिलकर वर्षके आधेके लगभग हो जाते है, अकबरने जीवहिंसाका निषेध किया था और इन आज्ञाओके उल्लघन करनेवालोको भारी दण्ड दिया जाता था।

आइने-अकबरीमे अकबरकी अपनी उक्तियाँ उसकी मनोवृत्तिकी

परिचायक है। वह कहा करता था कि 'यह उचित नही है कि मनुष्य अपने उदरको पशुओकी कब बनावे। मासके अतिरिक्त बाजपक्षीके लिए कोई अन्य भोजन न होनेपर भी उसे मासभक्षणका दण्ड अल्पायुके रूपमे मिलता है, तब मनुष्योको जिनका स्वाभाविक भोजन मास नही है इस अपराधका क्या दण्ड मिलेगा ? कसाई, बहेलिये आदि जीवहिंसा करनेवाले जब नगरसे बाहर रहते है तो मासाहारियोको नगरके भीतर रहनेका क्या अधिकार है ? मेरे लिए यह कितने सुखकी बात होती कि यदि मेरा शरीर इतना बडा होता कि सब मासाहारी केवल उसे ही खाकर सन्तुष्ट हो जाते और अन्य जीवोकी हिसा न करते। जीवहिंसाको रोकना अत्यन्त आवश्यक है, इसीलिए मैने स्वयं मांस खाना छोड़ दिया है।' स्त्रियो-के सम्बन्धमे वह कहा करता था 'यदि युवा अवस्थामे भी मेरी चित्तवृत्ति अब-जैसी होती तो कदाचित् मैं विवाह ही न करता। किससे विवाह करता ? जो आयुमे बडी है वे मेरी माताके समान है, जो छोटी है वे पुत्रीके तुल्य है और जो समवयस्का है उन्हे मै अपनी बहने मानता हूँ।' वस्तुत. जीवहिंसा अकबरको प्रिय न थी। वह अधिकतर मास नही खाया करता था और गोमांस तो छूता भी न था। उसके मतसे गोमास अखाद्य पदार्थ था। वर्षके कुछ निश्चित दिनोमे पशु-पक्षियोकी हिंसाको अकबरने मृत्यु-दण्डका अपराध बना दिया था। विन्सेण्ट स्मिथके अनुसार अकबरका लगभग पूर्ण रूपसे मासाहार-त्याग और अशोकके समान क्षुद्रादिक्षुद्र जीवहिंसा-निषेधके लिए कडी आज्ञाओका जारी करना अपने जैनगुरुओके सिद्धान्तोके अनुसार आचरण करनेके ही परिणाम थे। हिंसको-को कडी सज़ा देना भी प्राचीन जैन और बौद्ध सम्राटोके अनुसार ही था। इन आज्ञाओसे उसकी प्रजाके बहुत-से लोगोको, विशेषकर मुसल-मानोको बडा कष्ट हुआ होगा।...जैन-धर्मसे प्रभावित होकर ही अपने अन्तिम जीवनमे अकबरने मासाहारका सर्वथा त्याग कर दिया था.... इसमे सन्देह नही कि वर्षों पर्यन्त जैनगुरुओने अकबरको घण्टो उपदेश

दिये जिनका उसके जीवनपर अत्यन्त प्रभाव पड़ा और उन्होंने सम्राट्को अपने सिद्धान्तोके प्रति इतना अधिक सहमत कर लिया था कि यह प्रसिद्ध हो गया कि 'अकबरने जैन-धर्म धारण कर लिया है।' प्रो० रामास्वामी आयगर आदि अन्य अनेक इतिहासकारोके अनुसार भी अकबर जैन-धर्मपर बडी श्रद्धा रखता था। 'अकबर और जैन-धर्म' 'सूरीश्वर और सम्राट्', 'अकबरके जैन-गुरु' आदि पुस्तके भी इसी तथ्यका समर्थन करती है। फतहपुर सीकरीके भवनोमे सम्राट्ने अपने जैन-गुरुओके बैठनेके लिए एक विशिष्ट तथा जैन-कलापूर्ण सुन्दर छत्री बनवायी थी जो 'ज्योतिर्पाकी बैठक' कहलाती है। 'मुगल-साम्राज्यके पतनके कारण' नामक पुस्तकमे श्री इन्द्र विद्यावाचस्पतिका कथन है कि अकबरके अहिंसा धर्मका पालन करनेके कारण ही मुल्ला-मौलवी उससे असन्तुष्ट हो गये थे और उन्हीकी प्रेरणा एवं सहयोगसे सलीमने विद्रोह किया था। उस विद्रोहमे सलीमको सफलता भी ऐसे ही मुसलमानोके सहयोगसे मिली जो अकबरकी दयालुताके कारण उससे असन्तुष्ट थे।

सम्राट्के अन्तिम वर्ष दु.खमे बीते। १६००-१६०४ ई० तक उसका ज्येष्ठ पुत्र सलीम विद्रोही बना रहा, किन्तु १६०४ ई० में पिता-पुत्रमे सुलह हो गयी। इस बीचमे अकबरके अन्य पुत्रो—राजकुमार मुराद और दानियालकी मृत्यु हो चुकी थी। १६०२ ई० मे सलीमके षड्यन्त्रसे वीर सिह बुन्देलेने सम्राट्के परम प्रिय मित्र एवं अत्यन्त विश्वासपात्र अमात्य अबुलफजलका वध करा दिया। किन्तु सलीम पितासे डरता भी था, उसे यह भी भय हुआ कि कही उसके पुत्र खुसरूको ही उत्तराधिकारी न बना दिया जाये। अत: १६०४ ई० मे सलीमने आत्म-समर्पण कर दिया। निकट आनेपर वृद्ध सम्राट्ने पुत्रको अपने हाथसे चपतियाया और एक कमरेमे बन्द कर दिया, किन्तु अन्तमे क्षमा कर दिया और मरते समय उसे ही अपना उत्तराधिकारी सूचित किया। इस प्रकार १७ अक्तूबर सन् १६०५ ई० को ६३ वर्षकी आयुमे भारतका यह महान् मुगल सम्राट्

पातशाह जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर इस संसारसे कूच कर गया। वह न केवल अपने कालके ही अथवा केवल भारतवर्षके ही, वरन् सम्पूर्ण विश्वके सर्वमहान् ऐतिहासिक सम्राटोमे परिगणित हुआ।

४. **जहाँगीर** (१६०५-१६२७ ई०)—सम्राट् अकबरकी मृत्यु होते ही साम्राज्य-भरमे त्राहि-त्राहि मच गयी थी। कवि बनारसीदास-जैसे अनेक सहृदय प्रजा-जन उसकी मृत्युसे दु खी हुए। कवि उस समय जौनपुरमे थे। अपने आत्म-चरितमे उन्होने लिखा है कि 'सारे नगरमे शोर और भगदड़ मच गयी। लोगोने अपनी-अपनी दूकाने बन्द कर दी और घरोके किवाड बन्द कर लिये, अच्छे-अच्छे वस्त्र, आभूषण और नकद रुपया-पैसा भूमिमे गाड़ दिया, घर-घरमे हथियार खरीदे गये, सब लोगोने मोटे मामूली कपडे पहन लिये, धनी-निर्धन ऊँच-नीचमे कोई भेद ही नहीं दीख पड़ता था, सब ही आतंकित एवं आशंकित थे।' किन्तु पिताकी मृत्युके एक सप्ताह पश्चात् ही नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर पातशाहका शान्तिपूर्वक सिंहासनारोहण हुआ। उत्तराधिकारके प्रश्नपर किसी प्रकार-का कोई झगड़ा या मतभेद न हुआ

राज्याभिषेकके अवसरपर सम्राट् जहाँगीरने प्रजाके आश्वासन और अपनी उदारता-प्रदर्शनके लिए द्वादशसूत्री घोषणा की जिसके अनुसार भूमि-करके अतिरिक्त अन्य समस्त कर माफ कर दिये गये। केन्द्र-द्वारा शासित समस्त खालसा क्षेत्रकी सड़कोके किनारे तथा निर्जन स्थानोमे सराय और मसजिदे बनवाने, कुँए खुदवाने और लोगोको बसानेका आदेश दिया गया। आदेश हुआ कि किसी यात्रीका सौदागरी या अन्य माल उसकी बिना अनुमतिके न खोला जाये, यदि उसकी मृत्यु हो गयी हो तो उसकी सम्पत्ति चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान उसके कानूनी वारिसोके सुपुर्द कर दी जाये किन्तु यदि कोई वारिस न हो तो राज्य-द्वारा इस कार्यके लिए नियुक्त कर्मचारी उस सम्पत्तिको अपने अधिकारमे लेकर उसका उपयोग सराय, तालाब आदिके निर्माण एवं अन्य लोकहितके

कार्योंमें करें। मद्यपानका निषेध किया गया। अंग-भंग-जैसे क्रूर अमानुषिक दण्ड बन्द किये गये। राज्य-कर्मचारियों और जागीरदारोंको प्रजाकी भूमिको बलात् अपहरण करनेका निषेध किया गया। राज्यके पदाधिकारियोंको राजाज्ञा बिना अपने-अपने शासित प्रदेशके प्रजाजनोंके साथ विवाह-सम्बन्ध करनेकी मनाही की गयी। जिन जागीरदारोंकी जो जागीरें पहलेसे चली आ रही थीं उन्हें स्वीकृत किया गया। धर्मात्मा लोगोंको जो जागीरें दानमें दी गयी थीं उन्हें भी स्वीकार किया गया। प्रमुख नगरोंमें अस्पताल खुलवानेका आदेश दिया गया। सब बन्दियोंको मुक्त किया गया और सप्ताहके विशिष्ट दिनोंमें पशुवध बन्द किया गया। इस सम्बन्धमें उसने कहा कि 'मेरे जन्म-मासमें सारे राज्यमें मांसाहार निषिद्ध रहेगा, सप्ताहमें एक-एक दिन इस प्रकारके रहेंगे जिनमें सभी प्रकारकी पशु-हत्याका निषेध है, मेरे राज्याभिषेकके दिन, गुरुवारको और रविवारको भी कोई मांसाहार न करेगा क्योंकि उस दिन संसारका सृष्टि-सृजन सम्पूर्ण हुआ था अतः उस दिन किसी भी जन्तुका प्राणघात करना अन्याय है, मेरे पूज्य पिताने ग्यारह वर्षोंसे अधिक समय तक इन नियमोंका पालन किया है, रविवारको तो वह कभी भी मांसाहार नहीं करते थे अतः मैं भी अपने राज्यमें उपरोक्त दिनोंमें जीव-हिंसाकी निषेधात्मक उद्घोषणा करता हूँ।' अपनी इन प्रारम्भिक घोषणाओंका जहाँगीरने अपने आत्मचरित्र 'तुजुके जहाँगीरी'में सोल्लास वर्णन किया है। इनके द्वारा उसने प्रजाको यह आश्वासन दिया कि वह अपने पिताकी ही उदार नीतिका तथा उसके नैतिक सिद्धान्तोंका अनुसरण करेगा। यों तो प्रायः प्रत्येक नरेश अपने राज्याभिषेकके अवसरपर इस प्रकारकी कुछ घोषणाएँ किया ही करता था, तथापि जहाँगीरकी घोषणाओं-में उसके व्यक्तित्व और संस्कारोंकी छाप प्रत्यक्षतः लक्षित होती है। वस्तुतः उसने अकबरकी ही राजनीति, शासन-व्यवस्था और अन्य अनेक व्यावहारिक एवं नैतिक परम्पराओंको अक्षुण्ण रखा। राज्यके पदाधिकारी

और कर्मचारी भी सभी प्रायः पुराने ही चलते रहे, जिनकी मृत्यु हो जाती या जो पदच्युत कर दिये जाते उनके स्थानमे ही नवीन नियुक्ति होती थी। इस प्रकार शासनयन्त्रमे प्रायः कोई परिवर्तन नही हुआ। अपने-आपको न्यायपरायण सिद्ध करनेका उसे बडा चाव था, इसी उद्देश्य-से सोनेकी एक जंजीरसे बँधा घण्टा उसने अपने महलकी खिडकीसे लटकवा दिया था।

अबतक मुगल-नरेशोमे जहाँगीर ही ऐसा था जो अपने माता-पिताको अनेक मनौतियाँ मानने और पीरोकी पूजा करनेसे प्राप्त हुआ था और जिसका लालन-पालन जन्मसे ही अपार वैभवके बीच हुआ था। उसकी शिक्षा-दीक्षा भी विविध एवं उच्चकोटिकी हुई थी। ब्राह्मण पण्डित, विद्वान् जैनगुरु, जैसुइट पादरी, सूफी कवि और मुसलमान मौलवी उसके शिक्षक रहे थे। वह मेधावी, प्रतिभाशाली, बुद्धिमान्, दूरदर्शी, भावुक, कलामर्मज्ञ और विद्यारसिक था। उसका आत्म-चरित ही उसके अतुल ज्ञान और विद्वत्ताका परिचायक है। अपने जातीय स्वभावके अनुसार कभी-कभी वह क्रोधमे अन्धा एवं अत्यन्त क्रूर भी हो उठता था, किन्तु साथ ही बडा नरमदिल और दयालु भी था और पशु-पक्षियों तकसे बडा प्रेम करता था। दर्शनशास्त्रसे भी उसे बडा प्रेम था, जिनसिंहसूरि आदि जैनगुरुओ और जयरूप नामक ब्राह्मण योगीके साथ वह घण्टो दार्शनिक विवेचन किया करता था। जिनसिंहसूरि सम्राट् अकबरसे सम्मान प्राप्त जिनचन्द्र-सूरिके शिष्य थे। जहाँगीरने उन्हे युगप्रधानकी उपाधि प्रदान की थी। अपने पिताकी भाँति ही वह स्वतन्त्र विचारोका व्यक्ति था और इस्लाम उसका कुलपरम्परा धर्ममात्र था, बहुधा मुल्ला-मौलवियोकी उपस्थितिमे ही अपने दरबारमे वह ब्राह्मण, जैन, ईसाई आदि विद्वानोसे इस्लाम-धर्म, कुरान-शरीफ और पैगम्बर मुहम्मदकी कटु आलोचना सुनता और जब इसपर मुल्ला-मौलवी लोग क्षुब्ध हो जाते तो उनका उपहास करता। तथापि अकबरकी धर्म-सहिष्णुताकी नीतिकी एक प्रकारकी प्रतिक्रिया उसके

समयमे शुरू हो गयी थी। इस्लाम-धर्म और मुसलमानोंका वह अकबरसे अधिक पक्ष लेता था। देश-विजयके सिलसिलेमे उसने कुछ मन्दिरों और मूर्त्तियोको भी तोडा। रजौरी नामक स्थानमे हिन्दुओने बहुत-सी मुसलमान कन्याओको हिन्दू बनाकर ब्याहा था, यह समाचार ज्ञात होनेपर जहाँगीर-ने आज्ञा निकाल दी कि यदि कोई भविष्यमे ऐसा करेगा तो उसे भारी दण्ड दिया जायेगा। जो हिन्दू आदि इस्लाममे दीक्षित होते उन्हे वह वज़ीफा भी देता था। तथापि अँगरेजदूत जॉन हाकिन्सको उसने एक मुसलमान रमणी-के साथ विवाह करनेकी और उसे ईसाई बनानेकी अनुमति दे दी थी। उसके समयमें अनेक नवीन हिन्दू एव जैन-मन्दिरोंका निर्माण हुआ। केवल वारा-णसी नगरमें ही उसके राज्यके अन्तिम वर्षोंमे सत्तर नवीन मन्दिर बने थे। हिन्दू, जैन आदिकोको अपने धर्मोत्सव आदि मनानेकी भी पूर्ण स्वतन्त्रता थी। होली, दिवाली आदि त्योहारोमे भी सम्राट् भाग लेता था। हिन्दू जैन आदिको अपने तीर्थोकी यात्राएँ करनेको भी पूरी स्वाधीनता थी। गुजरात आदि प्रान्तोके जैनियोने उसके प्रान्तीय शासकोसे हिंसा-निषेधक कई फरमान भी जारी कराये थे। किन्तु बीकानेरके एक जैनयति मानसिह-ने विद्रोही राजकुमार खुसरूका पक्ष लिया था, उसीके परामर्शसे बीकानेर-का राजा रायसिह भी जहाँगीरका विरोधी हो गया था और दिल्ली छोडकर बीकानेर चला गया था। साथमे रायसिह अकबरके मन्त्री और अपने पुराने शत्रु कर्मचन्द्र बच्छावतके दोनो पुत्रोको भी फुसलाकर बीकानेर लिवा ले गया था और वहाँ जब वे निश्शंक होकर अपनी हवेली-में रहने लगे तो रायसिहने ससैन्य हवेलीको घेर लिया। बच्छावत वीर वीरताके साथ लड़ते-लडते कट मरे और उनकी स्त्रियोने जौहर किया। बच्छावत मुगल सम्राट्के आश्रित थे। इन्ही सब कारणोसे जहाँगीर यति-मानसिह और राजा रायसिहसे अत्यन्त रुष्ट हो गया। मानसिहके सम्प्र-दायके व्यक्तियोको उसने अपने राज्यसे भी निर्वासित कर दिया। कालान्तर-मे रायसिहको उसने क्षमा कर दिया। जैनोके एक बहुत छोटे-से वर्गपर

किये गये जहाँगीरके ये अत्याचार राजनैतिक कारणोसे हुए थे। वैसे जैनोके साथ वह उतना ही उदार और सहिष्णु था जैसा कि अन्य धर्मावलम्बियोके साथ। उसकी धार्मिक नीति अकबर-जैसी उदार न होते हुए भी अनुदार न थी।

उस कालके जैन कवियों और साहित्यकारोमे भविष्यदत्तचरित्र, भक्तामरकथा और सीताचरित्र (१६१० ई०) के कर्त्ता ब्रह्मचारी-रायमल्ल, भविष्यदत्तचरित्र (१६१० ई०) के कर्त्ता माखनपुर-खतौली निवासी पं० बनवारीलाल, सुदर्शनचरित्र (१६०६ ई०) एवं यशोधरचरित्रके कर्त्ता आगरा निवासी कवि नन्द, पंचमीव्रतकथा (१६०९ ई०) के कर्त्ता उज्जैन निवासी कवि विष्णु, भगवतीगीता (१६१२ ई०) के कर्त्ता विद्याकमल, कृपणचरित्र (१६१४ ई०) के कर्त्ता कवि ब्रह्मगुलाल, ढालसागर (१६१५ ई०) के कर्त्ता गुणसागर, जीवन्धररास (१६१९ ई०) के कर्त्ता त्रिभुवनकीर्त्ति, रविव्रतकथा (१६२१ ई०) के कर्त्ता भानुकीर्त्ति मुनि, सुन्दर सतसई और सुन्दरविलासके कर्ता कवि सुन्दरदास (१६२३ ई०), मृगांकलेखाचरित्र, टण्डाणारास, चुनडी, ढमाल आदि लगभग बीस-इक्कीस रचनाओके कर्त्ता पं० भगवतीदास आदि उल्लेखनीय है। उपर्युल्लिखित कवि नन्दने अपने ग्रन्थमे आगरा नगरकी सुन्दरता, 'नृपति नूरदी शाहि' (जहाँगीर) के चरित्र एवं प्रताप और उसके सुख-शान्तिपूर्ण राज्यमे होनेवाले धर्म-कार्योका सुन्दर वर्णन किया है। उस समय आगरेमे हीरानन्द मुकीम राजधानीका प्रतिष्ठित रईस था तथा शाहजादा सलीमका कृपापात्र और निजी जौहरी था। १६१० ई० मे जहाँगीरके बादशाह हो जानेके पश्चात् उसने उसे अपने घर आमन्त्रित किया और भेंट दी थी। उस अवसरका रोचक वर्णन भी कवि नन्दने किया है। महाकवि बनारसीदास और उनकी विद्वद्-गोष्ठी जहाँगीरके शासनकालमे आगरामे जम रही थी और कवि अपनी उदार काव्यधारा-द्वारा हिन्दू-मुसलिम एकताको प्रोत्साहन दे रहे थे तथा अध्यात्मरस प्रवाहित कर रहे थे।

इनके अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदासजीका सर्व-प्रसिद्ध रामचरित-मानस भी सम्भवतया जहाँगीरके राज्यकालमे ही पूर्ण हुआ, १६२३ ई० मे महाकवि तुलसीकी मृत्यु हुई थी। व्रजभूमिमे वल्लभाचार्य और गोस्वामी विट्ठलदास-की परम्पराके कृष्णभक्त कवि व्रजभारतीका स्रोत प्रवाहित कर रहे थे। स्वयं जहाँगीर फारसी साहित्यका अधिक प्रेमी था। उसकी अपनी तुजक-जहाँगीरीके अतिरिक्त फरहंगे- जहाँगीरी नामके महत्त्वपूर्ण कोप ग्रन्थका भी उसने निर्माण कराया था, और फ़ारसी भाषामे कई इतिहास-ग्रन्थ भी उस कालमे रचे गये।

सम्राट् संगीतकलाका भी प्रेमी था और चित्रकलामे तो वहुत अभिरुचि रखता था। ईसाई धर्मके यूरोपियन चित्रोका भी वह संग्रह करता था और अपनी भारतीय मुगलकलाको भी उसने भारी प्रोत्साहन दिया था। अवुलहसन और उस्ताद मसूद उसके दरवारके सर्व-प्रमुख एव सिद्धहस्त चित्रकार थे। स्थापत्यकलामे उसकी महत्त्वपूण कृतियाँ सिकन्दरे-मे अकवरका मकवरा, जिसकी निर्माण-योजना उसने स्वयं वनवायी थी, आगरेमे अपने ससुर एतमादुद्दौलाका मकवरा और लाहौरमे स्वयं अपना मकवरा है। मालवाकी राजधानी माण्डूमे जव उसे कुछ दिन ठहरना पडा तो वहाँके अनेक प्रासादोका उसने जीर्णोद्धार कराया था। कश्मीरसे उसे वडा प्रेम था और वह उद्यानोका शौकीन था। आगरा, लाहौर, श्रीनगर आदिमे उसके द्वारा लगवाये हुए वाग सुप्रसिद्ध है।

उपरोक्त सव गुणो, प्रवृत्तियो एवं कार्य-कलापोके बावजूद जहाँगीर महा आलसी, विलासी और निर्द्वन्द्व था। मद्यपानकी आदत उसकी वढती चली गयी। दूसरोके ऊपर राज्य-कार्य छोडकर स्वयं आनन्द और ऐशमे समय विताना उसे पसन्द था। उसके नवीन सलाहकार एवं अमात्य भी पहले-जैसे प्रजा एवं राज्य-हितैषी और उदार एवं दूरदर्शी न थे। अन्तः-कलह, षड्यन्त्र, विद्रोह, कूटनीतिक चाले और स्वार्थपरता उनमे वढ़ने लगी। वह तो अकवरने साम्राज्यकी नीव कुछ ऐसी सुदृढ जमा दी थी

कि इन बातोसे उसकी विशेष क्षति नही हुई। साम्राज्य अक्षुण्ण बना रहा इसका कोई विशेष श्रेय जहाँगीरको नही है। इतिहासकारोने उसे विरोधी तत्त्वोंका मिश्रण और मुगल सम्राटोमे सर्वाधिक बुद्धिमान्-मूर्ख प्रतिपादित किया है।

सिंहासनपर बैठनेके अगले ही वर्ष (१६०६ ई०) उसके पुत्र राजकुमार खुसरूने विद्रोह कर दिया। अकबरके जीवनमे ही सलीमके विद्रोहके कारण खुसरूको राज्य प्राप्त करनेकी आशा हो गयी थी किन्तु उसके प्रधान सहायक उसके ससुर अजीज कोका और मामा मानसिह उस समय अकबरके प्रतापसे चुप रह गये और जहाँगीरको उन्होने बादशाह हो जाने दिया। अब खुसरूने स्वयं कुछ साथी और द्रव्य इकट्ठा करके पंजाबकी ओर कूच कर दिया और अपने पिताके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। जहाँगीरने बडी तत्परतासे तुरन्त स्वयं जाकर विद्रोहका दमन किया, खुसरूको बन्दी किया तथा उसके साथियोका निर्दयताके साथ संहार किया। सिक्खोके गुरु अर्जुनसिहने खुसरूकी सहायता की थी अत· उन्हे भी यन्त्रणा देकर मार डाला, एक श्वेताम्बर जैन यति मानसिह भी उसका समर्थक था अतः उसके साथियो और अनुयायियोको राज्यसे निर्वासित कर दिया गया। एक वर्ष बाद फिर खुसरूके सम्बन्धमे एक षड्यन्त्रका सन्देह हुआ अतः राजकुमारको अन्धा कर दिया गया और राजा अनीरायकी सुपुर्दगीमे जीवन-भरके लिए नजरकैद रखा गया। १६१६ ई० मे उसे उसके शत्रु आसफखाँके सुपुर्द कर दिया गया जिसने उसे शहजादे खुर्रमको १६२० ई० मे सौप दिया और खुर्रमने १६२२ ई० मे दक्षिणमे ले जाकर अपने इस अभागे बडे भाईकी गुप्त रूपसे हत्या करवा दी। राजकुमार खुसरू सुशिक्षित, सुसंस्कृत, उदार, कोमल हृदय और बड़ा सच्चरित्र था। सभी छोटे-बडे उसे चाहते थे। लोकने उसकी मृत्युको एक सन्तका बलिदान माना।

१६०७ ई० मे बंगालके एक विद्रोही सरदार शेर-अफगनका दमन

करनेके लिए जहाँगीरने अपने सम्बन्धी कुतुबुद्दीन कोकाको भेजा, किन्तु उस प्रयत्नमें कोका और शेर अफगन दोनों ही मारे गये। शेर अफगनकी सुन्दरी पत्नी मेहरुन्निसा और उसकी पुत्रीको बन्दी करके आगरा लाया गया और शाही अन्तःपुरमें रख दिया गया। मेहरको देखते ही जहाँगीर उसपर मोहित हो गया, किन्तु चार वर्ष तक वह उसका निवारण करती रही, अन्ततः १६११ ई० में मेहरुन्निसाने सम्राट्से विवाह कर लिया और वह मलिका नूरजहाँके नामसे इतिहासमें प्रसिद्ध हुई। नूरजहाँ अत्यन्त सुन्दरी ही नहीं थी वरन् अत्यन्त बुद्धिमती, सुशिक्षित, राजनीति-पटु एवं कार्य-कुशल भी थी। गुलाबके इत्रके आविष्कार, मलमलपर चिकनके बारीक काम आदिका श्रेय उसे दिया जाता है। धीरे-धीरे समस्त राज्यकार्य उसने अपने हाथमें ले लिया और जहाँगीर अधिकतर विलासमें ही डूबा रहने लगा। अपने पहले पतिसे उत्पन्न कन्याको उसने जहाँगीरके पुत्र शहरयारके साथ विवाह दिया। नूरजहाँका बाप गयासबेग दरिद्रावस्थामें मध्य-एशियासे आया था, अकबरने उसे शरण दी थी और एक ऊँचे पदपर नियुक्त कर दिया था। अब वह एतमादुद्दौलाके नामसे सम्राट्का प्रधान मन्त्री हुआ। उसकी मृत्युके उपरान्त उसका पुत्र और नूरजहाँका भाई आसफखाँ प्रधान मन्त्री हुआ। आसफखाँकी पुत्री मुमताज महल राजकुमार खुर्रमके साथ विवाही थी। अतः जहाँगीरके शासनकालके उत्तरार्धमें नूरजहाँ, आसफखाँ और खुर्रम (शाहजहाँ) का संयुक्त दल ही सर्व-सर्वा था। नूरजहाँ महलमें अपना दरबार भी करती थी और सिक्कोंपर भी उसका नाम अंकित होने लगा था। १६११ से १६२२ ई० तक वस्तुतः नूरजहाँकी ही अमलदारी रही।

प्रारम्भमें जहाँगीर ईसाइयों और उनके जेसुइट पादरियोंसे रुष्ट हो गया था किन्तु थोड़े समय पश्चात् ही उसने फिर उनपर कृपा दिखलानी शुरू कर दी। उनके धार्मिक चित्रोंको उसने अपने आस-पास टँगवाया और बहुधा देर तक उनसे वार्तालाप भी करता था। सम्भवतया इसमें उसका

राजनीतिक उद्देश्य था। वह पश्चिमी तटके पुर्तगालियोसे मैत्री बनाये रखना चाहता था, इसीलिए १६०८ ई० मे उसने अपना एक राजदूत गोआ भेजा। किन्तु उस दूतके पुर्तगाली गवर्नरसे भेट होनेके पूर्व ही इंग्लिस्तानके राजा जेम्स प्रथमका राजदूत सर जॉन हाकिन्स जहाँगीरके दरबारमे आ पहुँचा, उसने २५००० स्वर्ण-मुद्राएँ सम्राट्को भेंट दी और अपने देशवासियोके लिए भारतवर्षमें व्यापारिक सुविधाओकी याचना की। सम्राट्ने उसके साथ बडी सज्जनताका व्यवहार किया किन्तु उसका दूतकार्य सफल न हुआ, जिसका प्रधान कारण पुर्तगालियोका तीव्र विरोध था। हाकिन्स १६०९–११ ई० तक दो वर्ष यहाँ रहा। उसके विवरण महत्त्वपूर्ण है। तदुपरान्त अँगरेजों और पुर्तगालियोमे भारतीय सागरमे युद्ध हुआ। पुर्तगालियोने सम्राट्के भी चार जलपोतोका अपहरण कर लिया इसपर सम्राट् उनसे रुष्ट हो गया और उसने उन्हे दण्ड दिया। ऐसी स्थितिमे जब अँगरेजोका दूसरा दूत सर टामस रो (१६१५–१८ ई०) मुगल दरबारमे आया तो वह आसफखाँ आदि मन्त्रियोंको कुछ घूस आदि देकर अपने देशके लिए व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करनेमे सहज ही सफल हो गया। टामस रोके अपने वृत्तान्त और उससे भी अधिक उसके सेवक टैरीके लेख जहाँगीरके इतिहास और उसके दरबार एवं दरबारियो आदिके रोचक चित्रणके लिए बडे महत्त्वपूर्ण है। राजकुमार खुसरूके भो व्यक्तित्व एवं चरित्रकी इन अँगरेजोने बड़ी सराहना की है।

१६१२ ई० मे बंगालके विद्रोही सरदार उस्मानखाँका दमन किया गया और दक्षिणमे अहमदनगरपर आक्रमण किया गया, किन्तु उस राज्यके सुयोग्य हब्शी प्रधान मलिक अम्बरके कारण विशेष सफलता नही मिली। मेवाड़के विरुद्ध भी प्रारम्भसे ही युद्ध चल रहा था। राणा अमरसिह अपने पिता वीर प्रताप-जैसा दृढ़प्रतिज्ञ एवं चारित्रवान् नही था। वह कुछ आलसी और विलासी था। राज्यकार्य भो कम ही देखता था। भामाशाहका पुत्र जीवाशाह उसका प्रधान था। चूडावत आदि सामन्त सरदारोके

उत्तेजित करनेसे ही राणा अबतक मुगलोंके विरुद्ध युद्ध करता रहा था किन्तु अब उसकी और उसके राज्यकी शक्ति घटती जा रही थी। अतएव १६१४ ई० मे शहजादे खुर्रमकी शक्ति, वीरता और कूट-नीतिने राणाको अधीनता स्वीकार करनेपर विवश कर दिया, किन्तु स्वयं सम्राट्के दरबारमे उपस्थित होने, अपने वंशकी किसी कन्याको मुगलोंको देने, एवं राज्यकर देनेसे उसने सर्वथा इनकार कर दिया। जहाँगीर राणाके पराधीनता स्वीकार कर लेनेसे ही अत्यन्त प्रसन्न था। उसने उसकी सब शर्तें स्वीकार कर ली। खुर्रमके साथ युवराज कर्णसिंह अपने मन्त्री जीवाशाह-सहित अजमेरमे सम्राट्के सम्मुख उपस्थित हुआ और उसने उसका बड़े प्रेम और आदरके साथ स्वागत किया। कर्णसिंहको पाँच-हजारी मनसब प्रदान किया गया। खुर्रम तो युवराजका गाढ़ा मित्र ही हो गया था। जहाँगीरने अमरसिंह और कर्णसिंहकी श्वेतमर्मरकी मूर्त्तियाँ निर्माण कराकर राजधानीमे स्थापित करायी। तदुपरान्त औरंगजेबके काल तक उदयपुरके राणा मुगलोंके मित्र बने रहे। कर्णसिंहका दीवान जीवाशाह ही रहा और उसके पश्चात् उसका पुत्र अक्षयराज रहा जो राणा जगतसिंहके समय तक दीवान बना रहा।

१६१६ ई० में आगरामे प्लेग नामक महामारी फैली। कवि बनारसीदासने अपने आत्मचरितमे इस भीषण महामारीका आँखो देखा सजीव वर्णन दिया है। भारतवर्षमे चूहोंसे फैलनेवाले इस रोगका यही सर्व-प्रथम प्रकोप था। तीन-चार वर्ष तक उत्तर भारतमे प्लेगका यह प्रकोप रहा।

इसी वर्ष राजकुमार खुर्रमने निजामशाहीकी राजधानी अहमदनगरपर अधिकार कर लिया। सम्राट्ने प्रसन्न होकर उसे शाहजहाँकी उपाधि और तीस-हजारी मनसब दिया। १६२० ई० मे काँगड़ाके प्रसिद्ध एवं सुदृढ़ दुर्गपर जहाँगीरका अधिकार हुआ। इस महत्त्वपूर्ण सफलताके उपलक्ष्यमे जहाँगीरने उस दुर्गके भीतर ही एक मसजिद बनवायी और एक बैलकी कुर्बानी की। यह कार्य प्रजापर इस बातके सिद्ध करनेके लिए ही

था कि राजा और राज्यका वास्तविक धर्म इस्लाम ही है। पिछले दिनोके ऐसे कार्योमे उसके परामर्शदाताओका प्रभाव भी काफी था। १६२२ ई० मे राजकुमार खुसरूका वध हुआ। उसी वर्ष ईरानके शाह अब्बासने मुगलोसे क़न्दहार छीन लिया। इस घटनासे जहाँगीर बडा क्षुब्ध हुआ, वह स्वयं बीमार था अतः शाहजहाँको एक बडी सेनाके साथ क़न्दहारका उद्धार करनेके लिए आदेश दिया, किन्तु शाहजहाँने स्वयं विद्रोह कर दिया। क़न्दहार-उद्धारका कार्य बीचमे ही रुक गया। जहाँगीर अत्यन्त क्रोधित हुआ और विद्रोही राजकुमारके दमनमे जुट गया। दिल्लीके निकट १६२३ ई० मे शाहजहाँ पराजित हुआ और उसका प्रधान सहायक सुन्दर ब्राह्मण युद्धमे मारा गया। शाहजहाँ राजपूतानेकी ओर भाग गया जहाँ मेवाडके कर्णसिंहने मित्रता निबाही और उसे आश्रय दिया। तदनन्तर मालवा होता हुआ वह दक्षिण पहुँचा, वहाँसे तेलिगाना होता हुआ बगाल पहुँचा और बंगाल एवं बिहारपर उसने अधिकार कर लिया। किन्तु वहाँ भी शाही सेनाने उसे पराजित किया अत. फिर दक्षिण चला गया और वहाँ उसने मलिक अम्बरसे मित्रता की। १६२५ ई० मे पिताके साथ उसकी सुलह हो गयी, अपने पुत्र दारा और औरंगजेबको उसने अपने सदाचरणके आश्वासनके रूपमे सम्राट्के पास भेज दिया किन्तु स्वयं उसके सम्मुख उपस्थित होनेका उसे साहस नही हुआ और जहाँगीरकी मृत्यु पर्यन्त मेवाड़-नरेशके आश्रयमे वा अन्यत्र गुप्तरूपसे ही वह रहता रहा।

१६२६ ई० मे साम्राज्यके एक प्रधान सरदार महाबतखाँसे, जो शाहजहाँके विद्रोह-दमनमे और उसका पीछा करनेमे सफल हुआ था, मलिका नूरजहाँ रुष्ट हो गयी। उसने अपनी स्थिति भयप्रद जान जहाँगीर और नूरजहाँको, जब वे झेलमके तटपर छावनी डाले पड़े थे, घेर लिया। किन्तु नूरजहाँकी चतुराईसे उसका प्रयत्न विफल हुआ और उसे प्राण बचाकर स्वयं भागना पड़ा। वह भी जाकर शाहजहाँसे मिल गया। १६२७ ई० मे कुछ दिन रोगी रहनेके उपरान्त कश्मीरके मार्गमे सम्राट्

जहाँगीरकी मृत्यु हो गयी। लाहौरके उसके मकबरेमे उसे दफनाया गया।

उसका ज्येष्ठ पुत्र खुसरू पहले ही मारा जा चुका था, १६२६ ई० मे दूसरे पुत्र परवेजको भी खुर्रमके ही इशारेपर जहर दे दिया गया था। तीसरा पुत्र शहरयार नूरजहाँका दामाद था, वह बिलकुल निकम्मा था, भागकर लाहौरमे मलिकाके पास गया और सम्राट् घोषित कर दिया गया। किन्तु प्रधान मन्त्री आसफखाँने जो शाहजहाँका श्वसुर था जबतक शाहजहाँ दक्षिणसे आये खुसरूके पुत्र दावरबख्शको सिहासनपर बैठा दिया। शहरयार उसका विरोध करने चला तो आसफखाँने उसे बन्दी करके अन्धा करवा दिया। शाहजहाँ तुरन्त राजधानीके लिए चल पडा और वहीसे आसफखाँ आदि अपने समर्थकोको आदेश भेज दिया कि शाही वशके प्रत्येक पुरुष दावेदारका निर्विलम्ब वध कर दिया जाये। दावरबख्श तो जान बचाकर ईरानके शाहकी शरणमे चला गया और मुगल वशके अन्य सब अनेक शाहजादे मृत्युके घाट उतार दिये गये। मलिका नूरजहाँ एक साधारण उपेक्षित स्त्रीकी भाँति दिन बिताने लगी और मरनेपर इलाहाबादमे एक साधारणसे मकबरेमे दफना दी गयी। शाहजहाँका मार्ग निष्कण्टक हुआ।

■

अध्याय ४

मुग़ल-साम्राज्य—अधोगत

शाहजहाँ (१६२८-१६५८ ई०) इस प्रकार अपने भाई-भतीजो-के रक्तसे रंजित मुगल-सिहासनपर आसीन हुआ। आसफखाँ उसका प्रधान मन्त्री था, उसकी बेटी मुमताजमहल जो शाहजहाँकी अत्यन्त चहेती पत्नी थी साम्राज्ञी हुई। शाहजहाँके दाराशिकोह, औरंगजेब, मुराद और शुजा नामके चार वयस्क पुत्र तथा जहाँनारा और रोशनआरा नामकी दो पुत्रियाँ सुशिक्षित, राजनीति-निपुण और राजकार्यमे सहायक थे।

राज्यके प्रथम वर्षमे ही जहाँगीरके कृपापात्र वीरसिह बुन्देलेके पुत्र जुझारसिंहने विद्रोह कर दिया। उसको दबा दिया गया किन्तु वह फिर विद्रोही हो उठा। जब शाही सेना उसका पीछा कर रही था तो १६३५ ई० मे गोडोने उसका वध कर दिया और कुछ कालके लिए वीर बुन्देले शान्त हो गये। १६२९ ई० मे खानजहाँ लोदीने अहमदनगरके सुलतानके साथ मैत्री करके सम्राट्के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, उसका भी तत्काल दमन कर दिया गया, चार वर्ष बाद उसने फिर विद्रोह किया और इस बार वह मारा गया। १६३०—३२ ई० मे जब दक्षिण विजयके उद्देश्यसे सम्राट् बुरहानपुरमे छावनी डाले पडा था तो दक्खिन और गुजरातमे भयंकर अकाल पडा। इस भीपण दुर्भिक्ष और उसकी सहयोगिनी महा-मारीके कारण त्राहि-त्राहि मच गयी और असंख्य मनुष्य कुत्तोकी मौत तड़प-तडपकर मर गये। सम्राट्ने कुछ कर माफ कर दिये और कुछ द्रव्य दान किया, किन्तु दुष्कालकी भीपणताके समक्ष यह सब सहायता

नगण्य थी। १६३१ ई० मे शाहजहाँकी चहेती बेगम अर्जुमन्दबानो उपनाम मुमताजमहलकी प्रसूतिगृहमे मृत्यु हो गयी। उससे शाहजहाँके १४ सन्ताने हुई थी। शोकपीड़ित सम्राट् आगरा वापिस आया और १६३२ ई० से ही अपनी प्रिय मलिकाके शवको सुरक्षित रखनेवाले अभूतपूर्व स्मारक, ताजमहलका निर्माणकार्य उसने प्रारम्भ कर दिया।

१६३२–३५ ई० के बीच शाहजहाँ ईसाइयोपर अत्यधिक कुपित रहा और विशेषकर बंगालके हुगली प्रदेशमें विद्यमान पुर्तगालियोपर उसने बडे अत्याचार किये। ये अत्याचार अनुचित भी न थे। पुर्तगाली अत्यन्त उद्धत, धर्मान्ध एवं हिन्दू और मुसलमान दोनोके ही विद्वेषी थे और खुले अत्याचार करते थे। १६३२ ई० मे शाही सेनाने हुगलीका घेरा डाला और पुर्तगालियोका उस प्रदेशमे प्रायः अन्त ही कर दिया। इसी वर्ष उसने वाराणसी तथा साम्राज्यके अन्य भागोके उन हिन्दू-मन्दिरोको गिरवानेका आदेश जारी किया जिनका निर्माण प्रारम्भ हो चुका था तथा नवीन मन्दिरोके निर्माणपर प्रतिबन्ध लगा दिया। केवल वाराणसी ज़िलेमे ही ७६ मन्दिर नष्ट किये गये।

१६३० ई० से ही शाहजहाँने दक्षिणके अवशिष्ट मुसलमानी राज्योका अन्त करनेकी ओर ध्यान दिया। अहमदनगरका सुयोग्य मन्त्री मलिक अम्बर १६२६ ई० मे ही मर गया था। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी फतहखाँ स्वामिद्रोही था। अतः १६३२ ई० मे उसके विश्वासघात और घूसके लोभने राजकुमार शुजा और महाबतखाँको दौलताबादका दुर्ग लेने और अहमदनगरकी निजामशाहीका अन्त करके उसे साम्राज्यमें मिलाने मे सफलता दी। इस अवसरपर शाहजी भोसलेने निजामशाही वंशके एक-बालकको सुलतान घोषित करके उस राज्यको सजीव रखनेका विफल प्रयत्न किया। १६३५–३६ ई० मे सम्राट्ने बीजापुर और गोलकुण्डाके सुलतानोके पास अपनी अधीनता स्वीकार करनेका आदेश भेजा। गोल-कुण्डा-नरेशने तो अपने-आपको असमर्थ पाकर मुगलोकी पूर्ण अधीनता

स्वीकार कर ली, किन्तु बीजापुरके साथ निरन्तर युद्ध चलता रहा। अन्ततः १६३६ ई० मे बीजापुरने भी सम्राट्की शर्तोपर सन्धि कर ली किन्तु वह उसके पूर्णतया अधीन नही हुआ। उसी वर्ष राजकुमार औरंगजेब दक्षिणका सूबेदार नियुक्त किया गया। खानदेश, बरार, तेलिगाना और दौलताबाद प्रान्त उसके शासनमे थे और १६४४ ई० तक वहाँ उसने शासन किया। वह वहाँ निरन्तर युद्धोंमे संलग्न रहा। अन्तमे सम्राट् उससे रुष्ट हो गया और उसे कुछ कालके लिए बेकार एवं तिरस्कृत रहना पडा। १६४५ ई० मे वह गुजरातका सूबेदार बनाया गया और १६४७ ई० मे बल्ख और बदख्शाँका सूबेदार बनाकर भेज दिया गया। सम्भवतया यह औरंगजेबकी बढती हुई शक्ति और उसके स्वभावको देखकर उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी भाई दाराके संकेतपर ही हुआ था जो कि उस समय पिताका सर्वाधिक कृपापात्र था।

१६३८ ई० मे कन्दहारपर वहाँके शासकके विश्वासघातसे मुगलोका फिर अधिकार हो गया था। १६४५ ई० मे राजकुमार मुराद और सेनापति अलीमर्दानने बल्ख और बदख्शाँपर भी अधिकार कर लिया था। किन्तु औरंगजेब उन प्रदेशोको अधिकारमे रखनेमे असफल रहा। बल्ख और कन्दहार दोनों ही मुगलोके हाथसे निकल गये। १६४९ ई० मे कन्दहारपर फिर आक्रमण किया गया किन्तु ईरानियोसे पराजित होकर मुगल सेना फिर लौट आयी। इन असफलताओके कारण औरंगजेब और अधिक तिरस्कृत हुआ। १६५२ ई० मे फिर कन्दहारका घेरा डाला गया, इस बार भी असफलता ही मिली। तीसरी बार १६५३ ई० मे दाराको भेजा गया वह भी असफल रहा। इन मध्य-एशियाई प्रदेशोको अधिकारमे रखने या हस्तगत करनेमे शाही-कोषका विपुल द्रव्य व्यय हुआ और अन्ततः विफलता ही मिली। मुगलोंने कन्दहारको लेनेका फिर प्रयत्न नही किया।

राणा जगतसिहने चित्तौड दुर्गका नवीन परकोटा निर्माण कराना शुरू किया था किन्तु शाहजहाँने उसे नष्ट करवा दिया। राणाके विद्रोहके

कारण उसके प्रदेशको उजाड दिया गया जिससे राणा दब गया।

१६५३ ई० मे औरंगजेब फिरसे दक्षिणका सूबेदार बनाकर भेजा गया और उसकी इस बारकी चार वर्षकी सूबेदारी पहलेसे भी अधिक कठिनाईपूर्ण थी। उसके पूर्ववर्ती शासकोके कुशासनके कारण देशकी खेतीको भारी क्षति हुई थी, राज्य-कर प्राप्त नही होता था, सर्वत्र एक प्रकारकी अव्यवस्था थी। गोलकुण्डा और बीजापुरके साथ युद्ध भी निरन्तर चालू रखने पडे। संयोगसे उसे मुर्शिदकुलीखाँ-जैसा सुयोग्य दीवान प्राप्त हुआ और उसकी सहायतासे उसने शासन व्यवस्थित किया तथा खेतीकी पर्याप्त उन्नति की। औरंगजेब कट्टर सुन्नी था और दक्षिणकी सल्तनते शिया थी जिन्हे वह अपना हिन्दुओ-जैसा ही धर्म-शत्रु समझता था, अतः वह किसी-न-किसी बहाने उनपर आक्रमण करता था और उनके अन्त करनेके उपाय सोचता रहता था। इस कार्यमे उसका प्रधान सहायक मीरजुमला नामका नवोदित सरदार था। वह पहले एक व्यापारी था, फिर गोलकुण्डाके सुलतानकी सेवामे एक सरदार बन गया, तदनन्तर चन्द्रगिरिके विजयनगर वंशी राजाके बहुत-से प्रदेशपर अधिकार करके स्वयं अपना अर्ध-स्वतन्त्र राज्य जमा बैठा। गोलकुण्डाके सुलतान-द्वारा दबाये जानेपर वह औरगजेबसे मिल गया और उसका एक प्रधान सरदार बन गया तथा शनै.शनैः, प्रधान मन्त्री सादुल्लाखाँकी मृत्युपर, साम्राज्यका प्रधान मन्त्री बन गया। अस्तु, इसी मीरजुमलाके सहयोगसे औरगज़ेबने अपनी विश्वासघाती नीति-द्वारा गोलकुण्डा राज्यको नष्ट करना प्रारम्भ किया, उसके हैदराबाद आदि अनेक नगरोको लूटा और १६५६ ई० मे गोलकुण्डाका ही घेरा डाल दिया। अन्तमें स्वयं शाहजहाँने ही सुलतान-द्वारा की गयी सन्धि-प्रार्थना स्वीकार कर ली और औरंगज़ेबकी इच्छाके विरुद्ध घेरा उठानेकी आज्ञा दे दी। फिर भी गोलकुण्डा राज्य अब एक अत्यन्त निर्बल और अपगु राज्य रह गया था। बीजापुरके साथ भी युद्ध चलता ही रहता था किन्तु १६५६ ई० मे सुलतान मुहम्मद आदिल-

शाहकी मृत्यु होनेसे औरंगजेबके हाथ अच्छा अवसर आया। उसने मीरजुमलाको साथ लेकर बीजापुर राज्यपर तुरन्त आक्रमण कर दिया। १६५७ ई० में बीदर और तदुपरान्त कल्याणपर उसका अधिकार हो गया। बीजापुरकी पूर्ण पराजय निकट ही थी कि शाहजहाँकी आज्ञासे उसे इस सुलतानके साथ भी सन्धि करनी पड़ी।

उसी समय शाहजहाँकी गम्भीर बीमारीका समाचार ज्ञात हुआ और औरंगजेब दक्षिणकी समस्याको वहीं छोड उत्तरके लिए चल पडा। दक्षिण-की अपनी इस सूबेदारीमें उसने मीरजुमला और मुर्शिदकुलीखाँ-जैसे नवीन योग्य सहायक पैदा कर लिये थे और धन और शक्तिका भी संचय कर लिया था। उसकी बहन रोशनआरा उसकी पक्षपातिनी थी। किन्तु सम्राट्का विशिष्ट स्नेहपात्र उसका ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह था और उसे ही वह अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था, बडी बहन जहाँनारा भी उसीकी पक्षपातिनी थी। राजकुमार मुराद और शुजा भी शक्तिशाली सूबेदार थे और राज्यके दावेदार थे। चारों ही राजकुमार वीर योद्धा और अपने-अपने प्रदेशके प्रायः अर्धस्वतन्त्र स्वामी थे। उन सबके अधीन अपनी-अपनी पर्याप्त सेना थी। किन्तु जब कि दाराशिकोह उन सबमें अधिक विद्वान्, वेदान्ती आध्यात्मिक एवं सूफी विचारोंका प्रेमी, उदार, सज्जन और जनप्रिय था, औरंगजेब कट्टर सुन्नी, धर्मान्ध मुसलमान, अनुदार, छल-कपटमें कुशल एवं कूटनीतिज्ञ था; मुराद शराबी था और शुजा सामान्य बुद्धिका व्यक्ति था। शाहजहाँकी आसन्न मृत्युका समाचार पाते ही शुजाने बंगालमें और मुरादने गुजरातमें अपने-आपको सम्राट् घोषित कर दिया। राजधानी आगरामें दाराने सारे अधिकार अपने हाथमें कर लिये। अब औरंगजेबने खुला विद्रोह कर दिया और शाहजहाँकी आज्ञाके विरुद्ध मीरजुमलाको बन्दीगृहमें रोक रखा। तीनों राजकुमार ससैन्य राज-धानीकी ओर चल पड़े। औरंगजेबने मूर्ख मुरादको भुलावा देकर अपनी ओर मिला लिया। उज्जैनके निकट धरमत नामक स्थानमें १६५८ ई० में

उन दोनोकी सेनाओको सम्राट्की ओरसे राजा जसवन्तसिह राठौड और कासिमखाँने रोका, युद्ध हुआ और शाही सेना पराजित हुई। इस युद्धमे राजपूतोकी ही क्षति अधिक हुई। राठौड राजा मैदान छोडकर भाग गया किन्तु अपनी वीर रानीकी भर्त्सना सुनकर शत्रुका सामना करनेके लिए फिर चल पड़ा। इस बीचमे शहजादोकी सेना आगराके निकट पहुँच गयी, किलेसे ८ मील पूर्व सामूगढमे दाराशिकोहने ससैन्य उनका प्रतिरोध किया। उसकी ओरसे राजपूत प्राण हथेलीपर रखकर लडे। दारा अपनी ज़रा-सी भूलके कारण पराजित हुआ और आगराको ओर भाग गया। तुरन्त औरगजेबने आगरापर आक्रमण कर दिया और दुर्ग एवं राजधानीको हस्तगत करके पिता शाहजहाँको किलेमे ही कैद कर दिया जहाँ १६६४ ई० मे उसकी मृत्यु हुई। मुरादको भी औरंगजेबने छलसे बन्दी करके ग्वालियरके दुर्गमे कैद कर दिया जहाँ तीन वर्ष बाद उसका वध कर दिया गया। शुजा पराजित होकर अराकानकी ओर भाग गया और वहाँ अराकानियोने उसका सपरिवार वध कर दिया। औरंगजेबने स्वयं अपने पुत्र मुहम्मद सुलतानको, जिसने शुजाका पक्ष लिया था, आजन्म वन्दीगृहमें डाल दिया और १६७६ ई० मे उसकी गुप्त हत्या करा दी। दाराके पुत्र सुलेमान शिकोहने गढवालके हिन्दू राजाकी शरण ली थी किन्तु राजाके पुत्रने विश्वासघात करके उसे औरंगजेबके सिपुर्द कर दिया। सुलेमानको ग्वालियरके दुर्गमे कैद किया गया और यन्त्रणाएँ देकर मार डाला गया। दाराके छोटे पुत्र सिपहिरशिकोहको और मुरादके पुत्र इजिद-बख्शको, जो अल्पवयस्क थे, प्राण-दान दे दिया गया और स्वय अपनी एक-एक पुत्रीके साथ उनका विवाह कर दिया गया। दाराशिकोहका अथक पीछा किया गया, वह पंजाबसे सिन्ध, तदनन्तर कच्छ और फिर गुजरात पहुँचा और कुछ सेना एकत्र करके अजमेरकी ओर बढ़ा। राजपूतोसे जैसी उसे आशा थी सहायता न मिली। वह पराजित होकर फिर भागा और अनेक विपत्तियाँ एव संकट झेलते हुए, अनेक विश्वासघातोका शिकार होते हुए

अन्ततः वह पकड़ा गया। अपनी प्रिय पत्नी नादिरा बेगमकी मृत्युसे वह विक्षिप्त-सा हो गया था। औरंगजेबने उसकी जितनी बन सकी दुर्गति की और अन्तमे उसका वध करवा दिया। इस प्रकार शाहजहाँका राज्यकाल उसके जीवनमे ही समाप्त हो गया, उसकी सन्ततिका बहुभाग भी नष्ट हो गया। बूढे सम्राट्ने आगराके किलेमे अपने प्रिय ताजमहलकी ओर दृष्टि लगाये हुए ही अत्यन्त दैन्य, अपमान, शोक और सन्तापमे जीवनके शेष दिन बिताये, और मृत्युके उपरान्त ताजमहलमे ही मुमताज़की बगलमे वह दफना दिया गया।

शाहजहाँने ३० वर्ष पर्यन्त शासन किया। वह अत्यन्त धनी और ऐश्वर्यशाली था। जवाहिरात संग्रह करनेका उसे बडा चाव था। अपने दरबारकी शान-शौकतको उसने चरम शिखरपर पहुँचा दिया था। कोहेनूर हीरा उसके ताजकी शोभा बढाता था और सुप्रसिद्ध रत्नजटित मयूर-सिहासनपर बैठकर वह दरबार करता था (इस सिहासनकी कल्पना एक जैन-कथामे वर्णित विमानसे ली गयी बतायी जाती है)। आगराके किलेके कई विशाल तहखाने सोने-चाँदी और हीरे-जवाहरातसे पटे पडे थे। अपने उस अतुल वैभव-प्रदर्शनमे उसे बडा आनन्द आता था। स्थापत्यकलाका भी वह बडा प्रेमी था और भारी निर्माता था। दिल्लीका लालकिला जिसके दीवानेखासकी छत चाँदीसे मढी थी, दिल्लीकी विशाल जामा-मस्जिद, सुन्दर चाँदनीचौक जिसके बीचसे दोनो ओर वृक्षोसे ढकी नहर बहती थी, आगराकी जामामस्जिद, आगराके किलेको मोतीमस्जिद, दीवानेखास, सम्मनबुर्ज आदि इमारते और सबसे अधिक विश्वके आश्चर्यो-मे परिगणित ताजमहल इस सम्राट्की अमूल्य कृतियाँ है। अपने भवनोमे संगमर्मरका उपयोग करनेका उसे बडा चाव था। शिल्प-स्थापत्यकी मुगल-कलाके विकासमे उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार चित्रकलाका भी अच्छा विकास हुआ, उसके समयके चित्र अधिक सजीव है। उसके प्रश्रयमे अब्दुलहमीद और खफीखाँने अपने इतिहास-ग्रन्थ भी लिखे।

फ़ारसी-साहित्यको पूर्ववत् प्रश्रय प्राप्त था, किन्तु शाहजहाँ स्वयं साहित्य और विद्याका रसिक नही था। पीटरमण्डी, मनूची, बर्नियर, मनरिक, टैवर्नियर आदि यूरोपवासी भी उसके शासन-कालमे भारतमे आये और उन्होंने अपने वृत्तान्त लिखे जो उस कालके इतिहासके लिए महत्त्वपूर्ण साधन है।

शासन तन्त्रमे शाहजहाँने प्राय: कोई परिवर्तन या सुधार नही किया। अकबर-द्वारा स्थापित व्यवस्था ही चली आ रही थी किन्तु उसमे धीरे-धीरे शिथिलता एवं विकार उत्पन्न होते जा रहे थे। स्वयं शाहजहाँ न्यायपरायण बननेका प्रयत्न करता था और उच्च पदाधिकारियोको भी यदि दोषी पाता तो कड़ा दण्ड देता। वह उनके कार्योपर दृष्टि रखता था और यदि वे घूस लेते या अन्याय करते पाये जाते तो उन्हें क्षमा नही करता था। राजधानीके कोतवालका किस्सा तथा हकीकतरायकी घटनाएँ इस बातके उदाहरण है। उसका प्रधान मन्त्री प्रारम्भमे आसफ़ख़ाँ था, तदनन्तर सादुल्लाख़ाँ हुआ। यह मन्त्री मुगलोके मन्त्रियोमे सर्वाधिक योग्य माना जाता है। चोर-डाकुओका शिरच्छेद करके उनके कटे सिरोके बुर्ज बना दिये जाते थे। तथापि स्थानीय शासक प्रजा-पीड़न करते ही थे। सामान्यत: प्रजा शान्त समृद्ध और सुखी थी, व्यापार और उद्योग-धन्धे भी उन्नत थे, किन्तु अकबर और जहाँगीरके समयकी अपेक्षा प्रजाकी दशा कुछ अवनत ही थी।

यद्यपि शाहजहाँकी माँ और दादी दोनो राजपूतनियाँ थी तथापि उसके स्वभावमे मध्य-एशियाई बर्बरता, धार्मिक कट्टरता और हिन्दू-विद्वेष अपने पूर्वजोकी अपेक्षा कही अधिक था। उसके शासन-कालमे उन्हे पहले-जैसी धार्मिक स्वतन्त्रता नही रह गयी थी। उसने मन्दिर भी तुड़वाये और नवीन मन्दिरोके निर्माणपर भी प्रतिबन्ध लगाया। इस्लामके अतिरिक्त अन्य धर्मो और दर्शनोमे उसे कोई रुचि न थी अत. किसी मुसलमानेतर धर्म-गुरु या विद्वान्का उसके द्वारा सम्मानित होना नही पाया

जाता। वैसे राज्यके अनेक अधीन राजपूत राजाओ, सामन्त सरदारो, हिन्दू एवं जैन पदाधिकारियो, सेठों और व्यापारियो आदिको सहन करना ही पडता था। उनको तथा बहुसंख्यक प्रजाको सन्तुष्ट रखनेके लिए सामान्यतया अपने पूर्वजो-द्वारा प्रचलित सहिष्णु और उदार नीतिको भी वह बरतता ही था। जब वह अपने पिताके समयमे ही गुजरातका सूबेदार था तो उसने वहाँके जैनोकी प्रार्थनापर जीवहिसा निषेधक कई फरमान निकाले थे, चाहे उनके लिए वहाँके धनी सेठोसे राजकोषके लिए विपुल धन लेकर ही वैसा किया हो। कहा जाता है कि आगराके कवि बनारसीदास (१५८६-१६४३ ई०) शाहजहाँके मुसाहब थे और उसके साथ बहुधा शतरज खेला करते थे। अपने अन्तिम वर्षोमे जब उनकी चित्तवृत्ति राज-दरबारसे विरक्त हुई तो सम्राट्ने उन्हे दरबारमे उपस्थित न होनेकी सहर्ष अनुमति दे दी। बनारसीदास न केवल श्रेष्ठ कवि, प्रकाण्ड विद्वान् एवं अत्यन्त धार्मिक थे, वे एक मानवतावादी विचारक भी थे। उनके नेतृत्वमे आगरामे दसियो उच्चकोटिके विद्वानोकी विद्वद्गोष्ठी होती थी। पाण्डे रूपचन्द, चतुर्भुज वैरागी, भगवतीदास, धर्मदास, कुँवरपाल, जगजीवन आदि उन विद्वानोमे उल्लेखनीय है। दिल्ली, लाहौर, मुल्तान आदि विभिन्न प्रमुख नगरोके विद्वानोसे इस सत्संगका सम्पर्क बना रहता था। बाहरके भी अनेक विद्वान् समय-समयपर वहाँ आते रहते थे। महाकवि तुलसीदास और सन्तकवि सुन्दरदासके साथ भी बनारसीदासकी साहित्यिक मैत्री थी। इसी समय शान्तिदास नामके एक नग्न जैनमुनिका भी आगरेमे आना पाया जाता है। वैसे उत्तर भारतमे नग्न जैनमुनि उस कालमे विरले ही थे, उनका स्थान दिगम्बर भट्टारको, ब्रह्मचारियो और क्षुल्लकोने ले लिया था। इसी शासनकालमे स्वयं बनारसीदासके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोके अतिरिक्त उनके विभिन्न साथियो और कवि सालिवाहन, पाण्डे हरिकृष्ण, भट्टारक जगभूषण, पाण्डे हेमराज, यति लूणसागर, पृथ्वीपाल, वीरदास, कवि सधारु, मनोहरलाल, खरगसेन, रायचन्द्र आदि अनेक श्वेताम्बर-

दिगम्बर भट्टारकों, यतियो, त्यागियो और गृहस्थ विद्वानोंने साम्राज्यके विभिन्न प्रदेशोमे संस्कृत तथा हिन्दी पद्य एवं गद्यमे अनेक धार्मिक एवं लौकिक ग्रन्थोकी रचना की थी। दिल्लीमे स्वयं लालकिलेके सामने ही शाहजहाँके समयमें ही जैनोंका वह प्रसिद्ध लालमन्दिर बना था जो उर्दू-मन्दिर भी कहलाता है। यह मन्दिर शाही सेनाके जैन सैनिको एवं अन्य कर्मचारियोकी प्रार्थनापर सम्राट्की अनुमति एवं प्रश्रयपूर्वक बना था।

औरंगज़ेब (१६५८–१७०७)—१६५८ ई० मे आगरापर अधिकार करते ही औरंगजेबने अपने-आपको सम्राट् घोपित कर दिया था और १६५९ ई० मे दिल्लीमें अपना विधिवत् राज्याभिपेक करके स्वयं अपने पिता सम्राट्को बन्दीगृहमे डालकर भाई-भतीजोके रक्तसे सने हाथोमे इस आलमगीर पातशाहने साम्राज्यकी बागडोर सम्हाली। ५० वर्प पर्यन्त राज्य करनेके उपरान्त ९० वर्पकी दीर्घायुमे उसकी मृत्यु हुई। अन्त समय तक उसका प्रताप और आतंक अपने-पराये, छोटे-बडे, सबपर अक्षुण्ण बना रहा।

इसमें सन्देह नही कि औरंगज़ेब धीर-वीर, कुशल सेनानायक, योद्धा, राजनीति-पटु, कूटनीतिका गुरु, सदैव सजग, सावधान और क्रियाशील था। वह एक अति योग्य शासक, प्रभावशाली व्यक्ति, शक्तिशाली और महान् नरेश था; किन्तु साथ ही अदूरदर्शी, छली, कपटी, धूर्त्त और धर्मान्ध भी था। अपने अधीनस्थोके हृदयमे वह भयका ही संचार करता था, स्नेह और भक्तिका नही। ललित कलाओ और साहित्यसे उसे कोई प्रेम नही था, वरन् वह उनका विरोधी ही था, यद्यपि स्वयं सुशिक्षित एवं बहुविज्ञ था। नीरस और अनुदार तो था ही, वह परधर्म असहिष्णु भी था। वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था और अपने धर्मका पक्ष उसके हृदयमें सर्वोपरि था। उसके चित्तमे यह धारणा जम गयी थी कि उसके पूर्वजो-को मूर्खतापूर्ण नीति एवं अनावश्यक अतिशय उदारताके कारण राज्यमे मुसलमानेतर हिन्दू आदिकोकी संख्या, शक्ति और प्रभाव अत्यधिक बढ

गया है तथा ईरानियों और शियाओका प्रभाव भी बहुत बढ गया है, और इन सबके कारण इस्लामधर्म और मुसलमानोकी सत्ता खतरेमे पड़ गयी है, ये सब विरोधी प्रभाव मिलकर शनैः-शनैः उसे हड़प लेंगे, अतएव इस्लाम और मुसलमानोकी रक्षा उसका प्रथम ध्येय है, जो अपनी शक्तिका यथाशक्य अधिकसे अधिक विस्तार करने, मुसलमानेतर धर्मो और जातियों-का अत्याचारपूर्वक दमन करने और इस्लामकी प्रभावना एवं प्रसार करनेसे ही सिद्ध होगा। उसकी दृष्टिमे साध्यका महत्त्व था, साधनोके औचित्यका कोई मूल्य न था। राज्य प्राप्त करनेके प्रयत्नमे ही उसने अपनी यह प्रवृत्ति चरितार्थ कर दी थी। अपनी अभीष्ट प्राप्तिके लिए स्वयं अपने पिता और राजाको बन्दी करना, अपने सगे-सम्बन्धियोका क्रूरतासे वध करना, विरोधियोको घोर यन्त्रणाएँ देकर नष्ट कर डालना, विश्वास-घात, ढोंग, छल-कपटका भी अवसर पड़नेपर आश्रय लेनेसे न चूकना, आदि उसके कार्य प्रारम्भसे ही सर्व-विदित थे और उसकी जीवन-नीति एवं शासन-नीतिके परिचायक थे। किसी भी व्यक्तिका विश्वास करना वह जानता ही न था, विशेषकर बडेसे बड़े हिन्दू सरदारोका भी वह तनिक विश्वास नही करता था और उनको अपमानित करनेके किसी अवसरको तो चूकता ही न था। अकबरकी उदार, सहिष्णु, समदर्शी एवं विवेक और बुद्धिमत्तापूर्ण नीतिकी प्रतिक्रिया जहाँगीरके समयसे ही होने लगी थी, किन्तु बहुत हलके रूपमे। शाहजहाँके समयमे उसने और अधिक बल पकड़ा किन्तु औरंगजेबने तो उसे चरम शिखरपर पहुँचा दिया। उसने यथा-सम्भव अकबरकी नीतिको पूर्णतया उलटनेका प्रयत्न किया। फलस्वरूप अकबरकी नीतिके कारण जिस साम्राज्य-शक्तिका इतना सुदृढ निर्माण एवं अद्भुत विकास हुआ था कि वह बावजूद इन प्रतिक्रियाओ, मूर्खताओ और अन्य अनेक दोषो एव भूलोके डेढ़-सौ वर्ष पर्यन्त सर्वप्रकार अक्षुण्ण बनी रही और उसके आगे भी और डेढ-सौ वर्ष पर्यन्त वंश-स्थायित्वकी रक्षा कर सकी, औरंगजेबकी नीतिके कारण वह साम्राज्य-शक्ति उसके जीवन-

कालमे ही घुनकर जर्जर हो गयी और उसकी मृत्युके उपरान्त सामान्य झोंकोंमे छिन्न-भिन्न हो पडी। औरंगजेबमे अपने मध्य-एशियाई तैमूर, चंगेज़ आदि पूर्वजोंकी क्रूर बर्बरता, कट्टर मुल्लाओंकी अत्यन्त असहिष्णु धर्मान्धता, एक अत्यन्त स्वार्थी व्यक्तिकी सन्देहशीलता, लोभीकी सकीर्णता एवं अनुदारता, एक पक्के मुसलमानकी मानसिक नीरसता एवं वाह्य सादगी थी और उसे अपने चरमोत्कर्षको प्राप्त मुगल-साम्राज्यके एक राजकुमारके योग्य समुचित शिक्षा-दीक्षा तथा शासन, युद्ध और राज्य-कार्यका व्यावहारिक शिक्षण भी प्राप्त था। अपने पूर्वजो-द्वारा सम्पादित विशाल साम्राज्य, अतुल वैभव, असीम शक्ति, सुव्यवस्थित शासन-तन्त्र, अनगिनत हिन्दू एव मुसलमान स्वामिभक्त सेवक, यश और प्रताप भी उसे प्राप्त था। इन्ही सब तत्त्वोसे उसके व्यक्तित्वका निर्माण हुआ था और इन्हीपर उसके जीवनकी सफलताएँ एवं विफलताएँ आधारित हुई, और इन्हीमे उसकी सम्पूर्ण राजनीतिकी कुंजी अन्तर्निहित है।

औरंगज़ेबका राज्यकाल दो भागोमे विभक्त किया जा सकता है: १६५८ से १६८१ ई० तक वह उत्तरमे ही रहा और मुख्यतया वहीकी समस्याओमे उलझा रहा। १६८१ से १७०७ ई० में अपनी मृत्यु पर्यन्त वह दक्षिण भारतमें रहा और वहीकी समस्याओंमें मुख्यतया उलझा रहा।

सिंहासन प्राप्त करते ही उसने प्रथानुसार कुछ घोषणाएँ की जिनमे मुख्यतया लगभग ८० राज्य-करो एव अबवाबोकी माफीका आदेश था। वस्तुत उस समय साम्राज्यके विभिन्न भागोमें अकाल पडना शुरू हो गया था जो १६६०-६१ ई० मे बडा भयंकर हो उठा। अतएव अनेक अतिरिक्त करोकी माफी उस समय स्वाभाविक ही थी, न भी दी जाती तो भी उक्त करोका अकाल-पीडितोसे वसूल करना कठिन ही था। तथापि तत्कालीन इतिहासकारके कथनानुसार तो इस माफीका भी कोई परिणाम न हुआ, स्थानीय शासक उन करोको प्रजासे फिर भी वसूल करते रहे और अपनी जेबें भरते रहे।

अपने प्रतिद्वन्द्वियोंके विरुद्ध औरंगजेबकी सफलतामें उसका प्रधान सहायक मीरजुमला रहा था, किन्तु इसी कारण वह अत्यन्त शक्तिशाली भी हो गया था। अतः औरंगजेबने उसे सुदूर बंगालका सूबेदार बनाया और शुजाके अन्त करने एवं आसामका दमन करनेका भार सौंपा। शुजाका तो सपरिवार मीरजुमलाके प्रयत्नोंसे नाश हो गया किन्तु आसामके युद्धमें १६६३ ई० में वह स्वयं भी मारा गया और औरंगजेबका एक कण्टक दूर हुआ। उसके स्थानपर उसने अपने मामा शाइस्ताखाँको नियुक्त किया जो लगभग ३० वर्ष तक उस पदपर रहा। १६६० ई० में शाइस्ताखाँको शिवाजीका दमन करनेके लिए दक्षिण भेजा गया था, किन्तु पूनामें उसकी उपहासास्पद असफलताके कारण वहाँसे बुलाकर फिर बंगाल भेज दिया गया।

दक्षिणमें १६५७ से १६६० ई० पर्यन्त मुगलोंकी ओरसे प्रायः शान्ति रही थी जिसका लाभ उठाकर वीर शिवाजीने बीजापुर-नरेशकी हानि कर-करके अपना राज्य जमाना प्रारम्भ कर दिया था। शाइस्ताखाँके उपरान्त राजा जयसिंह और शहजादा मुअज्ज़म शिवाजीके विरुद्ध भेजे गये। जयसिंहके परामर्शपर १६६५ ई० में शिवाजी आगरे भी आया किन्तु सम्राट्की विश्वासघाती नीतिका आभास पाकर निकल भागा। १६६७ ई० में औरंगज़ेबने राज्यके महान् स्तम्भ जयपुर-नरेश राजा जयसिंहको सम्भवतया उसीके पुत्र कीरतसिंहसे विष दिलवाकर मरवा डाला। जयसिंहके उपरान्त शहजादेके सहायकके रूपमें जोधपुर-नरेश जसवन्तसिंहको शिवाजीके विरुद्ध भेजा गया। वह भी असफल रहा, बल्कि शहजादेने स्वयं घूस लेकर सम्राट्से शिवाजीको राजाकी पदवी भी दिलवा दी। शिवाजीकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी, साम्राज्यके सूरत, खानदेश आदि प्रदेशोंको भी उसने कई वार लूटा। साम्राज्यकी शासन-व्यवस्था इतनी शिथिल हो चुकी थी कि सम्राट् शिवाजीका कुछ न बिगाड सका। १६७४ ई० में शिवाजीने अपना राज्याभिषेक करके स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया।

१६६९ ई० में मथुरा ज़िलेमे गोकुल जाटके नेतृत्वमे जाटोने भयंकर विद्रोह कर दिया था और वहाँके फौजदारको मार दिया था। दोनो ओर-के सहस्रो व्यक्तियोकी हत्याके उपरान्त कठिनाईसे विद्रोहका दमन हुआ। १६८१ ई०में जाट फिर भडक उठे और फिर शाही सेनाने उनका दमन किया। १६८८ ई०मे उनका विद्रोह एक वार फिर भडका और सम्राट्की मृत्यु पर्यन्त चालू रहा। इसी बीच १६९१ ई०मे जाटोने सिकन्दरमे अकबरके मकबरेको लूटा और उस सम्राट्के शवको भी कब्रसे निकाल कर चितामे भस्म कर दिया, ऐसा कहा जाता है।

१६७२ ई०मे नारनौलमे सतनामियोने भयानक विद्रोह किया। इस पन्थमे अनेक छोटी जातियोके लोग थे। शाही सेना भारी क्षति उठाकर उस विद्रोहपर क़ाबू कर पायी। अपने हाथसे क़ुरानकी आयतोके तावीज़ अपने सरदारोको देकर भी औरंगज़ेब अपनी क्षति कम न कर सका।

इसी समयके लगभग सीमान्त प्रदेशके पठान कबीलोने विद्रोह कर दिया। शाही सेनाका एक वडा भाग दस वर्षो तक वहाँ उलझा रहा। राजा जसवन्तसिह तथा अन्य अनेक सेनापतियोको भेजा गया किन्तु सब विफल रहे। १६७४ ई०में सम्राट् स्वय वहाँ गया और क़बीलोंका दमन किया, किन्तु शान्ति १६७८ ई० तक ही जाकर स्थापित हो सकी। १६७५ ई०मे औरंगज़ेबने सिक्खोपर अत्याचार किया और गुरु तेग़बहादुरका वध करवा दिया। इन गुरुने उसकी हिन्दू विरोधी-नीतिका विरोध किया था और पकड़े जानेपर मुसलमान बनना अस्वीकार कर दिया था।

१६७९ ई० मे राजस्थानके राजपूतोने विद्रोह कर दिया। मारवाड़-नरेश जसवन्तसिहको औरगजेबने अफगानिस्तानके अफ़ग़ानोका दमन करने भेज दिया था, किन्तु उसने राजाको आवश्यक सहायता नही भेजी और १६७८ई०मे जमरूदमें सम्राट्के ही इशारेपर इस राजाका प्राणान्त हो गया। उसके दो पुत्रो और रानीको सम्राट्ने लाहौरमें रोक रखा। इसकी इच्छा राजकुमारोको मुसलमान बना डालनेकी थी। किन्तु स्वामिभक्त वीर

दुर्गादासके प्रयत्न और कौशलसे रानी और राजपुत्र सुरक्षित मारवाड पहुँच गये। औरंगजेब बहुत क्षुब्ध हुआ और उसने उनके पकडनेके लिए सेना भेजी। मारवाड़के सेनापति दुर्गादास राठौड़, उसके भाई मुकुन्ददास खीची तथा अन्य सरदार अपने राजा और राज्यकी रक्षाके लिए कटिबद्ध हो गये। उन्होंने अन्य राजपूत राज्योंसे भी सहायता माँगी। समय ऐसा था कि औरंगजेबकी धार्मिक नीति और राजपूत-विरोधी चालोंसे समस्त नरेश असन्तुष्ट हो उठे थे। राजाओंको अब पहले-जैसी आन्तरिक स्वतन्त्रता नही रही थी, औरंगजेब उनके राज्योंका भी सीधे केन्द्रसे ही शासन करनेका इच्छुक था। जयसिंह और जसवन्तसिंह-जैसे साम्राज्यके प्रधान स्तम्भ और शक्ति-सम्पन्न एवं प्रभावशाली नरेशोंका एक-एक करके उसने अन्त करवा दिया था। जसवन्तसिंहकी मृत्युका वह पूरा लाभ उठाना चाहता था और मारवाडपर पूर्ण अधिकार करना चाहता था क्योंकि वह देश मालवा और तदनन्तर दक्षिणके मार्गके बीचमें पडता था। उसकी नीयत और इरादे छिपे नहीं थे। अतः समस्त राजस्थान स्वातन्त्र्य-प्राप्तिके लिए उठ खडा हुआ और स्वयं मेवाड-नरेश राणा राजसिंहने युद्धका नेतृत्व ग्रहण किया। औरंगजेब जिसे मात्र जोधपुरके राजाविहीन राठौर सरदारोंका विद्रोह समझता था उसने एकाएक जयपुरको छोड प्रायः सम्पूर्ण राजस्थान-द्वारा घोषित भीषण युद्धका रूप ले लिया। सम्राट्ने अपनी सारी सैन्यशक्ति केन्द्रित करके अजमेरमें डेरा डाला और स्वयं युद्धका संचालन किया। किन्तु इसी बीचमें उसका पुत्र राजकुमार अकबर राजपूतोंसे मिल गया। इससे सम्राट् अत्यन्त चिन्तित हो उठा। अपने छल-कौशलसे उसने राजपूतोंको विवश कर दिया कि वे शहजादेको अपने आश्रयसे निकाल दे। लाचार अकबर दक्षिणकी ओर भाग गया। इधर वीर राजपूत युद्धोंमें सम्राट्की भारी क्षति कर रहे थे। अन्ततः १६८१ ई० में औरंगजेबने राणाके तथा राजपूतोंके साथ सन्धि कर ली। राजपूत राज्यों-को जजियासे भी मुक्त कर दिया, उनकी सत्ता भी पूर्ववत् स्वीकार कर

ली और अन्य साधारण शर्तें भी उनकी मान ली। सन्धि करनेमे इस जल्दबाजीका कारण यह भी था कि राजपूतानेकी देखा-देखी बुन्देलखण्डके चम्पतराय और उसके पुत्र छत्रसाल बुन्देलेने भी स्वातन्त्र्य-युद्ध छेड दिया था जिसके कारण दक्षिणके साथ सम्राट्का यातायात सम्बन्ध प्रायः विच्छिन्न हो गया था। अकबर दक्षिणकी ओर भाग गया था और वहाँ मराठोंसे मिलकर उसके विद्रोह करनेकी सम्भावना थी, और राजपूतोके विरोधी रहनेसे दक्षिणके युद्धोमें उन वीरोकी सहायता मिलनेको कोई आशा नही थी। अतः उसने राजस्थानके राजपूतोके साथ सन्धि कर ली, यद्यपि पहले-जैसी राजभक्ति उसे उनसे अब प्राप्त न हो सकी और राजपूतोका विद्रोह एवं सन्तोप उसकी मृत्यु पर्यन्त बना रहा। बुन्देलोके प्रति भी कुछ शक्ति प्रदर्शन करके उसने उनसे सन्धि कर ली, किन्तु वीर छत्रसाल भी अन्त तक उसका विद्रोही ही बना रहा। अब १६८१ ई० मे ही औरंगज़ेब शीघ्रता-के साथ दक्षिण पहुँचा और फिर अन्त तक वहीं रहा।

दक्षिणमें आकर औरंगजेबने वहाँके हिन्दू और मुसलमान राज्योका अन्त करनेपर कमर कसी। विद्रोही राजकुमार अकबर तो उसके हाथ आया नही। १६८० ई० मे शिवाजीकी मृत्यु हो चुकी थी अतः उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी शम्भाजीकी अकबरने शरण ली, अन्ततः वह भारत छोड ईरान चला गया और १७०४ ई० में वहीं उसकी मृत्यु हुई। अब औरंगजेबने बीजापुर और गोलकुण्डा-नरेशोपर यह व्यर्थके दोषारोपण लगाकर कि वे शिया है, हिन्दू और मुसलमानोमे भेद नही करते, हिन्दुओ-को राज्य-सेवामे नियुक्त करते हैं, शिवाजी मराठेको उन्होने राज्य-कर दिया आदि, १६८६ ई० मे बीजापुर और १६८७ ई० में गोलकुण्डा राज्य-का अन्त करके उन दोनोको साम्राज्यमे मिला लिया। उसी वर्ष इस सन्देहपर कि शहज़ादे मुअज्ज़मने उन राज्योके सुलतानोके साथ नरमीका बरताव किया है उसे बन्दीगृहमे डाल दिया। किन्तु १६९४ ई० मे जब शहज़ादे अकबरने ईरानियोकी सहायतासे भारतके सीमान्तपर आक्रमण

किया तो मुअज़्ज़मको मुक्त करके काबुलका सूबेदार बनाकर अकबरके विरुद्ध भेज दिया। अकबर पराजित होकर वापस लौट गया। १६८९ ई० मे औरंगजेबने राजा शम्भाजोको पराजित करके उसे उसके ब्राह्मण प्रधान मन्त्री सहित बन्दी कर लिया और तदनन्तर उसका वध करवा दिया। शम्भाजीके बालक पुत्र साहुको उसने अपने महलोमे ला रखा और वही उसे पलवाया। अब औरंगजेब प्रायः सम्पूर्ण भारतका एकच्छत्र सम्राट् था, किन्तु इसी समय समस्त मराठा जाति उसके विरुद्ध भड़क उठी। अबतक केवल मराठा राजे ही उसके शत्रु थे और उन्हीसे उसका युद्ध था किन्तु अब समस्त दक्षिणापथकी जनता उसकी विरोधी थी। शम्भाजीके भाई राजारामने सुदूर जिजीको अपना केन्द्र बनाकर इस जातीय विद्रोहका नेतृत्व किया और उसके पश्चात् उसकी वीर पत्नी ताराबाई युद्ध संचालित करती रही। औरंगजेबने मराठोके इस देशव्यापी विद्रोहको कुचलनेका भरसक प्रयत्न किया। उसके मन्त्रियोने उसे दिल्ली वापस लौट जानेकी सलाह दी, किन्तु वह मराठोको निःशेष किये बिना दक्षिणसे टलनेको तैयार न हुआ। अन्ततः दक्षिणने ही उसका अन्त कर दिया। सन् १७०७ ई० मे विफल प्रयत्न और निराशाग्रस्त वृद्ध सम्राट् औरगजेब आलमगीरकी औरंगाबादमे मृत्यु हुई और वही वह दफना दिया गया। उसके साथ ही महान् मुगल साम्राज्यकी महत्ताका भी अन्त हो गया।

औरंगजेबकी विफलता और उसके राज्यकालके उपरोक्त जाट, सिख, बुन्देले, सतनामी, राजपूत, मराठा आदि युद्धो एवं विद्रोहोका प्रधान कारण उसकी अपनी राजनीति थो। उसकी संकीर्ण धर्मान्धता, अत्यन्त असहिष्णु एवं अनुदार धार्मिक नीति एवं मुसलमानेतर जाति-विरोधी राजनीति उसकी अपनी असफलताओ एवं उसके उपरान्त महान् मुगल-साम्राज्यके द्रुत पतनके प्रधान कारण थे। वह भारतमे मुगल-साम्राज्यको विशुद्ध अरबी संस्कृतिपर आधारित एवं इस्लामके नियमोके अनुकूल एक पक्का मुसलमानी राज्य बना देना चाहता था। प्रारम्भमे ही यह ध्येय एवं तदनुसारी

नीति उसने निश्चित कर ली थी और राज्यारोहणके थोड़े समय पश्चात् ही उसे कार्यान्वित करना प्रारम्भ कर दिया था तथा अन्त तक वह उसीका निर्वाह करता रहा। उसके धर्मोन्मादके नीचे उसकी राजनीतिक वुद्धि भी दब गयी। इस्लामकी सुरक्षाका साधन उसने यही सोचा कि प्रत्येक गैरमुसलमानी या इस्लाम-विरोधी वस्तुका अन्त कर दिया जाये, हिन्दुओ और मुसलमानोमे स्पष्ट भेद कर दिया जाये, मुसलमानेतरोपर यथाशक्य अत्याचार किये जाये, नाना प्रकारके कर लादे जाये, उनके साथ घृणा और हीनताका व्यवहार किया जाये, उनमे जो थोडे-से भी शक्तिसम्पन्न है उन्हे कुचल दिया जाये, राज्य-सेवासे उन्हे वंचित रखा जाये, जो पहलेसे ही नियुक्त है उन्हे जैसे बने शनै.-शनै पृथक् कर दिया जाये, उनके स्थानमे मुसलमानोको नियुक्त किया जाये, और राज्यमे मुसलमानोकी संख्या, शक्ति और प्रभाव जितना बन सके बढाया जाये। ये सब उसकी साध्य-सिद्धिके साधन थे। हिन्दू आदिका वह इसलिए विरोधी नही था कि वे हिन्दू है वरन् इसलिए कि उनकी सत्ता और धार्मिक प्रभावके कारण इस्लाम और मुसलमानोंकी स्थिति खतरेमे है। वैसे अनेक हिन्दू उसके मित्र भी थे। किन्तु जहाँ स्वधर्म और जातिका प्रश्न था वे उसके लिए परम शत्रु ही थे। इसी उद्देश्यसे उसने मुल्ला-मौलवियोका एक आयोग नियुक्त किया कि वे समस्त शुद्ध इस्लामी प्रथाओ, रीति-रिवाजो आदिका संकलन करें, यह प्रयत्न ही कालान्तरमे भारतीय मुसलिम न्याय-विधानका आधार बना। उसने अपने पूर्वजों-द्वारा प्रचलित ऐसी समस्त प्रथाओका अन्त कर दिया जो इस्लामसम्मत न थी, यथा सिजदा, नौरोज, सम्राटोका तुलादान, झरोखा दर्शन इत्यादि। राजकीय सिक्कोपर कलमेके तथा मनुष्य, पशु आदि आकृतियोको अंकित करनेपर निषेध लगा दिया। संगीत और नृत्यपर प्रतिबन्ध लगा दिया, चित्र और मूर्तिकलाको हतोत्साहित किया और पीरपूजा व पीरोके मजारोपर स्त्रियोका जाना निषिद्ध किया। मुसलमान सौदागरोका सौदागरी माल

राज्यकरसे मुक्त कर दिया गया। जो हिन्दू अपना धर्म-परित्याग करके मुसलमान बन जाते उन्हे पुरस्कृत करने और राज्यकी नौकरी देनेकी व्यवस्था की। हिन्दुओको राज्यसेवासे वंचित कर दिया गया और एक फरमान निकाला कि महकमे-मालमे यथासम्भव केवल मुसलमानोकी ही नियुक्ति की जाये। महाराज जयसिह और जसवन्तसिह-जैसे शक्तिशाली हिन्दू सरदारोका अन्त करना शुरू कर दिया। सभी मुसलमानेतरोपर जजिया कर लगा दिया। हिन्दुओके धार्मिक मेले बन्द कर दिये और उनके होली, दिवाली आदि त्यौहारोका खुले रूपमे मनाया जाना बन्द कर दिया। जाट, सिख, सतनामी, राजपूत, मराठे आदि हिन्दुओके जिस वर्गने भी जहाँ विद्रोह किया उन्हे निर्दयतापूर्वक कुचल दिया गया और इन विद्रोहोको क्रूर धार्मिक अत्याचारोका अवसर बनाया गया। हिन्दुओके समस्त मन्दिरो, विद्यालयों एवं अन्य धर्मायतनो और सास्कृतिक संस्थानोको नष्ट करनेके लिए एक आम आज्ञा जारी कर दी गयी। हिन्दुओके तीव्र विरोधपर बनारस फरमान-द्वारा इस आज्ञामें यह संशोधन कर दिया गया कि पुराने मन्दिरोको रहने दिया जाये किन्तु नवीन मन्दिर कोई न बनाया जाये और जो बन रहा हो उसे गिरा दिया जाये। राजा जयसिह एवं जसवन्तसिहकी मृत्युके उपरान्त यह संशोधन फिर वापस ले लिया गया और अनेक प्राचीन भव्य मन्दिरोका विनाश करा दिया गया। जहाँगीरके समयमे वीरसिह बुन्देले-द्वारा ३३ लाखकी लागतसे निर्मित मथुराके अप्रतिम केशवदेव मन्दिरका, काशीके प्राचीन विश्वनाथ मन्दिरका तथा अयोध्या आदि अन्य अनेक स्थानोके प्रसिद्ध मन्दिरोका ध्वंस करके उसने उनके स्थानमे उन्ही स्थलोपर मसजिदें निर्माण करा दीं। हिन्दू आदिकोके धर्मप्रचार, धार्मिक शिक्षा और उन्मुक्त धर्मपालनपर कडे प्रतिबन्ध लगा दिये। संस्कृत और हिन्दी साहित्यका तो प्रश्न ही क्या, उसने फारसी साहित्यके सृजनको भी हतोत्साहित किया, यहाँतक कि इतिहास-ग्रन्थोके निर्माणपर भी कडा प्रतिबन्ध लगा दिया। खफीखाँ आदिके छिपाकर लिखे गये इतिहास,

वर्नियर, टैवर्नियर, मनूची, करेरी आदि युरॅपीय यात्रियोके वृत्तान्त, स्वयं औरंगजेबके अपने पत्र तथा अन्य फुटकर साधन तत्कालीन इतिहास, देश-दशा और सार्वजनिक असन्तोषपर प्रकाश डालते है। दरबार और दर-बारियोका आडम्बरपूर्ण रहन-सहन, सेनामे अनुशासनहीनता, अधिकारी-वर्गमें भ्रष्टाचार और विलासिता, विश्वासघात और स्वार्थपरता तथा आर्थिक-व्यवस्था एवं सिद्धान्तोकी उपेक्षा आदि अन्य कारण साम्राज्यके पतनमे साधक हुए। सिक्खोके यौद्धिक सगठन, जाटोके शक्तिसंग्रह, मारवाडके राठौरोकी उत्तरवर्ती सबलता और मराठोके उत्कर्पका श्रेय औरंगजेवकी इस कुनीतिको ही है।

हिन्दी-साहित्यके महाकवि केशव, बिहारी, देव, भूपण, मतिराम आदि इसी कालमे हुए। रीतिकालीन हिन्दू कवियोने प्राय: शृगार रसका स्रोत ही प्रवाहित किया और राजा-रईसोंको विलासितामे डूबनेमे सहायता दी। इसके विपरीत भैया भगौतीदास, आनन्दघन, यशोविजय, विनयविजय, लक्ष्मीचन्द्र, देव ब्रह्मचारी, जगतराय, शिरोमणिदास, जीवराज आदि जैन कवियोने शान्त विरागपूर्ण आध्यात्मिक विचारोका पोपण किया। उनके द्वारा धार्मिक ग्रन्थोके अतिरिक्त पंचाग निर्माणविधि, शकुन परीक्षा, सामुद्रिक शास्त्र, रत्नपरीक्षा, वचनकोप, ख्यात आदि महत्त्वपूर्ण लौकिक ग्रन्थ भी रचे गये। आगरा निवासी भैया भगौतीदास (१६७४–९८ ई०) ने लगभग ६७ रचनाएँ की जो उनके विशालकाय ब्रह्मविलासमे संग्रहीत हुई। आचार्य यशोविजय (१६२३–८८ ई०) न्याय आदि विविध विपयों-के प्रकाण्ड विद्वान् थे, हिन्दी भापाके जसविलासके अतिरिक्त संस्कृत भाषामे उन्होने लगभग ५०० छोटे-बड़े प्रकरण या ग्रन्थ रचे बताये जाते है। फतेहपुरके सरदार अलफखांके जैन दीवान ताराचन्दके लिए लक्ष्मी-चन्द्रने ज्ञानार्णव नामक योगविपयक प्राचीन ग्रन्थका भाषानुवाद एवं व्याख्या की थी। हथिकन्तके विश्वभूपण, सुरेन्द्रभूपण आदि भट्टारक आगरेके निकट ही स्वधर्मका संरक्षण और साहित्यका प्रोत्साहन कर रहे

थे। साहिजादपुर-निवासी कवि विनोदीलालने जिन्होने कई ग्रन्थोकी रचना की है, अपने श्रीपालचरित्र (१६९० ई०) के अन्तमे लिखा है कि 'उस समय औरंगशाह वलीका राज्य था जिसने अपने पिताको बन्दी वनाकर राज्य पाया था और चक्रवर्तीके समान समुद्रसे समुद्र पर्यन्त अपने राज्यका विस्तार कर लिया था।' कोई विशाल नवीन मन्दिर जैनोका उस कालमे नही बना, कुछ प्राचीन मन्दिर तोडे भी गये होगे किन्तु किसी प्रसिद्ध मन्दिरका ध्वंस या तीर्थका विनाश नही किया गया प्रतीत होता। आगरा और दिल्लीमे किलोके निकट ही उस कालके पूर्वके बने हुए विशाल जैनमन्दिर सुरक्षित एवं विद्यमान रहे। दिल्लीके शाहजहाँकालीन उर्दू मन्दिरमे दोनो समय पूजन आरती आदिके अवसरपर वाद्य बजते थे। औरंगजेबने उनका निषेध किया। कहा जाता है कि बाजे फिर भी बजते रहे और औरंगज़ेबने अपनी निषेधाज्ञा वापस ले ली। अहमदाबादके जौहरी शान्तिदासको, जो शहज़ादे मुरादका कृपापात्र रह चुका था, औरंगजेबने आगरे वुलाकर रखा और उसने अपना दरबारी नियुक्त किया। कन्नडी भाषाकी एक प्राचीन विरुदावलीके अनुसार औरंगजेबने कर्णाटकके एक दिगम्बर जैनाचार्यका भी आदर-सत्कार किया था।

राजस्थानमे तो जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, बूँदी, जैसलमेर आदि प्रायः सभी राज्योंमे हिन्दुओके साथ-साथ जैनी भी पर्याप्त उन्नतावस्थामें थे। मेवाड़के राणा राजसिहका प्रधान दीवान संघवी दयालदास था। कर्नल टाडके कथनानुसार 'वह अत्यन्त साहसी और चतुर था, मुगलोंके अत्याचारोका बदला लेनेकी प्यास उसके हृदयमे सदा प्रज्वलित रहती थी। उसने तेज़ घुडसवार सेना साथ लेकर नर्मदासे बेतवा तक फैले हुए मुगलोके मालवा प्रान्तको लूटा, सारंगपुर, सरोज, देवास, माण्डू, उज्जैन, चन्देरी आदि नगरोको विजय किया, किसी मुसलमान शत्रुको क्षमा नही किया तथा काजी-मुल्लाओ और उनके धर्मग्रन्थ कुरानको भी न बख्शा। उसकी प्रचण्ड भुजाओके सम्मुख कोई शत्रु नही टिकता था। लूटका यह

विपुल धन लाकर उसने अपने स्वामी राणाको अर्पण किया। तदनन्तर राजकुमार जयसिंहको साथ लेकर चित्तौडके निकट शहज़ादे आज़मकी भारी सेनाको पराजित किया, फलस्वरूप आज़मको भागकर रणथम्भौरमे शरण लेनी पडी।' ये घटनाएँ औरंगज़ेबके राजपूत युद्ध (१६७९–८१ ई०) की है। दयालदास धर्मात्मा भी था। उसने 'राजसमन्दकी पाल'के निकट पर्वतपर आदिनाथका एक किलेनुमा श्वेतमर्मरका विशाल मन्दिर भी बनवाया था। १६९३ ई० मे महाराणा राजसिंहने एक फ़रमान जारी किया था जिसके द्वारा राज्यके दस हज़ार ग्रामोके सरदारो, मन्त्रियो और पटेलो-को आज्ञा दी गयी थी कि प्राचीन कालसे जैनोके मन्दिरो और स्थानोको जो यह अधिकार मिला हुआ है कि कोई मनुष्य उनकी हदके भीतर किसी प्राणीका वध न करे, वह उनका पुराना हक है और मान्य किया जाये। जो जीव नर या मादा वध होनेके लिए इनके स्थानोके निकटसे ले जाया जाता है वह अमर हो जाता है, उसका वध नही किया जा सकता। जैनियोके उपासरेमें शरण लेनेवाले किसी राजद्रोही, लुटेरे या कारागृहसे भागे हुए घोर अपराधीको भी राजकर्मचारी वहाँ न पकड़ सकेंगे। फसल-मे कूँची, करानाकी मुट्ठी, उनके लिए दान की हुई भूमि, तथा नगरोमे विद्यमान उनके उपासरे आदि पूर्ववत् कायम रहेंगे।' यह फरमान जैन यति मानको दिया गया जिन्हे साथ ही बहुत-सा भूमिदान भी किया गया। जोधपुरके महाराज जसवन्तसिंह राठौड़ने जैन सामन्त मुहणोत नैणसीको अपना दीवान बनाया था। नैणसी कुशल शासक और वीर योद्धा होनेके साथ-साथ महान् इतिहासकार भी था। उसने १६५९–६५ ई० के बीच राजस्थानके अपने प्रसिद्ध प्रामाणिक एवं विशाल इतिहास ग्रन्थ 'ख्यात'की रचना की। यह मूतानैणसी राजपूतानेका अबुलफ़ज़ल कहलाता है और उसकी ख्यात उस देशकी आइने-अकबरी। नैणसीका ग्रन्थ एक अपूर्व ऐति-हासिक संग्रह है। नैणसीका भाई मेहता सुन्दरदास महाराजका प्राइवेट सेक्रेटरी था और पुत्र वीरकरमसी उनके साथ औरंगजेबके विरुद्ध उज्जैनके

युद्धमे घायल हुआ था। रघुनाथ भण्डारी जसवन्तसिहके पुत्र महाराज अजीतसिह (१६८०-१७२५ ई०) का प्रधान दीवान था। जैसलमेर राज्यमे एक विशाल जैन ग्रन्थ-भण्डार था। बीकानेर-नरेश राजा अनूपसिह जिनचन्द्र सूरिको गुरुवत् मानता था। महाराज जयसिहके समयसे ही आमेर राज्यकी नवीन राजधानी जयपुर जैनोका एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बनना प्रारम्भ हो गयी थी। बुन्देलखण्डमे ओडछाका बुन्देलानरेश वीरवर छत्रसाल भी जैनधर्मके प्रति अति उदार और सहिष्णु था। जैन-मन्दिरो एवं तीर्थोके सरक्षण, उन्हे दानादि एवं प्रश्रय देनेमे वह तत्पर रहता था। १६५९ ई० के, जेरठके चन्द्रप्रभ चैत्यालयमे वस्त्रपर लिखे गये, एक सचित्र प्रज्ञप्ति-पत्रसे ज्ञात होता है कि उस कालमे जैनी बुन्देलखण्डके राज्योमे प्रतिष्ठित थे और निर्विघ्न धर्मपालन करते थे।

मराठोंका उत्कर्ष १७वी शती ई० के उत्तरार्धकी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है और मुगल-साम्राज्यके पतनका सर्व-प्रधान कारण। दक्षिणापथका पश्चिमी घाटकी पहाड़ियोंसे निर्मित वह उत्तर-पश्चिमी भाग जो प्राचीनकालमे रट्ठिको और तदनन्तर राष्ट्रकूटोका केन्द्र रहा था और पूर्व-मध्यकालमे जिसपर देवगिरिके यादवोका राज्य रहा था तथा मुसलमानी कालमे जो बीजापुर, अहमदनगर और गोलकुण्डा राज्योके अन्तर्गत पडता था, महाराष्ट्र या मरहट्टा देश कहलाया। छोटे क़दके श्यामवर्ण, बलिष्ठ, फुरतीले, परिश्रमी, चतुर और चालाक मराठे ही इस प्रदेशकी जन-संख्याका बहुभाग थे। उनमे-से अधिकतर खेतिहर और शेष गाँवोके पटेल आदि मुखिया थे। उनके अतिरिक्त चतुर्थ-पंचम जातियोमे परिगणित मोदी बनिये, मजदूर आदि थे जिनमे-से अब भी बहुत-से जैन थे। कोकणके चितपावन ब्राह्मण भी जो अपने-आपको मराठोसे भिन्न प्रकट करनेके लिए दक्षिणी कहते है, इस प्रदेशमे बढ़ने लगे थे।

राष्ट्रकूटोके ही नही, उत्तरवर्ती चालुक्यो, होयसलों एवं यादवोके

समय तक भी इस प्रदेशमे जैनोकी संख्या पर्याप्त थी, राज्य-कार्योंमे भी उनका पूरा योग था, और अनेक सामन्त-सरदार भी जैन थे। किन्तु १२वी-१३वी शताब्दियोंमें राज्याश्रयकी उत्तरोत्तर कमी और श्रीवैष्णवो, सद्शैवो तथा लिंगायतोके प्रवल विरोध एवं भीषण अत्याचारोके कारण जैनोकी संख्या एवं प्रभाव इस प्रदेशमे वेगसे घटने लगा। १४वी शतीमें अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलुकके आक्रमणों और तदनन्तर बहमनी राज्यकी स्थापनाने इस प्रदेशकी मुसलमानेतर जनतापर जो अमानुषिक धार्मिक अत्याचार किये उनमे जैनी और भी अधिक पिस गये। अन्दरसे सजातीय शैव-वैष्णवोके और बाहरसे मुसलमानोके बर्बर अत्याचारोने इस प्रदेशमे जैनधर्मको निश्शेष प्राय: कर दिया। छोटे वर्गोंमें यत्र-तत्र गौणरूपसे वे बच रहे। किन्तु उनके पतनसे हिन्दुओकी भी रक्षा न हुई। मुसलमानोके अत्याचारोकी चक्कीमे पिसकर वे भी निम्न जातिके ही बन गये। जैनधर्म स्वयं जन्मत: जाति-पाँति माननेका विरोधी था। लिंगायत जो एक प्रकारसे जैनधर्मसे ही प्रसूत और प्रभावित थे वे भी जाति-पाँतिके विरोधी थे। अत: सामान्य शूद्रो-जैसी प्राय: एक ही मराठा जाति इस देशकी जन-संख्याके बहुभागके रूपमे रह गयी। बहुसंख्यक होनेके कारण मुसलमान सुलतानोको शासनके निम्नतम स्तरोपर उनसे कार्य लेना ही पड़ता था। अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डाके कुछ सुलतानोने तो उन्हें कुछ ऊँचे पद भी देना प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार मराठा सरदारोंके अनेक छोटे वंश उत्पन्न हो गये। इनमे-से कुछ तत्कालीन विजयनगरकी सेवामे भी रहे और कुछ प्राचीन यादव-होयसल-कालीन सामन्तसरदारोके वंशज होनेका दावा करने लगे।

मुसलमानोके अविवेकपूर्ण हिन्दू विरोधने उन्हे एकजातीयताके सूत्रमे बाँध दिया। उन्ही शताब्दियोमे अपभ्रंशोसे विकसित उनकी एक देश-भाषाका भी विकास होने लगा जो मराठी कहलायी। ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ, रामदास-जैसे मध्यकालीन सन्तोने मराठी भाषामे

सरल छन्दोमे अपने उपदेशो-द्वारा महाराष्ट्रके निवासियोकी एकता, विधर्मी मुसलमानोके अत्याचारोसे स्वधर्म, स्वजातिकी रक्षा करनेकी एकोद्देश्यता, प्राचीन भारतीय धर्मवीरोकी गौरव गाथाएँ सुनाकर हीनता, निराशा एवं हतोत्साह-जैसे भावोका बहिष्कार आदि मनोवृत्तियोका पोषण किया और शनैः-शनैः जागृतिकी एक लहर देशमे फूँकनी आरम्भ कर दी। विजयनगरके महान् हिन्दू साम्राज्यका अमानुषिक अन्त लोगोकी स्मृतिमे सजीव था—विजय नगर परम्पराके उत्तराधिकारी चन्द्रगिरिके राजा तो अभी भी स्वतन्त्र बने हुए थे। आक्रान्ता धर्मशत्रु मुसलमानोके क्रूर हाथोसे स्वधर्म, स्वजाति और स्वदेशकी रक्षाके लिए तीन-सौ वर्ष पूर्व होयसल, यादव, ककातीय आदि भारतीय राज्योके क्रूरतापूर्ण अन्तसे प्रेरणा पाकर जिस प्रकार संगमके वीर पुत्रोंने सफल प्रयत्न किया था, क्या अब कोई अन्य भारतीय वीर वैसा ही नही कर सकता ? यह प्रश्न लोगोके हृदयमे उठ रहा था। पिछले ५०-६० वर्षोसे उत्तरके मुगल सम्राट् दक्षिणके मुसलमान राज्योपर निरन्तर आक्रमण कर रहे थे और इस कालके ये दक्षिणी मुसलमानी राज्य पहले-जैसे असहिष्णु एवं अनुदार नही रहे थे, किन्तु अब औरंगजेबके रूपमे जो एक सर्वाधिक प्रबल मुसलमानसत्ताके नवीन आक्रमण एवं अत्याचार प्रारम्भ हो रहे थे वे पूर्व कालके अत्यन्त धर्मान्ध मुसलमानोके अत्याचारोका भी अतिरेक कर रहे थे। दक्षिणकी अपनी सूबेदारीमे उसने यह स्पष्ट कर दिया था। फिर वह स्वयं सम्राट् हो गया और उसने अपनी हिन्दू-विरोधी नीति उन्मुक्त रूपसे कार्यान्वित की। दक्षिणसे उसकी सेनाएँ भी एक क्षणके लिए न हटी। ये सब कारण और परिस्थितियाँ थी जो इस्लामकी इस विनाशकारी प्रगतिका सफल प्रतिरोध करनेवाले उपयुक्त नेताकी माँग कर रही थी। और मराठा वीर शिवाजीके रूपमे वह नेता आ उपस्थित हुआ।

अहमदनगर सुलतानकी सेवामे मालोजी भोसले नामका एक छोटा-सा मराठा सरदार था। शिवनेरका दुर्ग उसकी जागीर थी। उसके पुत्र

शाहजी भोसलेने और उन्नति की। निजामशाहीके अन्तिम दिनोंमें तो उसने प्रबल प्रतापी मुगलोंके रोपकी भी परवाह न करके अपने उक्त स्वामी राज्यको जीवित बनाये रखनेका भगीरथप्रयत्न किया था। अन्ततः विफल-प्रयत्न होनेपर उसने बीजापुरके सुलतानकी नौकरी कर ली। मुहम्मद आदिलशाह बहुत योग्य, बुद्धिमान् और उदार था। राज्यसेवामे हिन्दुओंको उसने भारी प्रोत्साहन दिया था। राजा शाहजी भोसला उसका एक प्रमुख अमात्य हो गया और उसे पूनाकी जागीर मिली। १६२७ ई० मे शिवनेर-के दुर्गमे शाहजीकी पत्नी जीजाबाईने शिवाजीको जन्म दिया। जीजाबाई स्वयं एक प्राचीन उच्च सामन्त घरानेकी कन्या थी और बडी धर्मात्मा एवं शिक्षिता थी। पूनामे अपनी माता एवं गुरु दादोजी कोडदेवके अभिभाव-कत्वमें शिवाजीका बाल्यकाल बीता और शिक्षा-दीक्षा हुई। शिवाजीकी शिक्षा-दीक्षा उदार एवं धार्मिक हुई थी। अस्त्र-शस्त्र और युद्धविद्यामे भी साथ-ही-साथ उसने निपुणता प्राप्त की। माताके प्रभावने उसे सच्च-रित्र, उदार और सहृदय बनाया, गुरु कोडदेवने उसके हृदयमे पूर्वजोका गौरव जागृत किया और उसकी महत्त्वाकाक्षाको उत्तेजित किया, तथा समर्थ रामदास आदिके सम्पर्कसे उसे अत्याचारी विधर्मियोका विरोध एवं संहार करके उनके हाथोसे धर्म और जातिकी रक्षा करनेकी प्रेरणा मिली। पितासे उसे राजनीतिक पटुता एवं कूट-चातुर्य संस्कारमे मिले थे। प्रत्यक्ष यत्र-तत्र और विशेषकर १३–१४ वर्षकी आयुमे पिताके साथ बीजापुर जानेपर उसे मुसलमानोकी दृष्टिमे अपना और अपनी जाति एवं धर्मकी हीनता एवं पग-पगपर किये जानेवाले अपमानका अनुभव हुआ। यह तेजस्वी युवक स्वाभाविक जन-नेता था। राज्य एवं शक्ति-लिप्सा उसके जातीय संस्कार थे। शिवाजीको दृष्टिमे साध्य ही सब-कुछ था, साधनोके औचित्यानौचित्यकी ओर वह ध्यान नही देता था।

इन विविध तत्त्वोसे निर्मित एवं पिता-द्वारा उपेक्षित इस वीर मराठा कुमारने १५–१६ वर्ष की आयुसे ही अभीष्ट-सिद्धिके लिए प्रयत्न प्रारम्भ

कर दिया। उसने पूनामे ही रहते हुए आस-पासके अपने समवयस्क मावले लड़के एकत्र करके उनकी एक छोटी सेना सुगठित की और १६४६ ई० मे १९ वर्षकी आयुमे ही निकटके तोरनदुर्गको आदिलशाहके किलेदारसे छीनकर हस्तगत कर लिया। इस विजयसे उत्साहित होकर उसने शनैः-शनैः अपनी पूनाकी पैतृक जागीरका विस्तार एवं शक्ति बढानी प्रारम्भ कर दी। मावले बडे साढे, तगडे, चतुर और पहाडी एवं जंगली युद्धोमे अत्यन्त निपुण थे। अतएव एक-एक करके शिवाजीने अनेक दुर्ग हस्तगत कर लिये और कुछ नवीन भी निर्माण कर लिये। शाहजहाँने १६३३ ई० मे अहमदनगर राज्यका अन्त कर दिया था और उसके पुत्र औरंगजेबने दक्षिणकी अपनी प्रथम सूबेदारी (१६३४-४४) मे अवशिष्ट बीजापुर एवं गोलकुण्डा राज्योको एक पल शान्तिकी साँस न लेने दी थी। इस परिस्थितिमे शिवाजीका लडकपन बीता था और उसके भावी कार्य-क्रमकी योजना बनी थी। पूनाके निकटवर्ती ये दुर्ग राजधानी बीजापुरसे दूर थे और औरंगजेब उत्तरकी ओर वापस चला गया था। शिवाजीका पिता शाहजी सुलतानका प्रभावशाली आमात्य था, अतः छल-बल, घूस और सिफारिश आदिके प्रयोगसे शिवाजीने इस अवसरका लाभ उठाया और साथ ही वह बीजापुर दरबारकी ओरसे उपेक्षित रहा। इसी बीचमे शाहजीसे सुलतान रुष्ट हो गया और उसे बन्दीगृहमे डाल दिया अतः कुछ समयके लिए पिताकी सुरक्षाके खयालसे शिवाजी शान्त रहा।

१६५३ ई० मे औरंगजेब फिर दक्षिणका सूबेदार होकर आ गया। सुलतानोके उससे उलझे रहनेके कारण शिवाजीको अवसर मिला और उसने अपनी शक्ति और अधिक बढानी आरम्भ कर दी। अब उसने उर्वरा एवं समृद्ध कोकण और कोलाबा आदि प्रदेशोपर भी आक्रमण किये और १६५५ ई० मे जाओलीके राजाको, जिसने सुलतानके विरुद्ध युद्धमे उसका साथ देना स्वीकार नही किया था, मार डाला। अतः सुलतान अब सहन न कर सका और १६५८ ई० मे औरंगजेबके आगरेकी ओर

रवाना होते ही बीजापुरमे शिवाजीके दमनकी योजनाएँ बनने लगी। एकाध मामूली सरदारोंको तो शिवाजीने यों ही मार भगाया, अतः १६५९ ई०मे अफजलखाँ नामके एक बड़े सरदारको विशाल सेनाके साथ शिवाजीको पकड लानेके लिए भेजा गया। किन्तु शिवाजीने अपने छल-बल-कौशलसे अफजलका वध कर दिया, उसके मावले वीरोंने बीजापुरकी सेनाको तितर-बितर कर दिया और उनकी विपुल युद्ध-सामग्री हस्तगत कर ली। अब शिवाजीकी प्रसिद्धि, शक्ति और आतंक काफी बढ़ गये, वह मुगल प्रदेशमे भी धावे मारने लगा। बीजापुरवाले तो शिवाजीकी ओरसे हताश ही हो बैठे थे। मुहम्मद आदिलशाहका मृत्युके बाद उन्हे स्वयं अपनी स्थिति सँभालनी कठिन हो रही था। किन्तु औरंगजेब शिवाजीकी धृष्टताको सहन न कर सकता था। उसने अपने मामा नबाव शाइस्ताखाँको शिवाजी-का दमन करनेके लिए भेजा। किन्तु जब शाइस्ताखाँ पूनाके महलमे आरामसे पड़ा सो रहा था शिवाजीने छापा मारकर उसकी दुर्गति की, नवाव प्राण बचाकर भाग गया। १६६४ ई० मे शिवाजीने सूरतके बन्दरगाहको बुरी तरह लूटा। अब औरंगजेबने शहजादे मुअज़्ज़म और महाराज जयसिंहको उसके विरुद्ध भेजा। जयसिंहकी कूटनीति सफल हुई और सुरक्षाका आश्वासन देकर उसने शिवाजीको आगरा जानेपर राजी कर लिया। १६६५ ई० मे आगरा पहुँचनेपर शिवाजीको ज्ञात हुआ कि बादशाह विश्वासघात करना चाहता है और जयसिंह-द्वारा दिये गये वचनकी कोई रक्षा न करेगा। अतः वह अपने पुत्रसहित जयसिंहके पुत्र रामसिंहकी सहायता एवं अपने कौशलसे वेष बदलकर निकल भागा और महाराष्ट्र पहुँच गया। वहाँ पहुँचकर उसने औरंगज़ेबके विरुद्ध खुला युद्ध शुरू कर दिया। अब मुअज़्ज़मके साथ राजा जसवन्तसिंहको उसके विरुद्ध भेजा गया किन्तु ये दोनो ही पर्याप्त घूस लेकर उसके प्रति विरोधमें शिथिल हो गये, बल्कि सम्राट्से कह-सुनकर उन्होने उसे राजाकी पदवी भी दिलवा दी और एक नरेशके रूपमे उसकी सत्ता स्वीकार करा ली।

रायगढका नवीन दुर्ग-निर्माण करके शिवाजीने अपनी राज्य-सत्ता अब भली प्रकार जमा ली। अनेक दुर्ग और विस्तृत प्रदेश उसके अधिकारमे थे। १६६७-७० ई० तक उसने अपने राज्यके आन्तरिक शासन-प्रबन्धको व्यवस्थित किया। १६७० ई० मे उसने खानदेशपर धावा किया और चौथ वसूल की तथा भविष्यमे भी दिये जानेके लिखित वचन स्थानीय शाही अधिकारियोसे ले लिये। उसी वर्ष सूरतको फिर लूटा और अँगरेजो-की कोठीसे विपुल धन प्राप्त किया। १६७४ ई० म उसने रायगढ दुर्गको अपनी राजधानी बनाकर उसीमे प्राचीन प्रथाके अनुसार समारोह-पूर्वक अपना राज्याभिषेक कराया और छत्रपति महाराज शिवाजीके नामसे सिहासनारोहण किया, तथा अपना राज्य संवत्सर प्रचलित किया। १६७६ ई० मे महाराज शिवाजीने अपनी सुदूर दक्षिणकी विजय यात्रा की ओर गोलकुण्डा पहुँचकर वहाँके सुलतानको अपना अनुवर्ती बनाया। जिंजी, वैलोर, बेलारी आदि दुर्गो और प्रदेशोको अधिकृत करता हुआ वह बीजापुर पहुँचा और वहाँके सुलतानके साथ भी उसने मैत्री सन्धि कर ली। यह यात्रा अत्यन्त सफल रही। अब शिवाजी दक्षिण भारतका एक स्वतन्त्र एवं सर्वाधिक शक्ति-शाली नरेश था। बीजापुर और गोलकुण्डाके सुलतान उसका मुँह निहारते थे। उनको साथ लेकर उसने मुगलोको देशसे बाहर निकाल देनेकी योजना बनायी। औरंगजेब सीमान्तके अफगानो, साम्राज्यमे होनेवाले अन्य विद्रोहो ओर राजपूत-युद्धोमे उलझा रहनेके कारण कुछ न कर सका और वीर शिवाजी अपनी शक्तिके शिखरपर तथा अपने लक्ष्यके निकट पहुँच गया। १६८० ई० मे शिवाजीकी ५३ वर्षकी आयुमे मृत्यु हो गयी।

औरंगजेब उसके एक वर्ष उपरान्त दक्षिणमे आ पाया। शिवाजीका उत्तराधिकारी उसका पुत्र शम्भाजी (१६८०-८९ ई०) हुआ। वह वीर और योद्धा तो था किन्तु क्रूर, दुराचारी और विलासी भी था। अपने पिता-जैसा चरित्र, आदर्श और बुद्धिमत्ता उसमे न थी। विद्रोही शहजादे अकबरको उसने आश्रय दिया था। शिवाजीकी सफलता और इस प्रबल

हिन्दू राज्यकी उसीके समयमे इस प्रकार उत्पत्तिसे औरंगजेब अत्यन्त क्षुब्ध था। अतः बीजापुर और गोलकुण्डाका अन्त करनेके उपरान्त १६८९ ई० मे उसने मराठोका अन्त करनेका निश्चय किया। शम्भाजीको पराजित करके उसे उसके कानपुरी ब्राह्मण मन्त्री कविकलुष-सहित बन्दी कर लिया और फिर अत्यन्त क्रूरताके साथ अन्य साथियो-सहित उनका वध कर दिया गया। इस प्रकार शिवाजीके राज्यका प्रत्यक्षत अन्त कर दिया गया। शम्भाजीके सात वर्षके पुत्र साहुको ७०० का मनसब देकर शाही अन्तःपुर-मे पलनेके लिए रख लिया गया। किन्तु शम्भाजी और उसके राज्यका भले ही अन्त हो गया, मराठा शक्ति और मराठोका अन्त न हुआ। वह कई गुना अधिक वेगसे सारे दक्षिणापथमे फैल गयी। शिवाजीके दूसरे पुत्र राजाराम और उसके उपरान्त उसकी पत्नी ताराबाईके नेतृत्वमे मराठे औरंगजेबको उसकी मृत्यु पर्यन्त बुरी तरह परेशान करते रहे।

इसमे सन्देह नही कि वीर शिवाजी उत्तर-मध्यकालके इतिहासकी एक महान् राजनैतिक विभूति है। उसकी सर्वमहान् सफलता यही थी कि उसने यत्र-तत्र अति गौण, हीन एवं पराधीन रूपमे बिखरी हुई मराठा शक्तिको एकत्रित एवं सुसगठित करके उसे स्पृहणीय राज्यशक्ति एवं जातीय शक्तिका रूप दे दिया था। अत्यन्त विषम विरोधी परिस्थितियों और प्रायः साधनविहीन रूपमे जीवन-कार्य प्रारम्भ करके उसने अत्यन्त शक्ति एवं वैभव-सम्पन्न विशाल मुगल साम्राज्यकी छातीपर मूँग दलकर औरंगजेबकी कट्टर धर्मान्धताका सफल प्रतिवाद किया और उसके देखते-देखते ही उसीके साधनोका बरबस अपहरण करके उसीकी छातीपर एक शक्तिशाली स्वतन्त्र हिन्दू राज्य स्थापित कर दिया। शिवाजीने विश्वको यह दिखा दिया कि ऐसे अवनत काल और विषम विरोधी परिस्थितियोमें भी एक भारतीय वीर क्या कुछ नही कर सकता। वस्तुत. वर्तमान कालमे भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलनके प्रारम्भिक नेताओने शिवाजीके आदर्शसे ही प्रेरणा एवं स्फूर्ति प्राप्त की थी। शिवाजीका व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक

एवं प्रभावोत्पादक था, मनुष्यकी पहचान भी उसे अद्भुत थी। अर्धसभ्य अशिक्षित हीन मावलोको उसने दुर्द्धर योद्धा बना दिया था। उसका सैनिक संगठन अति उन्नत था। उसका विशाल एव शक्तिशाली सेनामे स्त्रियोके रहनेका सर्वथा निषेध था। नौ-शक्तिका निर्माण करनेवाला भी मध्यकाल-मे वही प्रथम भारतीय नरेश था। देशका शासन प्रवन्ध सुचारु था। अष्ट-प्रधान नामक आठ प्रधान अमात्योके मन्त्रिमण्डलकी अध्यक्षतामे प्राचीन भारतीय एवं मुगल दोनो शासन-पद्धतियोके उचित सम्मिश्रणसे अपनी शासन-व्यवस्थाका उसने विकास किया था। शत्रुको क्षमा करना वह नही जानता था, छल-बलसे जैसे बने उसका दमन करके ही दम लेता था। अपनी आवश्यकताके लिए लूट-पाट करके धन लेनेमे भी उसे कोई संकोच न था। किन्तु किसी महिलाका कभी अनादर या अपमान वह नही करता था चाहे वह कितने ही कट्टर शत्रुसे सम्बन्धित क्यो न हो। गो, ब्राह्मण और हिन्दू धर्मको रक्षा उसका नारा था तथापि वह सभी धर्मोके प्रति उदार और सहिष्णु था और उनका आदर करता था। जैन आदि अहिन्दू भारतीय धर्मोका तो प्रश्न ही क्या वह मुसलमानोकी मस्जिदोका, कुरानका एव उनके धर्मका भी आदर करता था। शत्रुके रूपमे मुसलमानोपर उसने चाहे जो अत्याचार किये किन्तु धार्मिक अत्याचार कभी किसीपर भी नही किया। स्वयं उसके मराठा-राज्यमे जैन विद्यमान तो थे, किन्तु उनकी स्थिति अति गौण, हीन एवं अनुल्लेखनीय हो चुकी थी और अब मराठा राज्यके ब्राह्मणोने उन्हे उभरने नही दिया। किन्तु सुदूर दक्षिणके दक्षिणी कर्णाटक, तुलुब एवं तमिल प्रदेशोमे अब भी मैसूर, भट्टकल आदि उनके दर्जनो छोटे-छोटे राज्य, श्रवणबेलगोल-जैसे महान् तीर्थ और जैनबिद्री, मूडबिद्री आदि अनेक महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक केन्द्र उन्नत दशामे फल-फूल रहे थे। नाना प्रकारके बाह्याभ्यन्तर अत्याचारो एव विरोधी परिस्थितियोके कारण पहले-जैसी उनकी दशा नही रही थी फिर भी वे प्रायः अच्छी दशामे विद्यमान थे। कन्नडी भाषामे कितने ही श्रेष्ठ जैनग्रन्थ इस कालमे भी रचे गये।

■

अध्याय ५

अराजकता काल (१७०७–१८५७ ई०)

औरंगजेबकी मृत्युके साथ ही मुगल साम्राज्यकी महत्ता वैभव और प्रतापका ही अन्त नही हुआ भारतीय इतिहासके मध्यकालका भी अन्त हो गया। इतना ही नही वल्कि सम्पूर्ण भारतमे मुसलमान राज्यशक्तिका भी पराभव हो गया। मुसलमानोके भारत-प्रवेशके उपरान्तकालमे यह दूसरा एवं पहलेसे अधिक प्रवल हिन्दू पुनरुत्थान युग था। १२०६ से १७०७ ई० पर्यन्तके पाँच-सौ वर्पके मुसलमानी शासनकालमे मुगल साम्राज्यके डेढ-सौ वर्प (१५५६–१७०७ ई०) ही ऐसे थे कि जिनमे देशने एक प्रकारकी एक-सूत्रताका अनुभव किया, सुख-शान्तिकी कुछ साँस ली और अपनी शक्ति एवं वैभवके कारण विश्वके अन्य सम्राटोंकी ईर्ष्याका पात्र रहा। उस वीचमे भी अकवरसे शाहजहाँ पर्यन्त लगभग एक-सौ वर्पका समय ही ऐसा था जिसे सच्चे अर्थोमे मध्यकालीन भारतका स्वर्णयुग कहना उचित है। इस युगमें देशकी राजनैतिक, आर्थिक एवं सास्कृतिक सर्वतोमुखी उन्नति हुई और देश अपनी शक्ति एवं वैभवके चरम शिखरपर पहुँच गया। इसका प्रधान श्रेय सम्राट् अकवरको है और अंशत: उसके पूर्वज वावर और हुमायूँको तथा वंशज जहाँगीर और शाहजहाँको है। अकवर आदिने विदेशी विधर्मी एव पराया रहकर इस देशपर शासन करना नही चाहा और न यहाँकी वहुभाग भारतीय जनताको मात्र शासित ही समझा, वरन् उन्होने भारतमें रहकर भारतका ही होकर और भारतके ही लिए देशका शासन एवं अभ्युदय किया, शासितो एवं शासकोमे

प्रायः कोई जातीय या धार्मिक भेद नहीं रखा और देशकी सम्पूर्ण जनताका सहयोग और सद्भाव प्राप्त करनेका प्रयास किया। उन्होंने अपने हितको केवल अपना निजका या मुसलमानों मात्रका अथवा इस्लामका ही हित नही समझा वरन् उसे सम्पूर्ण भारतका और नानाविध धर्मो एवं जातियोसे निर्मित अखिल भारतीय जनताका हित माननेका प्रयत्न किया। अतएव उपरोक्त मध्यकालीन स्वर्णयुगका निर्माण भारतके अकबर आदि उदारमना भारतीय सम्राटोके सचेष्ट आश्रयमे भारतकी हिन्दू, जैन, मुसलमान सभी जनताने तथा उसके सभी वर्गोंने मिलकर सम्पादित किया था।

किन्तु औरंगज़ेबकी विद्वेष एवं पक्षपातपर आधारित कुनीतिने न केवल उसके जीवनमे ही उक्त स्वर्णयुगका तो अन्त कर ही दिया वरन् स्वयं मुगल साम्राज्यकी नीवको इतना खोखला और उसके शरीरको इतना जर्जर कर दिया कि उसकी मृत्युके उपरान्त ही वह द्रुत वेगके साथ पतनके गम्भीर गह्वरमे डूबने लगा और अपने साथ सम्पूर्ण देशको भी ले डूबा। आगामी डेढ़-सौ वर्ष (१७०७–१८५७ ई०) का काल भारतीय इतिहासका अन्धकार युग है, इसलिए नही कि उस कालके सम्बन्धमे हमे कुछ ज्ञात नही है वरन् इसलिए कि जो कुछ ज्ञात है उससे हमारे मस्तक लज्जासे झुक जाते है। इस पूरे कालमे अराजकता, अव्यवस्था, भ्रष्टाचार, विलासिता, लूट-खसोट, मार-काट, षड्यन्त्र और विश्वासघात, परस्पर फूट और वैमनस्यका बोलबाला था। इन्ही दुर्गुणों एवं दूषित प्रवृत्तियोसे उस कालका सम्पूर्ण इतिहास भरा पड़ा है। देशकी राजनैतिक एकसूत्रता और संगठन ही नष्ट नही हो गये थे और उनके स्थानमे अव्यवस्थित विकेन्द्रीकरण और विशृंखलता ही उत्पन्न नही हो गयी थी वरन् सम्पूर्ण देशका उत्तरोत्तर घोर नैतिक पतन होता चला गया। जिस हिन्दू पुनरुत्थानके नेता एवं पुरस्कर्त्ता मराठा वीर शिवाजी, सिक्खगुरु गोविन्दसिंह, जाट नेता गोकुल, मेवाड़के राणा राजसिंह और उनके प्रधान शाह दयालदास संघवी, मारवाड़के

दुर्गादास राठौर, बुन्देलखण्डके वीर छत्रसाल आदि स्वतन्त्रताके पुजारी नररत्न थे वही पुनरुत्थान सबल रूपमें सम्पादित हो जानेपर भी उनके उत्तराधिकारियोकी परस्पर फूट, वैमनस्य, मूर्खता एवं अदूरदर्शिताके कारण इतना अशक्त और असमर्थ हो गया कि सात समुद्र पारसे आनेवाले मुट्ठीभर अँगरेज व्यापारी इस समूचे विशाल देशके स्वामी बन बैठे। इन नवोत्थित हिन्दू शक्तियोने पडोसी मुसलमान शक्तियोके साथ ही नही वरन् स्वय परस्परमे भी लड-कटकर सम्पूर्ण देशको इतना निर्जीव, निश्शक्त और पतित बना दिया कि देशकी सास्कृतिक प्रगति कोसो पिछड़ गयी, धार्मिक एव सामाजिक जीवनमे अनगिनत कुरीतियाँ प्रवेश कर गयी, देशके व्यापार एवं उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये और उसका ऐसा आर्थिक शोषण हुआ जैसा पहले कभी नही हुआ था। प्रत्येक व्यक्तिका धन-जन अरक्षित हो गया। दुराचार, अनाचार एव अत्याचारका सर्वत्र बोलबाला था। न कोई शासन था, न व्यवस्था। राजा-प्रजा सभी लुटेरे थे और अपनेसे अधिक सबलो-द्वारा सभी लूटे जा रहे थे। जिसकी लाठी उसकी भैस थी। और जो सबसे अधिक अविवेकी, छली, धूर्त और चतुर लुटेरे थे वे अँगरेज़ ही शनै-शनै सबपर हावी होकर देशको पराधीनताकी ऐसी सुदृढ बेडियोमे जकड़नेमे सफल हो गये जैसी पहले कभी गढी भी न जा सकी थी।

अत. डेढ-सौ वर्षके इस भारतीय अन्धयुगका इतिहास अराजकता, विशृंखलता, अशान्ति, नैतिक पतन तथा सर्वथा अपरिचित थोडे-से विदेशियो-द्वारा इस महादेशको पराधीनताकी बेड़ियोमे जकडते जानेका ही लज्जा-जनक इतिहास है। इस इतिहासके प्रमुख पात्र है अवनति कूपमे गिरते हुए उत्तरवर्ती मुगल-नरेश, उनके स्वामिद्रोही एवं स्वार्थी सामन्त सरदार और सूबेदार जो अवसर पाते ही स्वतन्त्र राज्य जमा बैठे किन्तु उनकी भी रक्षा न कर सके, नादिरशाह दुर्रानी और अहमदशाह अब्दाली-जैसे क्रूर एव बर्बर मध्य-एशियाई लुटेरे, जोधपुर नरेश अजीतसिह राठौरके नेतृत्वमे

अल्पस्थायी बल प्राप्त करनेवाला राजस्थान, मराठा शक्तिको चरम-शिखर-पर पहुँचाकर डुबा देनेवाले पेशवा और उनके भोसले, गायकवाड, होल्कर, सिन्धिया आदि सरदार जो अपने स्वतन्त्र राज्य जमा बैठे किन्तु उस स्वतन्त्रताकी भी रक्षा न कर सके, भरतपुरके जाट, पंजाबके सिक्ख जिन्होंने रणजीतसिंहके नेतृत्वमे चरमोत्कर्ष प्राप्त किया किन्तु उसकी मृत्युके साथ ही पराभूत भी हो गये, मैसूरमे हैदरअली और टीपूकी अल्पस्थायी मुसलमान शक्ति तथा पुर्तगाली, डच, फ्रान्सीसी और अँगरेज आदि युरॅपीय व्यापारी जिनके व्यापारार्थ किये गये परस्पर संघर्षमे अँगरेज ही अन्ततः विजयी रहे और फिर भारतकी हिन्दू एव मुसलमान शक्तियोकी पारस्परिक फूट, अदूरदर्शिता एवं देशकी गम्भीर पतनावस्थाका लाभ उठाकर उसके पूरे भाग्यविधाता बन बैठे।

उत्तरवर्ती मुगलनरेश—औरंगजेबके प्रयत्नोके बावजूद उसकी मृत्युके पश्चात् उसके पिता तथा उसके स्वयंके द्वारा डाली गयी प्रथाके अनुसार उसके अवशिष्ट पुत्रो मुअज्जम, आजम और कामबख्शके बीच उत्तराधिकार-युद्ध हुआ ही जिसमे आजम और कामबख्श मारे गये और मुअज्जमने शाहआलम बहादुरशाह (१७०७–१२ ई०) उपाधिके साथ सिंहासनारोहण किया। अपने पूर्वजो-द्वारा संचित आगराके विपुल राजकोष-मे-से लेकर सरदारो और सैनिकोमे उसने धन वितरण किया और उन्हे सन्तुष्ट किया। उसके सौभाग्यसे मुनीमखाँ और जुल्फिकारखाँ-जैसे दो सुयोग्य और बुद्धिमान् अमात्य उसे सहायक रूपमे प्राप्त हुए थे। उनके परामर्शसे उसने जजिया-कर उठा दिया। १७०९ ई० मे जोधपुर-नरेश अजीतसिंह राठौरके अधिकारको स्वीकार करके और उसे राज्य-सेवामे लेकर तथा गुजरातका सूबेदार बनाकर तीस वर्षसे चले आये राजपूत-विरोधका अन्त किया। जुल्फिकारके परामर्शपर मराठोमे परस्पर फूट डालनेके उद्देश्यसे शम्भाजीके पुत्र साहूको मुक्त कर दिया और उसे दक्षिणमे जाकर अपनी चाची ताराबाईके साथ राज्याधिकारके लिए लड़नेकी अनुमति दे दी।

फलस्वरूप मराठोमे गृहयुद्ध छिड़ गया और वे उसमे उलझ गये। बादशाहने जुल्फिकारको ही दक्षिणका सूबेदार नियुक्त कर दिया और उसके स्थानमे दाऊदखाँको वज़ीर बनाया। १७१० ई० मे बन्दा वैरागीके नेतृत्वमे सिक्खोने भयंकर विद्रोह किया और मुसलमानोंपर अनेक अत्याचार किये। बादशाह और मुनीमखाँने स्वय जाकर विद्रोहका दमन किया। बन्दा वैरागी बचकर भाग निकला। १७१२ ई०मे ६९ वर्षकी आयुमे बहादुरशाहकी मृत्यु हो गयी। वह दुर्गुणरहित, सज्जन और क्षमाशील था, किन्तु औरंगजेबके द्वारा बुरी तरह बिगाडे हुए घरको फिरसे बनाना उसके बूतेके बाहर था। पिताके दीर्घकालीन कठोर नियन्त्रणने उसके समस्त तेज और प्रतिभाको कुण्ठित कर दिया था। सक्रिय शासनकी योग्यता और प्रवृत्ति ही उसमे न रह गयी थी, इसी कारण वह 'शाहबेखबर' कहलाता था

उसके उपरान्त अपने तीनों भाइयोंकी हत्या करके उसका ज्येष्ठ पुत्र जहाँदारशाह (१७१२ ई०) बादशाह हुआ। वह अत्यन्त निकम्मा और दुराचारी था। ग्यारह मासके पश्चात् ही उसके भतीजे फ़र्रुखसियर (१७१३-१९ ई०) ने निर्दयतासे उसका वध करके सिंहासन स्वयं हस्तगत कर लिया। वह भी निर्लज्ज, विलासी, दुराचारी, निकम्मा और हत्यारा था। गद्दीपर बैठते ही उसने जुल्फ़िक़ारखाँ आदि अनेक सुयोग्य एवं प्रमुख सरदारो और दरबारियोंका निर्दयतासे वध करा दिया। अपने रक्तपातपूर्ण शासनका सारा भार उसने अब्दुल्ला और हुसैनअली नामके दो सैयद भाइयोको सौप दिया। उनकी विश्वासघातपूर्ण नीतिने अन्य हिन्दू एवं मुसलमान सरदारोको रुष्ट कर दिया। उसने जजिया कर लगानेका भी विफल प्रयत्न किया। १७१५ ई० में बन्दा वैरागी पकड़ा गया और बादशाहने उसे घोर यन्त्रणा देकर मरवा डाला और उसके लगभग एक हज़ार साथियोका भी क्रूरतासे वध करवा दिया। अंगरेजोके दूतसे चार-पाँच लाख रुपयेकी भेंट लेकर और उसके साथी डॉ० हैमिल्टनके इलाजसे

प्रसन्न होकर फ़र्रुखसियरने अँगरेज कम्पनीको भारतमे व्यापार करनेकी मूल्यवान् सुविधाएँ दे दी और उनके मालको भी तट-करसे मुक्त कर दिया। १७१९ ई० मे सैयद भाइयोंने ही उसे पदच्युत करके उसका वध कर डाला। तदुपरान्त इन सैयदोने नेकुसियर, रफ़ीउद्दौलत और रफीउद्दरजात नामक तीन शहज़ादोंको एक-एक करके बादशाह बनाया और थोड़े-थोड़े दिन बाद प्रत्येकका वध कर दिया। इसी कारण ये सैयदबन्धु 'राजा बनानेवाले' कहे जाने लगे।

अन्तमे उन्होने फ़र्रुखसियरके एक अन्य चचेरे भाई मुहम्मदशाह (१७१९–४८ ई०) को बादशाह बनाया। वह भी बड़ा निकम्मा, दुराचारी और विलासी था, इसी कारण मुहम्मदशाह रंगीलेके नामसे प्रसिद्ध हुआ। किन्तु उसने तख्तपर बैठते ही सैयद हुसैनअलीका गुप्तरूपसे वध करवा डाला और उनके भाई अब्दुल्लाको बन्दीगृहमे डाल दिया। १७२० ई० में एक अन्य शहज़ादे इब्राहीमने बादशाह होनेका विफल दावा किया। राठौर-नरेश अजीतसिंहका प्रभाव और शक्ति इस समय पर्याप्त बढ़ गयी थी। जयपुरके सवाई जयसिंह और उदयपुरके संग्रामसिंह भी शक्तिशाली हो रहे थे। इन तीनोने मिलकर एक राजनैतिक समझौता भी किया था, किन्तु वह सफल न हुआ। मुगल-सम्राट् और उसके दरबारकी ओरसे राजपूत उपेक्षित होते गये और स्वयं अपने-अपने राज्यकी शक्ति बढ़ानेमे व्यस्त रहे तथापि सवाई जयसिंह आदि राजपूत राजाओके प्रभावसे इस बादशाहने जज़िया लगानेके प्रश्नको सदाके लिए समाप्त कर दिया। राज्यके जैन-धनिकोंके आग्रहपर उसने पशुवधपर भी कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया था। मुहम्मदशाहने १७२२ ई० मे चिनकलीचखाँ आसफ़जहाँ निज़ामुल्मुल्कको अपना वजीर बनाया, इसके पहले वह दक्खिनका सूबेदार था किन्तु साम्राज्यकी पुनः शासन-व्यवस्था करनेका दुस्तर कार्य उसे अपने बूतेके बाहर जान पड़ा अतः अगले ही वर्ष वह फिर अपनी दक्खिनकी सूबेदारीपर चला गया और वजीर भी बना रहा। १७२४ ई०मे हैदराबाद-

को राजधानी बनाकर दक्खिनके पूरे मुगल सूबेको उसने अपना स्वतन्त्र निजाम राज्य घोषित कर दिया। दिल्लीकी राजनीतिमे उसने फिर कोई भाग नही लिया और मराठोसे अपने नवीन राज्यको सुरक्षित रखनेमे ही वह व्यस्त हो गया। उसी वर्ष सादतखॉ नामके एक अन्य सरदारने अवधके पूरे सूबेपर अधिकार जमाकर और फैजाबादको राजधानी बनाकर अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। बगालके सूबेदार अलीवर्दीखाँने भी सम्राट्को कर देना बन्द कर दिया और उसके आधिपत्यको भी शनैः-शनैः अस्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया, अन्ततः राजधानी मुर्शिदाबादसे वह (१७४०-५६ ई०) पूरे बगाल और बहुभाग बिहारपर स्वतन्त्र नवाबके रूपमे राज्य करने लगा। गंगाके उत्तरवर्ती उर्वरा एवं विस्तृत प्रदेशपर, जो रुहेलखण्ड कहलाया, रुहेले पठानोने अपना स्वतन्त्र राज्य जमा लिया।

भरतपुर और उसके आस-पास सूरजमल जाटने अपना राज्य जमाया। बुन्देलखण्डमे राजा छत्रसाल पूर्ववत् विद्रोही बना हुआ था। गुजरात और मालवाके बहुभागपर पहले राजपूतोका अधिकार रहा और फिर पूनाके पेशवा पूर्वमे उड़ीसा, उत्तरमे चम्बल और पश्चिममे गुजरात पर्यन्त फैलने लगे। दिल्ली दरबारमे जयसिंह, अभयसिंह आदि राजपूत राजाओके अतिरिक्त मुहम्मदखाँ बंगश-जैसे एक-दो राज्यभक्त चतुर एवं वीर सेनानी और भी थे और उन्होने मराठो, बुन्देलो, जाटो आदिका भरसक प्रतिरोध भी किया, तथापि देखते-देखते ही बिना किसी भारी युद्ध या रोक-टोकके कागजी महलकी भाँति विशाल मुगल-साम्राज्य औरंगजेबकी मृत्युके कुछ ही दशकोके भीतर छिन्न-भिन्न एवं भूमिसात् हो गया। इससे किसीको भी, स्वयं दिल्लीके बादशाह मुहम्मदशाह रंगीलेको भी, न कोई आश्चर्य ही हुआ और न कुछ चिन्ता ही। इसी कालमे फारसके शाह नादिरशाह दुर्रानीने, जो उस कालका सर्व महान् योद्धा माना जाता है, १७३९ ई० मे भारतपर आक्रमण किया। गजनी, काबुल और लाहौरके मार्गसे होता हुआ वह बिना किसी बाधाके दिल्लीके निकट पहुँच गया। कर्नालमे शाही

सेनाने उसका प्रतिरोध किया। दो घण्टेमे ही युद्ध समाप्त हो गया, दिल्लीके लगभग वीस हजार सैनिक युद्धमे मारे गये, और वादशाह मुहम्मदशाहने स्वयं दुर्रानीकी छावनीमे जाकर हाजिरी दी। नादिरशाहने उससे नरमीका वरताव किया और मित्रता प्रदर्शित की। दिल्लीके शाही महलोमे अत्यन्त सम्मानित अतिथिके रूपमे वह ठहरा। किन्तु कुछ लोगोने उसकी मृत्युकी झूठी अफवाह उडा दी और यत्र-तत्र उसके सैनिकोको मारना शुरू कर दिया। इसपर नादिरशाहका क्रोध भडका और उसने कत्लेआम-की आज्ञा दी। दिल्लीके प्रमुख वाजारकी सुनहली मस्जिदमे बैठकर वह नौ घण्टे तक लगातार दिल्ली-निवासियोका निर्मम संहार देखता रहा। अन्ततः मुहम्मदशाह और उसके मन्त्रियोके अत्यन्त अनुनय-विनय करनेपर असंख्य निरपराधोके रक्तसे अपनी प्यास बुझाकर उसने यह पैशाचिक नरसंहार रोका। तदनन्तर ५८ दिन तक शाही मेहमान रहकर उसने दो सौ वर्षोमे सचित किये गये मुगलोके अपार धन-वैभवको उन्मुक्त होकर लूटा। शाही कोष और महलोके अतिरिक्त दिल्लीकी जनताके भी सभी वर्गोको जितना वना लूटा-खसोटा। और तव कोहेनूर हीरा तथा मयूर सिहासनके साथ-साथ अन्य विपुल धन-सम्पत्ति, जो अनुमानातीत है, ऊँटो, गधो और खच्चरोपर लदवाकर वह ले गया।

दुर्रानीकी इस भयंकर नादिरशाहीसे दिल्ली धन-जनहीन हो गयी और दिल्लीका वादशाह भी जो साम्राज्य और अधिकारविहीन तो पहले ही हो चुका था, अब धनहीन दरिद्री भी हो गया और उसकी प्रतिष्ठा भी समाप्त हो गयी। सिन्धुनदके पश्चिमका अफगानिस्तान आदि समस्त प्रदेश नादिरशाहके राज्यका अग वन गया। मुहम्मदशाहके अन्तिम दिनोमे अहमदशाह अब्दालीने, जो नादिरशाहकी मृत्युके उपरान्त उसके साम्राज्यके पूर्वी भागका स्वामी बन वैठा था, पंजाबपर आक्रमण किया किन्तु शहजादे अहमदशाह और वजीर कमालुद्दीनने उसे पराजित करके पीछे हटा दिया।

इसके एक मास पश्चात् ही मुहम्मदशाहकी मृत्यु होनेपर उसका पुत्र

अहमदशाह (१७४८–१७५४ ई०) दिल्लीका बादशाह हुआ। इसी वर्ष हैदराबादके निजाम और दिल्लीके वजीर आसफजहाँकी भी मृत्यु हो गयी थी। अब उसका पोता गाज़ीउद्दीन वजीर हुआ। अब्दालीने पंजाबपर दूसरा आक्रमण किया और उस प्रान्तको उसे ही दे देनेके लिए बादशाहको विवश कर दिया। १७५४ ई० मे वज़ीर गाज़ीउद्दीनने बादशाह अहमदशाहको पदच्युत करके पूर्ववर्ती बादशाह जहाँदारशाहके पुत्र आलमगीर द्वितीय (१७५४–५९ ई०) को बादशाह बनाया। १७५६ ई० मे अब्दालीने अपना तीसरा आक्रमण किया, इस बार उसने दिल्लीको ही हस्तगत करके उस राजधानीमे भयंकर लूट-मार मचायी तथा मथुरा आदिमे भी भयकर नरसंहार और अत्याचार किये। अब उसका विरोध करनेवाली इस देशमे कोई मुसलमान शक्ति नही थी। अवधके नवाब और रुहेले उसे अपना अधिपति मानने लगे थे। मराठोसे ये परेशान थे। पेशवाओकी शक्ति इस समय अपने चरम-शिखरको पहुँच रही थी और उन्होने पजावको भी १७५८ ई० मे विजय कर लिया था। अतः भारतीय मुसलमानोने अब्दालीकी सहायतासे मराठोको कुचलनेकी योजना बनायी। अब्दाली स्वयं भारतपर शासन करनेका अभिलाषी था। इसी बीचमें आलमगीरका वध कर दिया गया और उसका पुत्र शहजादा अली गौहर, शाहआलम द्वितीय (१७५९–१८०६ ई०) नामसे, दिल्लीका बादशाह हुआ। अब्दालीने भी उसे स्वीकार कर लिया।

१७६१ ई० मे अहमदशाह अब्दाली विशाल सैन्यशक्तिके साथ फिर भारतके अन्त.प्रदेशमे आया। इस बार वह मराठोका अन्त करनेके उद्देश्यसे ही आया था। १७६१ ई० में अब्दालीके नेतृत्वमे मुसलमानोके साथ पेशवाकी सेनाका पानीपतकी प्रसिद्ध रणभूमिमे भयंकर युद्ध हुआ। विजय मुसलमानोके हाथ ही रही। इस पराजयने पेशवाओकी कमर तोड़ दी। मराठा शक्तिकी जो क्षति हुई वह भी पेशवा तक ही सीमित थी, उसके सिन्धिया, होल्कर आदि सरदार स्वतन्त्र शक्तिशाली राजा बन बैठे।

अवधका नवाब शुजाउद्दौला दिल्लीके बादशाहका वज़ीर भी बन गया था और क्योंकि वह अब्दालीका सहायक एवं समर्थक था इसलिए उसकी इस विजयसे उसे तथा नजीबुद्दौला रुहेलेको ही अधिक लाभ हुआ। उत्तर भारतकी इन विषम परिस्थितियोंका लाभ उठाकर चालाक अँगजोंने बंगालपर प्रायः पूर्णाधिकार कर लिया था। १७५७ ई० के पलासीके युद्धके उपरान्त अब मीर जाफर आदि बंगालके नवाब उनके हाथकी कठपुतली मात्र थे। दिल्लीका बादशाह शाहआलम मात्र एक तमाशाई था। अहमदशाह अब्दालीका भारतके साम्राज्यको भोगनेका स्वप्न भी उसके सैनिकोंके विद्रोहके कारण भग्न हो गया और उसे अपने देशको लौट जाना पड़ा। वह फिर वापस न आया।

१७६५ ई०में इलाहाबादमें बादशाह शाहआलमके दरबारमें उपस्थित होकर अँगरेजोंके गवर्नर क्लाइवने २६ लाख रुपये वार्षिक करके बदलेमें उससे बंगाल और बिहारकी दीवानी और कड़ा एवं इलाहाबादके जिले अपनी कम्पनीके नाम लिखा लिये। वास्तवमें दिल्लीका बादशाह अब नाममात्रका ही बादशाह और सम्राट् था। वह अपने पूर्वजोंके प्रताप और अधिकारकी एक गौण एवं उपेक्षणीय छाया-मात्र रह गया था। घटना-क्रमपर उसका कोई प्रभाव न था। दिल्ली दरबारका परम्परागत अधिकार-मात्र इतना ही रह गया था कि विभिन्न पक्षों-द्वारा किये गये बलात् एवं अन्यायपूर्ण कार्योंको उन-उन पक्षोंके कहनेसे अपनी शाही मुद्राकी छाप-द्वारा बाह्यत. न्याय्य रूप दे-दे। बादशाह शाहआलम कभी किसी मुसलमान सरदारका या नवाबका, कभी मराठा राजा सिन्धियाका और कभी अँगरेज़ोंका वन्दी या आश्रित रहा। गुलाम क़ादिर नामक एक रुहेले गुण्डेने, जिसने उसके दरबारमें थोड़ा प्रभाव पैदा कर लिया था, शाहआलमकी दोनों आँखें फोड़ दीं। महादाजी सिन्धियाने उसको क़ैदसे बादशाहको मुक्त किया और अपनी ही एक प्रकारकी कैदमें रखा। १८०३ ई० में वह अँगरेज़ कम्पनीका आश्रित हो गया और उससे प्राप्त वार्षिक पेंशनसे अपना निर्वाह करने लगा।

उसका पुत्र अकबर द्वितीय (१८०६–३७ ई०) और तदनन्तर पौत्र बहादुरशाह द्वितीय (१८३७–५७ ई०) नाममात्रके बादशाह थे। वे अँगरेज व्यापारियोके पेंशनभोगी केवल नामके लिए बादशाह या सम्राट् पदका प्रयोग करनेके अधिकारी थे। वस्तुत दिल्लीके धन-जनविहीन लालकिलेकी चहार-दीवारके भीतर ही उनकी बादशाहत और साम्राज्य सीमित थे। उसीमे अपने पूर्वजोंके अतीत गौरवकी स्मृतिमे आँसू बहाना, अपने छोटे-से परिवार तथा कुछ शायरो और मुफ्तखोरे चाटुकार मुसाहबोसे बने दरबार और फटे-पुराने कपडे पहने नि शस्त्र थोडे-से नौकर-चाकरोके साथ दिल्लीके एक सामान्य रईसकी भाँति दिन बिताना ही उसके भाग्यमे रह गया था। १८५७ ई० के तथाकथित विद्रोहके उपरान्त उसका भी अन्त हुआ। अन्तिम बादशाह बहादुरशाहके पुत्रो आदिका वध कर दिया गया, उसे स्वयं रंगूनमे निर्वासित कर दिया गया और वही अँगरेजोके बन्दीके रूपमे कुछ वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो गयी, और उसके साथ मुगलो-की बादशाहतका अन्त हो गया।

मुसलमान नवाब—१. हैदराबादके निज़ाम—हैदराबाद दक्खिनके निजामोका मुसलमानी राज्य मुगल-साम्राज्यके पतनसे लाभ उठाकर उसीके अवशेषोपर स्थापित होनेवाला सर्व-प्रथम मुसलमानी राज्य था, और यही राज्य सर्वाधिक स्थायी भी रहा, साथ ही सर्वाधिक धनी एवं समृद्ध भी। बहादुरशाहने १७१० ई० मे जुल्फिकार अलीको अपना वजीर और दक्खिनका सूबेदार बनाया था, जुल्फिकारने अपनी ओरसे दाऊदखाँ पठान-को सूबेका शासन करनेके लिए नियुक्त कर दिया था। किन्तु बादशाह फर्रुखसियरने जुल्फिकारको मरवा डाला और १७१५ ई० के लगभग चिन-कलीचखाँ आसफजहाँको दक्खिनका सूबेदार नियुक्त किया। १७२२ ई० मे बादशाह मुहम्मदशाहने आसफजहाँको दिल्ली वापस बुलाकर अपना वजीर बनाया, किन्तु वह एक वर्ष बाद ही वापस अपने सूबेमे चला गया और १७२४ ई० मे उसने निजामुलमुल्ककी उपाधि धारण करके अपनी

स्वतन्त्रता घोषित कर दी, हैदराबादको अपनी राजधानी बनाया और मुगल साम्राज्यके दक्खिनके पूरे सूबेपर अपना राज्य स्थापित कर लिया। आसफजहाँ बहुत योग्य, चतुर और बुद्धिमान् था। अपने शासनके अन्तिम २५ वर्षोंमे औरंगजेब दक्खिनमे ही रहा था अतएव उसकी बहुत-सी धन-सम्पत्ति वही रह गयी थी। दक्खिनकी मुसलमानी सल्तनतोंका अन्त करके जो विपुल सम्पत्ति औरंगजेबने वहाँ प्राप्त की थी उसका भी बहुत-सा अंश वही रह गया था। विजयनगरकी लूटसे प्राप्त अपार धन इन सुलतानोंके पास था। अँगरेज आदि अभीतक कुछ छीन नही पाये थे, शिवाजी और उसके उपरान्त पेशवाओंने ही जो थोडा-बहुत छीन पाया था उसके अतिरिक्त शताब्दियों क्या सहस्राब्दियोंसे संचित होती आयी दक्षिण भारतकी अपार धन-सम्पत्तिका बहुभाग निजामके ही हाथ लगा था। उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी पेशवा थे, उन्हींका उसे सबसे अधिक भय था। पेशवा बाजीराव भारी विजेता एवं पराक्रमी था, उसके कारण मराठों-मे परस्पर फूट डालनेकी निजामकी चाल असफल रही। अब उसने उनसे मित्रता बनाये रखनेमे ही कुशल समझी। १७२८ ई० मे उसने पेशवाको नियमित चौथ देते रहना भी स्वीकार कर लिया। १७३८ ई० मे उसने पेशवाको दिल्लीकी ओर बढनेसे रोकनेका भी प्रयत्न किया किन्तु भोपालके निकट पराजित होकर चुप बैठ रहा।

१७४८ ई० मे वृद्ध निजामकी मृत्यु हुई और उसके दूसरे पुत्र नासिर-जंग और पोते मुजफ्फरजगके बीच उत्तराधिकारके लिए संघर्ष हुआ। फ्रान्सीसी व्यापारियोंने मुजफ़्फरकी सहायता की। युद्धमे तो वह हार गया किन्तु १७५० ई० मे नासिरकी मृत्यु हो गयी और मुजफ्फर निजाम हुआ। उसने फ़ान्सीसियोंको बहुत-सा धन व जागीरे दी और उनकी एक पलटन भी अपने राज्यमे किरायेपर रख ली। इस प्रकार फ़ान्सीसियोंका प्रभाव उसके दरबारमे बढ गया। मुजफ्फर भी शीघ्र ही एक युद्धमे मारा गया। उसके स्थानमे उसके लड़केको वंचित करके आसफजहाँके तीसरे पुत्र

सलावतजंगको फ्रान्सीसियोंके प्रतिनिधि वुसीने गद्दीपर बैठाया। १७५८ ई० में बुसीको उसकी सरकारने वापस बुला लिया और निज़ाम राज्यमें फ्रान्सीसियोंके प्रभावका अन्त हो गया। सलावतजंगको मारकर उसका भाई निज़ामअली नवाब बन गया। अब निज़ाम, मराठे और मैसूरका हैदरअली दक्षिण भारतकी प्रभुताके लिए परस्पर लड रहे थे। अँगरेजोंने अपनी कूटनीतिसे कभी किसीका और कभी किसीका पक्ष लेकर और जब चाहा अपना वचन भंग करके या विश्वासघात करके उन सब ही को बलहीन करना और अपनी शक्तिको बढाना प्रारम्भ किया। भारतीय राजाओं और नवाबोंकी मूर्खताके कारण उन्हें आशातीत सफलता मिलती गयी। १७९५ ई० में निज़ामको उन्होंने अपनी सहायकसन्धि-योजनाके जालमें फँसाकर पंगु बना दिया। अब वह उनका आश्रित एवं एक प्रकार-से अधीन ही हो गया। शनैः-शनैः यह अंग्रेजी पराधीनता इतनी पूर्ण हो गयी कि निजाम अँगरेज़ोंका एक आज्ञाकारी अनुचरमात्र रह गया जो उनकी दयासे पैतृक राज्य-वैभवका आंशिक उपभोग कर सकता था। अभी कुछ वर्ष पूर्व स्वतन्त्रता प्राप्तिके उपरान्त सरदार पटेलकी विचक्षण नीतिने अन्य देशी राज्योंके साथ-साथ इस नाम मात्रकी राज्य सत्ताका भी अन्त कर दिया। व्यक्तिगत रूपमें निज़ामका वर्तमान वंशज आज भी विश्वके सर्वाधिक धनी व्यक्तियोंमें-से हैं। पिछले सौ वर्षोंमें अँगरेज़ोंकी छत्र-छायामें हैदराबादके निज़ाम ही भारतवर्षमें इस्लाम और मुसलमानोंके प्रधान नेता, संरक्षक एवं अभिभावक बने रहे। हैदराबादकी निज़ामीके उत्कर्षके साथ-साथ ही दक्खिनमें कुछ अन्य छोटे-छोटे मुसलमान नवाब भी थे जो प्रथम निज़ामके अधीन थे किन्तु उसकी मृत्युके बाद प्रायः अर्धस्वतन्त्र हो गये थे। इनमें कर्णाटकका नवाब अनवरुद्दीन प्रमुख एवं योग्य था। आसफजहाँकी मृत्युके लगभग ही चाँदा साहबने उसे गद्दीसे उतारकर स्वयं राज्यपर अधिकार करनेका प्रयत्न किया और फ्रान्सीसियोंकी सहायता ली। अनवरुद्दीन १७४९ ई० में मारा गया। उसके पुत्र मुहम्मदअलीका पक्ष

अँगरेज़ोंने लिया। इस प्रकार कर्णाटककी इस छोटी-सी नवाबीके आन्तरिक झगडोमे पडनेके द्वारा ही अँगरेजो और फ्रान्सीसियोका भारतकी राजनीति-मे सर्वप्रथम प्रवेश और हस्तक्षेप हुआ। सफलताने अँगरेज़ोकी राज्य-लिप्सा-को उत्तेजित किया। १७५१ ई० मे कर्णाटकके उत्तराधिकार-युद्धके सिलसिलेमे क्लाइव-द्वारा अर्काटके सफल घेरे और विजयसे ही भारतमे अँगरेजी राज्यका सूत्रपात हुआ।

२. अवधकी नवाबी—निजामके साथ ही, १७२४ ई० मे सआदतखाँ नामक सरदारने अवध प्रान्तपर अधिकार करके अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी थी। अवधके नवाबोने पहले फैजाबादको और तदनन्तर लखनऊ को अपनी राजधानी बनाया। दिल्ली बादशाहीको अवनति, नादिरशाहके आक्रमण तथा देशकी राजनैतिक अस्त-व्यस्ततासे लाभ उठाकर सआदतखाँ-के उत्तराधिकारी सफदरजंगने, जो बादशाहका वजीर भी बन गया था, अपनी शक्ति पर्याप्त बढा ली और अवध प्रान्तके अनेक छोटे-छोटे हिन्दू एवं मुसलमान तालुकेदारोको अपने नियन्त्रणमे रखकर तथा उनकी सहा-यता-सहयोगसे अवधकी नवाबीको उत्तर भारतकी प्रधान शक्ति बना लिया। निज़ामके पौत्र गाजीउद्दीनके पश्चात् सफदरका उत्तराधिकारी अवधका नवाब शुजाउद्दौला भी दिल्लीका वज़ीर बन गया। इसीलिए वह और उसके कई उत्तराधिकारी नवाब-वजीर अवध भी कहलाते थे। अह-मदशाह अब्दालीका वह सहयोगी और पक्षपाती था। पानीपतके तीसरे युद्ध (१७६१ ई०) मे वह ससैन्य उपस्थित था किन्तु युद्धमे उसने कोई सक्रिय भाग नही लिया और उसके समाप्त होते ही चुपकेसे अपने राज्यमे लौट आया। १७५९ ई० मे उसने शहजादे शाहआलमके साथ बिहारपर भी आक्रमण किया था किन्तु क्लाइवके नेतृत्वमे अँगरेजो सेनाके प्रतिरोधके कारण विफल होकर लौट आया था। १७६४ ई० मे बक्सरके युद्धमे उसने मीरकासिमकी अंगरेजोके विरुद्ध सहायता की थी और उसे बादशाह शाह-आलमकी भी स्वीकृति प्राप्त थी। किन्तु इस युद्धमे अँगरेजोकी ही विजय

हुई। शुजाउद्दौलासे चुनार और इलाहाबादके दुर्ग छिन गये। शाहआलमने भी एक प्रकारसे अँगरेजोंका संरक्षण स्वीकार कर लिया। १७६५ ई० मे इलाहाबादकी उपहासास्पद सन्धिके द्वारा क्लाइवने इलाहाबाद और कडाके ज़िलोंके अतिरिक्त ५० लाख रुपया युद्धके हरजानेके रूपमे देनेका नवाबसे वचन ले लिया और किसी भी तीसरे पक्षके विरुद्ध परस्पर एक-दूसरेकी सहायता करनेकी शर्त भी करवा ली। नवाबकी सीमाकी रक्षाके लिए किरायेपर अँगरेजी सेना रखनेकी बात भी तय हो गयी और इस प्रकार अवधके नवाबकी भी लगभग पचास वर्षके भीतर ही स्वतन्त्रता नष्टप्राय हो गयी। १७७३ ई० मे बनारसकी सन्धिके अनुसार नवाबने पचास लाख रुपयेके बदलेमे अगरेजोंसे कडा और इलाहाबादके जिले बादशाहसे छिनवाकर अपने नाम लिखा लिये और अगले वर्ष अँगरेजोंकी सहायतासे रुहेलोंकी शक्तिका अन्त कर दिया।

उसके उत्तराधिकारी आसफुद्दौलाको १७८१ ई० मे अँगरेज गवर्नर वारेन हैस्टिंग्सने पूर्णतया पंगु बना दिया। कभी अँगरेजी सेनाके व्ययके रूपमे और कभी पिछले पावनोंके रूपमे उसने नवाबसे निरन्तर रुपयेकी माँग जारी रखी। नवाबकी माँ और दादीको भी निर्दयताके साथ लूटा। अवधकी बेगमोंके साथ किया गया यह अन्यायपूर्ण एवं अपमान-जनक बरताव हैस्टिंग्सका एक अतिरिक्त कलंक बना। आसफुद्दौला अपने लखनऊके प्रसिद्ध इमामबाड़ेके निर्माणके लिए प्रसिद्ध है और लखनऊ नगरमे एक दानी नवाबके रूपमे उसकी प्रसिद्धि आज तक चली आती है। उसके उत्तराधिकारी अवधके नवाब अँगरेजोंके चाटुकार तथा अत्यन्त विलासी और निकम्मे थे। अन्तिम नवाब वाजीदअलीशाहको १८५६ ई० मे अँगरेजोंने कलकत्तेके मटिया बुर्जमे ले जाकर बन्दी कर दिया और उसके नाममात्रके अधिकारका अन्त करके अवधको अगरेजी राज्यमे सम्मिलित कर लिया।

३. बंगालकी नवाबी—१७०१ ई० मे औरंगजेबने मुर्शिदकुली-

खाँको बंगालका सूबेदार नियुक्त किया था। बिहार और उडीसाके प्रान्त भी शनै:-शनै: उसीके अधिकारमे आ गये। वह एक योग्य शासक था। दिल्लीकी राजनीतिसे प्राय: पृथक् ही रहकर उसने अपने सूबेका भली प्रकार शासन किया। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी शुजाउद्दीन (१७२५-३९ ई०) अपने पितासे भी अधिक योग्य शासक था, वह सहिष्णु, उदार और दानशील भी था। उसके शासनकालमे बंगालने सुख-शान्ति और समृद्धिका अनुभव किया। यह नवाब पक्षपातरहित और अत्यन्त न्याय-परायण भी था। उस कालमे ऐसा व्यक्ति अपवाद ही था। दिल्ली या शेष भारतकी कुराजनीतिसे उसने कोई सम्पर्क नही रखा और यद्यपि वह एक सर्वथा स्वतन्त्र शासक ही था तथापि अपने-आपको दिल्ली बादशाहके अधीन और उसका सूबेदार ही मानता रहा और वार्षिक राज्यकर भी नियमित भेजता रहा। उसका पुत्र सरफराजखाँ (१७३९–४१ ई०) धार्मिक प्रवृत्तिका व्यक्ति तो था किन्तु एक अयोग्य शासक था। उस समय उसका अधीनस्थ बिहारका नायब सूबेदार अलीवर्दीखाँ था जिसे शुजाउद्दीनने ही तरक्की देकर उस पदपर नियुक्त किया था और अपना प्रधान वजीर भी बनाया था।

अलीवर्दीखाँ वीर, सुयोग्य और महत्त्वाकाक्षी था। नादिरशाहके आक्रमणका लाभ उठाकर उसने अपने स्वामी सरफराजखाँके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। युद्धमे सरफराजखाँ मारा गया और अलीवर्दीखाँ (१७४१–५६ ई०) ने बंगालके सिंहासनपर अधिकार कर लिया। भ्रष्ट दिल्ली दरबार और बादशाहको घूस देकर उसने अपने लिए बंगाल, बिहार और उडीसाकी सूबेदारीका अधिकार-पत्र भी सहज ही प्राप्त कर लिया और उसके स्वामि-द्रोह एवं स्वामिवध-जैसे अपराधपर कोई प्रश्न न उठा। तदनन्तर उसने एक पैसा भी राज्यकरके नामसे सम्राट्को न भेजा और स्वतन्त्र नवाबकी हैसियतसे राज्य किया। हिन्दू, मुसलमान, सभी प्रजा उससे सन्तुष्ट थी। मुर्शिदाबादको उसने अपनी राजधानी बनाया।

उसके शासनके प्रारम्भसे ही मराठोंने उसके राज्यपर आक्रमण और लूट-मार करनी प्रारम्भ कर दी और ग्यारह वर्ष तक वह उन्हींके प्रतिरोधमें व्यस्त रहा। अन्ततः १७५१ ई० में मराठोंको उडीसा प्रान्त देकर उसने उनसे शान्ति मोल ली। वगालकी चौथके रूपमे उन्हे १२ लाख रुपया प्रतिवर्ष देनेका भी उसने वचन दिया। उसकी सबसे वडी भूल यही थी कि उसने बंगालमे अँगरेजोंको प्रश्रय दिया।

८० वर्षकी आयुमे वृद्ध अलीवर्दीकी मृत्यु होनेपर उसके द्वारा मनोनीत एव उसका अत्यन्त स्नेहभाजन दौहित्र सिराजुद्दौला (१७५६–५७ ई०) नवाव हुआ। वह वीर योद्धा एवं सदाशय था किन्तु अनुभव-हीन उद्धत युवक था। अँगरेजोंपर उसे प्रारम्भसे ही अविश्वास था। अलीवर्दीखाँ तो अपनी चतुराईसे उनपर नियन्त्रण रखे हुए था और उनकी शक्तिको सीमाके वाहर न वढ़ने देता था, किन्तु उसकी मृत्युके पश्चात् ही उन्होंने अपनी किलेवन्दी शुरू कर दी, नवावकी वे अवज्ञा करने लगे, उसके अपराधियोंको शरण देने लगे और १७१७ ई० के शाही फ़रमानसे उन्हे जो व्यापारिक सुविधाएँ मिली हुई थी उनका भी वे अनुचित लाभ उठाने लगे। सिराज यह सब सहन न कर सका और उसने उन्हे वह सब करनेसे रोका। अँगरेज़ोंने नवावकी आज्ञा माननेसे इनकार कर दिया और अत्यन्त उद्दण्डतापूर्ण उत्तर लिख भेजा। नवावने क्रोधित होकर कासिम-वाज़ारकी कोठीपर अधिकार कर लिया। तदनन्तर कलकत्तापर धावा किया। वहुत-से अँगरेज़, उनके गवर्नर और सेनापति भाग निकले। वंगाल, विहार और उड़ीसाकी अन्य अँगरेज़ कोठियोंपर भी नवावका अधिकार हो गया। मद्रास समाचार पहुँचते ही क्लाइव और वाटसन गोरोंकी जल-थल-सेना लेकर वंगालके लिए रवाना हो गये और उन्होंने कलकत्तेपर पुन. अधिकार कर लिया। धूर्त क्लाइवने नवावकी फ़ौजके वख्शी मीर-जाफ़रको, जो अलीवर्दीखाँका वहनोई और नवावीका एक वडा सरदार था, तथा सिख सौदागर अमीचन्द एवं अन्य कई प्रतिष्ठित व्यक्तियोंको

मिलाकर नवाबके विरुद्ध एक भीषण षड्यन्त्र रचा और सब तैयारी कर लेनेपर झूठा दोषारोपण करके नवाबको युद्धके लिए ललकारा। १७५७ ई० मे पलासीके मैदानमे दोनो दलोका भीषण युद्ध हुआ। नवाबकी सेनाका बहुभाग जो मीरजाफर और उसके पुत्र मीरनके प्रभावमे था तमाशा ही देखता रहा। नवाब हार गया और बन्दी कर लिया गया, तदनन्तर मीरनने उसका वध कर डाला।

सिराजुद्दौलाके अन्तके साथ ही बगालकी स्वतन्त्र नवाबीका भी अन्त हो गया और इस विशाल समृद्ध देशपर वस्तुतः अँगरेजोका ही अधिकार हो गया। मीरजाफर नवाब बना। उसने मुक्तहस्तसे क्लाइव तथा अँगरेज कौन्सिलके मेम्बरोको धन दिया। उसका अधिकार नाममात्रका ही था, वास्तविक शक्ति क्लाइवके हाथमे थी। वैसे भी यह नवाब निकम्मा, अयोग्य और अफीमची था। १७५९ ई० मे शहजादा शाहआलम और नवाब वजीर अवधने उसकी अनीतिके लिए उसे दण्ड देनेके अभिप्रायसे बंगालपर आक्रमण किया। नवाबकी ओरसे सेना लेकर क्लाइव उनके विरुद्ध चला, इसपर वे बिना लड़े ही वापस लौट गये। मीरजाफरने प्रसन्न होकर क्लाइवको ५–६ लाख रुपये वार्षिककी जागीर दे दी। किन्तु अँगरेजोकी नोच-खसोटसे मीरजाफर भी तंग आ गया और उसने डचोसे सहायता माँगी, किन्तु क्लाइवने उन्हे भी पराजित किया और उनसे हरजाना लिया। इधर नवाबका खजाना खाली हो गया था, अँगरेजोकी नित्य नवीन रुपयेकी माँगको वह पूरा नही कर सकता था। हिन्दू जमीदारोकी सहायतासे ही सिराजका अन्त करनेमे क्लाइव सफल हुआ था और अब मीरजाफरके भी मुख्यत. हिन्दू दरबारी उसके विरोधी एवं विश्वासघाती थे। १७६० ई० मे क्लाइवके इग्लैण्ड रवाना होनेके थोडे समय पश्चात् ही कलकत्तेकी अँगरेज कौन्सिलने मीरजाफरको गद्दीसे उतारकर उसके दामाद मीरकासिम-को नवाब बनाया।

मीरकासिम बुद्धिमान्, योग्य, वीर और स्वतन्त्रता-प्रेमी था, किन्तु

अँगरेजोकी नोच-खसोटने उसे पंगु कर दिया था। प्रजापर अँगरेज व्यापारियों-द्वारा किये जानेवाले क्रूर अत्याचार भी उसे खटक रहे थे। उनकी मनमानी प्रवृत्तियोको जब उसने नियन्त्रित करना चाहा तो कौन्सिलने उसका विरोध किया और उसे विद्रोह करनेपर विवश किया। पटनामे १७६३ ई० मे उसके एक जर्मन अफ़सर समरूने दो-डेढ-सौ अँगरेजोका वध कर दिया। मीरकासिम युद्धमे पराजित होकर अवधकी ओर भाग गया। अँगरेजोने मीरजाफरको फिरसे नवाव बना दिया। १७६४ ई० मे मीरकासिमने अवधके नवाबकी सहायतासे बगालपर आक्रमण किया किन्तु बक्सरके युद्धमे पराजित होकर उसका अन्त हो गया। १७६५ ई० मे मीरजाफर मर गया और उसका पुत्र नज्मुद्दौला नवाब हुआ। उसी वर्ष इलाहाबादकी तथाकथित सन्धिके अनुसार क्लाइवने जो अब वापस आ गया था, बादशाह शाहआलमसे बंगाल, विहार और उडीसाकी दीवानी, वस्तुत: समस्त शासनाधिकार, प्राप्त करनेका कानूनी ढोंग भी पक्का कर लिया। फलस्वरूप बगालमे दोहरा शासन स्थापित हो गया। १७७९–८० ई० मे बंगालमे भीषण दुर्भिक्ष पडा। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी। इसी समय बगालके नाममात्रके नवाबको भी पदच्युत करके और उसे ३२ लाख रुपये वार्षिक पेन्शन देकर अलग कर दिया गया। दो वर्ष बाद वह पेन्शन भी आधी कर दी गयी। अब बंगाल, बिहारपर पूर्णतया अँगरेजी शासन था।

४. रुहेलखण्डके नवाब—उत्तर मुगल कालकी अराजकता और नादिरशाहके आक्रमणसे उत्पन्न विशृंखलताके युगमें पेशावरके निकटवर्ती प्रदेशके निवासी कतिपय साहसिक रुहेला अफ़ग़ानोने, जिनमे अलीमुहम्मद प्रमुख था, अवधके उत्तर-पश्चिममे स्थित-गंगा नदी और हिमालयके बीचके समृद्ध प्रदेशपर अधिकार करके अपना राज्य जमा लिया था। नजीबाबाद, मुरादाबाद, रामपुर, बरेली, पीलीभीत आदि इनके प्रमुख नगर थे। रुहेलोके कारण ही यह प्रदेश, जो पूर्वकालमे पांचाल और तदनन्तर कटेहर

कहलाता था, रुहेलखण्ड कहलाने लगा। मराठोके आक्रमणोसे परेशान होकर इनके सरदार नजीबुद्दौलाने अहमदशाह अब्दालीको आमन्त्रित किया था और पानीपतके युद्धमे १७६१ ई० मे वह उसीकी ओरसे लडा था। अतः तदुपरान्त कुछ समयके लिए वह दिल्लीके बादशाका कार्यवाहक बन बैठा था। किन्तु अब्दालीके वापस जाते ही मराठोने रुहेलोको फिर तंग करना शुरू कर दिया। अतएव १७७२ ई० मे बनारसकी सन्धिके अनुसार रुहेला नवाब हाफिज रहमतखाँने अवधके नवाबसे यह तय किया कि यदि मराठे रुहेलखण्डपर आक्रमण करेगे तो नवाब उसकी रक्षा करेगा और बदलेमे ४० लाख रुपया पायेगा। अगले वर्ष जब मराठोने आक्रमण किया तो अवधके नवाबने अँगरेजी सेनाकी मददसे उन्हे मार भगाया और रुहेलोसे रुपया माँगा। उन्होने टाल-मटोल की। इसपर नवाबने वारेन हैस्टिंग्सकी सहायतासे १७७४ ई० मे मीरनकटराके युद्धमे रुहेलोको बुरी तरह पराजित किया। वृद्ध रुहेला वीर हाफिज रहमत युद्धमे मारा गया। लगभग बीस हजार रुहेले देशसे निर्वासित कर दिये गये। रुहेलोका रुहेलखण्ड राज्य समाप्त हो गया, और अवधमे मिला लिया गया। कुछ रुहेले और उनके सरदार इस देशमे फिर भी बच रहे, उन्हीमे-से एक रामपुरके आस-पासके प्रदेशका शासक बन बैठा। वही रामपुरके नवाबोका पूर्वज था। किन्तु रामपुर प्रारम्भसे ही अँगरेजोके अधीन एक छोटी-सी देशी रियासत-मात्र रहा।

५. मैसूरके नवाब—गगवाडिके प्राचीन गंगराज्यकी परम्परामे कर्णाटकका मैसूर प्रदेश होयसल राज्यके और तदनन्तर विजयनगर साम्राज्यके अन्तर्गत रहा था। विजयनगरका पतन होनेपर इस प्रदेशके एक प्रान्तीय शासकने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। यह वंश ओडेयर वंश कहलाता है। १८वी शती ई०के मध्यमे उसकी राज्यशक्ति कुछ क्षीण हो रही थी और मन्त्री नंजराज ही सर्वे-सर्वा हो रहा था। उसने राज्यके एक मुसलमान कर्मचारीके हैदरअली नामक पुत्रकी योग्यता,

चतुरता एवं युद्ध-नैपुण्यसे प्रभावित होकर १७५५ ई० मे उसे डिंडीगलका फौजदार बना दिया। तदनन्तर उसे बंगलोरकी जागीर दे दी गयी और राज्यका प्रधान सेनापति भी बना दिया गया। १७६१ ई०मे राज्यका लगभग आधा भाग उसके अधिकारमे हो गया और वह अपने राजाकी ओरसे सम्पूर्ण राज्यका ही शासन करने लगा। किन्तु उसीका एक अनुचर खाण्डेराव नामका ब्राह्मण उसका विरोधी हो गया और उसके शत्रुओके साथ मिलकर उसके पतनका षड्यन्त्र करने लगा। १७६३ ई०मे हैदरने खाण्डेरावका दमन किया और उसे एक पिंजरेमे आजन्म बन्दी करके डाल दिया। उसी वर्ष उसने बेदनूर नामक प्रसिद्ध व्यापारिक नगरपर विजय करके अधिकार कर लिया। १७६६ ई० में राजाकी मृत्यु हो जाने-पर उसने राजमहलोको भी लूटा। उसने राजाके पुत्रको नाममात्रके लिए सिंहासनपर बैठा दिया और स्वयं राज्यका सर्वे-सर्वा हो गया।

अब उसने निज़ाम और मराठोंके साथ कूटनीतिक सन्धि-विग्रह करके अपनी शक्तिका प्रसार करना शुरू किया। १७६७ ई० मे उसकी तथा उसके अस्थायी मित्र निज़ामकी संयुक्त सेनाको अँगरेज़ोने पराजित किया, किन्तु १७६९ ई० मे ही हैदरअली अँगरेज़ोंके मद्रासके किलेपर चढ दौडा और उसने उन्हे सन्धि करनेपर विवश किया जिसके अनुसार दोनोने एक-दूसरेकी सहायता करनेका वचन दिया तथा विजित प्रदेशोको लौटा दिया। किन्तु १७७१ ई० मे जब मराठोने हैदरअलीके राज्यपर आक्रमण किया तो अँगरेजोने वायदेके अनुसार उसकी कोई सहायता न की, इसपर वह उनका घोर शत्रु हो गया। १७७८ ई० मे फ्रान्सके साथ युद्ध छिड जानेके कारण अँगरेज़ोने माहीपर तथा समस्त मालाबार तटपर अधिकार कर लिया, इससे हैदरअली और अधिक चिढ गया। निजाम और मराठोके साथ उसने अँगरेज़ोंके विरुद्ध मैत्री-सन्धि कर ली। निजामको अँगरेजोने फोड़ लिया, तथापि १७८० ई० मे हैदरअली अपनी राजधानी श्रीरंगपट्टन-से सेना लेकर चला और उसने कर्णाटकपर आक्रमण कर दिया और

वहाँ भरपेट लूट-मार की।' अँगरेजोके हाथकी कठपुतली कर्णाटकका नवाब तो अपंग था ही। रक्षाके लिए आयी अँगरेजी सेना और उसके नायक कर्नल लेलीको हैदरअलीने काट डाला और राजधानी अर्काटपर भी अधिकार कर लिया। किन्तु १७८१ ई० में अँगरेजोंने सर आयर कूटके नेतृत्वमे पोर्टोनोवाके युद्धमे उसे पराजित किया। मराठोंने भी उसकी कोई मदद नही की। वह अकेला ही अँगरेजोके साथ युद्ध करता रहा और उसने कई बार उन्हे पराजित भी किया। १७८२ ई० मे हैदरअलीकी मृत्यु हो गयी।

किन्तु उसके पुत्र और उत्तराधिकारी टीपू सुलतानने युद्ध जारी रखा। उसने भी कई बार अँगरेजोको पराजित किया और स्वयं भी पराजित हुआ। अन्ततः १७८४ ई० मे दोनो पक्षोके बीच मंगलौरकी सन्धि हुई जिसके अनुसार जो स्थिति युद्धके पूर्व थी वही हो गयी। १७८६ ई० मे पेशवा और निजाम टीपूके विरुद्ध मिल गये और उन्होने अगले वर्ष उसे पराजित करके एक जिला और ३० लाख रुपये उससे वसूल कर लिये। अँगरेज भी उनके साथ ही मिल गये। इसपर टीपू क्षुब्ध हुआ और फ्रान्स तथा अफगानिस्तानको उसने अपने दूत भेजे। अँगरेजोके परम शत्रुओ उन विदेशियोकी सहायतासे वह अँगरेज़ोंको भारतसे निकाल बाहर करना चाहता था। १७८९ ई० मे उसने अँगरेजोसे संरक्षण प्राप्त ट्रावन्कोर राज्य-पर आक्रमण कर दिया और लूट-मार मचायी। अब अँगरेजोंके साथ खुला युद्ध छिड़ गया, मराठे और निजाम भी उन्हीके सहायक थे। स्वयं गवर्नर जनरल कार्नवालिसने युद्धका नेतृत्व किया। कई युद्ध हुए किन्तु प्रत्येक बार टीपूने ही उन्हे पराजित किया, किन्तु अन्तिम युद्धमे वह बुरी तरह पराजित हुआ। १७९२ ई० मे श्रीरंगपट्टनकी सन्धि हो गयी जिसके अनुसार उसके राज्यका लगभग आधा भाग, साढ़े तीन करोड़ रुपये और वचन पालनके आश्वासन रूप उसके दो पुत्र अँगरेजोको प्राप्त हुए। टीपू इस अपमानजनक सन्धिको न भूल सका। अँगरेजोके विरुद्ध वह नैपोलियनसे

भी पत्र-व्यवहार करता रहा। अँगरेजोके प्रतिवाद करनेपर उसने उन्हे फटकार दिया। इसपर १७९९ ई० मे लार्ड वेलेज़लीने टीपूके राज्यपर आक्रमण कर दिया। निज़ाम तो अँगरेजोका अब अनुचर ही था। टीपूने बडी वीरता और साहसके साथ युद्ध किया। मल्लावलीके युद्धमे पराजित होकर उसने श्रीरंगपट्टनमें शरण ली। उसे भी शत्रुओने घेर लिया और उससे सन्धि करनेके लिए कहा किन्तु सन्धिकी शर्तें इतनी अपमान-जनक थी कि उसने अस्वीकार कर दिया और किलेकी दीवारके नीचे ही वीरता-पूर्वक लडता हुआ मारा गया। टीपूके विशाल राज्यको काट-छाँटकर अँगरेज़ोने अपने मित्र निज़ाम और मराठोके साथ बाँट लिया। शेष मैसूरके छोटे राज्यको पुराने ओडेयर वंशके एक राजकुमारको सौप दिया और उसकी सहायताके लिए टीपूके ही चतुर मन्त्री पूर्णियाको मन्त्री नियुक्त कर दिया। मैसूरका वह हिन्दू राज्य वर्तमान तक चला आया है। टीपूके पुत्रोको पेन्शन नियत कर दी गयी।

हैदरअली निरक्षर होते हुए भी अत्यन्त बुद्धिमान्, मनुष्यकी पहचान करनेवाला, मेधावी, चतुर, राजनीतिपटु, कुशल सेनानी और वीर योद्धा था। उसकी स्मरणशक्ति बडी तीव्र थी। वह प्रजावत्सल नरेश और कुशल शासक था। हिन्दू और मुसलमानोके बीच भी वह भेद नही करता था। टीपू भी समदर्शी, उदार और सहिष्णु था। वह सुशिक्षित और विद्यारसिक भी था तथा कन्नडी, फारसी और उर्दू-साहित्यका प्रश्रयदाता था। उसके विशाल पुस्तकालयको अँगरेज कलकत्ते उठा ले गये। हैदरअली और टीपू दोनोने ही हिन्दू, जैन आदि राज्यके मुसलमानेतर धर्मोके साथ उदारताका बरताव किया और उनके संस्थानोको दानादि भी दिये। उस कालके राजनीतिक पात्रोमें अपने उपरोक्त गुणोके कारण ये पिता-पुत्र अपवाद ही थे। यद्यपि हैदरअलीने स्वामिद्रोह करके ही राज्य हस्तगत किया था, किन्तु अपने चातुर्य एवं पराक्रमसे उसने उसका विस्तार और शक्ति भी अत्यधिक बढा दी थी। टीपू उसका संरक्षण कर सकता था किन्तु वह

अत्यन्त वीर एवं साहसी योद्धा होते हुए भी कुशल सेनानी नही था और कुछ अदूरदर्शी भी था। सबसे बडा अपराध इन पिता-पुत्रका यही था कि वे अँगरेजोकी नीति और उनके उत्तरोत्तर शक्ति-संवर्धनमे बाधक थे। किन्तु साथ ही वे एकमात्र ऐसे नरेश थे जो प्रारम्भसे अन्त तक स्वतन्त्र ही रहे।

उपरोक्त प्रमुख मुसलमान शक्तियोके अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे-छोटे मुसलमान नवाब भी भारतमे यत्र-तत्र उत्पन्न हो रहे थे, कुछ पहलेसे चले आ रहे थे, कुछ इसी कालमे लूट-मारके बलपर बने और कुछ अँगरेजोकी कृपासे अस्तित्वमे आये। रामपुर, भोपाल, टोक और जूनागढके नवाब, सिन्धके अमीर, लुटेरे पिण्डारी सरदार इत्यादि इसी प्रकारके गौण मुसलमानी राज्य थे। वे प्राय. सब सहज ही और प्रथम अवसरमे ही अँगरेजोके अधीन होते चले गये।

राजपूत राजे—इस कालमे राजस्थानके प्रमुख राजपूत राज्य उदयपुर, जोधपुर, जयपुर, जैसलमेर और बीकानेर थे। औरगजेबके समयमे राणा राजसिहने समस्त राजस्थानका ने ; कया था और मुगल सम्राट्से सफल लोहा लिया था। उसकी मृत्युके उपरान्त संग्रामसिह द्वितीय राणा हुआ। १८वी शतीके पूर्वार्धमे वह ही मेवाडका महत्त्वपूर्ण राणा था यद्यपि राजस्थानका नेतृत्व अब मेवाडके हाथमे नही रहा था।

जोधपुरके राठौर महाराज जसवन्तसिहकी मृत्युके बादसे ही लगभग ३० वर्ष तक मुगलोके विद्रोही रहे, किन्तु १७०९ ई० मे बहादुरशाहने महाराज अजीतसिहका राज्याधिकार स्वीकार करके और उन्हे शाही-सेवामे उच्च पदपर नियुक्त करके राठौरोको सन्तुष्ट कर लिया। अजीतसिह वीर, चतुर और कुशल राजनीतिज्ञ था। फर्रुखसियरके समयमे कुछ दिन दिल्लीमे रहकर उसने बादशाहीका संचालन किया और उस कालमे उसके विश्वस्त जैन दीवान रघुनाथ भण्डारीने मारवाड राज्यका कुशलताके साथ शासन किया। अजीतसिहके एक अन्य जैनमन्त्री खिमसी भण्डारीके प्रयत्नसे ही

फर्रुखसियरने फिरसे जजिया लगानेका संकल्प त्याग दिया था। तदनन्तर बादशाहने अजीतसिंहको गुजरात और अजमेरका सूबेदार नियुक्त किया। मुहम्मदशाहके समयमे भी अजीतसिंह उस प्रान्तका सूबेदार रहा। उसके उपरान्त उसका उत्तराधिकारी जोधपुर-नरेश अभयसिंह भी १७३० से १७३७ ई० तक उस प्रान्तका सूबेदार रहा। अजीतसिंहकी शक्ति और प्रभाव बादशाहोंपर, दरबारमे एवं साम्राज्यमे पर्याप्त बढ गया था। अजमेर और गुजरातकी सूबेदारीके कारण उसके राज्यकी शक्ति और समृद्धि भी काफी बढ गयी थी। बडे-बडे मुसलमान सरदार उससे घबराने लगे थे। उसके बाद अभयसिंहकी शक्ति और प्रभाव भी प्राय. वैसा ही रहा।

जयपुरमे इस कालमे महाराज सवाई जयसिंहका राज्य था। यह भी बडा योग्य, चतुर, विद्यारसिक एव प्रतापी नरेश था। जयपुर नगरके वास्तविक निर्माणका और उसे अलंकृत करनेका प्रधान श्रेय इसे ही है। विविध साहित्यको भी इस राजाने प्रोत्साहन दिया, ज्योतिषविद्यासे इसे विशेष प्रेम था और नक्षत्र तारिकाओ आदिके पर्यवेक्षणके लिए उसने जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, वाराणसी आदि कई स्थानोमें जन्तर-मन्तर या मानमन्दिर बनवाये थे। दिल्ला दरबारमे इसका अत्यधिक मान और प्रभाव था।

इस प्रकार औरंगजेबकी मृत्युके बाद लगभग तीस-चालीस वर्ष पर्यन्त उपरोक्त नरेशोके व्यक्तित्व, शक्ति एव प्रभावके कारण राजस्थान एक पर्याप्त प्रबल शक्ति बन गया था। राणा संग्रामसिंह, राठौर अजीतसिंह और सवाई जयसिंहमे परस्पर मेल और मैत्री भी रही और इन तीनोंने मिलकर यह योजना भी बनायी था कि अपने सयुक्त प्रभाव एवं बलसे बादशाहोको कोई हिन्दू-विरोधी कार्य न करने देगे और शनैः-शनैः मुसलमानोको पराभूत करके सम्भव हुआ तो देशमे हिन्दू राज्य-शक्तिका पुनरुत्थान करेंगे। इसमे उन्हे जाटो और बुन्देलोका भी सहयोग प्राप्त था, और पेशवाओको मिलानेका भी प्रयत्न किया गया। दक्खिन, बंगाल और अवधके स्वतन्त्र हो जानेसे साम्राज्यका जो द्रुत पतन हो रहा था वह

इनकी योजनामे सहायक ही था अत. उसे रोकनेका इन्होने कोई प्रयत्न नही किया। नादिरशाह-द्वारा दिल्लीकी भीषण लूट-मारके अवसरपर भी ये अपनी राजधानियोमे बैठे तमाशा देखते रहे। किन्तु इसी बीच राणा संग्रामसिह, महाराज अजीत सिह तथा वीर छत्रसालकी मृत्यु हो चुकी थी। राणाका उत्तराधिकारी अयोग्य था किन्तु अजीतसिहका पुत्र अभयसिह अपने पिताका ही अनुसर्ता था। १७४३ ई० मे जयसिहकी और १७४९ ई० मे अभयसिहकी मृत्यु हो जानेसे राजपूत पुनरुत्थानको वह महान् योजना स्वप्न बनकर रह गयी।

हिन्दूपदपातशाहीका समर्थक पेशवा बाजीराव प्रथम भी १७४० ई० मे मर चुका था। उपरोक्त राजपूत नरेशोके उत्तराधिकारी अत्यन्त अयोग्य और निकम्मे थे। एक ओर दिल्लीका बादशाह द्रुत वेगके साथ बल, धन और अधिकार हीन होता जा रहा था और दूसरी ओर दक्षिणके मराठोने उत्तरापथके विभिन्न भागोपर लुटेरे आक्रमण प्रारम्भ कर दिये थे। अब उन्होने इन राजपूत राज्योको भी न बख्शा। उनके साथ ही लुटेरे पिण्डारी सरदारोने भी राजपूत राज्योको लूटना-खसोटना शुरू कर दिया था। आये दिनके इन संकटोने राजाओका नैतिक बल और अधिक कमजोर कर दिया। अन्त.कलह और गृहयुद्ध आम हो गये। वे उत्तराधिकारके प्रश्नो एवं विवाह-सम्बन्धो आदि छोटी-छोटी बातोके लिए परस्पर एक-दूसरेसे भी लडने लगे और मराठे उन झगड़ोमे हस्तक्षेप करके अपना उल्लू सीधा करने लगे। जैसा कि कर्नल टॉडने अपने प्रसिद्ध 'राजस्थान'मे लिखा है "जाति-विशेषका पतन स्वयं उस जातिके द्वारा ही होता है। जाति-गौरवके सूर्यको अस्त करनेके लिए यदि वह जाति स्वयं आगे न बढ़े तो किसी अन्य जातिके द्वारा यह कार्य कभी भी सिद्ध नही हो सकता। जो महाशक्ति जातिकी प्राण-प्रतिष्ठा कर देती है, जातिको नस-नसमे अपना अव्यर्थ तेज भर देती है उस महाशक्तिका जिस दिनसे जातिने अपमान किया और आलस्य एवं विला-सिताके वशीभूत होकर जातीय भ्रातृभावकी जडमे कुठाराघात किया उसी

दिनसे वह जाति पतनके दलदलमे फँसती चली जाती है।" जिस समय १७६१ ई० में भारतकी सभी प्रधान राज्यशक्तियाँ पानीपतके क्षेत्रमे भीषण युद्धमे संलग्न थी जयपुरमे वहाँके राजा माधवसिंहके श्याम तिवाड़ी नामक मुँहचढे पुरोहितने नादिरशाही मचा दी। केवल धार्मिक विद्वेषसे अन्धा होकर उसने राज्यके अनेक जैन-मन्दिर और मूर्त्तियाँ तुडवा डाली, जैनियोका घोर अपमान किया और उनपर भयंकर अत्याचार किये तथा पं० टोडरमल्ल-जैसे प्रकाण्ड विद्वान् सन्तको जैनी होनेके कारण ही हाथीके पैरोतले कुचलवाकर मरवा डाला। समस्त राजस्थानके लिए यह घटना अभूतपूर्व थी और देशके तत्कालीन घोर नैतिक पतनकी ही परिचायक है।

लुटेरे मराठो और पिण्डारियोके नित्यके धावो एवं गृहयुद्धोने इन राज्यो-की कमर तोड दी थी। उनका सम्पूर्ण शासन अव्यवस्थित हो गया था। राजा लोग और उनके सामन्त सरदार आलसी, विलासी और कायर बन गये थे। राजस्थान नि सत्त्व एवं निश्शक्त हो गया था। ऐसी शोचनीय स्थितिमें जब अँगरेजोने अपना वरद हस्त बढाया तो समस्त राजपूत राजा-ओने अपमान, पराधीनता, भावी शोषणकी प्रत्यक्ष आशंका आदि किसी भी बातकी परवाह न करके सहर्ष और सहज ही उनके संरक्षणको अहोभाग्य मानकर ग्रहण कर लिया। इस प्रकार १९वी शतीके प्रारम्भसे ही जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, जैसलमेर, कोटा, बूँदी, अलवर आदि राजपूतानेके छोटे-बडे राजपूत राज्य अँगरेजोकी पराधीनतामे वर्तमानकाल-पर्यन्त जैसे-तैसे सुरक्षित रहे चले आये। बुन्देलखण्डमे वीर छत्रसाल १७३३ ई०मे अपनी मृत्यु पर्यन्त विद्रोही बना रहा किन्तु उसके उत्तराधिकारी निर्बल एवं अयोग्य रहे, अतः उनके ओरछा आदि तथा अन्य प्रदेशोके इने-गिने राजपूत राज्योको भी वही गति हुई।

जाट—आगरा एवं दिल्लीके मध्य, मथुराके आस-पास जाटोकी बनी बस्ती थी। औरंगजेबके समयमे १६६९ ई०में गोकल जाटके नेतृत्वमे इस प्रदेशके जाटोने उसकी हिन्दू-विरोधी नीतिके विरोधमे भयंकर विद्रोह किया

था और शाही फौजदारको भी मार दिया था। कठिनतासे औरंगजेबने इस विद्रोहका दमन किया था। १६८८ ई०मे राजारामके नेतृत्वमे जाट फिर भड़क उठे और १६९१ ई० मे उन्होने सिकन्दरेमे स्वयं अकबरके मकबरे और शवको लूटा। सम्राट् दक्षिणमे था और उसके सरदार कठिनतासे इस विद्रोहका दमन कर पाये। १७०५–०७ ई०मे भज्जा जाटके नेतृत्वमे वे फिर भडक उठे। बहादुरशाहने भज्जाके पुत्र चूडामनको शाही-सेवामे नियुक्त करके जाटोको सन्तुष्ट किया किन्तु फर्रुखसियर उससे रुष्ट हो गया अत: चूडामनने थून नामक स्थानमे एक सुदृढ दुर्ग बनाकर शक्तिसंचय करना प्रारम्भ कर दिया। बादशाहने १७१६ई०मे सवाई जयसिहको उसका दमन करनेके लिए भेजा। राजाने थूनपर अधिकार कर लिया किन्तु बादशाहको उसके अन्य दरबारियोने जाटोके साथ सुलह कर लेनेका परामर्श दिया। सन्धि जाटोके अनुकूल थी और वे राजधानियो आगरा एवं दिल्लीके निकटवर्ती प्रदेशमे ही एक भयप्रद शक्ति बन गये। मुहम्मदशाहके समयमे चूडामनके पुत्रोने फिर विद्रोह किया और जब शाहीसेना उनके दमनके लिए भेजी गयी तो उन्होने थूनके दुर्गमे शरण ली। किन्तु चूडामनका भतीजा बदन सिह बादशाहसे मिल गया और उसने थूनपर शाहीसेनाका अधिकार होनेमे सहायता दी। अत: बादशाहने उसे हो जाटोका राजा बना दिया। उसके दत्तक पुत्र और उत्तराधिकारी सूरजमलने जाटोकी शक्तिको चरम शिखरपर पहुँचा दिया। उसने अपने राज्यको सुसंगठित एवं शक्तिशाली बना लिया और थूनके अतिरिक्त डीग, कुम्भेर, वेर तथा भरतपुरमे सुदृढ़ दुर्ग निर्माण किये। भरतपुरको उसने अपनी राजधानी बनायी। उसने अपनी एक सबल घुडसवार सेना भी तैयार कर ली। नादिरशाहके आक्रमण और उससे उत्पन्न स्थितिसे उसने पूरा लाभ उठाया था। किन्तु अब मराठे और अहमदशाह अब्दाली भी उसके राज्यपर आक्रमण करने लगे। ऐसे अवसरोपर वह अपने सुरक्षित दुर्गोमे बैठकर शत्रुओको चुनौती देता था। १७५७ ई० मे अब्दालीने जब मथुरापर उस नगरको लूटनेके लिए धावा किया तो

सूरजमलने चौमुहा स्थानपर उसके साथ भीषण युद्ध किया। यद्यपि वह अब्दालीको पीछे हटानेमे समर्थ नही हुआ तथापि ऐसे तीव्र विरोधका मुकाबला अब्दालीको भारतमे इसके पूर्व कभी नही करना पड़ा था। १७६१ ई० के पानीपतके युद्धमे सूरजमल ससैन्य मराठोकी सहायताके लिए गया था, किन्तु अपने मित्र महादाजी सिन्धियाको भाँति युद्धमे उसने भी कोई भाग नही लिया। फलस्वरूप अब्दालीके जानेके बाद सूरजमल जाट ही उत्तर भारतका सर्वाधिक शक्तिशाली हिन्दू राजा हो गया था, उसकी सेना भी अक्षत रह गयी थी और उसका कोश भी भरा हुआ था। १७६१ ई० मे ही उसने आगराके किलेपर भी अधिकार कर लिया। किन्तु जाटों-के दुर्भाग्यसे १७६३ ई० मे दिल्ली दरबारके सर्व-सर्वा नजीबुद्दौला रुहेले-के साथ एक युद्धमे सूरजमलकी मृत्यु हो गयी।

उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी जवाहरसिंहका जीवन भी तूफानी रहा। ग्वालियरके सिन्धियाका वह मित्र बना रहा, किन्तु १७६८ ई० मे उसकी हत्या कर दी गयी। तदनन्तर अन्तःकलह और दलबन्दियोंके कारण जाटशक्ति क्षीण होने लगी और उसका पतन आरम्भ हो गया। बादशाह शाहआलमके सेनापति नजफखाँने १७७३ ई० मे आगरापर पुनः अधिकार कर लिया और १७७६ ई० में डीगके दुर्गको भी जाटोसे छीन लिया। १८०५ ई० में अँगरेज़ सेनापति लार्ड लेकने भरतपुरका घेरा डालकर कच्ची मिट्टीसे बने उस अद्भुत एव सुदृढ दुर्गको अत्यन्त कठिनाई-से हस्तगत करके भरतपुरके जाट राज्यको अँगरेजोकी पराधीनता स्वीकार करनेपर विवश किया। तबसे वर्तमान पर्यन्त यह राज्य भी अन्य देशी राज्यो-जैसा ही चला आया है।

सिक्ख—सिक्खधर्मके प्रवर्तक गुरु नानक (१४६९–१५३९ ई०) थे। इन्होने पंजाबमे अहिंसा एव सदाचार-प्रधान निर्गुण एकेश्वरवादी सन्तमतका प्रचार किया था। प्रचलित भारतीय धार्मिक विचार-धारामें यह एक सुधार-मात्र था। वे हिन्दू-मुसलिम एकताके भी समर्थक थे। अपने

शिष्य अंगदको उन्होने अपना उत्तराधिकारी नियत किया। गुरु अंगद (१५३९–५२ ई०) ने सिक्खो (गुरुके शिष्यो) को एक धार्मिक सम्प्रदायके रूपमे संगठित किया और उन्होने गुरुमुखो लिपिका भी आविष्कार किया बताया जाता है। उनके उत्तराधिकारी अमरदास (१५५२–७४ ई०) के समय सिक्खधर्मको और उन्नति हुई तथा चोथे गुरु रामदास (१५७४–८१-ई०) ने सम्राट् अकबरके आश्रय एवं सहायतासे अमृतसर स्थानको प्राप्त करके उस नगरको, उसके प्रसिद्ध गुरुद्वारेको तथा वहाँ सिक्ख धर्मके केन्द्रकी नीव डाली। तदनन्तर गुरुका पद वंश-परम्परागत हो गया।

रामदासके पुत्र गुरु अर्जुन (१५८१–१६०६ ई०) ने अपने अनुयायियोके सगठनको और अधिक व्यवस्थित किया और वह उनसे नियमित दान-दक्षिणा ग्रहण करने लगे। इस प्रकार उनकी शक्ति और धन काफी बढ गया। शहजादे खुसरूका पक्ष लेनेके कारण जहाँगीरने उनको मृत्युदण्ड दिया। १६०४ ई० मे ग्रन्थ साहिबके सकलनका श्रेय भी इसी गुरुको है। उनके पुत्र हरगोविन्द (१६०६–३८ई०) ने सिक्खोका सैनिक संगठन किया। उन्होने एक छोटी-सी अश्वारोही सेना भी बना ली और स्वय भी तलवार ग्रहण की। अनुयायियोकी सख्या भी वढी। अब सिक्ख एक राजनीतिक शक्तिका रूप लेने लगे। उनके उपरान्त उनका पुत्र हरराय (१६३८–६० ई०) गुरु हुआ। वह शान्तिप्रिय था, किन्तु वह दाराशिकोहका पक्षपाती था अतः उसे अपने पुत्र रामरायको आश्वासनके रूपमे औरंगजेवके सिपुर्द करना पडा। हररायके बाद उसका द्वितीय पुत्र हरकिशन (१६६०–६४ ई०) गुरु हुआ और तदनन्तर हरगोविन्दका द्वितीय पुत्र तेगबहादुर (१६६४—७५ ई०) सिक्खोंका नवाँ गुरु हुआ। विद्रोहके सन्देहमे औरंगजेबने गुरुको दिल्ली बुलाया किन्तु मिर्जा राजा जयसिहके पुत्र कुमार रामसिहकी सहायतासे वह बहुत समय तक पटना, आसाम आदिमे सुरक्षित रहे और फिर पंजाब आये। वहाँ आते ही सम्राट्ने उन्हे पकड़वा मँगाया और बड़ी क्रूरताके साथ उनका प्राणान्त करा दिया। दिल्ली

जानेके पूर्व ही उन्होने अपने छोटे पुत्र गोविन्दसिहको अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था।

गुरु गोविन्दसिह (१६७५–१७०८ ई०) सिक्खोके अन्तिम और दसवे गुरु थे। उन्होने सिक्खोके नामके साथ 'सिह' शब्दका प्रयोग, 'वाह गुरुकी फतह'का नारा और केश, कंघा, कच्छ, कडा तथा कृपाण नामक पाँच ककार चिह्न प्रचलित किये, खालसाके रूपमे धार्मिक राज्य स्थापित किया, उसके अन्तर्गत अनुयायियोको मिस्लोमे बाँटा और उनका सैनिक संगठन किया। वह कुशल सैन्य-संचालक और वीर योद्धा थे। पंजाबके कई पहाडी राजाओसे उनके युद्ध हुए और औरगजेबके वे अन्त तक विद्रोही बने रहे। अतएव सम्राट्की आज्ञापर सरहिन्दके फौजदारने उनके दोनो पुत्रोका वध कर दिया। सम्राट्की मृत्युपर गोविन्दसिहने बहादुर-शाहका पक्ष लिया और उसके साथ कामबख्शके विरुद्ध दक्षिण गये जहाँ एक अफगानने उनकी हत्या कर दी। अब उनका कोई उत्तरा-धिकारी नही था।

उनके एक शिष्य बन्दा वैरागीने सिक्खोका सैनिक नेतृत्व ग्रहण किया। उसने भंगी, चमार आदि जातियोके लोगोको बहुसंख्यामे सिक्खधर्ममे दीक्षित करके सिक्खोकी संख्या अत्यधिक बढा ली और एक विशाल सेना तैयार कर ली। बहादुरशाहके समयमे ही गुरु गोविन्दसिहके पुत्रोकी मृत्युका बदला लेनेके लिए उसने सरहिन्दके फ़ौजदारको मार डाला और मुसलमानोपर अमानुषिक अत्याचार किये। सेनापति मुनीमख़ाँने उसे परास्त कर दिया और वह भाग गया, किन्तु फर्रुखसियरके समयमे १७१५ ई० मे वह पकडा गया और अपने साथियो-सहित क्रूरताके साथ मार डाला गया।

तदनन्तर पंजाबके सूबेदारोने सिक्खोपर भरसक अत्याचार किये। किन्तु नादिरशाह और अहमदशाह अब्दालीके आक्रमणोके कारण सिक्खोकी ओर ध्यान देनेका किसीको अवकाश ही नही मिला। १७५२ई० से तो

पंजाबसे मुगलोका अधिकार ही उठ गया। इससे सिक्खोने लाभ उठाया और अपनी शक्ति बढायी। अब्दालीकी सेनाओको वे निरन्तर परेशान करते रहे। पानीपतके युद्धके बाद अब्दालीने उनका दमन करनेका प्रयत्न किया और १७६२ ई० मे लुधियानाके युद्धमे उन्हे पराजित करके १२००० सिक्खोका सहार किया, किन्तु फिर भी उनका अन्त न हुआ और वे उमे दूने वेगसे बराबर परेशान करते रहे। अन्ततः १७६७ ई० मे अब्दालीने अपनी असमर्थता स्वीकार कर ली और फिर उन्हे न छेडा।

अब सिक्खोने सुयोग्य युद्ध-नेताओके नेतृत्वमे बारह मिस्लो (सैनिक दलो) मे विभाजित सिक्खदल-द्वारा बहुभाग पंजाबपर अपना अधिकार जमा लिया। यह एक प्रकारका धर्म-सैनिक राज्यसंग था। किन्तु अब बाहरी शत्रुकी अनुपस्थितिमे ये मिस्ले परस्पर ही लडने लगी, और एक प्रकारकी अराजकता एव अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी। इन्ही मिस्लोमे-से एकका सरदार महासिह था। १७९० ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी।

उसके पुत्र रणजीतसिहने जिसका जन्म १७८० ई० मे हुआ था, १७ वर्षकी आयुमे ही अपनी पैतृक मिस्लका नेतृत्व ग्रहण कर लिया और छोटे-मोटे युद्धो-द्वारा अपनी शक्ति बढानी प्रारम्भ की। १७९८ ई० मे जब अब्दालीके पोते काबुलके अमीर जमनशाहने पजाबपर आक्रमण किया तो रणजीतसिह उससे मिल गया। जमनशाह तो विफल प्रयत्न होकर लौट गया किन्तु इस अवसरसे लाभ उठाकर रणजीतसिहने १७९९ ई० मे उसके सिक्ख अधिकारियोसे उस प्रदेशको छीन लिया। १८०५ ई० मे उसने अमृतसरपर भी अधिकार कर लिया। लाहौरको अपनी राजधानी बनाकर उसने अब अपनी शक्तिका विस्तार करना शुरू किया। इस कार्यमे उसकी सास सदाकौर, जो स्वयं एक मिस्लकी स्वामिनी थी, तथा मित्र फ़तहसिह, जो एक अन्य मिस्लका स्वामी था, उसके प्रधान सहायक हुए। इस प्रकार शनै.-शनै पंजाबके समस्त सिक्ख-सरदारो और मिस्लोको अधीन करके १८२३ ई० मे रणजीत सिहने सम्पूर्ण पजाबपर अपना राज्य जमा लिया। फतहसिह तो उसका

अब अधीनस्थ अनुचर ही बन गया था और सदाकौरको उसने बन्दीगृहमे डाल दिया। सतलज और यमुनाके मध्यभागको भी वह अपने राज्यमे मिलाना चाहता था और उस प्रदेशपर तीन बार उसने आक्रमण भी किया किन्तु इस समय अँगरेज-शक्ति उत्तर प्रदेशमे प्रबल थी और उन्होने उसे सतलजके इस पार न बढने दिया। १८०९ ई० मे ही अमृतसरकी सन्धि-द्वारा उसने वैसा न करनेका अँगरेजोको वचन दे दिया था। किन्तु उस पार उसने दक्षिणमे मुलतान तक अधिकार कर लिया और उत्तर-पश्चिममे कोहाट, बन्नु, टंक, डेरागाजीखाँ, डेराइस्माइलखाँ, पेशावर और कश्मीरको विजय करके तथा अफगानोसे छीनकर अपने राज्यमे मिला लिया। सिन्धको भी उसने विजय करना चाहा किन्तु सिन्धके अमीरोने भी १८३१ ई० मे अँगरेजोकी अधीनता और संरक्षण स्वीकार कर लिया था अतः अँगरेज उसके इस कार्यमे बाधक हुए। तथापि खैबरसे लेकर सतलज तक और लघुतिब्बतसे लेकर सिन्धकी सीमा पर्यन्त रणजीतसिहका विस्तृत सुगठित एवं शक्तिशाली राज्य था। १८१३ ई० मे छछके और १८२३ ई० मे नौशेराके युद्धमे उसने काबुलके अफगानोको बुरी तरह पराजित किया था। १८३७ ई० मे अमीर दोस्त मुहम्मदने भी सिक्खोके जमरूद और जुबकुदुर नामक दो सीमान्त दुर्गोको हस्तगत करनेका विफल प्रयत्न किया।

रणजीतसिह निरक्षर, कुरूप एवं एकाक्षी होते हुए भी बडा चतुर, बुद्धिमान्, दूरदर्शी, राजनीति-विचक्षण, वीर, योद्धा, कुशल सैन्यसंचालक एव निपुण शासक था। उसकी सेना विशाल, सुगठित और शक्तिशाली थी। उसका दरबार अत्यन्त ठाठ-बाटका था, और शासन सुव्यवस्थित था। बिना किसी धार्मिक या जातीय भेदभावके वह सुयोग्य पुरुषोको अपनी सेवामें नियुक्त करता था। रणजीतसिह अपने समयका अत्यन्त प्रतापी, शक्ति-शाली, वैभवसम्पन्न और महान् नरेश था। किन्तु १८३९ ई० मे उसकी मृत्युके पश्चात् ही अन्त कलह, षड्यन्त्र, विश्वासघात, अव्यवस्था और दलबन्दियोका बोलबाला हुआ। उसका ज्येष्ठ पुत्र और

उत्तराधिकारी खडगसिंह एक वर्ष भी राज्य न कर पाया। खडगसिंहका पुत्र नौनिहालसिंह जो अपने दादा रणजीतसिंहकी ही भाँति होनहार था अगले ही दिन मार डाला गया। तत्पश्चात् रणजीतसिंहका एक अन्य पुत्र शेरसिंह राजा हुआ किन्तु १८४३ ई० में उसका भी वध कर दिया गया।

अब रणजीतसिंहके सबसे छोटे पुत्र दिलीपसिंहको जो छह वर्षका बालक मात्र था, राजा बनाया गया। राज्यकी सारी शक्ति और सेना उसके नेताओंके हाथमें थी। सेना ही स्वयंको राज्यका प्रतिनिधि और खालसा कहने लगी, उसकी संख्या द्विगुणित हो गयी और वही समस्त शासन, वजीरों, राजा एवं प्रजाकी भाग्यविधाता बन बैठी। चतुर अँगरेज तो ऐसे ही अवसरकी ताकमें थे। १८४५ ई० में दोनों शक्तियोंके बीच युद्ध छिड गया। सेनापतियोंके परस्पर अविश्वास एवं विश्वासघातके कारण एकके बाद एक चार युद्धोंमें सिक्ख हारे और अँगरेजोंको सहज ही विजय प्राप्त हो गयी। परिणाम-स्वरूप जो सन्धि हुई उसके अनुसार जालन्धर दोआबका सम्पूर्ण प्रदेश अँगरेजोंको प्राप्त हुआ, सिक्ख दरबारने युद्धके हरजानेके रूपमें तीन करोड रुपया देनेका वचन दिया और एक अँगरेज अफसर राजा दिलीपसिंहके संरक्षकके रूपमें तथा शासनके प्रत्येक विभाग-पर नियन्त्रण रखनेके लिए लाहौर दरबारमें ससैन्य स्थापित हुआ। हरजानेकी रकम अदा करनेके लिए कश्मीर देशको जम्मूके डोगरा सरदार गुलाब-सिंहके हाथ बेच दिया गया। १८४९ ई० में व्यर्थका बहाना बनाकर अँगरेजोंने फिर युद्ध छेड दिया। सिक्ख वीरताके साथ लडे किन्तु पराजित हुए। सिक्खराज्यका अन्त करके सम्पूर्ण प्रदेश अँगरेजी राज्यमें मिला लिया गया और महाराज दिलीपसिंहको पेन्शन देकर इंग्लैण्ड भेज दिया गया। वहाँ वह ईसाई बन गया और मृत्यु पर्यन्त वहीं रहा। भारतका प्रसिद्ध कोहेनूर हीरा भी, जिसे नादिरशाह लूटकर ले गया था और जिसे रणजीतसिंहने काबुलके अमीर शाहशुजासे पुनः प्राप्त कर लिया था, असहाय दिलीपसिंहसे महारानी विक्टोरियाको भेंट करवा दिया गया। वही

सिक्ख जो अपनी स्वतन्त्रता, राज्य, राजा और देशकी रक्षा न कर सके थे अब सहर्ष अँगरेजोकी सेनामे भर्ती हो गये और भारतमे उनके राज्यको स्थायी करनेमे सहायक हुए।

पेशवा—वीर शिवाजीके उत्तराधिकारी सम्भाजीकी मृत्यु (१६८९ ई०) के उपरान्त उसके भाई राजाराम और भावज ताराबाईने विद्रोही मराठा शक्तिका नेतृत्व करके औरंगजेबको पीडित-प्रताडित करना आरम्भ किया। मराठोका राज्य और उसकी शासन-व्यवस्था समाप्त हो चुकी थी। सर्वत्र अराजकता एवं अस्त-व्यस्तता थी। ऐसी परिस्थितिमे उनके राजाराम आदि नेताओने अपने मराठा सरदारोके लिए सरजामो और जागीरोकी प्रथा प्रचलित कर दी। उनके सभी छोटे-बडे सरदारो और सैनिकोको जहाँसे और जैसे बने लूट-पाट करके ही अपना निर्वाह करना था और मुगलोके विरुद्ध युद्ध जारी रखना था। अत निरंकुश लूट-पाट मराठोमे एक वैध एव स्वाभाविक वस्तु बन गयी। ये संस्कार आगे चलकर सम्पूर्ण देशके लिए अत्यन्त भयानक सिद्ध हुए। औरंगजेबकी मृत्युके उपरान्त और फल-स्वरूप मुगल सेनाओके उत्तरमें चले जानेके बाद अब लडनेके लिए कोई शत्रु भी न रहा। अतएव अनियन्त्रित, निरंकुश और निरुद्देश्य मराठे यत्र-तत्र बिखर गये।

उधर चतुर मुगल वजीर जुल्फिकारअलीकी नीतिके फलस्वरूप साहूके दक्षिणमे आनेपर उनके नेताओमे शिवाजीके राज्यके उत्तराधिकारके लिए गृहयुद्ध भी छिड गया। १७०० ई० मे राजारामकी मृत्यु हो जानेपर उसकी विधवा ताराबाईने अपने बालक पुत्र शिवाजी द्वितीयको अपनी स्वयकी सरक्षकतामे सम्भाजीका उत्तराधिकारी और मराठा राज्य-का स्वामी घोषित कर दिया था। अब उसने कहा कि साहू सम्भाजीका पुत्र ही नही है और उसका दावा मिथ्या है। साहूने १७०८ ई० मे दिल्लीसे आकर सतारापर अधिकार कर लिया और अपने-आपको राजा घोषित कर दिया। ताराबाईने कोल्हापुरको अपना केन्द्र बनाया और गृहयुद्ध

छिड गया। १७१२ ई० मे ताराबाईका पुत्र मर गया और अब स्वयं उसे भी पदच्युत करके उसकी सपत्नी राजसबाईने अपने पुत्र शम्भूजीको राजा घोषित कर दिया तथा उसकी ओरसे कोल्हापुरमे राज्य करना प्रारम्भ कर दिया। सतारामे साहूकी स्थिति भी बिलकुल डाँवाडोल थी।

इसी समयमे कोकणके एक चितपावन ब्राह्मण विश्वनाथका पुत्र बालाजी भट्ट मराठा सरदार धनाजी जाधवका मन्त्री था। उसके कहनेसे धनाजी ताराबाईका पक्ष त्याग कर साहूसे आ मिला था। उसके साथ ही बालाजी भी आया। १७१० ई० मे धनाजीकी मृत्युके बाद उसका पुत्र चन्द्रसेन जाधव फिर कोल्हापुरवालोके पक्षमे चला गया किन्तु बालाजी साहूकी ही सेवामे रह गया। उसकी योग्यता देखकर साहूने उसे अपना सेनाकर्त्ता (बख्शी) बना लिया और तदनन्तर अपना पेशवा (प्रधान मन्त्री) बना लिया। इस प्रकार बालाजी विश्वनाथ (१७१४–२० ई०) पेशवा वशका संस्थापक हुआ। यह बडा चतुर राजनीतिज्ञ था। उसने एक-एक करके सभी लुटेरे मराठा सरदारोका दमन किया और उन्हे वशमे कर लिया। कन्होजी आग्रे-जैसे अधिक शक्तिशाली सरदारोंको भी समझौता करके अपनी ओर मिला लिया। अपनी शक्तिका सवर्धन करनेके लिए इन अनुशासनके अनभ्यस्त निरकुश लुटेरे सरदारोको अपने नियन्त्रणमे रखना आवश्यक था, अतः साम, दाम, भय, भेदसे उन्हे वशमे करके उसने एक नवीन मराठा सघकी स्थापना की जिसका आधार चौथ और सरदेशमुखी था।

श सन-द्वारा नियत भूमिकरका दसवॉ हिस्सा सरदेशमुखी कहलाता था और वह पूरा सताराके मराठा राजाको मिलता था। चौथ भूमिकरका चौथाई होता था, उसका २५ प्रतिशत मराठा राजाको जाता था तथा अन्य ६ प्रतिशत सहोत्रके रूपमे और ३ प्रतिशत नडगुण्डके रूपमे राजाकी इच्छापर अवलम्बित था, जिसे वह चाहे उसे दे। शेष ६६ प्रतिशत जो मोकासा कहलाता था मराठा सरदारोमे बँट जाता था। प्रत्येक सरदारको

नियत प्रदेश, वह चाहे किसी भी राज्यका हो, चौथ और सरदेशमुखी वसूल करनेके लिए दे दिया जाता था। जिस प्रदेशका अधिकार जिस सरदारको दिया जाता था उसकी चौथका मोकासा उसी सरदारको प्राप्त होता था और उससे ही वह अपनी सेना और सेवकोंका संरक्षण करता था। इन करोंके बदलेमे सदैवके लिए कोई एक निश्चित रकम या भूमिप्रदेश नही लिया जाता था वरन् विभिन्न राज्यो और प्रदेशोके शासकोंसे उन्हे प्रतिवर्ष नियमित रूपसे वसूल किया जाता था। परिणामस्वरूप कोई मराठा सरदार किसी एक प्रदेशका स्वामी न हो पाता और संघ संगठित बना रहता। इन करोंको उगाहनेका आधार भी टोडरमल्ल, मलिक अम्बर आदिकी प्राचीन भूमि-व्यवस्थाको बनाया जाता था, किन्तु क्योंकि इस बीचमें कृषिकी दशा और देशकी एवं प्रत्येक शासनकी स्थिति बहुत बिगड चुकी थी, उस प्राचीन आधारपर चौथ देना सभीके लिए असह्य होता था और बहुधा बाकी पडा रहता था। मराठा सरदारोंके लिए विभिन्न राज्योंके साथ युद्ध करते रहने और उनके प्रदेशोमे लूट-मार करनेका यह सहज एवं निरन्तर बना रहनेवाला बहाना था। पेशवा बालाजी विश्वनाथने फर्रुखसियरके वजीर सैयद हुसैन अलीसे उसे अपनी सैनिक सहायता देनेके वचनके बदलेमे मुगलोंके छह दक्खिनी सूबोंकी चौथ एव सरदेशमुखी वसूल करनेका अधिकार ले लिया। उसके साथ पेशवा दिल्ली भी गया और वहाँ उसने अपनी आँखोसे बादशाहोंकी अशान्ति, अराजकता एव पतनको देखा। इस पेशवाके जीवनमे ही सताराका मराठा राजा गौण हो गया और पेशवा ही राज्यका सर्वे-सर्वा हो गया।

उसका पुत्र पेशवा बाजीराव प्रथम (१७२०–४० ई०) उससे भी अधिक महत्त्वाकांक्षी, युद्धप्रिय एवं कुशल सेनानी था। उसने उत्तर दिशामे विस्तार करनेकी नीतिको अपनाया। पन्त प्रतिनिधि श्रीपतरावने उसकी नीतिका विरोध किया और कहा कि उन्हे पहले दक्षिण भारतपर अपने राज्यको सुगठित एवं सुव्यवस्थित करना चाहिए, उत्तरकी ओर ध्यान

नही देना चाहिए। किन्तु बाजीरावने कहा, यदि हम जर्जर वृक्षके तनेपर ही सीधे प्रहार करेगे तो उसकी शाखा-प्रशाखाएँ तो आपसे आप गिर पडेगी। उसकी वक्तृताके प्रभावमे आकर महाराज साहूने भी अपनी स्वीकृति दे दी। अतएव पेशवाने मालवा और गुजरातपर अनेक आक्रमण किये। इन आक्रमणोमे मल्हरराव होल्कर, रानोजी सिन्धिया, ऊदाजी पँवार, रघुजी भोसले, पिलाजी गायकवाड आदि उसके अनुचर सरदार अनुभवी एव सिद्धहस्त हो गये। उसकी युद्ध-यात्राओ और विजयोके कारण राज्यकी विशाल सेना सुदूर प्रदेशोमे व्यस्त रहने लगी, उसके निर्वाहका कोई भार राजकोषपर नही रह गया, उलटे लूट आदिका धन ही निरन्तर राज्यमे आने लगा और मराठोकी शक्ति, प्रभाव एवं आतंक देशव्यापी होने लगा। १७२७ ई० मे महाराज साहूने पेशवाको राज्यके सर्वाधिकार सौंप दिये। पेशवाने १७२६ ई० मे श्रीरंगपट्टन तक सुदूर दक्षिणमे भी धावा किया था। निजाम उसके लिए बाधक बन रहा था। उसने कोल्हापुरके राजासे मेल करके पेशवाके चौथ वसूल करनेवाले व्यक्तिको निकाल दिया। किन्तु १७२८ ई० मे पलखेडके युद्धमे पेशवाने निजामको पराजित करके उसे कोल्हापुरका पक्ष त्यागने एवं चौथ और सरदेशमुखी नियमित रूपसे देते रहनेका वादा करनेके लिए बाध्य किया। निजामने अपनी कूटनीतिसे सेनापति त्रियम्बक दाभडेको पेशवाके विरुद्ध कर दिया किन्तु पेशवाने १७३१ ई० मे दभोईके युद्धमे सेनापतिको पराजित करके मार डाला। पेशवाके भाई चिमनाजीने मालवाके मुगल सूबेदार गिरधर बहादुरको भी पराजित करके मार डाला और उसका उत्तराधिकारी मुहम्मदखाँ बंगश भी पराजित हुआ। तदनन्तर राजा सवाई जयसिंह मालवाका सूबेदार हुआ। उसने पेशवासे समझौता कर लिया और सम्राट्से कहकर उसे मालवाका नायब सूबेदार बनवा दिया। गुजरातके सूबेदार राजा अजीतसिंहने भी पेशवाको चौथ एवं सरदेशमुखी देना स्वीकार कर लिया। इसी समयसे गुजरातमे पेशवाके प्रतिनिधिके रूपमे गायकवाडका प्रभाव बढने

लगा। बाजीराव गंगा-यमुनाके दोआबे एवं दिल्ली प्रदेशपर प्रतिवर्ष धावा करता था। स्वयं दिल्लीके आसपास भी उसने लूट-मार की। उसके विरुद्ध दिल्ली दरबारके सब प्रयत्न निष्फल रहे। १७३८ ई० मे बादशाहने निज़ाम-को सहायताके लिए बुलाया किन्तु भोपालके युद्धमें पेशवासे पराजित होकर वह भी लौट गया। साथ ही विवश होकर बादशाहकी ओरसे सम्पूर्ण मालवा प्रान्त तथा नर्मदा और चम्बलके बीचके सम्पूर्ण प्रदेशका भी पूर्ण राज्याधिकार उसने पेशवाको दे दिया। १७३३ ई० मे वीर छत्रसाल अपनी मृत्युके समय बाजीरावको अपने बुन्देलखण्ड राज्यका एक तिहाई भाग स्वेच्छासे प्रदान कर गया था। शेष भागपर उसके पुत्र उत्तराधिकारी हुए वे भी बाजीरावके मित्र एव सहायक रहे। पेशवा दिल्ली बादशाहतका अन्त करनेकी सोच ही रहा था कि नादिरशाहका आक्रमण हो गया। इस भयसे कि कहीं नादिरशाह ही यहाँ न जम जाये उसने निज़ामके साथ मेल किया और कहा कि दक्षिणके हिन्दुओ और मुसलमानोको संयुक्त शक्ति इस आततायीको देशसे निकाल बाहर करे। किन्तु उसकी सेना पुर्तगालियोसे बेसीनको छीननेमें व्यस्त थी और जब इन दोनोंने नादिरशाहके विरुद्ध रवाना होनेकी बात सोची तो वह लूट-मार करके जा भी चुका था। थोड़े समय पश्चात् ही स्वयं बाजीरावकी मृत्यु हो गयी।

इस महाराष्ट्रीय वीर योद्धाके सम्बन्धमे अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित है, मस्तानी नामक एक मुसलमान नर्तकीके साथ उसका अद्भुत प्रेम भी सुप्रसिद्ध है। कहा जाता है कि बाजीरावकी महत्त्वाकांक्षा भारतमे हिन्दू-पदपातशाहीकी स्थापना करनेकी थी। किन्तु पेशवाओने जिन अविवेकपूर्ण लूट-मार आदि साधनोका विधिरूपसे अवलम्बन किया था उनसे ऐसे उच्च आदर्शकी सिद्धि अशक्य हो थी। स्वयं दक्षिणापथको वे मुसलमान एवं अन्य विदेशी शक्तियोसे मुक्त न कर सके और न जनसाधारणको सुशासन एव शान्ति दे सके।

बाजीरावका पुत्र पेशवा बालाजी बाजीराव (१७४०–६१ ई०) अपने

पिताकी भाँति महत्त्वाकांक्षी तथा उसकी उत्तराभिमुखी नीतिका तो अनु-सर्त्ता था किन्तु उस-जैसा वीर योद्धा, कुशल सेनानायक और राजनीति-पटु न था। जयपुर, जोधपुर आदिके उत्तराधिकारके झगडोमे (१७४३-४९ ई०) हस्तक्षेप करने और फलस्वरूप उन राज्योकी लूट-खसोट करनेसे ये राजे भी मराठोसे चिढ गये और उन्हे अपना शत्रु समझने लगे। १७४९ई० मे छत्रपति साहूकी मृत्यु हो गयी। उसकी वसीयतके अनुसार ताराबाईके पोतेको सताराका राजा बनाया गया, किन्तु ताराबाईने स्वयं ही उसका विरोध किया और राजाराम राजा बनाया गया। उसने राज्यके सर्वाधिकार पेशवाको सौप दिये। अब सतारा और कोल्हापुरके राजा नाममात्रके अनुल्लेखनीय छोटे-से राजा मात्र रह गये। विस्तृत मराठा साम्राज्य एव विशाल मराठा शक्तिका एकमात्र स्वामी पेशवा ही था। १७५० ई० मे उसने पूनाको अपनी पृथक् एवं स्वतन्त्र राजधानी बनाया।

उसके मराठा सरदारोमे बरारका रघुजी भोसले ही उसका प्रबल विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी था। पेशवाने उसे भारतके पूर्वी प्रान्तोके सम्बन्धमे खुली छूट देकर सन्तुष्ट किया। अब भोसले और उसके सहायक भास्कर पण्डितने प्रति-वर्ष बंगाल, बिहार और उडोसाको रौंदना एवं लूटना शुरू कर दिया। भास्कर पण्डितको बंगालके तत्कालीन नवाब अलीवर्दीखाँने मरवा दिया, इससे भोसलेके आक्रमणोकी भीषणता और अधिक बढ गयी। अन्तत: अली-वर्दीखाँने भोसलेको उडीसाका समूचा प्रान्त देकर और बंगालकी चौथके रूपमे १२ लाख रुपये प्रतिवर्ष देनेका वचन देकर उससे अपना पिण्ड छुडाया। पेशवा निजामके उत्तराधिकारी सलाबतजंगसे उलझा किन्तु उसके फ्रान्सीसी संरक्षक बुसीने १७५१ ई०मे पेशवाको कई बार हराया। १७५५ ई०मे पेशवाने सरदार आंग्रे और उसकी जहाजी शक्तिको नष्ट करनेकी भारी भूल की। १७५८ ई० मे बुसीके हैदराबादसे हटते ही पेशवाने निजाम राज्य-का अन्त करनेपर कमर कसी, अहमदनगरपर उसने अधिकार कर लिया और निज़ामके कुशल तोपची इब्राहीमगर्दीको अपनी ओर मिला लिया।

पेशवाके भाई सदाशिवराव भाऊने उद्गिरके युद्धमे निज़ामको बुरी तरह पराजित करके उसे अपने दौलताबाद, असीरगढ, बीजापुर, अहमदनगर और बुरहानपुरके सुप्रसिद्ध दुर्ग तथा ६० लाख रुपये वार्षिक आयका प्रदेश पेशवाको सौंप देनेके लिए बाध्य कर दिया। उधर उत्तरमे इस बीचमे पेशवाके भाई राघोबाने अपने १७५४–५६ई० के आक्रमणमे राजपूतानेके जयपुर, उदयपुर, कोटा, बूँदी आदि विभिन्न राज्योमे लूट-मार करके चौथ वसूल की और स्वयं दिल्ली जाकर बादशाह अहमदशाहको गद्दीसे उतारकर-आलमगीर द्वितीयको बादशाह बनानेमे वजीर इमादुलमुल्ककी सहायता की। यह वज़ीर मराठोके पूर्णतया अधीन था। गंगाके दोआबेमे भी उसने उन्हे प्रदेश दे दिये। सूरजमल जाटके राज्यमे भी उन्होने लूट-मार की और फिर दक्षिणको लौट गये। १७५६–५७ ई० मे अहमदशाह अब्दाली दिल्ली आया और उसने बादशाहसे पंजाब और मुल्तानके सूबे प्राप्त कर लिये। किन्तु उसकी पीठ फिरते ही राघोबाने १७५७–५८ ई० में फिर उत्तर भारतपर आक्रमण किया और इस बार पंजाब तक धावा किया तथा वहाँसे अब्दालीके प्रतिनिधिको भगाकर अपनी ओरसे अदीनाबेगखाँको शासक नियुक्त कर दिया। अब मराठोकी शक्ति अपने चरम शिखरपर पहुँच गयी थी। चम्बलसे गोदावरी और अरब सागरसे बंगालकी खाडी पर्यन्त उनका साम्राज्य फैल गया था और प्राय: सारे भारतसे वे चौथ वसूल करते थे। राजपूत, जाट, रुहेले, दिल्ली दरबार और निजाम सभी उनका लोहा मानते थे, सर्वत्र उनका आतंक था।

इसी समय दक्खिनमे पेशवाका निज़ामके साथ युद्ध छिड गया था जिसका समाचार पाकर राघोबा उत्तरमे दत्ताजी सिन्धिया एवं मल्हरराव होल्कर नामक अपने सरदारोको छोडकर दक्षिण चला गया था। अब्दाली मराठोके पंजाबपर किये गये आक्रमण और अधिकारको तथा दिल्ली दरबारपर उनके बढते हुए प्रभावको सहन नही कर सकता था। अवधके नवाब और रुहेलोने भी जो मराठोसे परेशान थे भारतमे इस्लाम और

मुसलमानोंकी रक्षा करनेके लिए उसे साग्रह आमन्त्रित किया। अतएव अब्दालीने एक विशाल सेनाके साथ फिर आक्रमण किया। १७५९ ई० मे ही उसने पंजाबपर पुनः अधिकार कर लिया, १७६०ई० के प्रारम्भमे ही उसने दत्ताजी सिन्धियाको पराजित करके मार डाला, राजधानी दिल्लीमे प्रवेश किया और होल्करको मार भगाया। तदनन्तर वह अलीगढमे डेरा डालकर मराठोंके आगमनकी प्रतीक्षा करने लगा। अवधका नवाब शुजा-उद्दौला और रुहेला सरदार नजीबुद्दौला ससैन्य उससे आ मिले। मराठे दक्षिणमे निज़ामके साथ ही उलझे हुए थे। उत्तरके ये समाचार पाते ही पेशवाके भाई सदाशिवराव भाऊ और पुत्र विश्वासरावकी अध्यक्षतामे विशाल मराठा सेना अब्दालीका सामना करनेके लिए चल पडी। इब्राहीम-गर्दीका प्रसिद्ध तोपखाना भी उनके साथ था। उन्होने आते ही दिल्लीपर अधिकार कर लिया और अब्दालीके रसदके आधार कुंजरपुरपर भी कब्जा कर लिया और फिर पानीपतके मैदानमे आ डटे। मल्हरराव होल्कर, महादाजी सिन्धिया आदि मराठा सरदारोंके अतिरिक्त सूरजमल जाट भी उनसे आ मिला। १७६० ई० के नवम्बरमे ही दोनो सेनाएँ पानीपतमे आ डटी थी, छुट-पुट हमले चलते रहे, किन्तु मराठा सेनाकी रसद समाप्त हो चली थी और सैनिकोंके अतिरिक्त घोडे, बैल आदि पशु भी भूखे मरने लगे। १४ जनवरी १७६१ ई० के प्रातःकालसे पानी-पतका यह तीसरा भीषण युद्ध प्रारम्भ हुआ और तीसरे पहर तक समाप्त भी हो गया।

इस युद्धमे मराठे पूर्णतया पराजित हुए। स्वयं भाऊ और विश्वास-राव युद्धमें मारे गये, उनके २७ अन्य सरदार भी काम आये, मृत और आहत सैनिकोंकी कोई गिनती न थी। मराठोंकी ४५००० सेना एवं अनगिनत अनियमित सिपाहियो, नौकरो-चाकरो आदिमे बहुत थोड़े ही बचकर अपने-अपने घर पहुँच पाये। अब्दालीकी ६०००० सेनाका भी पर्याप्त अंश युद्धमे काम आया। रुहेले उसकी ओरसे वीरताके साथ लड़े थे

किन्तु चतुर शुजाउद्दौलाने अपनी या अपनी सेनाकी कोई क्षति न होने दी और विजयका आंशिक श्रेय लेकर वह अपने राज्यको लौट गया। अब्दाली-ने नजीबुद्दौला रुहेलेको दिल्लीका वजीर बना दिया, फलस्वरूप बादशाह तथा उसके दरबारपर कुछ समयके लिए रुहेलोंकी अमलदारी स्थापित हो गयी। पेशवाके सहायकोंमें-से होल्कर तो भाऊकी नीतिसे मतभेद होनेके कारण पहले ही खिसक गया था, सिन्धियाने भी अपनी और अपनी सेना-की विशेष क्षति न होने दी और बचकर भाग निकला। नाना फडनवीस भी बच निकला। सूरजमल जाट भी युद्धमें मात्र दर्शक ही बना रहा और युद्धका पासा पलटता देख अपने राज्यकी ओर चल दिया। राजपूतोंको मराठोंने पहले ही अपना शत्रु बना लिया था, अतएव युद्धकालमें वे अपनी राजधानियोंमें ही बैठे रहे। इस युद्धके परिणामस्वरूप महाराष्ट्रका कोई घर ऐसा न था जिसमें अपने किसी-न-किसी आत्मीयकी मृत्युके लिए शोक न मनाया गया हो। स्वयं क्षय रोगसे ग्रस्त पेशवा, जो भाऊ आदि-की सहायताके लिए उत्तरकी ओर चल पड़ा था, इस दुःखद समाचारको पाते ही सदमेसे मर गया। इस पराजयने पेशवाओंके तथाकथित हिन्दू-पदपातशाही अथवा सम्पूर्ण भारतीय साम्राज्यके स्वप्नको सदाके लिए भंग कर दिया।

देखनेमें यह हिन्दू और मुसलमान शक्तियोंके बीच भारतके साम्राज्यके लिए लड़ा जानेवाला अन्तिम एवं निर्णायक युद्ध था, किन्तु मुसलमानोंको भी इससे विशेष लाभ नहीं हुआ। अपने सैनिकोंके विद्रोहके कारण अब्दा-लीको स्वदेश लौट जाना पड़ा और वह फिर कभी यहाँ नहीं आया। स्वयं भारतके हिन्दू एवं मुसलमान दोनोंकी ही राज्य-शक्तियाँ इस युद्धके कारण और भी अधिक निर्बल हो गयीं, मराठा शक्ति विशेषकर पेशवाके प्रताप और प्रतिष्ठाका तो थोड़े समयके लिए सर्वथा अन्त हो गया। और इस सबका लाभ अँगरेज़ोंने पूरी तरह उठाया।

बालाजी बाजीरावके पुत्र और उत्तराधिकारी पेशवा माधवराव

प्रथम (१७६१–७२ ई०) ने अपने चाचा राघोबाकी संरक्षकता मे १७ वर्षकी आयुमे राज्यारम्भ किया। १७६२ ई० मे हैदराबादके निजाम-अलीने पानीपतमे मराठोकी पराजयसे उत्साहित होकर पूनापर आक्रमण कर दिया, किन्तु वह पराजित हुआ। यद्यपि राघोबाके कपटसे सन्धिकी शर्ते उसके अनुकूल ही रही क्योकि राघोबा स्वयं राज्य हस्तगत करना चाहता था और निजाम उसका सहायक था। किन्तु पेशवा बुद्धिमान् और वीर था, उसने चाचाकी चाल न चलने दी, अतएव निजामने फिर आक्रमण किया किन्तु स्वय पेशवाने उसे बुरी तरह पराजित किया। इस विजयसे पेशवाका यश बहुत बढ गया। नाना फडनवीस और महादाजी सिन्धिया-जैसे सुयोग्य एवं विचक्षण राजनीतिज्ञोको उसने अपने मन्त्री और सहायक बनाये थे। पानीपतकी पराजयके आघातसे राज्यकी स्थितिका पुनरुद्धार करनेका इस पेशवाने सफल प्रयत्न किया। उसने हैदरअलीको भी तीन बार पराजित करके उसकी शक्तिका प्रतिरोध लिया और १७७२ ई० मे उत्तरमे भी महादाजी सिन्धियाकी अध्यक्षतामे अपनी सेना भेजी जिसने मालवा और बुन्देलखण्डपर पुनः अधिकार कर लिया तथा रुहेलो, जाटों और राजपूतोका दमन करके उनसे चौथ वसूल की। मराठोने दिल्लीपर भी अधिकार कर लिया तथा बादशाह शाहआलमको इलाहाबादसे लाकर दिल्लीके तख्तपर अपने संरक्षणमे बैठाया। इस प्रकार दस वर्षके भीतर ही मराठोने उत्तर भारतपर अपना प्रभाव पुनः स्थापित कर लिया।

किन्तु १७७२ ई० मे ही माधवरावकी मृत्यु हो गयी और उसके उत्तराधिकारके लिए गृह-कलह आरम्भ हो गयी। उसका भाई नारायणराव पेशवा हुआ किन्तु नौ मास बाद ही उसका वध करके दुष्ट राघोबा (रघुनाथ-राव) स्वय पेशवा बना। नाना फडनवीस आदि सरदार उस हत्यारेके विरोधी थे और उन्होने नारायणरावके उसकी मृत्युके उपरान्त उत्पन्न होने-वाले नवजात पुत्रका पक्ष लिया। राघोबाने अँगरेज़ोसे सहायता माँगी और १७७५ई०मे सूरतकी सन्धि-द्वारा सहायताके बदलेमे उन्हे सालसट और

वेमीनके टापू देनेका वचन दिया। इस प्रकार मराठोंकी स्वयंकी मूर्खता और स्वार्थान्धताके कारण अँगरेजोंका मराठा राजनीतिमें सर्वप्रथम हस्तक्षेप हुआ। धूर्त अँगरेजोंने अपने ही बम्बईके गवर्नर-द्वारा की गयी सूरतकी सन्धिके विरोधमें गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्सके रूपमें विरोधी पक्षके नाना फडनवीसके साथ १७७६ई० में पुरन्दरकी सन्धि कर ली और बहाना बनाकर युद्ध छेड दिया। नाना फडनवीसकी सेनाने बम्बईके अँगरेजोंको बुरी तरह पराजित करके उनके लिए हानिकारक और अपमान-जनक सन्धि करनेपर उन्हें बाध्य कर दिया। १७७९ ई० की वडगाँवकी इस सन्धिको हेस्टिंग्सने अस्वीकार कर दिया और फिर युद्ध छेड दिया। मराठा सरदारोंमें इस समय सर्वाधिक शक्तिशाली सिन्धिया ही था, उसे अँगरेजोंने फोड दिया। १७८२ ई०में सालबाईकी सन्धिके अनुसार अँगरेजोंने सालसट और वेसीन स्वयं लिये, सिन्धियाको ग्वालियरका राजा स्वीकार कर लिया और राघोबाको पेन्शन दिलवा कर पदच्युत करा दिया। इस सन्धिसे मराठा राजनीतिमें भी अँगरेजोंका प्रभुत्व स्थापित हो गया।

पेशवा माधवराव नारायण (१७८२–९५ ई०) के समयमें नाना फडनवीस राज्य मन्त्री और सर्वेसर्वा था तथा महादाजी सिन्धिया उसका सहायक और समर्थक था। मराठे अब अँगरेजोंके मित्र थे, मैसूरके युद्धोंमें उन्होंने अँगरेजोंका साथ दिया और टीपूके राज्यकी लूटमें हिस्सा बँटाया। १७९५ ई०में उन्होंने खर्दाके युद्धमें निजामको हराकर उससे चौथ, हरजाना और दौलताबादका दुर्ग छीन लिया, किन्तु उसी वर्ष पेशवाकी मृत्यु हो गयी। वह निस्सन्तान था। राघोबाके पुत्र बाजीराव द्वितीयने गद्दीपर अधिकार करना चाहा। नाना फडनवीस उसका विरोधी था तथापि वही पेशवा बना। १८०० ई० में नाना फडनवीस भी मर गया। अब होलकर और सिन्धिया दोनोंने ही पूना दरबारमें अपना प्रभुत्व जमाना चाहा। होल्करने पेशवा और सिन्धियाको पराजित कर दिया। पेशवा भागकर अँगरेजोंकी शरणमें चला गया और १८०२ ई०में अँगरेजोंकी सहायक-

सन्धिकी सब शर्तें मानकर वह उनके अधीन हो गया। इस सन्धिको सिन्धिया, होल्कर, भोसले आदि सभी मराठा सरदारोंने जो अब प्राय: पूनाके प्रभुत्वसे स्वतन्त्र हो गये थे, बडा अपमानजनक माना और अँगरेजोंके साथ युद्ध छेड दिया।

अबतक अँगरेजोंकी शक्ति पर्याप्त बढ चुकी थी, १८०३-०५ ई० के मराठा सरदारोंके साथ किये गये इन युद्धोंमे अँगरेजोंको ही विजय हुई और उन्होंने पेशवाके साथ-ही-साथ सिन्धिया, होल्कर, गायकवाड और भोसलेको भी सहायक सन्धियोंके जालमे जकडकर अपने अधीन कर लिया। बाजीराव द्वितीय अपने पिताकी ही भाँति मूर्ख एवं दुष्ट प्रकृतिका व्यक्ति था। वह पूना-मात्रका ही राजा रह गया था किन्तु अपने पूर्वजोंकी भाँति पूरे मराठा सघका अध्यक्ष बनना चाहता था जो अब असम्भव था। उसका मन्त्री त्र्यम्बकजी भी बड़ा धूर्त और दुष्ट था। इन दोनोंने षड्यन्त्र करके गायकवाडके धर्मात्मा विद्वान् एवं सुयोग्य ब्राह्मणमन्त्री गगाधर-शास्त्रीका वध करवा दिया, जिससे समस्त मराठा-ससारमे सनसनी फैल गयी। अँगरेजोंने भी हस्तक्षेप किया और अपराधी त्र्यम्बकको पकडनेका विफल प्रयत्न किया। १८१७ ई० मे एक सन्धिके द्वारा उन्होंने पेशवाको कुछ और इलाका दे देनेके लिए तथा मराठोंका मुखिया बननेके अधिकारका त्याग कर देनेके लिए बाध्य कर दिया। पेशवाने इस सन्धिको तोडा फल-स्वरूप १८१८ ई० मे अँगरेजोंके साथ युद्ध छिड गया, अन्य मराठे राजे भी उसमे उलझ गये और पराजित होकर सभीने अँगरेजोंको प्रदेश एवं धन और अधिकार देकर और उनकी पूर्ण अधीनता स्वीकार करके पिण्ड छुडाया। पेशवाका तो राज्य, पद, अधिकार सब छीन लिया गया और उसे पेन्शन देकर कानपुरके निकट बिठूरमे रहनेके लिए भेज दिया गया जहाँ शतरंज खेलकर उसने जीवनके शेष दिन बिताये। १८५१ ई० मे उसकी मृत्यु हो जानेपर उसके दत्तक पुत्र नाना साहिब धुन्धुपन्तकी पेन्शन भी बन्द कर दी गयी।

मराठा राज्य—शिवाजीके वंशजोंने परस्पर झगड़कर उसकी मृत्युके तीस वर्षके भीतर ही सतारा और कोल्हापुरके दो राज्य स्थापित कर लिये थे। सतारा राज्यके आश्रयसे ही पेशवाओंका अभ्युदय हुआ था। वे मराठे नहीं थे, दक्षिणी ब्राह्मण थे किन्तु उन्होंने सम्पूर्ण मराठा-शक्ति और समस्त मराठा सरदारोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करके अपनी शक्तिका अद्भुत विकास किया था। कोल्हापुर राज्य तो प्रारम्भसे ही नाममात्रका छोटा-सा राज्य था, सतारा भी १७४९ ई० में साहूकी मृत्युके उपरान्त उसी स्थितिको प्राप्त हो गया और पेशवाओंकी भी उसमें कोई दिलचस्पी न रही। पेशवा बाजीराव प्रथम ही पेशवा शक्तिका वास्तविक निर्माता था और उस शक्तिको उसने अपने स्वयंके बनाये और उठाये हुए पिलाजी गायकवाड़, रघुजी भोसले, उदाजी पँवार, रानोजी सिन्धिया, मल्हरराव होल्कर आदि सरदारोंके बलपर एवं उन्हींके द्वारा विकसित एवं विस्तारित किया था। उसके अनेक युद्धोंमें भाग लेकर ये सरदार धन, शक्ति, सेना, प्रदेश और अनुभवमें पर्याप्त उन्नति कर गये थे। उसके उत्तराधिकारी बालाजी बाजीरावके समयमें तो उनकी शक्ति इतनी बढ़ गयी थी कि पेशवा उन्हें रुष्ट करनेका साहस न कर सकता था। उसी कालमें उन्होंने भारतके विभिन्न भागोंमें अपने स्थायी केन्द्र भी जमा लिये थे, यथा गायकवाड़ने बड़ौदा (गुजरात) में, सिन्धियाने ग्वालियरमें, होल्करने इन्दौरमें, भोसलेने नागपुरमें, इत्यादि।

१७६१ ई० के पानीपतके युद्धके उपरान्त इन सरदारोंने पूना और पेशवाकी राजनीति एवं हितोंकी उपेक्षा करके अपने-अपने राज्योंकी शक्ति-विस्तार एवं सुरक्षाकी ही ओर ध्यान दिया। किन्तु ये खुले रूपसे अपनी स्वतन्त्रता घोषित भी न कर पाये थे कि १७७५-८२ ई० के प्रथम अँगरेज-मराठा युद्धमें ही अँगरेज शक्तिके ये सम्पर्कमें आये और उसका लोहा मानने लगे तथा उसके द्वारा अपने राज्याधिकारको स्वीकृत कराना आवश्यक समझने लगे। उस युद्धके उपरान्त उन सबने अपने-आपको

पेशवाके आधिपत्यसे मुक्त, स्वतन्त्र राजा घोषित करना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु बीस वर्षके भीतर ही दूसरे अँगरेज़-मराठा युद्ध (१८०३–०५ ई०) के फलस्वरूप उन सभी मराठा राजाओने स्वयंको अँगरेजोंकी सहायक-सन्धि योजनामे जकडवाकर उनकी अधीनता स्वीकार कर ली और १८१८ ई० के तीसरे युद्धके उपरान्त तो वे अँगरेजोंके पूर्णतया अधीन और आश्रित हो गये, उनकी ही कृपापर अवलम्बित हो गये और अँगरेज उनके आन्तरिक मामलो, उत्तराधिकारके प्रश्न, शासन-प्रबन्ध आदिमे भी खुला हस्तक्षेप करने लगे। उनमे-से जिसका जब चाहा अँगरेजोने अन्त कर दिया, जो बच रहे वे वर्तमानकाल पर्यन्त चलते रहे। मराठो और दक्षिणी ब्राह्मणोके कुछ अन्य भी छोटे-छोटे राज्य थे। उनकी भी वही गति हुई। उपरोक्त राज्योके कतिपय प्रारम्भिक नरेश यथा मल्हरराव होल्कर, अहल्याबाई, महादाजी सिन्धिया आदि अत्यन्त चतुर, सुयोग्य एवं पराक्रमी थे और अपने कार्य-कलापोके लिए इतिहास-प्रसिद्ध है किन्तु उसके प्राय: सभीके और प्रायः सभी उत्तराधिकारी निकम्मे और अयोग्य ही रहे।

धर्म और संस्कृति—इस डेढ-सौ वर्पके ऐतिहासिक अन्धयुगमे धर्म और सस्कृति-जैसे प्रकाश-पुंजोकी बात उठाना ही व्यर्थ है। उस कालकी घोर अराजकता, अशान्ति, मार-काट, लूट-खसोट, ईर्ष्या-द्वेष, वैर-विरोध एव सर्वव्यापी घोर नैतिक पतनके बीच जहाँ छोटे-बडे किसीकी भी प्रतिष्ठा, प्राण और धनकी सुरक्षा नही थी, धर्म और संस्कृतिकी ओर ध्यान देनेका किसे अवकाश था। उस कालके राजे, रईस, नवाब, अमीर, सामन्त और सरदार अधिकतर या तो निर्मम लुटेरे एवं क्रूर अत्याचारी थे अथवा कायर आलसी, विलासी और दुराचारी थे। किसीको भी अपनी किसी प्रकारकी स्थितिके स्थायित्वका कोई विश्वास और भरोसा न था। अतः या तो वे नितान्त अविवेकी हो स्वार्थसाधनमे रत हो जाते या फिर निर्द्वन्द्व हो विषय-भोगोमे डूब जाते। इस कालमे किसी भी धर्म, जाति, वर्ग या प्रदेशमे किसी भी तेजस्वी महात्मा, सन्त, महान् समाज-सुधारक या

निस्पृह जननेताके उत्पन्न होनेका पता नही चलता। देशवासियोकी समस्त उच्च एवं शुभ या सत् प्रवृत्तियाँ लुंठित कुंठित हुई पडी थी। राष्ट्रका जीवन सत्त्वविहीन था। इस कालकी राजनीति भी बहुत ओछी, क्षुद्र एवं दुर्गन्धित थी। और इस कालमे सिवाय इस डेढ-सौ वर्षके कालमे उस बीचमें होनेवाले असख्य छोटे-बडे नरेशोमे बुन्देलखण्डके छत्रसाल, जयपुरके सवाई जयसिंह, मैसूरके टीपू सुल्तान, मैसूरकी रानी रम्भा, झाँसीके राजा गंगाधरराव आदि इने-गिने अपवादोको छोडकर विद्यारसिक तथा साहित्य एवं विद्वानोको प्रश्रय एवं प्रोत्साहन देनेवाले नरेशोका प्राय. अभाव ही है। पेशवाओके सम्पूर्ण इतिहासमे पं० गंगाधर शास्त्री-जैसे धार्मिक विद्वान् एकाध ही और मिले तो मिलें। शासनकी भाषा होनेके कारण मराठी गद्यका उनके समय कुछ विकास अवश्य हुआ।

इस कालमे महाकवि देव, बिहारी, सेनापति, पद्माकर, तोष, दूलह, बेनी, ग्वाल आदि हिन्दी भाषाके पचासो कवि हुए। इन्होने हिन्दीके व्रजभाषा रूपका अभूतपूर्व विकास भी किया किन्तु इन कवियोमे किसी प्रकारका भी नैतिक आदर्श नही था न उनमे राष्ट्र या जातिको सन्देश देनेकी कोई भावना थी। संस्कृत भाषाकी प्रचलित रीतियोका आश्रय लेकर उन्होने अष्टयाम, नखशिख, ऋतुवर्णन, नायिका-भेद आदि विषयोपर विभिन्न छन्दोमे और आलंकारिक भाषामे अश्लील, शृंगारपूरित कविताएँ रच-रचकर अपने आश्रयदाता तत्कालीन आलसी-विलासी राजा-रईसो और उनके दरबारियोका मनोरंजन किया और उनकी कामुकता एव विलासप्रियताको अधिकाधिक उत्तेजित किया। अपने आश्रयदाताओके देशके नैतिक पतनमें ये हिन्दी कवि बाधक होनेके बजाय पर्याप्त साधक ही हुए। अपनी रसीली विषैली कविताओके आश्रयसे इन्होने कृष्ण-जैसे महापुरुषके चरित्रको भी मलिन एवं दूषित बना दिया। गुरु गोविन्दसिंह, भूषण, सूदन-जैसे वीर रसके इने-गिने कवि अपवाद थे।

इसी प्रकार, यद्यपि इस कालमे बादशाह मुहम्मदशाह और उसके

कुछ वंशजो तथा अन्य मुसलमान नवाबोके प्रयत्न, प्रश्रय और प्रोत्साहनसे उर्दूभाषा और उर्दूशायरीकी अभूतपूर्व उन्नति हुई और नजीर, नसीर, मीर, सौदा, हाली, जौक, दाग, गालिब आदि अनेक उच्चकोटिके शायर हुए, तथापि उर्दूके इन शायरोने भी इश्क हकीकीके बहाने इश्क मजाजीके कामोत्तेजक गीत गा-गाकर अपने आश्रयदाता नवाबो, अमीरो, रईसो और उनके दरबारियोको विलासिता, काहिली और विषय-भोगोमे अधिकाधिक गर्क होनेमे ही सहायता दी। यदि कुछ और किया तो यह कि उन्हे निराशावादी बना दिया। कोई नैतिकता या सत् सन्देश इस उर्दूशायरीमे भी न था। दिल्ली और लखनऊ उर्दूशायरीके प्रधान केन्द्र बन गये थे। तत्कालीन हिन्दी एव उर्दू साहित्यके आधुनिक प्रशसक भले ही उनमे गूढ अर्थ, ईश्वरीय प्रेम, अन्य अतिशय ऊँचे-ऊँचे भाव एव आदर्श खोज निकाले, किन्तु जिस कालमे और जिन लोगोके लिए वे कविताएँ—शेर या गीत, गजले लिखी गयी थी और जो उन्हे पढते या सुनते थे उनपर तो इस साहित्यका कोई सत्प्रभाव पडा दृष्टिगोचर होता नही, प्रत्युत देश और जातिके नैतिक पतनमे ही वह भी साधक ही हुआ प्रतीत होता है।

धार्मिक, तात्त्विक, राष्ट्रीय या किसी भी प्रकारके वैज्ञानिक साहित्यका उस कालमे प्रायः कोई सृजन हुआ ज्ञात नही होता। आमोद-प्रमोदमे मग्न और शराब, अफीम एवं कामिनियोके शरीरभोगमे सर्वप्रकारके गम-गलत करनेवाले इन राजे, रईस और नवाबोने संगीत और नृत्य आदिको भी अपनी ऐशका साधन बनाया, अत. प्रोत्साहन दिया। किन्तु इन महान् कलाओको भी नीच उद्देश्योका इस प्रकार साधन बनाकर विकृत एवं पतित कर दिया और उनका विकास एवं उन्नति करनेके बजाय उनक रूप एवं मूल्यको अत्यन्त गिरा दिया। विविध कुव्यसनोका जिस देश और समाजमे बोलबाला था वहाँ सत्साहित्य और कलाओको क्या प्रोत्साहन मिल सकता था। चित्र एवं मूर्त्तिकलाकी भी प्राय यही दशा थी, इस कालमे उनकी साधना, विकास या किसी उल्लेखनीय कृतिका निर्माण नही

हुआ प्रतीत होता। इन राजाओ और नवाबोने स्थापत्य एवं शिल्पकलाका भी कोई विशेष विकास या किसी महत्त्वपूर्ण कृतिका निर्माण नही किया। हिन्दू, जैन, मुसलमान आदि किसीका भी कोई महत्त्वपूर्ण धर्मायतन-मन्दिर, मस्जिद आदि तो इस कालमें प्राय. बना ही नही, स्वयं अपने लिए भी किसी उल्लेखनीय नगर, दुर्ग, राजप्रासाद आदिका निर्माण भी उन्होने प्राय नही किया। जयसिंहकी वेधशालाएँ, अहल्याबाईके मन्दिर, अमृतसरमे सिक्खोका स्वर्णमन्दिर, लखनऊके नवाबो-द्वारा निर्मित उनके दो-एक इमामबाडे या कतिपय विलास-भवन एवं उद्यान, पेशवाओ-द्वारा कुछ तीर्थोपर बनाये गये कोई-कोई हिन्दू मन्दिर ऐसे ही सम्भवतया दो-एक अन्य उदाहरण अपवाद कहे जा सकते है, किन्तु वे भी कोई विशेष उल्लेखनीय कलाकृतियाँ हों ऐसी बात नही है।

नहरे, बाँध, सडके आदि बनानेका तो कोई प्रश्न ही नही था, जो थी वे भी नष्ट-भ्रष्ट होती गयी। कृषिकी दशा शोचनीय थी और उद्योग-धन्धे एवं व्यापार द्रुतवेगसे नष्ट होते जा रहे थे। भारतवर्षके प्रायः सभी विभिन्न प्रदेशोमे स्थित हिन्दू, जैन आदि तीर्थक्षेत्र देशके विभिन्न भागोमे बसी जनताके यातायात, आदान-प्रदान एवं एकसूत्रताके महत्त्वपूर्ण साधन रहते आये थे, किन्तु इस अशान्ति एवं अराजकताके युगमे जब घरके भीतर ही सुरक्षा निश्चित न थी तो सर्वत्र नाना प्रकारके चोर, डाकुओ, लुटेरोसे व्याप्त मार्गोसे होकर सुदूर तीर्थोकी यात्रा करनेका कोई साहस ही न कर सकता था। अत इस कालमे ये तीर्थ-यात्राएँ प्रायः बन्द हो रही जिसके कारण निर्जन स्थानोमे स्थित तीर्थो एव उनके कलापूर्ण स्मारकोकी दशा भी बिगडती चली गयी। हिन्दू, जैन आदिकोके मेले, त्योहार आदि भी प्राय बन्द-से हो गये। प्रथम तो जनताके हृदयमे उनके लिए उत्साह ही न था, दूसरे उन्हे निश्चिन्ततापूर्वक मनानेकी सम्भावना भी न रह गयी थी।

सास्कृतिक केन्द्र और शिक्षासंस्थान भी अवनत एव समाप्त होते चले

गये। सार्वजनिक शिक्षाकी कोई व्यवस्था ही नही रह गयी। प्रत्येक समाज और वर्गमे घोर रूढिवादिता, संकीर्णता एवं अनेक अन्धविश्वास और कुरीतियाँ घर कर गयी थी। धर्मने परम्परागत नामो, प्रथाओ और कतिपय बाह्य आचारो-मात्रका रूप ले लिया था। तेजस्वी धर्माचार्यो, सन्तो, सुधारको एवं विद्वानोके अभावमे प्राण एवं धनकी रक्षामे ही सदैव चिन्ताकुल जनसाधारणका धार्मिक जीवन सडने लगा था। क्या इस्लाम, क्या शैव, क्या वैष्णव, क्या जैन और क्या सिक्ख अथवा अन्य कोई भी धर्म, सबकी प्राय· एक-सी दशा थी। सभी धर्मोमे घोर विकार, अनेक पन्थ-उपपन्थ, जो स्वयं परस्पर एक-दूसरेसे वैमनस्य रखते थे, तथा एक प्रकारकी शिथिलता उत्पन्न हो गयी थी। थोडे ही मुसलमान होगे इस्लाम-के सिद्धान्तोको भली प्रकार जानते हो, उसके नियमोका ईमानदारीके साथ पालन करते हो और अपने धर्मके विरुद्ध कार्योको न करते हो या कुफ्र् कही जानेवाली प्रवृत्तियोमे रत न रहते हो। हिन्दुओके साथ अपना विरोध बनाये रखनेके लिए ही अथवा अपनी राजनैतिक शक्ति बनाये रखनेके लिए ही वे मुसलमान थे। जब हिन्दुओ या जैनो आदिकी सहायता और सहयोगकी आवश्यकता होती तब वे उनके धर्मके प्रति अत्यन्त सहिष्णु एवं उदार हो जाते, जब विरोध होता तो बडेसे बडा अत्याचार करनेमे न चूकते। परिस्थितियोने सन्त गुरु नानकके सीधे सरल धर्मको एक सैनिक संगठनका रूप दे दिया जिसकी राज्य और शक्तिलिप्सामे वह धर्म कमसे कम उस कालमे तो डूब ही गया था।

जन-साधारण हिन्दू, राम और कृष्णके रूपमे विष्णुके तथा शिव, गणेश, हनुमान्, दुर्गाके मुख्यतया और सामान्यतया तैतीस करोड देवी-देवताओके उपासक हो गये और उनके लिए शैव, शाक्त, वैष्णव आदिका बहुधा कोई भेद नही था, किन्तु प्रान्त, प्रदेशो, जातियो और वर्गोंकी दृष्टिसे कही शैव मतका, कही शाक्तका, कही रामभक्तिका, कही कृष्ण-भक्तिका, कही लिंगायत आदि अन्य किसी सम्प्रदायका विशेष पक्ष था

और कई वार शैव तथा वैष्णव अथवा रामभक्त और कृष्णभक्त परस्पर घोर वैमनस्य और कलहमे लीन हो जाते थे। राजपूत प्रधानत शैव और शाक्त थे, महादेव और भवानीके उपासक थे किन्तु अब कृष्ण और रामको भी पूजने लगे थे। बगालमे शैव, शाक्त एव वैष्णव तीनो सम्प्रदाय अत्यन्त पृथक्-पृथक् स्पष्ट थे। उन्होने और मुसलमानोने मिलकर पूर्वी प्रान्तोमे बौद्ध और जैनधर्मका भी प्राय. अन्त कर दिया था। दक्षिणमे ब्राह्मण शैव और मराठे शाक्त थे। पढरपुरके विठोवाके रूपमे वे कृष्णके भी उपासक थे। कहा जाता है कि यह मन्दिर पूर्वकालमे जैन था और मूर्ति तीर्थंकर नेमिनाथकी थी जिसे परिवर्तित करके वैष्णव बना लिया गया था। १७वी-१९वी शताब्दियोमे महाराष्ट्र देशमे अनेक जैन-मन्दिरोका इसी प्रकार परिवर्तन किया गया प्रतीत होता है।

बाहरसे मुसलमानो और भीतरसे शैव, वैष्णव एवं लिगायतोके अत्याचारोके कारण उस प्रदेशमे और उस कालमे जैनो अल्प संख्यामे और वह भी छोटी जातियो एवं निम्न वर्गोमे ही रह गये थे। प्रमुख नगरोमे कही-कही व्यापारियो और सेठोके रूपमे ही वे कुछ प्रभावशाली थे। किन्तु पेशवाओके पूनामें उनके द्वारा नगरके भीतर अपने मन्दिरोंको बनानेपर कडा प्रतिबन्ध लगा हुआ था। बाम्बे गजेटियर (जिल्द १८ भाग ३ पृ० ३४०) के अनुसार सन् १७५० ई० के लगभग जैन-गुरुओने तत्कालीन शंकराचार्यसे सिफारिश करवायी कि पेशवा पूनामे जैनोको अपना मन्दिर बनानेकी आज्ञा दे दे। शकराचार्यने सम्भवतया जैनोसे कुछ धन लेकर पेशवासे आज्ञा दिलवा दी, किन्तु फिर भी यह शर्त लगा दी गयी कि जैनी अपना मन्दिर नगरके एक ऐसे कोनेमे बना सकेगे जो ब्राह्मणोकी बस्तीसे दूर हो, मन्दिरोपर शिखर और कलश न चढ़ाये जा सकेंगे क्योकि उन्हे देखनेसे कट्टर हिन्दुओकी पवित्रता दूषित होनेकी सम्भावना थी, उन्हे अपने मन्दिरके मजबूत कपाट भी सदैव बन्द रखने होगे और उनके आरती-पूजनके वाद्योका शब्द भी किसी ब्राह्मणके कानमे

नही पडना चाहिए। इसके विपरीत मैसूरके हैदरअली और उसके बेटे टीपूने अपने राज्यके जैन-गुरुओ और जैन-तीर्थोको दान दिये और उनके श्रवणबेलगोल-जैसे तीर्थोका संरक्षण किया। स्वयं औरगजेबके मुहम्मदशाह आदि वंशजोने जैनोके आग्रहपर जब-तब जीवहिसा प्रतिबन्धक फरमान जारी किये, और खीमसी भंडारी, राव कृपारामशाह, लाला हरसुखराय, राजा सुगनचन्द आदिको अपना खजाची बनाया तथा अपनी दिल्ली, आगरा आदि राजधानियोमे भी जैनोकी धार्मिक स्वतन्त्रतामे विशेप बाधा नही दी। बंगालकी नवाबीमे मुर्शिदाबादका जैनधर्मानुयायी जगतसेठ और उसका घराना अत्यन्त प्रतिष्ठित था। धनकुबेर जगतसेठ उस राज्यका स्तम्भ था और अँगरेज भी उसका आदर करनेपर विवश थे। व्यापारियो-के रूपमे जो थोडे-बहुत जैनी बंगाल, बिहार, उडीसा, आसाम आदिमे थे उनकी दशा अन्य हिन्दुओसे भिन्न नही थी। यही दशा पंजाब, सिन्ध आदिमे थी। शेष उत्तर भारत—दिल्ली-आगरा प्रदेश, मध्यभारतके मराठा राज्य, राजस्थान, गुजरात आदिमे जैनोका अनेक्षाकृत बाहुल्य था, किन्तु वहाँ भी उनकी धार्मिक और सामाजिक दशा प्राय. वहाँके अन्य हिन्दुओ जैसी ही थी। सुदूर दक्षिणके तमिल प्रदेश एव मैसूर आदि दक्षिणी कर्णाटकी प्रदेशोमे जैन-धर्म इस कालमे भी अपेक्षाकृत उन्नत दशामे रहा। अब भी कई छोटे-छोटे जैन राज्य वहाँ विद्यमान थे। उस प्रदेशके जैन-तीर्थो एवं गुरुओका सरक्षण एव कन्नड भाषाके जैन-साहित्यकारोका प्रश्रय वहाँ बराबर बना रहा। अनेक धार्मिक एवं लौकिक ग्रन्थ इन विद्वानोने इस कालमे भी वहाँ रचे। कई ग्रन्थ तो ऐतिहासिक महत्त्वके भी है, विशेपकर वहाँकी एक जैन रानी रम्भाकी प्रेरणापर देवचन्द्र-द्वारा रचित राजा-वलिकथे (१८३४ ई०) पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। साहित्य-सृजनकी दृष्टिसे उत्तर भारतमे उस कालमे जैनोके प्रमुख केन्द्र—गुजरात, दिल्ली, आगरा, और जयपुर थे। सस्कृत, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओमे साहित्य-सृजन चलता रहा। किन्तु उसमे गद्य एवं पद्यके हिन्दी साहित्यकी ही बहुलता

रही, और उसकी रचनामे जयपुर केन्द्र सर्वाग्रणी रहा। इस डेढ़-सौ वर्षके अराजकता कालमें लगभग पचास-साठ जैन कवियों एवं साहित्यकारोंके नाम मिलते हैं जिनमें लगभग एक दर्जन पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं—दौलतराम, टोडरमल्ल, भूधरदास, बुधजन, यशोविजय, जयचन्द, सदासुख, लालचन्द, नथमल, देवदत्त, वृन्दावन, देवचन्द, चन्द्रसागर, रंगविजय, क्षमाकल्याण, नयनसुखदास आदि।

बंगालमे मुर्शिदाबादके जगतसेठ, दिल्लीके शाही खजांची हरसुखराय और सुगनचन्द्र, भरतपुरके नथमल, बिलाला आदि उस कालके प्रसिद्ध व्यक्तियोंमें-से थे। राजपूत राज्योकी राजनीतिमे भी इस कालमे कुछ जैनोने महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। बुन्देलखण्डमे देवगढका शासक जैन था, जिससे सिन्धियाका युद्ध हुआ था।

जयपुरमे मिर्जा राजा जयसिंहके समयमे बल्लूशाह जैनी एक उच्च-पदपर नियुक्त था। उसका पुत्र विमलदास राजा रामसिंह और विशनसिंह-के समयमें दीवान था। वह वीर योद्धा भी था, और लालसोटके युद्धमे मारा गया था। इसका पुत्र रामचन्द्र छावडा महाराज सवाई जयसिंह (१७०१–४३ ई०) का दाहिना हाथ एवं प्रधान दीवान था। यह भी शासन-प्रबन्ध एवं राजनीतिमें अत्यन्त कुशल होनेके साथ-ही-साथ वीर योद्धा एवं कुशल सेनानी था। जयपुर और जोधपुरके राजाओ जयसिंह और अजीतसिंहने, जो परस्पर साले-बहनोई भी थे, उत्तरा-धिकारके युद्धमे आजमका साथ दिया था अत. बहादुरशाहने दोनो राज्यो-पर चढाई करके उन्हें विजय किया और खालसा घोषित कर दिया। दोनो राजा भागकर उदयपुर चले गये। जयसिंहके साथ उसका दीवान रामचन्द्र भी था। उदयपुरवालोंकी कोई व्यंग्योक्ति सुनकर वह स्वयं अकेला जयपुरकी ओर चल दिया, अपने छल-बल-कौशलसे उसने बाद-शाहकी सेनाको वहाँसे निकाल बाहर किया और जयपुरपर अधिकार कर लिया। इसी प्रकार अपने राजाकी आज्ञासे उसने जोधपुरसे भी शाही

सेनाको मार भगाया, और दोनो राजाओंको अपने-अपने राज्यमे स्थापित कर दिया। इस दीवानने साम्भरको भी मुसलमानोसे विजय किया और दोनो राजाओंके बीच बँटवा दिया। राजापर बादशाहको प्रसन्न करनेमे भी यह दीवान सहायक हुआ और राजाके साथ दिल्ली गया तथा जब राजाको मालवाको सूबेदारी मिली तो वहाँ भी उसके साथ गया। तदुपरान्त राव कृपाराम, शिवजी लाल (मृत्यु १८१० ई०), अमरचन्द (१८१०–३५ ई०) आदि प्रसिद्ध जैन दीवान जयपुर राज्यमे हुए। दीवान अमरचन्द विद्वानोका भारी आश्रयदाता था, निर्धन छात्रोको छात्रवृत्ति देता था, स्वयं भी बडा विद्वान् और धर्मात्मा था और अनेक मन्दिरोका निर्माण एवं ग्रन्थोकी रचना भी इसने करायी थी। राजाका सारा दोष अपने ऊपर लेकर और अपने प्राणोकी बलि देकर अँगरेजोके कोपसे उसने जयपुर राज्यकी रक्षा की थी। इस कालमे जयपुर राज्यके जैन-साहित्यकारोने विशेष रूपसे हिन्दी खडी बोलीके गद्यका अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण विकास किया। जयपुरके विद्वानोका देशके अन्य प्रदेशोके जैन विद्वानोके साथ भी बराबर सम्पर्क रहता था। ग्रन्थोकी प्रतिलिपियाँ करनेका एक विशाल कार्यालय भी इस कालमे वहाँ स्थापित हुआ जहाँसे सर्वत्र ग्रन्थ भेजे जाते थे। अनेक जैन मन्दिरोके अतिरिक्त जैन-मूर्तिकलाके निर्माणका भी केन्द्र जयपुर बना। केवल जयपुर नगरमे ही उस कालमे लगभग दस-बारह हजार जैनी थे।

जोधपुर राज्यमे महाराज अजीतसिहका प्रधान दीवान रघुनाथ भण्डारी था, खिमसी भण्डारी महाराजका प्राइवेट सेक्रेटरी (तनदीवान) था और अनूपसिह जोधपुर नगरका शासक था। विजय भण्डारीको राजाने गुजरातके सूबेका कार्यभार सम्हालनेके लिए भेजा था। दूसरी बार पोमसिह भण्डारीको अहमदाबाद भेजा। मेहता सग्रामसिह और सावन्तसिह जिलाधिकारी थे। अभयसिहके समयमे सूरतराम भण्डारी दीवान था और रतनसिह भण्डारीने अपने राजाकी ओरसे १७३०–३७

ई० मे गुजरात और अजमेरकी सूबेदारी कुशलतापूर्वक की थी। उसने गुजरातके जैन सेठोपर भी कोई रियायत नही की थी, बल्कि उनमे-से एक धनकुबेरको तो मृत्युदण्ड भी दिया था। राजा विजयसिहके समयमे गंगाराम भण्डारी वीर सेनानायक था जो १७९० ई० मे मेडताके युद्धमे मारा गया। राजा मानसिह (१८०४ ई०) के समयमे पृथ्वीराज भण्डारी दीवान था। इस राजाका प्रधान सेनापति इन्द्रराज संघवी था। उदयपुरकी राजकुमारी कृष्णाके लिए जयपुर और जोधपुरके बीच होनेवाले युद्धमे कछवाहोके आक्रमणसे जोधपुर राज्यकी रक्षा और स्वयं जयपुरकी विजय इन्द्रराजने ही की थी, जिससे प्रसन्न होकर राजा मानसिहने राज्यका सारा भार उसे ही सौप दिया था। इस कालका जोधपुरका अन्तिम दीवान बहादुरमल (१८४३-७३ ई०) था जिसने नमकके ठेकेका सुप्रबन्ध करके मारवाडका बहुत हित किया था। मारवाडके कृष्णगढ, रूपनगर, नागौर आदि उपराज्योमे भी अनेक जैनी सामन्त सरदार और दीवान थे। नागौरमे तो भट्टारकीय गद्दी और विशाल शास्त्रभण्डार भी थे। इस कालमे मारवाडमे लगभग दो लाख जैनी थे।

उदयपुर राज्यमे राणा राजसिहके पश्चात् भी उनका प्रसिद्ध मन्त्री शाह दयालदास दीवान बना रहा। तदनन्तर उसका पुत्र सावलदास दीवान रहा। राणा सग्रामसिह द्वितीयके समयमें कोठारी भीमसी एक वीर योद्धा और प्रसिद्ध सेनानी था, रणबाजखांके विरुद्ध युद्धमे वह मारा गया था। इस राणाने राज्यके जैन-तीर्थ ऋषभदेवको भी एक ग्राम भेट किया था। १८वी शतीके उत्तरार्धमे राज्यका प्रसिद्ध प्रधान दीवान सोमचन्द गान्धी था, उसका पुत्र सतीदास गान्धी भी राजमन्त्री था। इसी समय ड्योढीवाल खानदानका मेहता मालदास एक प्रसिद्ध सेनाध्यक्ष था, १७८७ ई०मे होल्कर आदि मराठोकी एक भारी सेनाको इसने मार भगाया था। युद्धमे ही उसने वीरगति पायी। १९वी शतीके पूर्वार्धमे मेहता अगरचन्द बच्छावत, देवीचन्द, शेरसिह आदि उदयपुरके दीवान रहे। राज्यमे जैन लग-

भग दस प्रतिशत थे, राजधानी उदयपुरके अतिरिक्त, चित्तौड, केशरिया-नाथ, ऋषभदेव, वीजोल्याँ, देलवाडा, केरड़ा आदि प्रसिद्ध जैनतीर्थ एवं केन्द्र थे। मेवाडके डूँगरपुर, बाँसवाडा, प्रतापगढ़ आदि उपराज्योमे भी जैनोकी अच्छी प्रतिष्ठा थी।

जैसलमेरमे एक विशाल एवं महत्त्वपूर्ण जैनग्रन्थभण्डार था। इस राज्य-के जैनदीवानोमे राजा मूलराज (१७६२ ई०) का मन्त्री मेहता स्वरूप-सिंह अधिक प्रसिद्ध है। बीकानेर राज्यके इस कालके जैनदीवानोमे अमर-चन्द सुराना अत्यधिक प्रसिद्ध है। वह वीर सेनानी भी था, कई युद्धोमे उसने विजय प्राप्त की थी और भाटियोके खान जाब्ताखाँको बुरी तरह पराजित करके उसके दुर्ग भटनेरको भी हस्तगत कर लिया था। अजमेर मेरवाड़ाका शासक १७८७–९१ ई० के बीच जैनवीर धनराज सघवी था। उसने चार वर्ष तक निरन्तर मराठोके विरुद्ध युद्ध करके इस प्रदेशकी रक्षा की थी और प्राण रहते उन्हे उसपर अधिकार नही करने दिया था। बूँदी, कोटा, अलवर आदि अन्य राजपूत राज्योमे भी जैनोकी प्रायः ऐसी ही स्थिति थी। सम्पूर्ण राजस्थानकी जनसख्याका लगभग दस-बारह प्रतिशत वहाँके जैन थे, और यही ऐसा प्रदेश अब रह गया था जहाँ जैन मात्र सेठ साहूकार और व्यापारी ही नही थे वरन् उनमे-से अनेक वीर योद्धा, सैनिक, सामन्त-सरदार एवं राज्यमन्त्री भी थे तथा शासनमे विभिन्न पदोपर भी बिना भेदभावके नियुक्त होते थे।

इस कालके सर्वव्यापी नैतिक पतनके प्रभावसे जैनधर्म और जैनी जन भी अछूते नही थे, हिन्दुओका जैनविद्वेष भी यदा-कदा एवं यत्र-तत्र भडक उठता था और बडी सख्यामे जैनी लोग अपना धर्म त्याग कर वैष्णव भी बनने लगे थे। भट्टारकीय शिथिलाचार, रूढ़िवादिता, संकीर्णता, अशिक्षा, जाति-पाँतिके कठोर बन्धन, छूआछूत, बालविवाह, बहुपत्नीत्व, सहमरण आदि अनेक सामाजिक कुरीतियाँ क्या हिन्दू, क्या जैन और क्या मुसलमान, सभीमे व्याप्त होती जा रही थी। सम्पूर्ण भारतीय समाज एक अजीब

निराशावाद एवं नियतिवादके दलदलमे फँसकर अप्रगतिशील वन चला था।

इसमे सन्देह नही है कि इस डेढ़-सौ वर्षके युगके प्रारम्भ तक जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति संसारके सभी देशोसे अधिक बढी-चढी थी वह उस युगके अन्त तक सभीसे पिछड़ गयी। इस कालमे अन्य देशोने, विशेषकर युरॅपीय देशोने, जब अभूतपूर्व उन्नति की, भारतने अभूतपूर्व अवनति की।

अध्याय ६

यूरोपवासियों-द्वारा भारतकी लूट

औरगजेबके जीवनमे ही हिन्दू आदि मुसलमानेतर भारतीयोका राजनैतिक पुनरुत्थान प्रारम्भ हो गया था, और उसकी मृत्युके उपरान्त १५० वर्षके बीच वह पुनरुत्थान अपने चरम शिखरको पहुँचकर देश और जातिका बिना कुछ हित किये ही द्रुतवेगसे अवनत भी हो गया। हिन्दू राज्यशक्तिके प्रचण्ड उत्थानके सम्मुख मुसलमान सत्ता इस देशमे पराभूत हो हो चुकी थी, किन्तु उस हिन्दू राज्यशक्तिमे स्वयंमे एकसूत्रता न थी। प्रान्त, जाति, धर्म एवं व्यक्तिगत पक्षपात, फूट, वैमनस्य, स्वार्थान्धिता एवं अदूरदर्शिताने उस महान् प्रयत्नको फल दिखानेके पूर्व ही व्यर्थ कर दिया। इतना ही नही, जैसा कि पूर्व अध्यायमे वर्णन किया जा चुका है, देश और देशवासियोको स्वयं उनके अपनोने ही घोर अराजकता, अशान्ति, अव्यवस्था एवं अनैतिकताके तूफानी अन्धकारसे डुबो दिया। परिणाम यह हुआ कि सुदूर पश्चिमसे उडकर आये कतिपय गृद्धोकी लोलुप दृष्टिने इस प्रकार क्षत-विक्षत, आहत एवं मृतप्राय भारत एवं भारतीयताका भरपेट रक्तशोषण एव मास-भक्षण करनेका समुपयुक्त अवसर देखा। सात समुद्र पारसे आनेवाले इन मुट्ठी-भर, अनुल्लेखनीय, शक्ति एवं साधनविहीन, किन्तु चतुर साहसी एवं धूर्त यूरोपीय लुटेरोने अपने-आपको कुछ नहीसे सब कुछ बना लिया। १७०७ से १८५७ ई० पर्यन्तके भारतीय इतिहासका पतनोन्मुखी भारतीय रूप तो पूर्व अध्यायमे देख ही चुके है, प्रस्तुत अध्यायमे प्राय. इसी कालमे भारतमे भारतवासियोके ही धन-बल और बूतेपर

उन्हीके द्वारा और उन्हीका उपयोग करके किस प्रकार धूर्त अंगरेजोने इस देशमे अपनी शक्ति एवं प्रभुत्वका विकास किया, इसका वर्णन करना है।

इतिहासकालमे यूरोपके निवासियोका भारतवर्षके साथ सर्वप्रथम सम्पर्क यूनानियोके द्वारसे हुआ। ५वी-६ठी शती ई० पूर्वमे ही यूनान और भारतका सास्कृतिक एवं दार्शनिक सम्पर्क परोक्षरूपसे स्थापित हो गया था। ४थी शती ई० पूर्वमे सिकन्दरके भारत आक्रमणसे राजनैतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष रूपसे स्थापित हुए जो कई शताब्दियो तक चले। तदनन्तर रोमन साम्राज्यके उत्कर्ष कालमे रोमके साथ भारतका व्यापार बढा-चढा था, दोनो देशोके बीच कुछ राजदूत आदि भी आये-गये। ईसा और ईसाई मतके उदयके दो-तीन सौ वर्ष पश्चात् ही एक ईसाई धर्म-प्रचारक दक्षिण भारतमे आया बताया जाता है, किन्तु तदुपरान्त लगभग एक हजार वर्ष तक सम्बन्ध विच्छेद रहा। यूरोपका वह अन्धयुग था, इस्लामके प्रचण्डवेगके सम्मुख ईसाई धर्म एव यूरोपकी शक्ति हतप्रभ एव पराभूत हो पडी थी। कई सौ वर्ष तक अपने धर्मस्थानो यरुशलम आदिका उद्धार करनेके लिए यूरोपका ईसाई-जगत् तुर्क मुसलमानोके साथ धर्मयुद्ध करता रहा। १४५३ ई०मे तुर्को-द्वारा कुस्तुन्तुनियाकी विजयके उपरान्त जहाँ भारत एवं अन्य पूर्वी देशोके साथ यूरोपका थलमार्ग चिरकालके लिए अवरुद्ध हो गया वहाँ यूरोपमे एक नवीन जागृति, चेतना, साहस और पराक्रमका उदय हुआ। भारतके कल्पनातीत धन-वैभवकी कहानियाँ सर्वत्र प्रचलित थी। ऐसे अपूर्व देशके साथ व्यापार करके लाभ उठानेके लिए अनेक यूरोपवासी लालायित थे, किन्तु कोई मार्ग न था। अतः १४९८ ई० में वास्को डिगामा नामक यात्री कई प्रयत्नो एव अनेक विपत्तियाँ उठानेके बाद अफ्रीका महाद्वीपका चक्कर काटकर आशा अन्तरीपके मार्गसे भारतके दक्षिणी-पश्चिमी तटपर स्थित कालीकटके छोटे-से राज्यमे आ पहुँचा और उसने वहाँके राजा जमोरिनसे उसके राज्यके द्वारसे भारतके साथ पुर्तगालका व्यापार स्थापित करनेकी सुविधा प्राप्त कर ली।

उस समय भारतका समस्त पश्चिमी जलमार्गी व्यापार अरबोंके हाथमे था। पुर्तगाली उन्हे हराकर पश्चिमी समुद्रतटपर जम गये।

१५०५ ई० मे अलमिडा उनका गवर्नर हुआ। उसने पुर्तगाली बस्तियोंके लिए कुछ किले भी बनवाये। १५०९–१५ ई० मे अलबुकर्क भारतमे पुर्तगालियोंका गवर्नर रहा। उसने गोआपर अधिकार करके उसे यहाँकी पुर्तगाली बस्तियोंकी राजधानी बनाया। उसने मलक्काको विजय किया, लंका, सकोत्रा, उरमुज आदि द्वीपोंमे पुर्तगाली बस्तियाँ स्थापित की, भारतमे गोआ राज्यको कुछ विस्तृत करके सगठित किया, उत्तम शासन व्यवस्था की और शासन-प्रबन्धमे हिन्दुओंको भी नियुक्त किया। मुसलमानोंसे पुर्तगाली बडी घृणा करते थे। मुसलमान स्त्रियोंसे विवाह करने और मुसलमानो तथा अन्य भारतीयोंको ईसाई बनानेका भी वे प्रयत्न करते थे। अलबुकर्क भारतमे पुर्तगालका एक विशाल एवं सम्पन्न उपनिवेश स्थापित करना चाहता था। उसी समयसे व्यापार गौण और ईसाई मतका प्रचार तथा पुर्तगाली राज्यका शक्ति-सवर्धन पुर्तगालियोंका मुख्य उद्देश्य बन गया था। दक्षिणके विजयनगर और बहमनी राज्यों तथा गुजरातके सुलतानोंके भी राजनैतिक सघर्षमे पुर्तगाली आये। मुगलकालमे भी पश्चिमीतटपर वे एक महत्त्वपूर्ण शक्ति बने हुए थे और सूरत आदिसे हजके लिए जानेवाले मुसलमानोंके मार्गमे भारी बाधक होते थे। अत: उनका जब-तब दमन भी किया जाता था। अकबरकी इच्छापर गोआके पुर्तगालियोंने सम्राट्के दरबारमे जैसुइट पादरियोंके दो-तीन ईसाई धर्म प्रचारकदल भी भेजे थे। १५८० ई० मे स्पेनके राजाने पुर्तगालको अपने राज्यमे मिला लिया, तभीसे भारतके पुर्तगाली राज्यको स्वदेशका राज्याश्रय समाप्त हो गया और उसकी अवनति होने लगी। शाहजहाँने बगालके पुर्तगालियोंकी ज्यादतियोंसे चिढकर उनको बुरी तरह कुचल डाला था। तदनन्तर फ्रान्सीसी, डच और अँगरेजोंने उनके पूर्वी व्यापारके एकाधिपत्यको नष्ट कर दिया। अन्तत: गोआ, डामन और ड्यूके अतिरिक्त

उनका और कोई प्रदेश न रह गया। किन्तु ये छोटी-छोटी पुर्तगाली बस्तियाँ कुछ दिन पूर्व तक चली आती रही और पुर्तगाली गोआकी समस्या भी स्वतन्त्र भारतके वर्तमान राजनीतिज्ञोके सम्मुख एक विषम समस्या बनी हुई थी। २० दिसम्बर १९६१ ई० को गोआ, डामन, डच्यू ये तीनो पुर्तगाली बस्तियाँ भी विधिवत् भारत सघ राज्यमे मिला ली गयी और भारतसे उपनिवेशवाद पूर्णतया समाप्त हो गया।

हालैण्ड-निवासी डच भी बड़े कुशल नाविक हो चले थे। १६०१ ई० मे पूर्वी देशोके साथ व्यापार करनेके लिए उन्होने एक कम्पनी बनायी और सहज ही मलाया द्वीप समूहके मसालेके टापुओके व्यापारपर अपना एकाधिपत्य जमा लिया तथा भारतके समुद्र-तटपर भी अपने पैर जमाये, किन्तु अँगरेजोकी तीव्र प्रतिद्वन्द्विताके कारण भारतीय व्यापारसे उन्हे अपेक्षाकृत शीघ्र ही निकल जाना पड़ा। प्रारम्भसे ही दोनो जातियोमे भारतीय व्यापारके लिए युद्ध चलता रहा। अम्बोयना द्वीपमे डचोने अनेक अँगरेज़ोका वध कर डाला जिसके परिणामस्वरूप १६५४ ई० मे इंग्लिस्तानके डिक्टेटर क्रामवेलने हालेण्डको हराकर डच कम्पनीसे अँगरेज कम्पनीको भारी हर्जाना दिलवाया। अँगरेजो और फ्रान्सीसियोके बीच होनेवाली प्रतिद्वन्द्विता एवं युद्धोमे डच और भी अधिक पिस गये। भारतकी उनकी अधिकाश व्यापारिक कोठियाँ उनसे छिन गयी और चिनसुरा आदि दो-एक स्थानोमे ही उनका अत्यन्त गौण अस्तित्व रह गया, किन्तु मसालेके टापुओपर इनका एकाधिपत्य वर्तमान काल तक अक्षुण्ण बना रहा। डचोका देखा-देखी उनके पड़ोसी डेनमार्कके निवासी डेनोने भी भारतमे अपनी व्यापारिक कोठियाँ जमानेका प्रयत्न किया, किन्तु वे भी विफल रहे। अँगरेज़ और फ्रान्सीसियोने उन्हे शीघ्र ही इस देशसे निकाल बाहर किया।

अन्य यूरोपीय देशोकी देखा-देखी फ्रान्सीसियोने भी पूर्वी देशोके साथ व्यापार करनेके लिए कम्पनियाँ स्थापित की। फ्रान्सीसियोका यह प्रयत्न

सबसे पीछे प्रारम्भ हुआ किन्तु उन्होने बडी शीघ्रताके साथ उन्नति की। १६४२ ई० मे सर्वप्रथम फ्रान्सके तत्कालीन प्रधान मन्त्री रिशलूने तीन कम्पनियाँ इस उद्देश्यको लेकर स्थापित की, किन्तु वे थोडे समय पश्चात् ही भंग हो गयी, जिसका कारण सरकारो कर्मचारियो एवं पादरियोका अनावश्यक हस्तक्षेप था। १६६४ ई० मे फ्रान्सके बादशाह लूई चौदहवेके मन्त्री कोल्बर्टने एक नवीन कम्पनीकी स्थापना की जिसका उद्देश्य व्यापार उतना नही था जितना पूर्वी देशोमे फ्रान्सकी राजनैतिक शक्तिकी स्थापना एवं फ्रान्सके राजाकी शक्तिमे वृद्धि करना और ईसाई धर्मका प्रचार करना था। फलस्वरूप १६७४ ई० मे फ्रान्सिस मार्टिनने भारतके पूर्वी तटपर फ्रान्सके पाण्डुचेरी उपनिवेशकी नीव डाली और बगालके चन्द्रनगर-मे एक व्यापारिक कोठी बनायी। तदनन्तर फ्रान्स और हालेण्डके बीच होनेवाले युद्धोसे इस कम्पनीको भारी क्षति पहुँची और १७२० ई० मे उसका पुनः संगठन हुआ। उसी वर्ष मारीशस द्वीपपर तथा १७२४ ई० मे मलाबार तटवर्ती माही नामक स्थानपर फ्रान्सीसियोका अधिकार हो गया।

फ्रान्सीसी गवर्नर ड्यूमा (१७३५–४१ ई०) तत्कालीन दक्षिण-भारतकी अव्यवस्थित दशाको देखकर वहाँके छोटे-छोटे राज्योके राजनैतिक मामलोमे हस्तक्षेप करके अपनी शक्ति बढानी प्रारम्भ की। तन्जौर राज्यमे उत्तराधिकारके लिए होनेवाले युद्धमे उसने एक पक्षकी सहायता की और उससे कारीकल प्राप्त कर लिया, जिससे फ्रान्सीसियोकी शक्ति, अधिकार और प्रतिष्ठामे पर्याप्त वृद्धि हुई।

तदनन्तर डूप्ले (१४७२–५४ ई०) भारतमे फ्रान्सीसी गवर्नर बनकर आया और उसके साथ ही फ्रान्सीसी कम्पनीके जीवनमे विजय एवं राजनैतिक विकासका नवीन अध्याय प्रारम्भ हुआ। डूप्ले निःस्वार्थी, स्वदेशभक्त, अत्यन्त चतुर एवं कूटनीतिपटु था। अपने पडोसी भारतीय राज्योकी राजनीतिका उसने भली प्रकार अध्ययन कर लिया था। अपने अधीनस्थ कर्मचारियोके साथ वह कठोर व्यवहार करता

था। उसकी आकांक्षा भारतमें फ़्रान्सीसी शक्तिको अत्यधिक बढाकर और वहाँ एक अच्छा विस्तृत राज्य जमाकर अपने देशको लाभ पहुँचाने और उसका गौरव बढानेकी थी। वैसे मूलतः भारतके व्यापारका लाभ उठानेके लिए ही इन यूरोपीय कम्पनियोंकी स्थापना हुई थी। उनमे भी इस समय केवल अँगरेज़ी और फ़्रान्सीसी दो ही कम्पनियाँ रह गयी थी।

व्यापारिक प्रतिद्वद्विता एवं प्रतिस्पर्द्धा तो इनमे परस्पर थी ही, उत्तर मुगल कालकी अराजकताका लाभ उठाकर ये अपनी राजनैतिक शक्ति भी बढाने लगी थी। फ़्रान्स और इंग्लैण्डमे इस कालमे स्वाभाविक शत्रुता भी थी। अतः भारतमे ये दोनो कम्पनियाँ परस्पर लड़ने लगी। किन्तु जब कि फ़्रान्सीसी कम्पनीकी सत्ता इस देशमे अभी नयी-नयी थी अँगरेज़ी कम्पनी काफी स्थायित्व, शक्ति एवं समृद्धि प्राप्त कर चुकी थी। फ़्रान्सीसी कम्पनीकी अपेक्षा वह अधिक साधनसम्पन्न भी थी, उसकी भारतीय बस्तियाँ भी अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित, सुगठित एव विशाल थी और इंगलैण्डके राजा या शासनका भी उसके कार्योंमे कोई हस्तक्षेप न था। किन्तु फ़्रान्सीसी कम्पनी एक सरकारी कम्पनी थी, अपने राज्यकी सहायतापर पूर्णतया निर्भर थी, उसके कर्मचारियोकी नियुक्ति भी फ़्रान्सकी सरकार ही करती थी, और सरकार तथा उसके कर्मचारियोके हस्तक्षेपके कारण कम्पनीका कार-बार बडी सुस्तीके साथ चलता था। इस प्रकार राजनैतिक प्रतिद्वन्द्वितामे सफलता पानेके लिए भी अँगरेजी कम्पनीकी स्थिति अधिक दृढ एवं अनुकूल थी। अतः भारतमे अँगरेज़ो और फ़्रान्सीसियोके मध्य होनेवाले प्रथम युद्ध (१७४०–४८ ई०) मे भी, जो कि यूरोपमे इंग्लैण्ड और फ़्रान्सके बीच प्रारम्भ होनेवाले युद्धके साथ ही छिड़ गया था, राजकीय सहायताके बावजूद फ़्रान्सीसियोको विशेष सफलता न मिली। डूप्लेने मद्रासपर अवश्य ही कब्जा कर लिया किन्तु अँगरेज़ोने कई बार फ़्रान्सीसियोको पराजित किया। १७४८ ई० मे दोनो देशोके बीच एलाशपलकी सन्धि हो जानेके कारण भारतमे भी उनका युद्ध

बन्द हो गया और मद्रास अँगरेज़ोको वापिस मिल गया ।

इस युद्धके फलस्वरूप इन दोनो विदेशी जातियोंको अपने पडोसी भारतीय राज्योंको कमजोरी मालूम हो गयी, और अपनी बस्तियोके आसपास सौ-सौ मीलके क्षेत्रसे वे भली-भाँति परिचित हो गये । अबतक उन्होंने यह भी समझ लिया था कि देशी राजाओके पारस्परिक झगडोंमे पडकर कितना लाभ उठाया जा सकता है । इस प्रकारके हस्तक्षेपकी पहल तन्जौरके मामलेमे अँगरेज़ोने ही करके फ़ान्सीसियोका पथ प्रदर्शन किया था । डूप्लेको स्वय भारतीय स्थितिका अच्छा ज्ञान था । उसने यह भी अनुभव कर लिया था कि यूरोपीय युद्ध-प्रणाली एवं सैनिक अनुशासन-के बलपर सुव्यवस्थित यूरोपीय सेनाओके द्वारा अधिक संख्यावाली भारतीय सेनाओको कैसी आसानीके साथ हराया जा सकता है और अपनी शक्ति खूब बढायो जा सकती है । अत. उसने अवसर मिलते ही पडोसो राज्योंको राजनीतिमे भाग लेनेका निश्चय कर लिया ।

अवसर भो तुरन्त आ उपस्थित हुआ । १७४८ ई० मे आसफज़ाहको मृत्यु होते ही निजाम राज्यके उत्तराधिकारका द्वन्द्व छिडा । उधर कर्णाटकमे चाँदा साहब वहाँके नवाब अनवरुद्दीनको गद्दीसे उतारकर स्वयं नवाब बनना चाहता था । निज़ामका पोता मुजफ्फरजंग और चाँदासाहब मिल गये और उन दोनोने फ़ान्सोसियोसे अपने प्रतिद्वन्द्वियोके विरुद्ध सहायता माँगी । डूप्ले तो अवसरकी ताकमे ही था, सहर्ष तैयार हो गया । तीनोने मिलकर अनवरुद्दीनपर हमला कर दिया, वह पराजित हुआ और अम्बरके युद्धमे १७४९ ई० मे मारा गया । उसका लडका मुहम्मदअली तिरुचिरा-पल्लीमे अँगरेज़ोकी शरणमे भाग गया, चाँदा साहब कर्नाटकका नवाब हुआ ओर इस उपकारके लिए उसने फ़ान्सीसियोको ८० गाँव प्रदान किये । अब तीनोने मिलकर मुजफ्फरजगके प्रतिद्वन्द्वो नासिरजंगपर आक्रमण किया किन्तु मुजफ्फरजंग पराजित हुआ, तथापि थोड़े ही समय पश्चात् नासिरजंगके मारे जानेसे वही हैदराबादका निज़ाम बना । उसको

सहायताके लिए एक फ्रान्सीसी सेना हैदराबादमे नियुक्त की गयी, फ्रान्सीसियोंको कुछ धन और कई जिले मिले, स्वयं डूप्लेको भी एक जागीर मिली। वह अब भारतीय नवाबोंकी वेष-भूषामे उन्हीकी नाईं ठाठ-बाटसे रहने लगा। फ्रान्सीसी सेनापति बुसीकी संरक्षकतामे मुजफ्फरजंग राजधानी हैदराबाद पहुँचा, किन्तु एक लडाईमे मारा गया। बुसीने उसके स्थानमे आसफजाहके ही एक पुत्र सलाबतजंगको नवाब बनाया और स्वयं उसके संरक्षकके रूपमे सात वर्ष हैदराबादमे ही डटा रहा। बुसी बहुत योग्य, चतुर एवं दूरदर्शी था, राज्यमे उसीका प्रभाव सर्वोपरि था। अपनी सेनाका खर्च चलानेके लिए उसे निजामसे उत्तरी सरकारका प्रदेश मिल गया था। १७५८ ई० में बुसीको वापस बुला लिया गया और उसके जानेके साथ ही निजाम राज्यसे फ्रान्सीसियोका प्रभाव सदाके लिए उठ गया। इसी बीचमे १७५१ ई० मे अँगरेजोने कर्णाटककी राजधानी अर्काटका सफल घेरा डालकर और चाँदासाहबको पराजित करके मुहम्मदअलीको कर्णाटकका नवाब बना दिया था और इस प्रकार डूप्लेके आधे कार्यको विफल कर दिया था। इन समाचारोंको ज्ञात करके फ्रान्सकी सरकार डूप्लेसे रुष्ट हो गयी और उसने १७५४ ई० मे उसे वापस बुला लिया।

उसके उत्तराधिकारी फ्रान्सीसी गवर्नर गाडेहूने अँगरेजोके साथ सन्धि कर ली जिसके अनुसार कर्णाटक देशमे दोनो जातियोंका समान अधिकार मिले। किन्तु अभी यह सन्धि कार्यान्वित भी न हो पायी थी कि युरॅपमे इंग्लैण्ड और फ्रान्सके बीच सप्तवर्षीय युद्ध (१७५६-६३ ई०) छिड गया, अतः भारतमे भी इन दोनो जातियोंमे लडाई फिरसे छिड़ गयी। फ्रान्सीसी सेनापति लैली वीर योद्धा तो था किन्तु हठी और मूर्ख था। १७५८ ई० मे ही उसने अंगरेजोंके सेण्ट-डेविड किले और मद्रास प्रदेशपर अधिकार कर लिया। बुसीको भी उसने हैदराबादसे बुला लिया था किन्तु उसकी सेनामे फूट पड गयी, धनाभाव भी था और पाण्डुचेरीके गवर्नरका उसे सहयोग भी प्राप्त न था, अतएव वह असफल होने लगा। १७६० ई० मे

वाण्डवाशके युद्धमे अँगरेज सेनानी सर आयरकूटने लेलोको पराजित करके बन्दी कर लिया और इग्लैण्ड भेज दिया। वहाँसे उसे फ्रान्स जानेकी अनुमति मिल गयी किन्तु उसकी सरकारने उसे मृत्युदण्ड दिया। वुसी भी कैदमे डाल दिया गया। अगले वर्ष पाण्डुचेरीपर भी अँगरेजोका कब्जा हो गया। १७६३ ई० मे पेरिसकी सन्धिसे इस युद्धका अन्त हुआ। इस सन्धिके अनुसार भारतमे फ्रान्सीसियोकी शक्ति एकदम घट गयी, उनकी सेनाकी संख्या बहुत कम करके नियत कर दी गयी और प्रदेश-विस्तारपर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। बंगालमे वे अब केवल व्यापारीके रूपमे ही जा सकते थे। हैदराबादमे उनके प्रभावका अन्त हो ही गया था, कर्णाटकमे भी कोई अधिकार नही रह गया था और उत्तरी सरकारके जिले भी अँगरेजोके हाथमे आ गये। अब पाण्डुचेरी, चन्द्रनगर आदि दो-तीन छोटी-छोटी बस्तियो एव उनमे स्थित उनकी व्यापारी कोठियोके अतिरिक्त भारतमे फ्रान्सीसियोकी कोई सत्ता न रह गयी और भविष्यके लिए भी कोई आशा न रह गयी। फ्रान्सकी सरकारके लिए उसके इन भारतीय प्रतिनिधियोके युद्ध एवं भाग्य परिवर्तन अत्यन्त गौण घटनाएँ थी। वह इस प्रयत्नके तथा उसकी विफलताके मूल्यको तबतक आँक ही नही पायी थी।

आस्ट्रिया, स्वेडन, स्काटलैण्ड आदि अन्य यूरोपीय देशोके निवासियोने भी भारतके साथ व्यापार करनेका प्रयत्न किया किन्तु सब ही असफल रहे।

इस कार्यमे जो सबसे अधिक सफल हुए वे यूरोपके उत्तर-पश्चिममे स्थित इंग्लिस्तान नामके एक छोटे-से द्वीप देशके निवासी अँगरेज व्यापारी थे। उन्होने न केवल पुर्तगालियों, डचो, डेनो, फ्रान्सीसियो आदि अन्य यूरोपीय जातियोको ही भारतीय व्यापार क्षेत्रसे शनै-शनै निकाल बाहर किया वरन् पश्चिम देशोके साथ होनेवाले इस महादेशके सम्पूर्ण व्यापारपर अपना पूर्ण एकाधिपत्य स्थापित कर लिया। इतना ही नही, देशके सर्वतोमुखी पतनसे लाभ उठाकर उन्होने इस पूरे महादेशपर अपना पूर्ण राजनैतिक प्रभुत्व भी स्थापित कर लिया। देशके राजा-नवाब, सामन्त-

सरदार, चोर-डाकू और ठग तो देशके धनिकोको ही लूटकर देशका धन देशमे ही रखते थे, किन्तु इन महान् लुटेरोने तो भारतवर्षके सभी वर्गो और सभी साधनोको लूट-लूटकर कंगाल कर दिया और उस लूटसे सुदूरस्थ स्वदेश, स्वजाति एवं स्वराष्ट्रको सर्वतोमुखी लौकिक उन्नतिके अभूतपूर्व एवं अनुमानातीत चरम-शिखरपर पहुँचा दिया। इनके हस्तक्षेपके पूर्व उत्तर मुगल कालकी भीषण अराजकता एवं अशान्तिके बावजूद इस देशकी जनताका बहुभाग, उसके ग्रामीण कृषक, दस्तकार, कारीगर आदिको कोई स्थायी क्षति नही पहुँची थी, न उसकी सम्भावना ही थी, देशका व्यापार भी जैसे तैसे चल रहा था और अनेक देशवासी ही उसका लाभ उठा रहे थे। कितने ही प्रान्तो-प्रदेशो और राज्योमें जब-तब सुशासन सुख-शान्ति आदिका भी अनुभव होता रहता था। किन्तु अँगरेज़ोकी अर्थलोलुप दृष्टिसे धनी, निर्धन, छोटा-बड़ा, कृषक, दस्तकार, व्यवसायी, व्यापारी, जमीदार और साहूकार, राजा और नवाब, कोई भी न बचा। जिससे जिस रूपमे जो कुछ भी छीना-झपटा जा सकता था वह उन्होने छीना और अपहरण किया। साथ ही भारतवासियोको यह कह-कहकर सन्तुष्ट एवं आश्वस्त करनेका प्रयत्न किया कि हमने तुम्हे घोर अशान्ति, अराजकता, अव्यवस्था और अरक्षासे मुक्त किया है, हम तुम्हे अभूतपूर्व सुशासन एवं सुरक्षा प्रदान कर रहे है और हम अत्यन्त समदर्शी, उदार, निष्पक्ष एव न्यायपरायण है। यह सब धूर्त अँगरेज़ोका ढोग था और जलेपर नमक छिड़कनेके समान था। किन्तु उस समय देशकी दशा ऐसी शोचनीय हो गयी थी, उत्तरोत्तर होती जा रही थी और आगे भी होती चली गयी कि उसमे न तो उस जलेकी जलनको और न उसपर नमक छिडके जानेसे होनेवाली बेचैनीको महसूस करनेकी प्रायः कोई शक्ति, सामर्थ्य या प्रवृत्ति रह गयी थी।

१९वी शती ई० के प्रारम्भमे कुछ अँगरेज़ व्यापारी सर्व-प्रथम भारत आये, और पचास-साठ वर्षोके भीतर ही उन्होने इस देशमे अपने कतिपय व्यापारिक अड्डे जमा लिये और साथ ही पुर्तगालियो, डचो आदि प्रारम्भिक

प्रतिद्वन्द्वियोको प्रतिद्वन्द्विताके क्षेत्रसे निकाल बाहर किया। उससे अगले पचास-साठ वर्षोमे उन्होने अपने भारतीय व्यापारको समुन्नत कर लिया, उसके द्वारा अपने-आपको और अपने देश एव राज्यको सुसमृद्ध कर लिया तथा भारतवर्षमे अपने व्यापारिक अड्डोका जाल भी विस्तृत कर लिया और कुछ सुदृढ सुरक्षित केन्द्र भी बना लिये। तदनन्तर अगले पचास वर्षोमे फ़ान्सीसियोके रूपमे एक नवीन किन्तु सर्वाधिक प्रबल प्रतिद्वन्द्वीका उन्हे सामना करना पडा, किन्तु उन्हे भी अन्ततः अँगरेजोने कुचल दिया, साथ ही फ़ान्सीसियोको कुचलनेके प्रयत्नमे उन्होने देशके तीन छोटे, और पडोसी देशी राज्योके अन्तःकलह एवं उनकी विपन्नावस्थाका लाभ उठाकर अपनी राजनैतिक शक्तिकी सुदृढ नीव भी इस देशमे जमा दी। अब उनका हौसला और बढा और आगेके पचास वर्षोमे उन्होने द्रुतवेगसे एक-एक करके समस्त दक्षिणापथ एवं उत्तरापथकी विभिन्न हिन्दू एवं मुसलमान राज्य-शक्तियोपर अपना प्रभाव एवं आधिपत्य स्थापित कर लिया। और उसके बाद अराजकता कालके शेष पचास-साठ वर्षोमे सिन्ध, पंजाब, कश्मीर, नेपाल, वर्मा आदि सीमान्त प्रदेशोको भी अधीन करके तथा पहले ही अधीन कर लिये गये राज्यो एवं प्रदेशोपर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करके और समूचे महादेशको निःसत्त्व करके एव अपना बनाकर उसे सुशासन, सुरक्षा, न्याय, सांस्कृतिक पुनरुत्थान आदि प्रदान करनेका ढोग भी प्रारम्भ कर दिया। किन्तु इसी युगके अन्तमे बहुभाग भारतने अँगरेजोके मज़बूत पंजोसे देशको मुक्त करनेका भी एक भगीरथ प्रयत्न किया। देशके दुर्भाग्यसे या सौभाग्यसे अथवा उसके नेताओके स्वयके दोषसे वह प्रयत्न विफल हुआ। फलस्वरूप देशमे जो कुछ सत्त्व बच रहा था वह भी कुचल डाला गया और अब सम्पूर्ण भारतवर्ष वस्तुतः अँगरेज़ो-का अपना दास और अपनी सम्पत्ति बन गया। भले ही अनेक अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों तथा इस प्राचीन देशकी नष्ट न होनेवाली प्राण शक्तिके पुनः संचारके कारण अँगरेजोका वह प्रभुत्व पूरे सौ वर्ष भी न चल सका।

१६वी शताब्दी ई० मे सम्भवतया दो एक गौण अँगरेज साहसिक यात्री व्यक्तिगत रूपमे भारत आये थे। १५८८ ई० मे अँगरेजोने स्पेनके आरमेडा नामक एक भारी जहाजी बेडेको पराजित करके छिन्न-भिन्न कर दिया था। इस विजयसे यूरोपमे इंग्लिस्तानकी प्रतिष्ठा बढ गयी और अँगरेजोकी नाविक शक्तिकी धाक जम गयी। अब अँगरेज मल्लाह, जो मुख्यतया समुद्री डाकू और नाविक लुटेरे ही थे, दूर-दूर समुद्रोमे धावे मारने लगे। समुद्री व्यापारमे उनके निकटवर्ती डच लोग सबसे अधिक बढे-चढे थे और उसके कारण उनका देश मालदार हो रहा था। उधर पुर्तगालवाले पिछले सौ वर्षोसे भारतके साथ व्यापार करके मालामाल हो रहे थे। भारतके अनुमानातीत धन-वैभवकी कहानियाँ युरॅप-भरमे प्रचलित थी। अत स्पेनी आरमेडाकी पराजय, पुर्तगालवालो-द्वारा स्थापित भारत-के साथ नवीन समुद्री मार्गसे होनेवाला यातायात और डचोका व्यापारो-त्कर्ष, यह सब मिलकर अँगरेज व्यापारियोके लिए भारी प्रेरक तत्त्व हुए। पूर्वी व्यापारके साथ होनेवाले लाभकी आशासे वे प्रलुब्ध हो गये। अत सन् १६०० ई० मे इंग्लैण्डकी राजधानी लन्दनके कुछ अँगरेज व्यापारियोने एक कम्पनी स्थापित की और उसके लिए अपनी रानी एलिजाबेथसे भारत आदि पूर्वी देशोके साथ व्यापार करनेका एकाधिकार प्राप्त कर लिया। उनमे-से कुछ व्यापारियोने व्यक्तिगत रूपसे चन्दा करके एक जहाज पूर्वी द्वीप समूहके मसालेके टापुओमे भेजा, और उससे होनेवाले लाभको परस्पर बाँट लिया। इसके बाद दो बार और व्यक्तिगत जहाज आये।

अन्तिम जहाज १६०८ ई० मे भारतके पश्चिमी-तटपर स्थित सूरत बन्दरगाहपर भी पहुँचा और वहाँ उसने कुछ व्यापार किया किन्तु पुर्त-गालियोके विरोधके कारण अँगरेजोको विशेष सफलता नही मिली। कप्तान जॉन हाकिन्स जहाँगीरके दरबारमे भी पहुँचा, भेट आदि दी, १६०९–११ ई० मे दो वर्ष वह मुगल राजधानीमे पडा भी रहा, किन्तु पुर्तगालियोके प्रभाव और विरोधके कारण विफल प्रयत्न होकर ही लौटा। १६१२ ई०

अँगरेजी कम्पनीने गुजरातके मुगल सूबेदारसे सूरत, खंभात तथा अन्य दो स्थानोमे व्यापार करनेकी अनुमति प्राप्त कर ली। उन्होने यह समझ लिया था कि पुर्तगालियोका दमन किये विना सफलता न मिलेगी, अत: एक भीषण समुद्री युद्धमे उन्होने पुर्तगालियोको हराकर अपनी स्थिति जमायी। इसी समय उनके राजाका अधिकारप्राप्त राजदूत सर टामस रो (१६१५-१८ ई०) मुगलसम्राट्के दरबारमे पहुँचा। सम्राट्को बहुमूल्य भेट और उसके आसफजहाँ आदि मन्त्रियोको घूस देकर तथा अपनी चातुरीसे उसने अपनी ईस्टइण्डिया कम्पनीके लिए सूरतमे व्यापारिक कोठी स्थापित करनेका फरमान प्राप्त कर लिया। सम्राट् स्वयं इस बीचमे पुर्तगालियोसे रुष्ट हो गया था और उनपर अँगरेजोने जो समुद्री विजय प्राप्त की थी उससे उन्होने स्वयंको पुर्तगालियोका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध कर दिया था, अत: सम्राट्ने इन दोनो सजातीय फिरगियोको परस्पर लडानेका अवसर खोना उचित न जाना और अँगरेजोंको भी प्रश्रय दे दिया। सूरतमे डचोने भी अपनी कोठी स्थापित कर ली थी। १६१५ ई० मे अँगरेजोने पुर्तगालियोको फिर एक जहाजी युद्धमे हराया और १६२२ ई० मे ईरानियोकी सहायतासे उर्मुज-द्वीपपर भी अधिकार करके पुर्तगालियोको अत्यन्त शक्तिहीन कर दिया। १५८० ई० से ही भारतके पुर्तगालियोको अपने देशके राज्यसे कोई आश्रय या सहायता मिलनी बन्द हो ही चुकी थी।

अब अँगरेजोने बगालकी खाडीमे भी घुसना प्रारम्भ किया, मछलीपट्टम्मे एक अड्डा बनाया और फिर १६२५ ई० मे आरामगाँवमे अपनी कोठी स्थापित की। १६३९ ई० मे आरामगाँवकी कोठीके अध्यक्ष फ्रान्सिस डेने चन्द्रगिरिके विजयनगरवशी राजाके प्रदेशीय नायकसे लगभग दस हजार रुपये सालाना किरायेपर एक मील चौडी एवं चार मील लम्बी समुद्रतटवर्ती भूमि प्राप्त कर ली। इस कार्यमे निकटवर्ती सेनथानकी पुर्तगाली बस्तीके पुर्तगालियोने भी अँगरेजोकी सहायता की। और इस स्थानपर १६४० ई० मे मद्रास नगर तथा सेण्टजार्ज दुर्गकी

ोव पड़ी। १६५१ ई० मे बंगालके अन्तर्गत हुगलीमे अँगरेजोंने अपनी कोठी स्थापित की। १६६१ ई० मे इग्लैण्डके राजा चार्ल्स द्वितीयने पेनकी राजकुमारीके साथ विवाह करके बम्बई नगरको दहेजमे प्राप्त कया था, १६६८ ई० मे चार्ल्सने यह स्थान दस पौण्ड सालाना किरायेपर म्पनीको दे दिया। सूरतकी कोठीके अध्यक्ष जेरल्ड आगियर (१६६९–७७ ई०) ने बम्बई नगर और दुर्गका निर्माण तथा वहाँ अँगरेजी कोठीकी थापना की और १६९० ई० मे सूरतके स्थानमे बम्बई ही पश्चिमी तटपर ँगरेजोका प्रधान केन्द्र बन गया। १६८६ ई० मे जाब चारनोकने जिस थानपर कलकत्ता स्थित है वहाँ एक बस्ती बनानेका प्रयत्न किया, किन्तु स कालमे कम्पनीके प्रधान डायरेक्टर सर जोशिया चाइल्डकी मूर्खता वं उद्धततापूर्ण नीतिके कारण बंगालके अँगरेज शाही सूबेदारसे उलझ ये। नाचीज विदेशी व्यापारियोकी इस धृष्टतापर औरंगजेबको बड़ा ोध आया और उसकी आज्ञासे सूबेदार शाइस्ताखाँने अँगरेजोको बंगालसे नकाल बाहर किया। उनकी पटना, कासिमबाजार, मछलीपट्टम्, विजगा-ट्टम् आदिकी कोठियाँ भी छीन ली गयी और सूरतकी कोठीपर भी धिकार कर लिया गया। अन्तमे कम्पनीके अधिकारियोने बहुत अनुनय-विनय की, क्षमा माँगी, १७००० पौण्ड सम्राट्को जुर्माना दिया और भविष्यमे कोई दुर्व्यवहार न करनेका वचन दिया। अतः सम्राट्ने उनकी कोठियाँ वापस करा दी, उन्हे पूर्ववत् सुविधाएँ प्रदान कर दी, जाब चारनोकको भी हुगली लौट जानेकी अनुमति मिल गयी, और अब १६९० ई० मे उसने वहाँ कलकत्ता नगर और फोर्ट विलियमकी नीव डाली तथा अँगरेजी कोठी स्थापित की।

इसी कालमें इग्लैण्डमे भी कम्पनीकी बढती हुई शक्ति और अधिकारो-का बड़ा विरोध हुआ किन्तु जोशिया चाइल्डने राजमन्त्रियोको घूस देकर अपने पक्षमे कर लिया और १६९३ ई० मे एक नया आज्ञापत्र प्राप्त कर लिया। किन्तु अन्य अँगरेज व्यापारियोकी ईर्ष्या और विरोध फिर भी

शान्त न हुए और १६९८ ई० मे कुछ अन्य व्यापारियोने राजाज्ञा लेकर एक नयी कम्पनीकी स्थापना कर ली और यह दोनो कम्पनियाँ भारतीय व्यापारके एकाधिकारके लिए परस्पर लडने लगी। अन्तत: १७०८ ई० मे दोनोको 'संयुक्त ईस्टइण्डिया कम्पनी' नामके अन्तर्गत मिलाकर एक कर दिया गया। इस समय सम्राट् औरंगजेबकी मृत्यु हो चुकी थी। भारतीय इतिहासका भीषण अराजकता-युग प्रारम्भ हो रहा था। अपने अबतकके गत सौ वर्षोके कालमे अपनी व्यापारी कम्पनीके आश्रयसे अँगरेज जातिने अपने प्रतिद्वन्द्वी पुर्तगालियो एवं डचोका सदैवके लिए दमन करके पश्चिमी देशोके साथ होनेवाले भारतीय व्यापारपर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था, देशके विभिन्न व्यापारिक केन्द्रोमे अपनी व्यापारी कोठियाँ स्थापित कर ली थी तथा देशके पश्चिमी तटपर बम्बईको, पूर्वी तटपर मद्रासको और बंगालमे कलकत्ताको केन्द्र बनाकर और इन स्थानोमे अपने सुदृढ दुर्ग एवं बस्तियाँ बनाकर अपनी स्थिति सुदृढ एवं स्थायी कर ली थी। इसी बीच भारतमे कम्पनीकी उत्तरोत्तर उन्नतिके फलस्वरूप कम्पनीके डायरेक्टर, हिस्सेदार, कर्मचारी आदि ही नही इंग्लैण्डके अन्य व्यापारी, व्यवसायी, साधारण जनता, राजा और मन्त्री भी पर्याप्त मालदार हो गये थे। कम्पनीके जो कर्मचारी भारतमे कार्य करनेके लिए आते थे उन्हे वेतन बहुत थोडा मिलता था, किन्तु उसकी पूर्ति करनेके लिए उन्हे व्यक्तिगत व्यापारकी सुविधा दे दी जाती थी, अत: कम्पनीके बहाने भारतमे आनेवाला प्रत्येक अँगरेज कम्पनी-के प्रधान व्यापारके अतिरिक्त अपना स्वतन्त्र व्यापार भी करता था और मालामाल हो जाता था। १७०८ ई० के पूर्व शक्तिशाली मुगल सम्राट्के भयसे और उसके व्यवस्थित सार्वदेशीय प्रशासनके कारण अँगरेजो-की यह प्रवृत्ति अति सीमित ही रही, किन्तु अब उत्तर मुगलकालकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अराजकता, अशान्ति एवं अव्यवस्थाका छोटे-बड़े सभी अँगरेजोने भरसक लाभ उठाना शुरू कर दिया।

आगेके लगभग पच्चीस वर्ष तक अँगरेज़ मुगल-साम्राज्यका पतन एवं छिन्न-भिन्न होना और देशकी गिरती हुई राजनैतिक दशाको चुपचाप देखते रहे। इसी बीच १७१७ ई० मे दिल्लीके निकम्मे बादशाह फर्रुखसियरको और उसके दरबारियोंको घूस आदि देकर उन्होंने बिना राज्य-कर दिये ही व्यापार करनेकी छूट तथा अन्य अमूल्य सुविधाएँ प्राप्त कर ली, और चुपचाप अपने व्यापारको बढ़ाते रहे। देशकी अव्यवस्थित एवं अरक्षित दशा तथा उस दशामे अपने केन्द्रों एवं कोठियोंकी चोरों, डाकुओं, लुटेरों आदिसे रक्षा करनेके बहानेसे उन्होंने एक अच्छी सेना भी तैयार कर ली जिसमे अँगरेज अफसरोंके अधीन एवं उनके द्वारा प्रशिक्षण प्राप्त भारतीय सैनिक भी बड़ी संख्यामे रखने प्रारम्भ कर दिये। इसी बहानेसे उन्होंने अपने दुर्गोंको भी सुदृढ कर लिया और अपनी बस्तियों एवं कोठियोंकी किलेबन्दी भी कर ली। उनका जहाजी बेड़ा उनकी सहायताके लिए निकट रहता ही था। किन्तु इसी काल (१७२० ई०) फ्रान्सीसी कम्पनी पुनः संगठित होकर नये उत्साह और बलके साथ मैदानमे फिरसे आ उतरी। उसके सुयोग्य एवं हौसलामन्द गवर्नरोके हाथसे फ्रान्सीसियोंकी पूर्वी बस्तियों एवं भारतमे उनके केन्द्र शीघ्र ही सुगठित एवं मजबूत हो गये। फ्रान्सीसी कम्पनी सरकारी थी, उसके कार्यकर्त्ता भी सरकारी कर्मचारी थे और उसका प्रधान उद्देश्य भी राजनैतिक ही था, अतः बीस वर्षोंमे ही उनकी शक्ति और अधिकार अत्यधिक बढ़ गये। यह सब देखकर अंगरेज बड़े चिन्तित हुए, किन्तु कुछ कर भी न सके और अवसरकी ताकमे बैठे रहे। फ्रान्सीसी कम्पनीके साथ युद्ध छेड़नेका अर्थ था फ्रान्सके साथ इन्लैण्डका युद्ध मोल लेना जिसका साहस यह गैरसरकारी अँगरेजी कम्पनी नही कर सकती थी। फ्रान्सीसियोंका प्रधान केन्द्र पूर्वी समुद्र तटपर स्थित पाण्डुचेरी था। उसके निकट ही दक्षिणकी ओर अँगरेजोंका फोर्ट सेण्ट-डेविड था और थोड़ी दूर उत्तरमे उनका इस तटका प्रधान केन्द्र मद्रास स्थित था।

१६७६ ई० मे ही पाण्डुचेरीके फ़ान्सिस मार्टिन नामक गवर्नरने एक छोटे-से स्थानीय सरदार शेरखाँके लिए वल्डूरका दुर्ग आक्रमण-द्वारा हस्तगत करके फ़ान्सीसियो और अँगरेजोका मार्गदर्शन कर दिया था। अब १७४० ई० के लगभग पाण्डुचेरीके निकट ही दक्षिणकी ओर स्थित छोटे-से तंजौर राज्यमे उत्तराधिकारका प्रश्न उपस्थित हुआ। गद्दीके लिए दो दावेदार थे। फ़ान्सीसियोके भयसे उनसे पहले ही अँगरेज़ोने एक पक्षका समर्थन किया, तुरन्त फ़्रान्सीसी गवर्नर डच्यूमाने दूसरे दावेदारका पक्ष ले लिया। मामला बिना कुछ रक्तपातके ही निपट गया। किन्तु अँगरेज़ों और फ़ान्सीसियो दोनोको ही तन्जौर राज्यमे थोडा-थोड़ा प्रदेश मिल गया। १७४० ई० मे यूरोपमे ही फ़ान्स और इग्लैण्डके बीच युद्ध छिड़ गया। अब तो कोई बाधा ही नही रही, भारतमे भी अँगरेज और फ़ान्सीसी परस्पर लडने लगे। १७४८ ई० मे एलाशपलकी सन्धि-द्वारा यूरोपका युद्ध बन्द होनेपर भारत-मे भी युद्ध बन्द हो गया। इस युद्धके फलस्वरूप किसी भी पक्षको कोई विजय या लाभ प्राप्त नही हुआ, दोनोकी स्थिति पूर्ववत् ही रही, मद्रासपर फ़ान्सीसियोने अधिकार कर लिया था वह उन्हे वापिस मिल गया। तथापि इस युद्धने इस देशमे उन दोनो जातियोकी सैनिक शक्ति और राजनैतिक आकाक्षाओकी नीव डाल दी एवं उनके राजनैतिक उत्कर्ष-की सम्भावना दिखा दी।

इस सम्बन्धमे यह ध्यान रखनेकी बात है कि १८वी शताब्दीके इस मध्यकाल तक अँगरेजो या फ़ान्सीसियोकी भारतकी राजनीतिमे अथवा भारतीय राजे-नवाबो, दिल्ली दरबार या प्रान्तीय शासको अथवा छोटे-मोटे सामन्त सरदारोकी दृष्टिमे भी कोई गणना ही न थी। बहुत-से तो ऐसे थे जो इन्हे जानते भी न थे या जिन्होने इनका नाम भी न सुना था। अनेक ऐसे थे जो इन्हे अति तुच्छ एवं उपेक्षणीय समझते थे। शेष वे जिनका इन लोगोके साथ व्यापार आदिके कारण कुछ निकट सम्पर्क पडा था इन्हे अपने अनुग्रहका याचक और अपनी दयापर आश्रित एक सामान्य

व्यापारी वर्ग-मात्र समझते थे। उनकी दृष्टिमे ये वेचारे सुदूर विदेशसे लाभप्रद व्यापारके लिए अनेक जोखिम उठाकर उनके देशमें आनेवाले और उनकी दयापर अवलम्बित रहनेवाले फिरंगी वनिये-मात्र थे जिनकी रक्षा करना और जिन्हे यथाशक्य सुविधा सहायता देना आदर्श अतिथिसेवी भारतीयोका कर्त्तव्य था। वे पारस्परिक फूट-कलह एवं व्यक्तिगत स्वार्थ-साधनमें रत भोले मूर्ख भारतीय बहुत देरमे यह समझ पाये कि इन गोरे व्यापारियोके रूपमे उन्होने अपनी आस्तीनमे विषैले काले नाग पाल लिये है जो अवसर पाते ही उन्हे डस लेगे। वे जब समझ पाये तब प्रतिकारका कोई उपाय उनके हाथमे न रह गया था। और तब भी वे यह तो समझ ही न सके कि ये केवल देशकी राज्य-शक्तिको ही डसकर वस कर जानेवाले सँपोलिये-मात्र ही नही है वरन् ऐसे चिपटू जोक है जो सारे देशका रक्त शोषण करके उसे निर्जीव करके ही दम लेगे। देशकी अशान्ति, अव्यवस्था और नैतिक पतन तथा राज्याधिकारियोकी इस मूर्खतापूर्ण असावधानताका अँगरेज़ोने पूरा-पूरा लाभ उठाना प्रारम्भ कर दिया। दक्षिणके, बगालके, अवधके तथा अन्य प्रान्तीय सूबेदारोके स्वतन्त्र हो जाने, नादिरशाहकी भयंकर लूट, अब्दालीके आक्रमणो, जाटो, सिक्खो, रुहेलो आदिके उत्पातो और पेशवाओकी उत्तराभिमुखी विजय-यात्राओने इस समय तक दिल्ली बादशाहतके ही नही सम्पूर्ण देशके राजनैतिक, आर्थिक और नैतिक पतन-को शिखरपर पहुँचा दिया था। अँगरेजोके ही अलक्ष्य इशारेपर मूर्ख पेशवा बालाजी बाजीरावने दुर्द्धर भारतीय नाविक सरदार आंग्रे और उसकी सबल जहाज़ी शक्तिको नष्ट कर दिया था। शिवाजीने आंग्रे वंशके मराठा सरदारोकी अध्यक्षतामे एक सबल नाविक शक्तिका निर्माण एवं विकास किया था और ये सरदार उसे अक्षुण्ण बनाये हुए थे। समुद्री शक्तिके महत्त्वसे अनभिज्ञ देशके किसी भी अन्य नरेशने मध्यकालमे देशकी नाविक शक्तिके विकासकी ओर ध्यान ही नही दिया था। यूरोप-वासियोके प्रत्यक्ष उदाहरणसे भी उन्होने कोई सबक नही लिया और अदूर-

दर्शी पेशवाओने तो बचे-खुचे साधनसे भी हाथ धो लिये।

१७४८ ई० मे दिल्लीका बादशाह मुहम्मदशाह मर गया, दक्षिणमे निजाम राज्यका संस्थापक आसफजाह निजामुल्मुल्क भी उसी वर्ष मर गया। एक ओरसे अहमदशाह अब्दालीने उत्तर भारतपर आक्रमण किया तो दूसरी ओरसे पेशवाओकी मराठा सेनाओंने भी मालवा, गुजरात, मध्य भारत, राजस्थान, बंगाल, बिहार और उडीसाको रौंदना शुरू कर दिया। ऐसे समयमे निज़ाम राज्यमे उत्तराधिकारका प्रश्न उपस्थित हो गया। निजामका सबसे बडा पुत्र तो दिल्लीमे वजीर बन बैठा था, दूसरा पुत्र नासिरजंग निजामके सिहासनपर बैठा किन्तु उसका भानजा मुजफ़्फ़रजग स्वयं निजाम बनना चाहता था। इसी समय कर्णाटकका नवाब अनवरुद्दीन फ़्रान्सीसियोके मद्रासको हस्तगत करनेके कारण अँगरेजोको सहायतार्थ फ़्रान्सीसियोकी शत्रुता मोल ले चुका था और उनके द्वारा पराजित भी हो चुका था। अतः फ़्रान्सीसियोने उसे पदच्युत करके उसके एक सम्बन्धी चाँदा साहबको नवाब बनानेकी योजना की। अँगरेज अनवरुद्दीन और उसके पुत्र मुहम्मदअलीके कर्णाटकमे और नासिरजंगके हैदराबादमे पक्षपाती हुए। अत. एलाशपलकी सन्धि हो जाने और युरॅपमे फ़्रान्सीसी और अँगरेजी सरकारोके बीच युद्ध बन्द हो जानेपर भी भारतमे इन दोनो जातियोके बीच युद्ध चालू रहा। प्रारम्भमे फ्रान्सीसी ही कर्णाटक और निजामराज्य दोनोमे ही सफल रहे और फलस्वरूप उन्होने धन, प्रदेश शक्ति और प्रभावका पर्याप्त लाभ किया। अँगरेज यह सब देखकर चुप बैठनेवाले नही थे। इन प्रारम्भिक विफलताओसे वे बडे क्षुब्ध हुए। इस समय क्लाइव नामका एक साधारण घरका आवारा अँगरेज युवक मद्रासकी कोठीमे मुन्शी था। उस कालकी परिस्थितियोके कारण भारतमे अँगरेज कम्पनीके प्राय: समस्त कर्मचारी मुन्शी भी थे, व्यापारी भी थे और सैनिक भी थे। क्लाइव एक दो छुट-पुटे युद्धोमे भाग लेकर एक छोटा-सा सेनानायक बन गया था। उसने अपने गवर्नरको यह योजना सुझायी कि चाँदा

साहबकी राजधानी अर्काटका घेरा डाल दिया जाये जिसका परिणाम यह होगा कि चाँदा साहब त्रिचनापल्लीका घेरा उठाकर, जहाँ उसने मुहम्मद-अलीको घेर रखा है, अपनी राजधानीकी रक्षाके लिए दौडा आवेगा और मुहम्मदअली मुक्त हो जायेगा। यह योजना कार्यान्वित की गयी। १७५१ ई० मे क्लाइवने अपनी छोटी-सी सेनासे अर्काटका घेरा डाल दिया और ५३ दिन तक उस नगरको घेरे पडा रहा। मागे योजना सफल हुई, चाँदासाहब पराजित हुआ और अँगरेजोके मित्र तंजौरके राजाके द्वारा मारा गया। मुहम्मदअली अँगरेजोकी सहायतासे कर्नाटकका नवाब हुआ। उस राज्यसे फ्रान्सीसियोका प्रभाव सर्वथा उठ गया और अँगरेजोका प्रभाव, अधिकार और शक्ति अत्यधिक बढ गये। इस सफलताके कारण क्लाइवकी प्रतिष्ठा और मान भी एकदम बढ गये। फ्रान्सकी सरकारने डूप्लेसे रुष्ट होकर उसे वापस बुला लिया और १७५४ ई० मे अँगरेजोके साथ सन्धि करके इस युद्धका अन्त किया। अर्काटका घेरा और अँगरेजोका अर्काटकी नवाबीपर प्रभावस्थापन उस कालमे भारतीय राजनीतिकी एक अत्यन्त तुच्छ, गौण, अनुल्लेखनीय एवं उपेक्षणीय घटना थी, किसीका भी ध्यान इसकी ओर आकृष्ट नही हुआ, किन्तु इस तुच्छ बीजने ही बडे वेगके साथ पचास वर्षोंके भीतर ही अँगरेजोके विशाल भारतीय साम्राज्यका रूप धारण कर लिया। १७५३ ई० मे क्लाइव इंग्लैण्ड चला गया, दो वर्ष बाद वापस लौटा और साथमे कुछ नया अँगरेजी तोपखाना एवं सेना भी लाया। आते ही उसने बम्बईके १३० मील दक्षिणमे स्थित भारतीय नाविक दस्युओके घेरिया या विजयदुर्ग नामक प्रसिद्ध सुदृढ दुर्गका हस्तगत करके उनकी शक्तिको नष्ट कर दिया। उस दुर्गके बदलेमे मराठोसे बम्बईके निकट ही कुछ भूमि प्राप्त कर ली। पश्चिमी तटपर यह अँगरेज कम्पनीकी सर्वप्रथम निजी भूसम्पत्ति थी। विजयदुर्गका नाश इस बातका एक उदाहरण है कि कैसे अँगरेजोने शनै.-शनै भारतके समुद्र-तटपर बिखरी हुई सभी छोटी-छोटी भारतीय नाविक शक्तियोका अन्त कर दिया।

१७५४ ई० की सन्धि भली प्रकार कार्यान्वित भी न हो पायी थी कि १७५६ ई० यूरोपमे फ्रान्स और इंग्लैण्डके बीच सातवर्षीय युद्ध छिड गया। फलस्वरूप संसारके जिस किसी भागमे भी अँगरेज और फ्रान्सीसी पास-पास हुए वे परस्पर लडने लगे, भारतमे भी दोनो जातियोमे लडाई प्रारम्भ हो गयी। किन्तु फ्रान्सीसियोंका सेनापति लैली १७५८ ई० के पूर्व भारत न पहुँच सका और जब वह यहाँ पहुँचा तो बगालकी अद्भुत विजयके कारण अँगरेजोकी शक्ति दसगुनी बढ चुकी थी और उनको स्थिति बहुत सुदृढ हो चुकी थी। लैलीने दूसरी भूल यह की कि हैदराबादसे बुसीको भी वापस बुला लिया, फलस्वरूप निजामके राज्यमे भी जो भारी प्रभाव आठ वर्षोंसे बुसीने जमा रखा था वह सर्वथा नष्ट हो गया और इस राज्यमे भी अँगरेजोंका अपना प्रभाव जमानेका अवसर मिल गया जिसका लाभ उन्होने नासिरजंगकी मृत्युपर सलाबतजंगको नवाब बननेमें सहायता देकर तुरन्त और पूरा-पूरा उठाया। उधर लैलीके नेतृत्व-मे फ्रान्सीसी सेनाको अँगरेज सेनापति सर आयर कूटने १७६० ई० मे वाडवाशके युद्धमे बुरी तरह पराजित किया, लैलीने भागकर पाण्डुचेरीमे शरण ली। अँगरेजोने उसका भी घेरा डाल दिया और १७६१ ई० मे उसपर अधिकार कर लिया। उन्होने लैली आदिको बन्दी बना लिया और भारतमे फ्रान्सीसियोकी आकाक्षाका अन्त कर दिया तथा स्वयंको सजातीय (यूरोपवासी) प्रतिद्वन्द्वियोसे सर्वथा मुक्त कर लिया। इसी वर्ष पानीपतकी ऐतिहासिक रणभूमिमे भारतके साम्राज्यके लिए मराठो और अफगानो, अथवा हिन्दुओ और मुसलमानो, या भारतीयो और विदे-शियोके बीच भीषण युद्ध हो रहा था। सारे देशकी आँखे उधर ही लगी हुई थी, दक्षिण भारतके पूर्वी तटपर इन विदेशी फिरगियोके बीच होने-वाले इस छोटे-से संघर्षकी ओर किसीका ध्यान भी न था। किन्तु वास्तवमे भारतके भाग्यका निर्णय १७६१ ई० के पानीपतके युद्धमे शायद उतना नही हुआ जितना कि पाण्डुचेरीमे फ्रान्सीसियोकी पराजयमे हुआ। इस

सातवर्षीय युद्धमें अँगरेज़ोने फ़्रान्सीसियोंको भारतमे ही नही यूरोपमे, अमेरिका और कनाडामे, पश्चिमी द्वीप-समूह और अफ़्रीकामें सर्वत्र पराजित किया और उनके अधिकार, शक्ति और प्रभावको हानि पहुँचायी। १७६३ ई० मे पैरिसकी सन्धिके द्वारा दोनो देशोके बीच युद्ध बन्द हो गया। इस युद्धके दौरानमे क्लाइवने भी बंगालमे ससैन्य आकर फ़्रान्सीसियोको पराजित करनेमे हिस्सा बँटाया था और फिर तुरन्त बंगाल वापस जाकर चिनसुराके डचोका पूर्णतया दमन कर दिया था। इस प्रकार १७६३ ई० मे भारतमे अन्य कोई यूरोपीय शक्ति अँगरेजोकी प्रतिद्वन्द्वी या प्रतिस्पर्द्धी न रह गयी थी और न किसी अन्यके उत्पन्न होनेकी कोई सम्भावना रह गयी थी।

इसी युद्धके प्रसंगसे और उसीके बीच अँगरेज़ोकी जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सफलता थी वह उन्हे बंगालमे प्राप्त हुई। सूबेदार मुर्शिद-कुलीखाँ और शुजाउद्दीन तथा नवाब अलीवर्दीखाँके शासन (१७०७–५६ ई०) मे लगभग पचास वर्ष पर्यन्त बंगाल देशके निवासियोने पारस्परिक सहिष्णुता, उदारता, सुख-शान्ति और सुशासनका उपभोग किया था। इस दिशामे यह प्रान्त समस्त भारतमे प्रायः अपवाद था। कृषक सुखी थे, ज़मीदार सम्पन्न थे, वस्त्र आदिके उद्योग-धन्धे अति समुन्नत थे, अधिकांश नागरिक व्यापार भी मुख्यतया जैन सेठोके हाथमे बढा-चढा था, १७४० ई० से ही रघुजी भोसलेके नेतृत्वमे मराठोने भीषण लुटेरे आक्रमणो-द्वारा देशको अवश्य ही पर्याप्त हानि पहुँचायी थी और अशान्ति उत्पन्न कर दी थी किन्तु नवाब अलीवर्दीखाँने अपनी चतुराईसे उनसे भी त्राण पा लिया था। बंगालमे फ़्रान्सीसी, डच, आरमीनियन, अँगरेज़ आदि विदेशी व्यापारी सूबेदारो और नवाबोकी उदारताके कारण स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने व्यापारको उत्तरोत्तर उन्नत करते रहे थे। प्रायः समस्त विदेशी व्यापार इन्ही लोगोके हाथमे आ गया था। इनमे भी अँगरेज़ोने शाही फरमानोके बलपर तथा अपनी कूटनीति एवं चालाकीसे अपने अन्य

समस्त प्रतिद्वन्द्वियोको पछाड कर उक्त व्यापारमे नेतृत्व कर लिया था। बंगालके विभिन्न नगरोमे उनकी अनेक व्यापारिक कोठियाँ फैल गयी थी। कलकत्ता उनका प्रधान केन्द्र था जहाँ उन्होने सुदृढ दुर्ग, सुगठित बस्ती तथा जल और थलकी द्विविध सैन्यशक्तिसे सुरक्षित होकर अपनी शक्ति बहुत बढा ली थी। अलीवर्दीखाँ उनपर पूरा नियन्त्रण भी रखे हुए था और भीतर-ही-भीतर उनसे भय भी खाता था। उन्हे शत्रु बनानेका उसने कभी प्रयत्न नही किया।

किन्तु १७५६ ई० में उसकी नि सन्तान मृत्यु हो जानेपर उसका दौहित्र सिराजुद्दौला बंगालका नवाब बना। वह वीर एवं सदाशय तो था किन्तु अनुभवहीन अल्हड नवयुवक था। अँगरेज व्यापारियोकी ज्यादतियोको देख-सुनकर वह पहलेसे ही उनसे चिढा हुआ था, अब इसी वर्ष यूरोपमे सप्तवर्षीय युद्ध छिड जानेके समाचार जानकर इस देशमे भी परस्पर युद्ध छिड जानेकी आशंकासे बगालके अँगरेजो और फ्रान्सीसियोने अपनी-अपनी बस्तियोकी किलेबन्दी करनी और सैनिक भर्ती करनी शुरू कर दी। नवाबने यह देखकर उन्हे रोका। फ्रान्सीसी तो तुरत मान गये किन्तु अँगरेजोने उसकी अवज्ञा की और एक अत्यन्त धृष्टतापूर्ण उत्तर नवाबको लिख भेजा। नवाबके कुछ विद्रोहियो एवं भयानक अपराधियोको भी उन्होने शरण दी और नवाबकी माँगपर भी उन्हे उसके अधिकारियोके सिपुर्द नही किया। शाही फरमानोकी आडमे व्यापारके बहाने भी वे देशमे अनाचार करने लगे थे। यह सब नवीन नवाब सहन न कर सका अतः उसने उनकी कासिमबाजारकी कोठोपर अधिकार करके कलकत्तेपर धावा कर दिया। कलकत्ताका गवर्नर, सेनापति और अन्य बहुत-से अँगरेज भाग निकले और कुछ मारे गये। शीघ्र ही नवाबका अँगरेजोकी बगाल, बिहार और उडीसामे स्थित प्राय. सभी कोठियोपर अधिकार हो गया। इस पराभवका समाचार जैसे ही मद्रास पहुँचा अँगरेज चिन्तित हो उठे और उन्होने अपने कर्णाटकके

वीर क्लाइवको सर्वाधिकार देकर तथा एडमिरल वाटसन एवं ९०० गोरे और १५०० हिन्दुस्तानी सिपाहियोकी सेना उसके साथ करके कलकत्ताके लिए रवाना कर दिया। इन्होने आते ही कलकत्ता वापस ले लिया क्योंकि नवाव वहाँ थोडे-से सैनिक छोड़कर अपनी राजधानीको वापस जा चुका था। अब वे हुगलीकी ओर बढे। नवावकी एक सेनाके साथ मुठभेड भी हुई किन्तु हार-जीतका निर्णय होनेके पूर्व ही दोनो पक्षोके बीच सन्धि हो गयी। अँगरेजोको अपनी सब कोठियाँ और पहले अधिकार वापस मिल गये।

नवावके कथित अत्याचारके सम्बन्धमे अँगरेजोको भडकानेके लिए हाल्वेल-द्वारा फैलाये गये कलकत्ताकी कालकोठरीविषयक मिथ्या अपवाद-का क्लाइवने इस अवसरपर कोई उल्लेख ही नही किया। उसने इस समय बडी सावधानी और चतुराईसे काम लिया। वह यह भी जानता था कि फ्रान्सीसी लोग नवावके साथ अँगरेजोके विरुद्ध मैत्री-सन्धि करनेका प्रयत्न कर रहे है, अतः वह नवावको तनिक भी असन्तुष्ट नही करना चाहता था। नवावके विरुद्ध जो गूढ अभिसन्धि वह बना रहा था उसकी सफलता भी नवावके अँगरेजोकी ओरसे असावधान रहनेपर ही निर्भर थी और उसे कार्यान्वित करनेके पूर्व वह बगालके फ्रान्सीसियोको कुचलकर अशक्त बना देना चाहता था। उधर इसी समय अब्दालीके दिल्लीपर किये गये आक्रमण तथा भयंकर मराठा शक्तिके द्रुत प्रसारसे सिराज स्वयं भयभीत था, उसके अनेक सामन्त सरदार भी द्रोह कर रहे थे, अत. वह भी अँगरेजोको अपना मित्र बनाये रखना चाहता था। फलस्वरूप अँगरेजोने चन्द्रनगरको विजय करके एवं उसका विध्वंस करके फ्रान्सीसियोको कुचल डाला। इस प्रकार अँगरेजोके विरुद्ध नवावका एक प्रबल सहायक नष्ट हो गया।

क्लाइवने सिराजुद्दौलाका अन्त करनेके लिए दृढ निश्चय होकर भीतर-ही-भीतर एक भयंकर षड्यन्त्र करना शुरू किया। नवावके फूफा और

उसकी फौजके प्रधान बख्शी मीरजाफरको, जो उस समय बंगालके मुसलमान सरदारोमे सबसे अधिक शक्तिशाली था, नवाब बनानेका लोभ देकर क्लाइवने अपनी ओर फोड़ लिया। नवाबकी मामी अर्थात् अलीवर्दीखाँकी पुत्रवधू घसीटी बेगम, सरदार यारलतीफखाँ, राजा रायदुर्लभ, जगतसेठ आदि नवाबीके स्तम्भ भी अँगरेजोसे मिल गये। वास्तवमे प्राय: सभी बंगाली हिन्दू ज़मीदार और सेठ व्यापारी भी नवाबके पतनके इच्छुक थे और वे किसी-न-किसी रूपमे अँगरेजोके षड्यन्त्रमे सहायक हुए। नवाबके अन्त होनेकी सूरतमे उसके कोष एवं सम्पत्तिकी लूटमे सभीका हिस्सा निश्चित हुआ। अमीचन्द नामक एक धनी सिक्ख सौदागरकी मार्फत क्लाइवने मीरजाफर आदिके साथ सम्पर्क बनाये रखा। अमीचन्दको भी हिस्सा मिलना था, किन्तु धूर्त्त क्लाइवने उसके साथ भी जाल किया और समझौतेके जाली मसविदे भी तैयार किये। नवाबी दरबारके सरदारोमे परस्पर भी ईर्ष्या द्वेष और फूट थी, सभी अपने-अपने स्वार्थमे अन्धे थे, नवाबके, राज्यके, देशके या जनताके हितकी किसीको कोई चिन्ता न थी। तत्कालीन देशव्यापी अनैतिकता और पतनके प्रभावसे बंगाल भी अछूता नही था, और १७५६–५७ ई० के वर्षोमे तो अँगरेजोके प्रोत्साहन एवं सहयोगसे बगालके प्राय: समस्त राज्याधिकारियोकी कुचालोके कारण वह प्रभाव अपने चरम शिखरपर था। धूर्त अँगरेज इसी अवसरकी ताकमे थे। षड्यन्त्रकी सब योजना पूरी और पक्की हो जानेपर क्लाइवने नवाबको एक अत्यन्त उद्धत एव धृष्ट पत्र लिखा जिसमे उसपर फ़ान्सीसियोंकी सहायता करनेका मिथ्या दोषारोपण भी किया। थोडे समय तक उत्तरकी प्रतीक्षा करनेके उपरान्त वह सेना लेकर नवाबकी राजधानी मुर्शिदाबादसे २३ मील दक्षिणकी ओर स्थित पलासीके मैदानमे जा पहुँचा। नवाबने वहाँ कुछ सेना पहलेसे ही एकत्र कर रखी थी। उसकी संख्या पर्याप्त थी किन्तु उसमे ईरानी, अफगानी, अन्य मध्य-एशियाई तथा भारतीय हिन्दू, मुसलमानोका अद्भुत अव्यवस्थित मिश्रण था। अधिकाश सिपाही राज्यभक्तिके कारण नही

वल्कि केवल पैसेके लिए लड़नेवाले थे। नवाव स्वामिद्रोही एवं विश्वास-घाती सरदारोंसे घिरा हुआ था। स्वयं मीरजाफर, यारलतीफ और राय-दुर्लभकी अधीनतामें सेनाका वहुभाग था जो केवल तमाशा देखनेके लिए वहाँ चुपचाप निष्क्रिय वना रहा। फिर भी नवावकी शक्ति इतनी थी कि अँगरेज़ी सेनाका वहाँ चिह्न भी शेप न रहता। इसी कारण क्लाइव अत्यन्त भयभीत और चिन्तित था, वह रात्रिके छापो-द्वारा ही नवावकी सेनाको तंग करनेके पक्षमें था। किन्तु वड़े-वड़े सरदारो और साथी सैनिकोंके विश्वासघातको देखकर नवावके विश्वासी सैनिक भी हतोत्साहित थे और पहले धावेमे ही वे पीछे हटने लगे। नवाव स्वय घवरा उठा और मैदान छोड़कर भाग गया, अन्ततः वन्दी हुआ और क्रूरतापूर्वक उसका वध कर दिया गया। लगभग सौ आदमी अँगरेज़ोंके और पाँच सौ नवावके मरे या आहत हुए, किन्तु १७५७ ई० के पलासीके इस छोटे-से युद्धके मखौलने वंगालका ही नही पूरे देशका भाग्य निर्णय कर दिया। वंगालके निवा-सियोंने अपनी मूर्खता एवं क्षुद्र स्वार्थान्धताके वशीभूत होकर अपने देशसे एक भारतीय शासनका अन्त करके उसे, उसके राज्य, उसकी जनता तथा भविष्यको नितान्त विदेशी व्यापारियोंके हाथोमे स्वयं ही सौंप दिया। इस खेलमें अँगरेज़ोंकी सफलताका कारण उनकी शूर-वीरता या सैन्यशक्ति नही थी, वरन् उनका सौभाग्य, चालाकी, विश्वासघात और स्वामिद्रोह था और था स्वयं देशका दुर्भाग्य तथा देशवासियोंकी अपनी मूर्खता, अदूर-दर्शिता, विश्वासघात एवं निजी स्वार्थपरता।

पलासीके युद्धसे भारतमें अँगरेज़ी राज्यकी वास्तविक एवं स्थायी नीव जम गयी। अवतक अँगरेज प्राय पूर्णतया व्यापारी ही थे अव वे राजा वन गये। इस समयके उपरान्त व्यापारकी ओर उनका ध्यान उत्तरोत्तर गौणसे गौणतर होता चला गया और राज्य-विस्तार एवं राजनैतिक शक्ति-सवर्द्धनकी ओर अधिकाधिक वढ़ता गया। यहीसे अँगरेजों-द्वारा भारतकी सर्वतोमुखी भयंकर लूट विधिवत् एवं व्यवस्थित रूपमे प्रारम्भ हुई और

उसका प्रारम्भ बंगालसे ही हुआ जिसे सर्वप्रकार लूटनेमे उन्होने कोई कसर न रखी। क्लाइवने अपनी संरक्षकतामे नीच मीरजाफरको नवाब बनाया। स्वयं क्लाइवको लगभग ढाई लाख पौण्ड नकद और तीस हजार पौण्ड वार्षिककी जागीर मिली। कलकत्ता कौन्सिलके अन्य सदस्योंको भी किसीको पचास हजार और किसीको अस्सी हजार पौण्ड मिले। कम्पनी-की सेनाके विभिन्न अँगरेज अफसरोंको सब मिलाकर साढे बारह लाख पौण्ड तथा सिराजुद्दौला-द्वारा कलकत्तेके घेरेमे जिन अँगरेज़ोकी जो कुछ क्षति हुई थी उसके मुआवज़ेमे पौने दो करोड रुपये उन्हे मिले। सिवाय अमीचन्दके अन्य देशी सामन्त सरदारोंको भी हिस्से मिले। बडी शान्तिके साथ जो भरकर सैकड़ो वर्षसे संचित बंगालके राजकोषकी लूट हुई और वह बिलकुल खाली हो गया। अँगरेजोंका देना फिर भी काफी बाकी बना रहा जिसका तकाजा नवाबकी गरदनपर हर समय सवार था। अब अँगरेज ही बंगालके वस्तुतः स्वामी थे। घटनाका संवाद पाकर शहजादे अलीगौहरने अवधके नवावके साथ बंगालपर आक्रमण किया, किन्तु जैसे ही क्लाइव उसका सामना करनेके लिए बढा वह बिना युद्ध किये ही अवध वापस लौट गया। अँगरेज़ोके अंकुश और नित्य नयी माँगोसे तंग आकर मीरजाफरने चिनसुराके डचोसे बात-चीत करनेका प्रयत्न किया। इसपर अँगरेजोने जल और थल दोनोपर डचोको बुरी तरह पराजित किया और उन्होने अँगरेजोको दस लाख पौण्ड हर्जाना देकर अपना पिण्ड छुडाया। इसके बाद डचोकी ओरसे भी अँगरेज सदाके लिए निश्चिन्त हो गये। १७६० ई० मे अब अत्यन्त धनवान् क्लाइव इग्लैण्ड चला गया।

क्लाइवके जाते ही कलकत्ता कौन्सिलके सदस्योने मीरजाफरको उनकी माँगोकी पूर्ति करनेमे असमर्थ पाकर पदच्युत कर दिया और उसके दामाद मीरकासिमको नवाब बनाया। इस उपलक्ष्यमे उससे खूब धन लूटा, लाखो रुपये और कई ज़िले प्राप्त कर लिये। मीरजाफरके पतनमे उसके हिन्दू मुसाहब और सरदार भी सहायक हुए थे। मीरजाफरसे ही अँगरेज़ोने यह

अधिकार भी प्राप्त कर लिया था कि किसी भी अँगरेज़ कोठीका अध्यक्ष किसी भी व्यक्तिको ऐसा अधिकार-पत्र दे सकता है कि जिससे उसका सौदागरी माल राज्य-करसे मुक्त रहेगा। अतः कम्पनीके छोटे-बड़े कर्मचारी अपने निजी व्यापारमे तो इन अधिकार-पत्रोका उपयोग करते ही थे, देशी व्यापारियोके हाथ भी ऐसे पत्र बेच-बेचकर वे रुपया बनाते थे। अँगरेज़ोके कम्पनीकी ओरसे भी और प्रत्येक अँगरेज़के व्यक्तिगत रूपमे भी राजा-प्रजा सभीसे घूसखोरी और व्यापार दोनो ही साथ-साथ खूब चल निकले। कम्पनीके इन कर्मचारियोमे न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित और आत्म-सम्मानका भाव तनिक भी न था, केवल अपने-अपने लाभपर ही उनकी दृष्टि थी। स्वय अपने अँगरेज़ मालिकोको हानि पहुँचानेसे वे नही चूकते थे। जिस तरह बने निजी लाभ उठानेके प्रयत्नमे ही वे लीन थे। बिना किसी ज़िम्मेदारीके अँगरेज़ लोग असीम अधिकारोका उपभोग करने लगे। बहुधा वे शासन-कार्यमे राज्याधिकारियोके मार्गमे भी रोड़े अटकाते थे। उनके द्वारा व्यापारिक अधिकार-पत्रों (दस्तको) के दुरुपयोगसे राज्यकी आय भी बहुत कम हो गयी थी। अँगरेज़ लुटेरोका एक निरंकुश अविवेकी एवं अधिकारपूर्ण दल समस्त देशपर छा गया। मीरकासीम योग्य, वीर, हौसलेमन्द और कुशल शासक था। थोड़े समयमें ही राज्यकी व्यवस्था कुछ ठीक करके उसने अँगरेजोके पावनेको कुछ कम करनेका प्रयास किया। उससे मिले कई लाख रुपयोकी सहायतासे ही अँगरेज १७६१ ई० में पाण्डु-चेरीके युद्धमें सफल एवं फ्रान्सीसियोको कुचलनेमे समर्थ हुए।

किन्तु मीरक़ासिमकी समस्याएँ विषम थी, वह परकँच था। अँगरेजो-द्वारा देशकी भीषण लूट और अनीति भी उसे सह्य न थी। उसने उनके चंगुलसे निकलना चाहा, मुर्शिदाबादसे हटाकर मुंगेरको राजधानी बनाया, जर्मन आदि विदेशियोको सेनामे भरती किया और वह शक्तिसंग्रह करने लगा। बादशाह शाहआलम और अवधके नवाबसे भी उसने सहायता माँगी। इधर उसने कौन्सिलसे कम्पनीके कर्मचारियोकी शिकायत की

किन्तु कुछ परिणाम न निकला। इसपर उसने समस्त कर उठा दिये। इससे अँगरेजोंको जो दस्तकोंके-द्वारा विपुल लाभ होता था वह बन्द हो गया। अत: युद्ध छिड गया। पटनामे मीरकासिमके जर्मन कप्तान समरूने २०० अँगरेजोका वध कर दिया और तदनन्तर १७६४ ई० मे बक्सरमे अँगरेजोके साथ मीरकासिम, अवधके नवाब और बादशाह शाहआलमका युद्ध हुआ जिसमे अँगरेजोकी ही विजय हुई। मीरकासिम और अवधका नवाब अवध भाग गये और शाहआलम अँगरेजोकी शरणमे आ गया।

अब तो अँगरेज बंगालके ही सर्वे-सर्वा न थे वरन् स्वयं दिल्लीका बादशाह उनके संरक्षणमे था, देशमे उनकी शक्तिकी धाक जम गयी और भारतीय राजनीतिमे उनकी प्रतिष्ठा बढ गयी। बक्सरके युद्धके कार्यको पूरा करनेके लिए क्लाइवको कलकत्ताका गवर्नर एवं सेनापति बनाकर फिर भारत भेजा गया। उसने १७६५ ई० मे इलाहाबादमे शाहआलम और शुजाउद्दौलाके साथ सन्धि करके अपनी कम्पनीके लिए बादशाहसे बंगाल, विहार और उड़ीसाकी दीवानी अर्थात् इन प्रान्तोंकी मालगुजारी वसूल करनेका अधिकार प्राप्त कर लिया जिसके बदलेमे बादशाहको २६ लाख रुपया वार्षिक देनेका वचन दिया। अवधके नवाबसे उसने कड़ा और इलाहाबादके जिले ले लिये, उससे परस्पर सहायता करनेकी शर्त कर ली और उसकी सीमापर उसीके खर्चेसे अँगरेजी सेना रखनेकी बात तय कर ली। अब दिल्लीका बादशाह अँगरेजोका एक प्रकारका पेन्शनर था, अवधका नवाब-वजीर उनके प्रभावमे था तथा खर्चे एवं हर्जानेकी रकमके लिए ऋणी था, और बंगालके तो वे पूरे स्वामी थे। मीरजाफरको नाम-मात्रका नवाब बना दिया गया, पुलिस एवं दण्डविधान ही उसका एक-मात्र अधिकार-क्षेत्र रह गया। कुछ ही मास उपरान्त वह मर गया और उसके बेटे नज्मुद्दौलाको नवाब बनाया गया। मीरजाफरके पुनरुत्थानपर भी उसे खूब लूटा-खसोटा गया था। स्वयं स्क्रेफ्टन नामक एक अँगरेजके शब्दोमे 'नवाब तो कम्पनीके नौकरोके लिए एक ऐसा बैंक बना हुआ था

जिससे वे जब, जितनी बार और जितना चाहे रुपया निकाल ले।' उसका दीवान भी अँगरेजोके द्वारा ही नियुक्त किया जाता था और उसकी सेना भी परिमित एवं नियत थी। बंगालमे दोहरा शासन प्रचलित हो गया। अँगरेज अफसरों और उनके भारतीय कर्मचारियोका जाल देशके गाँव-गाँवमे बिछ गया। कम्पनीके भ्रष्टाचारी कर्मचारियोका भ्रष्टाचार और अधिक बढ गया। क्लाइवने अपनी सेनाका सुधार और संगठन किया तथा कम्पनोके कर्मचारियोपर भी नियन्त्रण रखने और उनके भ्रष्टाचारको कम करनेका प्रयत्न किया। किन्तु १७६७ ई० मे क्लाइव इंग्लैण्ड वापस चला गया और कुछ वर्ष बाद पागल होकर तथा आत्म-हत्या करके मर गया।

दोहरे शासनके दोप प्रत्यक्ष ही थे। कम्पनी और नवाव दोनोके कर्मचारी जनताको लूटनेमे होड लगाये हुए थे। बड़े-बड़े ज़मीदारोकी भी कोई प्रतिष्ठा या सुरक्षा न रह गयी थी। मालगुज़ारी आदिके वसूल करनेमे धन-जन, स्त्रियोंकी लाज, किसीको भी लूटनेमे कोई हिचक न थी। प्रजा निःसहाय हो गयी। इस बीचमे होनेवाले बंगालके अँगरेज़ गवर्नर वर्ल्स्ट (१७६७–६९ ई०) और कार्टियर (१७६९–७२ ई०) भी अयोग्य ही थे। १७६९–७० ई० मे बगाल देशमे अत्यन्त भयानक दुर्भिक्ष पडा जिसमे एक तिहाईसे अधिक जनता भूखो तडप-तडपकर मर गयी। सरकारने कुल ९००० पौण्ड तीन करोड़ अकाल-पीडितोकी सहायताके लिए निकाले। अकालकी भीपणता राज्य-कर्मचारियोके अत्याचारोके कारण और अधिक बढ़ गयी। अकालके फलस्वरूप नवाबके शासनका तो अन्त कर ही दिया गया और उसे पेन्शन देकर अलग कर दिया गया, साथ ही अब कम्पनीके ही सरकारी कर्मचारियोने जैसे बना अकाल-पीडित जनताको लूट-खसोटकर सरकारी कोपमे १७७१ ई० मे १७६८ ई० की अपेक्षा भी अधिक राज्य-कर वसूल करके जमा कर दिया। १७७२ ई० मे वारेन हैस्टिंग्स बंगालका गवर्नर बनकर आया। वह बड़ा कुटिल कूट-

नीतिज्ञ था। कम्पनीके अन्य सभी कर्मचारियोकी भाँति वह घूसखोरी और भ्रष्टाचारसे भी मुक्त नही था। जनताका शोषण और लूट वेगके साथ चलती रही। देशके उद्योग-धन्धे शनैः-शनैः अत्याचारपूर्वक नष्ट कर दिये गये। भारतमे अँगरेजोकी शक्ति एव विस्तार, और संसारमे इंग्लैण्डका धन-वैभव, व्यापार, उद्योग-धन्धे, प्रभाव और प्रभुत्व दिन दूने रात चौगुने बढते गये। भारतकी इस लूटसे प्राप्त धन तथा स्वयं भारतके ही कच्चे माल तथा विशाल भारतीय बाजारके बलपर ही इंग्लैण्डकी औद्योगिक क्रान्ति एवं संसारमे उसके व्यापारिक प्रभुत्वका सम्पादन इसी समयके लगभग प्रारम्भ हुआ।

वारेन हैस्टिंग्सने अपनी दो साल (१७७२–७४ ई०) की गवर्नरीमे पडोसी राज्योकी राजनीतिमे हस्तक्षेप करके कम्पनीकी शक्ति बढानेकी प्रथा चालू रखी। अपने ऋणी अवधके नवाबकी इच्छापर रुहेलोके साथ युद्ध छेडकर और फलस्वरूप उनका विनाश करके उसने अवधको तो जो लाभ पहुँचाया सो पहुँचाया, स्वयं अपना लाभ किया और कम्पनी की शक्ति और प्रभावको उत्तर भारतमे पश्चिम दिशामे और अधिक विस्तार दिया। इस युद्धमे पडना अँगरेजोके लिए अन्यायपूर्ण और अनुचित था। उसके लिए स्वय अँगरेजोने हैस्टिंग्सकी कड़े शब्दोमे निन्दा की है। रुहेले सरदार हाफिज रहमतखाँने अँगरेजोका कुछ भी न बिगाडा था। वह स्वयं भी एक उदार एवं सहृदय शासक था। अपनी मुसलमानेतर प्रजाके प्रति भी उसका व्यवहार अपेक्षाकृत अच्छा था। युद्धके उपरान्त अवधके नवाबोके शासनमे रुहेलखण्डकी दशा एकदम बिगड गयी। किन्तु उस कालके इन अँगरेजोकी दृष्टिमे उचित-अनुचित, न्याय-अन्यायका कोई मूल्य न था। जो बात भी उनकी शक्ति-संवर्द्धन और स्वार्थसाधनमे सहायक होती वही उचित एवं न्याय्य थी और उसे करनेमें वे कभी न चूकते थे। वारेन हेस्टिंग्सने इसी कालमे बंगालके शासनको भी व्यवस्थित करनेका और उसमे सुधार करनेका कुछ प्रयत्न किया, किन्तु इन सुधारो-

मे भी कम्पनी और अँगरेजोके हितो तथा अधिकारोकी सुरक्षाकी दृष्टि ही प्रधान थी। सन्यासियोके विद्रोहके नामसे प्रसिद्ध एक जनविद्रोह भी अँगरेजोके अत्याचारोके विरुद्ध बगालके कुछ भागोमे इस कालमें हुआ किन्तु अँगरेजोने उसे क्रूरताके साथ कुचल दिया। १७७३ ई० के रेगुलेटिंग ऐक्ट-द्वारा इग्लैण्डकी सरकारने सर्वप्रथम कम्पनीके कार्योंमे वैधानिक हस्तक्षेप किया। इस विधानके अनुसार बंगालका गवर्नर भारतका गवर्नर-जनरल कहलाया, अन्य सब सूबो और मद्रास, बम्बई आदिके गवर्नरोपर उसका आधिपत्य हुआ, ५ वर्ष उसका कार्यकाल नियत किया गया, उसकी सहायताके लिए चार सदस्योकी एक कौन्सिल बनायी गयी और कलकत्तेमे सुप्रीम कोर्टके नामसे सर्वोच्च अदालत स्थापित की गयी जिसके जज गवर्नर-जनरल और उसकी कौन्सिलके अधिकारसे सर्वथा स्वतन्त्र थे। मालगुजारी-सम्बन्धी ब्यौरो तथा फौजी एवं व्यापारिक मामलोसे इग्लैण्डकी सरकारको अवगत रखना आवश्यक हो गया। इस प्रकार इस पदाक्षेप-द्वारा इंग्लैण्डकी सरकार या कहिए कि सम्पूर्ण अँगरेजी राष्ट्र भारतमे अपनी राज्य-शक्तिके विस्तारमे प्रत्यक्ष रूपसे दिलचस्पी लेने लगा। कम्पनीके पिछले सभी कार्योंको तथा भविष्यमे किये जानेवाले सब कार्योंको अँगरेज़-सरकारका समर्थन, सहयोग, संरक्षण एवं अभिभावकत्व प्राप्त हो गया।

जिस प्रकार कलकत्ता केन्द्रके अँगरेज बंगालमे और फिर उससे आगे बढकर पश्चिमी प्रदेशोमे अँगरेज़ी शक्तिका संगठन, विस्तार और संवर्धन कर रहे थे, उसी प्रकार पूर्वी तटपर मद्रास केन्द्रसे वे सुदूर दक्षिणमे तमिल, तुलुव, आन्ध्र और कर्नाटक देशोमे वैसा ही कर रहे थे। तंजौर चन्द्रगिरि आदिके छोटे-छोटे राजाओको तो उन्होने प्राय. अपने अधीन कर ही लिया था और कर्नाटकका नवाब बंगालके नवाबकी भाँति ही उनके हाथकी कठपुतली था। उसके राज्यमे भी प्राय· उसी कालमे बंगाल-जैसा दोषपूर्ण दोहरा शासन स्थापित करके उन्होने कर्नाटक देशकी दशा एवं शासन-व्यवस्थाको भी पहलेसे कही अधिक शोचनीय बना दिया था।

निजाम और उसकी राजनीतिपर उन्होने अपना प्रभाव जमा ही लिया था, अब उसे और अधिक सुदृढ़ करने तथा मैसूरमे हैदरअलीका अन्त करने तथा निजाम और मराठोकी शक्ति क्षीण करनेके लिए उन्होने भारतके इस भूभागमे अपनी शक्तिका संगठन, विस्तार एवं संवर्धन करना प्रारम्भ कर दिया था। इसी नीतिके अनुसरणमे उनका हैदरअलीके साथ प्रथम मैसूर-युद्ध (१७६७–६९ ई०) हुआ, यद्यपि उसका परिणाम उनके लिए कुछ लाभदायक न हुआ। इसी प्रकार पश्चिमी तटपर बम्बई केन्द्रसे उन्होने मराठोकी शक्तिको क्षीण करनेके लिए वैसा ही प्रयत्न करना प्रारम्भ कर दिया था। १७६१ ई० की पानीपतकी पराजयके उपरान्त पेशवा राज्यकी स्थिति विपन्न हो उठी थी। अन्तःकलह, परस्पर फूट, सामन्त सरदारोके स्वतन्त्र राज्य स्थापना आदिसे उत्पन्न परिस्थितियो-ने इस भागमे भी अँगरेजोको स्वर्ण अवसर प्रदान किया। तीनों केन्द्रोके द्वारसे अँगरेज भारतवर्षको तीन महत्त्वपूर्ण दिशाओसे आवृत करते चले आ रहे थे। तीनो ही केन्द्रोके अँगरेज अधिकारी प्राय: एक-दूसरेसे स्वतन्त्र रहकर ही अपनी-अपनी दिशामे अबतक अग्रसर होते रहे थे, किन्तु उनमे उद्देश्य, हित और पद्धतिकी एक-सूत्रता एवं साम्य तथा परस्पर सहयोग एवं सहायता अभीतक भी बराबर बनी हुई थी। रेगुलेटिंग ऐक्ट-द्वारा उनका पूर्ण केन्द्रीयकरण एवं एकसूत्रीकरण करनेका प्रयत्न किया गया, जिसमे प्राय. कोई कठिनाई न हुई। अबतक अँगरेजी नीति और पद्धतिका यथावश्यक विकास हो चुका था, उनकी शक्ति अत्यधिक बढ गयी थी, स्थिति अत्यन्त सुदृढ हो गयी थी तथा उनके प्रभाव, अधिकार और साधन पर्याप्त थे। उनकी भारतीय साम्राज्यकी नीव मजबूतीके साथ जम गयी थी, अब मात्र तेजीके साथ उस साम्राज्यका विस्तार करके समस्त देशको उसमे व्याप्त कर लेना था जिसके सम्पादनमे वे मनोयोगके साथ जुट गये। इस काल तककी घटनाओका कुछ विस्तारके साथ विवेचन इसीलिए किया गया है कि अँगरेजोके उद्देश्य, उनकी नीति, पद्धति, मनोवृत्ति, जातीय

चरित्र एवं अवसरवादिताका ठीक-ठीक परिचय मिल जाये। आगेकी सब घटनाएँ इन्हीकी पुनरावृत्तिमात्र है अत. उनका संक्षिप्त विवरण ही पर्याप्त होगा जो गवर्नर-जनरलोके आधारसे कालक्रमानुसार निम्न प्रकार है ―

१. **वारेन हैस्टिंग्स** (१७७४–८५ ई०) भारतका प्रथम अँगरेज़ गवर्नर-जनरल था। पहले उसकी नियुक्ति पाँच वर्षके लिए की गयी थी, फिर पाँच वर्षके लिए और बढा दी गयी थी। उसके कार्यकालके प्रारम्भ होनेके अगले ही वर्ष बम्बईका गवर्नर पेशवा दरबारकी राजनीतिमे उलझ गया। पेशवा राज्यके अन्त कलहका लाभ उठाकर और राघोबाका पक्ष लेकर उसने अपने प्रान्तमे भी बंगालकी घटनाकी पुनरावृत्ति करनेकी सोची। किन्तु विचक्षण मराठा राजनीतिज्ञ नाना फडनवीसके कूटनीतिक चातुर्यके कारण उसे स्वयं लेनेके देने पड गये। १७७५–८२ ई० के प्रथम अँगरेज़-मराठा युद्धमे नाना फडनवीसने सिन्धिया, होल्कर, गायकवाड, भोसले आदि सभी मराठा सरदारोको तथा निज़ाम और हैदरअलीको भी अपनी ओर मिला लिया। इसपर बम्बईवालोके जैसे ही उद्देश्यसे प्रेरित होकर मद्रास सरकारने हैदरअलीके साथ युद्ध छेड दिया। हैदरअली स्वयं अँगरेजोको कर्नाटकसे बाहर निकाल देनेपर तुला हुआ था। अत. प्रथम अँगरेज-मराठा युद्धके बीचमे ही दूसरा अँगरेज़-मैसूर युद्ध (१७८०–१७८४ ई०) भी शुरू हो गया। इन युद्धोके आरम्भ करनेमें बम्बई और मद्रासके गवर्नरोने गवर्नर-जनरल वारेन हैस्टिंग्सकी कोई अनुमति या स्वीकृति नही ली थी, अत वह कुछ समय तक चुप ही बैठा रहा। फल-स्वरूप पूर्वी एवं पश्चिमी तटसे अँगरेजोका नाम-निशान मिटने ही जा रहा था जिसके कारण अँगरेजोकी राज्याकाक्षा, शक्ति और प्रतिष्ठाको अमिट ठेस लगती, साथ ही विश्वासघात, वचनभंग आदि लाछनोसे उन्हे सदैवके लिए लाछित भी रहना पडता, किन्तु उसके पूर्व ही वारेन हैस्टिंग्सने समस्त अँगरेज़ शक्तिको केन्द्रित करके इस युद्धमे लगा दिया। पश्चिमी तट, पूर्वी तट और मध्य भारत आदि विभिन्न स्थानोमें पेशवा,

मराठा सरदारो और हैदरअलीके साथ अँगरेजोके युद्ध हुए। अँगरेजोकी कूटनीति और चातुरी साथ-साथ अपना कार्य करती रही। परिणाम यह हुआ कि १७८२ ई० मे सालबाईकी सन्धिसे मराठा युद्धका और १७८४ ई० मे मंगलौरकी सन्धिसे मैसूर युद्धका अन्त हुआ। अँगरेजोका प्रभाव उनके सभी विरोधी राज्योपर छा गया। उनकी सबकी ही शक्ति-विस्तार और अधिकार कुछ-न-कुछ घट गये और अँगरेजोके पर्याप्त बढ गये। अब उन राज्योका अन्त करने या उन्हे पूर्णतया अपने अधीन कर लेनेका मार्ग भी अँगरेजोके लिए सुगम हो गया।

इस कालमे देशके प्रत्यक्ष शासनका काम अँगरेजोको केवल बंगालमे ही करना पड रहा था। उसके लिए उन्होंने प्रचलित मुगलकालीन शासन पद्धतिके ढांचेको ही अपनाया और उसमे अपने हितोकी सुरक्षा एवं उद्देश्यो-की सिद्धिकी दृष्टिसे आवश्यक सुधार करने प्रारम्भ किये। उनकी इस शासन-पद्धतिसे देशका विशेष लाभ नही हुआ, अँगरेजोको ही उसके अधिकाधिक शोषण और लूटमें सहायता मिली। देश और जनताके हितकी उन्हे चिन्ता थी भी नही। किन्तु रेगुलेटिंग ऐक्ट-द्वारा स्थापित व्यवस्था स्वयं उनके लिए भी सदोष और असुविधाजनक थी। गवर्नर-जनरल और उसकी कौन्सिलके बीच सद्भाव एवं सहयोग रहता ही न था और राज्यकार्यमें अडचन होती थी। अतः इंग्लैण्डके प्रधान मन्त्री पिटने अपने १७८४ ई० के पिट्स इण्डिया ऐक्ट-द्वारा कम्पनीके लन्दनस्थ प्रधान कार्यालयपर तथा उसकी भारतीय नीतिपर अपनी सरकारका नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप और सुदृढ कर दिया और गवर्नर-जनरलके अधिकारोमे भी वृद्धि कर दी। इसी बीचमें अपने कार्यकालमे वारेन हैस्टिंग्सने कतिपय अन्य जघन्य कार्य किये थे। उसके अन्यायपूर्ण रुहेला युद्धका उल्लेख किया ही जा चुका है। उसने बंगालके एक प्रतिष्ठित एव सम्भ्रान्त राजपुरुष महाराज नन्दकुमारको व्यक्तिगत शत्रुताके कारण अपने मित्र सुप्रीम कोर्टके प्रधान जज सर एला-इजा इम्पे-द्वारा जालसाजीके झूठे मामलेमे फाँसीको सजा दिलवायी।

नन्दकुमारने हैस्टिंग्सकी भारी घूसखोरीका भी भण्डाफोड किया था। इम्पे-की सहायतासे हैस्टिंग्सने अपने कितने ही अन्य अवैध कार्योंको भी वैधरूप दे दिया था। व्यक्तिगत शत्रुता एवं धनके लोभके कारण ही उसने बनारसके समृद्ध एवं निर्दोष राजा चेतसिंहका प्रतिहिंसापूर्ण निर्दयताके साथ विनाश किया और उसके राज्यको लूटा। धनके लोभसे ही उसने अवधकी प्रतिष्ठित बेगमोंको जी भरकर लूटा-खसोटा और अपमानित किया। उसने अनेक जाल किये, लोगोंके साथ छल-कपटपूर्ण व्यापारिक एवं राजनीतिक समझौते किये, अनुचित भेंटें और घूस ली। इन सब कार्योंके लिए स्वयं तत्कालीन एवं उत्तरवर्ती अनेक अँगरेजोंने उसकी पर्याप्त निन्दा की है। इंग्लैण्ड वापस जानेपर उपरोक्त अपराधोंके लिए उसपर मुकदमा चलाकर अँगरेजों-की न्याय-परायणताका भी खूब ढोंग किया गया। अन्तत. वह ससम्मान निरपराध सिद्ध हुआ। न भी होता तो भारत और भारतीयोंकी जो क्षति वह कर चुका था उसकी पूर्त्ति असम्भव थी, और उसकी तनिक भी पूर्त्ति करनेका अँगरेज़ोंको, उनकी कम्पनी या सरकारको, स्वप्नमें भी कोई ध्यान न था। हैस्टिंग्सके जाने और नये गवर्नर-जनरलके आनेके बीच लगभग बीस महीने तक मैकफर्सनने उसका कार्यभार सँभाला। उसके समयमें अँगरेज़ोंका दोषपूर्ण एवं भ्रष्टाचारपूर्ण शासन और अधिक भ्रष्ट हो उठा। महादाजी सिन्धिया अपने फ्रान्सीसी सेनापति काउण्ट डि-ब्रोइनकी सहायतासे इस कालमें दिल्ली दरबारका सर्वेसर्वा था। बादशाह शाहआलम भी उसकी दयापर आश्रित था। सिन्धियाने अँगरेज़ोंसे भी बंगाल, बिहार आदिकी चौथकी माँग की।

२. **लार्ड कार्नवालिस** (१७८६-९३ ई०) को गवर्नर-जनरल होनेके साथ-ही-साथ प्रधान सेनापति भी बना दिया गया और कौन्सिलके सदस्योंके ऊपर उसे पूरा प्रभुत्व प्रदान कर दिया गया। उसने कम्पनीकी नौकरीमें सुधार करने, भ्रष्टाचारको कम करने और अदालतोंका सुधार करनेका प्रयत्न किया तथा हैस्टिंग्स-द्वारा प्रचलित अत्याचारपूर्ण ठेकेदारी

प्रथाका अन्त करके बंगालमे मालगुजारीका इस्तमरारी अर्थात् स्थायी बन्दोबस्त किया और सिविल सर्विसकी भी स्थापना की। कार्नवालिस एक उच्च घरानेका सम्पन्न व्यक्ति, ईमानदार और अनुभवी शासक था। उसके पूर्ववर्ती अधिकारियों-द्वारा किये गये अत्याचारो एवं अनाचारोको भुलानेके लिए उसे भेजा गया था। ऐसा करना अँगरेजोकी गहरी कूट-नीतिका प्रदर्शन था। इस प्रकारकी क्रिया-प्रतिक्रियापर ही वह अवलम्बित थी और सदैव चलती रही। एक शासक आता जो जी भरकर जोर-जुल्म, लूट-खसोट करता उसके तुरन्त उपरान्त ऐसा व्यक्ति भेजा जाता जो जनता-के आँसू पोंछनेका और उसे पुराने अत्याचारोको भूलकर अँगरेजोकी सदाशयता, उदारता एवं न्याय-परायणताकी प्रशंसा करनेके लिए प्रोत्साहित करता। किन्तु इन दोनो ही गरम और नरम प्रकारके अधिकारियोके हाथमे अँगरेजोके अपने मौलिक हित समान रूपसे सुरक्षित रहते। १७९०–९२ ई० मे दूसरा अँगरेज-मैसूर युद्ध छिड़ा जिसके परिणामस्वरूप टीपू सुलतान-का राज्य और शक्ति अत्यन्त घट गये और मद्रास प्रेसीडेन्सीका भी पर्याप्त विस्तार हो गया। इस कालमे उत्तरापथमे महादाजी सिन्धिया सर्वाधिक शक्तिशाली हो रहा था, वह चतुर, बुद्धिमान् और प्रतापी भी था। अँग-रेजोने उसके साथ मित्रता ही बनाये रखी और उसके कार्योमे हस्तक्षेप नही किया। १७९४ ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी। १७९३ ई० मे इंग्लैण्ड-की सरकारने कम्पनीको आगेके २० वर्षोके लिए भारतीय व्यापारके एका-धिकारके लिए नया आज्ञा-पत्र प्रदान कर दिया था।

३. सर जॉन शोर (१७९३–९८ ई०) पहलेसे ही कम्पनीका कर्म-चारी था और कार्नवालिसका सहायक था। वह सिविलियन मनोवृत्तिका था और देशी राज्योके मामलोमे हस्तक्षेप न करनेकी नीतिका अनुसरण करना तथा पिटके इण्डिया ऐक्टका अक्षरशः पालन करना चाहता था। अतः पूर्व सन्धिकी अवहेलना करके उसने मराठोके विरुद्ध अपने मित्र निजामको सहायता न दी, फलस्वरूप खर्दाके युद्धमे निजाम बुरी तरह

पराजित हुआ। अँगरेजोंकी इस प्रत्यक्ष कायरतासे प्रोत्साहित होकर टीपू सुल्तानने फ्रान्सके नेपोलियन तथा अफगानिस्तानके अमीरके साथ अँगरेजो-के विरुद्ध बातचीत शुरू कर दी और वह युद्धकी तैयारी करने लगा। अफगान बादशाह जमनशाह पंजाबमें आ पहुँचा अतः डरकर सर जॉन शोरने अवधमें दृढ़तासे काम लिया। १७९७ ई० मे नवाब आसफुद्दौलाकी मृत्युपर उसके बेटेको पदच्युत करके भाई सादतअलीको नवाब बनाया, उससे इलाहाबादका किला, कुछ अन्य प्रदेश और धन लिया तथा अवधपर अपना पंजा पूरी तरह कस दिया।

४. **लार्ड वेलेज़्ली** (१७९८–१८०५ ई०) अपने दो पूर्ववर्तियोंके बारह वर्षके नरम शासनके उपरान्त अब इस नये गवर्नर-जनरलने अपनी अत्यन्त गरम नीतिका प्रयोग किया। वह बडा साहसी, अविवेकी, साम्रा-ज्यवादी एवं राजनीतिज्ञ था। इस समय नेपोलियनके भयसे अँगरेज़ोंके प्राण खुश्क थे, वे उसके साथ ऐसे भीषण एवं व्यापक युद्धमें संलग्न थे जिस-पर उनके राष्ट्रका जीवन-मरण निर्भर था। भारतमे टीपू उनका कट्टर शत्रु था, खर्दाके युद्धके बाद निज़ाम भी उनसे रुष्ट हो गया और फ्रान्सी-सियोंके साथ लिखा-पढ़ी करने लगा। उत्तरमे सिन्धिया अत्यन्त शक्तिशाली था। कम्पनीकी भीतरी दशा भी बहुत खराब थी, उसके कर्मचारी परस्पर कलहमें रत थे, अनुशासन बिगड गया था और खज़ाना खाली था। वेले-ज़लीने तुरन्त व्यर्थका बहाना बनाकर टीपूपर आक्रमण कर दिया। निज़ाम डरकर अँगरेज़ोंके पूरी तरह अधीन हो गया और युद्धमे उनकी सहायता करनेके लिए भी तैयार हो गया। १७९८–९९ ई० के इस चौथे अँगरेज-मैसूर युद्धके फलस्वरूप टीपू और उसके राज्यका अन्त हो गया। राज्यका और सम्पत्तिका एक बडा हिस्सा अँगरेज़ोंने हड़प लिया, शेष अपने मित्रोंमे बाँट दिया और अपनी संरक्षकतामे मैसूरका एक छोटा-सा हिन्दू राज्य स्थापित कर दिया।

अब वेलेज़लीने अपनी सहायक-सन्धि प्रथा चालू की। जो राज्य

अँगरेजोंके साथ यह सन्धि करता वह अनिवार्य रूपसे अँगरेजोंकी अधीनता स्वीकार कर लेता, किसी देशी या विदेशी अन्य शक्तिके साथ वह सन्धि-विग्रह नहीं कर सकता था, उसे अपने यहाँ एक अँगरेज रेजीडेण्ट और सेना रखनी पड़ती थी जिसका सब खर्च उसे देना पड़ता था और किसी अन्य विदेशीको वह अपने यहाँ नौकर नहीं रख सकता था। सबसे पहले निजाम इस बन्धनमें बँधा। तदनन्तर अवधके नवाबसे रुहेलखण्ड और गोरखपुरके जिले बरबस छीनकर उसे इस सन्धिमें बाँधा। १८०२-०५ ई० में मराठोंके साथ युद्ध छेड़ दिया और परिणामस्वरूप पेशवा, सिन्धिया, होलकर, भोंसले आदि मराठा राज्योंको पराजित करके उन्हें अपने-अपने राज्योंके मूल्यवान् प्रदेश अँगरेजोंको दे देने तथा इस सन्धिमें बँधनेपर विवश किया गया। भरतपुरके जाटों और राजस्थानके प्रायः सभी राजपूत राज्योंको भी इन सन्धियोंमें जकड़ लिया गया।

इन सन्धियोंके फलस्वरूप भारतमें अँगरेजोंकी स्थिति अत्यन्त दृढ़ हो गयी, उनका राज्य विस्तार प्रत्येक दिशामें देशके अन्त:प्रदेश तक पहुँच गया, धन, आय तथा व्यापार अत्यधिक बढ़ गया, सन्धिमें बँधे राज्योंपर उनका साम्राज्य स्थापित हो गया और उनके पास एक सुशिक्षित विशाल सेना हो गयी जिसके लिए उन्हें कुछ भी खर्च न करना पड़ता था। इन कथित अनगिनत मित्र राज्योंकी विदेशी नीतिपर भी उनका पूर्ण अधिकार हो गया और उन्हें अन्य यूरोपीय जातियोंके आक्रमणका कोई भय न रहा। इन सन्धियोंके लिए वेलेजलीने भारतीय राजाओंपर बड़ा दबाव डाला तथा उनके साथ अत्याचारपूर्ण और सख्तीका बरताव किया। उसने उनकी या उनकी जनताकी भावनाओंका तनिक भी खयाल न किया और न उनके न्याय्य अधिकारोंपर ही कुछ ध्यान दिया। उसको तो केवल अँगरेजी राज्यके विस्तार और सुरक्षाकी चिन्ता थी। देशी राजा नवाब उसके दबाव और अत्याचार तथा अपनी स्वयंकी असहाय अवस्था, अयोग्यता, फूट, स्वार्थ-परता एवं नैतिक पतनके कारण उसका कहा माननेपर विवश हुए।

अँगरेज इतिहासकारो, और राजनीतिज्ञोने अपने इस जाति वीरकी इस कुनीतिकी वडी प्रशंसा की है, किन्तु भारतीय राजाओं और नवावोपर इन सन्धियोका वडा वुरा प्रभाव पडा। अव उन्हे विदेशियोके या पडोसी राज्योके आक्रमणोका अथवा आन्तरिक द्रोहोका प्रायः कोई भय न रहा, अत. वे निकम्मे, कमजोर, आलसी और विलासी हो गये। उनका आत्म-सम्मान भी जाता रहा और राजनैतिक जीवन निःसत्त्व हो गया। राज्यके शासन-प्रवन्धकी ओरसे भी वे विमुख हो गये। षड्यन्त्र, अनाचार और अत्याचार वढने लगे और अन्तमे इन अत्याचारो और कुशासनकी दुहाई देकर उनमे-से जिसे चाहा उस राज्यको अँगरेजी राज्यमे मिला लेनेका सहज वहाना अँगरेज़ोके हाथमे आ गया। टामस मनरो आदि पाश्चात्त्योने भी इस सन्धि प्रथाकी कडे शब्दोमे आलोचना की है और कहा है कि इसके द्वारा भारतीय नरेश पूर्णतया चरित्रहीन और दुर्वल हो गये। इतना ही नही, वेलेज़लीने, जो अपने राज्यका यथाशक्य विस्तार करनेपर तुला हुआ था, तंजौर राज्यके उत्तराधिकारके झगडेका लाभ उठाकर उस राज्यका अन्त करके उसे अँगरेज़ी राज्यमे मिला लिया। सूरतकी नवावीके साथ भी यही किया गया और कर्नाटककी नवावीके साथ भी बंगाल-जैसा ही वरताव किया गया। इन नरेशोको नाम-मात्रको पेन्शन देकर अलग कर दिया गया। उनके राज्यपर अँगरेजी शासन स्थापित कर दिया गया जो प्राय सदैव ही प्रारम्भमें पहले देशी शासनकी अपेक्षा अधिक निकृष्ट और अत्याचारपूर्ण था। वैसे तो क्लाइव और हैस्टिंग्स पहले ही इस नीतिका प्रारम्भ कर चुके थे किन्तु अव वेलेज़लीने उसे एक व्यवस्थित, व्यापक एवं वैध रूप देकर भारतमे अँगरेजोके प्रभुत्वको अनुमानातीत रूपमे गहरा एवं विस्तृत वना दिया और साथ ही देशके नैतिक एवं राजनैतिक पतनको भी शिखरपर पहुँचा दिया। वेलेज़लीकी इस तीव्र तप्त नीतिके उपरान्त ठण्डी नरम नीतिकी आवश्यकता थी, अतएव—

५. **कार्नवालिसको** पुन गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा गया किन्तु

कुछ मास पश्चात् ही उसकी मृत्यु हो गयी। उसके स्थानमे—

६. **सर जार्ज वार्लो** (१८०५–०७ ई०) नियुक्त हुआ। उसने भी हस्तक्षेप न करनेकी नीतिका पूर्णताके साथ पालन किया। बेलेजलीकी नीतिके परिणामों और अँगरेजोकी गूढ दुरभिसन्धिको बहुत-से भारतीय अनुभव करने लगे थे किन्तु विवश थे। तथापि १८०६ ई० मे वैलोरमे अँगरेजी सेनाके भारतीय सैनिकोने भीषण विद्रोह कर दिया जिसका कठिनाईसे दमन हुआ। साथ ही देश-भरमे उपद्रव खडा हो गया, झुण्डके झुण्ड डाकू सर्वत्र घूमते फिरते थे और निःशंक लूट-मार करते थे। बुन्देलखण्डमे तो पूर्ण अराजकता फैल गयी, अनेक छोटे-छोटे सरदार परस्पर लड़ने-झगडने लगे। उधर पंजाबमे रणजीतसिहका स्वतन्त्र सिक्ख-राज्य उत्तरोत्तर शक्तिशाली होता जा रहा था। यूरोपमे नैपोलियन बोनापार्ट अपनी शक्तिके शिखरपर पहुँच गया था। अँगरेजोका वही सबसे अधिक बलवान् एवं महान् शत्रु था जिसके कारण उनकी बडी भयप्रद स्थिति थी।

७. **लार्ड मिण्टो** (१८०७–१३ ई०) के गवर्नर-जनरलका पद सँभालनेके समय उपरोक्त समस्याएँ उसके सम्मुख थी। अतः उसने ईरान, अफगानिस्तान और पंजाबके नरेशोके पास दूत भेजकर उनसे मैत्री सन्धियाँ कर लीं और उन्हे फ्रान्सीसियोके विरुद्ध अँगरेजोका मित्र बना लिया। सिन्धके अमीरोके साथ भी इसी प्रकारकी सन्धि कर ली गयी। उसने बुन्देलखण्ड आदिके सरदारोके पारस्परिक झगडोका निबटारा किया और डाकुओका भी कुछ दमन किया। मिण्टोको यह गर्व था कि भारतीय शक्तियोके विरुद्ध शस्त्र उठाये बिना ही उसने सारी अराजकताको दबा दिया।

८. **लार्ड हैस्टिंग्स** (१८१३–२३ ई०) के प्रथम वर्षमे ही कम्पनीका नया आज्ञा पत्र अगले बीस वर्षोके लिए जारी हुआ जिसके द्वारा भारतीय व्यापारपर उसका एकाधिकार समाप्त कर दिया गया। १८१३ ई० के इस आज्ञापत्र-द्वारा ही प्रथम बार अँगरेज कम्पनी सरकारने तीस

करोड निवासियोके इस विशाल देशके लिए दस हजार पौण्ड शिक्षापर खर्च करनेका उदार निश्चय किया। १८१४–१६ ई० मे नेपालके गोरखो-के साथ युद्ध करके और उन्हे सहायक सन्धि प्रथामे बाँधकर मित्र राज्य बनाया गया तथा उनसे तराई प्रदेश एवं कुमायूँ, गढवाल, शिमला आदिके कुछ पर्वतीय प्रदेश हस्तगत कर लिये गये। १८१६–१८ ई० मे पिण्डा-रियोका दमन किया गया। ये भयंकर सैनिक लुटेरे हजारोकी संख्यामे कई क्रूर सरदारोके नेतृत्वमे सर्वत्र लूट-मार करते थे और सामान्य जनताको ही नही अनेक राजाओ और राज्योको भी निरन्तर सताते रहते थे। पूर्वकालके लुटेरे मराठा सरदारोके सहयोगसे बढे थे जो अब भी उन्हे सहायता एवं प्रोत्साहन देते थे। अब पिण्डारी सदल-बल स्वतन्त्र लूट-मार करते थे। एक विशाल अँगरेजी सेनाने सब ओरसे घेरकर उनको कुचल डाला और तितर-बितर कर दिया। उनके कई सरदार मारे गये। शेषमें-से अमीरखाँको टोकका राज्य दे दिया गया। १८१७–१९ ई० मे तीसरा मराठा युद्ध छेड़कर पेशवाके पूना राज्यका अन्त कर दिया गया। उसके साथ ही मराठा संघका भी पतन हो गया। उसके सिन्धिया, होल्कर, भोसले, गायकवाड आदि भिन्न-भिन्न सदस्य अपनी शक्ति, अधिकार और प्रदेश खो-खोकर तथा अपने राज्योको सहायक सन्धि प्रथामे और अधिक जकडवाकर अँगरेजोके पूर्णतया अधीन हो गये। अब कश्मीर, सिन्ध और पंजाबको छोडकर सम्पूर्ण भारतपर अँगरेजोका प्रभुत्व था। हैस्टिंग्सको टामस मनरो-जैसे कतिपय योग्य और परिश्रमी प्रशासक भी प्राप्त थे। मनरोने मद्रास प्रान्तमे मालगुजारीकी रय्यतवाड़ी प्रथा स्थापित की। १८१८ ई० में बंगालके श्रीरामपुरमे ईसाई पादरियोने धर्मप्रचारार्थ देशी भाषामे एक समाचार-पत्र निकालना शुरू किया। अँगरेजी पत्रोपर लगे प्रतिबन्धोको भी ढीला कर दिया गया।

६. **लार्ड एम्हर्स्ट** (१८२३–२८ ई०) ने ब्रह्माके राजाके साथ, जिसने आसामको विजय करके पूर्वी बगालपर आक्रमण करनेकी तैयारी की

थी, युद्ध छेड़ दिया। ब्रह्माके इस प्रथम युद्ध (१८२४–२६ ई०) के फल-स्वरूप ब्रह्माका राजा पराजित हुआ और सहायक सन्धिमे बँधा। भारी रक़म और आसाम प्रान्त अँगरेजोंके हाथ आये। मनीपुरका राज्य भी उनकी अधीनतामे रहा। उनकी पूर्वी सीमा भी अब सुरक्षित हो गयी। १८२६ ई० मे भरतपुरमे दुर्जनसाल विद्रोही हुआ जिसकी देखा-देखी मालवा, बुन्देलखण्ड एवं मराठा राज्योमे विद्रोहके चिह्न दीख पडने लगे। अँगरेजोने दुर्जनसालको कुचल दिया, भरतपुरके क़िलेपर अधिकार कर लिया और खजानेको जी भरकर लूटा, किन्तु भरतपुर राज्यको क़ायम रखा।

१०. सर विलियम बेंटिंक (१८२८–३५ ई०) ने शासन-सुधार और शान्ति-कार्योकी ओर अधिक ध्यान दिया। इसके समयमे सर्व-प्रथम अँगरेजोने अपने एक प्रतिष्ठित अधिकारी टामस मनरोके मुखसे यह कहलाया कि ब्रिटिश सरकार एक संरक्षकके रूपमे भारतको अपने अधीन रखेगी और उसका ध्येय भारतीयोको अपने देशका शासन करनेके योग्य बनाना है। यहीसे अँगरेजोने विश्वमे अपना यह दम्भ प्रचारित करना शुरू किया कि भारत-जैसे पिछडे, अशक्त, अरक्षित और असभ्य देशोंका संरक्षण करना तथा उन्हे उन्नत और सभ्य बनाकर अपने पैरोपर खड़ा कर देना इस गोरी जातिका स्वेच्छा एवं परोपकार वृत्तिसे ग्रहण किया हुआ भार और उत्तरदायित्व है। अँगरेज़ोका यह दम्भपूर्ण ढोंग वर्तमान पर्यन्त चलता रहा है। अस्तु बेंटिकने घोषित किया कि प्रत्येक भारतीय जाति, धर्म या रंगके किसी भेद-भाव बिना किसी भी सरकारी पदपर नियुक्त किया जा सकता है। उसने फ़ौजी ख़र्च कम करके तथा शासन-सम्बन्धी अन्य आर्थिक सुधारो-द्वारा सरकारकी आय और बचत बढ़ायी, पश्चिमोत्तर प्रान्तका बन्दोबस्त पूरा कराया और इलाहाबादमे बोर्ड ऑफ रेवेन्यू स्थापित किया, अदालतोमे सुधार किये तथा उनकी भाषा फ़ारसीके स्थानमे उर्दू कर दी। सतीकी प्रथा, नरबलि, शिशुहत्या, स्त्रियोंका व्यापार आदि

सामाजिक कुरीतियोको भी कानून-द्वारा दण्डनीय बनाया गया। गुलामी-की प्रथा भी उठा दी गयी। सुसंगठित ठगोके दलोंका प्रकोप बहुत बढ गया था जिनके कारण यात्राएँ एवं मार्ग अरक्षित थे। मेजर स्लीमन-द्वारा उसने इन ठगोका विनाश कराया। यूरोपीय साहित्य और विज्ञानकी शिक्षाके लिए १८१६ ई० मे और १८२० ई० मे कलकत्तामे दो कॉलेज स्थापित हो चुके थे। ये व्यक्तिगत प्रयत्न थे। अब सरकारने भी भारतीयो-की शिक्षाके लिए कदम उठाया। किन्तु मैकालेके, जो कि भारतीय ज्ञान-विज्ञान, साहित्य और भाषाओका घोर निन्दक एवं अँगरेज़ीका पूर्ण पक्ष-पाती था, प्रभावसे अँगरेज़ीको ही भारतीयोकी शिक्षाका माध्यम बनाया गया और सरकारी सहायता केवल अँगरेज़ी शिक्षाके लिए ही स्वीकृत हुई।

देशी राज्योके सम्बन्धमे बेंटिककी नीति सामान्यतया हस्तक्षेप न करने-की ही थी, तथापि कचार और कुर्गके राज्योंका अन्त करके उसने उन्हें अँगरेज़ी राज्यमे मिला लिया। मैसूर, अवध, भोंसले, होल्कर, सिन्धिया आदि राज्योके आन्तरिक मामलोमे भी काफी हस्तक्षेप किया। अँगरेज़ी सरकारकी दुटप्पी नीतिके कारण बहुधा देशी राज्योमे यह सोचा जाने लगा था कि अँगरेज सरकार उनके राज्योंका अन्त करनेका बहाना ढूँढ़ती रहती है। नरेशोको यह शिकायत बराबर बनी रहती थी कि न तो उन्हे अपने शासनकी व्यवस्थाको अपनी इच्छानुसार ठीक करनेका ही अवसर मिलता है और न अँगरेज़ सरकार ही इस कार्यमे उन्हे कोई सहायता देती है। १८३१ ई० मे महाराज रणजीतसिहसे भेंट करके बेंटिकने अँगरेज़-सिक्ख मैत्रीको पुष्ट किया और १८३२ ई० मे सिन्धके सब अमीरोको सहायक सन्धि प्रथामें बाँध लिया। १८३३ ई० मे कम्पनीका नया बीस-साला आज्ञा-पत्र जारी हुआ जिसमें कम्पनीको अब व्यापारके स्थानमे भारतका शासन करनेकी ही आज्ञा मिली। शासन-व्यवस्थामे कुछ महत्त्वपूर्ण परि-वर्तन भी किये गये यथा गवर्नर-जनरलकी कौन्सिलमें न्याय सदस्यकी

वृद्धि। इस पदपर मैकालेकी नियुक्ति हुई। साथ ही पार्लियामेण्टने यह घोषणा भी की कि भारतका कोई निवासी अथवा ब्रिटिश सम्राट्की कोई प्रजा अपने धर्म, जन्म-भूमि, वंश या रंगके कारण किसी सरकारी पद या नौकरीसे वंचित नहीं की जायेगी।

११. सर चार्ल्स मेटकॉफ़ (१८३५–३६ ई०)ने प्रेस-एक्ट-द्वारा समाचार-पत्रोंको स्वतन्त्रता प्रदान की।

१२. लार्ड ऑकलैण्ड (१८३६–४२ ई०) के समयमे प्रथम अफगान युद्ध हुआ। इस युद्धका उद्देश्य रणजीतसिहकी सहायतासे काबुलके स्वाधीन शासक दोस्तमुहम्मदको, जिसपर अँगरेजोको अपना विरोधी होनेका सन्देह था, पदच्युत करके शाहशुजाको अफगानिस्तानका अमीर बनाना था। अँगरेजी सेनाने सिन्धके मार्गसे अफगानिस्तानमे १८३९ ई० मे प्रवेश किया। इस युद्धमे अँगरेज बुरी तरह पराजित हुए। १८४२ ई० मे जब पराजित अँगरेजी सेना सन्धि करके वापस लौट रही थी तो अफ़गानोंने उसे काट डाला और १६००० सैनिकोमे-से केवल एक उस दुःखान्त घटनाका वर्णन करनेके लिए जीवित बचकर आ पाया। ऑकलैण्डकी बड़ी निन्दा हुई और वह वापस इंग्लैण्ड बुला लिया गया।

१३. लार्ड एलिनबरा (१८४२–४४ ई०) ने अफगान युद्धको समाप्त कर दिया। उसने पिछली हारका कुछ प्रतीकार करके वाहवाही लूटी। दोस्तमुहम्मद ही काबुलका बादशाह फिर बन बैठा। ऑकलैण्डने सिन्धके अमीरोके साथ सन्धि करके उन्हे रेजीडेण्ट रखनेपर विवश किया था और उनपर वार्षिक कर भी लाद दिया था। १८४३ ई० में अमीरोंपर कुछ झूठे दोषारोपण करके युद्ध छेड दिया गया और मियानीके युद्धमे उन्हे पराजित करके समस्त सिन्ध प्रान्त अँगरेजी राज्यमे मिला लिया गया। इस अन्यायपूर्ण कार्यकी स्वयं इंग्लैण्डकी पार्लमेण्टने निन्दा की किन्तु उसे उलटा नही क्योंकि उससे अँगरेजोको भारी व्यापारिक और राजनैतिक लाभ जो हुआ था। ग्वालियरमे उत्तराधिकारका प्रश्न उठा,

इस बहानेसे अँगरेजोंने इस राज्यको, जो अब भी पर्याप्त शक्तिशाली था, और अधिक अशक्त एवं पूर्णतया अपने अधीन कर लिया।

१४. लार्ड हार्डिंज (१८४४–४८ ई०) का सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण कार्य रणजीतसिंहकी मृत्युका लाभ उठाकर सिक्खोंके साथ युद्ध (१८४५–४६ ई०) छेड़ना और फलस्वरूप महान् शक्तिशाली सिक्ख राज्यको अशक्त एवं अपंग बनाकर अपने अधीन कर लेना था। लाहौर-मे चतुर हैनरी लारेन्सको बालक राजा दिलीपसिंहका संरक्षक और रेजी-डेण्ट नियुक्त कर दिया गया। कश्मीर एक पृथक् राज्य हो गया। शासन-सम्बन्धी कुछ सुधार भी हार्डिंजने किये, वेंटिककी समाज सुधार नीतिकी भी कुछ पुनरावृत्ति की और गंगाकी नहरके निकालनेकी योजनाका भी समर्थन किया।

१५. लार्ड डलहौज़ी (१८४८–५६ ई०) ने आते ही मुलतानके गवर्नर मूलराजके विद्रोहका लाभ उठाकर पंजाबके सिक्ख राज्यके साथ युद्ध छेड़ दिया। लाहौर राज्य १८४६ ई० की सन्धिके अनुसार ही अँग-रेज़ोंकी पूर्ण अधीनता एवं संरक्षणमे था और उन्हे २२ लाख रुपये वार्षिक राज्य-कर देता था। उसे बिलकुल ही कुचल डालनेकी नीतिने समस्त पंजाबको विद्रोही कर दिया। युद्धमें सिक्ख बड़ी वीरताके साथ लड़े और प्रारम्भमे उन्होंने अँगरेज़ोंको प्रायः हरा ही दिया था, किन्तु अन्तमें वे पराजित हुए और बुरी तरह कुचल डाले गये। १८४९ ई० मे राजा दिलीपसिंहको राज्यच्युत करके और पेन्शन देकर इग्लैण्ड भेज दिया गया, राजाकी पदवी भी उससे छीन ली गयी और एक पत्रमे यह लिखकर कि दिलीपसिंह या उसके उत्तराधिकारी पंजाबके राज्यपर कभी कोई दावा न करेंगे, उसके हस्ताक्षर करा लिये गये। सिक्खोंको निःशस्त्र कर दिया गया और उनके सरदारोंकी ज़मीन और जागीरें छीन ली गयीं। पंजाबको इस प्रकार अँगरेजी राज्यमे मिलानेमे कुछ कम कठोरता, अन्याय और अत्याचार नहीं किया गया।

१८५२ ई० मे अँगरेज व्यापारियोके हितोंकी रक्षा करनेके बहाने ब्रह्माके साथ युद्ध छेडा गया और राजाको पराजित करके तथा सहायक सन्धिमे बाँधकर सम्पूर्ण दक्षिणी ब्रह्माको अँगरेजी राज्यमे मिला लिया गया। अब बंगालकी खाडीका सम्पूर्ण समुद्र तट, कुमारी अन्तरीपसे मलाया प्रायद्वीप पर्यन्त अँगरेजोके अधिकारमे था।

डलहौजी एक कट्टर साम्राज्यवादी था, निर्बल देशी राज्योके साथ उसकी कोई सहानुभूति नही थी। वह उनके अस्तित्वको बनाये रखनेका विरोधी था। उसका यह दृढ विश्वास था कि ब्रिटिश शासन इस देशकी जनताके लिए परम लाभदायक है, चाहे वे उसे पसन्द करे या न करे। अत: उसने देशी राज्योका अन्त करके उन्हे अँगरेजी राज्यमे मिलानेकी एक नयी योजना बनायी जिसके अनुसार किसी राजाकी औरस पुत्रके अभावमे मृत्यु होनेपर उसका राज्य समाप्त कर दिया जाता था। इस समय अँगरेजोंके आधिपत्यमे अवस्थित देशी राज्योंको उसने तीन श्रेणियोमे विभक्त किया। प्रथम वे नेपाल आदि स्वतन्त्र राज्य थे जिनमे भारतकी अँगरेज सरकार राजाकी मृत्युपर उपयुक्त उत्तराधिकारीको गद्दीपर बैठाती थी, दूसरे वे राजपूत मराठा आदि राज्य थे जिन्होने मुगल सम्राट् या पेशवाके स्थानमे अँगरेजोकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। और तीसरे वे राज्य थे जिन्हे अँगरेजोने ही बनाया या विजय किया था। इस तीसरी श्रेणीके राजाओको तो उसने दत्तकपुत्र लेनेके अधिकारसे भी वंचित कर दिया। अब भीतर बाहर किसीके भी विरोधकी कुछ परवा न करके उसने जितना बना इन राज्योका अन्त करना शुरू किया। सर्वप्रथम नागपुरके भोसला राज्यका अन्त और उसकी लूट हुई। १८४८ ई० में सतारा राज्यका अन्त हुआ, तदनन्तर उड़ीसाके सम्भलपुर, बाघट, उदयपुर आदि राज्योका अन्त किया गया। १८५३ ई० मे झाँसीकी रानीके दत्तकपुत्रको अमान्य किया। पेशवा बाजीराव द्वितीयकी मृत्युपर उसके दत्तकपुत्र नानाको भी अमान्य किया और उसकी पेन्शन बन्द कर

दी। कर्नाटक और तंजौरके राज्यच्युत नरेशोंकी तो उपाधियाँ भी छीन ली। १८५६ ई० मे कुशासनका दोष लगाकर अवधकी नवाबीका भी अन्त कर दिया और उस प्रान्तको अँगरेजी राज्यमे मिला लिया। ये सब कार्य अत्यन्त कठोर, अनुचित और अन्यायपूर्ण थे। पूर्वमे की गयी सन्धियोमे दिये गये स्वयं अपने वचनोको भी अँगरेज़ोने मान्य नहीं किया। इन कार्योंसे समस्त देशमे भीषण क्षोभ एवं असन्तोष फैल गया।

१८५३ ई० में कम्पनीको नया बीससाला आज्ञापत्र मिला जिसके द्वारा उससे व्यापार करनेका अधिकार बिलकुल ही छीन लिया गया और उसकी शासन-व्यवस्थामे कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन तथा अधिक नियन्त्रण कर दिया गया। डलहौज़ीने स्वयं देशके आन्तरिक शासनमे भी बहुत-से सुधार किये, सरकारकी सैनिक शक्ति बढ़ायी, सिक्खो और गोरखोकी भी पल्टने भरती की और अर्थ-विभागका सावधानीके साथ प्रबन्ध किया। उसके समयमें सरकारको वार्षिक आय २४५ लाखसे बढकर ३०७½ लाख हो गयी। सार्वजनिक कार्योंके लिए जनतासे ऋण लेनेकी प्रथा भी उसीने चलायी और सार्वजनिक निर्माण विभाग भी स्थापित किया। उसीने १८५३ ई० में पहले-पहल भारतमे रेल चालू की तथा तार, डाक और डाकके टिकटोंकी व्यवस्था की। सर चार्ल्सवुडकी अध्यक्षतामे आधुनिक देशी शिक्षाकी नीव डाली गयी और लार्ड मैकालेने भारतीय दण्डविधान बनाया।

१६. लार्ड कैनिंग (१८५६–५८ ई०) के समयमे १८५७ ई० मे कलकत्ता, मद्रास और बम्बईमे एक-एक विश्वविद्यालयकी स्थापना हुई। किन्तु इसी वर्ष भारतमें वह भयानक देशव्यापी विप्लव हुआ जिसे अँगरेज़ोने सिपाही विद्रोहका नाम दिया, उत्तर भारतमे जो गदर या संवत् १४ के बँदेके नामसे प्रसिद्ध है और जिसे अनेक आधुनिक लेखक स्वातन्त्र्य समरके नामसे पुकारने लगे हैं। डलहौज़ीके समयमें अतिशयको पहुँच गयी अँगरेज़ोकी गरम आक्रान्ता नीतिकी यह भारी प्रतिक्रिया थी। यह एक

ऐसा महान् विद्रोह था जिसमे अँगरेज़ोके तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रान्त, अवध, बिहार, बुन्देलखण्ड और मध्यभारतकी जनता, अँगरेजो सेनाकी विभिन्न छावनियोके भारतीय सैनिक, अनेक देशी राजे, नवाब, जमीदार, तालुकेदार आदि सम्मिलित थे। अँगरेजोको देशसे निकाल बाहर करनेके लिए एक बार तो हिन्दू और मुसलमान भी मिलकर एक हो गये थे। यूरोपमे उस समय क्रीमियाका युद्ध छिड़ा था और इंग्लैण्डकी शक्ति उसमे लगी हुई थी। भारतके जो अनगिनत देशी राजे नवाब खुले रूपसे इस विद्रोहमे सम्मिलित नही भी हुए थे उनमे-से भी अनेकोकी विद्रोहियोके प्रति सहानुभूति थी।

मुसलमानोंको उत्तेजित करनेके लिए अवधके साथ किये गये अन्याय-का तथा दिल्लोके बादशाहको उसका साम्राज्याधिकार वापस दिलानेका नारा था और हिन्दुओको उत्तेजित करनेके लिए पेशवाके दत्तकपुत्र धुन्धुपन्त नानाके पेशवा साम्राज्यकी स्थापनाका नारा था। हिन्दू मुसलमान जनसाधारणमे अँगरेजों और उनके शासन-द्वारा लोगोके धर्म-कर्मको नष्ट किये जानेका प्रचार था। रेल, तार, डाक, अस्पताल, स्कूल आदिकी स्था-पना तथा सती आदिकी प्रथाओकी बन्दी उदाहरणमे प्रस्तुत किये जाते थे। सैनिकोमे नयी किस्मकी बन्दूकों और उनकी मुँहसे खोली जानेवाली कार-तूसोसे धर्म-भ्रष्ट होनेकी बात, गोरे सैनिकोका प्रभुत्व एवं अधिकाराधिक्य आदि उन्हे भड़कानेके लिए पर्याप्त थे। छावनियोमे रक्त कमल और ग्रामो-मे चपातियोके वितरण-द्वारा विद्रोही आन्दोलनका प्रचार किया गया।

रविवार १० मई १८५७ ई० को मेरठकी अँगरेज सैनिक छावनोमे इस विद्रोहका प्रथम विस्फोट हुआ और दावानलकी नाई यह आग शीघ्र ही एक जिलेसे दूसरे जिलेमे द्रुतवेगसे फैलने लगी। मेरठ, दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, झाँसी, रुहेलखण्ड, बुन्देलखण्ड, बिहार आदि अनेक स्थानोमे जेलोको तोडा गया और सेनाओके गोरे अधिकारियोका ही नही जहाँ जिस अँगरेज़को देखा उसका सफाया कर दिया गया। नाना साहिब, तात्याटोपे,

झाँसीकी रानी लक्ष्मीबाई, बिहारके जमींदार कुँवरसिंह, मौलवी अहमदशाह, बेगम हज़रतमहल, बादशाह बहादुरशाह आदि विभिन्न प्रदेशोंमें विद्रोहियों-के सरदार थे।

अनेक नगरोंके घेरे डाले गये, अनेक स्थानोंमें संगठित विद्रोही सैन्य दलोंके साथ अँगरेजी सेनाके अनेक युद्ध हुए। एक वर्षसे अधिक तक देशमें भयंकर नरसंहार, मार-काट, लूट-पाट, अराजकता और अशान्तिका दौर चला, क्या अँगरेजी सेनाके अँगरेज या सिक्ख, गोरखे आदि भारतीय सैनिक और क्या विद्रोहियोंके हिन्दू एवं मुसलमान सिपाही, सभीने निर्दोष निरीह जनताके धन और प्राणोंका जी भरकर विनाश किया। अन्ततः अँगरेज़ सरकारको विजय हुई और विद्रोही अत्यन्त क्रूरताके साथ कुचल डाले गये, साथ ही जनताके असंख्य व्यक्तियोंको तलवारके घाट उतार दिया गया या पेड़ोंसे लटकाकर फाँसी दे दी गयी। खूनके नाले बह चले और हजारों गाँव फूंक डाले गये। एक-एक अँगरेजकी मृत्युका बदला सौ-सौ, दो-दो-सौ भारतीयोंके रक्तसे भी पूरा न हुआ।

इस बार भी विद्रोही सरदारोंकी परस्पर फूट, असहयोग एवं स्वार्थ-परता, उनकी सेनाओंमें संगठनका अभाव तथा विद्रोहका लाभ उठाकर अनगिनत गुण्डों और लुटेरोंका सर्वत्र उत्पात इस भगीरथ प्रयत्नकी विफलताके कारण हुए। देशमें राष्ट्रीयता एवं एकसूत्रताका भाव तबतक सजग ही नहीं हुआ था। विद्रोहमें भाग लेनेवाले राजे, नवाब, जमींदार आदि वही लोग थे जिनकी अँगरेज़ोंके साथ व्यक्तिगत शत्रुता थी और जिनको उन्होंने उनके राज्य, अधिकार, पद या धनसे वंचित कर दिया था। इन चीजोंकी पुनः प्राप्तिके लिए अपने-अपने निजी स्वार्थोंके कारण वे लड़ पड़े थे। अँगरेजोंकी शत्रुताके अतिरिक्त उनमें परस्पर अन्य किसी बातमें भी उद्देश्य, नीति, पद्धति या मतका ऐक्य नहीं था। दूसरी ओर अँगरेज़ अत्यन्त शक्तिशाली थे, बड़ी चतुराई, चालाकी और परिश्रमसे पिछले सौ वर्षोंमें उन्होंने न कुछसे प्रारम्भ करके सम्पूर्ण भारतपर अपना

पूर्ण अधिकार जमा पाया था और उसके फलस्वरूप अनुमानातीत विविध लाभ उठाया था। वह इस सोनेकी चिड़ियाको सहज ही अपने हाथसे निकल जाने न दे सकते थे। अधिकाश भारतीय नरेशोंने विद्रोहमे भाग नहीं लिया वरन् वे अँगरेज़ोके ही सहायक रहे। बंगाल, उडीसा, मद्रास, महाराष्ट्र, गुजरात, सिन्ध, पंजाब आदि प्रान्त विद्रोहके प्रभावसे प्राय· अछूते ही बचे रहे। अपने सिक्ख और गोरखे सैनिकोकी अँगरेजोको पूर्ण स्वामिभक्ति प्राप्त थी और इन्हीकी सहायतासे उन्होने उनके देश-भाइयोका दमन किया।

इस प्रकार यह महान् क्रान्ति विफल हुई और फलस्वरूप अब सम्पूर्ण देशपर अँगरेजोंकी सत्ता और अधिक दृढ एवं स्थायी हो गयी। इंग्लैण्डकी सरकारने भारतका राज्य कम्पनीके हाथोंसे छीनकर अपने अधिकारमे ले लिया, और वह अब इंग्लैण्डकी महारानो विक्टोरियाका भारतीय साम्राज्य कहलाया। लार्ड कैनिग अब कम्पनीकी ओरसे नियुक्त उसका गवर्नर-जनरल नामक कर्मचारी न रहकर इंग्लैण्डकी महारानीका प्रतिनिधि शासक, भारतका वायसराय कहलाया। इंग्लैण्डके मन्त्रिमण्डलका एक मन्त्री भारत-सचिव हुआ जो अपने लन्दनस्थ भारत-कार्यालयके द्वारा इंग्लैण्डकी सरकार-के निर्देशनमे भारतका शासन-संचालन वायसराय आदि भारतमे नियुक्त अधिकारी वर्गसे कराने लगा। इलाहाबादमे १ नवम्बर १८५८ ई० को दरबार करके वायसराय कैनिगने उपरोक्त व्यवस्थाको कार्यान्वित किया और महारानी विक्टोरियाका घोषणापत्र पढ़कर सुनाया जिसमे यह विश्वास दिलाया गया था कि कम्पनी और देशी नरेशोके बीच की गयी समस्त सन्धियो एवं प्रतिज्ञाओका पालन किया जायेगा, देशी नरेशोको गोद लेनेका अधिकार प्रदान किया जाता है, सरकारी नौकरियोका द्वार सबके लिए खुला है, जाति वर्ण या धर्म उसमें बाधक न होगे, जनताके धार्मिक मामलोमे सरकार किसी प्रकारका हस्तक्षेप न करेगी, और जिन लोगोने विद्रोह-कालमे अँगरेज़ोकी हत्या करने-जैसा महान् अपराध नही

किया था उन्हे क्षमा किया गया।

वस्तुतः भारतमें अँगरेजोने प्रारम्भसे ही अपने-द्वारा शासित प्रदेशों अथवा अधीनस्थ राज्योंकी जनताके धार्मिक मामलोंमें सर्वथा हस्तक्षेप न करनेकी नीतिको ही बरता था। वे हिन्दू, जैन, सिक्ख, मुसलमान, पारसी आदि सभी प्रचलित धर्मोंके प्रति सहिष्णु एवं समदर्शी रहे थे। ईसाई धर्म उनका अपना राजधर्म था अतः उसको अवश्य ही प्रोत्साहन दिया और उसका व्यवस्थित प्रचार चालू कराया। तथापि धर्मप्रचार उनका कोई प्रमुख उद्देश्य न था। राजनैतिक अत्याचारों एवं आर्थिक शोषणसे ही उन्हे अवकाश न था अतः धार्मिक अत्याचारमे वे प्रवृत्त न हुए। वे यह भी जानते थे कि यदि वे ऐसा करनेका प्रयत्न करेंगे तो उनके मूल राजनैतिक एवं आर्थिक उद्देश्योंकी सिद्धिमे भारी बाधा पड़नेकी सम्भावना है।

इस प्रकार अपने इस देशमे आगमनके उपरान्त प्रथम डेढ़-सौ वर्षमे अपने अन्य यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियोको कुचलनेके साथ-ही-साथ उन्होने इस महादेशके व्यापारपर पूर्ण एकाधिकार स्थापित कर लिया, उस व्यापारको उन्नतिके शिखरपर पहुँचा दिया और उससे अपने देशमें एक अत्यन्त हितकारी औद्योगिक, व्यापारिक एवं आर्थिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। अगले सौ वर्षोंमे शनैः-शनैः किन्तु द्रुतवेगके साथ उन्होने ब्रह्मासे हिन्दुकुश पर्यन्त एवं नेपालसे लंका पर्यन्त सम्पूर्ण भारतवर्षपर, उसके सीमान्त एवं सम्बद्ध प्रदेशोंसहित, अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया और उसके द्वारा अपने देश, जाति और राष्ट्रको विश्वकी सबसे बड़ी एवं सबसे अधिक समृद्ध शक्ति बना दिया। इन कार्यमे उन्होने देशके घोर राजनैतिक एवं नैतिक पतनका भरपूर लाभ उठाया, उस पतनको अपने हितके लिए और अधिक प्रोत्साहित किया और फिर इस दम्भपूर्ण ढोंगको प्रसारित करनेमे वे समर्थ हुए कि हम तो परोपकार वृत्तिसे इस निकृष्ट पतित अवनत एवं पिछड़े हुए काले आदमियोके देशपर दया करके उसका संरक्षण कर रहे है और उसे सुशासित सुसभ्य सुसंस्कृत एवं समुन्नत बनानेका स्तुत्य प्रयत्न कर रहे है।

किन्तु उनका यह दम्भ भी एक प्रकारसे ठीक ही था। उसके लिए भारतवासी स्वयं ही ज़िम्मेदार थे, अपने स्वयंके दोषो एवं त्रुटियोके कारण ही वे स्वयं गुलाम बने थे। देशका दुर्भाग्य भी था कि अनेक दीर्वकालीन ऐतिहासिक परिस्थितियोने देशको उस कालमे वैसी विपम स्थितिमे ला डाला था और कोई ऐसा तेजस्वी प्रतिभाशाली वीर या वर्ग उस समय उत्पन्न न हुआ जो देशको उस अन्ध-कूपसे उबारता। किसीको ठगनेमे ठगका जितना दोष है उतना स्वयं ठगे जानेवालेका भी है। तथापि इसमे सन्देह नही कि भारतके इतिहासमे सबसे बडे विदेशी लुटेरे अँगरेज ही सिद्ध हुए और उनके द्वारा भारतकी महान्, दीर्घकालीन एवं व्यवस्थित लूटका सम्पूर्ण सभ्य विश्वके इतिहासमे दूसरा उदाहरण नही है।

□

अध्याय ७

पुनरुत्थान युग (१८५८-१९४७ ई०)

अँगरेजोंने भारतको जी भरकर लूटा और उसके नैतिक पतनको भी चरम सीमापर पहुँचा दिया, तथापि उन्होंने, चाहे अपने निजी हितों और स्वार्थोंकी दृष्टिसे ही सही, एक सुचारु सुगठित एवं उत्तम शासन-व्यवस्था भी इस देशको प्रदान की जो मुगलसाम्राज्यके चरमोत्कर्ष कालकी व्यवस्थापर ही यद्यपि मूलतः आधारित थी तथापि उससे कुछ अधिक ही उन्नत और श्रेष्ठ थी। राजतन्त्रीय प्रणालीमे उससे अधिक उत्तम शासन इस देशने पहले कभी शायद नहीं देखा था, अन्य किसी देशमे भी उसके पूर्व शायद कभी नहीं रहा। भारतीय प्रशासन या इण्डियन ब्यूरियोक्रेसी (नौकरशाही) वर्तमान कालमे भी अपने ढंगकी सर्वोत्तम प्रशासन पद्धति समझी गयी। १८५७ ई० के विप्लवके उपरान्त ही इंग्लैण्डकी पार्लियामेण्टके तत्त्वावधानमें भारतकी यह प्रशासन-पद्धति एवं व्यवस्था भली प्रकार विकसित हुई और उसने प्रत्येक विभाग एवं विस्तारमें निपुणता प्राप्त की।

इस पद्धति और व्यवस्थामें फिर भी अनेक दोष रहे जिनका प्रधान कारण शासकों एवं शासितोंके बीच न मिटनेवाला भारी जातीय एवं राष्ट्रीय अन्तर था। उसीके कारण भारतके अँगरेजी शासनमे अन्तर्निहित मूल उद्देश्य, अर्थात् इंग्लैण्ड देश और अँगरेज जातिके स्वत्वों, स्वार्थों और हितोंकी सुरक्षा, उक्त सुचारु शासनके अन्तर्गत भी भारतवर्ष और उसके निवासियोंकी स्वाभाविक एवं उपयुक्त उन्नतिमे प्रधान बाधक रहा। अँगरेज

जातिके हित-संरक्षणको पूर्ण प्राथमिकता थी। जिस सीमा तक भारतवर्षका प्रशासन एवं उन्नति अँगरेज जातिके अपने किसी भी प्रकारके उत्कर्षमे साधक था उसे उन्नत बनाया गया। यदि उससे भारतीयोकी उन्नति होती है तो यह और भी अच्छा। किन्तु जहाँ और जिस रूपमे भारतकी इस उन्नतिसे स्वयं अँगरेजोके अपने उत्कर्षमे बाधा होनेकी सम्भावना होती वही उसपर रोक और नियन्त्रण लगा दिये जाते। इंग्लैण्डके हितके सम्मुख भारतका हित सदैव गौण रहा।

प्रारम्भमे जो अँगरेज भारतमें आते रहे वे प्राय: छोटे घरोंके अशिक्षित, अवारा, लोभी, धूर्त एवं चरित्रहीन होते थे। व्यक्तिगत व्यापार और लूट-खसोट-द्वारा जल्दी ही धनी बनकर स्वदेश लौट जानेपर उनकी दृष्टि रहती थी। किन्तु १८वी शताब्दीके उत्तरार्धमें बंगाल और कर्णाटकमें राज्य-सत्ता हाथमे आनेपर तथा तदुपरान्त द्रुतवेगसे भारतके विभिन्न भागोमे अँगरेजी सत्ताके प्रसारके कारण उक्त वर्गके लोगोका अनुपात धीरे-धीरे घटने लगा और अच्छे घरोके सम्पन्न सुशिक्षित अँगरेज भी अब आने लगे तथा उनकी संख्या शनै:-शनै: बढने लगी। ईसाई पादरी भी ब[illegible]ख्यामे आने लगे जिनका प्रधान उद्देश्य यद्यपि धर्मप्रचार और अधिकसे अधिक संख्यामे भारतीयोको ईसाई बना डालनेका था किन्तु साथ ही उनमे-से अनेक सुशिक्षित, परोपकारी वृत्तिके तथा दयालु भी होते थे।

[illegible] शतीके पूर्वार्धमे बंगाल, मद्रास, बम्बई आदि जिन प्रान्तोपर अँगरेज सत्ताको स्थापित हुए चालीस पचास वर्ष बीत चुके थे और फलस्वरूप जहाँ अँगरेजोने अपना प्रशासन बहुत कुछ व्यवस्थित कर लिया था तथा शान्ति स्थापित कर ली थी वहाँके भारतीय जन भी शासनके विभिन्न विभागोमे कार्य करने लगे थे और अँगरेजोके सम्पर्कसे पाश्चात्य आचार-विचारों और सभ्यतासे परिचित हो गये थे। उनमे-से अनेक अँगरेजी भाषा भी सीख चुके थे और सीख रहे थे और अब वे जातीय सुधारकी ओर प्रवृत्त होने लगे थे। बंगालके राजा राममोहनराय, महर्षि देवेन्द्रनाथ

ठाकुर, केशवचन्द्र सेन आदि ऐसे ही महानुभाव थे। उपरोक्त प्रान्तोमे अनेक भारतीय विशेषकर पारसी, जैन, मारवाडी, गुजराती आदि देशके व्यापारमे हिस्सा लेने लगे और आन्तरिक व्यापारको बहुत कुछ उन्होंने अपने हाथमे कर लिया तथा पश्चिमी देशोसे प्रेरणा पाकर कुछ उद्योग-धन्धोको भी स्थापित करनेकी ओर वे प्रवृत्त हुए।

तीसरे, कुछ मनीषी अँगरेज अधिकारियोने अपने सैनिक या प्रशासकीय कार्य-भारसे अवकाश निकालकर या उसीके दौरानमे विद्या व्यसन और जिज्ञासासे प्रेरित होकर व्यक्तिगत रूपमे ही सही इस देशके साहित्य, कला, धर्म, दर्शन, पुरातत्त्व, इतिहास आदिका अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। १८वी शती ई० के चतुर्थपादमे ही वाराणसीमे एक संस्कृत कॉलिजकी और कलकत्तेमें एक मुसलमान मदरसेकी स्थापना हो गयी थी। सर विलियम जोन्सने कालिदासकी शकुन्तला तथा महाभारत आदि कई संस्कृत ग्रन्थोका अँगरेज़ीमें अनुवाद किया और प्राच्य विद्याके अध्ययनका बीजारोपण किया तथा इसी उद्देश्यसे १७७५ ई० मे बंगाल एशियाटिक सोसाइटीकी स्थापना की। नैथेनियल हालहेडने मनुस्मृति आदिके आधारसे हिन्दू लॉ का संकलन किया और मुसलमानी क़ानूनका भी संकलन किया। मेजर रैनलने बंगालका सर्वे किया, भारतीय भूगोलविद्याकी नींव डाली और बंगाल एटलसका निर्माण किया। हैनरी टामस कोलब्रुकने मूल संस्कृत ग्रन्थोके आधारसे भारतीय धर्मों एवं दर्शनोंका अध्ययन प्रारम्भ किया। पादरी डूब्रोयने भारतीयोकी जातियो, धर्मों एवं रीति-रिवाजपर ग्रन्थ लिखा। सर चार्ल्स विल्किन्स आदि अन्य विद्वानोने भी भारतके विविधविषयक अध्ययनको बढ़ाया। स्वयं वारेन हैस्टिंग्स उर्दू, फ़ारसी, अरबी आदि भाषाओका ज्ञाता तथा बडा अध्ययनशील था। उसने भी उपरोक्त विद्वानोको प्रोत्साहन दिया। १९वी शताब्दीके पूर्वार्धमें खारवेल, अशोक आदिके प्राचीन शिला-लेखो एवं अन्य अनेक प्राचीन भारतीय स्मारकों तथा प्राच्य विद्याके अन्य विभिन्न क्षेत्रोमे खोज अध्ययन आदि

हुआ, देशके अनेक प्रदेशोंका सर्वे हुआ तथा अनेक स्थानोंमे गजेटियरोंका निर्माण हुआ और भारत तथा भारतीयताके अध्ययनकी प्रभूत प्रगति हुई। कर्नल टॉडका प्रसिद्ध राजस्थान, कर्नल मेकेंजीका लेख संग्रह तथा एलफ़िन्स्टन आदिके इतिहास ग्रन्थ लिखे गये। स्वयं अँगरेज़ अधिकारियों-का ही एक दल ऐसा था जो भारतीयोकी शिक्षाका माध्यम संस्कृत आदि प्राच्य भाषाओको बनानेके पक्षमे था। मैकालेके तीव्र विरोधके कारण ही उनकी बात न चली। उपरोक्त समस्त प्रयत्न व्यक्तिगत थे तथापि उन्होने भारतीय साहित्य, संस्कृति और इतिहासके आधुनिक अध्ययनकी सुदृढ नीव जमा दी और इस प्रकार इस देशका सर्वमहान् उपकार किया। इन दर्जनो उदार मनीषी, विद्या-व्यसनी अँगरेज़ महानुभावोने ही अपने कार्यों एवं कृतियोके द्वारा भावी पीढ़ियोके भारतीय विद्वानोका तो पथ-प्रदर्शन किया ही इस देशके निवासियोमे घर कर जानेवाले हीनताके भावोको शनै.-शनैः दूर होनेमे भी भारी सहायता दी।

इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण देशको एक केन्द्रीय शासन-सूत्रमे बाँधकर, रेल, डाक, तार आदिकी व्यवस्था करके तथा सड़कों आदिका निर्माण, मार्गोकी सुरक्षा और शान्तिकी स्थापना-द्वारा अँगरेजी शासनने देशमे एक-सूत्रता एवं एकजातीयताके भावको प्रोत्साहन दिया, जाति, वर्ग एवं प्रान्ती-यताके भावोको शिथिल किया, और 'देशके चाहे जिस कोनेमे रहते हो हम सब भारतवासी ही हैं' इस भावको उत्तरोत्तर पुष्ट किया। अँगरेज़ोने जान-बूझकर भले ही इन प्रभृति प्रवृत्तियोका पोषण न करना चाहा हो किन्तु उनके कार्योसे इन परिणामोका लक्ष्य या अलक्ष्य रूपमे स्वभावतः प्रकट होना अनिवार्य था।

इस प्रकार अँगरेज़ोने देशकी भीषण लूट एवं शोषणके तथा उसे पराधीनताकी बेड़ियोमे जकड़ लेनेके बावजूद जाने या अनजाने इस देश और जातिके पुनरुत्थानके बीज भी बो दिये। १८५८ ई० के उपरान्त देश-की आन्तरिक शान्ति, उत्तम शासन व्यवस्था और शिक्षा-प्रसार तथा एक

प्रदेशके निवासियोंका दूसरे प्रदेशोंके साथ सहज सुगम निरन्तर गमनागमन एवं सम्पर्क ऐसी वस्तुएँ थी जिन्होने देशमे एक नवीन जागृति, स्फूर्त्ति, चेतना और सर्वतोमुखी प्रगतिकी लहर फूँकनी शुरू कर दी। विप्लवका दमन करके और सम्पूर्ण देशको अपने सुदृढ पंजोमे पूरी तरह कसकर जब अंगरेज यह समझ बैठे थे कि अब तो इस देश और जातिपर हमारी पूर्ण सत्ता, स्वामित्व और प्रभुत्व सदैवके लिए स्थायी और अमर हो गया है, प्राय. तभीसे ही उनके देखते-ही-देखते देश और जातिके पुनरुत्थानका भी प्रारम्भ हो गया। नब्बे वर्ष भी न बीतने पाये कि उन्हें इस देशको स्वतन्त्र करने और सर्वथा छोडकर चले जानेपर बाध्य होना पड़ा। नब्बे वर्षकी अवधि भी कुछ थोड़ी नही है, किन्तु देशका उसके पूर्वके डेढ-सौसे अधिक वर्षोंका सर्व-प्रकारका पतन तथा अत्यन्त बल एवं साधन-सम्पन्न अंगरेज शक्तिका लगभग दो सौ वर्ष तक इस देशपर उत्तरोत्तर अधिकाधिक कसा जानेवाला अधिकार, शासन और नियन्त्रण भी कुछ कम नही था।

१८५७–१९४७ ई० के इस नब्बे वर्षमें बीस अंगरेज वायसरायोने ब्रिटेनकी सरकारके प्रतिनिधिरूपमे इस देशका क्रमशः शासन किया— लार्ड कैनिंग (१८५८–६२ ई०), लार्ड एलिगन प्रथम (१८६२–६३ ई०), सर जॉन लॉरेन्स (१८६४–६९ ई०), लार्ड मेयो (१८६९–७२ ई०), लार्ड नार्थब्रुक (१८७२–७६ ई०), लार्ड लिटन (१८७६–८० ई०), लार्ड रिपन (१८८०–८४ ई०), लार्ड डफरिन (१८८४–८८ ई०), लार्ड लैन्सडाउन (१८८८–९४ ई०), लार्ड एलिगन द्वितीय (१८९४–९९ ई०), लार्ड कर्जन (१८९९–१९०५ ई०), लार्ड मिण्टो (१९०५–१० ई०), लार्ड हार्डिंज (१९१०–१६ ई०), लार्ड चेम्स-फोर्ड (१९१६–२१ ई०), लार्ड रीडिंग (१९२१–२६ ई०), लार्ड इरविन (१९२६–३१ ई०), लार्ड विलिंगडन (१९३१–३६ ई०), लार्ड लिनलियगो (१९३६–४३), लार्ड वेवल (१९४३–४७ ई०) और लार्ड माउण्टबेटन (१९४७ ई०)।

इस नब्बे वर्षके ब्रिटिश शासनकी प्रधान विशेषताएँ वैदेशिक नीति, आन्तरिक शासनका वैधानिक विकास, देशकी धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रगति, राष्ट्रीयताका विकास और स्वातन्त्र्य संघर्ष हैं जिनमे उक्त शासनकी कतिपय सुदेनें और कुदेनें दोनों सम्मिलित हैं।

वैदेशिक नीति—इस कालमे भारतीय शासनकी वैदेशिक नीति ब्रिटिश साम्राज्यकी वैदेशिक नीतिका ही अंग थी। भारतीय साम्राज्यकी सुरक्षाके लिए उसके सीमान्त प्रदेशोको निष्कण्टक करना तथा उनके उस पार स्थित पडोसी स्वतन्त्र राज्योको अपने प्रभावमे रखकर उन्हे 'धक्का सम्हाल' राज्य बना देना, तथा ब्रिटेनके शत्रुओको कुचलनेमे अपनी पूरी शक्ति लगा देना ही भारतकी विदेशी नीति थी।

१८६३ ई० मे लार्ड एल्गिन प्रथमने सीमान्तके पठानोंका दमन करनेका प्रयत्न किया और भूटान नरेशके साथ भी एक सन्धि की। १८६५ ई० मे लॉरेन्सने उस सन्धिको अमान्य किया और भूटानियोंको पराजित करके अपना करद बनाया।

दोस्तमुहम्मदकी मृत्युके उपरान्त १८६३–६८ ई० में अफग़ानिस्तानमे उत्तराधिकारके प्रश्नपर गृह-युद्ध चलता रहा। इस प्रसंगमे वायसराय लारेन्सने 'वर्तमान राजाके प्रति मित्रभाव रखने और उसके राज्यके अन्तः-कलहमे क़तई हस्तक्षेप न करनेकी' नीति बरती। रूस मध्य-एशियामे अफ़-गानिस्तानकी ओर बढ़ता आ रहा था और भारतके लिए एक खतरा था, किन्तु लॉरेन्सने युद्ध मोल लेना ठीक न समझा। उसके उत्तराधिकारी मेयोने भी इसी नीतिका अनुसरण किया। अफग़ानिस्तानका अमीर शेरअली १८६७ ई० मे स्वयं भारत आकर अम्बालेमे वायसरायसे मिला और विविध प्रकारकी सहायताकी याचना की। वायसरायने उसका बड़ा शिष्टा-चार और आवभगत की किन्तु सहायताका कोई स्पष्ट वचन नही दिया। फिर भी अमीर उसकी मित्रता, सौजन्य और शक्तिसे प्रभावित एवं सन्तुष्ट होकर लौट गया। रूसके साथ भी एक सन्धि की गयी जिसके अनुसार रूसी

सरकारने अफगानिस्तानकी स्वतन्त्रताको मान्य रखनेका आश्वासन दिया किन्तु अमीरके साथ अंगरेजोंके विरुद्ध भी लिखा-पढ़ा शुरू कर दी। अमीर-ने समस्त पत्र-व्यवहार वायसरायके पास भेज दिया किन्तु वह फिर भी चुप रहा। १८७३ ई० मे रूसियोंने खीवापर अधिकार करके शेरअलीको भयभीत कर दिया। उसने वायसराय नार्थब्रुकसे सहायताकी याचना की, किन्तु उसने उसका तिरस्कार कर दिया। चिढ़कर अमीरने रूसियोसे बात-चीत आरम्भ कर दी। अतः लार्ड लिटनने आते ही अफ-गानिस्तानके साथ युद्ध छेड़ दिया। इस समय यूरोपमे तुर्की-रूसी युद्ध आरम्भ हो गया था। अँगरेज रूसके विरोधी थे। उन्होंने अफगानिस्तान-पर आक्रमण कर दिया। शेरअली पराजित होकर तुर्की भाग गया और १८७९ ई० मे उसके पुत्र याकूबखाँको अमीर बनाकर भारत सरकारने उसे अपनी अधीनतामे जकड लिया किन्तु उसे अँगरेज रेजी-डेण्टकी हत्याके षड्यन्त्रके सन्देहमे निर्वासित करके भारत भेज दिया गया। उधर अब्दुर्रहमानने अफगानिस्तानपर अधिकार कर लिया। १८८० ई० मे भारत सरकारने उसके साथ सन्धि करके और किसी अन्य विदेशी शक्तिसे सम्बन्ध न रखनेका वचन लेकर अमीर मान्य कर लिया। कलात, क्वेटा और गिलगिटमे अँगरेजी छावनियाँ नियत हो गयी तथा बिलोचिस्तान ब्रिटिश राज्यमे मिला लिया गया। इस प्रकार मध्य-एशियामे रूसियोकी आकाक्षाका कमसे कम एक दिशामे सफल प्रतिरोध हो गया। फिर भी रूसी अग्रसर होते ही रहे और मध्य-एशियामे अँगरेज-रूसी सघर्ष १८८१ से १९०७ ई० तक चलता रहा। सीमान्तके पठान कबीलो-के साथ भी भारत सरकारकी लड़ाइयाँ चलती रही। लार्ड कर्जनने १९०१ ई० मे वहाँसे सेना हटाकर तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेशका एक पृथक् सूबा बनाकर वहाँ शान्ति स्थापित की। इसी वर्ष अब्दुर्रहमानकी भी मृत्यु हो गयी थी। उसका पुत्र हबीबुल्ला अमीर हुआ, उसके साथ नवीन सन्धि कर ली गयी और वह अँगरेजोका मित्र बना रहा।

इसी बीचमे पूर्वकी दिशामें ब्रह्मा-राज्यके द्वारसे भारतपर फ़ान्सीसियो-के आक्रमणका भय बना हुआ था। ब्रह्माका राजा मिण्डोन (१८५२-७८ ई०) बडा चतुर था, उसने अँगरेजोके साथ भी मित्रता बनाये रखी और फ़ान्सके साथ भी सम्बन्ध रखा। किन्तु उसका युवक पुत्र और उत्तराधिकारी थीबो मूर्ख, अयोग्य और अनुभवहीन था। उसपर फ़ान्सीसियोके साथ मित्रताके करनेका दोप लगाकर भारत-सरकारने युद्ध छेड़ दिया और उसके राज्यका अन्त करके उसे १८८६ ई० मे अँगरेजी राज्यमे मिला लिया।

लार्ड कर्ज़नने १९०७ ई० मे एक अँगरेज-रूसी सन्धिके अनुसार ईरान देशको भी दो प्रभावक्षेत्रोमे बाँटकर दक्षिणी ईरान और फारसकी खाड़ीपर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। तिब्बत देशपर भी जो नाममात्रके लिए चीनके आधिपत्यमे था रूस और भारत-सरकार दोनो ही अपना प्रभाव स्थापित करनेका प्रयत्न कर रहे थे। इस सम्बन्धमे भी १९०७ ई० मे अँगरेजो और रूसियोमे यह तय हो गया कि वे दोनों ही चीनके ज़रिये तिब्बतसे सम्बन्ध रखेंगे और उसके किसी भी प्रदेशपर कभी भी अधिकार न करेंगे।

१९१० ई० मे अफगानिस्तानके अमीर हबीबुल्लाका वध कर दिया गया और उसका पुत्र अमानुल्ला अमीर बना। १९१९ ई० मे उसने ब्रिटिश प्रदेशपर आक्रमण कर दिया और तीसरा अफगान युद्ध छिड़ गया तथा शीघ्र ही समाप्त भी हो गया। अफगानिस्तान अब सर्वथा स्वतन्त्र और अँगरेजोके नियन्त्रणसे मुक्त राज्य हो गया। १९२९ ई० के उपरान्त होनेवाली उसकी राज्य-क्रान्तियाँ और गृह-युद्धोमे भारत-सरकारने कोई हस्तक्षेप नही किया और पुनः शान्ति स्थापित होनेपर नादिरशाहको अमीर मान्य कर लिया।

इसी बीचमे १९१४–१८ ई० के प्रथम विश्वयुद्धमे भारत-सरकारकी पूर्ण शक्ति अँगरेजोंकी ओरसे जर्मनीके विरुद्ध प्रयुक्त हुई। जनतासे युद्ध-

नामा इकट्ठा किया गया। भारतीय सैनिक लाखोंकी संख्यामें फ्रान्स, मेसोपोटामिया आदि सुदूर विदेशोंमें जाकर वीरतापूर्वक लड़े। भारतके बदौलत अँगरेज और उनके मित्र-राष्ट्र इस महायुद्धमें विजयी हुए। युद्धमें भारतके धन-जनकी जो क्षति हुई और युद्धके परिणामस्वरूप भारतमें जो आर्थिक संकट आया उन्हें अकेले भारतने ही सहन किया। इसी प्रकार १९३९–४५ ई० के द्वितीय विश्वयुद्धमें भारतके धन-जनका पहले युद्धसे भी कहीं अधिक विनाश हुआ। और इस बार भी अन्ततः स्वयं अपनी क्षति करके भारतवर्ष अँगरेजों और उनके मित्र-राष्ट्रोंकी विजय-प्राप्तिमें अमूल्य सहायक सिद्ध हुआ।

आन्तरिक शासन और वैधानिक विकास—१८५७ ई० के विप्लवके उपरान्त इंग्लैण्डकी सरकारने अपने १८५८ ई० के 'भारतके बेहतर शासनार्थ अधिनियम' अर्थात् 'ऐक्ट फार दी वेटर गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया' के द्वारा बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल एवं बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्सको समाप्त करके भारतमें ईस्ट इण्डिया कम्पनीके शासनका अन्त कर दिया था और उसकी बागडोर अपने हाथमें ले ली थी। इस कार्यका भार ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डलके एक सदस्यको सौंपा गया जो भारत-सचिव कहलाया, उसकी सहायताके लिए १५ सदस्योंकी एक परामर्शदात्री इण्डिया कौंसिल स्थापित हुई और लन्दनमें इण्डिया आफिस उक्त सचिवका कार्यालय हुआ। भारत-का गवर्नर-जनरल अब वायसराय कहलाने लगा। देशके आन्तरिक शासन-में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। वायसराय कैनिंगने साम-दाम, भय-भेदसे [illegible] शान्ति स्थापन करनेमें ही अपनी शक्ति लगायी। उसकी नरम नीतिके [illegible] 'दयालु कैनिंग' कहकर उसका उपहास करते थे। उसीके [illegible] भारतीय दण्ड-विधान आदि कानून कार्यान्वित हुए और [illegible] स्थापना हुई तथा माल, दीवानी और फौजदारी अदालतों-[illegible] व्यवस्था हुई।

[illegible] अन्तर्गत जितना प्रदेश था वह सामान्यतया

गवर्नरोंके अधीन प्रान्तोंमे विभाजित था। प्रत्येक प्रान्त कमिश्नरोंके अधीन कमिश्नरियोंमे, प्रत्येक कमिश्नरी कलक्टरोंके अधीन जिलोंमे, प्रत्येक ज़िला तहसीलदारोंके अधीन तहसीलोंमे, प्रत्येक तहसील परगनोंमे और परगने गाँवों या महालोंमे विभाजित थे। सेना, पुलिस, जेल, डाक-तार, शिक्षा, व्यापार, वित्त, पब्लिक वर्क्स आदि विभिन्न सरकारी विभाग प्रान्तीय एवं केन्द्रीय आधारोंपर संगठित हुए। अदालतोंमे वादी-प्रतिवादी या अभियुक्तोंको सहायताके लिए वकील मुख्तारोंकी प्रथा प्रचलित हुई। १८६१ ई० मे इण्डिया कौन्सिल ऐक्ट पास हुआ जिसके अनुसार वायसरायकी सहायताके लिए एक कार्यकारिणी समिति तथा एक व्यवस्थापिका समिति बनायी गयी। कार्यकारिणीमे स्वयं वायसराय, जिसके अधिकारमे परराष्ट्रनीति भी थी, सेनाके शासनके लिए सेनापति, शान्ति-रक्षा तथा आन्तरिक शासन आदिके लिए गृहसदस्य, बैंक, करेन्सी, ऋण, व्यय, टैक्स आदिके लिए अर्थ-सदस्य, क़ानूनके लिए न्याय-सदस्य, वाणिज्य, बन्दरगाह, जहाज, रेल आदिके लिए व्यापार-सदस्य, शिक्षा-स्वास्थ्य आदिके लिए शिक्षा-सदस्य, तथा उद्योग एवं श्रमके लिए एक अन्य सदस्य सम्मिलित थे। क़ानून बनानेके लिए ६ से १२ सदस्योंकी एक परामर्शदात्री व्यवस्थापिका समिति बनी जिनमे आधोंका गैर-सरकारी होना आवश्यक था। पटियाला और काशीके नरेश तथा ग्वालियरके दीवान दिनकरराव इस समितिमे मनोनीत किये गये। बम्बई, मद्रास और बंगाल प्रान्तोंकी कौन्सिलोंको भी कानून बनानेका अधिकार मिला। व्यवस्थापिका-द्वारा बनाये गये अधिनियमोंपर वायसरायको विटोका अधिकार था, छह मासके लिए वह स्वयं भी कोई आर्डिनेन्स जारी कर सकता था।

उपरोक्त आधारोंपर भारतके आन्तरिक शासनका विस्तार और वैधानिक विकास उत्तरोत्तर होता गया। १८७१ ई० मे प्रथम बार लार्ड मेयोने भारतकी जन-संख्या गणना करानेकी योजना की किन्तु पूरी गणना १८८१ ई० मे हुई। इसी वायसरायने १८७० ई० मे म्युनिसपल ऐक्टों-

द्वारा नागरिकोके अपने-अपने नगरोके स्थानीय प्रबन्धमे भाग लेनेके अधिकारको स्वीकार किया। यो तो १८४२ ई० मे ही कलकत्ता, मद्रास और बम्बईके अतिरिक्त कुछ अन्य नगरोमे म्युनिसिपैलिटियाँ स्थापित हो गयी थी, किन्तु उनके जो थोड़े-से सदस्य होते थे वे सब ही अधिकारियो-द्वारा मनोनीत होते थे और उनपर ही निर्भर थे। अब प्रथम बार स्वायत्त शासनके सिद्धान्तको स्वीकार किया गया। १८८३-८४ ई० मे लार्ड रिपनने इस नीतिको और अधिक व्यवस्था और विस्तार दिया। अनेक नगरोमे नगरपालिकाएँ स्थापित हुई, उनके अधिकार बढ़े और उनके बहुभाग सदस्य जनता-द्वारा निर्वाचित होने लगे। देहाती क्षेत्रोमे भी स्थानीय तथा ज़िला बोर्डोकी स्थापना हुई।

१८९२ ई० मे दूसरा इण्डियन कौन्सिल ऐक्ट पास हुआ जिसके अनुसार केन्द्रीय एव प्रान्तीय व्यवस्थापिका समितियोके अधिकारोमे कुछ वृद्धि हुई, उनकी सदस्य-संख्यामे भी वृद्धि हुई और परोक्ष निर्वाचनका सिद्धान्त भी स्वीकार कर लिया गया। केन्द्रीय समितिके गैर-सरकारी सदस्य प्रान्तीय समितियोके गैर-सरकारी सदस्यो द्वारा चुने जाने लगे और प्रान्तीय समितियोके गैर-सरकारी सदस्य नगरपालिकाओ, ज़िला-बोर्डो तथा विश्वविद्यालयो-द्वारा चुने जाने लगे।

१९०९ ई० में मिण्टो-मार्ले सुधारोके आधारपर प्रथम गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट पास हुआ। इसके अनुसार व्यवस्थापिकाओकी सदस्य-संख्या और अधिकार बढ़ाये गये। परिमित मताधिकारके रूपमे प्रत्यक्ष निर्वाचनको भी प्रश्रय दिया गया और साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्वके सिद्धान्तको भी मान्य किया गया। केन्द्रीय कार्यकारिणीमे लार्ड सत्येन्द्रप्रसन्नसिंहके रूपमें एक भारतीय एवं गैर-सरकारी सदस्यको भी सम्मिलित कर लिया गया। १९१५ ई० मे लार्ड हार्डिन्जने स्वायत्त-शासनमे भी कुछ सुधार किये। १९१७ ई० मे भारत-सचिव माण्टेग्युने एक विज्ञप्तिके द्वारा घोषणा की कि "ब्रिटिश सरकारकी नीति प्रशासनके प्रत्येक विभागमे भारतीयोका उत्तरो-

त्तर अधिक सहयोग प्राप्त करते जानेकी है जिससे कि वे शनैः-शनैः स्वायत्त-शासनका विकास करके ब्रिटिश साम्राज्यके एक अभिन्न अंगके रूपमे अपने देशमे भी उत्तरदायित्वपूर्ण शासन प्राप्त करनेमे समर्थ हो सकें।"

फलस्वरूप माण्टेग्यु-चेम्सफोर्ड सुधार प्रस्तुत हुए जिनके आधारपर १९१९ ई० का गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट पास हुआ। इसके अनुसार भारत-सचिवकी इण्डिया कौन्सिलमे भारतीय सदस्योकी संख्या बढायी गयी, वायसरायकी कार्यकारिणीमे भी सदस्य-वृद्धि हुई, उसकी व्यवस्थापिका समितिको कौन्सिल ऑफ स्टेट्स तथा लेजिस्लेटिव एसेम्बली नामक दो सदनोमे विभक्त कर दिया गया जिनकी सदस्य-संख्या क्रमशः ६० और १४४ नियत हुई। उनकी अधिकार-वृद्धि भी हुई और निर्वाचन-क्षेत्र विस्तृत हुआ। प्रान्तोमे द्वैध शासन स्थापित हुआ, संरक्षित विषयोपर गवर्नर और उसकी कार्यकारिणीका पूर्ण अधिकार था और हस्तान्तरित विषयोपर प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौन्सिलके जनता-द्वारा निर्वाचित सदस्योमे-से नियुक्त किये जानेवाले मन्त्रियोका। विभिन्न जातियोके प्रतिनिधित्व, प्रत्यक्ष निर्वाचन और मताधिकार-विस्तारको भी प्रश्रय दिया गया। म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, टाउन एरिया कमेटी आदिके अधिकारोमे भी वृद्धि हुई और इन संस्थाओको प्रान्तीय मन्त्रियोके अधीन किया गया। नगरोकी उन्नतिके लिए इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट स्थापित हुए। ग्राम-पंचायतोके संगठनका सिलसिला १९०९ ई० के डीसेन्ट्रेलाइजेशन कमीशन (विकेन्द्रीकरण आयोग) की सिफारिशोसे ही शुरू हो गया था, अब १९२२ ई० से स्थानीय अधिनियमों-द्वारा उनका उत्तरप्रदेश आदिमे व्यवस्थित संगठन प्रारम्भ हुआ। सर जान साइमनने भारतका दौरा करने तथा विभिन्न दलोके नेताओके विचार जान लेनेके उपरान्त सन् १९३० ई० मे अपनी रिपार्ट प्रस्तुत की, तदनन्तर १९३०–३२ ई० मे लन्दनमे तीन गोलमेज कान्फ्रेन्से हुईं जिनमे भारतीय नेताओके साथ ब्रिटिश राजनीतिज्ञोने भार-

तीय शासनके प्रश्नका विस्तारके साथ विवेचन किया। १९३३ ई० में श्वेतपत्र तैयार किया गया।

उसीके आधारपर अन्ततः १९३५ ई० का गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट पास हुआ। इसके अनुसार शासन-विधानमे भारी परिवर्तन हुए। अखिल भारतीय संघ शासनकी स्थापना हुई। केन्द्रमे भी वायसरायकी सहायताके लिए व्यवस्थापिकाओ-द्वारा निर्वाचित मन्त्रि-परिषद्के बननेकी योजना हुई। सदनोकी सदस्य-संख्या और अधिकारोमे पर्याप्त वृद्धि हुई। प्रान्तोमें तो प्राय. स्वायत्तशासनकी ही व्यवस्था हो गयी। जनसेवा-आयोग और संघन्यायालयकी भी स्थापना हुई। तथापि वायसराय और गवर्नरोंके अब भी अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषाधिकार थे जिनके द्वारा वे आवश्यकतानुसार पूर्ण मनमानी कर सकते थे। साम्प्रदायिक एवं जातीय प्रतिनिधित्वके संरक्षणको भी आवश्यकतासे अधिक प्रोत्साहन दिया गया। १९३७ ई० मे निर्वाचन हुए और यह ऐक्ट कार्यान्वित हुआ, किन्तु १९३९ ई० मे विश्वयुद्ध छिड जानेपर सरकारकी युद्ध-नीतिसे विरोध होनेके कारण मन्त्रिमण्डलोने त्यागपत्र दे दिये और गवर्नरो शासन फिर चालू हो गया। १९४२ ई० मे सर स्ट्रेफर्ड क्रिप्स भारत आया और राष्ट्रीय नेताओके साथ विचार-विमर्श करके उसने भारतीय संघकी एक योजना प्रस्तुत की। १९४४ ई० मे वायसराय वेवलने अपनी योजना प्रस्तुत की किन्तु देशके नेताओके साथ कोई समझौता न हो सका। १९४५ ई० मे इंग्लैण्डसे एक कैबिनेट मिशन और एक पार्लियामेण्टरी डेलीगेशन भारत आये। अन्ततः सितम्बर १९४६ ई० मे ब्रिटेनकी सरकारने भारतको स्वतन्त्रता प्रदान करनेका निश्चय कर लिया और देशमे एक अन्तरिम शासन स्थापित हुआ।

३ जून १९४७ ई० को भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पास हुआ जिसके अनुसार १५ अगस्त १९४७ ई० को भारत अँगरेजोकी पराधीनतासे मुक्त हुआ। एक वर्षके लिए अन्तिम वायसराय लार्ड माउण्टबेटन ही

भारतका प्रथम गवर्नर-जनरल होकर रहा, तदनन्तर १९४८–५० ई० तक चक्रवर्ती राजगोपालाचारी भारतके गवर्नर-जनरल रहे, इस बीचमे एक देशी विशिष्ट विधान निर्मातृ-सभा सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भारतका प्रजातन्त्रात्मक विधान निर्माण करती रही। आधुनिकतम आदर्शोपर, देश विदेशोके विधानोका सम्यक् अध्ययन करके भारतीयोंने ही अपने देशके लिए यह संविधान स्वयं बनाया जो २६ जनवरी सन् १९५० ई० से कार्यान्वित हुआ। तबसे उक्त सविधानके अनुसार ही स्वयं भारतीय जन पूर्ण स्वतन्त्रताके साथ अपने देशका शासन कर रहे है, यद्यपि स्वतन्त्रता-प्राप्ति-की एक प्रधान शर्तके अनुसार देशका एक बड़ा भाग पाकिस्तानके रूपमें उससे सर्वथा पृथक् फिर भी कर दिया गया।

ब्रिटिश राजकी कुदेनें—अंशतः लगभग दो सौ वर्षके और पूर्णतः लगभग सौ वर्षके ब्रिटिशराजने भारतवर्षको अनेक भयंकर कुदेनें प्रदान की जिनके कुफल यह देश ब्रिटिशराजके आरम्भसे ही भोगने लगा, कुछको अबतक भोग रहा है और सम्भवतया आगे भी न जाने कबतक भोगेगा।

सबसे बड़ी कुदेन तो इस देशके इतिहासमे लग जानेवाला यह लज्जा-जनक अमिट कलंक है कि तीस करोडसे अधिक जन-संख्यावाले इस महान् प्राचीन देशको जो सभ्यता और संस्कृतिमे किसीसे पीछे नही था, जिसमे उस कालमे भी न राजाओं और न राजनीतिज्ञोका अभाव था और न शूर-वीर योद्धाओंका, हजारों मीलकी दूरीपर स्थित एक छोटे-से विजातीय विदेशने जिसका विस्तार, जन-संख्या, शक्ति और धन-वैभव भारतके एक राज्य या छोटे-से प्रान्तसे अधिक नही था, अपने मुट्ठी-भर निकृष्ट श्रेणीके तथा व्यापारके उद्देश्यसे आनेवाले प्रतिनिधियोके छल-कौशल द्वारा इतने सहज और सुगम रूपमे अधीन कर लिया। कुछ ही दशकोके भीतर सम्पूर्ण देशपर, उसके समस्त प्राकृतिक सीमान्तोके उस पार पर्यन्त, उनका प्रभुत्व छा गया और फिर एक शताब्दीसे अधिक काल पर्यन्त सुदूर इंग्लैण्डमे बैठे-बैठे ही वे अपने एक लाखसे भी कम प्रतिनिधियों-द्वारा तीस-

चालीस करोड भारतवासियोपर कुशलतापूर्वक शासन करते रहे । भारतमें सभी वर्गोके अँगरेजोकी संख्या तीन-चार लाखसे अधिक कभी नही रही और इस प्रकार एक अँगरेज़ एक हजारसे अधिक भारतवासियोपर शासन करता रहा ।

साथ ही इस अँगरेजी शासनका विपुल व्यय-भार भारतको वहन करना पडा । लन्दनके इण्डिया ऑफिससे लेकर भारतमे कार्य करनेवाले छोटेसे छोटे अँगरेज़ कर्मचारी या दफ्तरके संरक्षण, व्यय, भारी-भरकम वेतन एवं विविध भत्तोके रूपमे प्रतिवर्ष करोडो रुपया इस देशसे इग्लैण्ड जाता रहा । होम चार्जेजकी रहस्यमयी मदमे भी इंग्लैण्ड भारतसे विपुल द्रव्य निरन्तर पाता रहा । जो राजनैतिक, औद्योगिक अथवा अन्य प्रकारके आयोग या विशेषज्ञ इंग्लैण्डसे इस देशमे निरन्तर आते रहे उनका भारी खर्च अलग रहा । इंग्लैण्डके राजा, रानी, राजकुमारो आदिके भारत आगमनपर अथवा वहाँके राजाओके राज्याभिषेक आदि अवसरोपर जो दरबार, जलूस और स्वागत-समारोह किये जाते रहे उनमे विपुल द्रव्य व्यय होता था । दूसरे देशोके साथ होनेवाले इंग्लैण्डके महायुद्धोमे भी इस देशको अनुमानातीत आर्थिक सहायता देनी पडी जिसके अतिरिक्त लाखो भारतीय वीरोने अपने प्राण भी गँवाये तथा युद्धकालीन एवं युद्धोपरान्त आर्थिक संकटोमे देश-की जनताको पिसना पडा । शासनादि सम्बन्धी उपरोक्त विपुल व्यय-भारकी पूर्त्ति इस देशकी जनतापर उत्तरोत्तर अधिकाधिक लादे जानेवाले विभिन्न, विविध, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष राज्य-करो और सरकारी ऋणों आदिसे की जाती थी । स्वर्ण-मुद्राको बन्द करके, चाँदीके रुपयेमे भी उसके मूल्यसे कम चाँदी रखकर और अन्ततः सस्ती धातुओ एवं कागज़की प्रतीक मुद्रा प्रचलित करके देशकी करेन्सीके साथ खिलवाड किया गया और उसके द्वारा भी जनताका शोषण हुआ । राजे-रजवाडोके पूर्वसंचित द्रव्यको तो पहले ही बहुत कुछ लूट लिया गया था, जो शेष था या किसी प्रकार संचित होता उसे लूटनेके कई उपाय निकाल लिये गये । अनेक

अवसरोंपर इंग्लैण्डके राजा-रानी, राजकुमारों आदिको मूल्यवान् भेंटें, कई-कई बार प्रत्येक वायसराय और उसकी लेडीको दिये जानेवाले मूल्यवान् उपहार, रेज़ीडेण्ट, पोलिटिकल एजेण्ट आदि अन्य अँगरेज अधिकाकारियोंको दी जानेवाली घूसें, प्रत्येक राजा-रईसके इंग्लैण्डकी सैरके लिए जाकर वहाँ अपने वैभवका प्रदर्शन करना एक रिवाज बना देना, प्रत्येक राजा नवावके पीछे एक-आध गोरी मेम लगा देना और इन निकम्मे आलसी राजा-नवाबो और रईस ज़मीदारोंको चरित्र-हीन एवं विलासी बना देना, छोटे-छोटे ज़मीदारों और रईसोमे रायबहादुर, खाँबहादुर, राजा, रावराजा, सर आदि अनेक उपाधियोंको प्राप्त करनेका चस्का और होड लगा देना जिनके लिए वे अँगरेज अधिकारियोंको घूस देनेमे विपुल द्रव्य व्यय कर डालते थे, इत्यादि अनेक उपाय काममें लाये जाते थे।

टीमटाम, दिखावा, फ़ैशन-परस्ती, पश्चिमी सभ्यताका अविवेकपूर्ण अनुकरण और अंगरेज़ोकी बिना हेयोपादेयताका विचार किये नकल करना भारतीय जनताके विभिन्न वर्गोंमे छूतकी बीमारीकी नाई फैलने लगे।

देशके विदेशी व्यापारको अँगरेज़ोने बहुत पहले, १८वी शताब्दीमें ही, पूर्णतया अपने अधिकारमे ले लिया था, शनैः-शनैः आन्तरिक व्यापारके महत्त्वपूर्ण अंगोपर भी वे छा गये। अनेक बैंकों, बीमा-कम्पनियों, विभिन्न एव विविध व्यापार करनेवाली अँगरेज़ ज्वाइण्ट स्टाक कम्पनियो या प्राइवेट फर्मोंका देशमे जाल फैल गया। स्थान-स्थानमे उनके आफ़िस, डिपो और एजेन्सियाँ खुल गयी। स्थानीय खरीजके व्यापारकी छोटी-मोटी दूकानदारो ही भारतीयोके हाथमे अधिकतर रह गयी। इसपर भी सट्टे बधनी, स्टाक एक्सचेंज आदि अनेक वैध जुओका चस्का भारतवासियोंको लगा दिया गया जिसके फलस्वरूप उनमे पडनेवाले अधिकांश भारतीय अन्ततः बरबाद ही होते रहे किन्तु सरकार तथा उनके प्रधान संचालक अँगरेज़ कम्पनियों या व्यक्तियोको लाभ ही होता था। घुडदौड़,

लाटरी आदि अन्य अनेक प्रकारके द्यूत-व्यसन भी भारतमे फैलाये गये। और तारीफ़ यह कि व्यक्तिगत मनोविनोदके लिए थोड़े-से पैसोंमे खेले जानेवाले देशी जुए तो दण्डनीय अपराध बना दिये गये और ये महाभयंकर सुव्यवस्थित भारी जुए वैध, कानूनी और सभ्य कहलाये। देशके अनेक विभिन्न एवं विविध उद्योग-धन्धे और व्यवसाय भी प्रायः सब १८वीं से १९वीं शतीके प्रारम्भ तक प्रयत्नपूर्वक नष्ट कर दिये गये थे। नवीन पश्चिमी ढंगके यान्त्रिक उद्योग-धन्धोंको प्रारम्भ करनेकी प्रवृत्ति और सुविधा भारतवासियोंको बहुत पीछे हुई। इसके पूर्व ही अँगरेजोंने प्रायः सब ही महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान् धन्धोंपर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था। यथासम्भव यही प्रयत्न किया जाता था कि भारतमे उपयोगमें आनेवाली प्रत्येक छोटी-बडी वस्तु यहाँ इंग्लैण्डसे ही आये। अन्य देशोंमें बननेवाली वस्तुएँ श्रेष्ठतर एवं अधिक सस्ती होनेपर भी भारत सरकार-द्वारा उनपर लगाये गये अत्यधिक आयात-कर, तट-कर आदिके कारण वे इंग्लैण्डमें बनी वस्तुओंकी अपेक्षा अत्यधिक मँहगी पड़ती थी। यही नीति स्वयं भारतमे बनी वस्तुओंके साथ भी बरती जाती थी। स्वयं इस देशमें बनी वस्तुएँ भी इसी देशमें इंग्लैण्डमें बनी वस्तुओंकी अपेक्षा महँगी पड़ती थी और उतनी अच्छी भी नहीं होती थी। यन्त्रोंसे बनी छोटी-बड़ी दैनिक उपयोगकी फ़ैशन, शौक और आराम-की अनगिनत नयी-नयी वस्तुओंने देशकी रही-सही दस्तकारियों एवं हस्त-कलाओंका अन्त कर दिया। और जब इंग्लैण्ड आदिकी भाँति इस देशमे भी कुछ उद्योगी व्यवसायियोंने उन वस्तुओंमें-से कुछके निर्माणके लिए देशमे ही यान्त्रिक उद्योग-धन्धे प्रारम्भ किये तो उन्हें बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पडा। अब आवश्यक यन्त्र और विशेषज्ञ आदि उन्हे इंग्लैण्डसे ही विपुल व्यय करके मँगाने पड़ते थे। जितना भाड़ा अँगरेजी मालपर इग्लैण्ड-से भारतके तटपर पहुँचनेमे लगता था उससे अधिक देशी मालपर देशके भीतर ही रेल-द्वारा एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जानेमें लग जाता था।

अँगरेजोंके साथ स्वतन्त्र व्यापारकी नीति बरती जाती थी तथा अँगरेज़ व्यापारियों और व्यवसायियोंको सरकार सर्व-प्रकारकी सुविधाएँ और प्रोत्साहन देती थी।

अँगरेजोंकी यह स्पष्ट और निश्चित नीति थी कि भारतवर्ष इंग्लैण्डकी फ़ैक्टरियोंको विपुल एवं श्रेष्ठ कच्चा माल प्रदान करनेवाली उत्पादन-भूमि और उनके पक्के तैयार मालको निरन्तर खपाते रहनेवाला सुगम एवं लाभदायक बाजार बना रहे और ऐसा ही होता भी रहा। अँगरेज़ोंने अपने शासनकालमें विश्वके अन्य सभी देशोंको इस विशाल देशका उपरोक्त द्विविध लाभ उठानेसे यथाशक्य वंचित रखा और स्वयं इस देशमे भी देशी उद्योग-धन्धोंको प्रोत्साहन न देकर वरन् उनमे बाधक बनकर उक्त द्विविध लाभपर अपना ही एकाधिकार अक्षुण्ण बनाये रखनेका प्रयत्न किया। फलस्वरूप भारतके बलपर इंग्लैण्ड अपने औद्योगिक एवं व्यापारिक विकासके चरम शिखरपर पहुँच गया। इसी शताब्दीके प्रारम्भमे पाण्ड्य मदुराके वीर चिदाम्बरम् पिल्लेने एक देशी जहाजी कम्पनी बनानेका प्रयत्न किया था जिसके कारण सरकारने उसपर राजद्रोहका अपराध लगाकर उसे जेलमे सड़ाया। ऐसे न जाने कितने उदाहरण मिलेगे। जहाज़, रेल और उनके बनानेके कारखाने, जूट, नील, चाय, तम्बाकू (सिगरेट) आदिके उत्पादन, विभिन्न खनिजोंकी खाने इत्यादि इस देशके अनेक प्रधान व्यवसायोपर अँगरेजोंका पूर्ण एकाधिकार था और अबतक बहुत कुछ चला आ रहा है।

देशके धन और भूमिके चिरकालीन भयकर शोषणने उसे बाढ़, भूकम्प, अकाल, महामारी आदि दैवी विपत्तियोसे लड़ने और स्वरक्षा करनेमे अशक्य एवं असमर्थ बना दिया। साथ ही उपरोक्त स्थितिके कारण ये दैवी प्रकोप आये भी बड़ी संख्यामें। १८५७ ई० के पूर्व अराजकता कालमें तो प्राकृतिक उत्पातोंके अतिरिक्त नित्यप्रति बने रहनेवाले लूट-मार, युद्ध, अशान्ति आदि मानुषी उपद्रवोंके कारण देश बराबर अकालपीड़ित-

जैसा बना ही रहा और अन्नाभाव, दीर्घकालीन महामारियाँ, खेती-बारीकी अनिश्चितता एवं अरक्षा, यातायातकी कठिनाइयाँ सब मिलकर भीषण अकाल-जैसी स्थिति बनाये हुए थी। उसके उपरान्त भी १८६१, १८६५–६६, १८७३–७४, १८७६–७८, १८९६–९७, १९०० में देशके विभिन्न भागोमे भयंकर दुर्भिक्ष पड़े। कभी-कभी उनके साथ भयानक बाढ़ों और भीषण एव व्यापक प्लेग आदि महामारियोका भी योग हो जाता। जनतामे इतनी शारीरिक या आर्थिक सामर्थ्य नही रह गयी थी कि साल दो सालके दुष्कालको अपने संचित अर्थ या शरीर-बलसे निकाल ले जायें। अतः इन अकालोमे असंख्य देशवासी तड़प-तडप कर भूखों मर गये। देशकी सामान्य शान्ति एवं यातायातकी वढी हुई सुविधाओके कारण अकाल या महामारीके प्रकोपसे मुक्त जिन अन्य प्रदेशोसे अकाल-पीड़ितोके सहायतार्थ धन या अन्न भिजवाया जाता वहाँ भी उस कारण आधा अकाल पड़ जाता। सरकारने अकाल-रक्षा कोष, अकाल और बाढ-पीड़ितोंकी सहायता-योजनाएँ, महामारियोको रोकने और उनके दमन करनेके उपाय आदि व्यवस्थाएँ की, किन्तु वे सब सदैव अपर्याप्त रही और देशकी भयंकर क्षतिका निवारण न कर सकी। इन सब योजनाओ और व्यवस्थाओको काफी विकसित कर लेने और सिचाई आदिकी योजनाओका अत्यधिक विकास कर लिये जानेपर भी गत पचास वर्षोमे भी देशके विभिन्न भागोमे कई भयंकर दुर्भिक्ष पड चुके है, अनेक विनाशक बाढ़े आ चुकी है और कई बार महामारियाँ भडक चुकी है।

सुशासित कहे जानेवाले देशके आन्तरिक प्रशासनके विभिन्न स्तरोमे भारी अत्याचार, अनाचार और भ्रष्टाचार था। देशवासियोके सर्वथा निःशस्त्रीकरणने उन्हें स्वरक्षा एवं न्याय्य विद्रोहके लिए असमर्थ एवं अशक्त बना दिया था, उनके शौर्य, साहस और निर्भीकताको कुचल दिया था और उन्हे परमुखापेक्षी एवं कायर बना दिया था। देशकी बहुभाग जनता, ग्रामीण कृषक, छोटे-छोटे दस्तकार एवं श्रमिक और गाँवो, कस्बो

एवं नगरोके छोटे-छोटे दूकानदार थे। और ये ही लोग निम्न वर्गके बहुसंख्यक राज्यकर्मचारियो-द्वारा निरन्तर पीसे जाते थे। एक लाल पगड़ी-वालेको देखकर सारे ग्राममे अज्ञात विपत्तिको आशकासे शून्यता, भय और विषाद छा जाता था। जिला अधिकारियोंकोको घूस, रिश्वत आदिके द्वारा अपनी मुट्ठीमे रखनेवाले जमीदार और साहूकार पुलिस और अदालतोंके सहयोगसे इस गरीब जनसाधारणपर मनमाने अत्याचार करते थे, निरन्तर उनका लहू चूसते थे और उन्हे पनपने न देते थे। भारतीय पुलिस जुल्मका आदर्श थी। कहीं किसी राजनैतिक, क़ानूनी या नैतिक अपराधके होनेका सन्देह मिलता कि सारे गाँव और बस्तीपर आफ़त आ जाती और भले आदमियोका धन एवं इज़्ज़त जी भरकर लूटा जाता। नित्य नये बननेवाले क़ानूनो और अदालतोके जालने जनताकी नस-नस बीध दी। अदालतोंके पण्डे, वकील और मुख्तार, मुकदमेबाज़ीको प्रोत्साहन देते। न कुछ बात-पर भाई-भाई और पड़ोसी-पड़ोसी आये दिन लडते रहते और उस लड़ाई-का निपटारा करनेके लिए अनिवार्यत: इन वकील, मुख्तारों, पुलिस और अहलकारोंको शरण लेते, अपनी शान्ति, समय, शक्ति और कारबार नष्ट करते और जीवन-भरकी खून-पसीना एक करके संचित की हुई कमाई उनकी जेबोंमे भरते, सदाके लिए ऋणके भारसे दब जाते और स्वयं अपनोके शत्रु बन जाते। न्यायका ढोल बजाकर इस मुक़दमेबाजोने देशकी जनताका जितना खून चूसा है, उसका जितना नैतिक पतन किया है और उसे अपंग बनाया है उतना शायद किसी अन्य चीज़ने नहो। और इसके लिए अँगरेज तो परोक्ष एवं अलक्ष्यरूपसे ही उत्तरदायी थे, वास्तविक एव प्रत्यक्ष उत्तरदायी तो देशी वकील, मुख्तार, अदालतें, अहलकार और पुलिस-कर्मचारी थे। दुर्भाग्यसे मुकदमेबाजीका यह विष स्वतन्त्र भारतमे भी घटनेके बजाय और अधिक बढ़ रहा है।

देशमे अँगरेज़ोने शिक्षाका प्रचार किया, स्कूल, कॉलेज और विश्व-विद्यालय खोले, पर्याप्त-द्रव्य भी व्यय किया, किन्तु उसमे अंगरेजोंका

उद्देश्य भारतीयोंको वास्तवमे सुशिक्षित करके समुन्नत बनाना नहीं था। उनका मूल उद्देश्य तो अपने प्रशासनके निम्न स्तरोमे काम करनेवाले बहुसंख्यक क्लर्क-बाबुओका निर्माण करना था, जो अँगरेजोंको अपना गुरु, आदर्श, स्वामी, अन्नदाता और सर्व-सर्वा समझें। और वे इस कार्यमें सफल भी हुए, इन राज्यभक्त एवं स्वामिभक्त बाबुओके बलपर ही वे इतने काल तक इस देशपर कुशलतापूर्वक शासन कर सके। अपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिए अँगरेजोने अँगरेजोको शिक्षाका माध्यम बनाया तथा अँगरेज अध्यापको-द्वारा अँगरेजी साहित्य, संस्कृति, कला और विज्ञानका अध्यापन कराया। अँगरेज जातिके प्रगतिशील इतिहासके साथ-साथ अँगरेज लेखकोसे सोद्देश्य लिखाये गये भारतवर्षके ऐसे इतिहास पढाये जिनसे पग-पगपर भारतीय छात्रोको अपने देश, जाति, पूर्वजो और संस्कृतिकी हीनता-का अनुभव हो और लज्जासे उनका सिर झुक-झुक जाये तथा अँगरेजोको वे अत्यन्त उदार, दयालु, सर्वाधिक सभ्य और सुसंस्कृत देवता समझने लगें, जिनसे उनकी शक्ति, बुद्धि और महत्ताको तथा अपनी सर्वप्रकारकी हीनताकी अमिट छाप उनके हृदयमे पड़ जाये। और प्रायः यही हुआ। अध्यापक और पाठ्य पुस्तकोके लेखक बहुधा ईसाई पादरी होते थे जो छात्रोको स्वदेशीय एवं स्वजातीय एवं संस्कृतिका अनादर करना तो सिखाते ही थे उन्हे स्वधर्म और समाजका भी विद्रोही बना देते थे। ईसाई धर्म, पश्चिमी सभ्यता और अँगरेजियतको ही वे सब-कुछ समझने लगते थे। शिक्षाप्राप्तिमे विपुल व्यय, सदोष परीक्षा-प्रणाली, डिग्रियोका लोभ, अव्यावहारिक किताबी ज्ञान, आदि अनेक दोष इस शिक्षा-पद्धतिमे ऐसे थे जो शिक्षित भारतीयोको सरकारी या गैर-सरकारी अँगरेजी दफ़्तरोकी बाबू-गीरी, वकालत, अध्यापकी अथवा कुछ छोटी-मोटी अफसरी आदि करनेके अतिरिक्त और किसी योग्य नही रहने देते थे। भारतीयोके लिए इस शिक्षाका उद्देश्य डिग्रियाँ लेकर नौकरी करना था और नौकरियाँ कभी भी इतनी न होती कि उनमें सब सर्टीफ़िकेट या डिग्री प्राप्त भारतीय युवक

खपाये जा सकते, अतः अनेकोंको घोर निराशामे जीवन नष्ट करना पड़ता। देशमे फिर भी ९० प्रतिशतसे अधिक निरक्षर थे, और जब इन थोड़े-से शिक्षितोंकी यह दशा थी तो इस शिक्षासे देशको क्या वास्तविक लाभ हो सकता था यह अनुमान ही किया जा सकता है। सरकारी नौकरियोंमें भी प्रारम्भमे, बल्कि १९वी शती ई० के प्रारम्भ तक तो अँगरेजअ धिकारी भारतीयोंपर विश्वास ही नही करते थे और उन्हे सरकारी नौकरीके योग्य ही नही समझते थे। बादमे वे यह घोषणा करने लगे कि सरकारी नौकरीका द्वार प्रत्येक भारतीयके लिए खुला है, किन्तु तब भी किसी उत्तरदायित्व-पूर्ण या ऊँचे पदपर भारतीयोको चाहे वे कितने ही योग्य हों नियुक्त न करते थे। १९वी शती ई० के उत्तरार्धमे भी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी-जैसे अनेक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होने आई० सी० एस० की परीक्षामें उत्तम सफलता प्राप्त की किन्तु उच्च नौकरी प्राप्त करनेसे वंचित रहे जब कि उनके साथके तथा उनसे कम योग्यतावाले अँगरेजोंको प्राथमिकता दी गयी।

सरकारके प्रश्रयमे काम करनेवाले ईसाई मिशनोके व्यवस्थित जालद्वारा भारतीयोको ईसाई बनानेका प्रयत्न किया गया तथा निम्न जातियोके असंख्य अशिक्षित दीन भारतीयोको ईसाई बना भी डाला गया और उनके रूपमे अपने राज्यके स्थायित्वका इस देशमे एक स्थायी स्तम्भ निर्माण किया गया। ऐंग्लोइण्डियन या यूरेशियन गोरोंके रूपमे भी एक अन्य ऐसे वर्गका निर्माण किया गया।

अँगरेजोने इस देशमे साम्प्रदायिकताके तीव्र विषको भी स्वार्थके वशीभूत होकर खूब फूँका। सर्वधर्म समदर्शिता, बहुसंख्यकोसे अल्पसंख्यकोंकी रक्षा, न्याय, उदारता आदिका बहाना लेकर उन्होने हिन्दू और मुसलमानोके बीच ऐसे फूट और वैमनस्यके बीज बो दिये जैसे कि पूर्व मुग़ल कालके सुलतानी शासन या औरंगज़ेबके कट्टर मुसलमानी शासनमे भी शायद न थे। हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरेके जानी दुश्मन हो गये, आये दिन

साम्प्रदायिक दंगे और रक्तपात होने लगे, अन्ततः इस फूटका परिणाम देशका विभाजन हुआ। देशने अँगरेज़ी शासन-कालमें जो अपनी स्वाभाविक प्राकृतिक एवं ऐतिहासिक पूर्णता एवं विस्तार प्राप्त कर लिया था यदि स्वतन्त्रताके उपरान्त भी वह बना रहता तो यह देश शीघ्र ही एक अत्यन्त समुन्नत एवं शक्तिसम्पन्न राष्ट्र हो जाता। किन्तु उससे अँगरेज़ोंके स्वार्थो-को क्षति पहुँचनेकी भारी सम्भावना थी। अतः उन्होंने न केवल बर्मा, लंका, मलाया आदिको ही इस देशसे पृथक् करके स्वतन्त्र कर दिया, वरन् इस देशके भी दो बड़े खण्ड, एक सिन्ध, पंजाब एवं पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्तके रूपमें पश्चिमी पाकिस्तान और दूसरा पूर्वी बंगालके रूपमे पूर्वी पाकिस्तान करके देशको खण्ड-खण्ड एवं संकुचित कर दिया। इतना ही नही कश्मीर, गोआ, चन्द्रनगर और अनगिनत देशी राज्योकी समस्या भी उसीके सिर सुलझानेके लिए छोड़ दी।

इस महादेशको धूर्ततापूर्वक गुलाम बनाने, दीर्घकाल तक उसे पूर्ण-तया गुलाम बनाये रखने, उसका सर्वप्रकार यथाशक्य शोषण करने और अत्यधिक नैतिक पतन कर लेनेपर अँगरेज़ इसे छोड़कर गये भी तो क्षत-विक्षत और अंग-उपाग विहीन करके गये और अनेक रूपोंमे अपना भूत पीछे छोड गये। अगरेज़ोने भारतका पिण्ड छोड़ दिया किन्तु उनके भूतने देशका पिण्ड अभी भी नही छोडा है।

ब्रिटिश शासनकी कतिपय सुदेनें—भारतवर्षके लिए जहाँ ब्रिटिशराज्यकी उपरोक्त अनेक घातक एवं अहितकर कुदेने रही वहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान सुदेने भी है। उसकी सबसे बड़ी सुदेन देशके राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक एवं नैतिक पुनरुत्थानके बीज वपन करना था। चाहे जाने या अनजाने, इच्छा और प्रयत्नपूर्वक अथवा अनिच्छासे और अनायास ही, लक्ष्य रूपमे या अलक्ष्य रूपमे उन्होने वैसा किया तथापि इसमें सन्देह नही कि भारतीय राष्ट्रके वर्तमान सर्वतोमुखी पुनरुत्थानका श्रेय कमसे कम अंशतः अंगरेज़ोको अवश्य ही है। देशकी

जो प्राकृतिक, स्वाभाविक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पूर्णता थी उसे प्रथम बार राजनैतिक, आर्थिक एवं प्रशासकीय एकसूत्रतामे बाँधकर उन्होंने चरितार्थ और पुष्ट कर दिया। देशका विस्तार सभी दिशाओमे उसकी वैज्ञानिक सीमाओ एवं अग-उपांगो तक पहुँचा दिया। ऐतिहासिक कालमे ऐसे अनेक भारतीय नरेश हुए जिनमे-से कुछने पश्चिमोत्तर दिशामे काबुल और कन्दहारसे भी कुछ आगे तक अपने राज्यका विस्तार किया, कुछने पश्चिममे अरबसागर और ईरानकी खाड़ीपर अपना प्रभुत्व रखा, कुछने उत्तरमे कश्मीर, नैपाल और भूटान ही नही तिब्बत तक अपने राज्यका विस्तार किया, कुछने पूर्वमे आसाम और अराकान तक ही नही ब्रह्म देश तक अपना प्रभावक्षेत्र बढ़ाया, और कुछने दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्वमे लंका, मलाया प्रायद्वीप तथा पूर्वी द्वीप-समूहके अनेक द्वीपोंपर अपना अधिकार विस्तार किया। किन्तु ऐसा कोई एक नरेश कभी नही हुआ जिसने एक ही साथ उपरोक्त सभी सीमान्तो और सीमापार प्रदेशोपर अपना प्रभुत्व जमाया हो। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, अलाउद्दीन खलजी, अकबर या औरंगजेब, इन महान् सम्राटोमे-से एक भी ऐसा न था जिसने सम्पूर्ण देशपर अपना पूरा, अधूरा या नाममात्र भी अधिकार फैला पाया हो। देशका किसी-न-किसी दिशामे और कुछ-न-कुछ भाग उनके आधिपत्यके बाहर रहा ही। चक्रवर्ती सम्राट्का जो प्राचीन भारतीय आदर्श था उसकी सिद्धि इतिहासकालमे यदि कभी हुई तो ब्रिटिश शासनके अन्तर्गत ही, और उसके अन्तके साथ ही वह भंग भी हो गयी या कर दी गयी। किन्तु एक बार प्राप्त हो जानेवाली तथा एक शताब्दी पर्यन्त स्थायी बनी रहनेवाली वह पूर्णता एवं एकता फिरसे भग्न और खण्डित हो जानेपर भी यह प्रदर्शित कर गयी कि वह कितनी सुगम, सम्भव, युक्तियुक्त और आवश्यक है। स्वतन्त्र भारतीय राष्ट्रके लिए वह एक सजीव प्रेरणा बन गयी जो उसे निरन्तर यह स्मरण दिलाती रहेगी कि उक्त मौलिक पूर्णता एवं एकताकी पुनः प्राप्ति राष्ट्रीय सत्ताका

एक अनिवार्य कर्त्तव्य है।

देशने जैसे सुव्यवस्थित, सुविस्तृत, सुसंचालित एवं केन्द्रित प्रशासन-का तथा उससे उत्पन्न शान्तिपूर्ण वातावरण, सुरक्षा, व्यक्तिगत व्यवहार-स्वातन्त्र्य आदिका उपभोग इस कालमें किया वैसा पूर्वकालमे बहुत कम अवसरोंपर किया था। उसकी उत्तमता इसी बातसे स्पष्ट है कि स्वतन्त्र होनेके बाद भी हमारे अपने वर्त्तमान प्रशासकोंने उसे प्रायः ज्योंका त्यों अपना लिया और चालू रखा है। उसमे अनेक दोष, त्रुटियाँ या कुप्रथाएँ भी थी, यथा नित्य नये असख्य क़ानून बना-बनाकर उनका अम्बार लगाना, मुक़दमेबाजीको प्रोत्साहन देना, प्रशासनके विभिन्न भागोंमें भ्रष्टाचार और प्रशासन-व्ययकी वृद्धि, पुलिस आदिकी अनुत्तरदायित्वपूर्ण ज्यादतियाँ, सरकारी ऋणो, करो आदिमें अनावश्यक वृद्धि, प्रचलित शिक्षा-पद्धतिके दोष, राजकीय सेवाओंकी नियुक्तियोंमें बहुधा सिफारिशो, रिश्वतो या पक्षपातका प्रयोग, इत्यादि। तथापि ब्रिटिश कालके उपरोक्त सुव्य-वस्थित प्रशासनको ही इस बातका श्रेय है कि इतने विशाल देशका सत्ता-हस्तान्तरण, जिसका अर्थ था राजतन्त्रके स्थानमे प्रजातन्त्र, पराधीनताके स्थानमे स्वाधीनता, विदेशी शासनके स्थानमे स्वदेशी शासन, सर्वोच्च पदोपर अँगरेजोंके स्थानमें भारतवासियोंकी नियुक्ति, सेना और अर्थ-व्यवस्थाका भी हस्तान्तरित होना इत्यादि, इतनी आश्चर्य-जनक सुगमता, सरलता, शीघ्रता एवं शान्तिके साथ सम्पादित हो गया। ऐसी महान् क्रान्तिके इस प्रकार सम्पादित होनेका विश्वके पूरे इतिहासमें शायद एकाध ही उदाहरण मिले तो मिले। और इसका प्रधान श्रेय उक्त शासन-व्यवस्थाको तथा कुछ अंशोमें तत्कालीन अँगरेज राजनीतिज्ञोंको है। इसमे भी सन्देह नही कि अब भारतीय शासन अँगरेजोंके नफेका नही वरन् घाटेका व्यापार रहता जाता था। जैसे ही उस चतुर व्यापारी जातिने यह अनुभव किया उसने भारतको स्वतन्त्रता प्रदान करनेका यश भी घातेमें लूटनेकी परम बुद्धिमानी की, यद्यपि देशके टुकड़े-टुकड़े करके अपनी उदाराशयताको

उन्होंने कुछ कलंकित ही किया।

किन्तु अँगरेज इस देशसे क्यो चले गये और भारत स्वतन्त्र कैसे हो गया इन प्रश्नोका उत्तर है देशमे उदित राष्ट्रीयताकी भावनाका विकास और फलस्वरूप किये गये स्वातन्त्र्य-आन्दोलनकी उत्कटता। अँगरेजोने भारतवासियोके हृदयमे राष्ट्रीयताकी भावनाका उत्पन्न होना और पनपना कभी भी नही चाहा और न स्वातन्त्र्य-आदोलनको कोई प्रोत्साहन दिया, वरन् उन्होंने समय-समयपर अपना अत्यन्त क्रूर एवं भयंकर दमनचक्र चलाकर इन दोनोका मूलोच्छेद करनेका ही भरसक प्रयत्न किया। तथापि इन दोनोंके उदय और विकास एवं अन्तिम सफलताका भी श्रेय अनेक अंशोमे अँगरेजोको और उनके शासनको है। अँगरेज जाति चिरकालसे राजनैतिक स्वातन्त्र्यका उपभोग करती आयी थी। भारतपर राज्याधिकार स्थापनके कुछ पूर्वसे ही उनका देश नामके लिए राजतन्त्र किन्तु वास्तवमे प्रजातन्त्रका रूप लेता आ रहा था। भारतसे होनेवाले कल्पनातीत आर्थिक लाभके कारण उनके देशने द्रुत-वेगसे उन्नति की थी। उसके उद्योग-धन्धे, व्यापार-व्यवसाय, शक्ति-समृद्धि, प्रभाव और साम्राज्य विस्तार ही न केवल शीघ्रताके साथ अत्यधिक बढ़ गये और उन्होने उसे विश्वकी प्रधान शक्ति बना दिया, वरन् शिक्षा, साहित्य, ज्ञान एवं विज्ञानकी भी उस देशमे अभूतपूर्व उन्नति हुई और उसकी शासनप्रणाली अधिकाधिक जन-तन्त्रात्मक होती चली गयी। शक्ति, सत्ता और समृद्धिके साथ शिक्षा, सभ्यता और संस्कृतिके योगने अँगरेजोके जातीय चारित्र्यको भी उन्नत एवं परिष्कृत किया, तथा उनमे बुद्धिमत्ता, विवेक, दूरदर्शिता, उदारता, सहिष्णुता, न्यायपरायणता और स्वतन्त्र विचारक्षमताका पोषण किया। वहाँकी सत्ताधीश पार्लियामेण्ट द्विदलीय रही जिसमे एक दल नरम उदार परहितापेक्षी और शान्तिप्रिय रहा और दूसरा गरम अनुदार स्वहितापेक्षी और प्रतिक्रियावादी रहा। जब जिस दलके हाथमे सत्ता आ जाती उसीकी नीतिका प्रभाव उस देशके ही शासनमे नही भारतके प्रशासनमें भी लक्षित

होना, और वायसराय आदि उच्च पदाधिकारी भी उसी दलके सदस्यों या पक्षपातियोंमें-से नियुक्त किये जाते। अतः भारतके गवर्नर-जनरलों और वायसरायोंसे कभी गरम और कभी नरम नीतिका प्रायः एकके अनन्तर दूसरेका प्रयोग करनेवाले व्यक्ति आते रहे। प्रारम्भसे ही उदार दलवाले अँगरेज भारतके समुचित सुशासन, शासनमें भारतीयोंके सहयोग और अधिकारोंकी वृद्धि, भारतीयोंकी शिक्षा-दीक्षा आदि बातोंको उठाते रहे, वे दूसरे पक्षकी गरम अनुदार स्वार्थी अत्याचारी आदि नीतिकी खुली कटु आलोचना करते रहे और जब कभी उनके हाथमें सत्ता आ जाती तो वे अपने विचारोंको पूर्णतः या अंशतः क़ानून बनाकर अथवा विज्ञप्तियों, घोषणाओं और आदेशों-द्वारा कार्यान्वित करनेका प्रयत्न करते।

भारतवासी, जिनमें-से अनेक अँगरेजोंके सम्पर्कमें आते थे, बहुत-से शिक्षित भी होते जाते थे, कुछ एक यूरोपकी यात्रा भी कर आते थे और अनेक उदार एवं मनीषी अँगरेजोंसे विचार-विनिमय करते थे, इन विचारोंसे अवगत होने लगे और स्वयं सरकार-द्वारा ही घोषित किये गये अधिकारोंकी माँग करने लगे। रेल, डाक, तार, समाचार-पत्र आदिकोंके प्रचलनने ऐसी माँगोंका देशके विभिन्न भागों और वर्गोंमें प्रचार होनेमें अभूतपूर्व सहायता दी। हिन्दू, जैन, सिख, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि धार्मिक समूह तथा बंगाली, असमी, उड़िया, मद्रासी, महाराष्ट्री, पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, राजस्थानी और कथित हिन्दुस्तानी सभी जनपदनिवासी प्रान्त, धर्म, वर्ण, जाति आदिके किसी भेदके बिना एकदेशीयता, एक राष्ट्रीयता और एकजातीयताका अनुभव करने लगे। हमारा देश और इस देशके हम-सब निवासी शासित हैं, विदेशी अँगरेज हमारे शासक हैं, इन शासकोंके कुशासन या प्रशासकीय दोषोंकी आलोचना करना और अपने न्याय्य अथवा उन्हींके द्वारा प्रदत्त या सुझाये गये उचित अधिकारोंकी माँग करना हमारा जन्मसिद्ध मानवी अधिकार है, ऐसी भावना बलवती होने लगी। जो प्रतिभासम्पन्न, प्रभावशाली और

साहसी होते थे वे सार्वजनिक भाषणों, समाचार-पत्रों, स्मृति-पत्रों अथवा उच्च अधिकारियोके साथ व्यक्तिगत भेंटोके द्वारा सरकारसे टक्कर लेने लगे।

नरम दलके शासनमे उनके साथ सहानुभूति प्रदर्शित की जाती, आश्वासन दिये जाते, कुछ अधिकार और सुविधाएँ भी प्रदान कर दी जाती। किन्तु तदुपरान्त जब गरम दलका शासन प्रारम्भ होता तो प्रतिक्रिया होती और सरकारकी आलोचना एवं अधिकार-माँगको राजद्रोह और धृष्टता माना जाता। उससे नेताओं और उनके अनुयायियोका क्षोभ बढता और आन्दोलनमे कुछ गरमी आती तो दमनचक्र चलाया जाता। फलस्वरूप सारे देशमे सरकारकी निन्दा होने लगती और आन्दोलन और अधिक उग्र रूप धारण करने लगता। दमन नीति उसे स्थायी रूपमे दबा देनेमे सफल भी हो जाती तो देशकी सहानुभूति आन्दोलनकर्त्ताओके साथ और अधिक बढ़ जाती और स्वयं इंग्लैण्डमे पदच्युत नरम दल सत्ताधीश गरम दलकी कटु आलोचना करने और उसे पदच्युत करनेका नया बहाना ढूँढ लेता तथा भारत और उसके नेताओके साथ सहानुभूति एवं समवेदना प्रदर्शित करता। सत्ता प्राप्त करनेपर वह पूर्व माँगोके अनुसार भारतीयोको कुछ अधिकार प्रदान करता। किन्तु इस बीचमे भारतीयोकी माँगे उससे कही अधिक बढ़ चुकी होती, अत. उस अधिकार प्रदानसे भारतीयोको कुछ भी सन्तोष न होता और आन्दोलन दबनेके बजाय और अधिक बल पकडता और प्रगतिवान् हो जाता। ब्रिटिश शासनके प्रायः प्रारम्भसे अन्त तक यही क्रम चालू रहा। स्वयं अँगरेज़ोने ही भारतीयोको अपने विरुद्ध लडना सिखाया, उसकी विधि और पद्धति बनायी और उसके साधन भी प्रदान किये। अतः इसमे अत्युक्ति नही है कि इस देशमे राष्ट्रीयताकी भावना और स्वातन्त्र्य-आन्दोलनकी उत्पत्ति, विकास एवं सफलताका श्रेय अनेक अंशोमे अँगरेजो एवं अँगरेजी शासनको है।

भारतवर्ष लोकको अपेक्षा परलोक और स्वार्थकी अपेक्षा परमार्थपर

दृष्टि रखनेवाला शान्तिप्रिय धर्मप्राण आध्यात्मिक देश है। निर्लोभ, सन्तोष, सदाचार, सच्चाई, सादगी, दया, समवेदना, उदारता, सहिष्णुता, स्वावलम्बन और स्वनिर्भरता आदि गुण इस देशके निवासियोके सदैवसे सामान्य गुण रहते चले आये है। निजस्थान और वातावरणका प्रबल मोह उनमे बराबर रहता आया है। प्रतिभा, मेधा, विद्या-व्यसन और विचारशीलतामे वे कभी किसोसे पीछे नही रहे। स्वार्थ-त्याग और आत्म-बलिदानकी अपूर्व वीरता, निर्भीकता और साहस इस दान-प्राण देश-जैसे अन्यत्र मिलने कठिन है। धर्मवीर ही कर्मवीर हो सकता है यह इस भारतीय जातिका आदर्श रहा है और इसकी स्वतन्त्रता स्वबन्धन अर्थात् अपने कर्त्तव्य-पालन और दूसरोके अधिकारोका आदर करनेमें सदैव जागरूक बने रहनेपर आधारित रही है। निरंकुश, अविवेकी, स्वार्थान्ध, पैशाचिक आततायियोंके छल-बलके सम्मुख इस देशको अनेक बार पराभूत होना पडा। किन्तु वह पराभव सर्वदा आंशिक एवं अल्पस्थायी रहा और भारतकी भारतीयता तथा उसके स्वातन्त्र्य प्रेमको वह कभी भी निःशेष न कर सका। अँगरेजोसे पूर्व जो और जितने भी विदेशी आक्रान्ता इस देशपर शासन करनेकी नीयतसे आये उन्हे यहीका होकर रहना पड़ा, उन्हें भारतीयताके रंगमे रंगना पडा और इस देशमे स्वयंको आत्मसात् करना पडा। देशका धन सदैव देशमे ही रहा, देशके उन्नत उद्योग-धन्धो और व्यापार-व्यवसायके कारण विदेशोका भी धन खिच-खिचकर इस देशमे आता रहा। देशकी आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति और बहुभाग लोक-जीवनपर भी उनका विशेष प्रभाव नही पडा। देशकी नब्बे प्रतिशतसे अधिक जनता सदैव ग्रामीण कृषक, कृषि-श्रमिक, दस्तकार और कारीगर तथा छोटे-छोटे दूकानदारो एवं व्यापारियोकी रही है जो देशके निम्न तथा निम्न-मध्यवर्ग थे और अब भी है। मुसलमानोके भारत-प्रवेशसे पूर्वकी तो बात ही क्या, दिल्लीके तुर्की सुल्तानो एव प्रान्तीय मुसलमान नरेशोकी भी प्रत्यक्ष पहुँच इस बहुभाग जनता तक थी ही नही। और जैसा कि कवीन्द्र रवीन्द्र-

नाथ ठाकुरने सन् १९३१ ई० में अँगरेज मनीषी एच० जी० वेल्ससे कहा था—'मुगल शासक भी गाँवोंके प्रगतिशील सामाजिक जीवनमें कोई हस्तक्षेप नही करते थे। दरबारी शासकोके बावजूद भी जातीय जीवनकी धारा सहजरूपसे चली आ रही थी। मुसलमान शासकोंने (अँगरेजोंकी भाँति) कोई शर्तें घोषित नही कीं और न भारतीय शिक्षा-दाताओं और ग्राम-वासियोको अपने आदर्शपर चलनेके लिए पीडित किया।' वास्तवमें प्रत्येक ग्राम अपने नम्बरदार, मुखिया, चौकीदार, पटवारी, दुकानदार, साहूकार तथा विभिन्न आवश्यक कार्य करनेवाले व्यक्तियोसे पूर्ण और अपनी शुद्ध जनतन्त्रीय ग्राम पंचायतसे शासित पूर्णतया आत्म-परिपूर्ण, स्वनिर्भर और स्वतन्त्र था। साम्प्रदायिक एवं जातीय पंचायतें अनेक ग्रामो, नगरों और पूरे-पूरे प्रदेशोंकी जनताको अपने स्वायत्त शासनमे बाँधे हुए थी। राजा-महाराजाओं, सुलतानों और बादशाहोकी स्वाधीनता-पराधीनता उनमे स्वयंमे परस्पर एक-दूसरेके सम्बन्धसे थी, सामान्य जनताका उससे कोई सरोकार या विशेष हानि-लाभ नहीं था। अपने राज्य या प्रदेशकी स्वा-धीनताके संग्राममें भाग लेनेके लिए यदि सामान्य जनताका आह्वान किया जाता तो वह भी उसमें सहर्ष भाग ले लेती। किन्तु प्रथम तो उपरोक्त पराधीनता भी प्राय: अल्पस्थायी और परिवर्तनशील रहती थी, दूसरे ये स्वाधीनता संग्राम भी क्षणिक एवं अल्प हानिकर होते थे, तथापि वे देशकी समस्त जनताको सदैव सजग सचेष्ट और आत्म-रक्षा मे समर्थ बनाये रखते थे। १९४७ ई० मे प्राप्त स्वतन्त्रताकी नदीके वास्तविक अटूट एवं अजस्र उद्गम स्रोत भारतवर्षकी उपरोक्त भारतीयता, स्वभाववैशिष्ट्य और सनातन संगठनमे ही अन्तर्निहित है। उन्हे अन्यत्र खोजना व्यर्थ है। अँगरेजोने इन स्रोतोंको सुखा डालनेका सर्व-प्रथम भगीरथ प्रयत्न किया किन्तु साथ ही उनके फूट पडनेके अन्य द्वार स्वत: ही खोल दिये जिनके कारण ये मूलस्रोत भी सर्वथा न सूख पाये। राष्ट्रीयताकी भावना और स्वातन्त्र्य-आन्दोलनने इन स्रोतोकी सूखनेसे रक्षा की और इन्होने द्विगुणित

वेगके साथ बहकर आन्दोलनको अभूतपूर्व बल एवं प्रगति प्रदान की।

पुनरुत्थान—कम्पनीके शासन-कालमे उसके अन्त तक देशी नरेश अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्तिके लिए युद्ध करते रहे। जिन बंगाल, मद्रास आदि प्रदेशोंपर अँगरेजी शासन कुछ स्थायी हो गया था वहाँ संन्यासी विप्लव और वैलोर विद्रोह-जैसी घटनाएँ होती रहीं। १८५७ ई० में एक अत्यधिक व्यापक सामरिक प्रयत्न भारतको अँगरेजी राज्यसे मुक्त करानेके लिए किया गया।

१९वीं शतीके पूर्वार्धमे ही राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदिने देशको जागृत करनेका प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था। कम्पनीके १८१३, १८३३ और १८५३ ई० के आज्ञापत्रों, १८५४ ई० की चार्ल्सवुडकी भारतीय शिक्षा-सम्बन्धी रिपोर्ट, १८५८ ई० की महारानी विक्टोरियाकी विज्ञप्ति और १८६१ ई० के इण्डिया कौन्सिल ऐक्ट आदिके फलस्वरूप अनेक भारतीय अँगरेजी शिक्षा प्राप्त करने लगे थे और प्रचलित शासनके अन्तर्गत अपने वैध अधिकारोंसे अवगत होने लगे थे। स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर श्रीमती एनीबेसेण्ट, स्वामी आत्माराम आदिने धर्म और समाज सुधारके आन्दोलन चलाकर देशको जागृत करना प्रारम्भ कर दिया था। १८७६ ई० मे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, आनन्दमोहन बोस, द्वारकानाथ गांगुली आदिने भारतीय संघकी स्थापना की, गोखले और रानाडेने सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटीकी स्थापना की, और हिन्दू महासभा, जैन-महासभा, लाहौरकी अंजुमन आदि अनेक सभा-सोसाइटियाँ भी स्थापित हुईं। लार्ड रिपन-द्वारा वर्नाकुलर प्रेस ऐक्ट रद्द कर दिये जानेसे विभिन्न देशी भाषाओंमे भी स्वतन्त्रतापूर्वक समाचारपत्र निकलने लगे। लोगोंको अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करनेके तथा उन्हें अपने अन्य देशवासियों तक पहुँचानेके लिए अनेक साधन बन गये। इन सबने मिलकर राजनैतिक आकांक्षाओंको प्रबल एवं पुष्ट करना शुरू कर दिया।

१८८५ ई० मे ए० ओ० ह्यूम नामक एक अँगरेज सिविलियनने सर विलियम वैडरबर्न, सर हेनरीकाटन, जार्ज यूल आदि उदारहृदय अँगरेजों और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, दादाभाई नौरोजी, फ़ीरोज़शाह मेहता, दिनशा वाचा, बदरुद्दीन तैयबजी, के० टी तैलग, महादेव गोविन्द रानाडे आदि भारतीय अग्रगामी सज्जनोंके सहयोगसे बम्बईमे इण्डियन नेशनल काँग्रेसकी स्थापना की। व्योमेशचन्द्र बनर्जी उसके प्रथम सभापति बने। प्रारम्भसे ही काँग्रेसको पूरे देशका प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। उस समय सरकारके प्रति काँग्रेसका भाव पूर्ण मैत्रीका था और बहुत पीछे तक इस संस्थाका लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्यके अन्तर्गत स्वराज्य प्राप्त करनेका बना रहा। १८८६ ई० मे वायसराय डफरिनने काँग्रेस नेताओको कलकत्ताके राजभवनमे प्रीतिभोजके लिए आमन्त्रित किया। किन्तु उसके उपरान्त ही काँग्रेसने अपनी नीति विरोधात्मक एवं आलोचनात्मक बना ली अतः सरकार उसे शंकाकी दृष्टिसे देखने लगी और १८९० ई० मे आज्ञा प्रचारित कर दी गयी कि कोई सरकारी कर्मचारी उसमे भाग न ले। मुसलमानोके नेता सर सैयद अहमदखाँने काँग्रेसका विरोध किया और १८८८ ई० में अपर इण्डिया मुसलिम एसोसियेशनकी स्थापना की, फिर भी काँग्रेसके छठे अधिवेशनमे २२ प्रतिशत मुसलमान थे। १८८९ ई० मे० चार्ल्स ब्रैडला नामक पार्लियामेण्टका एक सदस्य काँग्रेस अधिवेशनमे सम्मिलित हुआ और फलस्वरूप १८९२ ई० का ऐक्ट पास हुआ। किन्तु जनताका असन्तोष बढ़ता ही गया।

महाराष्ट्रमे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलकने राष्ट्रीय आन्दोलनको उग्र रूप दिया। उन्होने अपने 'केसरी' नामक मराठी समाचारपत्रमें सरकारकी तीव्र कटु आलोचना करनी प्रारम्भ की और विद्यार्थियोको उत्तेजित किया। उनका पत्र बन्द कर दिया गया और स्वयं उन्हे जेलमे डाल दिया गया। पंजाबमे लाला लाजपतराय और बंगालमे विपिनचन्द्र पाल भी उन्हीकी नीतिके समर्थक थे। काँग्रेसमें अब नरम और गरम दो

दल हो गये। बाल, पाल और लालकी त्रिकुटी गरम दलकी नेता थी और दादाभाई, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले, फीरोजशाह मेहता, मदनमोहन मालवीय आदि नरम नीतिके समर्थक थे। नरम नीतिवाले वैध उपायोंसे शान्तिपूर्ण याचनाके पक्षमें थे। गरम दल कहता था राजभक्तिका ढोंग छोड़ो, चापलूसीके प्रस्ताव पास करनेसे स्वराज्य नहीं मिलेगा। कलकत्तेके १९०६ ई० के कांग्रेस अधिवेशनमें दोनों दलोंका विरोध स्पष्ट हो गया और १९०७ ई० के सूरत अधिवेशनमें वे पृथक्-पृथक् हो गये।

१९०६ ई० मे आगाखांके नेतृत्वमें मुसलमानोंका एक डेपुटेशन वायसराय मिण्टोसे मिला था और उसने पृथक् निर्वाचनकी मांग की थी। इसी वर्ष मुसलिम लीगकी स्थापना हुई। इसके कुछ पूर्व ही १९०४–०५ई० में जापानने रूसको बुरी तरह पराजित कर दिया था और लार्ड कर्जनने बंगालका विभाजन कर दिया था। इन कारणोंसे बंगालमें बड़ी उत्तेजना फैली और अरविन्द घोष आदिके नेतृत्वमे वंगभंग आन्दोलन शुरू हुआ। गुप्त क्रान्तिकारी दलोंकी भी स्थापना यत्र-तत्र होने लगी। महाराष्ट्रमे तिलकका प्रभाव पर्याप्त प्रसारित हो गया। १९०७–०८ ई० से यत्र-तत्र बमबाजी और अंगरेज अधिकारियोंकी गुप्त हत्याके प्रयत्न भी प्रारम्भ हो गये। तिलकको कैदमें डाल दिया गया तथा लाजपतराय, अजीतसिंह आदि कई नेताओंको निर्वासित कर दिया गया। प्रेसपर कड़ा नियन्त्रण लगाया गया और राजद्रोह दमन करनेके लिए क़ानून बनाया गया। किन्तु थोड़े समय बाद ही १९०९ ई० के ऐक्ट-द्वारा आंसू पोछनेका प्रयत्न किया गया। तथापि बमबाजी चालू रही। १९१२ ई० में इंग्लिस्तानके राजा-रानीके स्वागतमें किये गये दिल्ली दरबारके अवसरपर वायसराय हार्डिन्जपर बम फेंका गया। क्रान्तिकारी दलकी हिंसक नीतिने भीषण दमन-चक्र चलानेके लिए सरकारको उपयुक्त बहाना प्रदान कर दिया। १९१४ ई० में यूरोपीय महायुद्ध छिड़ गया। भारतने पूरा सहयोग और सहायता दी, कांग्रेसने भी कोई

विरोध नहीं किया। युद्धकालमें श्रीमती एनीबेसेण्टने होमरूल आन्दोलन चालू कर दिया और अपने पत्र 'न्यू इण्डिया'-द्वारा उसका उत्साहपूर्वक प्रचार किया।

१९१६ ई० के लखनऊके काँग्रेस अधिवेशनमें नरम और गरम दल फिर मिलकर एक हो गये, मुसलिम लीगके साथ भी समझौता किया गया जो लखनऊ पैक्ट कहलाया और स्वायत्त-शासनकी सरकारसे माँग की गयी। काँग्रेसने एनीबेसेण्टके होमरूल आन्दोलनको भी अपना लिया। भारत-सचिव मोण्टेग्युने भारतकी युद्ध-सेवाओंको स्वीकार करते हुए उसे सन्तुष्ट करनेका आश्वासन दिया और १९१९ ई० का ऐक्ट पास कराया। किन्तु इसके पूर्व ही राज-द्रोहके दमनके लिए रौलट ऐक्ट पास कर दिया गया था जिसके फलस्वरूप अमृतसरमें डायरगर्दी मची और जनतापर भयंकर अत्याचार किया गया। लोकमान्य तिलककी इसी वर्ष मृत्यु हुई, महायुद्धका भी अन्त हुआ और महात्मा गान्धीने जो दक्षिण अफ्रीकामें गोरे लोगोंके विरुद्ध छेड़े गये आन्दोलनके कारण पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुके थे, भारतीय स्वातन्त्र्य-आन्दोलनमें पदार्पण किया। उन्होंने रौलट ऐक्ट और जलियाँवाले बागके हत्या-काण्डका तीव्र विरोध किया तथा जनताको असहयोग आन्दोलन चालू करनेकी सलाह दी। तुर्कीको युद्धमें घसीटने एवं खिलाफतको नष्ट करनेके कारण मुसलमान भी अँगरेज़ोंसे रुष्ट हो गये थे और उन्होंने खिलाफ़त आन्दोलन छेड दिया। महात्मा गान्धीने जो अब काँग्रेस तथा स्वातन्त्र्य-सग्रामके नेता बन गये थे और पूर्ण अहिंसक नीतिके पालक थे, खिलाफत आन्दोलनको अपनाकर मुसलमानोंको भी अपना सहयोगी बना लिया।

१९२१ ई० में असहयोग एवं खिलाफ़त आन्दोलनने बडा उग्ररूप धारण किया। स्कूल, कॉलेज बन्द हो गये, अनेक वकील-मुख्तारोंने वकालत छोड़ दी, कुछ लोगोंने सरकारी उपाधियाँ त्याग दीं, बहुत-से सरकारी कर्मचारियोंने पदत्याग कर दिया, विलायती वस्त्रोंकी होलियाँ जली, विदेशी

वस्तुओंका बहिष्कार हुआ और चर्खा एवं खद्दरकी धूम मच गयी। किन्तु मोपला विद्रोह और चौराचौरी काण्डने आन्दोलनको भारी आघात पहुँचाया। सरकारका दमन-चक्र जोरोंके साथ चल पडा, महात्मा गान्धी, अन्य अनेक नेता और हजारों कार्यकर्त्ता जेलोंमें ठूँस दिये गये। हिन्दू-मुसलमानोंमे परस्पर फूट और वैमनस्य उत्पन्न करा दिया गया जिसके फलस्वरूप कोहाट आदिमे भीषण साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे। १९२३ ई० में कांग्रेसके अवशिष्ट नेताओंमे भी कौन्सिल प्रवेशके प्रश्नपर फूट पड़ गयी। चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू-जैसे नेता कौन्सिल प्रवेशके पक्षमें हो गये। १९२६ ई० मे लार्ड इरविन वायसराय हुआ, उसने शान्तिप्रिय नरम नीति बरती। नेताओंको जेलसे मुक्त कर दिया और हिन्दू-मुसलमानोंमे मेल करानेका प्रयत्न किया। १९२७ ई० मे साइमन कमीशन आया जिसका कांग्रेसके नेतृत्वमे देशने बहिष्कार किया।

१९२९ ई० मे कांग्रेसके लाहौर अधिवेशनने, पं० जवाहरलाल नेहरूके सभापतित्वमें, कांग्रेसका लक्ष्य 'पूर्ण स्वाधीनता' घोषित किया। महात्मा गान्धीके नेतृत्वमें कांग्रेसने सविनय आज्ञाभंग और सत्याग्रह-आन्दोलन चालू किये, और नमक क़ानून तोडा। सारे देशमे स्वातन्त्र्य आन्दोलन भड़क उठा। अब यह आन्दोलन नगरों एवं मध्यवर्गके शिक्षित व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं था, व्यापारी, श्रमिक और ग्रामीण जनताने भी इस आन्दोलनमें बडे उत्साहसे भाग लिया। सरकारने फिर महात्मा गान्धी और उनके सहयोगियों एवं अनुयायिओंको लाखोंकी संख्यामे जेलमें ठूँसा, किन्तु आन्दोलन न दबा। बेहद मन्दी और बढती हुई बेकारीने जनताके असन्तोष एवं अशान्तिमे और अधिक वृद्धि की। सर तेजबहादुर सप्रू और जयकरने कांग्रेस तथा सरकारके बीच समझौता करानेका विफल प्रयत्न किया। १९३० ई० मे ही प्रथम गोलमेज कान्फ्रेन्स हुई किन्तु कांग्रेस उससे अलग रही। १९३१ ई० मे इरविनने गान्धीजी व अन्य राजनैतिक बन्दियोंको मुक्त कर दिया और गान्धी-इरविन समझौता हो गया। १९३१

ई० की दूसरी गोलमेज कान्फ्रेन्समे महात्मा गान्धी, पं० मदनमोहन मालवीय एवं श्रीमती सरोजिनी नायडूने कांग्रेसका प्रतिनिधित्व किया किन्तु कोई समझौता न हुआ। सत्याग्रह-आन्दोलन फिर छिड़ गया, नये वायसराय विलिंगडनने कठोरताके साथ आन्दोलनका दमन करनेका प्रयत्न किया और अनेक स्पेशल आर्डिनेन्स जारी किये। नेताओं और कार्य-कर्त्ताओंको जेलोंमे भरा जाने लगा। शासन-सुधारके प्रश्नपर भी बहस चलती रही किन्तु साम्प्रदायिक प्रश्न सबसे बडी बाधा थी। उसके निर्णय-के लिए इंग्लिस्तानके प्रधान मन्त्री रैमजे मैकडानल्डने अपना कम्यूनल एवार्ड दिया जिससे और अधिक असन्तोष फैला। महात्मा गान्धीने अनशन आरम्भ कर दिया। देशमे तहलका मच गया। अतएव प्रधानमन्त्रीने महात्माजीसे समझौता कर लिया जो पूना पैक्टके नामसे प्रसिद्ध हुआ। १९३२ ई० मे तीसरी गोलमेज कान्फ्रेन्सके प्रस्तावोंके आधारपर १९३३ ई० का श्वेतपत्र प्रकाशित हुआ और उसके आधारपर १९३५ ई० का ऐक्ट पास हुआ। वायसराय लिनलिथगोने इस ऐक्टको कार्यान्वित किया और १९३७ ई० के चुनावमे सात प्रान्तोंमे कांग्रेसकी विजय हुई और मन्त्रिमण्डल बने। किन्तु द्वितीय महायुद्ध छिड़नेपर सरकारी नीतिसे मतभेद होनेके कारण उन्होने पदत्याग कर दिया। सर्वत्र आर्डिनेन्सोपर आधारित निरंकुश गवर्नरी शासन चालू हो गया। कांग्रेसने युद्धमे देश-द्वारा अँगरेजोंकी सहायता किये जानेका विरोध किया और आन्दोलन छेड दिया। मुसलिम लीग और कांग्रेसका परस्पर विरोध एवं मतभेद भी बढ़ता ही गया। मुहम्मदअली जिन्नाके नेतृत्वमे लीगने पाकिस्तानकी माँग पेश कर दी।

सन् १९४२ ई० मे स्वातन्त्र्य-आन्दोलनने अति भीषण रूप धारण कर लिया। 'भारत छोडो' प्रस्ताव पास करके कांग्रेसने ही नही बल्कि सारी जनताने आन्दोलन मचा दिया। रेलकी पटरी हटाना, तार काटना, स्टेशन, डाकखाने आदि जलाना, ऐसे अनेक उत्पात भी यत्र-तत्र हुए।

उधर युद्धमे जर्मनी और जापानकी विजय हो रही थी, भारतीय वीर नेताजी सुभाषचन्द्र बोसने अपनी आज़ाद हिन्द सेनाका निर्माण करके जापानकी सहायतासे मलाया और ब्रह्मापर आक्रमण कर दिया और भारतके आक्रमणकी तैयारी की। सरकारने अत्यन्त कठोरताके साथ आन्तरिक विद्रोहका दमन करना शुरू किया, युद्धका भी पासा पलटने लगा और मित्रराष्ट्रोंकी विजय होने लगी। १९४४ ई० मे वायसराय वेवेलने आते ही राष्ट्रीय नेताओके साथ समझौतेके प्रयत्न चालू कर दिये। १९४५ ई० मे केबिनेट मिशन और पार्लियामेण्टरी डेलीगेशन आये। महायुद्ध अब समाप्त हो गया था और अँगरेज़ोने भारतको स्वतन्त्र करनेका निश्चय कर लिया था। सितम्बर १९४६ ई० में पं० जवाहरलाल नेहरूके मन्त्रित्वमे अन्तरिम सरकारकी स्थापना कर दी गयी। १९४७ ई० में अन्तिम वायसराय माउण्टबेटनने आते ही सत्ताहस्तान्तरणकी कार्रवाई शुरू कर दी। ३ जून १९४७ ई० को ब्रिटिश पार्लियामेण्टने भारतीय स्वतन्त्रता ऐक्ट पास किया और उसी वर्ष १५ अगस्तको भारतको स्वतन्त्र कर दिया गया, या यो कहिए भारतवर्षके हिन्दुस्थान और पाकिस्तान नामक दो खण्ड करके दोनोको पृथक्-पृथक् स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गयी। एक वर्ष माउण्टबेटनने स्वतन्त्र भारतीय राष्ट्रका गवर्नर जनरल रहकर बँटवारेकी तथा सत्ताहस्तान्तरणसे सम्बन्धित अन्य आवश्यक बातोकी व्यवस्था की। इस कालमे विभाजनके परिणामस्वरूप हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य अतिरेक कर गया। काफ़ी संख्यामे मुसलमान भारतसे पाकिस्तान और उनसे कही अधिक बडी सख्यामे मुसलमानेतर जनता पाकिस्तानसे भारत आयी। भयंकर रक्तपात एवं उपद्रव हुए और जनताके धन-जनकी तथा आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्थाकी भारी क्षति हुई।

संविधान सभा इस बीचमे संविधान बनाती रही जो २६ जनवरी १९५० ई० से कार्यान्वित हुआ। स्वातन्त्र्य-आन्दोलनका नेतृत्व करने, देश-का सबसे बड़ा राजनैतिक दल होने तथा आम चुनावमे सफलता प्राप्त

करनेके कारण कांग्रेस ही सत्तारूढ हुई और केन्द्रीय एवं प्रायः समस्त राज्य सरकारें कांग्रेसी दलकी ही बनी। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र गणतन्त्र भारतीय राष्ट्रकी इस प्रथम प्रजातन्त्रात्मक कांग्रेसी सरकारने समस्त देशी राज्यों और जमींदारियोंका अन्त कर दिया, देशकी विविध क्षेत्रीय उन्नतिके लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना चालू की और उसकी समाप्ति होते-न-होते द्वितीय पंचवर्षीय योजना चालू कर दी। अन्तर्राष्ट्रीय जगत्में भी भारतने सम्मान एवं प्रभावपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। देशको स्वतन्त्र करनेमें चाहे वह स्वतन्त्रता कितनी ही लुंजी, त्रुटिपूर्ण और उलझनोंसे भरी हुई रही, इस देशके निवासियोंको स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके योग्य बनानेमें और स्वतन्त्रता-प्राप्तिके उपरान्त उसका संरक्षण करनेके लिए उनके समर्थ होनेमें अँगरेजी शासनका भी हाथ रहा है—इसमें सन्देह नहीं है, तथापि इस सबका प्रधान श्रेय भारतवर्षकी भारतीयता, देशवासियोंका अन्तर्निहित स्वातन्त्र्य-प्रेम, उनके अनगिनत विविध बलिदान और विषम परिस्थितियोंमें किये गये चिरकालीन संघर्षको ही है। देशने स्वयं स्वप्रयत्नसे ही स्वतन्त्रता प्राप्त की है और उसी प्रकार वह उसका सफल संरक्षण एवं उन्नति करेगा।

ब्रिटिश शासनमें देशकी कृषि, उद्योग-धन्धों, व्यापार और व्यवसायोंका भी पुनरुत्थान हुआ। विभिन्न नियमित बन्दोबस्तों, टेनेन्सी ऐक्टों, भूमि आलेखों और सुविस्तृत भूमि प्रशासन-द्वारा देशकी कृषि-भूमि तथा कृषि योग्य भूमिकी समुचित व्यवस्था की गयी। कृषि आयोगों तथा सरकारी कृषि अनुसन्धान समिति, सहकारिता विभाग, कृषि प्रदर्शनियों आदिके द्वारा कृषि और कृषकोंकी दशा सुधारनेका प्रयत्न किया गया। नहर, कुएँ, ट्यूबवेल, बाँध आदि विभिन्न उपायोंको विस्तार देकर सिंचाईका सुप्रबन्ध किया गया। चकबन्दी, नवीन प्रकारके रासायनिक खाद तथा यान्त्रिक उपकरणोंके प्रयोग भी कहीं-कहीं चालू किये गये। इस कृषि-प्रधान देशकी लगभग तीन चौथाई जन-संख्या खेतीपर ही निर्भर रहती

आयी है। अँगरेजोके प्रारम्भिक प्रयत्नो-द्वारा देशके घरेलू उद्योग-धन्धोके नष्ट हो जानेसे खेतीपर और अधिक भार बढ गया था। अँगरेजी व्यापारके द्वारा ही कपास, नील, जूट, सन, चाय आदि पदार्थोंके लिए विदेशी बाजारोकी माँग बढ़नेसे उन पदार्थोंकी कृषिका क्षेत्रफल बढ गया था। मिल-मजदूरोकी बढ़ती हुई संख्याने कृषकोकी संख्यामे कमी की, रेलोके विस्तृत जाल और जंगलोके ह्रासने भी कृषिको क्षति पहुँचायी। ग्रामीण कृषकोका पूर्वकालीन स्वनिर्भर स्वतन्त्र सचेत जीवन अत्यधिक अवनत हो गया था। मुकदमेबाजीके व्यसनने उनका आर्थिक एवं नैतिक पतन और अधिक किया। अतः मितव्ययी ईमानदार परिश्रमी और कार्यकुशल होते हुए भी ब्रिटिश शासनके मध्यकाल तक कृषकोकी दशा उस शासनके कारण ही अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। किन्तु ब्रिटिश शासनने ही अपने उत्तरार्ध कालमे उपरोक्त विविध उपायो-द्वारा देशकी कृषि और कृषकोके पुनरुत्थानका प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था। १९३० ई० के आन्दोलनसे ही ग्रामीण जनताने अपनी राष्ट्रीय चेतना जोर-शोरसे व्यक्त करनी प्रारम्भ कर दी थी और अनेक अंशोमें स्वातन्त्र्य-आन्दोलनकी सफलताका श्रेय देशकी बहुभाग ग्रामीण जनता-द्वारा उसमे लिये गये भागको है।

ईस्ट इण्डिया कम्पनीने भारतके प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण उद्योग-धन्धो-को प्रयत्नपूर्वक नष्ट कर दिया था। १८५७ ई० के उपरान्त भी कुछ दशकों तक सरकारने उनके पुनरुत्थानको कोई प्रोत्साहन नही दिया। किन्तु नवचेतना और जागृतिके प्रभाव तथा सुशासन और शान्तिके सुयोगसे कुछ दूरदर्शी भारतीयोने पश्चिमी यान्त्रिक प्रणालीपर देशके कतिपय उद्योग-धन्धोका पुनरुत्थान प्रारम्भ कर दिया। १८७९ ई० तक भारतीय मिलोंकी संख्या ५८ थी और १८८६ ई० तक वह ९० हो गयी थी। २०-वीं शतीके प्रारम्भ तक २०० मिलें स्थापित हो चुकी थी जिनमे १७ करोड़ रुपया लगा था और दो लाख मजदूर काम करते थे। अधिकाश

मिलें सूत कातनेका कार्य करती थी, कपड़ा इंग्लैण्डसे ही बनकर आता था। जमशेदजी टाटाने लोहेका कारखाना पहले ही चालू कर दिया था। कुछ अन्य चीज़ोंके कारखाने भी स्थापित होने लगे। १९१४ ई० के महायुद्धसे इन उद्योग-धन्धोंको भारी प्रोत्साहन मिला और उन्होंने अभूतपूर्व प्रगति की। लोहा, सूत और चीनीके उद्योग विशेषरूपसे चमके, कुछ मिलें वस्त्र भी बनाने लगी। १९१८ ई० की सरकारी इण्डस्ट्रियल कमीशनकी रिपोर्टमे देशकी औद्योगिक उन्नतिके महत्त्वपर बल दिया गया और उन्नतिके अनेक उपाय सुझाये गये। १९२४ से १९३९ ई० के बीच भारतीय मिल-उद्योगने अपूर्व उन्नति की। वैज्ञानिक अनुसन्धानशालाओ और कई स्थानोमे पानीसे तैयार की जानेवाली विद्युत्-शक्तिने भी इस कार्यमे भारी सहायता की। प्रत्येक प्रान्तमे एक औद्योगिक विभाग खुल गया, सरकारने सहायता, प्रश्रय और कुछ द्रव्य प्रदान किया। रेल, मोटर, तार-डाक आदिसे यातायातकी सुगम सुविधा भी अत्यन्त सहायक हुई। दूसरे विश्वयुद्धने भारतीय मिल-उद्योगको और अधिक प्रोत्साहन दिया। फलस्वरूप स्वतन्त्रताप्राप्तिके समय तक भारतीय उद्योग-धन्धे पर्याप्त विकसित हो चुके थे और दैनिक उपयोगकी उन वस्तुओंमे-से जो पहले विदेशोसे आयात की जाती थी, अधिकतर अब भारतमें ही बनने लगी। इतना ही नही, कुछ वस्तुओका भारत कतिपय विदेशोंको भी निर्यात करने लगा। मिल-उद्योगके उत्थान-के कुछ पहलेसे ही भारतीय व्यापार और व्यापारियोकी दशा भी उन्नत होने लगी थी। उद्योग-धन्धोके उत्थानने उसे और अधिक उन्नत किया। धीरे-धीरे देशके आन्तरिक व्यापारका अधिकांश तो उनके अधिकारमे आता ही चला गया, थोड़ा-थोड़ा विदेशी व्यापार भी उनके हाथमे आने लगा। अनेक अँगरेजी या अन्य विदेशी कम्पनियो और फ़र्मोंमे भी भारतीय हिस्सेदार, साझीदार या प्रधान कार्यकर्त्ता, मैनेजिग एजेण्ट आदि होने लगे। वर्तमानमे देशका अधिकाश देशी एव विदेशी व्यापार देशवासियोंके हाथमे है। व्यापार और उद्योग-धन्धोके संचालनके अतिरिक्त वकील, बैरिस्टर,

मुख्तार, अटर्नी, सालिसिटर, डॉक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, लेखक, सम्पादक, पत्रकार, प्रकाशक, मिलमजदूर, मेकेनिक आदि पेशे, सरकारी और ग़ैर-सरकारी दफ़्तरो तथा बैंको, फर्मों आदिकी क्लर्की, अन्य सरकारी नौकरियाँ, राजनीति आदि अनेक नवीन व्यवसाय ब्रिटिश शासनकालमे उदित हुए। बिजली तथा उसकी सहायतासे उपयोगमे आनेवाले अनगिनत उपकरणों, साधनो, सुविधाओ और नित्यप्रति प्रकाशमे आनेवाले पश्चिमी वैज्ञानिक आविष्कारोके लाभ आदिने जीवन निर्वाह मँहगा बनाया, जीवन-स्तरको ऊँचा उठाया, औसत जीवनकी व्यस्तता बढायी और जीवन-संघर्षको जटिल एवं उग्र बना दिया। इस प्रकार पश्चिमी देशोके अनुरूप भारतका सर्वतोमुखी आर्थिक पुनरुत्थान हुआ जिसके लाभ भी है और कुछ हानियाँ भी है।

शिक्षा-साहित्य, ज्ञान-विज्ञान और कलाओका भी पुनरुत्थान हुआ। अराजकताकालमे भारतकी अपनी शिक्षा-व्यवस्था और उसके साधन छिन्न-भिन्न और प्रायः नष्ट हो चुके थे। कम्पनीके प्रारम्भिक अधिकारियों-ने अपने स्वार्थ और सुविधाके लिए अँगरेजी पढ़े-लिखे कुछ भारतीयोकी आवश्यकता महसूस की और उसकी पूर्त्तिके लिए प्रयत्न चालू किया। उसी कालमे कैरी, टामस, मार्शमेन, वार्ड आदि अँगरेज पादरियोने भी ईसाई धर्मका प्रचार करनेकी भावनासे भारतीयोको शिक्षित करनेका प्रयत्न चालू किया, छापाखाना और काग़ज बनानेका एक कारखाना भी खोला, एक समाचार-पत्र भी निकाला और बाइबिलका कई भारतीय भाषाओमें अनुवाद प्रकाशित किया। कुछ अँगरेज़ अधिकारियोने स्वान्तः-सुखाय अथवा जिज्ञासा तृप्तिके लिए भारतीय साहित्य, धर्म, संस्कृति, पुरातत्त्व और इतिहासका अध्ययन चालू किया और बंगाल एशियाटिक सोसाइटीकी नीव डाली। कलकत्तेमे एक मदरसा और बनारसमे एक संस्कृत कॉलेज स्थापित हुए। १८वी शती ई० के अन्तिम पादके उपरोक्त प्रयत्नोके उपरान्त १९वीं शतीके प्रथम पादमे अँगरेजी

शिक्षा और अँगरेजोंके निकट सम्पर्कसे लाभान्वित राजा राममोहन राय, राधाकान्तदेव, जयनारायण घोष आदि भारतीय प्रतिष्ठित जनोंने और इंग्लैण्डमे ग्राण्ट तथा विल्बर फोर्सने भारतमे शिक्षा-प्रचारके आन्दोलनको प्रगति दी। १८१३ ई० के कम्पनीके चार्टरमें सरकारने इस मदमे एक लाख रुपया वार्षिक व्यय करनेकी स्वीकृति दी, १८१५ ई० मे गवर्नर-जनरल लार्ड हेस्टिंग्सने अपने सरकारी मसविदेमे शिक्षा-प्रचारके महत्त्वपर जोर दिया, १८१६ ई० मे कलकत्तेमे हिन्दू कॉलेजकी स्थापना हुई, १८२३ ई० मे कलकत्ता बुक सोसाइटी एवं कलकत्ता स्कूल सोसाइटीको स्थापना हुई तथा ऐडम और विल्सनकी अध्यक्षतामे सार्वजनिक शिक्षा कमेटीका निर्माण हुआ। १८३३ ई० के चार्टरमे शिक्षा-व्ययकी सरकारी रक़म दस लाख कर दो गयी। १८३५ ई०मे लार्ड बैंटिकने शिक्षाका माध्यम अँगरेजी निश्चित किया। १८४२ ई० मे पब्लिक इन्स्ट्रक्शन कमेटीके स्थानमे कौन्सिल ऑफ़ एजुकेशन स्थापित की गयी। संयुक्त प्रान्तके गवर्नर सर जेम्स टाम्सनने देहाती स्कूलोकी स्थापनाका कार्य भी प्रारम्भ कर दिया। १८५४ ई० मे चार्ल्स वुड-द्वारा प्रस्तुत सार्वजनिक शिक्षा-सम्बन्धी रिपोर्टमे कहा गया था कि "शिक्षाके सिवाय और कोई प्रश्न ऐसा नही है जिसपर सरकारको सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए। भारतवासियोको वे नैतिक एवं आर्थिक लाभ जो केवल विद्योपार्जनसे ही प्राप्त हो सकते है, उपलब्ध कराना सरकारका पवित्र कर्त्तव्य है। हम चाहते है कि भारतवर्षमे ऐसो शिक्षाका प्रचार हो जिसके द्वारा जनताको यूरोपके साहित्य, विज्ञान, दर्शन, कला आदिका ज्ञान हो।" रिपोर्टमे यह भी कहा गया था कि "सार्वजनिक शिक्षाके लिए मातृभाषा ही प्रधान माध्यम है परन्तु अध्यापकोको अँगरेज़ीका ज्ञान होना आवश्यक है। देशी भाषाओकी अवहेलना नही करनी चाहिए, किन्तु जहाँ कहीं अँगरेजी भाषाके पढ़नेकी इच्छा प्रकट की जाये वहाँ उसका प्रचार करना श्लाघ्य है।" फलस्वरूप विभिन्न प्रान्तोमे पृथक्-पृथक् व्यवस्थित शिक्षा-

विभाग स्थापित हुए। १८५७ ई० से ही प्रमुख-प्रमुख नगरोमे विश्वविद्यालय एवं डिग्रीकॉलेज स्थापित किये जाने लगे। शिक्षार्थियोकी संख्या भी द्रुतवेगसे बढ़ने लगी।

१८८२ ई० में सर विलियम हण्टरकी अध्यक्षतामें एक शिक्षा-आयोग नियुक्त हुआ जिसने सिफारिश की कि जनताकी शिक्षाका प्रचार एवं सुधार सरकारका सर्वप्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए, उसके लिए उसे निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए, प्रारम्भिक शिक्षापर विशेष ध्यान देना चाहिए, स्कूलोंका प्रबन्ध स्थानीय गैर-सरकारी कमिटियोको सौंप देना चाहिए, स्कूलोकी फीस कम कर देनी चाहिए और उच्च शिक्षामे सरकारको हस्तक्षेप नही करना चाहिए। प्रारम्भिक एवं माध्यमिक शिक्षाका अधिकतर भार म्युनिस्पल एवं डिस्ट्रिक्ट बोर्डोको सौप दिया गया। १९०४ ई० में इण्डियन यूनीवर्सिटीज़ ऐक्ट पास हुआ। १९१० ई० मे वायसरायकी कार्यकारिणीका ही एक सदस्य शिक्षा-विभागका सर्वोपरि अधिकारी बना। १९१३ ई० मे शिक्षाविभागाध्यक्ष सर हार्कोर्ट बटलरके प्रस्तावोके फलस्वरूप वाराणसी, अलीगढ़, आगरा, पटना, नागपुर, लखनऊ, दिल्ली, ढाका आदि अन्य अनेक स्थानोमे नये विश्वविद्यालय स्थापित हुए जिनमेंसे कुछ केवल परीक्षा लेनेवाले ही थे। अनेक नगरोमे कॉलेज भी खुले और प्राइमरी, मिडिल एवं सेकेण्डरी स्कूलोकी संख्यामें अत्यधिक वृद्धि हुई। इनके अतिरिक्त डॉक्टरी, सिविल और मैकेनिकल इंजीनियरी, कृषि आदि व्यावसायिक विषयोके शिक्षणके लिए भी अनेक स्कूल कॉलेज यत्र-तत्र स्थापित हुए। १९३५ ई० के ऐक्ट-द्वारा शिक्षाविभाग एक हस्तान्तरित विषय बना दिया गया और जनताके स्वनिर्वाचित प्रतिनिधि मन्त्रियोको सौप दिया गया। १९३७ ई० से प्रारम्भिक शिक्षाको अनिवार्य करने तथा कही-कही वर्धायोजनाके अनुसार बेसिक एजुकेशनकी व्यवस्था करनेके प्रयत्न भी चालू हो गये। द्वितीय महायुद्धके उपरान्त शिक्षार्थियों और विविध शिक्षा-संस्थाओकी संख्या तथा उनके सुधारोने काफी विस्तार

प्राप्त किया है। अनगिनत सरकारी अथवा सरकार-द्वारा स्वीकृत उपरोक्त प्रकारकी शिक्षा-संस्थाओके अतिरिक्त कवीन्द्र टैगोरकी विश्वभारती, प्रो० कर्वेका महिला विश्वविद्यालय, गान्धीजीका सेवाश्रम-जैसी महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ, भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीटयूट-जैसे अनेक प्राच्यविद्यामन्दिर, सांस्कृतिक संशोधक मण्डल, खोज शोध एवं अनुसन्धान-सम्बन्धी विद्याकेन्द्र, साम्प्रदायिक विद्यालय, पाठशालाएँ और मदरसे, सार्वजनिक पुस्तकालय आदि यत्र-तत्र खुल गये। छापेखानो, साम्प्रदायिक या व्यवसायी प्रकाशन-संस्थाओ और फ़र्मो, समाचारपत्रो, साप्ताहिक पाक्षिक मासिक त्रैमासिक पत्र-पत्रिकाओ आदिने भी ज्ञानका प्रसार करने और देशको शिक्षित करनेमे भारी योग-दान दिया। सिनेमा और रेडियो आदि मनोरंजनके आधुनिक उपकरणोने भी जनसाधारणको शिक्षित करनेमे सहायता दी। अनेक प्रकाण्ड भारतीय विद्वानोने प्रारम्भमे पाश्चात्य विद्वानोके पथ-प्रदर्शन या सहयोगमे और कालान्तरमे अधिकांशतः स्वतः ज्ञान और विज्ञानके प्रायः सभी विभिन्न एवं विविध क्षेत्रोमे आश्चर्यजनक एवं स्तुत्य कार्य किया और भारतीय प्रतिभाकी प्रतिष्ठा विश्वमे स्थापित की।

साथ ही विभिन्न भारतीय भाषाओ और उनके अपने-अपने साहित्य-का भी अभूतपूर्व विकास हुआ। बंगाली, मराठी, गुजराती, तमिल, कन्नड, उर्दू और हिन्दी आदि प्रमुख देशी भाषाओने स्तुत्य प्रगति की। संस्कृत, प्राकृत, पालि और अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओके अध्ययनको भी प्रोत्साहन मिला। हिन्दी, बगला आदि प्रचलित देशी भाषाओका सम्यक् विकास ब्रिटिश शासनकालमे ही हुआ। यों उनको काव्य-भाषाका उद्गम एवं पर्याप्त विकास पिछली पाँच-छह शताब्दियोसे होता आ रहा था, किन्तु गद्य-लेखन और उसकी शैलियोका विकास प्रायः इसी कालकी देन है। प्राकृत भाषासे विकसित और पूर्वमध्यकालीन अपभ्रंश भाषाके द्वारसे उदित होनेवाली हिन्दी इस देशके पंजाबसे लेकर बिहार और हिमालयकी तराई-से लेकर नर्मदापर्यन्त बहुभागमे व्यवहारमे आनेवाली सर्वाधिक प्रचलित

लोकभाषा रही है। वीर गाथाकाल, निर्गुण भक्तिकाल, सगुण भक्तिकाल एवं रीतिकाल-जैसे भागोंमे विभाजित लगभग १००० ई० से १८०० ई० पर्यन्तके दीर्घकालमे इस भाषाका साहित्यिक काव्य रूप, बोलचालका सामान्य प्रचलित रूप और धार्मिक ग्रन्थोके द्वारा, विशेषकर १८वी-१९वीं शतीके आगरा, जयपुर आदिके जैन-पण्डितोके प्रयत्नोसे गद्यरूप भी पर्याप्त स्थायी एवं विकसित हो चुके थे। १९वीं शतीके मध्यके लगभग छापेखाने-के प्रचलन और शिक्षाके प्रचारसे सरकारी एवं ग़ैर-सरकारी प्रश्रयमे इस भाषाने वह रूप लेना प्रारम्भ कर दिया जिसने उसे आज पूरे देशकी राष्ट्रभाषाके पदपर आसीन कर दिया। प्रारम्भमें अँगरेजीका पक्ष और तदनन्तर उर्दूकी प्रबल प्रतिद्वन्द्विता उसके मार्गमे भारी रुकावट बनी रही, किन्तु राजा शिवप्रसाद-जैसे समर्थको, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-जैसे सेवको तथा तदनन्तर अन्य अनगिनत साहित्यिक तपस्वियो, लेखको, संस्थाओं आदिने विभिन्न शैलियोमे विविध-विषयक गद्य-पद्य साहित्यका प्रचुर निर्माण करके, उसे प्रगतिशील बनाकर और उसका प्रचार करके उसे राष्ट्रभाषा बना दिया। देशकी इस समस्त ज्ञान जागृति एवं बौद्धिक प्रगतिके बावजूद सम्पूर्ण जनसंख्याका १५ प्रतिशतसे अधिक अभी भी शिक्षित तो क्या शायद साक्षर भी नही है। तथापि इस पुनरुत्थान और उसके लिए किये गये सत्प्रयत्नोके पुरस्कर्त्ता धन्यवादके ही पात्र है।

ललित कलाओके क्षेत्रमे भी उन्नति हुई। विविध-विषयक वैज्ञानिक, तात्त्विक एवं उपयोगी साहित्य, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र आदि विषयोपर महत्त्वपूर्ण पुस्तकों और प्राचीन ग्रन्थोके अनुवाद व आलोचनात्मक व्याख्याओ-सहित सुसम्पादित, संशोधित संस्करणोके अतिरिक्त हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती, तमिल, कन्नड आदि प्रमुख भारतीय भाषाओमे काव्य, नाटक, रूपक, प्रहसन, उपन्यास, कहानी, साहित्यिक समालोचना, जीवन-चरित्र, आत्म-चरित्र, निबन्ध आदि कला-त्मक साहित्यकी अनेक प्रौढ़ रचनाओका सृजन हुआ। संगीतके क्षेत्रमें

मौखिक एवं वाद्य दोनों प्रकारके शास्त्रीय एवं लोकप्रिय रूपोंका विभिन्न संगीत-विद्यालयों, कला-केन्द्रों, नाटक-समाजों, सिनेमाओं एव रेडियो-द्वारा पर्याप्त विकास एवं प्रचार हुआ। नृत्य-कलाका भी पुनरुत्थान एवं विकास हुआ। इस कलाके शास्त्रीयरूपों, विभिन्न प्रदेशोंमे प्रचलित लोकरूपों, पाश्चात्यरूपों आदि विभिन्न प्रकारोंका विकास एव समन्वय हुआ। चित्रकलाके पुनरुद्धारका श्रेय कलकत्ता गवर्नमेण्ट स्कूल ऑफ आर्टके प्रिन्सिपल ई० बी० हैवेल्को है जिनके प्रभावसे अवनीन्द्रनाथ ठाकुरने भारतकी प्राचीन कलाको पुनरुज्जीवित करनेके प्रयत्नमें एक नवीन शैली-का विकास किया। नन्दलाल बोस, अब्दुर्रहमान चुगताई, डॉ० सुलेमान आदि अन्य अनेक प्रसिद्ध चित्रकारोंने चित्रकलाके पुनरुत्थानमें प्रभूत सहयोग दिया। मूर्त्तकलामे विषयकी प्रत्याकृति बनानेकी ओर अधिक लक्ष्य रहा, उसके भावपक्षको इस कालमें विशेष प्रोत्साहन नही मिला। स्थापत्य कलाके क्षेत्रमें भी सादगी सुविधा और उपयोगिताकी ओर अधिक ध्यान रहा। इस कालमे अनगिनत सरकारी और गैर-सरकारी इमारतें बनी, किन्तु वस्तुतः कलापूर्ण कृतियाँ कहलाने योग्य उनमें शायद दो-चार ही निकलें तो निकलें। वास्तवमें इस युगमे कलाका भी पुनरुत्थान तो हुआ, किन्तु सभी कलाओंपर आधुनिक पाश्चात्य सभ्यताकी भारी छाप और प्रभाव रहा।

धर्म और समाजका इस धर्मप्राण देशमे अविनाभावी सम्बन्ध रहा है। सामाजिक जीवनका प्रायः कोई अग ऐसा नही रहा जो धर्मके प्रभावसे ओत-प्रोत न रहा हो। इस देशकी संस्कृति भी प्रधानतः धर्मानुसारी ही रही, और क्योंकि विचार एवं विश्वास-स्वातन्त्र्यका भी इस देशमें सदैव सम्मान हुआ है, अतः यहाँ प्रारम्भसे ही कई-कई धर्म और उनसे सम्बन्धित संस्कृतियाँ साथ-साथ बहुधा सद्भाव और सहयोगपूर्वक ही फलती-फूलती रही। सुदूर प्रागैतिहासिक कालसे ही चली आयी भारतीय संस्कृतिकी द्राविड़ आर्य, व्रात्य वैदिक अथवा श्रमण ब्राह्मण रूप विशुद्ध स्वदेशी द्विविध

धारा जिनमे-से प्रथमका उद्गम स्रोत मगधादि पूर्वी प्रदेश था और दूसरी-का कुरुपांचाल कहलानेवाला उत्तर-पश्चिमी प्रदेश था, एक दूसरेपर क्रिया-प्रतिक्रिया करती समताके साथ चली आ रही थी। ऐतिहासिक कालमे श्रमणधारा जैन बौद्धादि रूपोमे और ब्राह्मणधारा शैव वैष्णवादि रूपोमे विकसित होती पायी गयी। मुसलमानोके आनेसे पूर्व जो भी अन्य विदेशी जातियाँ इस देशमे आयी उन्हें भारतीय समाज और संस्कृतिने सरलताके साथ आत्मसात् कर लिया था, और मुसलमानी कालके प्रारम्भ तक अपने अन्त मे पृथक्-पृथक् रूप किन्तु वाह्यत. एक रूप भारतीय संस्कृतिकी यह द्विविध धारा अपने हिन्दू जैन आदि अनुयायियो-द्वारा समताभावसे अबाध बहती एवं उत्तरोत्तर विकसित होती आ रही थी। इस्लाम और मुसल-मानोके आगमनने उसके निर्बाध बहावमे प्रथम बार रुकावट डाली और उसे कुछ नये मोड प्रदान किये। इस्लाम और मुसलमानोको भारत पूर्ण-तया आत्मसात् तो न कर सका किन्तु उनकी शुद्धता और विदेशीयता एवं विजातीयताको अनेक अंशोमें बहुत कम कर दिया। भारतके इस्लाम और मुसलमान अन्य इस्लामी देशोंके इस्लाम और मुसलमानोसे बहुत कुछ भिन्न हो गये। इसके अतिरिक्त बहुभाग जनताके सामाजिक धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवनमे मुसलमानी शासनने विशेष हस्तक्षेप भी नही किया और न उसपर कोई खास प्रभाव डाला। थोड़े-से आवश्यक परिवर्तनोके साथ वह फिर अपनी सहज गतिसे प्रवाहित होने लगा। अराजकताकाल-की अशान्ति और अव्यवस्थामे यह जातीय जीवन भी शिथिल, सुषुप्त एवं अस्त-व्यस्त-सा पड गया था। और जब अँगरेजी शासनके भली प्रकार स्थापित हो जानेपर उसे पुनरुत्थानका सुयोग मिला तो उक्त शासनके परिणामस्वरूप पश्चिमी सभ्यता एव संस्कृतिके साथ उसने अपने-आपको संघर्ष करते पाया। प्रारम्भमे अपनी उस अशक्त अवनत एवं पराधीन स्थितिमे वह अपने थोडे-से अँगरेज शासकोके द्वारसे पश्चिमी जगत्को विशेष प्रभावित करनेके योग्य तो था नही, अनेक परिस्थितियोने स्वयं उसे उक्त

सभ्यतासे अत्यधिक प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया। पश्चिमके धर्म, विचारों, आदर्शो, रहन-सहन, वेशभूषा, आविष्कारो, पद्धतियो एवं प्रणालियो, सभीका भारतीय जीवनपर प्रभाव पडा। इसमे भी सन्देह नही कि कतिपय जिज्ञासु अँगरेज मनीपियोने प्रारम्भसे ही भारतीय धर्म, संस्कृति, साहित्य और इतिहासके ज्ञानका पुनरुद्वार करना भी शुरू कर दिया था। और यह कार्य उत्तरोत्तर उन्नति करता गया तथा उसने भारतके सम्बन्धमे पश्चिमी जगत्की धारणाओको परिवर्तित करनेमे, उनकी भूलोका संशोधन करनेमे और भारतकी सास्कृतिक विभूतिका आदर करनेमे पर्याप्त सहायता दी। तथापि भारतका यह प्रभाव अधिकाशतः बौद्धिक ही रहा, व्यवहार-दृष्टिसे उसका फल प्रायः नगण्य ही रहा।

अस्तु, अँगरेजोके सम्पर्कसे देशमे जो जागृति हुई उसका एक परिणाम धर्म और समाजमे सुधार करके उसे यूरोपवासियोके आदर्शपर उन्नत बनानेके प्रयत्न थे। संख्या, प्रभाव और व्यापकताकी दृष्टिसे अपने अनेक, बहुधा परस्पर भिन्न एवं विरोधी, रूपोके बावजूद, देशका प्रधान धर्म अब कथित हिन्दूधर्म था और प्रधान समाज हिन्दूसमाज था। हिन्दूसमाजमे भी वर्ण एवं जाति-व्यवस्थाके कारण भारी अनैक्य था। उनमे भी अवर्ण अछूत शूद्रोंकी संख्या आधेसे अधिक थी जिन्हे चतुर अँगरेजोने 'दलित जातियाँ' या 'परिगणित जातियाँ' आदि नाम दिये। उनकी सामाजिक आर्थिक बौद्धिक एवं नैतिक दशा अवश्य ही अत्यधिक शोचनीय थी और जितनी थी उससे कही अधिक वर्णन की जाती थी। १९वी शतीके पूर्वार्धमे ही राजा राममोहन रायने धर्म एवं समाज-सुधारके उद्देश्यसे ब्राह्म-समाजकी स्थापना की थी। इसमे वर्ण-व्यवस्था और मूर्त्तिपूजाका बहिष्कार था और इसका झुकाव अँगरेजियत एवं ईसाइयतकी ओर अधिक था। उस कालमे अँगरेजोके साथ खान-पानका सम्पर्क रखनेवाला या समुद्रपार जानेवाला व्यक्ति जाति और धर्मसे च्युत कर दिया जाता था, और ऐसे लोगोकी संख्या दिन-प्रतिदिन बढ रही थी। ब्राह्म-समाज उनको आश्रय देता था, अतः उसका प्रचार

और प्रसार बढ़ता गया। केशवचन्द्र सेनने उसे और आगे बढ़ाया। देवेन्द्रनाथ ठाकुरने ब्राह्म-समाजका प्राचीन वैदिक आदर्शोके साथ समन्वय करनेके प्रयत्नमे, आदि ब्राह्म-समाजके रूपमें उसकी एक नयी शाखाको जन्म दिया। इसके अनुकरणमे महाराष्ट्रमे निर्गुण एकेश्वरवादी प्रार्थना-समाजकी स्थापना हुई। महादेव गोविन्द रानाडे और रामकृष्ण गोविन्द भण्डारकर प्रार्थना समाजके प्रमुख नेता थे। रानाडेने समाज-सुधारके ही उद्देश्यसे डेकन एजुकेशन सोसाइटीकी और बादको गोपाल कृष्ण गोखलेने सर्वेन्ट्स ऑव इण्डिया सोसाइटीकी भी स्थापना की। स्वामी रामकृष्ण परमहंसने भी वेदान्ती विचारोंका प्रचार किया, उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्दने तथा स्वामी रामतीर्थने विदेशोमे भी जाकर भारतीय अध्यात्मवादसे यूरॅप और अमेरिकाके निवासियोको प्रभावित किया। रामकृष्ण मिशन भी एक नया सुधारपन्थ बन गया। १८७५ ई० मे मैडम ब्लावत्स्कीने भारतीय आदर्शोको एक नवीन रूप देकर थियोसोफिकल सोसाइटीकी स्थापना की। श्रीमती एनीबेसेण्टने इस क्षेत्रमे स्तुत्य कार्य किया। अँगरेजी पढ़े-लिखे भारतीयोमे उसका बड़ा प्रचार हुआ। १८७५ ई० के ही लगभग स्वामी दयानन्दने आर्यसमाजकी स्थापना की, ये भी मन्दिर, मूर्त्ति एवं पौराणिकताके विरोधी थे, समाज-सुधारके पक्षमे थे और याज्ञिक वैदिक धर्मका पुनः प्रचार करना चाहते थे। पंजाब और उत्तर प्रदेशमे आर्यसमाजका बहुत प्रचार हुआ। किन्तु जहाँ आर्यसमाज आन्दोलनने अनेक कुरीतियोको दूर करनेका प्रयत्न किया, स्त्री-जातिके सुधार और शिक्षाप्रचारके कार्यको आगे बढ़ाया और मुसलमानो एवं ईसाइयो-द्वारा जनताको अपने धर्मोमे दीक्षित करनेमे भारी बाधा दी वहाँ सनातन धर्मोकी कटु आलोचना एवं वीभत्स उपहास करके जन-साधारणकी धार्मिक भावनाको भी ठेस पहुँचायी। किन्तु इसका भी फल अच्छा ही हुआ, सनातन धर्म भी अपने-अपने संगठन एवं संरक्षण करनेमे प्रवृत्त हुए। आगरेके स्वामी शिवदयालने राधास्वामी सम्प्रदायकी स्थापना की। बंगालमे ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने

विधवा-विवाह आन्दोलन चलाया। अन्तमे महात्मा गान्धीने समाज-सुधार-को अपने राजनैतिक आन्दोलनका प्रमुख अग बनाया और विशेषकर अछूत कही जानेवाली जातियोके उद्धारके लिए हरिजन-आन्दोलन चलाया। अन्य भी अनेक धार्मिक और सामाजिक नेता इस युगमे हुए। वैज्ञानिक शिक्षा, पाश्चात्य विचारो एवं सभ्यताके सम्पर्क, विदेश-यात्रा आदिने भारतीयोके दृष्टिकोणमे भारी परिवर्तन कर दिया। रूढि, रीति, प्रथा, शास्त्रीय वक्तव्य और पण्डितो-पुरोहितोके फतवोकी अपेक्षा युक्ति और तर्कको अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। अनेक बन्धन तो आधुनिक सभ्यताके स्कूल, अस्पताल, रेल, होटल, छापाखाना आदि विविध उप-करणोंने स्वय ही ढीले करने प्रारम्भ कर दिये थे। इन सबके सुयोगमे उपरोक्त आन्दोलनोके फलस्वरूप धर्म और समाजमे प्रभूत सुधार एवं जागृति आ गयी। दलित जातियोकी दशा सुधरने लगी, स्त्री-जातिमे शिक्षा, स्वनिर्भरता, परदेका अभाव आदि वेगके साथ बढने लगे, विदेश-यात्रा, विधवा-विवाह, विजातीय विवाह आदि बुरे न समझे जाने लगे और बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, कन्या-विक्रय आदि हेय समझे जाने लगे। इस प्रकार हिन्दू जातिका पर्याप्त पुनरुत्थान हुआ।

संख्या और प्रभावमे बहुत कम होते हुए भी भारतीयता, प्राचीनता, देशमे व्यापकता एवं सास्कृतिक समृद्धिमे कथित हिन्दू धर्म और समाजके प्राय: समकक्ष जैनधर्म और जैन-समाजमे भी उपरोक्त युगानुसारी प्रवृत्तियो, विचारो एवं क्रान्तियोका प्राय: वैसा ही प्रभाव पडा। अब भी देशके प्राय. प्रत्येक भागमे पाये जानेवाले जैनी अधिकाशत मध्यमध्यम एवं उच्चमध्यम वर्गके व्यापारप्रधान समृद्ध एवं सम्पन्न भारतीय थे। सामाजिक सगठन, शिक्षा, सदाचार, स्वधर्मज्ञान एवं धार्मिकताकी दृष्टिसे वे अन्य समाजोस बहुत कुछ आगे थे। विवाह-सम्बन्धी कुप्रथाओ, छूताछूत, विदेशगमन, धर्मशास्त्रोके छापे जानेका विरोध, स्त्री-जातिकी अशिक्षा, परदा आदि अनेक कुरीतियोके सम्बन्धमे मध्य एवं उच्च वर्गोके हिन्दुओ-जैसा ही

कदाग्रह उनमे भी था। किन्तु अधिक शिक्षा, सम्पन्नता, एवं अल्पसंख्याके कारण श्रेष्ठतर सामाजिक संगठन एव स्वधर्माचरणकी अधिक निकटताने उन्हे युगकी प्रगतिके साथ अपने धर्म और समाजका सुधार करनेमे अधिक शीघ्रताके साथ समर्थ बना दिया। १९वी शती ई० के मध्य तक जयपुर, अहमदाबाद आदि अनेक केन्द्रोमे हिन्दीकी प्रौढ गद्य एव पद्य शैलियोमे उनका विपुल धार्मिक साहित्य-निर्माण होता रहा था और दूर-दूर प्रान्तोमे सैकडो प्रतियोके रूपमे पहुँचता रहता था। प्रत्येक मन्दिर उनका दैनिक सामाजिक मिलनस्थल था, जहाँ एक छोटा-बडा शास्त्र-भण्डार भी रहता था और प्राय· दैनिक शास्त्र-सभा होती थी। इनसे उनका धार्मिक जीवन और सामाजिक जीवन भी बहुत कुछ बँधा हुआ था। १९वी शतीके मध्यमे दिल्लीके प० शिवचन्द्रने पचासो छोटी-छोटी पुस्तके शिक्षोपयोगी धार्मिक एव लौकिक विषयोपर हिन्दी गद्यमे लिखी थी। युक्त-प्रान्त (उत्तर प्रदेश) के प्रथम शिक्षासचालक राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द भी जैन थे जिनके प्रयत्नोसे हिन्दी न केवल शिक्षा-संस्थाओका एक पाठ्य-विषय बनी वरन् अदालतोमे भी उर्दूके साथ-साथ उसका प्रयोग होना प्रारम्भ हो गया। उन्होने स्वयं भी हिन्दीमें कई पुस्तके लिखी। १८५० ई० मे ही आगरा नगरमें एक जैन धार्मिक पुस्तक छप चुकी था। किन्तु धर्मग्रन्थोके छापे जानेका हिन्दू पण्डितोकी भाँति जैन पुरातनपन्थियोने भी लगभग पचास वर्ष तक विरोध किया। किन्तु विरोधके बावजूद छापेके आन्दोलनमे प्रगति होती गयी। १८७५ ई० से जैन समाचारपत्र भी निकलने प्रारम्भ हो गये और कुछ ही दशकोमे हिन्दी, गुजराती, कन्नड, मराठी, अँगरेजी-उर्दू आदि विभिन्न भाषाओमे साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक पत्र-पत्रिकाओकी संख्या दर्जनोपर पहुँच गयी। १८८९ ई० मे दिगम्बर जैन महासभाकी और तदनन्तर श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स और जैन यंग मेन्स एसोसियेशन (भारत जैन महामण्डल) की स्थापना हो गयी। विभिन्न स्थानोमे अनेक जैन सास्कृतिक एव साहित्यिक

संस्थाएँ स्थापित हो गयी जिनसे शोध खोज एवं विविध-विषयक साहित्य-का सृजन तथा प्रकाशन होने लगा। बाल-पाठशालाओ, बालिका-विद्यालयों एवं उच्च सस्कृतविद्यालयोके अतिरिक्त जैन स्कूल, कॉलेज, छात्रावास, बाला-विश्राम, अनाथालय आदि भी शीघ्रताके साथ स्थापित होने लगे। स्त्री-शिक्षा, अन्तर्जातीय या विजातीय विवाहके पक्षमे और वृद्ध-विवाह, कन्या-विक्रय आदिके विरोधमे उग्र आन्दोलन चले और पर्याप्त सफल हुए। दस्सापूजाधिकार-आन्दोलनने किसी भी व्यक्तिके धर्मपालनकी स्वतन्त्रता अपहरण करनेकी प्रथाका अन्त कर दिया। समाज-सुधारके उद्देश्यसे ही दिगम्बर जैन परिषद्-जैसी संस्थाएँ भी स्थापित हुई। तीर्थ-क्षेत्रोके प्रबन्धके लिए कमेटियाँ बनी किन्तु इस प्रसंगको लेकर दिगम्बरो और श्वेताम्बरोंमे कई तीर्थोके एकाधिकारके प्रश्नपर खेदजनक मुकदमे-बाजियाँ भी चली जिन्होने घातक साम्प्रदायिक वैमनस्यमे वृद्धि की, जो कतिप्रय नेताओके सत्प्रयत्नोसे इधर कुछ दशकोसे किंचित् शान्त पड गया है। अँगरेज प्राच्यविदोने १८वी शताब्दीके अन्तिम पादमे ही जैनधर्म एवं साहित्यमे रुचि लेनी प्रारम्भ कर दी थी। १९वी शताब्दीके पूर्वार्धमे अनेक अँगरेज विद्वानोके प्रयत्नोसे जैनधर्म, संस्कृति, साहित्य, पुरातत्त्व और इतिहासके अनेक अंगोपर स्तुत्य प्रकाश पडा और धीरे-धीरे जैन-विद्या भारतीय विद्याका एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गयी। १९वी शतीके उत्तरार्धमे अँगरेजोके अतिरिक्त अनेक जर्मन, फ्रान्सीसी, इटालियन आदि अन्य पश्चिमी देशोंके प्राच्यविदोने भी जैन-विद्याके अध्ययनको प्रभूत प्रगति प्रदान की एवं जैन-धर्म और उसके इतिहाससे सम्बन्धित अनेक भ्रामक धारणाओका सफल निरसन किया। वीरचन्द राघवजी गान्धी, पं० लालन, जगमन्दरलाल जैनी, चम्पतराय बैरिस्टर आदि अनेक जैन विद्वानोने यूरॅप और अमे-रिकामे जाकर जैन-धर्म एवं दर्शनका प्रचार किया। भारतमे अनेक जैन एवं अजैन प्रकाण्ड भारतीय प्राच्यविदो एवं विद्वानोने जैनाध्ययनको उत्तरोत्तर प्रगतिवान् किया और यह क्रम चालू है। इस प्रकार इस युगमे

जन समाजके आन्तरिक सुधार एवं पुनरुत्थानके साथ-ही-साथ जैन दर्शन, संस्कृति एवं इतिहास-सम्वन्धी ज्ञानका भी अभूतपूर्व पुनरुद्धार हुआ।

धर्मके विषयमे मुसलमान सदैव अधिक कट्टर एवं रूढिवादी रहे तथापि भारतीय इस्लाममे भी नये-नये पन्थ पैदा होते रहे। मिर्जा गुलाम अहमद कादयानी (१८३९–१९०८ ई०) ने अहमदिया पन्थ चलाया। उसके कुछ पूर्व अब्दुल वहावने वहाबी पन्थ चलाया था। किन्तु इन पन्थोमे धर्म या समाज-सुधारकी वह भावना न थी जो ब्राह्म-समाज, आर्य-समाज आदिमे थी। अंगरेजी राज्यके कारण प्रारम्भमे मुसलमानोका ही अधिक अहित हुआ था। पहले समस्त ऊँचे-ऊँचे पदोपर वही नियुक्त थे और अब अलग कर दिये गये थे। अत वे अँगरेजोसे असन्तुष्ट थे और उनके द्वारा प्रविष्ट नवीन विचारोके प्रबल विरोधी थे। उनमे शिक्षाकी भी बहुत कमी थी और नैतिक चरित्रमे भी प्राय. अवनत थे। किन्तु मेरठके मौलवी चिराग अली (१८४४–९५ ई०), अलीगढके सर सैयद अहमदखाँ (१८१७–९८ ई०), लखनऊके मौलवी शिवली नुमानी (१८५७–१९१४ ई०) आदि नेताओने, मुसलमानोमे जागृति पैदा की और मुस्लिम यूनिवर्सिटी, स्कूल, मदरसे, मकतव आदि खोलकर, समाचारपत्र निकालकर तथा संस्थाएँ एवं सगठन बनाकर उनकी उन्नतिका प्रयत्न किया। मुसलमान नेताओने प्रारम्भसे ही अपनी अपेक्षाकृत अल्पसख्याका बहाना करके सरकारसे अपनी जातिके लिए विशेष अधिकार और रियायतें माँगना शुरू कर दी थी। यह प्रयत्न अन्त तक चालू रहा। मुसलमानोंमे साम्प्रदायिक वैमनस्य या हिन्दू-विद्वेषको उनके नेताओने सदैव प्रोत्साहन दिया, जिसके कुफल भयकर साम्प्रदायिक दंगो, मार-काट, लूट-पाट और अन्तमे अखण्ड देशके खण्ड-खण्ड हो जानेके रूपमे सामने आये।

सिक्खधर्मने भी समयानुसारी प्रगति की, किन्तु विशेष नही। देशके विभाजनके फलस्वरूप उन्हे अन्य पजाबी एवं सिन्धी हिन्दू जैन आदिकोके साथ-ही-साथ भारी कष्ट उठाने पड़े, किन्तु उनके नेताओका लक्ष्य भी

मुसलमान नेताओकी भाँति राजनीतिक लाभोकी ओर अधिक रहा है और धर्म, समाज एवं संस्कृतिके पुनरुत्थानकी ओर कम।

पारसी समाज छोटा-सा किन्तु सर्वाधिक समृद्ध, सुशिक्षित एवं गठा हुआ समाज है। अँगरेजी शासन और सभ्यताका सर्वाधिक लाभ उसने अपनी व्यापारिक, औद्योगिक एवं सामाजिक उन्नति करनेमे उठाया।

बौद्ध धर्म लगभग एक सहस्राब्दीके उपरान्त अब कुछ दशकोके बीच इस देशमे बाहरसे आकर फिरसे उदय हो रहा है, देशमे उसके अनुयायियोंकी संख्या चाहे अधिक न बढ रही हो किन्तु समर्थको एवं प्रशंसकोकी कमी नही है। धार्मिक दृष्टिसे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पुनरुत्थान इस कालमे बौद्ध धर्मका ही हुआ है।

ईसाई धर्मने अँगरेजी शासनके आश्रय, सरक्षण एवं सहायता, सहयोगसे भारी उन्नति की थी। निम्न जातियोकी दीन गरीब अशिक्षित जनताको ईसाई बनानेमे उन्होने अधिक ध्यान दिया और उसमे वे पर्याप्त सफल भी हुए। उनके मिशनो और पादरियोने स्कूलो, अस्पतालो, अनाथालयो आदिके द्वारा देशको लाभ ही पहुँचाया, सेवाभावका आदर्श भी भली प्रकार प्रस्तुत किया, किन्तु इन सत्प्रयत्नोमे यही सबसे बड़ा कलक है कि इस देशमे ईसाई धर्मका प्रचार करनेके पीछे पश्चिमी गोरी ईसाई जातियोके राजनीतिक उद्देश्य ही प्रधानरूपसे कार्य करते रहे और सम्भवतया अब भी कर रहे है। वैसे ईसाई समाज अपेक्षाकृत शिक्षित एवं सामान्यतया उन्नत समाज रहा है।

इस प्रकार गत शताब्दीके पुनरुत्थान युगमे भारतवर्षने जीवनके विभिन्न क्षेत्रोमे नवीन जागृति, प्रगति एवं उन्नति की। इस सर्वतोमुखी पुनरुत्थानने स्वतन्त्रता-प्राप्तिके साथ एक बडी मजिल तय कर ली। देशका पुनरुत्थान हो चुका, अब वह सर्वप्रकार समर्थ सचेतन होकर अपने पैरोपर खडा है और सभ्यताकी दौड़मे विश्वके अन्य सभ्य राष्ट्रोके साथ समान स्तरपर भाग लेनेके लिए कटिबद्ध है। यदि अपनी सास्कृतिक

परम्पराके समस्त श्रेष्ठ एवं उपादेय तत्त्वोंका, भारतकी भारतीयताका, संरक्षण करते हुए और उन्हे उत्तरोत्तर समुन्नत बनाते हुए वह आगे बढ़ता है तो वह अवश्य ही स्व-पर-कल्याणका सफल साधन कर लेगा, इसमे कोई सन्देह नही है।

■

प्रमुख तिथियाँ

१. देशी भारत

१ करोड़से ६ लाख वर्ष पूर्व		: पूर्व पाषाण युग
लगभग ६०००००–१५००० ई० पू०		: पुरातन पाषाण युग
,, १५०००–८०००	,,	: नव्य पाषाण युग
,, ८०००	,,	: धातु-युग एवं मानव-सभ्यता और संस्कृतिका उदय, ऋषभ-युग
,, ६०००–२५००	,,	: सिन्धु घाटी सभ्यता–पूर्वकी मानव एवं पश्चिम और दक्षिणकी विद्याधर (द्रविड) सभ्यताएँ
,, ३०००–१०००	,,	: वैदिक आर्य-सभ्यता
,, २०००	,,	: रामायण काल, अयोध्याके श्री रामचन्द्र, मगधमे २०वें तीर्थकर मुनिसुव्रत, दक्षिणमे वानरवंशी तथा ऋक्ष जातिके रावण आदि
,, १४४३	,,	: महाभारत युद्ध, महाराज कृष्ण, २३वे तीर्थंकर अरिष्टनेमि
,, १४००–७००	,,	: उत्तर-वैदिक काल, उपनिषदोकी रचना, नागोका पुनरुत्थान, व्रात्यो एवं श्रमणोका पुनरुत्कर्ष
,, १०००	,,	: हस्तिनापुरका विनाश

लगभग ९००–७०० ई० पू०	काशी राज्यका उत्कर्ष, चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त
८७७–७७७ ई० पू०	तीर्थंकर पार्श्वनाथ
६४२ ,,	काशीके शिशुनाग-द्वारा मगधमे शिशुनागवंशकी स्थापना
५९९ ,, (३० मार्च)	अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर-का जन्म
५८७–५३५ ,,	मगधनरेश श्रेणिक बिम्बिसार
५७० ,, (११ नवम्बर)	महावीरका महाभिनिष्क्रमण
५६३ ,,	शाक्यपुत्र गौतम बुद्धका जन्म
५५७ ,, (२६ अप्रैल)	महावीरको कैवल्य प्राप्ति
५५७ ,, (१ जुलाई)	महावीरका प्रथम उपदेश-धर्मचक्र प्रवर्त्तन
५३५–५०३ ,,	मगधनरेश कुणिक अजात शत्रु
५३४ ,,	बुद्धकी प्रव्रज्या
५२८ ,,	बुद्धका बोधिलाभ (निर्वाण)
५२७ ,, (१५ अक्तूबर)	निगंठनातपुत्त महावीरका निर्वाण; महावीर संवत्का प्रारम्भ
५१६ ,,	ईरानके शाह दाराका भारतके पश्चिमोत्तर प्रदेशपर आक्रमण
५१५ ,,	महावीरके पट्टधर केवलि इन्द्रभूति गौतमका निर्वाण
५०३ ,,	इन्द्रभूति गौतमके उत्तराधिकारी अर्हत्केवलि सुधर्मका निर्वाण
५०३–४८७ ,,	मगधनरेश अजउदयी; पाटलिपुत्र-का निर्माण

४८७–४६७ ई० पू० : पाटलिपुत्रनरेश अनुरुद्ध, मुण्ड, नागदशक आदि

४८३ ,, : गौतमबुद्धका परिनिर्वाण (मृत्यु)

४६७ ,, : मगधमे शैशुनाग व्रात्यनन्दि-द्वारा विजयवंश (पूर्वनन्दवंश) की स्थापना

४६६ ,, : अवन्तीका मगधराज्यमे मिलना

४६५ ,, : महावीर-परम्पराके अन्तिम अर्हत्केवलि जम्बू-स्वामीका निर्वाण

४४९–४०७ ,, : मगध-सम्राट् नन्दिवर्धन कालाशोक; वैयाकरण पाणिनि

४२४ ,, : नन्दिवर्धन-द्वारा कलिंग-विजय

४०७–३६४ ,, : मगध-सम्राट् महानन्दिन्

३६६ ,, : अन्तिम श्रुतकेवलि भद्रबाहुका (जैन) संघ-सहित दक्षिण देशको विहार, मगधमे द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षका प्रारम्भ

३६५ ,, : कर्णाटकके कटवप्र पर्वतपर भद्रबाहुका देहत्याग

३६३ ,, : मगधमे राज्यक्रान्ति, नवनन्दवंशकी स्थापना

३६३–३२९ ,, : मगधका नन्दसम्राट् महापद्मनन्द

३२९–३१७ ,, : घनानन्द और उसके भाई-८ नन्द; आर्य चाणक्य

३२६ ,, : यूनानी सम्राट् सिकन्दरका पंजाब एवं सिन्धपर आक्रमण

३२१ ,, : मौर्य चन्द्रगुप्तका नन्दोके विरुद्ध विद्रोहारम्भ

३१७ ,, : मगधमे राज्यक्रान्ति, नन्दवंशका अन्त, मौर्यवंश-की स्थापना

३१७–२९८ ,, : सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य

३१२ ,, : सम्राट् चन्द्रगुप्त-द्वारा अवन्तिविजय

३०५ ई० पू० : चन्द्रगुप्त-द्वारा यूनानी सम्राट् सेल्युकसकी पराजय

३०३ ,, : पाटलिपुत्रकी राजसभामें यूनानी राजदूत मेगेस्थनीजका आगमन

२९८ ,, : सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यका राज्यत्याग और जैन मुनि बनकर श्रवणवेलगोल (दक्षिण कर्णाटक) को चला जाना

२९८-२७४ ,, : मौर्य सम्राट् बिन्दुसार अमित्रघात,

२७४-२३२ ,, : सम्राट् अशोक

२७१-७० ,, : अशोकका राज्याभिषेक

२६२-६१ ,, : कलिंग-युद्ध

२५७-५६ ,, : अशोकके शिलालेखोंका लिखाया जाना

२३२-१९० ,, : पश्चिमी एवं दक्षिणी मौर्य-साम्राज्यका अधिपति सम्राट् सम्प्रति (राजधानी उज्जयिनी); मगधमें उसका चचेरा भाई दशरथ और उसके वंशज

ल० २०० ,, : पैठनमें सिमुक-द्वारा सातवाहन वंशकी स्थापना

१९०-१६४ ,, : अवन्तिमें मौर्य सम्प्रतिके वंशज

१९०-१५२ ,, : कलिंग-चक्रवर्ती खारवेल

१८४ ,, : पुष्यमित्र शुंग-द्वारा मगधके अन्तिम मौर्य बृहद्रथका वध

१८४-७४ ,, : मगधमें शुंग वंश, ब्राह्मणधर्म-पुनरुद्धार, पतंजलि, वाल्मीकि, मनुस्मृति

१७५ ,, : खारवेलका यौवराज्याभिषेक

१६६ ,, : खारवेलका राज्याभिषेक

१६४ ,, : खारवेल-द्वारा पैठनके सातवाहन-नरेश शातकर्णिकी विजय

१५८ ई० पू० : खारवेलने मगध-नरेशको पराजित किया तथा यूनानियोंको मध्यदेशसे निकाल बाहर किया

१५३ ,, : कुमारी पर्वतपर खारवेलने जैनमुनियोका महा-सम्मेलन किया

१५२ ,, : खारवेलके हाथीगुम्फा शिलालेखकी तिथि

ल० १५० ,, . जैन सरस्वती आन्दोलनका प्रारम्भ

ल० ८५ ,, : शकोका भारत-प्रवेश

७४-६१ ,, : उज्जैनीमे खारवेलके वंशज महेन्द्रादित्य गर्दभिल्ल-का राज्य

६६ ,, : शकोका मालवामे प्रवेश, पुरातन शक संवत्-की प्रवृत्ति

६१-५७ ,, : उज्जैनीमे शकोका राज्य

५७ ,, : विक्रमादित्यके नेतृत्वमे शकोकी पराजय, मालव-गणकी स्वतन्त्रता, विक्रम संवत्का प्रवर्तन। सुराष्ट्र, मथुरा आदिमे शकक्षत्रप वंशोकी स्थापना

८ ई० पू०-४४ ई० जैनाचार्य कुन्दकुन्द और उनके पाहुडग्रन्थ

२५-७५ ई० : दिगम्बर परम्पराके आगमोका संकलन

२६-६६ ई० : सुराष्ट्रका क्षहरात नहपान, गौतमीपुत्र शातकर्णी

६६ ई० : दक्षिणके दिगम्बर मूलसघमे उपभेदोकी उत्पत्ति

७८ ई० : चष्टन-द्वारा पश्चिमी क्षत्रपवंशकी स्थापना, उज्जैनी-की विजय, शक सवत्का प्रवर्त्तन

७८-१०० ई० : पुरुषपुर (पेशावर) का कुषाण सम्राट् कनिष्क, बौद्धाचार्य अश्वघोष

७९ ई० : जैनसंघका दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदायोमे विभाजन

१२०-१८० ई० : जैनाचार्य समन्तभद्र

१२५-१५० ०ई	:	महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम, सुदर्शन झीलका लेख
१८८ ई०	:	सिंहनन्दि-द्वारा मैसूरके गंगवंशकी स्थापना
ल० २०० ई०	:	सातवाहन वंशका अन्त, दक्षिण भारतके पूर्वी तटके नागमण्डलका अन्त, काचीमें पल्लववंशका उत्कर्षारम्भ, उत्तरापथके नाग और वकाटक राज्य
२४९ ई०	:	कलचुरी या त्रैकुटक संवत्का प्रवर्त्तन
ल० २५० ई०	:	वैजयन्तीका मयूरवर्मन कदम्ब
३१९-२० ई०	:	गुप्त संवत् व वल्लभी संवत्का प्रवर्त्तन, चन्द्रगुप्त प्रथमका मगधपर अधिकार, गुप्त वंशकी स्थापना
३२८-७८ ई०	:	सम्राट् समुद्रगुप्त, काचीमें विष्णुगोप पल्लव, पुराण-रचनाकाल
३७९-४१४ ई०	:	सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य, महाकवि कालिदास
ल० ४०० ई०	:	कदम्बनरेश काकुत्स्थवर्मन, गंगनरेश माधव द्वितीय, फाह्यानका भारत-आगमन
४००-४८२ ई०	:	गंग अविनीत कोंगिणी
४१४-४५५ ई०	:	सम्राट् कुमारगुप्त
४३१ ई०	:	श्वेतहूणोंका प्रथम भारत-प्रवेश, अत्याचारी विधर्मी कल्किका उदय
४३६-४५८ ई०	:	काचीनरेश सिंहवर्म पल्लव
ल० ४५०-४७८ ई०	:	मृगेश वर्मन कदम्ब, कृष्णवर्म प्रथमका विद्रोह
४५३-४६६ ई०	:	वल्लभीमें देवर्द्धि-द्वारा श्वेताम्बर आगमोंका संकलन
४५५-४६७ ई०	:	सम्राट् स्कन्दगुप्त
४६४-५२४ ई०	:	जैनाचार्य पूज्यपाद देवनन्दि

४६५-५५५ ई० : महाकवि भारवि

४७३-५१५ ई० : हूणराज तोरमाण (कल्किपुत्र), जैनगुरु हरिगुप्त

४९२-५५२ ई० : गगनरेश दुर्विनीत कोगुणी, चालुक्य जयसिंह विष्णुवर्धन

४९७ ई० : पूर्वी गंग संवत्‌का प्रवर्त्तन

५०५ ई० : वराहमिहिरकी पंचसिद्धान्तिका

ल० ५२०-५५० ई० : चालुक्य पुलकेशि प्रथम

५३० ई० : मालव-नरेश यशोधर्मन-द्वारा हूण मिहिरकुलकी पराजय

ल० ५५० ई० : उज्जैनीमें राजर्षि देवगुप्त

५५०-५७६ ई० : कन्नौजमें मौखरि ईशान वर्मन, कांचीमें सिंहविष्णु पल्लव

६००-६३० ई० : पल्लव महेन्द्र वर्मन प्रथम

ल० ६००-६८० ई० : जैनाचार्य अकलंक देव; भर्तृहरि, कुमारिल भट्ट, धर्मकीर्त्ति, महाकवि दण्डी, बाण आदि

६०४ ई० : वज्रनन्दि-द्वारा पाण्ड्य मदुरामें जैन द्रविड़संघका पुन संगठन

६०५-११ ई० : वल्लभीका मैत्रक नरेश शिलादित्य धर्मादित्य प्रथम

६०६-४७ ई० : स्थानेश्वरमें सम्राट् हर्षवर्धन, गौड नरेश शशांक (६१९ ई०)

६०८-४२ ई० : वातापीका चालुक्य-सम्राट् पुलकेशिन् द्वितीय

६०९-७० ई० : गंगनरेश भूविक्रम कोगुणि

६१५ ई० : कुब्ज विष्णुवर्धन, वेंगिका प्रथम पूर्वी चालुक्य नरेश

६२९-४३ ई० : ह्वेनसांगका भारत-प्रवास

६३०-६६८ ई० : पल्लव नरसिंह वर्मन प्रथम

६३४ ई० : रविकीर्तिका ऐहोल शिलालेख

६४३ ई० : अकलंकका कलिंगकी राजसभामे बौद्ध विद्वानोके साथ वाद

६४३-८० ई० : चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य प्रथम

६७०-७१३ ई० : गंग शिवमार नवकाम

६८१-६९७ ई० : चालुक्य विनयादित्य

६९७-७३३ ई० : चालुक्य विजयादित्य

ल० ७०० ई० : बगालमे आदिसूर

७२६-७७८ ई० : गंग श्रीपुरुष मुत्तरस

७३०-७५० ई० : कन्नौजमे यशोवर्मन

७३३-७६९ ई० : कश्मीरमे ललितादित्य मुक्तापीड

७३३-७४६ ई० : चालुक्य विक्रमादित्य द्वितीय

ल० ७३५-७५७ ई० : राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग

७४३ ई० : वप्पभट्ट सूरि—श्वेताम्बरोके ८४ गच्छ स्थापन

७४६ ई० . वनराज चावडा-द्वारा गुजरातमे चापोत्कट वंश-स्थापन

७५८-७३ ई० : राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम

७६०-८२४ ई० : वंगालमे पालवंशी धर्मपाल

७६४-९९ ई० : वेगिका पूर्वी चालुक्य विष्णुवर्धन चतुर्थ

७७२ ई० : जाजू-द्वारा दिल्लीमे तोमर-वंशको स्थापना

ल० ७७५-८०० ई० : गुर्जर-प्रतिहार नरेश वत्सराज

७७८ ई० : उद्योतनसूरिकी कुवलयमाला

७७९-७९३ ई० : राष्ट्रकूट ध्रुवधारावर्ष

७८० ई० : स्वामी वीरसेन-द्वारा धवल नामक महाग्रन्थकी समाप्ति

ल० ७८० ई० : शंकराचार्य

७८३ ई० . जिनसेनका हरिवंश

७९३ ई० : कन्नौजमे इन्द्रायुधका राज्य

७९३-८१४ ई० : राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय जगत्तुग

८१५- ७७ ई० : राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम नृपतुंग

८१५- ५० ई० : गंग राचमल सत्यवाक्य प्रथम

८२४- ७२ ई० : बंगाल-नरेश देवपाल

८३६- ८५ ई० : कन्नौजका गुर्जर-प्रतिहार सम्राट् भोजदेव

८७८-९१४ ई० : राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय अकालवर्ष

ल० ९०७ ई० : परान्तक प्रथम चोल

९३९- ६७ ई० : राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय

९४७ ई० : गुजरातमे मूलराज-द्वारा सोलंकी वंशकी स्थापना

९५४-१००२ ई० : खजुराहोका धग चन्देल

९६१- ७४ ई० : गग मारसिह

९७३- ९७ ई० : तैलप द्वितीय, कल्याणीके उत्तरवर्ती चालुक्य वंशका संस्थापक

९७४- ९५ ई० : धारामे वाक्पति मुंज परमार

९७७ ई० : ग्वालियरमे वज्रदामन कच्छपघट

९७८ ई० : श्रवणबेलगोलकी गोम्मटेश बाहुबलि मूर्त्तिका निर्माण

९८५-१०१६ ई० : राजराजा चोल

९९७-१००९ ई० : चालुक्य सत्याश्रय इरिव बेदिग

१००६ ई० : मुनीन्द्र वर्धमान-द्वारा होयसल राज्यकी स्थापना

१०१४- ४२ ई० : चालुक्य सम्राट् जयसिंह द्वितीय

१०१६- ४२ ई० : राजेन्द्र चोल

१०१८- ६० ई० : धाराका भोज परमार

१०७६-११२६ ई० : चालुक्य विक्रमादित्य (विक्रमार्क)

१०९० ई० : कन्नौजमे चन्द्रदेव-द्वारा गहडवाल वंशकी स्थापना

१०९४-११४३ ई० : अन्हिलवाड़ेका जयसिंह सिद्धराज सोलंकी
११०६- ४१ ई० : होयसल नरेश विट्टिवर्धन, रामानुजाचार्य
११४३- ७३ ई० : गुजरातका कुमारपाल सोलंकी, जैनाचार्य हेमचन्द्र
ल० ११५० ई० : अजमेर-साम्भरका विग्रहराज चौहान, दिल्लीमें अनंगपाल तोमर
११५६- ६७ ई० : कल्याणीमे विज्जल कलचुरि, बासव-द्वारा लिंगायत मतकी स्थापना
११६६-१२०३ ई० : परमाल चन्देल
ल०११७५- ९३ ई० : दिल्लीमें पृथ्वीराज चौहान, कन्नौजमे जयचन्द्र
१२८८- ९३ ई० : मार्कोपोलोकी भारत-यात्रा
१३१८ ई० : देवगिरिके यादवोका पतन
१३२१ ई० : वारंगलके ककातीय राज्यका पतन
१३२६ ई० : द्वारसमुद्रके होयसल राज्यका पतन
१३३६ ई० : हरिहर एवं बुक्का-द्वारा विजयनगर राज्यकी स्थापना
१३३६-१४८५ ई० : विजयनगरमें संगम वंश
१४८६- ९२ ई० : विजयनगरमें नरसिंह सालुव, नवीन वंश
१५०५ ई० : विजयनगरमे अरस वंशकी स्थापना
१५०९-३० ई० : विजयनगर-नरेश कृष्णदेवराय
१५६५ ई० : तालिकोटाका युद्ध, विजयनगर विध्वंस

२. विदेशी शासनमें भारत

६०९ ई० : हिजरी सन्का प्रारम्भ
६४४ ई० : अरबोका सिन्धपर प्रथम आक्रमण
७१२ ई० : मुहम्मदबिन कासिम-द्वारा दाहिरकी पराजय और सिन्धमें अरब-राज्यकी स्थापना

९८७ ई० : भटिण्डेके राजा जयपाल साही-द्वारा सुबुक्तगीन गजनवीकी पराजय

९९९-१०२७ ई० : महमूद गजनवीके लुटेरे आक्रमण; अलबेरूनी

११९१ ई० : तराइनका प्रथम-युद्ध, राजपूतो-द्वारा मुहम्मद गोरीकी पराजय

११९२- ९३ ई० : तराइनका दूसरा युद्ध, पृथ्वीराजकी पराजय, दिल्लीपर मुसलमानोका अधिकार

११९४ ई० : जयचन्द्रकी पराजय, कन्नौजपर मुसलमानोंका अधिकार

११९७ ई० : भीमदेव सोलंकी-द्वारा गोरीकी सेनाओकी पराजय

११९९ ई० : मुहम्मदबिन बख्तियार खलजी-द्वारा बिहार व बंगालपर अधिकार

१२०६ ई० : गोरीकी मृत्यु, कुतुबुद्दीन ऐबक-द्वारा दिल्लीमे गुलामवशकी स्थापना

१२१२-३६ ई० : इल्तुतमिश दिल्लीका सुलतान

१२२५ ई० : चंगेजखाँ मंगोलका आक्रमण

१२६६-८६ ई० : बलबन

१२९० ई० : जलालुद्दीन खलजी-द्वारा दिल्लीमे खलजीवंशकी स्थापना

१२९६–१३१६ ई० : अलाउद्दीन खलजी

१३२१ ई० : गाजी तुगलुक-द्वारा दिल्लीमे तुगलुकवंशकी स्थापना

१३२५-५१ ई० : मुहम्मद तुगलुक, अफ्रीकी यात्री इब्नबतूता

१३४७ ई० : दक्षिण (गुलबर्गा) मे बहमनी राज्यकी स्थापना

१३५१-८८ ई० : फीरोजशाह तुगलुक, दिल्लीके तुर्की साम्राज्यका पतन आरम्भ

१३८८-१६०१ ई० : खानदेशका फारुकी वंश

१३९८ ई० : तैमूरलंगका भारत-आक्रमण और लूट-मार

१३९८-१५२६ ई० : ग्वालियरका तोमर राज्य

१३९९-१४७६ ई० : जौनपुरकी शर्की सल्तनत

१४०५-३२ ई० : माण्डू (मालवा) का सुलतान होशंग गोरी

१४१४ ई० : तुगलुकवंशका अन्त, दिल्लीमे सैयद वंशको स्थापना—सैयद खिजरखाँ-द्वारा

१४१७-६७ ई० : कश्मीरका सुलतान जैनुलआबदीन (बुधशाह)

१४३६-८२ ई० : मालवेका सुलतान महमूद खल्जी

१४५० ई० : दिल्लीमे बहलोल लोदी-द्वारा लोदी वंशकी स्थापना, मेवाडमे राणा कुम्भ

१४५९-१५११ ई० : गुजरातका सुलतान महमूद बेगड़ा

१४६३-८२ ई० : बहमनी राज्यका प्रसिद्ध मन्त्री महमूद गवाँ

१४८४-१५७४ ई० : बरारकी इमादशाही सल्तनत

१४८९-१५१७ ई० : दिल्लीका सुलतान सिकन्दर लोदी

१४८९-१६८६ ई० : बीजापुरकी आदिलशाही सल्तनत

१४९०-१६३७ ई० : अहमदनगरकी निजामशाही सल्तनत

१४९३-१५१९ ई० : बंगालका सुलतान हुसेनशाह

१४९८ ई० : पुर्तगाली वास्कोडिगामाका कालीकटमे आगमन

१५०९ ई० : एल्बुकर्क-द्वारा गोआमे पुर्तगाली राज्यकी स्थापना

१५१७-२६ ई० : दिल्लीमे इब्राहिम लोदी

१५१८-१६८७ ई० : गोलकुण्डाकी कुतुबशाही

१५२६ ई० : पानीपतका प्रथम युद्ध, लोदी वंशका अन्त, मुगल-राज्यकी स्थापना
१५२६ ई० : बहमनी राज्यका अन्त
१५२६-१६०९ ई० : बीदरकी बरीदशाही सल्तनत
१५२६-३७ ई० : गुजरातका सुलतान बहादुरशाह
१५२६-३० ई० : बाबर, दिल्लीका प्रथम मुगल नरेश
१५२७ ई० : कनवाहका युद्ध, बाबर-द्वारा राणा सागाकी पराजय
१५२९ ई० : मेवाडाधिपति राणा सागाकी मृत्यु
१५३०-५५ ई० : मुगल बादशाह हुमायूँ
१५३९-४५ ई० : शेरशाह सूरी
१५४० ई० : हुमायूँको हराकर शेरशाह-द्वारा दिल्लीमे सूरी-वंशको स्थापना
१५४५-१५५३ ई० : सलीमशाह सूरी
१५५५ ई० : हुमायूँकी पुनः राज्य-प्राप्ति, सूरीवंशका अन्त
१५५६ ई० : पानीपतका दूसरा युद्ध, अकबर-द्वारा हेमूकी पराजय
१५५६-१६०५ ई० : मुगल सम्राट् अकबर
१५७९ ई० : अकबरकी धार्मिक क्रान्ति
१६०० ई० : अँगरेजो ईस्ट इण्डिया कम्पनीकी स्थापना
१६०१ ई० : डच ईस्ट इण्डिया कम्पनीकी स्थापना
१६०५-२७ ई० : मुगल सम्राट् जहाँगीर
१६०८ ई० : अँगरेजोका भारतके साथ सर्वप्रथम व्यापार
१६१५-१८ ई० : जहाँगीरके दरबारमे अँगरेजी राजदूत सर टामस रो
१६२७-८० ई० : मराठा वीर शिवाजी
१६२८-५८ ई० : मुगल सम्राट् शाहजहाँ

१६४० ई० : मद्रासमे अँगरेज़ी कोठोको स्थापना

१६४२ ई० : फ्रान्सीसी कम्पनीको स्थापना

१६५८ ई० : उत्तराधिकार युद्ध, शाहजहाँको वन्दी करके औरंगज़ेबका राज्यारोहण

१६५८-१७०७ ई० : मुगल-सम्राट् औरंगजेब

१६६८ ई० . अँगरेज़ो-द्वारा वम्बई केन्द्रका निर्माण

१६७४ ई० : शिवाजीका राज्याभिषेक, मराठा राज्यकी स्थापना

१६८० ई० : राजपूत युद्ध, औरंगज़ेबका दक्षिणगमन

१६९० ई० . अँगरेज़ोकी कलकत्ता कोठीकी स्थापना

१७०७-१८५७ ई० : अराजकताकाल, मुगलसाम्राज्य व वंशका पतन, विदेशियो-द्वारा भारतकी लूट, अँगरेज़ोका प्रभुत्व-स्थापन

१७०७-१२ ई० : मुगल-वादशाह वहादुरशाह प्रथम

१७०८ ई० संयुक्त ईस्ट इण्डिया कम्पनी (अँगरेज़ी)

१७१४-२० ई० : प्रथम पेशवा वालाजी विश्वनाथ

१७१७ ई० . अँगरेज़ोकी वादशाह फर्रुखसियरसे व्यापारी अधिकार-प्राप्ति

१७२०-४० ई० : पेशवा वाजीराव प्रथम

१७२४-४८ ई० : हैदरावादमे आसफजाह निज़ामुलमुल्क, प्रथम निज़ाम

१७३५-४१ ई० : फ्रान्सीसी गवर्नर डयूमा

१७३९ ई० : नादिरशाह दुर्रानीका आक्रमण, दिल्लीकी लूट और हत्याकाण्ड

१७४०-६१ ई० : पेशवा वालाजी वाजीराव

१७४०-४८ ई० : प्रथम अँगरेज-फ्रान्सीसी युद्ध

१७४२-५४ ई० : फ्रान्सीसी गवर्नर डूप्ले

१७४९-५४ ई० : द्वितीय अँगरेज-फ्रान्सीसी युद्ध

१७५१ ई० : क्लाइव-द्वारा अर्काटका घेरा, अँगरेजी राजनैतिक शक्तिका सूत्रपात

१७५६-६३ ई० : तीसरा अँगरेज-फ्रान्सीसी युद्ध

१७५६ ई० : अहमदशाह अब्दाली-द्वारा दिल्लीकी लूट

१७५७ ई० : पलासीका युद्ध, बंगालपर अँगरेजोंका प्रभुत्व

१७६१ ई० : पानीपतका तीसरा युद्ध, मराठोंकी पराजय, पेशवाओंका पतन

१७६१-८२ ई० : मैसूरका हैदरअली

१७६५ ई० : लार्ड क्लाइव बंगालका गवर्नर, इलाहाबादकी सन्धि

१७६७-६९ ई० : प्रथम अँगरेज-मैसूर युद्ध

१७७२-७४ ई० : वारेन हेस्टिंग्स बंगालका गवर्नर

१७७३ ई० : रेगुलेटिंग ऐक्ट

१७७४-८५ ई० : वारेन हेस्टिंग्स अँगरेजी भारतका गवर्नर-जनरल

१७७५ ई० : सर विलियम जोन्स-द्वारा बंगाल एशियाटिक सोसाइटीकी स्थापना

१७७५-८२ ई० : प्रथम अँगरेज-मराठा युद्ध

१७८०-८४ ई० : दूसरा अँगरेज-मैसूर युद्ध

१७८४ ई० : पिट्स इण्डिया ऐक्ट

१७८६-९३ ई० : लार्ड कार्नवालिस (ग० ज०), इस्तमरारी बन्दोबस्त

१७९३ ई० : कम्पनीका चार्टर

१७९३-९८ ई० : सर जॉन शोर (ग० ज०), हस्तक्षेप न करनेकी नीति

१७९८-१८३९ ई० : पंजाबमें रणजीत सिंह, सिक्ख राज्य संस्थापक
१७९८-१८०५ ई० : लार्ड वेलेजली (ग० ज०), सहायक सन्धि-प्रथा
१७९८-९९ ई० : चौथा अँगरेज-मैसूर युद्ध, टीपू सुल्तानका अन्त
१८०२-०५ ई० : दूसरा अँगरेज-मराठा युद्ध
१८०५-०७ ई० : सर जार्ज बार्लो (ग० ज०)
१८०७-१३ ई० : लार्ड मिण्टो (ग० ज०)
१८१३ ई० : कम्पनीका चार्टर
१८१३-२३ ई० : लार्ड हेस्टिंग्स (ग० ज०)
ल० १८१५ ई० : राजा राममोहनराय-द्वारा ब्राह्म समाजकी स्थापना
१८१६ ई० : नेपाल-युद्ध और सिगौलीकी सन्धि
१८१६-१८ ई० : पिण्डारियोंका दमन
१८१७-१९ ई० : तीसरा मराठा युद्ध, मराठा शक्तिका पतन
१८२३-२८ ई० : लार्ड एम्हर्स्ट (ग० ज०)
१८२४-२६ ई० : प्रथम बर्मा युद्ध
१८२८-३५ ई० : सर विलियम बैण्टिक और उसके सुधार
१८३२ ई० : सिन्धके अमीरोंका दमन
१८३३ ई० : कम्पनीका चार्टर
१८३५-३६ ई० : सर चार्ल्स मेटकाफ (ग० ज०)
१८३६-४२ ई० : लार्ड आकलैण्ड (ग० ज०), प्रथम अफगान युद्ध
१८४२-४४ ई० : लार्ड एलिनबरा (ग० ज०)
१८४३ ई० : सिन्धको अँगरेजी राज्यमें मिलाना
१८४४-४८ ई० : लार्ड हार्डिज (ग० ज०), प्रथम सिक्ख युद्ध, सिक्खराज्यका पतन
१८४८-५६ ई० : लार्ड डलहौजी
१८४८ ई० : सतारा राज्यका अन्त

१८४९ ई० : पंजाबको अँगरेजी राज्यमे मिलाना

१८५२ ई० : दूसरा बर्मा युद्ध, दक्षिणी बर्मापर अँगरेजोंका अधिकार

१८५३ ई० : झाँसी राज्यका अन्त, कम्पनीका चार्टर, भारतमे रेलका जारी होना

१८५४ ई० : चार्ल्स वुडकी शिक्षा-सम्बन्धी रिपोर्ट

१८५६ ई० : अवधकी नवाबीका अन्त

१८५७ ई० : अँगरेजी शासनके विरुद्ध देशव्यापी सैनिक विप्लव

१८५८ ई० : विद्रोहका दमन, भारतका शासन इंग्लैण्डकी सरकारने कम्पनीसे छीनकर अपने हाथमे लिया, महारानी विक्टोरियाकी विज्ञप्ति, ऐक्ट फार दी बैटर गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया, लार्ड कैनिंग प्रथम वायसराय

१८५८-१९४७ ई० : पुनरुत्थान युग

१८६१ ई० : इण्डिया कौन्सिल ऐक्ट

१८७० ई० : म्युनिसिपल ऐक्ट-द्वारा स्वायत्त शासनको मान्य करना

१८७१ ई० : प्रथम जन-गणना

१८७६ ई० : भारतीय संघ नामक संस्थाकी स्थापना

१८८३-८४ ई० : विभिन्न स्थानोमे म्युनिसिपल व डिस्ट्रिक्ट बोर्डोकी स्थापना

१८८५ ई० : इण्डियन नेशनल काँग्रेसकी स्थापना

१८८८ ई० : अपर इण्डिया मुसलिम एसोसियेशनकी स्थापना

१८९२ ई० : दूसरा इण्डिया कौन्सिल ऐक्ट

१९०४-०५ ई० : बंगभंग आन्दोलन

१९०६ ई० : मुसलिम लीगकी स्थापना

१९०७ ई० : काँग्रेसका सूरत अधिवेशन, गरम और नरम दल अलग हुए

१९०९ ई० : मिण्टो-मार्ले रिफार्म, गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट

१९१२ ई० : दिल्ली दरबार, इग्लैण्डके राजा और रानीके आगमनके उपलक्ष्यमे

१९१४-१८ ई० : यूरोपीय महायुद्ध

१९१६ ई० : कांग्रेसका लखनऊ अधिवेशन, गरम-नरम दल मिले, मुसलमानोके साथ लखनऊ पैक्ट, एनी वेसेण्टका होमरूल आन्दोलन

१९१९ ई० : माण्टेग्यु-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट, गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट

१९१९ ई० : लोकमान्य तिलककी मृत्यु, गान्धोजी कॉंग्रेसके नेता बने

१९२१ ई० : महात्मा गान्धीका असहयोग आन्दोलन, खिलाफत आन्दोलन

१९२२ ई० : ग्राम्य पंचायतोकी स्थापना

१९२९ ई० : कॉंग्रेसका लाहौर अधिवेशन, पूर्ण स्वाधीनता लक्ष्य घोषित

१९३० ई० : साइमन कमीशनकी रिपोर्ट

१९३० ई० : महात्मा गान्धीके नेतृत्वमे सविनय आज्ञाभंग आन्दोलन और सत्याग्रह प्रारम्भ

१९३०-३२ ई० : लन्दनकी तीन गोलमेज कॉन्फ्रेन्सें

१९३१ ई० : रैम्जे मैकडानल्डका कम्यूनल एवार्ड

१९३३ ई० : श्वेत-पत्र

१९३५ ई० : गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट

१९३७ ई० : कई प्रान्तोमें कॉंग्रेस मन्त्रिमण्डलोकी स्थापना

१९३९-४५ ई० : विश्वयुद्ध

१९४२ ई० : 'भारत छोडो' आन्दोलन, सुभाष बोसका आजाद हिन्द-प्रयत्न, मुहम्मदअली जिन्ना-द्वारा पाकिस्तान-की माँग, स्ट्रैफ़र्ड क्रिप्सका भारत आगमन और भारतीय संघ-योजना प्रस्तुत करना

१९४४ ई० : वेवल योजना

१९४५ ई० : कैबिनेट मिशन एवं पार्लमेण्टरी डेलीगेशन

१९४६-४७ ई० : अन्तरिम शासन

१९४७ ई० : (१५ अगस्त), इंग्लैण्डकी सरकारका इण्डियन इण्डेपेण्डेन्स ऐक्ट, भारतवर्षका विभाजन और स्वतन्त्रता

१९४८ ई० : (३० जनवरी), महात्मा गान्धीकी हत्या

१९५० ई० : (२६ जनवरी), भारतीय संविधानका कार्यान्वित होना